॥ श्रीः ॥

हिन्दी-निरुक्त

निघण्टु और यास्क मुनि प्रणीत निरुक्त
मूल ग्रन्थ सहित ।

पण्डित सीताराम शास्त्रि-सम्पादित

HINDI NIRUKTA.

With Nighantu and Yaska Muni's Nirukta

EDITED AND ANNOTATED
BY
PANDIT SITARAM SHASTRI

प्राप्ति-स्थान
मुन्शीराम मनोहरलाल
प्रकाशक-पुस्तक विक्रेता
पोस्ट बॉक्स ११६५, नई सड़क, दिल्ली-६

श्रीहरिः शरणम् ।

हिन्दी-निरुक्त ।

भाष्यकार की प्रतिज्ञा

(नि०) समाम्नायः समाम्नातः, स व्याख्यातव्यः ।

समाम्नायका समाम्नान या क्रमपूर्वक संग्रह हो चुका है, इसलिये उसका व्याख्यान होना चाहिये—

'समाम्नाय' नाम "गो" आदि "देवपत्नी" पर्य्यन्त १७७० शब्दों का है, जो पांच अध्यायोंमें पढ़े गये हैं, यद्यपि 'समाम्नाय' नाम वेद का ही प्रसिद्ध है, तथापि व्युत्पत्तिके बलसे उन साधारण शब्दों के लिये भी यह शब्द आसक्ता है, जो किसी मर्य्यादासे पढ़े गये हों।

समाम्नायते मर्यादयाऽभ्यस्यते इति समाम्नायः ।

"अग्निमीळे" इत्यादि वेदके शब्दोंका पाठ कल्पकल्पाऽन्तरोंमें न बदलकर एकही क्रमपर रहता है। इसीसे (क्रमकी महिमा रखता ही) उनमें समाम्नाय शब्द योग वशसे आकर भी रूढ़ था, सुतराम् वैदिक शब्दोंको समाम्नाय शब्दसे व्यवहार करना उचित ही है, किन्तु इन साधारण शब्दोंका पाठ संग्रहकारोंकी इच्छानुसार समय समय पर भिन्न भिन्न मर्य्यादाओंसे होता है, इसलिये इन शब्दोंमें योगार्थभावसे ही समाम्नाय शब्द आता है। इसके अतिरिक्त यह भी एक बात है कि इस समाम्नायमें जितने शब्द

संग्रह किये गये हैं वे सब वेदके मध्यसे चुने गये हैं। इससे वेदके ही अङ्गभूत होनेसे उससे भिन्न नहीं और उसके 'समाम्ना' नामके भागी भी बनते हैं।

व्याख्यानयोग्य शब्द ।

भाष्यकार केवल उन्हीं शब्दोंकी व्याख्या करना नहीं चाहते, पञ्चाध्यायी या निघण्टुमें ही पठित हैं, बल्कि उनकी भी, जो इनके अतिरिक्त मन्त्रोंमें ही पढ़े हुए हैं, या अन्य निरुक्तोंमें सग्रह कि‍ गये हैं।

यदि आचार्य्य अन्य शब्दोंकी व्याख्या करना नहीं चाहते, निर्वचन का लक्षण नहीं करते, तथा "मृग" "कर्ण" और "दक्षिण" आदि शब्दोंका निर्वचन नहीं करते। इसीसे उनकी व्याख्या करने की इच्छा विस्तृत विषयको अवलम्बन करती है, ऐसा प्र‍ होता है।

पठनीय शब्दोंका संग्रह क्यों नहीं ?

जब कि १७७० शब्द के अतिरिक्त बहुत शब्द ऐसे हैं जिन व्याख्या करनी चाहिये, तो उन शब्दोंका इस समाम्नायमें संग्रह नहीं किया ?

ऐसे शब्द जिनकी कि व्याख्या होनी चाहिए, अनन्त या संख रहित है, इसीसे उनके संग्रहकी इच्छासे प्रवृत्ति की जावे तो ग्रन्थ समाप्ति ही न होगी, और उनका अध्ययन अथवा श्रवण भी न हो सकेगा, सर्वथा ऐसी प्रवृत्ति निष्प्रयोजन होती है।

भाव यह है कि वे मेधावी छात्र—जिन्होंने वेद पढ़ लि‍ जो तपस्वी और लक्षण, विनियोग, अर्थ, छन्द तथा देवत निदान या रहस्यके जान नेवाले हों, लक्षण व कुछ कठिन श उदाहरण से ही अन्य शब्दोंके अर्थ की ऊहा भी कर सकेंगे, अ‍ इतने परिमित शब्द ही संग्रह किये हैं"।

व्याख्यानमें दिखाई जानेवाली बातें ।

निघण्टुके शब्दोंकी व्याख्यामें ये बातें दिखाई जावेंगी, जैसे ये नाम हैं, ये आख्यात हैं, एवम् ये उपसर्ग ये निपात, यह सामान्य लक्षण, यह विशेष लक्षण, ये एकार्थ शब्द, ये अनेकार्थ शब्द तथा यह अभिधान (नाम) यह अभिधेय (अर्थ) है। इसीको यहां व्याख्या कहते है, क्यों कि शब्दोंकी इन्हीं बातोंके जाननेसे, मनुष्य शब्दज्ञ बन जाता है।

इस समाम्नाय का दूसरा नाम ।

नि०) तमिमं समाम्नायं निघण्टव इत्याचक्षते।

जो शब्द अबतक किसीने भी मन्त्रोसे अलग सग्रह नहीं किये किन्तु मन्त्रोंमें ही स्थित हैं, वे, और जो दूसरे २ निरुक्तोंमें संग्रह किये गये हैं अथवा इस पञ्चाध्यायीरूप ग्रन्थमे पठित है, उन सब वैदिक शब्दोंका "निघण्टु" यह नाम है। यह वैदिक शब्दोंकी रूढ़ स्थायीसंज्ञा है।

(नि०) निघण्टवः कस्मात् ।

क्यों ये शब्द 'निघण्टु' कहे जाते हैं ?

(नि०) निगमा इमे भवन्ति ।

निगम होनेसे ही ये शब्द निघण्टु होते हैं। प्रयोजन यह कि—निगम ऐसे शब्दको कहते हैं, जो उदाहरण का कार्य्य देता हो, उदाहरण दृष्टान्तमात्र होता है, जिसके जाननेसे उसके समान अनेक शब्द जाने जा सकें। इसी प्रकार "गौः" आदि "देवपत्नी" पर्य्यन्त सब शब्द उदाहरणका कार्य्य देनेसे निगम और निघण्टु कहाते हैं, अर्थात् अपने द्वारा मन्त्रोंके अन्य २ शब्दोंके अर्थके ही जनानेसे ये निघण्टु कहाते हैं। • इनमें ऐसा क्या विशेष है, जो ये ही अन्य शब्दोंके अर्थोंको जनाते हैं, किन्तु और नहीं ?

(नि०) छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः ।

जिससे कि—ये शब्द छन्दों या मन्त्रोंसे चुनचुनकर क्रमसे संग्रह किये हैं, इससे येही अन्य शब्दोके अर्थोके जनानेमें समर्थ हैं ।

मन्त्रोंसे येही शब्द क्यों संग्रह किये हैं ?

मन्त्रोसे इन्हीं शब्दोंका चुनाव इस लिए किया गया कि ये शब्द मन्त्रार्थके जाननेके लिये प्रवृत्त हुए पुरुषको मन्त्रोंमें अवश्य मिलते है, ये ऐसे अतिपरोक्षवृत्ति या अतिगूढार्थ हैं, जिनके कारण मेधावी तपस्वी तथा लक्षण, विनियोग, ऋषि, छन्द और देवताओंके निदानके जाननेवाले विद्वान् भी मन्त्रार्थ के जाननेमें असमर्थ हो जाते हैं । जब इन शब्दोंके अर्थका परिज्ञान होजाता है, तो वैसे पुरुषोंकी बुद्धि विना किसी रुकावटके ही मन्त्रार्थमें प्रवेश कर जाती है ।

अपने मतमें दूसरे आचार्य की सम्मति—

(नि०) ते निगन्तव एव सन्तो निगमनान्निघण्टव उच्यन्ते, इत्यौपमन्यवः ।

औपमन्यव आचार्य मानते हैं कि—इन शब्दोंका मन्त्रोंसे उद्धार या अलग करनेके पश्चात् निघण्टु नाम नहीं पड़ा और न गवादि-देवपत्नी-पर्यन्त ग्रन्थके रूपमें होनेसे ही यह उनका नाम है बल्कि, इनमें जो निगमन या अर्थके जनाने की शक्ति है, उसीके कारण नित्य अपने स्थान (मन्त्रो) में स्थित ही निघण्टु हैं, चाहे वे किसी निरुक्तमें संग्रह किये गये हों, अथवा अब तक मन्त्रोंमें ही पढ़े जाते हों ।

उपमन्यु या जिसका क्रोध निवृत्त हो गया, ऐसे ऋषिके पुत्रको औपमन्यव कहते हैं ।

औपमन्यव आचार्यने जैसी व्युत्पत्ति का है, उससे प्रतीत होता

है, कि गवादि शब्दों का केवल संग्रहमात्र है । ये कोई नवीन शब्द नहीं हैं, क्योंकि, मन्त्रोंके ये नित्यशब्द हैं, अर्थात् मन्त्रस्थ शब्दों के पर्य्याय बाहरी शब्द नहीं हैं, यहां जिन शब्दों का संग्रह है और जो शब्द मन्त्रों में ही हैं वे दोनों ही प्रकार के शब्द निघण्टु कहे जाते हैं, क्योंकि ये मन्त्रों के अर्थके निगमयितृ या निगन्तु या जनानेवाले हैं ।

'निघण्टु' शब्द   अतिपरोक्षवृत्ति
'निगन्तु' शब्द   परोक्षवृत्ति और
'निगमयितृ' शब्द   प्रत्यक्षवृत्ति है ।

अतिपरोक्षवृत्ति शब्द से परोक्षवृत्ति शब्द मिलता जुलता होता है, और परोक्षवृत्ति से प्रत्यक्षवृत्ति ।

जिस अतिपरोक्षवृत्ति शब्द की व्याख्या करनी होगी, उसके साथ परोक्षवृत्ति शब्द मिलाया जायगा, और फिर परोक्षवृत्ति के साथ प्रत्यक्षवृत्ति शब्द । जैसे—आधी रातके गाढ़ अन्धकार को सूर्यनारायण क्रम से दूर करके मध्यान्ह समय लाते हैं, वैसे ही अतिपरोक्षवृत्ति शब्दोंमें उक्त क्रमसे अर्थ का विकाश किया जाता है ।

शब्दके परिवर्तन का क्रम ।

निगन्तु शब्दमें 'ग' के स्थानमें 'घ' और 'त' के स्थानमें 'ट' बदलनेसे निघण्टु शब्द बन जाता है । कहीं कहीं अतिपरोक्षवृत्ति शब्दोंमें आदि अक्षरोंका भी परिवर्तन होता है, यह शब्दकी बद्धवृत्ति के अनुसार यथासम्भव जानना होगा ।

प्रत्यक्षवृत्ति आदि शब्दोंका विशेष ।

प्रत्यक्षवृत्ति शब्दोंमें क्रिया स्पष्टरूपसे कही हुई होती है, परोक्ष-वृत्ति शब्दोंमें भीतर लय हुई क्रिया प्रतीत होती है और अतिपरोक्ष

वृत्ति शब्दोंमें अत्यन्त अस्पष्ट (बेमालूम) क्रिया होती है। इससे उन्हींके निर्वचनका यत्न यहां किया गया है।

निरुक्तमें निर्वचनके पांच उपाय।

१—शब्दमें किसी अपेक्षित अक्षरको ऊपरसे जोडना।

२—शब्दके अक्षरोंको प्रयोजनानुसार उलट पलट कर लेना।

३—शब्दमें किसी अक्षरके स्थानमें कोई दूसरा अक्षर कर देना।

४—शब्दमें किसी अनावश्यक अक्षरको उसमेंसे हटा देना।

५—शब्दमें अर्थके अनुसार धातुके अर्थको कल्पित कर लेना।

जिस प्रकार निगन्तु शब्दसे निघण्टु शब्दका निर्वचन दिखाया गया, उसी प्रकार अन्य अतिपरोक्षवृत्ति शब्दोंका भी निर्वचन जानना होगा। व्याकरणके उणादिगणमें अतिपरोक्षवृत्ति शब्द ही व्युत्पादित होते हैं। वहां जिन शब्दोंका लक्षण नहीं किया है, उन शब्दोंका शब्दके अनुसार यहां लक्षण कल्पित करना होगा क्यों कि—"उणादि शब्द अपरिसमाप्त हैं" यह शब्दतत्वके लक्षण जाननेवालोंने प्रतिज्ञा की है। सर्वथा ही जिन शब्दोंमें कोई कल्पना नहीं हो सकती हो, उनकी सिद्धि व्याकरणके पृषोदरादिगणमें पाठ माननेसे जाननी होगी। क्यों कि, वहां जिस रूपमें जो शब्द पढे गये हैं, वे उसी रूपमें साधु वा शुद्ध माने गये हैं, यही लक्षणके जाननेवालोंका सिद्धान्त है।

प्रकारान्तरसे निर्वचनः—

(नि०) अपि वा हननादेव स्युः।

अथवा आहनन या पठन क्रियाके सम्बन्धसे ही ये शब्द निघण्टु हो सकते हैं। अर्थात् पञ्चाध्यायी ग्रन्थके रूपमें पठित होनेसे ही से निघण्टु हैं। कैसे ?

(नि०) समाहता भवन्ति।

समाहताः समाहन्तवः निघण्टवः।

यहां 'समाहत' शब्द प्रत्यक्षवृत्ति 'समाहन्तु' शब्द परोक्षवृत्

और 'निघण्टु' शब्द अतिपरोक्षवृत्ति है। अर्थ यह हुआ कि इस पञ्चाध्यायी रूप ग्रन्थमें ये गवादि शब्द मर्यादासे पढ़े हुये हैं। इसीसे समाहत समाहन्तु या निघण्टु कहे जाते हैं। समाहत शब्दसे समाहन्तु और उससे निघण्टु शब्द बन गया है। अर्थात् 'सम्' उपसर्गके बदलेमें 'नि' उपसर्ग 'आङ्' (आ) उपसर्ग का लोप और 'हन्' धातुके 'ह' को 'घ' होना विशेष है। इस पक्षमें 'आङ्' का अर्थ मर्य्यादा और 'हन्' का अर्थ पढ़ना है। धातुओंके अनेक अर्थ होते है, इससे ऐसा अर्थ करना अनुचित नहीं है। इसके अतिरिक्त लोकमें भी 'आङ्' पूर्वक 'हन्' धातुका पठन अर्थ में प्रयोग देखा जाता है।

जैसेः –

१—ब्राह्मणे इदमाहतम्—ब्राह्मण (ग्रन्थ) में यह कहा है।

२—सूत्रे इदमाहतम् सूत्र में यह कहा है।

इन दोनों वाक्योंमें 'आहत' शब्द उक्त या पठित शब्दका पर्याय है।

'निघण्टु' शब्दकी पहिली व्याख्यामें जो कि--निगन्तु शब्दके द्वारा की गई है, व्याख्येय 'निघण्टु' शब्दमें व्याख्यान 'निगन्तु' शब्दकी अक्षरों और अर्थ दोनोंमे ही तुल्यता है, इससे वह व्याख्या उभयप्रधान कही जासकती है, किन्तु इस द्वितीय व्याख्यामें 'निघण्टु' शब्दके साथ समाहत' शब्दकी अर्थसे ही समता है, वर्णसमता का बिलकुल ही अभाव है, इसलिये इसी व्याख्याको अर्थ-प्रधान समझी जावेगी। निरुक्त शास्त्रमें उक्त दोनो ही प्रकार की व्याख्या मानी गई है, उभयप्रधान व्याख्याके अभावमें अर्थ-प्रधान व्याख्या कीजावेगी अथवा किसी आवश्यकता पर—

अन्य प्रकार की व्याख्या।

(नि०) यद्वा समाहृता भवन्ति ।

अथवा समाहरण (इकट्ठा करना) क्रियाके सम्बन्धसे ये शब्द निघन्टु हैं। कैसे ?

समाहृताः समाहर्तवः निघण्टवः ।

यहां 'सम्' 'आङ्' (आ) उपसर्ग 'हृ' धातु और 'तु' प्रत्ययके योगसे निघण्टु शब्द बनता है। यहांपर भी पहिलेके समान 'आङ्' उपसर्ग अर्थके लिये ऊपरसे लिया जाता है। इस व्युत्पत्तिमें समाहरण (चुनना) क्रियाके सम्बन्धसे निघण्टु शब्द अपने अर्थ (गवादि शब्द) पर गया हुआ है। अर्थात् गो आदि शब्द मन्त्रोंसे चुन चुनकर इस पञ्चाध्यायी ग्रन्थमें संग्रह किये गए हैं। इसीसे इनका निघण्टु नाम होता है।

यद्यपि जिन गो आदि शब्दोंका निघण्टु नामहै, उनमें निगमन समाहनन और पठन तीनों ही क्रियाएं विद्यमान हैं, तथापि सभी व्युत्पत्तियोंमें उन सबका लेना आवश्यक नहीं है, किन्तु जिस धातुसे शब्दकी व्युत्पत्ति कीजाय केवल उसकी क्रियाकी सत्ता देखनी होती है। क्यों कि जिस अर्थके लिये जो शब्द बोला जाता है, उस शब्दके निवर्चनमें वही क्रिया बताना आवश्यक है, जिसके कारण वह शब्द वहांपर रहता है।

इस एक निघण्टु शब्द में अनेक धातुओंके अर्थ द्वारा निर्वचन करनेका जो अतिमहान् यत्न किया है, उसका यह प्रयोजन है कि जिस सिद्धान्तमें सभी नाम आख्यातसे उत्पन्न माने गये हैं। उसमें जब परोक्षवृत्ति या अतिपरोक्षवृत्ति शब्दोंका निर्वचन करेंगे, तो निघण्टु शब्दके उदाहरण पर कर सकेंगे, या करना होगा। अर्थात् इसी प्रकार जिस रूढि शब्दमें जिस धातुके अक्षर मिलतेहों, तथा उसके अर्थमें उसकी क्रिया देखी जानी हो, उसी धातुसे उसका निर्वचन करना होगा। इस रीति पर निर्वचनका स्थल, और भी विशाल होजाता है, कि—एक रूढि शब्दमे स्वतन्त्र-स्वतन्त्र एक एक धातुका चिन्ह प्रतीत हो, तो वहां एक एक धातुसे ही स्वतन्त्र स्वतन्त्र निर्वचन करना चाहिये। और यदि अनेक धातुओंके चिन्ह

मिलित होकर प्रतीत हों, और उन धातुओकी क्रियाओ का उसके अर्थमें सम्बन्ध भी हो, तो उस शब्दका निर्वचन अनेक धातुओंसे एक साथही करना—

ऐसा ही वार्तिककार ने कहा है:—

"यावतामेव धातूनां लिङ्ग रूढिगतं भवेत्।
अर्थश्चाप्यभिधेयस्थ-स्तावद्भिर्गुणविग्रहः"

जितने धातुओका लिङ्ग (चिन्ह) रूढि शब्दमें पाया जाय, और अभिधेयमें उनका अर्थ हो, उतने ही धातुओसे उसकी व्युत्पत्ति करना।

यदि धातुके अक्षर रूढि शब्दमें हों, और उसकी क्रिया उसके वाच्य या अर्थमें न हो, तो उस धातुसे उस रूढि शब्दका निर्वचन (व्याख्यान) न हो सकेगा।

देखो, निगमन समाहनन और समाहरण तीनो ही क्रियाएं गो आदि शब्दोंमें (जो निघण्टु शब्दके वाच्य हैं) विद्यमान हैं, उनके वाचक, 'गम्' 'हन्' और 'हृ' धातु निघण्टु शब्दके निर्वचन करनेके समय अहम्पूर्विकासे आगे बढकर कहते हैं कि—मेरे समान है, मुझसे इसका निर्वचन कर, मुझसे इसका निर्वचन कर।

यहां निघण्टु शब्दमें 'गम्' धातु अपने गकारको घकार रूपमें देखता है, तथा 'हन्' और 'हृ' धातु अपने हकारको घकार बना हुआ देखते हैं। इसी कारणसे अनेक धात्वर्थो द्वारा निघण्टु शब्दका निर्वचन किया गया है कि ऐसे ही अन्यनामोंका निर्वचन कर लिया जाय।

समाम्नायका अर्थतत्व।

समाम्नाय शब्दका पर्य्याय (समानार्थक)निघण्टु शब्द है, तथा निघण्टु शब्द, जो पर्य्यायके प्रसङ्गमें आया हुआ है,उसकी इस

इस प्रकारकी व्युत्पत्ति होती है, इत्यादि बातें कही गई हैं, किन्तु समाम्नाय शब्दके अर्थतत्वका विवेचन नहीं हुआ जैसा कि शास्त्रीय रीतिसे होना चाहिये, इस लिये अब विशेष रूप से समाम्नायार्थ निरूपण कियाजाता है ।—

"तद्यान्येतानि चत्वारि.पद-जातानि
नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च"

[नि० १ अ० १ पा० १ खं]

वही समाम्नाय या निघण्टु पदार्थ है, जो ये चार पद समूह हैं, वे ये ही चार पद समूह है, जोकि—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात हैं। यह बात पहिले कही गई है कि गोआदि देवपत्नी पर्यन्त शब्दसमूह निघण्टु नामसे बोला जाता है, वह भी यावत् शब्दसमूहका उपलक्षण समझना चाहिये । निरुक्त शास्त्रके मतमें शब्दमात्र कुल चार भागोंमें बटे हुए हैं, जैसे कि नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ।

अर्थात् नैरुक्तोंके मतमें इस प्रकार चार पद होते है, इससे अल्प या अधिक नहीं ।

अन्य आचार्योंके मतमें पदविभाग ।

(१) इन्द्र एक महावैयाकरण हुए हैं, उनके मतमें "अर्थः पदम्" अर्थही पद है ।

प्रयोजन यह है कि-सब शब्दोंमें अर्थत्व रूपसे अर्थ एक ही है, उसमें भेद नहीं । अर्थात् उक्त महावैयाकरण अर्थबोधक सब शब्दोंको एक जातीय ही मानता है, किन्तु शब्द में अवान्तर अनेक जातियां नहीं स्वीकार करता, इसलिये उस के मतमें एक ही पद है और अर्थ ही उसका लक्षण है ।

(२) प्रसिद्ध भगवान् पाणिनि मुनि जिनका अनुशासन वर्त्त-
मानमें भी संस्कृत भाषाके लिये जगद्व्यापी है, दो, पद
मानते हैं—

"सुप्तिङन्तं पदम्" सुबन्त और तिङन्त।

जिन पदोंमें सुप् विभक्ति हो वे सुबन्त पद होते है, और जिन-
में तिङ् विभक्ति हो वे तिङन्त पद होते है। अर्थात् उनके
मतमें नाम और आख्यात दो विभागोंमें समस्त शब्द आजाते हैं।

(३) कुछ आचार्य तीन पद मानते हैं—
  (क) सुबन्त,
  (ख) तिङन्त,
  (ग) निपात और उपसर्ग।

(४) कोई कोई आचार्य—सुबन्त (१) तिङन्त (२) निपात
(३) गति (४) और कर्मप्रवचनीय (५) इस प्रकार पाँच
पद मानते है और कोई इनमें उपसर्गको पृथक् गिन कर
छः तक मानते है।

पदों के प्रभेद।

(१) नाम पद तीन प्रकारके होते हैं, जैसे स्त्री लिङ्ग, पुलिङ्ग और
नपुंसक लिङ्ग।

(२) आख्यात पदोंके भी तीन भेद होते है, जैसे कर्तृवचन,
भाववचन, और कर्मवचन।

(३) उपसर्ग पदोंमें आङ् (आ) नि, अधि इत्यादि कुछ
पद हैं।

(४) निपात पदसमूहमें भी इव, न, चित् इत्यादि पद हैं। प्रथम
अध्यायके प्रथम पादके अन्तमें उपसर्ग और द्वितीय तृतीय
पादोंमें निपातोंका विशेष रूपसे निरूपण होगा।

चारों पदोंमें गौण और प्रधान।

इन नाम आदि चारों प्रकारके पदोंमें कौन पद प्रधान या मुख्य है, और कौन गौण अथवा अमुख्य है, यह निर्णय भाष्य-कारने साक्षात् न कहकर उनकी गणनाके क्रमसे ही जना दिया है, जिस का अभिप्राय टीकाकार ने स्पष्ट कह दिया है

भाष्य –"नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च"

[१ अ० १ पा० १ ख०]

यास्क आचार्य्य अपने अभिमत चार पदोंमे दो दोको मिला कर दो भाग करते हैं। नाम और आख्यात एक भाग, उपसर्ग और निपात दूसरा भाग। इसी से उन्होंने–

"नामा-ख्याते" उपसर्ग-निपाताः"–दो दो

नामोंको द्वन्द्वसमाससे जोड दिया है।

प्रथमभागकी प्रधानता।

(१) नाम और आख्यातके भागकी प्रधानता इसलिये प्रतीत होती है कि–आचार्यने उसे पहिले कहा है। क्योंकि लोकमें जो प्रधान होता है, उसका नाम पहिले लिया जाता है।

(२) नाम और आख्यात उपसर्ग और निपातकी सहायताके विना भी अपने अर्थको कह देते है, किन्तु उपसर्ग और निपात उनके सामीप्य के विना अपना अर्थ प्रकाशित नहीं करते, इसीसे नाम और आख्यात दोनों प्रधान और उप-सर्ग एवं निपात अप्रधान हैं।

(३) नाम और आख्यात वाच्य अर्थसे अर्थवाले है तथा उपसर्ग और निपात द्योत्य अर्थसे। इसमें पहिला समुदाय प्रधान और दूसरा गौण है।
वाच्य अर्थ अपना निजका अर्थ होता है और द्योत्य अर्थ दूसरे शब्द का होता है तथा दूसरे शब्दसे प्रकाशित होता है। वाचक शब्द अपने अर्थ का कहने वाला होता है, और द्योतक शब्द दूसरे शब्दके अर्थ को केवल प्रकाशित करता है, वस्तुतः उसका कोई अर्थ नहीं होता, जैसे "सर्प का विल और हिन्दुस्तानमें कंजरका घर" इस वाक्य का।

दो दोको समस्त करने का हेतु।

(१ नाम आख्यात)

(१) नाम और आख्यात परस्पर आकांक्षा रखते है, इसीसे आचार्यने इनका समस्त निर्देश किया है। जैसे—'यज्ञदत्तः' यह नाम शब्द तभी तक साकांक्ष है, जब तक 'पचति' 'पठति' इत्यादि आख्यात उसके सामने जोड़ कर उसकी आकांक्षा न मिटाई जावे।
तथा 'पचति' यह आख्यात शब्द तभी तक सापेक्ष है, जब तक 'यज्ञदत्तः' यह नाम शब्द उसकेसाथ नहींजोड़ा जावे। अर्थात् व्यवहारमें दोनों साथ ही रहते है, जैसे—पचति यज्ञदत्तः ओदनम्। इसलिये इनके इस नित्य सम्बन्धको सूचन करनेके लिये इनका समास निर्देश किया।

(२) नाम और आख्यात दोनों ही वाच्य अर्थसे अर्थवान् होते हैं, इनके इस सादृश्यको जतानेके लिये इनका समास किया गया है, अन्यथा अलग अलग भी कहे जा सकते थे।

(२ उपसर्ग निपात)

"उपसर्ग --निपाताः" यह उपसग और निपात दोनोंका समास निर्देश है, इनका पृथक् एक समासमें संयोजन इस प्रयोजन से किया गया है कि ये दोनो नाम और आख्यातके अर्थ विशेषके द्योतन (प्रकाशन) रूप समान कार्य्य को करते हैं।

एक एकके पूर्वापरका निर्णय ।

(१ नाम)

पहिले निश्चित हो चुका है कि चारोंमें दो नाम और आख्यात प्रधान है, इसलिये ये दो सबमें पहिले कहे गये, किन्तु इनमें भी नाम पदके प्रथम प्रयोगका कारण अल्पस्वरता है। जिस शब्द मे स्वर कम होते हैं, वह पद द्वन्द्वसमासमें पूर्व रहता है। यह व्याकरण का नियम है।

(२ आख्यात)

'आख्यात' पद 'नाम' पदके अनन्तर इस कारण किया गया कि वह नामके कारक रूप अर्थ में रहने वाली क्रियाको कहता है।

(३ उपसर्ग)

आख्यातका सहयोगी होने से उपसर्ग का पाठ आख्यातके अनन्तर किया गया है।

(४ निपात)

परिशेषसे निपातका पाठ या प्रयोग सबसे पीछे हुआ। इन युक्तियोंके बल पर यास्क मुनिने इन सबको।

"नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च"

इस क्रमसे कहा है।

आख्यात का लक्षण।

"तत्रैतन्नामाख्यातयो र्लक्षणं प्रदिशन्ति,

भावप्रधान-माख्यातम्"।

(क) आख्यात जो 'पचति' 'पठति' इत्यादि क्रिया रूप है, उस में द्रव्य और क्रिया दो अर्थ रहते हैं। जैसे-'पचति' मे पाक और पकानेवाला, तथा 'पठति' मे पढ़ना और पढ़नेवाला। यहां पाक और पढ़ना क्रियाएं हैं और पाक करनेवाला तथा पढ़नेवाला पुरुष आदि द्रव्य होता है। इन दोनों मे क्रियां या भाव प्रधान (विशेष्य) होता है, और द्रव्य अप्रधान या विशेषण होता है। इसीसे आख्यातको भाव-प्रधान कहते है, और यह भाव-प्रधानताही उसका लक्षण या पहिचान है। अर्थात् जहां इस प्रकारसे भाव-प्रधानता होगी वह आख्यात होगा।

आख्यायते प्रधानभावेन क्रिया (भावः),

गौणत्वेन द्रव्यं च यत्र तदाख्यातम्।

(ख) जिस पदमें गौण भावसे क्रिया और उस पर प्रधान भावसे भाव कहा जावे, उसको आख्यात कहते हैं। इस मतमें पूर्व मतसे यह विशेष है कि-उसमें कारक या द्रव्यकी अपेक्षा से भावकी प्राधनता है, और इसमें क्रियाकी अपेक्षा से भावकी प्रधानता है। पूर्व मतमें क्रिया और भावका अभेद है और यहां भेद है।

क्रिया नाम व्यापारका है, वह सदा ही परिच्छिन्न द्रव्यमें आश्रित रहती है। क्रियासे सम्बन्ध रखनेवाले द्रव्यको कारक

कहते हैं, उसके कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण ये छः भेद होते हैं। एक ही क्रिया सम्बन्धके भेदसे अनेक कारकविशेषोंका हेतु हो जाती है। जैसे—एक स्त्री सम्बन्धके भेदसे पति और पुत्र आदि विशेष नामोंका कारण बन जाती है। जो उसमें गर्भ रखता है वह पति और जो उसका या उसमें गर्भ है वह पुत्र, इसी प्रकार पाक कियामें जो पकाता है, वह कर्ता, जो पकाया जाता है वह कर्म, जिसमें तण्डुल रखकर पकाया जाता है, वह अधिकरण और जिसके लिए पकाया जावे वह सम्प्रदान इत्यादि रीतिसे कारक-भेद हो जाते हैं।

पचनानुकूल क्रिया एक ही समयमे पाचक (पकानेवाला) ओदन (भात) और स्थाली (बटलोई) में भिन्न २ सम्बन्धसे उन की कर्ता, कर्म और अधिकरण संज्ञाको उपपन्न करती है। और वह समान कालमें ही इस तरह विभक्त रहती हुई ओदनमें पाक रूप भावको उत्पन्न करनेके लिए उन्मुखी प्रतीत होती है। वहाँ पाक रूप फलकी प्रधानता और कारणभूत जो पाकानुकूल क्रिया है, उसकी गौणता प्रतीत होती है।

क्रिया पर भावकी प्रधानता।

आख्यातमें भावकी अपेक्षा से क्रियाकी गौणता इस लिए है कि वह भावकी सिद्धि ही के लिए आत्म लाभको धारण करती या उत्पन्न होती है, जब वह तण्डुल आदिमें पाक नामक भावको उत्पन्न कर देती है, तो अपना प्रयोजन पूरा हो जानेसे एक देश (चावलका वह भाग जो सबसे पीछे गलता है) में ही अन्तर्द्धान हो जाती है। जिसका जिसके लिए आत्मलाभ (उत्पत्ति) होता है, वह उसका गुणभूत या विशेषण होता है। भाव सिद्धिके लिए ही क्रियाका आत्मलाभ होता है। इसी से

वह गुणभूता है, और उसका भाव सिद्धिसे ही परोक्ष होने पर अनुमान होता है ।

क्रियाकी परोक्षता ।

इन्द्रियोंमें किसी इन्द्रियसे भी अपने स्वरूपमें रहती हुई क्रिया भी प्रत्यक्ष नहीं होती । किन्तु उसके अन्तमे जो भाव सिद्धि होती है, उस से वह अनुमित होती है-(अनुमान) निश्चय ही क्रिया हो चुकी, जिससे कि यह भाव सिद्ध हो गया । यदि क्रिया न होचुकी होती तो जैसे कि-पहिले इस क्रियाके बिना यह भाव कभी नहीं हुआ था, ऐसे ही अब भी नहीं होता, और अब यहां भाव है, इससे क्रिया होचुकी, यह अनुमिति होती है ।

फलितार्थ ।

यद्यपि आख्यात क्रिया और भाव दोनोंका वाचक है, तथापि भाव के ही लिए क्रिया होती है, इससे भावकी प्रधानता मानी जाती है ।

भाव-प्रधानताका व्याख्यान्तर ।

कोई आचार्य भावप्रधान शब्दका प्रकृत्यर्थ प्रधान अर्थ करते हैं । अर्थात्, आख्यातमें दो भाग होते है, प्रकृति और प्रत्यय, प्रकृतिका अर्थ जो भाव है वह प्रधान, और प्रत्ययका अर्थ जो साधन या कारक हैं, वे गौण रहते हैं । इस मतमें भाव, कर्म, क्रिया और धात्वर्थ एक ही वस्तु है । (यह व्याख्या पहिली व्याख्याका स्पष्टीकरणमात्र है) ।

व्युत्पत्ति ।

आख्यायन्ते स्त्रीपुन्नपुंसकानि,
क्रियागुणभावेन वर्तमानानि अनेन,
क्रिया च तेषामुपरि प्राधान्येन
वर्तमाना-इत्याख्यातम् ॥

आख्यातमें स्त्रीलिङ्ग, पुंल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग अर्थात् कारक द्रव्य क्रियाके गुणभूत रूपसे और क्रिया उन के ऊपर प्रधानता-से रहती हुई कही जाती है।

कारकोंपर क्रियाकी प्रधानता।

(क) आख्यात में कारकों के ऊपर क्रिया की प्रधानता इस लिए है, कि यहां क्रिया शब्दसे वाच्य होती है, और कारक अर्थात् से लिए जाते है। इसीसे क्रियाकी प्रधानता और कारकों की गौणता है।

[विशेष-प्रत्ययाधानात्]

क्रियाकी प्रधानताका दूसरा यह भी कारण है कि 'पचति' इत्यादि आख्यात शब्द पचि क्रियामें ही विशेष बुद्धिको उत्पन्न करता हैं। यद्यपि वहां पकानेवाले आदि साधन, जिनमे कि वह क्रिया रहती है, और जो कि अनेक क्रियाओंमें शक्ति भी रखते हैं, प्रतीत होते है, किन्तु गौणतासे। जो शब्द जिस अर्थमें विशेष रूपसे रहता है, वही उसका प्रधान अर्थ है। इस न्यायसे आख्यात भी क्रिया और कारक दोनों अर्थोंमें रहता है, किन्तु क्रियामें विशेष रूपसे और कारकमें सामान्य रूपसे रहता है, इससे यह भावप्रधान है, यह सिद्ध हुआ। इसी बातको इस तरह भी समझ सकते है, कि किसीने किसीसे क्रियाके जानने के लिये ही पूछा कि—किं करोति देवदत्तः? क्या करता है देवदत्त? इस पर क्रियाके बताने के ही अभिप्रायसे उत्तर देता है—'पचति' पाक करता है, किन्तु 'ओदनम्' यह पद पहिले कह कर उसके पीछे 'पचति' ऐसा नहीं कहता।

तात्पर्य।

जो शब्द जिस वस्तु के बोध करानेमें दूसरे शब्दकी अपेक्षा से करता है, वह उस पदार्थमें विशेष-प्रत्ययाधान या विशेष रूप

बुद्धिको उत्पन्न करता है। जैसे—'देवदत्त पाक करता है' इस अर्थको कोई पुरुष वाक्यके द्वारा प्रकट करना चाहता है। इसलिये यदि वह 'देवदत्तः' ऐसा कहता है, तो देवदत्तका केवल बोध होता है, किन्तु जिस क्रियाको वह कर रहा है, उसका ज्ञान अभी नहीं होता, इससे जाना गया कि —देवदत्त शब्द पाकानुकूल क्रियाके बतानेमें असमर्थ होकर 'पचति' पदकी अपेक्षा कर रहा है। इससे उस (देवदत्त) शब्दका देवदत्त नामवाले मनुष्यमें ही विशेष प्रत्यायाधान है। किन्तु उस क्रियामें नहीं। यदि वह 'पचति' पदका ही प्रयोग करता है, तो 'पकाता है' इतना ही अर्थ प्रतीत होता है, किन्तु वह कौन है ? यह प्रतीत नहीं होता। सुतरम्, उसे देवदत्त-जो पाक क्रियाको कर रहा है, उसके बतानेवाले देवदत्त शब्दमें आकांक्षा बनी हुई है, इससे 'पचति' पद पाकानुकूल किया ही में विशेष प्रत्ययाधान करता है, किन्तु द्रव्यमें नहीं। जो शब्द जिसमें विशेष प्रत्ययाधान करता है, उस शब्दका वही मुख्य अर्थ है, अथवा वह शब्द तदर्थ-प्रधान होता है। इसी न्यायसे "भावप्रधान-माख्यातम्" यह सिद्धान्त सिद्ध होता है।

आख्यात में।

हम जिस क्रियाकी प्रधानताका निरुपण कर रहे हैं, वह अमूर्त है, उसका स्वतन्त्र शरीर नहीं है। जब कभी उसको दिखाना चाहेंगे, तो पाचक, भात, तथा बटलोई आदि साधनोंमें जब होती है, उनके द्वारा ही उसका निर्देश करेंगे, अर्थात् उन्हीं में रधनेके समय कहेंगे कि—यह पाक क्रिया है अन्यथा उस शरीर-रहित क्रियाको नहीं दिखा सकते। इस लिये ही आख्यात पदके साथ 'ओदनम्' 'देवदत्तः,—इत्यादि कारक जो उसकी क्रियासे सम्बन्ध रखते हैं, बोले जाते हैं।

यदि आख्यात में क्रियाकी प्रधानता न होती, किन्तु किसी द्रव्य आदिकी होती, तो आख्यात पद ('पचति' आदि) के साथ

द्रव्य वाचक पदोंकी जो 'ओदनम्' इत्यादि हैं, सहायता नहीं की जाती, अर्थात् 'ओदनम् पचति' ऐसा कहनेकी आवश्यकता न होती। केवल 'पचति' पदसे ही आकांक्षा पूर्ण हो जाती।

भाव यह है कि-'पचति' पद क्रियाके बोधनके लिये किसी दूसरे पदकी अपेक्षा नही करता, किन्तु साधनोके ही विशेष रूप जनानेके लिये ही 'ओदनम्' इत्यादि पदोंकी अपेक्षा करता है, इसीसे आख्यात क्रियाप्रधान है। अर्थात् जिस प्रकार पचति क्रिया कर्तृ, कर्म आदि कारकोके विशेषरूपको बतानेमें असमर्थ होकर 'ओदनम्' 'देवदत्तः' इत्यादि द्रव्यवाचक शब्दोंकी अपेक्षा करती है, वैसे पाकरूप क्रियाके विशेषरूपके बोधन करनेमें किसी पदकी सहायताकी अपेक्षा नहीं करती, किन्तु स्वयम् आपही उस कार्यको पूरा कर देती है, जो जिसमें स्वतन्त्र है, वह उसमें प्रधान है, इसी न्याय पर आख्यातमें क्रियाकी प्रधानता स्थिर होती है।

अथवा जब कोई किसीसे किसीकी क्रियाके ही जानने के लिए पूछता है कि-'क्या करता है? तब उसके उत्तरमें वह उसकी क्रियाको 'पचति' (पकाता है) आदि आख्यात पदसे ही बताता है, किन्तु 'ओदनम्' (ओदनको देवदत्त) इत्यादि नाम पदोंसे कभी क्रियाके बतानेका उद्योग नहीं करता। यदि नाम, उपसर्ग या निपात इन पदोंमें से भी किसी पदसे क्रिया बताई जा सकती अथवा 'पचति' आख्यात पदसे क्रिया बताई ही नहीं जा सकती तो, नियम पूर्वक 'पचति' पदसे ही उसका सदा उत्तर न देता, किन्तु उत्तर जब देता है, इसीं से देता है, और जहां द्रव्य या साधनोंकी जिज्ञासा होती है, तो उसका प्रयोग कभी नहीं किया जाता, जब कि-सर्वथा क्रियाके बोधन के अतिरिक्त कोई उसका कार्य ही नहीं है-तो उसको क्रिया प्रधान मानने के अतिरिक्त क्या कहा जावेगा?

'पचति' के साथ 'ओदनम्' की आवश्यकता।

यद्यपि क्रियाके विशेषरूप जो पाक पठन आदि व्यापार हैं, उनके जानने के लिए जो प्रश्न होता है, कि-'क्या करता है' उसके उत्तरमें भी 'ओदनं पचति' ऐसा वाक्य कहा जाता है, जिससे यह प्रतीत होता है कि-'पचति' के समान 'ओदनम्' पद भी क्रिया-का बोधक है, और वह आख्यातकी क्रिया-प्रधानताको कुछ छीन लेगा, किन्तु वास्तवमें 'ओदनम्' पद क्रियाके विशेषरूपके बतानेके लिए नहीं कहा जाता, बलकि उत्तर देनेवालेके हृदयमें उत्तर देते हुए पाक क्रियाके बतानेके समय अगाऊ शङ्का उठती है कि-जब मैं कहूंगा- 'पकाता है' तो उस पर 'क्या'? ऐसा प्रश्न, जिसका विषय पकाईजानेवाली वस्तु होती है- अवश्य होगा, इससे पाक क्रियाके बतानेके साथ ही 'ओदनम्' पद कह कर भविष्यत् प्रश्न, जो उसका अत्यन्त समीपी है- शान्त कर दिया जाय, इस लिए 'पचति' की आवश्यकता पर 'ओदनम्' भी कहा जाता है, इससे यह सिद्ध होता है कि-आख्यातको क्रिया-प्रधानताको अन्य कोई भी पद नहीं ले सकता है। यह भाव निकला कि-जब 'ओदन पचति' ऐसा उत्तर होता है, उस में 'ओदनम्' के लिए बिना किया हुआ भी 'क्या?' ऐसा प्रश्न बुद्धिमें अलग कल्पित कर लिया जाता है। सुतराम्, "ओदनम्" पदका क्रियाके कथनमें कोई सामर्थ्य नहीं है, आख्यात ही उसका स्वतन्त्र बोधक है।

क्रियाके स्वभावसे आख्यातकी क्रिया-वाचकता।

क्रियाका स्वभाव है, कि—वह मूर्त्त या परिछिन्न द्रव्यमें रहती है, और प्रकारके द्रव्य या क्रिया आदि किसी पदार्थमें नहीं रह सकती, इससे यह सार निकला कि 'जो क्रियावाचक शब्द होगा वह भी योग्य सम्बन्धसे एक वाक्यमें वैसे द्रव्यवाचक शब्द

के ही साथ रहेगा। जिसमें उस क्रियाके रहनेका सम्भव हो, सुतराम्, क्रियोवाचकके साथ क्रियावाचक मिल कर एक वाक्य-में कभी नहीं रहेगा, यही क्रियाका स्वभाव है।

इसके अनुसार हम देखते हैं, तो नामपदके साथ नामपद या क्रियापद देखा जाता है, किन्तु क्रियापदके साथ क्रियापद नहीं देखा जाता, जैसे-'देवदत्तः पचति' 'देवदत्त पकाता है' 'यज्ञदत्तः पठति' 'यज्ञदत्त पढता है' यह नाम और क्रिया पद या आख्यातका जोड़ा है, तथा 'राज्ञः पुरुषः' 'राजाका पुरुष' यह एक वाक्यमें दो नामोंका योग है, किन्तु 'पचति' पठति' (पकाता है-पढ़ता है) ऐसे दो स्वतन्त्र क्रियापदोंका एक वाक्यमें मेल नहीं देखा जाता। ऐसी अवस्थामें हम 'पचति' और 'पठति' आदि आख्यात पदोंको क्रिया प्रधान न कहें, तो क्या करेंगे? अर्थात् पढ़ना कभी लिखना करता, या लिखना पढ़ना, तो 'पचति पठति' आदि प्रयोग होते। यदि यह इसी लिए ऐसा है तो— आख्यातका क्रिया-प्रधानत्व अनिवार्य है।

आख्यातमें द्रव्य-प्रधानता नहीं।

जिन शब्दोंमें द्रव्य प्रधान होता है, ऐसे शब्दो में लिङ्ग (स्त्री-पुं-नपुंसकत्व) का योग भी रहता है, जैसे—पाचक—पाठक आदि शब्द। इनका पुंलिङ्गमें 'पाचकः' स्त्रीलिङ्गमें 'पाचिका और नपुंसक लिङ्गमें 'पाचकम्' बनता है, जब कि लिङ्गके भेदसे इनमें विकृति देखी जाती है तो इनमें लिङ्गका योग भी स्वीकार्य ही होगा।

जिन शब्दोंमें लिङ्गके कारण कोई विकृति नहीं देखी जाती उनमें लिङ्गके सम्बन्धके होनेका कोई प्रमाण न होने से वे निर्विवाद लिङ्ग—सम्बन्ध—रहित ही माने जायेंगे। इस विचारके साथ हम आख्यात पदोंको देखते हैं तो वे भी—'ब्राह्मणः

पठति' 'ब्राह्मणी पठति' तथा 'ब्राह्मणकुल पठति' इन तीनों ही वाक्योंमें पुल्लिङ्ग स्त्रीलिङ्ग एवम् नपुसकलिङ्ग पदोंके साथ लग कर भी एक ही रूपसे रहते है, इसका कारण यही हो सकता है कि—वह द्रव्य—प्रधान नहीं है। इस द्रव्य प्रधानताके खण्डनसे भी परिशेषसे आख्यातमें क्रिया प्रधानता ही आती है।

इसी अभिप्रायसे किसी प्राचीन आचार्य्यने कहा है—

"क्रियावाचक माख्यातं, लिङ्गतो न विशिष्यते।

त्रीनत्र पुरुषान्विद्यात् कालतस्तु विशिष्यते॥

आख्यात क्रिया—वाचक या क्रियाप्रधान है। (द्रव्यवाचक नहीं) क्योंकि इसमें लिङ्गकी विशेषणता नही देखी जाती। जैसे कि—हिन्दीभाषामें 'पकाता है' 'पकाती है' इत्यादि। इसके अतिरिक्त—३ पुरुषों और कालका योग भी आख्यातके क्रियाप्रधान होनेका मूल है। अर्थात् द्रव्यवाचक नाम पदोंमे प्रथम, मध्यम और उत्तम पुरुष तथा भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालकी विशेषणता नहीं देखी जाती, यह विलक्षणता भी आख्यातके क्रियाप्रधान होनेमें कारण है।

प्रश्न। शाब्दिक लोगोंने लिङ्ग और सख्याके सम्बन्धको द्रव्यका लक्षण बताया है, क्योंकि—संख्या और लिङ्ग ये दोनो ही द्रव्यके धर्म है, हम जहांतक समझते है, इसी सिद्धान्तके अवलम्बन पर यह वचन उतरा है, किन्तु कोई यह भी सिद्ध नहीं कर सकता कि—'अकेली संख्या भी किसी अद्रव्य पदार्थमें रह सकती है' इस लिए जब कि—आख्यातपदोंमें 'पचति' पचतः, पचन्ति' इत्यादि रूपसे संख्याका योग व्यापक है, तो वे क्यों नहीं द्रव्यवाचक समझे जाते? जैसे कि—घटः घटौ घटाः। अर्थात् 'पकाता है' और 'पकाते है' ऐसे प्रयोगोमें सख्याका प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है।

इसके अतिरिक्त 'देवदत्तः पचति' 'ओदनः पच्यते' ('देवदत्त पकाता है, ओदन पकाया जाता है) इन वाक्योंमें द्रव्यवाचकता या द्रव्यके सामानाधिकरण्यके कारण क्रियामें विकृति होती है, अन्यथा उस विकृतिका मूल ही क्या है।

अपि च "लः कर्मणि च

भावे चाकर्मकेभ्यः" "कर्त्तरि शप्"।

इत्यादि अनेक पाणिनि सूत्र इसका साक्ष्य भी देते हैं, कि-आख्यातमें द्रव्य—वाचकता रहती है।

लिङ्गकी विकृतिका अभाव भी पूर्णरूपसे प्रमाण नहीं हो सकता कि—'आख्यात द्रव्यवाचक नहीं', क्योंकि कति और युष्मद्-अस्मद् आदि बहुत द्रव्यवाचक शब्द ऐसे है, जिनमें लिङ्ग की विकृति नहीं देखी जाती जैसे—'त्वं पुमान्' 'त्वंस्त्री' 'त्वं ब्रह्म' 'कति पुरुषाः' 'कति स्त्रियः' 'कति कुलानि' इत्यादि।

यह कहें कि—कति आदि शब्दोमे लिङ्ग है, किन्तु प्रतीत नहीं होता, तो हम भी 'पचति' आदिके लिये यह कह सकते हैं, इस लिये यह शब्दका स्वभाव है कि—कहीं लिङ्गकी विकृति प्रतीत होती है, और कहीं नहीं।

जब कि-पच् धातुसे लट् लकार होता है, और वह 'शतृ' आदेश होनेकी अवस्थामें द्रव्यवाचक स्वीकृत है, तो तिप् आदेश-की अवस्थामें उस लट्के अर्थको कौन उड़ा ले जायगा, या उड़ भी जाता है, तो उसमें क्या प्रमाण है?

अपि च 'देवदत्तः पचति' यहा पर पचति द्रव्यवाचक नहीं तो देवदत्त शब्दमें प्रथमा विभक्तिका क्या मूल है? और पचति पचसि तथा पचामि में पुरुष नियम किसने किया?

यदि इन सब बातोंका मूल निकालेंगे तो आप समझेंगे कि—आख्यातमें द्रव्य—वाचकता है, या द्रव्य—प्रधानता है, या नहीं।

अपि च—यदि आख्यातमें सर्वत्र भाव—प्रधानता ही होती तो पाणिनि मुनि उक्त सूत्रमे कर्ता और कर्मके अतिरिक्त भावमें लकारको क्यो विधान करते ?

यद्यपि यहां एक आपत्ति और हो सकती है। वह यह है कि—आख्यातकी द्रव्य—प्रधानता शब्दानुशासन तक है, फिर अपना कार्य करके लोकव्यवहारमे शब्दके आनेसे पहले ही वह लय हो जाती है ? तथापि उसके लिये यह कहा जा सकता है कि—वह पीछे किस कारणसे लय हो जातो है, और उसके लय होने मे क्या प्रमाण है ?

यदि कोई प्रमाण तुम्हारे पास अनिवार्य होता तो प्रथमान्त-विशेष्यक शाब्दबोध माननेवाले नैयायिक तुमसे अलग क्यो होते ?

इससे सार यह निकला कि—आख्यात हो या नाम जहां भाव-वाचक प्रत्यय होगा, वही भाव-प्रधानता है, अन्यत्र नही। जैसे—'देवदत्तेन भूयते' पठ्यते, 'ओदनेन पच्यते, कृतिः भूतिः भवनम्, भावः, पाचकता, पाठकता इत्यादि।

उत्तर—यह ठीक है कि—आख्यातपद भाव, क्रिया, काल और संख्याके समान द्रव्यका वाचक भी होता है, तथापि उन सब अर्थोंमे भावकी ही प्रधानता रहती है, इसके लिये विशेष-प्रत्ययाधान आदि बहुत युक्तिया दी जाचुकी है, इसलिए यहा अन्य विस्तारकी उपेक्षा की जाती है।

प्रकृत्यर्थकी प्रधानता।

और

प्रत्ययार्थकी अप्रधानता।

आख्यातके चार विभाग है, कर्तृ-वाचक, कर्म-वाचक, भाव-

वाचक और कर्म-कर्तृ-वाचक । जैसे—कर्तृ० 'पचति', कर्म० 'पच्यते', भाव० 'भूयते', और क० क० 'पच्यते-स्वयमेव' ।

इन चारों आख्यातोंमें अवयव या प्रत्यय (तिप् आदि) के अर्थ द्रव्य हैं, वे अप्रधान है, और प्रकृति जो धातु (पच आदि) है, उसका अर्थ (क्रिया) प्रधान है। उसका अभिधान करनेसे यह आख्यात कहाता है अर्थात् प्रधानीभूत क्रिया ही इसका लक्षण है ।

अथ नामलक्षणम् ।

(संगति)

आचार्यने चारों पदोंकी गणनाके समय 'नामाख्याते' इस पदमें व्याकरणके नियमके अनुरोधसे आख्यातकी अपेक्षा नामकी गणना पहिले की है, किन्तु लक्षणका क्रम उत्पत्तिके क्रमानुसार किया है, उत्पत्तिमें आख्यात पहिले है, और नाम आख्यातसे उत्पन्न होनेके कारण उससे पीछे है। इसी उत्पत्ति के क्रमके अनुरोधसे गणनाक्रमको भङ्ग करके आख्यातके लक्षणके अनन्तर नामका लक्षण किया।

लक्षण ।

(नि०) **"सत्वप्रधानानि नामानि"**

लिङ्ग और संख्यावाले पदार्थको द्रव्य या सत्व करते हैं, जिस पदमें द्रव्य प्रधानतासे कहा जावे, और क्रिया गौणभावसे वह 'नाम' कहाता है ।

नाम शब्दकी व्युत्पत्ति ।

(क) **नमन्ति आख्यातशब्दे गुण-भावेन यानि, तानि नामानि ।**

जहां वाक्यमें नाम और आख्यात दोनों इकट्ठे होते है

वहां नाम पद गौण होकर आख्यात पदसे झुक जाते हैं, इसीसे ये नाम कहाते हैं ।

(ख) नमन्ति स्वमर्थम् आख्यातशब्द-वाच्येगुणभावेन इति नामानि ।

आख्यातके क्रियारूप अर्थमें अपने अर्थको गौण भावसे झुका देते हैं, इससे ये नाम कहाते है ।

जिस प्रकार आख्यातमें रहता हुआ भी द्रव्य इच्छासे छोड़ दिया जाता है, उसी प्रकार नाममे रहती हुई भी क्रिया गणना नहीं की जाती । क्योंकि नाम पदकी द्रव्यमे परता या अभि निवेश होता है इसीसे उसमे जो क्रिया रहती है वह अपने विकार से उत्पन्न होनेवाले नामार्थको बताकर वहांसे हट जाती है । मानो 'पाचक' शब्दमे जो पाकक्रिया प्रतीत होती है, वह जन समुदायमे पाचक पुरुषकी पहिचान कराके फिर वहांसे चली जाती है । इसी कार्यके लिए उसका वहां निवास था । जब उस द्रव्यका पता चल गया तो फिर वहां वह अपना प्रयोजन नहीं देखती ।

नाममें क्रियाका रहना ।

नाम पदमें तीन भाग होते हैं,—प्रकृति, (धातु) प्रत्यय (अक आदि) और विभक्ति (प्रथमा आदि) जैसे—'पाचकः' इसमें पच् (धा०) अक (प्र०) और विसर्ग (:) विभक्ति है ।

यहां प्रकृति और धातु एक ही बात है । धातु क्रियाका वाचक होता है, और वह नाममें विद्यमान है, इससे उसकी वाच्य क्रिया भी वहां होनी चाहिए । जैसे कि—जहां जो अर्थ है, वहां उसका वाचक शब्द भी अवश्य रहता है ।

जहां शब्द है वहां उसका वाच्य अर्थ है, क्यों कि—शब्द और अर्थ दोनों वाच्य-वाचक सम्बन्धसे नित्य सम्बन्धी है, इस रीति से सिद्ध हुआ कि नाम में क्रिया है।

नाममें रहती हुई भी क्रियाकी अविवक्षा।

नाममें जो धातु रहता है, उसकी क्रियाको कहनेकी शक्ति कृत् प्रत्ययसे बने हुए प्रातिपदिकसे तिरस्कृत हो जाती है। अर्थात् उसकी वृत्ति प्रातिपदिकके भीतर ही लय हो जाती है, ऐसी अवस्थामें अपने अर्थको प्रगट करनेमे असमर्थ होकर प्रातिपदिक-के अर्थका ही अनुसरण करता है। इस लिए वह द्रव्यप्रधान ही हो जाता है, और क्रियाकी विवक्षा नहीं रहती। यह भाव है कि-जिस समयमें नामका विग्रह करते है, उस समय धातु प्रातिपदिकके बन्धनसे मुक्त होकर द्रव्यमें रहते हुए अपने अर्थ को प्रकाशित करता है, किन्तु विग्रहसे पहिले नहीं, यही नाम शब्दकी द्रव्यपरता है। जिस प्रकार राजाकी शासन शक्ति परराष्ट्र-में तिरस्कृत हो जाती है और उसकी सीमासे बाहिर होते ही उसकी शक्तिका उद्दीपन हो जाता है, वैसेही नामके भीतर आये हुए धातुकी शक्तिका वृत्त है। आख्यातमें क्रिया और नाममे द्रव्यका राज्य है।

श्लोकोंमे नामके लक्षण।

शब्देनोच्चारितेनेह, येन द्रव्यं प्रतीयते।
तदक्षरविधौ युक्तं, नामेत्याहुर्मनीषिणः ॥ १ ॥
अष्टौ यत्र प्रयुज्यन्ते, नानार्थेषु विभक्तयः।
तन्नाम कवयः प्राहु, र्भेदे वचनलिङ्गयोः ॥ २ ॥

निर्देशः कर्म करणं, प्रदानमपकर्षणम् ।
स्वाम्यर्थोप्यधिकरणं, विभक्त्यर्थाः प्रकीर्त्तिताः ॥ ३ ॥

१—लक्षण, जिस शब्दके उच्चारण करनेसे द्रव्य प्रतीत हो, उस को शब्दशास्त्रमें नाम कहते हैं।

२—लक्षण, जिस शब्दमें भिन्न २ अर्थोंमें ८ विभक्तियां होती हों और वचनं तथा लिङ्गका भेद हो, उसको नाम कहते है।

विभक्तियोंके अर्थ।

१ माका, शब्द निर्देश, २ याका कर्मकारक, ३ याका कर्तृ और करण कारक, ४ थींका सम्प्रदान कारक, ५ मीका अपादान कारक, ६ ष्ठीका स्वामिभाव आदि सम्बन्ध और ७ मीका अधिकरण कारक अर्थ है।

'नामानि' बहुवचनका कारण।

"सत्वप्रधानानि नामानि" इस नाम लक्षणमें "क्रियाप्रधान माख्यातम्" इस लक्षणमें 'आख्यातम्' पदके समान 'नामानि' के स्थानमें 'नाम' यह एक बचन ही दिना चाहिये था, तथापि बहुवचन करनेका प्रयोजन यह है कि-कही निपात और उपसर्गोमें भी स्त्रीलिङ्ग, पुलिङ्ग, नपुंसक लिङ्गोंका भेद देखा जाता है, इसलिए उनका भी नामोंमें संग्रह करनेके लिए बहुबचन दिया है।

अन्य आचार्योंके मतमें नाम और आख्यातके अर्थोंका भेद।

कोई आचार्य नाम और आख्यातके अर्थोका भेद इस प्रकारसे करते हैं, कि—भाव, काल, कारक और संख्या ये चार अर्थ आख्यातके हैं, और उनमें भावकी प्रधानता है, इसीसे आख्यातको भाव प्रधान कहते हैं। एवम् नामके भी सत्ता, द्रव्य, संख्या और लिङ्ग ये चार अर्थ होते हैं। और उनमें द्रव्य प्रधान होता है, इसीसे नाम सत्वप्रधान कहे जाते हैं।

नाम और आख्यातके समुदायमें भावकी प्रधानता ।

(नि०) तद्यत्रोभे भावप्रधाने भवतः ।

जहाँपर नाम और आख्यात दोनों इकट्ठे होजाते हैं, वहां भावकी ही प्रधानता रहती है। यद्यपि स्वतन्त्रताकी अवस्थामें एक भावप्रधान और दूसरा द्रव्यप्रधान है, तथापि वह प्रधानता एक पदके विचार तक ही रहती है, लोक तथा वेदमे इनसे जब कार्य निकलता है, तो दोनोंके मेलसे ही निकलता है, अर्थात् व्यवहार स्थलमें इनम से एकके बिना एक नहीं रहता है, सुतराम्, दोनोको परस्परकी अत्यन्त अपेक्षा बनी रहती है। जैसे—व्यवहारमें 'पचति' से भी कुछ प्रयोजन नहीं मालूम होता, और ऐसे ही एक 'देवदत्तः' पदसे भी। इससे ये दोनो जहां इकट्ठे रहेंगे, वहां, अर्थात् वाक्यमें भावकी प्रधानता और द्रव्यकी गौणता रहेगी। क्योंकि—क्रिया-साध्य होती है, और कारक जो द्रव्य है, वे उसके साधनके लिए होते है। इस उपरि लिखित व्याख्यानसे वाक्यमें आख्यातकी प्रधानता सिद्ध हुई।

आख्यातमें भावकी अवस्था ।

(नि०) पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे ।

व्रजति—पचति--इत्युपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्य्यन्तम् ।

भावकी दो अवस्था होती है, एक साध्यावस्था जो उसके बनते हुएकी असम्पूर्ण अवस्था कही जा सकती है। दूसरी सिद्धावस्था होती है, जिसको उसकी सम्पूर्ण होनेकी अवस्था कह सकते हैं। इनमें भावकी पहिली अवस्था आख्यातसे कही जाती या प्रतीत होती है।

शब्द और अर्थका जो सम्बन्ध है, वह लोक व्यवहारसे ही

ग्रहण किया जाता है। क्योंकि मनुष्य लोकमे रहकर लोकही से शिक्षा प्राप्त कर सकता है। इसलिए यहाँ भावकी अवस्था दिखलानेके लिए भी लोकही अवलम्बनीय है।

आख्यात नाम 'पचति-पठति' इत्यादि तिङन्त पदोंका है। भाषामें इनकी जगह 'पकाता है-पढ़ता है' इत्यादि धर सकते है। इन पदोंका स्वभाव है कि—जबसे क्रियाका आरम्भ होता है, वहांसे लेकर उसकी समाप्ति तक जो अवस्था है, वह आख्यात पदसे प्रकाशित की जाती है। उदाहरण में हम 'गङ्गां व्रजति' यह वाक्य रखते है। जिसका अर्थ 'गङ्गाको जाता है-यह होता है। यहां पर 'व्रजति' से जो क्रिया प्रतीत होती है, उसको गमन कहते हैं। इस गमन क्रियाका आरम्भ जूतीके पहिननेसे होता है, अर्थात् जूती का पहिनना, आगे पीछे पैरोका धरना, मार्गमे भोजन करना, सोना, बैठना तथा जलपान करना आदि क्रियाओमे गमन ही व्याप्त हुआ दिखाई देता है, जब तक वह गङ्गा तक पहुंचे। अर्थात् चलते, बैठते, खाते, पीते हुए भी पूछते है कि क्या करता है, तो उसका यही उत्तर मिलता है, कि—गङ्गाको जाता है। सार यह निकला कि—घरसे गङ्गातक जितनी क्रिया देवदत्तके शरीरमें होती हैं, उन सभीमे गमन क्रिया व्यापक रूपसे प्रतीत होती है। जब वह गङ्गाके ऊपर पहुँच जाता है, तब वह गमन क्रिया सम्पूर्ण हो जाती है। उस अवस्थामें यदि पूछा जाय तो 'व्रजति' इस पदसे उत्तर नहीं दिया जायगा, किन्तु 'गतः-प्राप्तः' इत्यादि पदोंसे ही उत्तर दिया जायगा। क्योंकि-अब वह गमन करता नहीं किन्तु कर चुका। इसीसे स्पष्ट होता है कि—आख्यात पद क्रिया की साध्यावस्थाको ही कथन करता है। ऐसे ही पचन तथा पठन क्रियाओंका भी आरम्भ और समाप्ति एवम्, आख्यातके वाच्यार्थ को निर्णय करना होगा।

अन्त्य क्रियासे भावकी सिद्धि ।

यहांपर ऐसी आपत्ति उठाई जा सकती है कि जब हम अन्त्य क्रियाके पास ही भावकी सिद्धिको देखते है, तो क्यो नहीं अन्तकी क्रिया ही आख्यातका वाच्य समझा जाय ?

यद्यपि जिस पद्विहरणसे देवदत्त गङ्गाके तटपर पहुंचता है, ठीक उसी पद्विहरण (पैंड) पर भावकी सिद्धि प्रतीत होती है, तथापि जिस क्रियासे गङ्गाके तटपर पहुंचता है, यदि उससे पहलेकी क्रियाएं न हो तो उसीका होना असम्भव है, इसीलिए गृहके त्याग और गङ्गाकी प्राप्ति तक जितनी क्रिया है, सभीमें गमनकी व्याप्ति माननी होगी। इसके अतिरिक्त गृह और गङ्गाके मध्य देशमें खान, पान आदि क्रियाओके समय भी 'किङ्करोति' का उत्तर 'गङ्गां ब्रजति' यही मिलता है जब कि अन्त्यक्रियाका जन्म भी नही है, तो किस प्रकारसे अन्त्य क्रियाको ही आख्यातका वाच्य कह सकते है।

तात्पर्य यह है कि-आरम्भ से जितनी क्रियाए होती हैं, उनसे कुछ २ भाव सिद्ध होता रहता है, किन्तु उसकी पूर्त्ति अन्त्य-क्रिया ही में होती है, इससे वह अन्त्यक्रियासे हो सिद्ध हुआ प्रतीत होता है किन्तु वास्तव में उन सभी क्रियाओंमे जो आरम्भसे अन्ततक होती हैं, भावकी सिद्धि होती है। यद्यपि वृक्षका पूर्ण स्वरूप फलपाक पर ही प्रतीत होता है किन्तु अङ्कुरसे आदि लेकर उसकी जितनी अवस्था हो चुकी है सभीकी कारणता माननी होगी। वही प्रकार इस प्रकरण मे है।

प्रसिद्धिसे भावकी अनेक क्रियाश्रितता ।

मार्गके मध्यमे जाते हुए किसी मनुष्यको देखो कि-वह गमनके कुछ भागको कर चुका है, कुछ कर रहा है, और कुछको करेगा, किन्तु कहनेवाले उन भूत भविष्यत् तथा वर्तमान क्रियाओ को एक

अपि च—यदि आख्यातमें सर्वत्र भाव—प्रधानता ही होती तो पाणिनि मुनि उक्त सूत्रमें कर्ता और कर्मके अतिरिक्त भावमे लकारको क्यो विधान करते ?

यद्यपि यहां एक आपत्ति और हो सकती है। वह यह है कि—आख्यातकी द्रव्य—प्रधानता शब्दानुशासन तक है, फिर अपना कार्य करके लोकव्यवहारमें शब्दके आनेसे पहले ही वह लय हो जाती है ? तथापि उसके लिये यह कहा जा सकता है कि—वह पीछे किस कारणसे लय हो जाती है, और उसके लय होने मे क्या प्रमाण है ?

यदि कोई प्रमाण तुम्हारे पास अनिवार्य होता तो प्रथमान्त-विशेष्यक शाब्दबोध माननेवाले नैयायिक तुमसे अलग क्यों होते ?

इससे सार यह निकला कि—आख्यात हो या नाम जहां भाव-वाचक प्रत्यय होगा, वही भाव-प्रधानता है, अन्यत्र नहीं। जैसे—'देवदत्तेन भूयते' एध्यते, 'ओदनेन पच्यते, कृतिः भूतिः भवनम्, भावः, पाचकता, पाठकता इत्यादि।

उत्तर—यह ठीक है कि—आख्यातपद भाव, क्रिया, काल और संख्याके समान द्रव्यका वाचक भी होता है, तथापि उन सब अर्थोमें भावकी ही प्रधानता रहती है, इसके लिये विशेष प्रत्ययाधान आदि बहुत युक्तियां दी जा चुकी हैं, इसलिए यहां अन्य विस्तारकी उपेक्षा की जाती है।

प्रकृत्यर्थकी प्रधानता।

और

प्रत्ययार्थकी अप्रधानता।

आख्यातके चार विभाग है, कर्तृ-वाचक, कर्म-वाचक, भाव-

वाचक और कर्म-कर्तृ-वाचक । जैसे—कर्तृ० 'पचति', कर्म० 'पच्यते', भाव० 'भूयते', और क० क० 'पच्यते-स्वयमेव' ।

इन चारों आख्यातोंमें अवयव या प्रत्यय (तिप् आदि) के अर्थ द्रव्य है, वे अप्रधान हैं, और प्रकृति जो धातु (पच आदि) है, उसका अर्थ (क्रिया) प्रधान है । उसका अभिधान करनेसे यह आख्यात कहाता है अर्थात् प्रधानीभूत क्रिया ही इसका लक्षण है ।

अथ नामलक्षणम् ।

(संगति)

आचार्यने चारो पदोंकी गणनाके समय 'नामाख्याते' इस पदमें व्याकरणके नियमके अनुरोधसे आख्यातकी अपेक्षा नामकी गणना पहिले की है, किन्तु लक्षणका क्रम उत्पत्तिके क्रमानुसार किया है, उत्पत्तिमें आख्यात पहिले है, और नाम आख्यातसे उत्पन्न होनेके कारण उससे पीछे है । इसी उत्पत्ति के क्रमके अनुरोधसे गणनाक्रमको भङ्ग करके आख्यातके लक्षणके अनन्तर नामका लक्षण किया ।

लक्षण ।

(नि०) "सत्वप्रधानानि नामानि"

लिङ्ग और संख्यावाले पदार्थको द्रव्य या सत्व कहते हैं, जिस पदमें द्रव्य प्रधानतासे कहा जावे, और क्रिया गौणभावसे वह 'नाम' कहाता है ।

नाम शब्दकी व्युत्पत्ति ।

(क) नमन्ति आख्यातशब्दे गुण-
भावेन यानि, तानि नामानि ।

जहां वाक्यमें नाम और आख्यात दोनों इकट्ठे होते हैं,

वहां नाम पद गौण होकर आख्यात पदसे झुक जाते हैं, इसीसे ये नाम कहाते हैं।

(ख) नमन्ति स्वमर्थम् आख्यातशब्द- वाच्येगुणभावेन इति नामानि

आख्यातके क्रियारूप अर्थमें अपने अर्थको गौण भावसे झुका देते हैं, इससे ये नाम कहाते है।

जिस प्रकार आख्यातमें रहता हुआ भी द्रव्य इच्छासे छोड़ दिया जाता है, उसी प्रकार नाममे रहती हुई भी क्रिया गणना नहीं की जाती। क्योंकि नाम पदकी द्रव्यमे परता या अभिनिवेश होता है इसीसे उसमे जो क्रिया रहती है वह अपने विकार से उत्पन्न होनेवाले नामार्थको वताकर वहांसे हट जाती है। मानों 'पाचक' शब्दमे जो पाकक्रिया प्रतीत होती है, वह जन समुदायमे पाचक पुरुषकी पहिचान कराके फिर वहांसे चली जाती है। इसी कार्यके लिए उसका वहां निवास था। जब उस द्रव्यका पता चल गया तो फिर वहां वह अपना प्रयोजन नहीं देखती।

नाममें क्रियाका रहना।

नाम पदमें तीन भाग होते है,—प्रकृति, (धातु) प्रत्यय (अक आदि) और विभक्ति (प्रथमा आदि) जैसे—'पाचकः' इसमें पच् (धा०) अक (प्र०) और विसर्ग (:) विभक्ति है।

यहां प्रकृति और धातु एक ही वात है। धातु क्रियाका वाचक होता है, और वह नाममें विद्यमान है, इससे उसकी वाच्य क्रिया भी वहां होनी चाहिए। जैसे कि—जहां जो अर्थ है, वहां उसका वाचक शब्द भी अवश्य रहता है।

जहां शब्द है वहां उसका वाच्य अर्थ है, क्यों कि—शब्द और अर्थ दोनों वाच्य-वाचकसम्बन्धसे नित्य सम्बन्धी हैं, इस रीति से सिद्ध हुआ कि नाम में क्रिया है।

नाममें रहती हुई भी क्रियाको अविवक्षा।

नाममें जो धातु रहता है, उसकी क्रियाको कहनेकी शक्ति कृत् प्रत्ययसे बने हुए प्रातिपदिकसे तिरस्कृत हो जाती है। अर्थात् उसकी वृत्ति प्रातिपदिकके भीतर ही लय हो जाती है, ऐसी अवस्थामें अपने अर्थको प्रगट करनेमें असमर्थ होकर प्रातिपदिकके अर्थका ही अनुसरण करता है। इस लिए वह द्रव्यप्रधान ही हो जाता है, और क्रियाकी विवक्षा नहीं रहती। यह भाव है कि–जिस समयमें नामका विग्रह करते है, उस समय धातु प्रातिपदिकके बन्धनसे मुक्त होकर द्रव्यमे रहते हुए अपने अर्थको प्रकाशित करता है, किन्तु विग्रहसे पहिले नहीं, यही नाम शब्दकी द्रव्यपरता है। जिस प्रकार राजाकी शासन शक्ति परराष्ट्रमें तिरस्कृत हो जाती है और उसकी सीमासे बाहिर होते ही उसकी शक्तिका उद्दीपन हो जाता है, वैसेही नामके भीतर आये हुए धातुकी शक्तिका वृत्त है। आख्यातमें क्रिया और नाममें द्रव्यका राज्य है।

श्लोकोमें नामके लक्षण।

शब्देनोच्चारितेनेह, येन द्रव्यं प्रतीयते।
तदक्षरविधौ युक्तं, नामेत्याहुर्मनीषिणः ॥ १ ॥
अष्टौ यत्र प्रयुज्यन्ते, नानार्थेषु विभक्तयः।
तन्नाम कवयः प्राहु, र्भेदे वचनलिङ्गयोः ॥ २ ॥

निर्देशः कर्म करणं, प्रदानमपकर्षणम्।
स्वाम्यर्थोप्यधिकरणं, विभक्त्यर्थाः प्रकीर्त्तिताः ॥३॥

१—लक्षण, जिस शब्दके उच्चारण करनेसे द्रव्य प्रतीत हो, उस को शब्दशास्त्रमें नाम कहते हैं।

२—लक्षण, जिस शब्दमे भिन्न २ अर्थोंमें ८ विभक्तियां होती हों और वचन तथा लिङ्गका भेद हो, उसको नाम कहते है।

विभक्तियोंके अर्थ।

१ माका, शब्द निर्देश, २ याका कर्मकारक, ३ याका कर्तृ और करण कारक, ४ थींका सम्प्रदान कारक, ५ मीका अपादान कारक, ६ ष्ठीका स्वामिभाव आदि सम्बन्ध और ७ मीका अधिकरण कारक अर्थ है।

'नामानि' बहुवचनका कारण।

"सत्त्वप्रधानानि नामानि" इस नाम लक्षणमें "क्रियाप्रधान माख्यातम्" इस लक्षणमें 'आख्यातम्' पदके समान नामानि" के स्थानमें 'नाम' यह एक बचन ही देना चाहिये था, तथापि बहुवचन करनेका प्रयोजन यह है कि—कही निपात और उपसर्गोंमें भी स्त्रीलिङ्ग, पुलिङ्ग, नपुंसक लिङ्गोंका भेद देखा जाता है, इसलिए उनका भी नामोंमें संग्रह करनेके लिए बहुबचन दिया है।

अन्य आचार्योंके मतमें नाम और आख्यातके अर्थोंका भेद।

कोई आचार्य नाम और आख्यातके अर्थोका भेद इस प्रकारसे करते हैं, कि—भाव, काल, कारक और संख्या ये चार अर्थ आख्यातके हैं, और उनमें भावकी प्रधानता है, इसीसे आख्यातको भाव प्रधान कहते हैं। एवम् नामके भी सत्ता, द्रव्य, संख्या और लिङ्ग ये चार अर्थ होते हैं। और उनमें द्रव्य प्रधान होता है, इसीसे नाम सत्वप्रधान कहे जाते हैं।

नाम और आख्यातके समुदायमें भावकी प्रधानता ।

(नि०) तद्यत्रोभे भावप्रधाने भवतः ।

जहाँपर नाम और आख्यात दोनों इकट्ठे होजाते हैं, वहां भावकी ही प्रधानता रहती है। यद्यपि स्वतन्त्रताकी अवस्थामें एक भावप्रधान और दूसरा द्रव्यप्रधान है, तथापि वह प्रधानता एक पद्के विचार तक ही रहती है, लोक तथा वेद्में इनसे जब कार्य निकलता है, तो दोनोंके मेलसे ही निकलता है, अर्थात् व्यवहार स्थलमे इनम से एकके बिना एक नहीं रहता है, सुतराम्, दोनोको परस्परकी अत्यन्त अपेक्षा बनी रहती है। जैसे—व्यवहारमें 'पचति' से भी कुछ प्रयोजन नहीं मालूम होना, और ऐसे ही एक 'देवदत्तः' पद्से भी। इससे ये दोनों जहां इकट्ठे रहेंगे, वहां, अर्थात् वाक्यमे भावकी प्रधानता और द्रव्यकी गौणता रहेगी। क्योंकि—क्रिया-साध्य होती है, और कारक जो द्रव्य है, वे उसके साधनके लिए होते है। इस उपरि लिखित व्याख्यानसे वाक्यमें आख्यातकी प्रधानता सिद्ध हुई।

आख्यातमें भावकी अवस्था ।

(नि०) पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे ।

व्रजति—पचति--इत्युपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्य्यन्तम् ।

भावकी दो अवस्था होती हैं, एक साध्यावस्था जो उसके बनते हुएकी असम्पूर्ण अवस्था कही जा सकती है। दूसरी सिद्धावस्था होती है, जिसको उसकी सम्पूर्ण होनेकी अवस्था कह सकते हैं। इनमें भावकी पहिली अवस्था आख्यातसे कही जाती या प्रतीत होती है।

शब्द और अर्थका जो सम्बन्ध है, वह लोक व्यवहारसे ही

ग्रहण किया जाता है। क्योंकि मनुष्य लोकमे रहकर लोकही से शिक्षा प्राप्त कर सकता है। इसलिए यहां भावकी अवस्था दिखलानेके लिए भी लोकही अवलम्बनीय है।

आख्यात नाम 'पचति-पठति' इत्यादि तिङन्त पदोंका है। भाषामें इनकी जगह 'पकाता है-पढ़ता है' इत्यादि धर सकते है। इन पदोंका स्वभाव है कि—जबसे क्रियाका आरम्भ होता है, वहांसे लेकर उसकी समाप्ति तक जो अवस्था है, वह आख्यात पदसे प्रकाशित की जाती है। उदाहरण मे हम 'गङ्गां व्रजति' यह वाक्य रखते है। जिसका अर्थ 'गङ्गाको जाता है-यह होता है। यहां पर 'व्रजति' से जो क्रिया प्रतीत होती है, उसको गमन कहते हैं। इस गमन क्रियाका आरम्भ जूतीके पहिननेसे होता है, अर्थात् जूतो का पहिनना, आगे पीछे पैरोंका धरना, मार्गमें भोजन करना, सोना, बैठना तथा जलपान करना आदि क्रियाओंमें गमन ही व्याप्त हुआ दिखाई देता है, जब तक वह गङ्गा तक पहुंचे। अर्थात् चलते, बैठते, खाते, पीते हुए भी पूछते हैं कि क्या करता है, तो उसका यही उत्तर मिलता है, कि—गङ्गाको जाता है। सार यह निकला कि—घरसे गङ्गातक जितनी क्रिया देवदत्तके शरीरमें होती है, उन सभीमे गमन क्रिया व्यापक रूपसे प्रतीत होती है। जब वह गङ्गाके ऊपर पहुंच जाता है, तब वह गमन क्रिया सम्पूर्ण हो जाती है। उस अवस्थामें यदि पूछा जाय तो 'व्रजति' इस पदसे उत्तर नहीं दिया जायगा, किन्तु 'गतः-प्राप्तः' इत्यादि पदोंसे ही उत्तर दिया जायगा। क्योंकि-अब वह गमन करता नहीं किन्तु कर चुका। इसीसे स्पष्ट होता है कि—आख्यात पद क्रिया की साध्यावस्थाको ही कथन करता है। ऐसे ही पचन तथा पठन क्रियाओंका भी आरम्भ और समाप्ति एवम्, आख्यातके वाच्यार्थ को निर्णय करना होगा।

अन्त्य क्रियासे भावकी सिद्धि ।

यहांपर ऐसी आपत्ति उठाई जा सकती है कि जब हम अन्त्य क्रियाके पास ही भावकी सिद्धिको देखते है, तो क्यों नहीं अन्तकी क्रिया ही आख्यातका वाच्य समझा जाय ?

यद्यपि जिस पदविहरणसे देवदत्त गङ्गाके तटपर पहुंचता है, ठीक उसी पदविहरण (पैंड) पर भावकी सिद्धि प्रतीत होती है, तथापि जिस क्रियासे गङ्गाके तटपर पहुंचता है, यदि उससे पहलेकी क्रियाएं न हों तो उसीका होना असम्भव हैं, इसीलिए गृहके त्याग और गङ्गाकी प्राप्ति तक जितनी क्रिया है, सभीमें गमनकी व्याप्ति माननी होगी। इसके अतिरिक्त गृह और गङ्गाके मध्य देशमें खान, पान आदि क्रियाओके समय भी 'किङ्करोति' का उत्तर 'गङ्गां ब्रजति' यही मिलता है जब कि अन्त्यक्रियाका जन्म भी नहीं है, तो किस प्रकारसे अन्त्य क्रियाको ही आख्यातका वाच्य कह सकते है।

तात्पर्य यह है कि-आरम्भ से जितनी क्रियाए होती हैं, उनसे कुछ २ भाव सिद्ध होता रहता है, किन्तु उसकी पूर्त्ति अन्त्य-क्रिया ही में होती है, इससे वह अन्त्यक्रियासे हो सिद्ध हुआ प्रतीत होता है किन्तु वास्तव में उन सभी क्रियाओमे जो आरम्भसे अन्ततक होती है, भावकी सिद्धि होती है। यद्यपि वृक्षका पूर्ण स्वरूप फलपाक पर ही प्रतीत होता है किन्तु अङ्कुरसे आदि लेकर उसकी जितनी अवस्था हो चुकी है सभीकी कारणता माननी होगी। यही प्रकार इस प्रकरण मे है।

प्रसिद्धिसे भावकी अनेक क्रियाश्रितता ।

मार्गके मध्यमें जाते हुए किसी मनुष्यको देखो कि-वह गमनके कुछ भागको कर चुका है, कुछ कर रहा है, और कुछको करेगा, किन्तु कहनेवाले उन भूत भविष्यत् तथा वर्तमान क्रियाओं को एक

ऐसी स्थितिमें नाम, आख्यात, निपात और उपसर्ग चारों ही एकसाथ वर्तमान रहते हैं इसलिए उनको गणना जो हमारे मतमें है युक्ति-सम्पन्न है।

इस मतमें शब्द नित्य है इससे उसकी उत्पत्ति नहीं होती, अभिव्यक्ति (प्रकटता) होती है, जैसे—नवीन मृन्मय पात्रमें जलके योग से गन्ध और निर्वात देशमें व्यजनके हिलानेसे वायु प्रकट होता है, किन्तु उत्पन्न नहीं, ऐसे ही वायुके ताल्वाद्यभिघातसे शब्द व्यक्त होता है उत्पन्न नहीं।

सुतराम्, पदकी चतुष्ट्व संख्याकी उपपत्ति इस मतमें अच्छी रीतिसे होजाती है।

गोविषाणके दृष्टान्तसे परस्पर पदोंके गौणमुख्यभावका आक्षेप भी ठीक नही है, क्योकि एककालम उत्पन्न होनेवाले मन्त्रिपुत्र और राजपुत्रका गौणमुख्यभाव देखा जाता है अतः नामकी आख्यातमें गौणता और उसकी उसमें मुख्यता युक्ति संगत है।

शास्त्रकृत योग, जो धातु उपसर्ग तथा आगम, आदेश आदिका परस्पर सम्बन्ध है वह पहिले अयुक्त ठहराया गया है, सोभी ठीक नहीं हैं क्योंकि इस सिद्धान्तके अनुसार पुरुषके अन्तःकरणमें शब्द और उसका अभिधेय (वाच्य) तथा सम्बन्ध ये तीनों बुद्धि रूपसे स्थित रहते है, उन्हीं बुद्धिमय शब्दोंमें व्याकरणके बताये हुए सब विकार होते है, और वास्तविक शब्दोंमें आरोप किये जाते हैं, जब पुरुष किसी अर्थको दूसरेके लिए प्रकाशित करना चाहता है, उस समय उस अर्थके वाचक शब्दको अभिव्यक्तिके लिए अपने आत्माके गुणभूत प्रयत्नसे नाभिदेशसे वायुको प्रेरित करता है, वह वायु उठकर वक्षःस्थल आदि देशमें टकराता हुआ मुखके द्वारसे बाहर आता है, भीतरसे बाहर आनेके

समय प्रकाशनीय शब्दके अक्षरोंके क्रमसे वहीं वहीं जाकर लगता है जहांसे उसके अक्षर प्रकट होते हों, इसी रीतिसे वायुके साथ वक्ताका अभीष्ट शब्द उसके मुखसे बाहर निकल कर श्रोताके श्रोत्रेन्द्रियमें प्रवेश कर उसके आत्मामें भावनारूपसे जो वैसा शब्द स्थित है, उसको स्मृतिपथमें ले आकर उसका अर्थ श्रोता को प्रतीत होते ही अन्तर्धान हो जाता है, यदि शब्दकी पूर्णरूप में स्थिति न होती तो "घट मानय" आदि वाक्यके श्रवणसे जो श्रोता घट ले आता है, वैसा क्यों होता? ऐसा होनेसे ही शब्दों की गणना उनके परस्पर गौण मुख्य व्यवहार तथा धातुओंसे उपसर्गों वा प्रत्ययोंके योग और उनको आगम आदेश आदि विकार होते हैं, बुद्धिके द्वारा उन उन शब्दोंमें मानना सिद्ध होता है।

शब्दके अनित्यत्वपक्षमें समाधान।

अनित्यत्व पक्षमें भी पुरुषके प्रयत्नसे उत्पन्न होकर दूसरे को अर्थज्ञान कराके शब्दकी व्यक्तियोंका ही ध्वंस (नाश) होता है, किन्तु उनकी आकृति विद्यमान रहती हैं, वे अपनी अभिधान शक्तिसे बुद्धिके द्वारा अवस्थित होकर अपने अर्थोंको प्रकाशित करती हुईं स्थित ही रहती हैं। उनमें साक्षात् पदों की संख्या रहती है और वही संख्या विनाशिनी व्यक्तियोंमें लक्षणसे मान ली जाती है। इस लिए शब्दके व्याप्तिमान् होने से पद चतुष्ट्वादि सब समीचीन है।

और वस्तुओंसे शब्दका प्रयोजन नहीं होता।

(नि०) अणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके।

शब्दके समान चिन्ह, या इशारे भी अर्थके जनानेमें काम

दे सकते हैं, किन्तु शब्द एक ऐसा सूक्ष्म साधन है, जिसके द्वारा थोड़ी देरमें बहुत कुछ समझाया जा सकता है, किन्तु चिन्हों या अभिनयोंमें बड़ा क्लेश तथा गौरव है, इस लिये शब्दके द्वारा वेद शास्त्रके अध्ययन गौरवका आक्षेप निर्मूल है, शब्दके द्वारा जितना और जो कुछ जाना जा सक्ता है और किसी उपाय से भी नहीं, इससे अन्य अन्य उपायोंका भी इसके साथ खण्डन हो गया।

वेद और शास्त्रोंके अध्ययनसे ही अभ्युदय (आत्मोन्नति) हो सकता है, उसीके लिये शास्त्रके आरम्भमें यत्न किया जाता है।

इन्हीं शब्दोंसे देवताओंके साथ व्यवहार।

(नि०) तेषां मनुष्यवद्देवताभिधानम्।

यही पद जो नाम आदि भेदसे चार प्रकारके हैं, मनुष्योंके समान देवताओके भी अभिधानमें समर्थ हैं, अर्थात् वेदमें देवताओंके अर्थ जो हविः दी जाती है, या उनसे कुछ प्रार्थना की जाती है, तो इन्हीं शब्दोंके द्वारा होती है।

मन्त्रोंका प्रयोजन।

(नि०) पुरुषविद्यानित्यत्वात्कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे।

वेदमें मन्त्रोंका समाम्नान इसलिये किया गया कि—यदि मनुष्य स्वतन्त्रतासे इन शब्दोंके द्वारा यज्ञमें हविके दान आदि करनेको देवताओंसे व्यवहार करेंगे तो अपने अशिक्षितत्व मन्दशिक्षितत्व तथा विस्मरणशीलत्व दोषसे नाम आख्यात आदिकोंका यथावत् प्रयोग न करेंगे और देवताओंके अपराधी बनेंगे, क्योंकि देवता सब अर्थोंको प्रत्यक्ष देखते हैं, वे थोड़े अयुक्त अभिधानको भी सहन न करेंगे, इसकारण उनके यज्ञको त्याग देनेसे कर्म निष्फल होजाएगा,

और मन्त्रोंमें येही नाम आदि पद विशिष्ट परिपाटीसे पढ़े हुये हैं, उनके द्वारा कर्म करनेसे भूलनेकी त्रुटि नहीं होगी, इसी कर्म-सम्पत्ति-के लिए वेदमें मन्त्र समाम्नान हुए हैं।

नामादिकोंके व्याख्यानका प्रयोजन।

सार यहहै कि—इन्हीं चारों पदोंसे मन्त्र व्याप्त हैं, अर्थात् पद चतुष्टयही परिपाटी विशेषसे पढे हुये मन्त्र कहाते हैं, इससे इनके ज्ञान द्वारा मन्त्रार्थका ज्ञान होसकताहै। इसीलिए हमने इनका लक्षण उदाहरण द्वारा बोध कराना आरम्भ किया है।

लक्षणकी आवश्यकता।

यदि लक्षणका अनादर कर शब्दोंकी गणना कीजावे तो उनके अनन्त होनेसे वह हो न सकेगी और न ग्रन्थही पूर्ण होसकता है, तथा अध्येताकी शक्ति भी क्षय होजायगी, विद्वानोंने पदार्थोंके लक्षण द्वाराही उनका अन्त प्राप्त कियाहै। अतः हम भी उक्त प्रयो-जनके लिए लक्षणका अवलम्बन करते है।

भावके सामान्य व विशेषरूपके दिखानेके अनन्तर पदकी अनि-त्यतासे उठे हुए प्रश्न तथा अन्य २ जो कुछ दिखाया गयाहै, वह प्रसङ्गवशसे कहागयाहै, अब फिर भावके सम्बन्धमें ही जो रहगया है उसे दिखाते हैं।

भावके दो रूपहैं एक कार्य और दूसरा कारण। अब तक भावके सम्बन्धको लेकर जो दिखाया गयाहै, वह कार्य भावका है, अर्थात् क्रियासे बननेवाला वस्तु भावहै, अथवा क्रियाही भावहै।

अब कारणस्वरूप भावका निरूपण किया जाताहै।

प्रलयकालमें जब पुरुषोंके सुख-दुःखके उपभोगका प्रवाह बन्ध होजाता है, तब क्रिया और द्रव्य अपने २ विशेषोंको त्यागकर, कार्यात्मतासे अतीत (पार) होकर एक अविशिष्टरूपसे स्थित होजाते हैं, जिनको हम सत्तामात्रसे सम्बन्ध रखनेवाला आत्म-भाव

कह सकतेहैं। अर्थात् अत्यन्त अविनाशधर्मवाला आत्माही भाव पदार्थ है।

इस कारण भूतभावका प्रसङ्ग यहां पर इसलिए आया कि—जगत्के स्थितिकालमें इसी भावके विकार द्रव्य, गुण, तथा कर्मके रूपमें होकर नाम, आख्यात उपसर्ग और निपात इन चतुर्विध पदोंसे बोले जाते हैं; और स्वयम् वह भी (भाव) सब विशेषोंसे रहित तथा होने मात्र (सत्तामात्र) क्रियासे सम्बन्ध रखता हुआ उपपद रहित 'भवति' एवम् 'भावः' इन दोनोंसे बोला जाताहैं! अर्थात् कारण भावके वाचक ये दो पद हैं, और कार्य भावके 'पचति-पठति-गौः-अश्वः' इत्यादि सम्पूर्ण पद। इस प्रकार 'भवति' और 'भावः' इन दोनोंकी वृत्तिके विवेचनार्थ ही उक्त भावका प्रसङ्ग लाया गया है।

पूर्वपक्ष।

सांख्याचार्य कहते हैं कि—जो तुमने कारणभूत भाव बताया है, वह हमारा प्रधान या मूल प्रकृति है, किन्तु आत्मा नहीं?

खण्डन।

प्रधान या प्रकृति भी उस भावका विकार ही है, किन्तु भाव नहीं, क्योंकि वह प्रधान-भाव नामसे बोला जाताहै, जिस वस्तुके बतानेके लिए 'भाव' पदके साथ विशेषण जोड़ा जायगा, वह भाव नहीं, भावका विकार ही रहेगा।

कोई सांख्य कहते हैं कि—वह भाव पुरुष है, किन्तु पुरुष इस लिए नहीं कहा जा सकता कि—उनके मतमें उसमें कोई शक्ति स्वीकार नहीं की जाती अर्थात् वह 'प्रकृति-विकृति'-भाव-शून्य है। और हमारे भावमें शक्ति है, जिसके कारण उससे सब जगत उत्पन्न होता है।

इसी रीतिके अनुसार ईश्वर तथा परमाणु आदि वस्तुओंको

भाव बताने वाले भी अपना पक्ष हार गये, क्योंकि—उनके अभिमत पदार्थ 'ईश्वर-भाव' तथा परमाणु-भाव' आदि शब्दोंसे बोले जातेहैं।

कोई उस भावको शून्यरूप बताते हैं, किन्तु उनका कहना भी ठीक नहीं, जिससे कि, शून्य शब्दमें भी भाव शब्दका सम्बन्ध आजाता हैं। प्रयोजन यह है कि, अर्थके विना कोई शब्द बोला नहीं जाता, शब्द अपने अर्थके साथ सम्बद्ध रहता है, जैसे कि— 'कुछ वह है ? जो शून्य है'। क्यों कि लोकमें भी ऐसा प्रसिद्ध है—'गृहं-शून्यम्' 'ग्रामः शून्यः' 'शून्यशब्द-महत्वे'। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि 'शून्य' शब्द अभाव ही को बताता है, किन्तु उसको किसी भावकी अपेक्षा रहती है।

फलित यह निकला कि—सब उपपदोंसे रहित जो भवति पद है, उससे जिस भावकी प्रतीति होती है, उसके रूपसे जगत् नित्य है, और अन्य भाव विकार, जो परमाणु आदि हैं, उन सबके रूपमें जगत् अनित्य है।

जिस भावमें सत्तामात्रके सम्बन्धसे सभी भाव विकार सदा दूर रहते हैं, उस भावको वेही पुरुष जान सकते हैं, जिन्होंने वेदान्त का रहस्य जान लिया है, एवम् पर अवरके जाननेबाले, आत्मा व वेदके अभिज्ञ, एवं तपः सम्पत्ति आदि अनेक उत्तम गुणोंसे अलङ्कृत तथा आत्मतत्वकी कामनावाले हैं, किन्तु प्रधान आदिके वादमें अभिरत रहनेवाले पुरुषोको ऐसाज्ञान होना असम्भवहै। यह इस सामान्य व बिशेष रूपसे शब्दोंके निर्वचन प्रसंगमे कृदन्त भू धातुके वाच्यार्थ बताने को ब्राह्मणोंने वेद रहस्य दिखाया है।

वार्ष्यायणिके मतमें भाव विकारोंके भेद।

(नि०) "षड्भावविकाराभवन्ति इति वार्ष्यायणिः जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्द्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति।"

"जायते-इतिपूर्वभावस्यादि माचष्ट,
नापर भावमाचष्टे. न प्रतिषेधति।"

वार्ष्यायणि आचार्य कहते हैं कि--जैसे-मनुष्य शरीरकी अवस्था वाल्य यौवन तथा वार्द्धक (बुढ़ापा) रुपसे अनेक भागोंमें बटी हुई है, उसी प्रकार भावकी विकारावस्था भी छः भागोंमें बटी हुई है। जब भाव किसी रुपमें विकृत होता है तो उसके हर एक विकारमें जन्म, सत्व, विपरिणाम, वृद्धि, अपक्षय, एवम् विनाश,—ये छः अवस्था होती हैं। इसके उदाहरणार्थ वे सभी वस्तु ली जा सकती हैं; जो जगत्में स्थावर तथा जङ्गम किसी रुपमें भी उत्पन्न होकर नष्ट होजाती हैं। इन सभी अवस्थाओंका यह स्वभाव है कि–वे अपनेसे पहिले भावकी अवस्थामें अल्प अल्प मात्रामें बनने लगती हैं, और उसके समयके बीतजाने पर अपना पूरा प्रकाश करती हैं। ध्यानसे देखने पर विदित होगा कि घटके बननेके समय उसकी जन्मावस्था होती है, उस समय उसको 'जायते' या 'जन्मता है' ऐसे क्रियापदसे व्यवहार किया जाता है, किन्तु बन चुकनेसे पूर्व उसे 'घट है' इस वाक्यसे नहीं बोलते, यद्यपि कुछ या घट है नहीं, तो उस अवस्थामें 'घट जन्मता है' ऐसा भी किस आधार पर बोल सकते हैं, इस लिए यह मानना होगा कि–उसकी कोई अव्यक्त या अधूरी अवस्था है, वह पूर्ण न होने तक वैसे वाक्य से व्यवहार नहीं किया जायगा, और न उसका निषेध ही कर सकते हैं। इस प्रकार प्रथम भाव विकार और उसके समय दूसरे सत्तारूप भाव-विकारकी वर्तमानता को सूक्ष्म दृष्टिसे देखना चाहिए।

दूसरा भाव विकार और उसमें तीसरे भावका आरम्भ।

(नि०) अस्तीत्युत्पन्नस्य सत्वस्यावधारणम्।

जब पहिला भाव विकार या अवस्था पूरी होलेती है, जिसको

'जायते' पदसे बोधन किया जाता है, उसके पश्चात् उत्पन्न हुएका सत्तारूप भावविकार आजाता है, उस अवस्थामें 'घटः-अस्ति' 'पटः अस्ति' ऐसे व्यवहार होने लगते हैं। अर्थात् उसकी विद्य-मानता अब उक्त पदसे सुप्रकट रूपमें कही जाती है। तथा उसके साथ तीसरा परिणाम भाव विकार क्रमसे बन रहा है। सब पूर्व या अपर भाव अपने कारणमें एक क्षण या सूक्ष्म काल तक बनते रहते हैं, दूसरे क्षणमें अपने पूर्णरूपमें प्रकट होकर रहते हैं और उसके अनन्तर तृतीय क्षणमें लय होजाते हैं। अपर या उत्तर भाव विकार पूर्वभावके स्थिति क्षणमें गर्भमें रहता है, तथा उसके तृतीय क्षणमें आत्मलाभ करलेता है, जो इस अपर भाव-का द्वितीय क्षण कहा जासकता है। यही प्रकार अन्यत्र २ विचारमें रखना होगा।

तीसरा भावविकार और उसमें चतुर्थ भावविकारका आरम्भ।

(नि०) विपरिणमते इत्यप्रच्यवमानस्य तत्वाद्विकारम्।

दूसरे भावका तीसरा क्षणहै और प्रथम भावका चतुर्थ। इस समय दूसरा सत्ता भाव जो अस्तिका बोध्यहै, लय होचुका तथा तीसरा परिणाम भाव पूर्णरूपमें प्रकट और 'विपरिणमते' इस आख्यात पदसे कहने योग्यहै। अर्थात् कोई भी वस्तु या शरीर जब एक अवस्थाकी पूरी सत्ता प्राप्त करलेता है, तो उसे अब और बढ़ना चाहिये, किन्तु वह वृद्धि तबतक नहीं होसकती, जबतक कि जो वस्तु अपनी विद्यमान अवस्थाको छोड़ना स्वीकार न करे। मानलो कि—एक बालकका शरीर बढ़ना चाहताहै किन्तु अपनी उस अवस्थाको छोडना भी नहीं चाहता, तो यह सर्वथा असम्भव है, जब वह उस अवस्थाको छोड़ेगा, तभी बढ़ेगा, इससे वृद्धिके लिए जो अपनी विद्यमान अवस्थाको छोड़ना है, वही विपरिणाम

नामवाला तीसरा भावविकार है, इसीके गर्भमें वृद्धिनाम चतुर्थ भावविकार क्रमसे अपनी पूर्तिकी ओर चल रहा है। अर्थात् यह विपरिणाम भाव क्या है? वृद्धिका अव्यक्तरूप ही है।

चतुर्थ भावविकार और उसमें पञ्चम भावविकारका आरम्भ।

(नि०) वर्द्धते—इति स्वाङ्गाभ्युच्चयं सांयौगिकानां वर्द्धते विजयेनेतिवा, वर्द्धते शरीरेण,-इति वा।

अङ्गोंका वढ़ना अथवा बाह्य पदार्थ धनकीर्त्ति आदिका वढ़ना 'वृद्धि' नाम भाव विकार होता है। जिसका उदाहरण अङ्ग वृद्धिमें 'वर्द्धते शरीरेण' शरीरसे वढ़ता है, और बाह्य वृद्धिमें 'वर्द्धते विजयेन' विजयसे बढता है—हो सकता है।

चतुर्थ भावका दूसरा क्षण है, और तीसरेका विपरिणाम भाव का तीसरा क्षण है, वह लय हो गया, तथा वृद्धिभावकी स्थिति है, इसको 'वर्द्धते' इस आख्यातसे कहा जाता है। इस वृद्धिरूप भाव विकारके स्थिति कालमे पांचवा भाव गर्भमें है, उसके क्षण के पूरे होने तक यह (अपक्षय) भाव आत्मलाभमें समर्थ हो जायगा। भाव यह है कि— वृद्धिके साथ अपक्षयके सूत्र भी फैलते जाते हैं, इसीसे वृद्धिका कालगत होते ही अपक्षय (क्षीणता) पूर्णरूपमें प्रकट हो जाता है।

पञ्चम भावविकार और उसमें षष्ठभाव विकारका आरम्भ।

(नि०) अपक्षीयते-इत्येतेनैव व्याख्यातः प्रतिलोमम्।

अपक्षयनाम पांचवां भावविकार, ठीक वृद्धिका उलटा रूप है, जिस प्रकार अंगोंके फैलनेसे शरीरकी वृद्धि होती है, वैसे ही अंगोंके ह्रासके साथ शरीरमें अपक्षय नाम भाव विकार होता है। यह अपक्षय विकार क्या है? विनाशरूप अपर भावका पूर्वरूप मात्र है। इसी बातको दूसरे रूपमें यों कहा जाता है कि—इस

अपक्षय भाव विकारके स्थिति कालमें विनाशभाव क्रम क्रमसे बनता जाता है, किन्तु अपूर्णताके कारण वह किसी शब्दसे निर्देश नहीं किया जाता। इस पञ्चम भाव विकारको 'अपक्षीयते' इस आख्यात पदसे बोधन करते हैं। यह पद अपर भाव जो इससे पीछे प्रकट होनेवाला है, उसे न कहता है और न निषेध ही करता है, किन्तु इसकी अर्थ बोधन शक्ति अपक्षयके बोधन करने तक परिमित है।

६ ठा, अपर भाव।

(नि०) विनश्यति-इत्यपरभावस्यादिमाचष्टे न पूर्वभावमाचष्टे न प्रतिषेधति।

जिस प्रकार जन्म नाम प्रथमभाव विकार उससे पूर्व अन्यभाव विकारके न होनेसे केवल पूर्वभाव विकार कहा जाता है, ऐसे ही विनाशभाव विकारके अनन्तर कोई भावविकार होनेवाला नहीं है, इसीसे यह केवल अपर भावविकार ही है। मध्यके चार सत्ता आदि भावविकार होते हैं, अपनेसे पूर्वके अपर भाव, और परके पूर्वभाव हैं।

जब अंगोंका ह्रास या अपक्षयभाव—विकार अपनी मर्यादाको पूरी कर लेता हैं, तो नाश ही अवशेष रहता है। इस लिये उसके पश्चात् इसीका स्थिति काल है। यह भावविकार 'विनश्यति' आख्यात पदसे बोला जाता है। हिन्दीमें उस विकारावस्थाको 'नाश होता है, इस क्रियासे प्रकाश करते हैं!

विशेष तथा स्पष्टी-करण।

यद्यपि जिस प्रकार मृत्तिकामें घट शराव आदि सभी विकार रहते है, उसी प्रकार कारणात्मक भावमें सभी भाव विकार रहते हैं, किन्तु मृत्तिकामें घट शराव आदि विकार एकवार ही सब ही

जाते हैं, या पहिले ही घट हो जाता है, या शराव ही। तथा घटके बाद शराव होता ही नहीं, एवम् यदि होता भी है तो घटके द्वारको उसको कुछ अपेक्षा नहीं किन्तु जो घटका मूल कारण मृत्तिका है, । उसीको अपेक्षा करता है, और घटकी अवस्थामें उसके भीतर वह बनता भी नहीं रहता, ठीक इसके विपरीत यह छः भाव विकार होते हैं। अर्थात् इनमें उत्तर उत्तरकी उत्पत्ति पूर्व पूर्वके द्वारा होती हैं, उत्तर भाव पूर्व भावके होनेसे पहिले नहीं होता, उत्तर भाव पूर्वभावकी अवस्थामे अपूर्णरूपसे क्रम क्रमसे बनता रहता है। इत्यादि। जैसे कारणभावसे पहिले जन्म-भाव-विकार उत्पन्न होता है और उसके द्वारा 'अस्ति' पदसे जाननेयोग्य सत्ता एवम् उसके द्वारा विपरिणाम होता है। क्योंकि जो जात (जन्मा) नहीं है, वह 'अस्ति' नहीं कहा जा सकता, और जो विद्यमान् नहीं वह 'विपरिणमते' नहीं कहा जाता है। सुतराम् छः भाव विकार, घट शराव आदि स्वतन्त्र स्वतन्त्र विकारोंके समान न होकर, परस्परकी अपेक्षा रखनेवाले शृङ्खलाबद्ध होते हैं। इसीसे ये सभी पैदाहोनेवाले प्रत्येक पदार्थमें सबके सब ही होते हैं। अर्थात् घटमें, पटमें तथा शराव आदि सकल जन्यमात्रमें सबमें आते हैं, और शृङ्खलाबद्ध। प्रयोजन यह है कि, होनेवाली प्रत्येक वस्तु कुछ आयु रखती है और उसमें ये छः परिवर्तन उक्त क्रमसे अवश्यम्भावी उन्हीके ये बोधक है—'जायते' 'अस्ति' 'विपरिणमते' 'वर्धते' 'अपक्षीयते' तथा 'नश्यति'।

अन्य भावविकार और उनका अन्तर्भाव।

(नि०) अतोऽन्ये भावविकारा एतेषामेव भावविकारा भवन्ति—इति ह स्माह। ते यथावचनमभ्यूहितव्याः।

इन छः भावविकारोंके अतिरिक्त और भी बहुत भावविकार हैं, और वे सब परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं, किन्तु उन सबकी उत्पत्ति पूर्वोक्त जन्म आदि छः भावोंसे ही होती है, इससे इनका उन्हींमें अन्तर्भाव होता है। इस कारण पहिले भावविकारोंकी जो गणना की है, वही स्थिर है, उससे न्यून या अधिक नहीं हो सकती।

भाव-विकारोंके भेद।

'जनि' धातुका जन्म अर्थ है, यह पहिला भावविकार है, इसके अनेक भेद हैं और उनके वाचक धातु भी अनेक हैं। जैसे—'निष्पद्यते' 'अभिव्यज्यते' 'उत्तिष्ठति' इत्यादि आख्यातपद निष्पत्ति अभिव्यक्ति तथा उत्थान आदि क्रियाओंके वाचक हैं। ये परस्पर भिन्न होकर भी 'जायते' के अर्थमें सब अन्तर्गत होजाते हैं।

ऐसे ही 'अस्ति' के भेद विद्यते (विद्यमानता) भवति (भाव) इत्यादि है।

'विपरिणमते' (विपरिणाम) के भेद 'जीर्यति' (जीर्णता) 'भावान्तर-मापद्यते' (भावान्तरापत्ति) इत्यादि।

'वर्धते' (वृद्धि) के 'पुष्यति' (पोषण) 'उपचीयते' (उपचय) और 'अर्थायते' (अर्थसञ्चय) इत्यादि।

'अपक्षीयते' (अपक्षय) के 'ध्वस्यति' (ध्वंस) और 'भ्रश्यति' (भ्रंश) इत्यादि।

तथा 'विनश्यति' (विनाश) के 'म्रियते' (मरण) और 'विलीयते' (विलय) इत्यादि भेद हैं।

ये सब भाव विकार जिस प्रकार जिस वचनमे अवस्थित हों, प्रकरण तथा युक्तिसे मन्त्रार्थके निश्चयके लिए वैसे ही जानने चाहिएँ।

यद्यपि सभी धातु उक्त रीतिसे भाव-विकाररूप क्रियाओंके

वाचक हैं, इस कारण सबका ही यहाँपर पाठ दिखाना चाहिए था, किन्तु शास्त्रके गौरवके भयसे लक्षणमात्र, दिखाया है, इसीसे सब जानने होंगे ।

इस शास्त्रकी रचनाशैली ।

इस निरुक्त शास्त्रमें यास्क मुनि जिस बातको दिखाना चाहते हैं, पहिले उसको सूक्ष्म या सामान्य रूपमें कहते हैं, मानों, वह सूत्र है, फिर उसकी वृत्तिके समान संक्षेप व्याख्या और उसकी विस्तृत व्याख्या, जो उसका वार्त्तिकसा होजाता है। इनके क्रमसे 'उद्देश' 'निर्देश' तथा 'प्रतिनिर्देश' यह तीन नाम हैं। इसी रीतिसे सब स्थानोंमें यथासम्भव विभाग जानना चाहिए ।

उपसर्गका लक्षण ।

(अनर्थकत्व-अर्थवत्व)

(नि०) न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति शाकटायनः नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोग-द्योतका भवन्ति इति ।

शाकटायन आचार्य कहते हैं कि—जिस प्रकार वर्ण-पदसे अलग होकर किसी अर्थके वाचक नहीं होते, उसी प्रकार उपसर्ग भी नाम व आख्यात पदोंके समुदायसे पृथक् पद व वाक्यके रूपमें विरचित होकर अर्थके वाचक नहीं होते, सुतराम्, अर्थोंके साक्षात् कथनमें इनकी शक्ति नहीं है, किन्तु आख्यात पदके साथमें लग कर उसीके अर्थ विशेषको द्योतन (प्रकाश) करते हैं ।

व्युत्पत्ति ।

उपगृह्य आख्यातं तस्यैव अर्थ-विशेषं सृजन्ति ये, ते उपसर्गाः ।

जिस प्रकार दीपकके संयोगसे घरमें रखे हुए द्रव्योंको नील पीत

गुण प्रकाशित करते हैं, और उन द्रव्योंके ही होते हैं, किन्तु दीपक के नहीं होते। उसी प्रकार उपसर्गसे भी धातुके ही अर्थ प्रतीत होते हैं, वे प्रकाशन-मात्रसे उपसर्गके नहीं होते। सर्वथा उपसर्ग स्वतन्त्रतासे अनर्थक ही है।

गार्ग्यके मतमें उपसर्गकी अर्थवत्ता।

(नि०) उच्चावचाः पदार्था भवन्तीति गार्ग्यः। तद्यएषु पदार्थः प्राहुरिमे तं, नामाख्यातयोरर्थविकरणम्।

गार्ग्य आचार्य मानते हैं, कि उपसर्ग, नाम और आख्यातसे पृथक् होकर एक एक भी बहुत प्रकारके अर्थोंके वाचक होते हैं, क्योंकि—प्र आदि शब्दोंके अतिशय आदि आदि अर्थ देखे जाते है !

उपसर्गोंकी अनर्थकतामे वर्णोंका दृष्टान्त भी युक्त नहीं है, क्योंकि वे वर्णोंकी अनर्थकताको अनुभव नहीं करते, प्रत्युत उनमें सामान्यरूप अभिधान शक्ति देखते हैं। जैसे—मृत्तिकाके अवयव मिलित होकर सम्पूर्ण (पूरे) भाण्डके बननेमे शक्ति रखते है, उसी प्रकार पदरूपसे समुदित हुए वर्णोंकी अर्थाभिधानमें शक्ति प्रकट होती है।

सामान्य शक्ति उसे कहते हैं, जो कि-मिलित पदार्थोंके द्वाराही प्रकट हो। जैसे किसी भारी शिलाको अनेक मनुष्य उठा सकते हैं, एक नहीं। यदि उनमें प्रत्येक मनुष्य अशक्त हों, तो मिलित होकर भी वे नहीं उठा सकते। यहां पर मिलित पुरुषोंके द्वाराही शिलाका उत्थानरूप कार्य देखा जाताहै, इससे उनकी वह सामान्य शक्ति कही जासकती है।

यदि वर्ण अनर्थक होते, तो उनसे बना हुआ पद भी अनर्थक ही होता। क्योंकि अशुक्ल तन्तुओंसे शुक्ल वस्त्र तैयार नहीं

होता। और उन अनर्थक पदोंसे रचित हुआ वाक्य भी अनर्थक ही होता। एवम् अनर्थक वाक्योंसे बना हुआ शास्त्र भी अनर्थक ही होता और इसीप्रकार अभ्युदय तथा मोक्षके लिये विद्वानोंका यह उद्यम भी अनर्थक ही होता। किन्तु यह अनिष्ट है, इसलिए वर्ण अर्थवान् हैं यह मानना होगा।

प्रदीप भी अपने प्रकाशरूप अर्थसे अर्थवान्‌ही है और इस प्रकार-से अर्थवान् होकर भी प्रकाश्य वस्तुको प्रकाशन करता हुआ अपनी प्रकाशन शक्तिको प्रकट करता है। इसी प्रकार उपसर्ग अर्थवान् होकर भी अपनी अनेककी विद्यमान अर्थाभिधान शक्तिको स्वार्था-भिधान शक्तिके आधारभूत नाम और आख्यातको जना करके अभिव्यक्त करेंगे। इसलिए प्रदीपकेसमान "उपसर्ग अनर्थक है" यह कहना अयुक्त है।

नाम और आख्यातका ही अर्थ उपसर्गके संयोग होनेपर, प्रतीत होताहै, यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि—लोकमें जो, जिसमें समर्थ है, वह उसमें अन्यकी अपेक्षा नहीं करता। जबकि—नाम और आख्यात अपनी क्रियामें किसी अर्थ-विशेषको जनानेके लिये उपसर्गके संयोगकी अपेक्षा करते हैं, तो अवश्यही क्रिया-विशेष अर्थ उपसर्गका, और क्रियासामान्य अर्थ आख्यातका उपपन्न होताहै।

पहिले यह जो कहा गयाहै कि—"नाम और आख्यातसे अलग रहकर उपसर्ग अनर्थक हैं।" सो ठीक नहीं है। क्योंकि इनका जो अनेक प्रकारका अर्थ है, उसको ये (पद-विशेष, उपसर्ग) अलग होकर भी कहते ही हैं, अर्थात् नाम और आख्यातके अर्थमें जो विकार या विशेष है, वही उपसर्गोंका अर्थ है, उसी अर्थसे ये अर्थवान् हैं, किन्तु अनर्थक नहीं।

उपसर्गोंकी अर्थवत्ता जाननेके लिए, उदाहरणार्थ प्रत्येक उपसर्गका एक एक अर्थ ।

(नि०) आ इत्यर्वागर्थे । प्र-परेत्येतस्य प्रातिलोम्यम् । अभीत्याभिमुख्यम् । प्रतिइत्येतस्य प्रातिलोम्यम् । अति, सु-इत्यभिपूजितार्थे । निर, दुर-इत्येतयोः प्रातिलोम्यम् । नि, अव-इतिविनिग्रहार्थीयौ । उद्-इत्येतयोः प्रातिलोम्यम् । सम्-इत्येकीभावम् । वि, अप्-इत्येतस्य प्रातिलोम्यम् । अनु-इति सादृश्यापरभावम् । अपि-इति संसर्गम् । उप-इति उपजनम् । परि-इति सर्वतोभावम् । अधि-इत्युपरिभावम् । ऐश्वर्यं वा । एव मुच्चावचानर्थान् प्राहुस्ते-उपेक्षितव्याः ॥ ५ ॥

प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १

	उपसर्ग–	अर्थ–	उदाहरण ।
१	आ	अर्वाक् (इधर)	आपर्वतात् (पर्वतसे इधर)
२	प्र परा	प्रातिलोम्य (आङ् का उलटा)	प्रगतः परागतः (उधर चला गया)
३	अभि	आभिमुख्य (सम्मुखता)	अभिगतः (सम्मुख गया)
४	प्रति	प्रातिलोम्य	प्रतिगतः (विपरीत गया)
५	अति सु	अभिपूजित	अतिधनः सुब्राह्मणः

६	निर् दुर्	निन्दा	निर्धन दुष्टधन। दुर्ब्राह्मण=दुष्ट ब्राह्मण।
७	नि अव	विनिग्रह	निगृह्णाति=शासन करताहै अवगृह्णणाति=रोकता है।
८	उद्	इन दोनों (नि० अव) का प्रातिलोम्य	उद्गृह्णाति=उद्धारकरताहै।
९	सम्	एकीभाव	संगृह्णाति=संग्रह करताहै।
१०	वि अप	प्रातिलोम्य	विगृह्णाति अपगृह्णाति (विग्रह करताहै)
११	अनु	(१) सादृश्य (२) अपरभाव	अनुरूपमस्येदम् अनुगच्छति
१२	अपि	संसर्ग	सर्पिषोऽपिस्यात् मधुनोऽपिस्यात्
१३	उप	उपजन	उपजायते
१४	परि	सर्वतोभाव	परिधावति
१५	अधि	१—उपरिभाव २—ऐश्वर्य	अधितिष्ठति अधिपतिः

पहिले कहा है कि—"उपसर्ग नाम और आख्यातके साथ क्रियाके सम्बन्धके द्योतक हैं" यह ठीक नहीं है, क्योंकि—"उपसर्गाः क्रियायोगे" (अ०–१।४।५६) इस [illegible] अनुशासनसे उपसर्गोंका क्रिया पदके साथ ही सम्बन्ध प्रसिद्ध है, किन्तु नामके साथ नहीं, प्रत्युत क्रियाके अंगभाव हो नामोंको भी व्यापन करते हैं।

समाप्तः प्रथमः पादः।

द्वितीय पाद ।

विशेष बातें ।

---

(१)

(सब मन्त्रोंमें दो ऋषि)

(१) इस निरुक्त शास्त्रमें प्रायः हर एक शब्दके उदाहरण मन्त्र दिये जाते हैं। उनमें ऋषिका चिन्तन आवश्यक होता है इस लिये ऋषिके सम्बन्धमें जो विशेष बात है, उसे जान लेना आवश्यक है बीचमें बतानेसे गौरव होनेके कारण आरम्भमें दिखाते हैं।

ऐतरेयकरहस्य ब्राह्मणमे ऋक् यजुः साम एवम् अथर्व संपूर्ण ही वेदराशिका आदित्यान्तर-पुरुष भगवान् हिरण्यगर्भ ऋषि बताया है। और शौनक ऋषिने प्रत्येक मन्त्रोंके पृथक् पृथक् वशिष्ठादि ऋषि बताये हैं। इसलिये श्रुति और स्मृतिके विरोधस्थलमें श्रुति ही बलवती होती है। ऐसा न्यायके जाननेवाले कहते हैं। एवम् जैमिनी महर्षिने भी (विरोधे त्वनपेक्षं स्यात् [जै० सू० १, ३, ३]) इस सूत्रमें यही बात कही है कि श्रुति और स्मृतिका विरोध होने पर स्मृतिका त्याग हो जाता है; सुतराम् "शौनकका विशेष विधान अनर्थक ही है" यह आपत्ति उपस्थित होती हैं। इसके समाधानार्थ यह है कि शौनक महर्षिने जो विशेष ऋषि बताये हैं। उसका श्रुतिसे विरोध नहीं, प्रत्युत श्रुतिके अर्थको ही स्मरण किया है। क्योंकि मन्त्रोंके द्रष्टा दोनो ही क्षेत्रज्ञ हैं। एक बुद्धिके देवता रूपसे हिरण्यगर्भ क्षेत्रज्ञ है, जो सम्पूर्ण भूतोंके कर्मविपाक (अदृष्ट)के अनुसार अर्थ व शब्दको दिखलानेवाला है। और उससे दूसरा विशिष्ट कर्मका करनेवाला क्षेत्रज्ञ बुद्धिस्थ होकर देखता है। ऐसी अवस्था में वशिष्ठादिक ऋषि जो मन्त्रोंके देखनेवाले क्षेत्रज्ञ हैं, वे उसी हिरण्यगर्भके दिखाये हुए मन्त्रोंको देखते हैं। इस

रीतिसे दोनोंका ही ऋषित्व उपपन्न होता है। अतः मन्त्रके प्रयोगकालमें उक्त दोनों ही ऋषियोंका अनुसन्धान करना अर्थका देनेवाला होता है। जबकि श्रुति और स्मृति दोनोंका सन्धान हो सकता है तो उनके विरोधकी सम्भावना करना अयुक्त है।

(२) अपिच—श्रुतिपूर्वक ही स्मरण होता है किन्तु स्वतन्त्र नहीं अर्थात् ऋषियोने जो श्रवण किया है, उसी को फिर स्मरण किया है। इस लिये स्मृतिमें जो अर्थ आया हुआ है उसको श्रुतिमूलक ही मानना चाहिये।

ताण्डकमें रहस्य-ब्राह्मण भी दिखलाता है, कि—

"यत्साम्ना स्तोष्यन्स्यात् तत्सामोपधावेत्। यस्यामृचि तामृचम्। यदार्षं तमृषिम्"।

अर्थ—जिस ऋचाको जहां सामरूपमें पठनीय कहा है, वहां उस ऋचाको साम ही जानना, जहां ऋचाके रूपमें विनियोग है, वहां उसको ऋचा ही जानना, तथा जहां जिस मन्त्रका जो ऋषि बताया हो, वहां उसी ऋषिका मन्त्र समझकर उसका प्रयोग करना। अर्थात् मन्त्रोंका सामभाव, ऋचाभाव तथा ऋषिका सम्बन्ध परिवर्त्तन होता रहता है, किन्तु सब स्थलोंमें उनका एक ही स्वभाव नियत नहीं है।

इस प्रमाणके अनुसार शौनक स्मृतिके कहे हुए ऋषि श्रुति विरुद्ध नहीं प्रत्युत वे श्रुतिमूलक हैं, इस लिये विशेष विशेष ऋषियोंका कथन युक्त तथा आवश्यक है।

(२)

अन्य देवताके यजनमें अन्य देवताके मन्त्रका विनियोग।

सब मन्त्रोंके व्याख्यान करनेके समय उनका ऋषि, छन्द, देवता

तथा विनियोग कहा जाता है, ये चारों बातें मन्त्रके निदानस्वरूप हैं, इनके जाननेसे मनुष्यको मन्त्रका व्याख्यान श्रवणसे पहिले विदित हो जाता है कि—कौन वक्ता है कौन श्रोता है, और क्या प्रसङ्ग है। अर्थात् ऋषि वक्ता, देवता श्रोता और जिस कर्ममें विनियोग हो, वही कर्म प्रसङ्ग होता है। ऐसे ज्ञानके अनन्तर मन्त्रका व्याख्यान किया हुआ अति स्पष्ट हो जाता है। इसी लिये मन्त्रके व्याख्यान—कालमें उक्त चारों वस्तु सर्वत्र बताई जाती हैं। यह मानों मन्त्रकी संक्षिप्त भूमिका ही होती है। इसी लिये भाष्यकारके उद्धृत किये हुए मन्त्रकी व्याख्या करनेसे पहिले भगवद्दुर्गाचार्य्य अपनी टीकामें उनके ऋष्यादिको सर्वत्र बता देते हैं। किन्तु कहीं कही या अनेक स्थलोंमें अन्य देवताओंके मन्त्र अन्यदेवताओंके यज्ञमें विनियुक्त हैं। जिसके जाननेसे श्रोताको सन्देह हो सकता है कि—'जिस मन्त्रमें अन्य देवताकी स्तुति है, वह मन्त्र अन्य देवताके स्मरण करनेमें समर्थ नहीं हो सकता इस लिये उस मन्त्रका वहां प्रयोग करना उपयुक्त है?

यद्यपि "पुरुष-विद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे" [नि० अ० १ पा० १ खं० २] इस पूर्वोक्त, तथा "एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं, यत्-कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदति" [नि० अ० १ पा० ५ ख० १] इस आगे कहे जानेवाले निरुक्तके अनुसार सब मन्त्र अनुष्ठान अथवा देवताके अनुस्मारक मात्र होते है, जिससे कि–उनका वहीं पठन होना चाहिये जहां उनके देवताका यजन हो, किन्तु भिन्न देवताके यजनके समीप नहीं। तथापि यह नियम शस्त्र तथा स्तोत्र नामक मन्त्रोंमें नहीं लिया जाता, क्योंकि—ये मन्त्र प्रायः अन्य देवताओंके यज्ञकी सन्निधिमें ही उपयुक्त होते है। इनमें जिन देवताओंकी स्तुति होती है, वे देवता हविर्भाक् नहीं होते,

या उनके लिये हविः नहीं दिया जाता, इस कारण उनके शस्त्र व स्तोत्र अन्यदेवताओंके कर्ममें ही पढे जाते हैं, तथा इसीसे वे प्रस्तुत अनुष्ठान या देवताके स्मारक नहीं हो सकते।

जिस प्रकार स्मार्त विवाह आदि संस्कारोंमें अर्चनीय वरके अतिरिक्त आचार्य आदि अर्चनीय पुरुषोंके अर्चनके माहात्म्यसे उन संस्कारोंकी सुसम्पन्नता होती है, उसी प्रकार श्रौत कर्मोंमें यजनीय देवताओंके सन्निधानमे विधिवशात् जिन देवताओंका शस्त्र तथा स्तोत्र मन्त्रोंके द्वारा स्तवन होता है, उससे एक स्वतन्त्र अतिशय या अदृष्ट उत्पन्न होता है, जिससे कि—प्रस्तुत यजनीय देवताओंके यजनसे उत्पन्न होनेवाले अपूर्वका पोषण होता है, अथवा वह अपने जननीय स्वर्गादिरूप फलके उत्पन्न करनेमे पूर्ण रूपेण समर्थ होता है, उसी अपूर्वको अन्न्यापूर्व कहते हैं। जैसे—वीजको अङ्कुर उत्पन्न करनेमें जल, खाद तथा क्षेत्र आदिकी अपेक्षा होती है, या इन पूर्वोक्त वस्तुओंसे संयुक्त होकर ही वीज पूर्णरूपसे अङ्कुरका उत्पादक अथवा सच्चा बीज बनता है, उसी प्रकार प्रधान अपूर्वको अन्य अङ्गापूर्वोंको अपने पूर्ण होनेमें अपेक्षा रहती है। इसीसे यजनीय देवताओंके अतिरिक्त अन्य स्तोतव्य देवताओंका स्तवन विहित समयमें अनावश्यक या व्यर्थ न होकर अपनी पूरी सफलताके साथमें वहाँ रहता हैं।

स्तुति और अभिधान।

स्तुतिके स्थलमें स्तोतव्य वस्तुमें गुणोंके सम्बन्धको दिखाकर ही वाक्यके यत्नका अन्त हो जाता है, फिर उसका कोई कार्यान्तर नहीं देखा जाता, और स्मरण स्थलमें प्रयोजनान्तरके लिये वस्तुके गुणोंका अभिधान या कथनमात्र होता है, अर्थात् वहां वाक्य गुणोंके कथनके अनन्तर किसी इष्ट अर्थको प्रकाशित

करके निवृत्त होता है। जैसे—"देवदत्तश्चतुर्वेदाभिज्ञः" देवदत्त चतुर्वेदाभिज्ञ है, यह वाक्य देवदत्तको उद्देश्य करके उसमें चतुर्वेदाभिज्ञता-रूप गुणके सम्बन्धको कहकर फिर कुछ नहीं करता तो यहां स्तुति ही सिद्ध होती है। तथा "यश्चतुर्वेदाभिज्ञस्तमानय" 'जो चतुर्वेदाभिज्ञ हो, उसको ला' इस वाक्यके यत्नकी समाप्ति आनयन क्रियाके प्रैष पर होती हैं, किन्तु जिसका आनयन इष्ट है, उसकी पहिचान चतुर्वेदाभिज्ञता गुणसे ही होती है, इस लिये उसको पहिले कहकर 'आनय' क्रियाका प्रयोग किया जाता है, इस लिये यहां उस गुणयुक्त पुरुषका स्मरणमात्र होता है, उससे उस पुरुषकी प्रशंसा नहीं होती, यही स्तुति और अभिधानका भेद है।

"प्रउगं शंसति" "आज्यैः स्तुवते" इत्यादि श्रुति वाक्योंमें स्तुत्यर्थक 'शंसति' आदि क्रियाओंसे जिन मन्त्रोंका विनियोग होता है, वे मन्त्र अनुष्ठानस्मरण-रूप दृष्ट प्रयोजनके लिये नही होते, इसीसे उनकी प्रधानता रहती है, किन्तु गौणता नहीं, तथा वे अन्य-देवताके स्तावक होकर भी अन्य-देवताके यजनके सन्निधानमें पठनीय होते है, क्योंकि—उनसे उस कर्मकी पुष्टि होती है। इसीसे जैमिनीय मीमांसा [अ० २ पा० १ अ० ४] में "अपि वा श्रुति-संयोगात् प्रकरणे स्तौति-शंसती क्रियोत्पत्तिं विदध्याताम्" इस सूत्रसे स्तोत्र तथा शस्त्र मन्त्रोंकी प्रधानता सिद्ध की है। अर्थात् स्तौति और शंसति धातुओंकी स्मरणार्थता मान ली जावे तो उनके स्तुतिरूप श्रौत अर्थका बाध हो जायगा, इस लिये अदृष्टकी कल्पना करके भी उनका प्राधान्य माना गया है।

जैसे कि—इसी द्वितीय पादमें उपमार्थक 'इव'का उदाहरण "अग्निरिवमन्यो !" [ऋ० सं० ८, ३, १६, २] यह मन्त्र है इस मन्त्रका मन्यु देवता है। और यह महेन्द्र देवताओंके

ग्रह यज्ञके समीप निष्केवल्यमें शस्त्र होता है, अर्थात् जहां महेन्द्र देवताका यज्ञ हो रहा है, मन्यु देवताके मन्त्रका पाठ होता है। जिस प्रकार लड़लेकें विवाहमें देवी भैरव आदि देवताओंके गीत गाये जाते हैं, और उनमें विवाहके किसी कार्यका स्मरण न हो कर केवल उन देवताओंकी स्तुति होती है, तथा उनकी स्तुतिसे ही प्रस्तुत विवाहादि संस्कारोंमें उपकार होता है, इसी प्रकार यहांपर मन्यु देवताकी स्तुतिसे महेन्द्र देवताके यज्ञमें उपकार होता है, किन्तु वहांके अनुष्ठान व महेन्द्र देवताका उनके मन्त्रोंमें स्मरण नहीं होता, यही अन्य देवताओंके शस्त्र व स्तोत्र मन्त्रोंके पाठकी अन्य देवताओंके यज्ञमें सङ्गति है। यही प्रकार अन्यत्र अन्यत्र भी ध्यानमें रखना चाहिये।

शस्त्र—अप्रगीतमन्त्रसाध्या स्तुतिः स्तोत्रम्। विना गाये हुए मन्त्रसे स्तुति, शस्त्र है।

स्तोत्र—प्रगीतमन्त्रसाध्य स्तुतिः स्तोत्रम्। गाये हुए मन्त्रसे स्तुति, स्तोत्र कहलाती है।

पूर्ण तथा अपूर्ण उदाहरण—

मन्त्र।

भाष्यकार निरुक्तमें उदाहरण मन्त्रोंको कहीं पूर्ण तथा कहीं अपूर्ण रूपमें पढ़ते हैं, इसका प्रयोजन यह है कि—जो सम्पूर्ण पढ़े जाते हैं, और निर्वचन किये जाते है, वे व्याख्या-धर्मके उपदेशके लिये हैं, अर्थात् उनसे छात्रोंको मन्त्रकी व्याख्याका प्रकार ज्ञात होगा, व्याख्या-प्रकारको जान कर, वे अन्य मन्त्रोंकी व्याख्या कर सकेंगे।

यदि सभी मन्त्र पूर्ण पढ़े जावें और निर्वचन किये जावें, तो शास्त्र अतिविस्तृत होजावें। अथवा सभी मन्त्रोंके खण्ड पढ़े

जांय और निवचन किये जांय, तो व्याख्या-धर्म प्रदर्शित नहीं हो, इस कारण व्याख्या-धर्मके उपदेशार्थ कोई सम्पूर्ण पढ़े जाते हैं तथा निर्वचन किये जाते हैं, और शास्त्रके अति गौरवके भयसे कोई असंपूर्ण ही पढ़े जाते हैं।

प्रत्येक मन्त्रमें ही जिस प्रकार सकल, आधा अथवा चौथाई पढ़नेसे प्रयोजन जाना जा सकता है, वह संक्षेपसे यह प्रकार है, कि—

"जिस जिस मन्त्रमें जिस जिस एकार्थ, अनेकार्थ, तथा अनवगतसंस्कार पदको निर्वचन करता है, अथवा किसी शब्दान्तर का अध्याहार करता है, यद्वा किसी विशेष अर्थको दिखापा है, तथा कोई विपरिणाम करता है, या किसो सन्दिग्ध अर्थका निर्णय करता है, ऐसे प्रयोजनोंके लिये सकल मन्त्रका अध्ययन करता है, एवम् जिस मन्त्रमें आधे या चोथाई भागहोमे वैसा पद है, जिसका कि—आचार्यको निर्वचन करना अभीष्ट है, तो उतना ही पढ़ देता है, यह उक्त प्रकारसे निपुणताके साथ सर्वत्र अन्वेषण करना चाहिए।

स्तुति वाक्य और स्मारक वाक्य।

स्तुतिके लिये जिन वाक्योंका प्रयोग होता है, वे स्तुति-वाक्य कहलाते है, तथा स्मरणमात्रके लिये उपयोगी होनेवाले वाक्य स्मृतिवाक्य या स्मारक होते हैं। अर्थात् जिम वस्तुकी स्तुति करना हो, उसमें गुणोका बखान करना, स्तुति वाक्यका प्रयोजन है, एवम् गुणोंके द्वारा अनुस्मरणीय वस्तुके स्वरूपका प्रकाश करना, स्मारक वाक्यका प्रयोजन होता है। या यो समझिए कि—स्तुति-वाक्य में विशेष्यके द्वारा विशेषणोंका और स्मारक-वाक्यसे विशेषणोंके द्वारा विशेष्यका ज्ञान होता है। जैसे—"देवदत्तश्चतुर्वेदाऽभिज्ञः" 'देवदत्त चारों वेदोंका जाननेवाला है' यहां पहिले देवदत्तका ज्ञान

होता है, और पीछे उसके गुणोंका, एवम् "यश्चतुर्वेदाभिज्ञस्तमानय" जो चारों वेदोंका जाननेवाला है, उसे ला, यहां पर पहिले विशेषण-का और पीछे विशेष्यका ज्ञान होता है। यही दो प्रकार मन्त्रोंके हैं, उनमें जो स्तुत्यर्थ होते हैं, वे शस्त्र तथा स्तोत्र नामसे बोले जाते हैं, और जो केवल अनुष्ठान या देवताका स्मरणमात्र कराते हैं, वे अन्य अन्य मन्त्र हैं। इसी लिये स्तोत्र व शस्त्र नामवाले मन्त्र स्तोतव्य देवताकी स्तुतिमात्र करते हैं, किन्तु किसी प्रस्तुत वस्तु-की स्मृति नहीं कराते।

शस्त्र व स्तोत्र ।

"प्रउगं शंसति" "निष्केवल्यं शंसति" इत्यादि वाक्योंसे 'शंसति' क्रियाके द्वारा जिनका विनियोग होता है, वे शस्त्र कहाते हैं, और "आज्यैःस्तुवते" "पृष्ठैः स्तुवते" इत्यादि वाक्योंसे स्तुवते या स्तौति क्रियाके द्वारा जिन मन्त्रोंका विनियोग होता है, वे स्तोत्र कहाते हैं। एवम् स्तोत्र मन्त्र गाये जाते हैं और शस्त्र गाये नहीं जाते। यही इनका परस्पर भेद है, किन्तु देवताकी स्तुतिमें दोनोंका प्रयोजन समान है। इनकी सार्थकता देवताकी स्तुतिमें ही होती है, गुणोंके अनुवाद-मात्रसे नहीं, इसी कारण स्तोत्र व शस्त्ररूप कर्मकी मुख्यता ही है गौणता नहीं होती।

द्वितीय पाद ।

(खं–१)

अथ निपाता उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति। अप्युपमार्थे। अपि कर्मोपसंग्रहार्थे। अपि पद-पूरणाः। तेषामेते चत्वार उपमार्थे भवन्ति। 'इव'-इति भाषायांच। अन्वध्यायंच। "अग्नि-

रिव, इन्द्र इव"–इति । 'न'-इति प्रतिषेधार्थीयो भाषायाम् । उभयमन्वध्यायम् । "नेन्द्रं देव ममंसत"–इति प्रतिषेधार्थीयः । पुरस्तादुपचारस्त-स्य, य-प्रतिषेधति । "दुर्मदासो न सुरायाम्"-इ॰युपमार्थीयः । उपरिष्टादुपचारस्तस्य, येनोप-मिमीते ॥ १ ॥

अर्थ—अथ निपात । अनेक प्रकारके अर्थोंमें गिरनेवाले निपात होते हैं । कोई उपमा अर्थमें । कोई अर्थोपसंग्रह अर्थमे । और कोई पद-पूरणके लिये होते है । उनमें ये चार [इव, न, चित्, नु] उपमा अर्थमे होते है । 'इव' भाषा (लोक) और वेदमें । (उदाहरण) "अग्निरिव" [ऋ० सं० ८, ३, १६, २] अग्निके समान । "इन्द्रइव" [ऋ० मं० ८, ८, ३१, २] इन्द्रके समान । 'न'–यह लोकमे निषेध अर्थमें और वेदमे निषेध और उपमा दोनों अर्थोमे होता हैं । (उदाहरण) "नेन्द्र देवममंसत" [८, ३, २६, १] आदित्य रश्मियोने इन्द्रको अपना देव या प्रकाशक नहीं माना । यहां निषेध अर्थमे है । जब निषेध अर्थमें होता है, तब उसका उच्चारण आदिमें आता है । "दुर्मदासो न सुरायाम्" [ऋ० मं० ५, ७, १६, १] मदिराको पान किये हुये पुरुषोंके समान सोम दुर्मद है । यहां 'न' उपमा अर्थ म है । जिससे कि–नकार पीछे या अन्तमें दिया है, इससे उपमार्थ क है ।

(ख०–२)

'चित्'—इत्येषोऽनेककर्मा । "आचार्यश्चिदिदं ब्रूयात्"—इति पूजायाम् । 'आचार्य' आचारं ग्राहयति, आचिनोति अर्थान्, आचिनोति बुद्धि-

मिति वा। "दधिचित्" इत्युपमार्थे। "कुल्माषांश्चित् आहर"—इत्यवकुत्सिते। कुल्माषाः = कुलेषु सीदन्ति। 'नु' इत्येषोऽनेककर्मा। "इदं नु करिष्यति"—इति हेत्वपदेशे। 'कथं नु करिष्यति" इत्यनुपृष्टे। "ननु एतदकार्षीत्" इति च। अथापि उपमार्थे भवति ॥ २ ॥

अर्थ—'चित्' यह अनेकार्थ है। (उदाहरण) "आचार्यश्चिदिदं ब्रूयात्" आचार्य ही ऐसा कह सकता है, और कौन कहेगा? यह पूजा अर्थमें है। आचार्य,—जो आचार सिखावे, या अर्थोंको संग्रह करे या बुद्धिको संग्रह करे। "दधि चित्" दधिके समान। यह उपमा अर्थमें है। "कुल्माषांश्चित् आहर," कुल्माषोंको तो तू ले आ, और क्या लावेगा? यह निन्दा अर्थमें है। कुल्माष—जो कुलोंमें रहे। 'नु' यह अनेकार्थ है। "इदं नु करिष्यति" कैसे करेगा, यह हेतुके न माननेमें है। कथं नु करिष्यति" कैसे करेगा? यह दुबारा प्रश्नमें है, और "ननु एतत् अकार्षीत्" अवश्य इसने किया है, यह भी दुबारा प्रश्न ही में है। और उपमा अर्थमें भी है ॥ २ ॥

"वृक्षस्य नु ते पुरुहूतवयाः"। वृक्षस्येव ते पुरुहूत शाखाः। 'वयाः' शाखाः वेतेः। वातायना भवन्ति। 'शाखाः' खशयाः। शक्नोतेर्वा। अथ यस्यागमादर्थपृथक्त्वमह विज्ञायते न त्वौद्देशिकमिव विग्रहेण पृथक्त्वात् स कर्मोपसंग्रहः। 'च'-इति। समुच्चयार्थः

उभाभ्यां संयुज्यते "अहं च त्वं च वृत्रहन्" इति । एतस्मिन्नेवार्थे "देवेभ्यश्च पितृभ्यआ"—इत्याकारः । 'वा'—इति विचारणार्थे । "हन्ताहं पृथिवीमिमां निदधानीहवेह वा" इति । अथापि समुच्चयार्थे भवति । "वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा"—इति ॥ ३ ॥

अर्थ—(उदाहरण)-"वृक्षस्य नु ते पुरुहूतवयाः" (ऋ० मं० ४, ६, १७, ३) हे पुरुहूत ! इन्द्र ! तेरे न आनेसे हमारे यज्ञके मार्ग वृक्षकी शाखाओंके समान खाली हैं। वया नाम शाखा का है। 'वी' धातुसे होताहै। (क्योंकि-) वे वायुके स्थान हैं। शाखा=जो आकाश मे शयन करें। अथवा 'शक्लृ' शक्तौ धातुसे है॥ इति उपमार्था निपाताः ॥

अथ कर्मोपसंग्रहार्थक निपात। वाक्यमे उच्चारण किये हुयेके समान समासमें जिसके अध्याहारसे अर्थका भेद जाना जावे वह कर्मोपसंग्रह निपात होता है। जैसे-'च'। यही 'च' कभी कभी समुच्चय अर्थमें अलग अलग दो अर्थोंके साथ संयुक्त हुआ बोला जाता है। जैसे—"अहं च त्वंच वृत्रहन्! [ऋ० सं० ६, ४, ४१, ५] हे वृत्रहन्! इन्द्र! मैं और तू। इसी समुच्चय अर्थमें [उदाहरण] "देवेभ्यश्च पितृभ्य आ" [ऋ० सं० ७, ६, २२, १] देवोंके लिये और पितरोंके लिये। यहां 'आ' निपात, आता है। 'वा' यह संशय अर्थमें है। [जैसे-] हन्ताहं पृथिवीमिमां निदधानीहवेह वा" [ऋ० सं० ८, ६, २७, ३] इसी समय मैं इस पृथिवीको यहां रखूं या यहां! इसके अतिरिक्त समुच्चय अर्थमें भी है। [जैसे] "वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा" [य-सं० ६, ७] हे अश्व! वायु तुझे और तुझे मनु ॥ ३ ॥

'अह' इति च, 'ह' इति च, विनिग्रहार्थीयौ। पूर्वेण संप्रयुज्येते। 'अयमहेदं करोतु,' 'अयमिदम्'। 'इदं ह करिष्यति, इदं न करिष्यति, इति। अथापि 'उकार' एतस्मिन्नेवार्थे। उत्तरेण। 'मृषा इमे वदन्ति, 'सत्यमु ते वदन्ति, इति। अथापि पद-पूरणः। 'इदमु' 'तदु'। 'हि' इत्येषः अनेक—कर्मा। 'इदं हि करिष्यति'—इति हेत्वपदेशे। 'कथं हि करिष्यति' इति अनुपृष्टे। 'कथं हि व्याकरिष्यति' इति असूयायाम्। 'किल' इति विद्या-प्रकर्षे। 'एवं किल' इति। अथापि 'न' 'ननु' इत्येताभ्यां संप्रयुज्यते। अनुपृष्टे—'न किल एवम्'। 'ननु किल एवम्' 'मा' इति प्रतिषेधे। 'मा कार्षीः।' 'माहार्षीः'—इति च। 'खलुकृत्वा'। 'खलुकृतम्'। अथापि पदपूरणे। 'एवं खलु तद् बभूव' इति। 'शश्वत्' इति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम्। 'शश्वदेवम्' इति अनुपृष्टे। 'एवं शश्वत्, इति अस्वयं पृष्टे। 'नूनम्' इति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम्। उभयमन्वध्यायम्। विचिकित्सार्थीयश्च पदपूरणश्च। अगस्त्य इन्द्राय हविर्निरुप्य

मरुद्भ्यः संप्रदित्सांचक्रे-कार स इन्द्र एत्य परिदेवयाञ्चक्रे ॥ ४ ॥

अर्थ—'अह' और 'ह' विनिग्रह अर्थमें हैं [स्वभाव] [प्रस्तुत दो वाक्योंमें] पूर्व [वाक्यगत अर्थ] के साथ संयुक्त होकर बोले जाते हैं। [जैसे] 'अयमह इदं करोतु' = यह १ यह २ करे। 'अयमिदम्' = यह ३ यह ४ करे। 'इदं ह करिष्यति,' 'इदं न करिष्यति'। [यज्ञदत्त] यह करेगा, यह न करेगा [ओदन न पकावेगा]। और उकार भी इसी [विनिग्रह] अर्थमें हैं। [स्वभाव] दूसरे वाक्यगत अर्थके साथ संयुक्त होकर बोला जाता है। [जैसे-] 'मृषा इमे वदन्ति' = ये झूठ बोलते है। 'सत्यमु ते वदन्ति' = वे सच बोलते हैं। और पद-पूरण अर्थमें भी है। 'इदमु' [ऋ० सं० ३, ८, २, १] = यह। 'तदु' [ऋ० सं० १, ५, २, ।१] = वह। 'हि' यह अनेकार्थ है। [जैसे] 'इदं हि करिष्यति' = यह करेगा?। यह हेतुके अस्वीकारमें। 'कथ हि करिष्यति' = कैसे करेगा?। यह दुबारा प्रश्नमे। 'कथं हि व्याकरिष्यति' = कैसे व्याख्या करेगा?। यह निन्दामें। 'किल' यह विज्ञानके आधिक्यमें। [जैसे—कोई दूसरेसे सुनकर उसे बहुत निश्चय कर दूसरेसे कहता है-] "एवं किल" = ऐसे ही [यह युद्ध हुआ]। और 'न' 'ननु' इन दोनोंके साथ संयुक्त होकर भी बोला जाता है। दुबारा प्रश्नमें। [किसी बातको दूसरेसे सुनकर, कि—'यह ऐसा नहीं', फिर दूसरेसे पूछता है, और उसपर भी श्रद्धा न करके फिर प्रथम पुरुषसे ही पूछता है।-] 'न किल एवम्' = ऐसा नहीं है? 'ननु किल एवम्' = ऐसा नहीं है। 'मा' यह प्रतिषेध अर्थमें है। [जैसे-] 'मा कार्षीः' = मत

१—यज्ञदत्त। २—गौओंको पिलावे। ३—देवदत्त। ४—भोजन करे।

कर। और 'माहार्षीः' = मत लेजा। और 'खलु' यह [प्रतिषेध अर्थमें]। [जैसे-] 'खलु कृत्वा' = न करके। 'खलु कृतम्' = नहीं किया। और पद-पूरण अर्थमे भी। 'एवं खलु तद् बभूव' = ऐसे वह हुआ। 'शश्वत्'—यह संशय अर्थमें लोकमे आता है। [वेदमे अन्य अन्य अर्थोमे भी यथा-संभव देखना चाहिये-] 'शश्वदेवम् = ऐसे ?। यह दुबारा प्रश्नमें। 'एवं शश्वत् ? = यह विना अपने पूछे। 'नूनम्'—यह संशय अर्थमें लोकमें। वेदमें दोनो अर्थोमें। संशय अर्थमें, और पदपूरण अर्थमें। [उदाहरण की भूमिका] अगस्त्यने इन्द्रके लिये हवि निर्वाप या घाल कर दूसरे देवताको देना विचारा, उस इन्द्रने आकर क्रोधपूर्वक विलाप किया।

इति द्वितीयः पादः।

तृतीय पाद।

(खं०-१)

"न नूनमस्ति नो श्वः कस्तद्वेद यदद्भुतम्।
अन्यस्य चित्तमभि संचरेण्यमुताधीतं विनश्यति॥
न नूनमस्ति अद्यतनम्, नो एव श्वस्तनम्। 'अद्य' अस्मिन्द्यवि। 'द्युः' इति अन्हो नामधेयम्, द्योतते इति सतः। 'श्वः' उपाशंसनीयः कालः। 'ह्य' हीनः कालः। "कस्तद्वेद यदद्भुतम्"। कस्तद्वेद यदभूतम्। इदमपि इतरत् 'अद्भुतम्'—अभूतमिव।

भवति। जरिता गरिता। दक्षिणा मघोनी = मघवती।
'मघम्' इति धन नामधेयम्। मंहतेर्दानकर्मणः।
'दक्षिणा' दक्षतेः समर्द्धयति कर्मणः। व्यृद्धं समर्द्ध-
यति,-इति। अपिवा प्रदक्षिणा गमनात्। दिशमभि
प्रेत्य,-दिक्। हस्तप्रकृतिः। दक्षिणोहस्तो दक्षतेरुत्साह
कर्मणः, दाशतेर्वा स्याद्दानकर्मणः। हस्तो हन्तेः। प्राशु
र्हनने। देहि स्तोतृभ्यः कामान् माऽस्मानतिदंहो,
माऽस्मानतिहायदाः। भगो नो अस्तु। बृहद् वदेम स्वे
वेदने। भगो भजतेः। 'बृहत्' इति महतो नामधेयम्।
परिवृढं भवति। वीरवन्तः, कल्याणवीरा वा। वीरः =
वीरयति अमित्रान्। वेतेर्वास्याद् गति-कर्मणः। वीरयते
र्वा। 'सीम्' इति परिग्रहार्थीयो वा पदपूरणो वा।
"प्रसीमादित्यो असृजत्"। प्रासृजत्-इतिवा। प्रासृजत्
सर्वतः,-इति वा। "विसीमतः सुरुचो वेन आवः इति
च। व्यवृणोत् सर्वतः आदित्यः। सुरुचः आदित्यरश्मयः
सुरोचनात्। अपि वा 'सीम' [सीमा] इत्ये-
तदनर्थकमुपबन्धमाददीत पञ्चमीकर्माणम्। सीम्नः,
सीमतः, सीमातः मर्य्यादातः। सीमा मर्य्यादा। विसी-
व्यतिदेशौ-इति। 'त्व' इति विनिग्रहार्थीयं सर्वनाम,
अनुदात्तम्। अर्द्ध नाम-इत्येके॥ २॥

अर्थ—"नूनं सा०" [ऋ० सं० २, ६, ६, ६] 'नूनम्' पदपूरण या अनर्थक है। हे इन्द्र ! वह दक्षिणा, जो तेरे पुत्रके उत्पन्न करने वाले कर्ममें हिरण्य आदि धन युक्त है, स्तुति करनेवाले [यजमान] के लिये वर दे, स्तोताओ [ऋत्विजों] के लिये कामनाओंको दे, हमें छोड़कर औरोंको न दे, हमारे पास धन हो, हम यज्ञ और घरमें बडे वचन बोलें, हम अपुत्रताकी अवस्थामें पुत्रवाले हों और पुत्रवत्ताकी अवस्थामे वीर पुत्रवाले हों। [खण्डार्थ] वह तेरे यजमानके लिये वर दुहे। [प्रतिपदार्थ] 'वर' नाम चाहने योग्य वस्तुका है। 'ज़रितृ' नाम स्तुति करनेवालेका है। दक्षिणा जो धन संयुक्त हो। मघोनी नाम मघवती और मघवती नाम धनवती का है। 'मघ' नाम धनका है। दानार्थक 'मंह' धातुसे होता है। 'दक्षिणा' समृद्धि अर्थवाले 'दक्ष' धातुसे होता है। वह द्रव्य हीनको आढ्य या समृद्ध बना देती है। अथवा दाहिनी ओरसे आनेके कारण दक्षिणा है। दिशाके अभिप्रायसे दिशा दक्षिणा है। वह हस्तसे उत्पन्न हुई है। [पूर्वको मुख किये हुये प्रजापतिका जो दाहिना हाथ हुआ वही दक्षिण दिशा होगई] 'दक्षिण' जो हस्तका नामहै उत्सा-हार्थक 'दक्ष' धातुसे या दान अर्थमें 'दाश' धातुसे बनता है। 'हस्त' 'हन्' धातुसे बनता है। वह हनन या मारने में शीघ्र है। [खण्डार्थ] "देहि स्तोतृभ्यः कामान्" स्तुति करनेवालोंको उनके कामोंको दे। "मा अस्मान् अतिदंहोः" हमें छोड़कर मत दे। हमको धन मिले। हम अपने घर और यज्ञमें बडे वचन कहें। 'भग' 'भज' धातुसे होताहै। 'बृहत्' यह बड़े का नामहै। वह सब ओर बढ़ा हुआ होता है। वीरवाले अथवा अच्छे वीरवाले। 'वीर' जो शत्रुओंको बहुत प्रकारसे मारता है। अथवा गति अर्थवाले 'वी' धातुसे बनता है। [क्योंकि—वह शत्रुओंके साम्हने जाता है] अथवा 'वीर' धातुसे बनता है। 'सीम्' यह परिग्रह अर्थमें है, अथवा पदपूरण है। [जैसे]

"प्रसीमादित्यो असृजत्" [ऋ० सं० २, ७, ६, ४] [सीम्' के अनर्थक पक्षमें–] सूर्यने अपनी किरणोंको फैलाया। [परिग्रह अर्थमें] सब ओरसे फैलाया। [और जैसे] "विसीमतः सुरुचो वेन आवः" [य० वा० सं० १३, ३] [सा० सं० ४, ३, ६] मेधावी [आदित्यने] अच्छे प्रकाशवाली किरणोंको सब ओर फैलाया। फैलाया सब ओरसे आदित्यने] 'सुरुच्' नाम आदित्यकी किरणोंका है, क्योंकि वे अच्छा प्रकाश फैलाती है। अथवा जो अनर्थक लगा हुआ 'सीम्' के रूपमे कहा गया हैं, वह सन्धिके भेदसे सीम' शब्द मानना चाहिये और उसके आगे 'तः' यह प्रत्यय पंचमी विभक्तिका अर्थ देता हैं। [जिससे] सीमसे, सीमासे, मर्य्यादासे [अर्थ होता है] 'सीमा' नाम मर्य्यादाका है। क्योंकि वह दो देशोंको अलग करती है। 'त्व' यह विनिग्रह अर्थमे सर्व-नाम और अनुदात्त। आधेका नाम है,—ऐसा कोई मानते हैं ॥ २ ॥

"ऋचान्त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रन्त्वो गायति शक्करीषु। ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उत त्वः" ॥ इति ऋत्विक्कर्मणां विनियोगमाचष्टे। ऋचामेकः पोषमास्ते पुपुष्वान् होता। ऋक् = अर्चनी। गायत्रमेको गायति शक्करीषु उद्गाता। गायत्रं गायते स्तुति-कर्मणः। शक्वर्यः ऋचः शक्नोतेः। तद् यदाभि-र्वृत्रमशकद्धन्तुं तत् शक्करीणां शक्करीत्वम्—

इति विज्ञायते। ब्रह्मा एको जाते जाते विद्यां वदति। ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति। ब्रह्मा = परिवृळ्हः (परिवृढः) श्रुततः। ब्रह्म परिवृळ्हं [परिवृढं]सर्वतः। यज्ञस्य मात्रां विमिमीते एकोऽध्वर्युः। अध्वर्युः = अध्वरयुः = अध्वरं युनक्ति, अध्वरस्य नेता, अध्वरं कामयते,—इति वा। अपि वा अधीयाने 'युः' उपबन्धः। 'अध्वरः'—इति यज्ञनाम। ध्वरति हिंसा—कर्मा, तत्प्रतिषेधः॥ [त्व' इति] निपातः, इत्येके। तत्कथमनुदात्तप्रकृति नाम स्यात्?। दृष्टव्ययं तु भवति। "उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुः" इति द्वितीयायाम्। "उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे" इति चतुर्थ्याम्। अथापि प्रथमा-बहुवचने॥ ३॥

अर्थ—"ऋचांत्वः"० [ऋ० सं० ८, २, २४, ५]॥ यह ऋचा ऋत्विजोंके कर्मोंके विनियोगको कहती है। इन चार बड़े ऋत्विजोंमेंसे एक होता ऋत्विज् ऋचाओंकी पुष्टिको करता हुआ रहता है। [ऋचाओंकी यही पुष्टि है, कि—'उनका देवताओंके यथार्थ भावके चिन्तन, मर्मस्थानके युक्त रखने और प्रयत्नके साथ अध्ययन करना.] ऋच्=जिसके द्वारा अर्चन किया जावे] एक उद्गाता ऋत्विज् गायत्र या सामको गान करता है। [यह उसका नियत कर्म है।] 'गायत्र शब्द स्तुत्यर्थक 'गै' (भ्वा० प०)

धातुसे बनता है। 'शकरी' ऋचाका नाम है ('शक्' धातुसे बनता है। यह बात ब्राह्मणमें भी जानी गई है,—कि जो [इन्द्र] इनके द्वारा वृत्रको मार सका,—यही शकरी ऋचाओंमें शकरीपन है। एक ब्रह्मा ऋत्विज् जब जब प्रायश्चित्त प्राप्त होता है, अन्य ऋत्विजोंके लिये अपने विज्ञानको कहता है। [क्योंकि—ब्रह्मा सब विद्याओंवाला है, इससे सबको जानने योग्य है। ब्रह्मा सब प्रकारसे ज्ञान या श्रवणसे पूर्ण है। ब्रह्म (वेद) (न० लिं०) सब ओरसे परिपूर्ण है। और एक अध्वर्यु ऋत्विज् यज्ञको नाना प्रकारकी इतिकर्त्तव्यताको करता है। 'अध्वर्यु' नाम अध्वरयुका है, जो अध्वरको जोड़ता है, या अध्वरको समाप्ति तक ले जाता है, या अध्वरको करनेकी कामना करता है। अथवा 'अध्वर' शब्दमें अध्ययन करनेवाले अर्थमें 'यु' यह उपबन्ध वा प्रत्यय होता है। [जिससे 'अध्वरयू' नाम अध्वरके पढ़नेवालेका होता है।] 'अध्वर' नाम यज्ञका है। 'ध्वृ' धातुका हिंसा अर्थ है, उसीके निषेध का नाम 'अध्वर' है॥ कोई आचार्य 'त्व' शब्दको निपात बताते हैं। [आक्षेप] यदि निपात है, तो अनुदात्तस्वर नाम कैसे होगा? [नहीं होगा]। प्रयोजन यह कि नाम माननेमें ही "फिषोऽन्त उदात्तः" [फि० १। २] प्रातिपदिकका अन्त उदात्त होता है। इस सूत्रके अपवाद "त्व त्व-सम-सिमेत्यनुच्चानि" [फि० ४, ६ त्वत्, त्व, सम और सिम ये शब्द अनुदात्त होते हैं,—इस सूत्रसे 'त्व' शब्द अनुदात्त सिद्ध होता है, जैसा कि होना चाहिये और निपात माननेमें "निपाता आद्युदात्ताः" [फि० ४, ११] निपातोंका पहिला स्वर उदात्त होता है,—इस सूत्रके अनुसार उदात्त ही रहेगा। दूसरे, विभक्तियोंके साथ इसमें विकार देखा जाता है, जो कि निपातोंमें सर्वथा नहीं है, इससे भी यह [त्व] नाम ही सिद्ध होता है। [जैसे] द्वितीया विभक्तिके एक वचनमें "उत

त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुः"—[ऋ० सं०, ८, २, २३. ५,] वेदार्थके जाननेको सत्यलोकका स्थिरनिवासी कहते हैं। चतुर्थीके एक वचनमें "उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे" [ऋ० सं० ८, २, २३, ४] वाणी एक अर्थज्ञके लिये अपने शरीरको प्रकाशित करती है। और प्रथमाके बहु वचनमें ॥ ३ ॥

(खं० ४)

"अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः। आदघ्नास उपकक्षास उत्वे ह्रदा इव स्नात्वा उत्वे ददृश्रे।" अक्षिमन्तः कर्णवन्तः सखायः। 'अक्षि' चष्टेः। अनक्तेः इति आग्रायणः। तस्मादेते व्यक्ततरे इव भवत इति ह विज्ञायते। 'कर्णः' कृन्ततेः। निकृत्तद्वारो भवति। ऋच्छतेः इति आग्रायणः। ऋच्छन्तीव खे उदगन्तामिति ह विज्ञायते। मनसां प्रजवेष्वसमा बभूवुः। आस्यदघ्ना अपरे। उपकक्ष-दघ्ना अपरे। 'आस्यम्'-अस्यते। आस्यन्दते एनत् अन्नम्—इति वा। दघ्नं दघ्यतेः स्रवति-कर्मणः। दस्यतेर्वा स्यात्। विदस्ततरं भवति। प्रस्नेया ह्रदा इव एके। प्रस्नेया ददृश्रिरे स्नानार्हाः। 'ह्रदाः' ह्रदतेः शब्द-कर्मणः।

ह्रादतेर्वा स्यात् शीतीभाव-कर्मणः। अथापि समु-ष्ण्यार्थे भवति ॥ ४ ॥

अर्थ—"अक्षण्वन्तः" [ऋ० सं० ८, २, ३४, २] [१म पादार्थ-] (सभी मनुष्य) आँखवाले, कानवाले या समान इन्द्रियवाले और समान शास्त्रोंमें श्रम किये हुये हैं। [एक पद निरुक्त-] 'अक्षि' दर्शनार्थ 'चक्ष्' (अ० आ०) धातुसे बनता है। व्यक्ति अर्थवाले 'अञ्ज्' (रु० प०) धातुसे होता है,—यह आग्रायण आचार्य मानते हैं। जिस कारण कि ये और अङ्गोंसे अधिक स्पष्ट या प्रकाशतर हैं [क्योंकि—रात्रिको विचरनेवाले जन्तुओंके ये अन्धकारमें भी दिखाई देते हैं] इसीसे इनका 'अक्षि'—यह नाम है,—यह ब्राह्मणमें जाना गया है। 'कर्ण' शब्द छेदनार्थक 'कृत' धातुसे बनता है। [क्योंकि-] इसका द्वार कटा हुआ होता है। 'ऋच्छ' धातुसे होता है,—यह आग्रायण आचार्य मानते हैं। [क्योंकि-] आकाश में प्रकट हुए हुये शब्द इनकी ओर जाते हैं,—और ये भी उनके सामने लेनेके लिये जाते हैं,—यह ब्राह्मणमें जाना गया है। [२य पादार्थ-] [तो भी-] मनकी दौड़ या कल्पनामें बराबर नहीं होते हैं। [३य पादार्थ-] [किन्तु] कोई विद्वान् कल्पनामें मुखके बराबर भरे हुये पानी(वाले) तडागके समान हैं। और कोई काखके बराबर भरे हुये तडागके समान हैं। [एक पद निरुक्त-] 'आस्य' शब्द असु क्षेपणे धातुसे बनता है [क्योंकि—इसके सामने अन्न फेंका जाता है।] अथवा ['स्यन्दू, प्रस्रवणे धातुसे।] [क्योंकि-] अन्न इसे गीला कर देता है। अर्थात् सूखा अन्न आने पर भी यह लाल छोड़ता है, जिससे कि—गीला हुआ अन्न खाया जासके। 'दघ्न' शब्द स्रवण या झरने अर्थमें 'दघ्' धातुसे बनता है। [क्योंकि—अगले परिमाणसे अधिक बहा हुआ होता है।] अथवा

क्षयार्थक 'दस्' धातुसे होता है। [क्योंकि—ऊपर परिमाणसे] अधिक क्षीण होता है। [४र्थ पादार्थ–] कोई विद्वान् विज्ञानमें अगाध जलवाले तड़ागके समान देखे जाते हैं। [एक पद निरुक्त] ["स्नात्वा"] 'प्रस्नेय नाम स्नान योग्यका है। 'ह्रद' शब्द शब्दार्थक ह्रद धातुसे बनता है। [कोंकि–यह ताड़न किया हुआ शब्दको करता है।] अथवा शीतीभाव या ठंढक अर्थवाले 'ह्लाद' धातुसे बनता है। [क्योंकि–वह ग्रीष्ममें भी ठंढा ही रहता है।] और 'त्वत्' यह अन्य निपात समुच्चय अर्थमें होता है ॥ ४ ॥

विशेष—'दद्दशिरे' यह पद मन्त्रगत "दद्दश्रे" की व्याख्या है, निरुक्तमें 'प्रस्नेयाः' पदके आगे किसी समय किसी लेखकके प्रसाद से एक पद निरुक्तमें आगिरा हुआ प्रतीत होता है, यह चतुर्थ पादको व्याख्यामें 'एके' पदके साह्मने चाहिये। ऐसा होनेसे ही दोनों स्थान ठीक होजाते हैं।

(ख० ५)

"पर्याया इव त्वदाश्विनम्। आश्विनञ्चपर्यायाश्च इति। अथ ये प्रवृत्तेऽर्थेऽमिताक्षरेषु ग्रन्थेषु वाक्यपूरणा आगच्छन्ति पदपूरणा स्ते मिताक्षरेषु अनर्थकाः। 'कम्' 'ईम्' 'इत्' 'उ' इति। "निष्टक्वार्मश्चिदिन्नरो भूरितोका वृकादिव। बिभ्यस्यन्तो ववाशिरे शिशिरं जीवनाय कम्" ॥ शिशिरं शृणातेः। शम्नातेर्वा "एमेनं सृजता सुते।" आसृजतैनं सुते। तमिद्वर्द्धन्तु नो गिरः।" स्तुतयो

गिरः। गृणातेः। "अयमुते समतसि"। अयं ते समतसि इवोऽपि दृश्यते ॥ ५ ॥

[जैसे] "पर्यार्या इव त्वदाश्विनम्" [ऋ० प्रा० १२, १०] आश्विन और पर्याय। यहांसे पदपूरण निपात हैं। गद्य ग्रन्थोंमें जो निपात अन्य पदोंसे ही अर्थ पूरा होनेपर वाक्यकी पूर्त्तिके लिये आते हैं, वे ही पद्य ग्रन्थोंमें पदपूरण होते हैं। दोनों ही स्थलोंमें अनर्थक होते हैं। [कौन] 'कम्' 'ईम्' 'इत्' 'उ' ये चार निपात। [जैसे 'कम्'] "निष्ठ्रक्त्रासः"००० कम्" [ ] वस्त्रोंसे रहित बहुत सन्तानवाले कोई दरिद्र मनुष्य हेमन्त ऋतुमें भेड़ियेके समान जाड़ेसे डरते हुए ऐसा पुकारते थे, कि 'शिशिर ऋतु हमारे जीवनके लिये आता है।' [क्योंकि उसमें शीत कम होता है, इससे उसमें हम सुखसे जीवेंगे।] शिशिर ऋतु जीवनके अर्थ होता है। [क्योंकि उसमें शरद् ऋतुके बहुत धान्य पैदा होते हैं। 'शिशिर' शब्द 'शृ' हिंसायाम् धातुसे होता है। अथवा 'शम्' हिंसार्थक धातुसे बनता है। [क्योंकि उस कालमें निर्विघ्न होकर दावानल या वनका अग्नि सूखे ओषधि और वनस्पतियोंको जला देता है। [ईम्] "एमेनम्०" [ऋ० सं० १, १, १७, २] हे अध्वर्युओ! सोमके निचुड़ जानेपर इसे उक्थ पात्र और चमस पात्रोंसे तैयार करो। [इत्] "तमिद्व वर्द्धन्तु नो गिरः" [ऋ० सं० ७, १, २०, ५] हमारी वाणियें उस सोमको वीर्ययुक्त करें। 'गिर्' नाम स्तुतिका है। [उ] "अयमु ते समतसि" [ऋ० सं० १, २, २८, ४] हे इन्द्र! यह तेरा सोम है, जिसके लिये तू नित्य गिरता है। और 'इवः' भी कभी अनर्थक आता है ॥ ५ ॥

(खं० ६)

"सुविदुरिव"। "सुविज्ञायेते इव। अथापि 'न' इत्येषः, 'इत्' इत्येतेन संप्रयुज्यते परिभये। "हविर्भिरेके स्वरितः सचन्ते सुन्वन्त एके सवनेषु सोमान्। शचीर्मदन्त उत दक्षिणाभिर्नेज्जिह्माः यन्त्यो नरकं पताम" इति। नरकं = न्यरकं = नीचैर्गमनम्। नास्मिन् रमणं स्थानमल्पमप्यस्ति, इति वा। अथापि 'न च' इत्येषः 'इत्' इत्येतेन संप्रयुज्यते अनुपृष्टे। "नचेत् सुरां पिबन्ति" इति। सुरा सुनोतेः। एवम् उच्चावचेषु अर्थेषु निपतन्ति, ते उपेक्षितव्याः॥ ६॥

इति तृतीयः पादः।

अर्थ—ब्राह्मण यज्ञको अच्छे प्रकार जानते हैं। ब्राह्मणोंसे यज्ञ और नक्षत्र भले प्रकार जाने गये हैं। यहांसे [निपात समाहार है।] 'न' यह 'इत्—इसके साथ सब ओरसे भय अर्थमें बोला जाता है। [जैसे] "हविर्भिः"—कोई मनुष्य इस लोकसे हवियोंके दानसे स्वर्गको जाते हैं, कोई मनुष्य यज्ञोंमें सोमोंके अभिषवण कर्मको करते हुये, कोई स्तुतियोंसे देवताओंको प्रसन्न करते हुये और कोई दक्षिणाओंसे स्वर्गको जाते हैं। [यदि हम पतियोंसे भी धोका करें, जिस अवस्थामें कि स्त्रियोंको यज्ञ आदि कर्मका अधिकार नहीं है तो निरुपाय होकर, नरकमें गिरें] 'नरक' नाम न्यरक अर्थात् नीचेको जाना या अधोगतिका है।

अथवा इसमें थोडा भी रमण स्थान नहीं है। और 'न च' यह 'इत्' इसके साथ अनुप्रश्न [दुबारा प्रश्न]में बोला जाता। [जैसे] "नचेत् सुरां पिबन्ति"। जो नहीं सुरा [मदिरा] पीते हुए होते। [कोई किसीसे पूछता है—'हैं शूद्र? उत्तर—हैं। फिर प्रश्न—यदि हैं तो क्यो नहीं आते? फिर उत्तर—'नचेत् सुरां पिबन्ति' यदि सुरा न पीते हुये होते तो आजाते।

इस प्रकार विविध अर्थोंमें निपात गिरते हैं, सो देखने चाहियें ॥ ६ ॥

इति तृतीयः पादः ॥

द्वितीयपादकी विशेष व्याख्या।

अथ निपाताः।

उपमार्थकाः १—इव (१) न (२) चित् (३) नु (४) कर्मोपसंग्रहार्थाः २—च (१) आ (२) वा (३) अह (४) ह (५) उ (६) हि (७) किल (८) [निपात-समाहारौ—न किल, न-नु, किल] मा (९) खलु (१०) शश्वत् (११) नूनम् (१२) सीम् १३ सीमा (१४) त्व (१५) त्वत् (१६) कम् (१७) ईम् (१८) इत् (१९) उ (२०) इव (२१) [निपात-समाहारौ]—नेत्—[न-इत्] नचेत्,—[न-च-इत्] पद-पूरणाः ३—कम् (१) ईम् (२) इत् (३) उ (४) [कदाचित्]—इव (५)

प्रथमः खण्डः।

(१)—उपमार्थक-निपात।

इव, न चित् और नु ये चार निपात उपमार्थक हैं। ये चारों प्रायः अर्थवान् होते हैं, निरर्थक कहीं ही आते होंगे।

निपात। अर्थ। स्थान। उदाहरण।

(१)—इव—उपमा
- वेदेः——(१) "अग्निरिव"† ४ [ऋ० सं० ८, ३, १९,२] (२) "इन्द्र इव" ५ [ऋ० सं० ८, ८, ३१, २]
- लोकेः——(१) अग्निरिव तीक्ष्णः ६ (२) इन्द्रइव विक्रान्तः ७

(२)—न*
- प्रतिषेधः
  - लोकेः——(१) घटो नास्ति—
  - वेदेः——(१) नेन्द्रं देवममंसत ८ [ऋ० सं० ८, ३, २६, १)
- उपमा—
  - वेदेः——(१) दुर्मदासो न सुरायाम् ९ [ऋ० सं० ५, ७, १९, १]

द्वितीयः खण्डः।

(३)—चित्—— अनेककर्मा
- पूजा—लोके—(१) आचार्यश्चिदिदं ब्रूयात् १०
- उपमा-लोके—(२) दधिचिदोदनः ११
- निन्दा-लोके—(३) कुल्माषाँश्चिदाहर १२

---

* वेदमें 'न' निपातके प्रतिषेध और उपमा दो अर्थ होते हैं। प्रतिषेध अर्थमे प्रतिषध्यसे पूर्व और उपमा अर्थमे उपमेयके अनन्तर आता है।

† "अग्निरिव मन्यो त्विषित सहस्व सेनानीर्न म हुर हूतएधि। हत्वा य शत्रून्भजस्व वेद ओजो मिमानो विमृधो नुदस्व"॥ [ऋ० स० ८, ३, १९, २]

तपस् का पुत्र मन्यु ऋषि। त्रिष्टुप् छन्द। मन्यु देवता। श्येनादिकोंमें निष्क बलमे अस्त्र।

१—उपमा अर्थो येषा ते उपमार्थका। उपमा रूप अर्थवाले शब्द उपमार्थक कहलाते हैं।

उपमा नाम—किसी वस्तुमें कोई गुण प्रसिद्ध हो तथा वही गुण उससे अन्य किसी वस्तुमें रहकर भी अप्रसिद्ध हो, उस अप्रसिद्ध गुणवाले वस्तुमें शब्दमात्रके सम्बन्धसे उस गुणका प्रकाश करना है।

(नोट) यह मन्यु इन्द्र ही है क्योंकि आत्मवित् और नैरुक्तोंके मतमें माहाभाग्य तथा कर्मके भेदसे एक देवताके बहुत नाम हो जाते हैं जैसे कि "मन्युरिन्द्रो मन्युरेवा स देवो मन्युर्होता वरुणो जातवेदा" (ऋ० ८, ३, १८, २) यह ऋचा है। याज्ञिकोंके मतमें इस नाम का स्वतन्त्र देवता है।

१—अर्थोपसंग्रहार्थका: इत्यर्थ। इस शास्त्रमें प्राय: 'कर्म' शब्द अर्थका पर्याय आता है। जैसे—"गतिकर्माण उत्तरे धातव:" (२, २, ३), यहां पर 'गतिकर्म' शब्दसे गमनार्थ प्रतीत होता है।

२—पदमेव पूरयितव्यं येषा नतु कश्चिदभिधेयोऽर्थ इति पदपूरणा। जिन निपातोंसे पद अथवा पादकी पूर्त्तिमात्र ही होती है, किन्तु कोई अभिधेय अर्थ नहीं होता वह पद पूरण कहाते हैं। इस प्रकार अर्थके भेदको लेकर संक्षेपसे निपातोंके तीन विभाग होते हैं।

३ हे मन्यो! सहनशील इस शत्रुओंके तिरस्कार कालके उपस्थित होने पर हमसे बुलाया हुआ तू हमारी सेनाका नेता हो, और उसके पश्चात् अग्निके समान तेजसे प्रदीप्त होकर तू हमारे शत्रुओंका तिरस्कार कर, तथा उनको मारकर उनके धनको लेकर हमारे सैनिकोंके बलको बढाते हुये योग्यतानुसार बाँट दे। और मरनेसे बचे हुये, जो शत्रु योद्धा हमसे धनको लौटाना चाहते हैं, उनको तावन्मात्र शेष करके तू दूर फेंक दे जिससे कि फिर वे न आवें।

४ 'इहैवैधि माप च्योष्ठा: पर्वत इवाविचाचलि। इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठ इह राष्ट्रमुधारय॥" इस अनुष्टुप् छन्दसे आङ्गिरस ध्रुवने राजाका अभिषेक किया था।
इसी राष्ट्रमें तू रह, और तू पर्वतके समान क्रियाशून्य मत हो, तथा इन्द्रके समान ध्रुव होकर स्थित हो, और विभूतिसम्पन्न इस राज्यको धारण कर।

६ अग्निके समान तीक्ष्ण था।

७ इन्द्रके समान विक्रमवाला है।

८ आदित्यकी रश्मियोंने इन्द्रको अपना देव या दीपन करने वाला नहीं माना।

९ "हृत्सु पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम्। ऊधर्न नग्ना जरन्ते।" [ऋ० सं० ५, ७, १९, १] कण्व मेधातिथि और आङ्गिरस प्रियमेध दो ऋषि। इन्द्र देवता। गायत्री छन्द। वाचस्तोममें विनियोग।

(नोट) जिन मन्त्रोंका कहीं भी विनियोग नहीं है, वे भी वाचस्तोममें विनियुक्त होते हैं।
पान किये हुये सोम हृदयमें स्थित होकर अपनी अपनी श्रेष्ठताको कहते हुये परस्पर युद्ध करते हैं जैसे मदिरा पानेसे उन्मत्त हुये कोई पुरुष युद्ध करें। इसके अतिरिक्त आत्मलाभसे परितुष्ट होकर उसी यजमानकी स्तुति ऐसी करते हैं। जिस प्रकार रात्रिके समय पुरुष नग्न होकर स्त्रीके संयोगके लिये उसकी स्तुति करते हैं।

१० आचार्य ऐसा कह सकता है और कौन ऐसा कहेगा।

११ दहीके समान भात है।

१२ आचाम भी ले आ, और खानेकी तो बात ही क्या है।

नु —
- (१) हेत्वपदेश — लोके — इदन्नु करिष्यति ।
- (२) अनुपृष्ट[१] — लोके — कथन्नु करिष्यति । नन्वेतदकार्षीत् २ ।

(तृतीयः खण्डः)

- (३) उपमा — वेदे — वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः ३ [ऋ० सं० ४, ६, १७, २]

‡(२) कर्मोपसंग्रहार्थक ४ ।

च — समुच्चय
- (१) — लोके — अहञ्च त्वञ्च । हरश्च हरिश्च ।
- (२) — वेदे — अहञ्च त्वञ्च वृत्रहन् ५ [ऋ० सं० ६, ४, ४१, ५,]

आ — समुच्चय — वेदे — देवेभ्यश्च पितृभ्य आ० ६ [ऋ० सं० ७, ६, २२, १]

वा —
- विचारणार्थ — वेदे — "हन्ताहं पृथिवीमिमां निदधानीह वेहवा कुवित्सोमस्यापामिति"७[ऋ० सं० ८,६,२७,३]
- समुच्चयार्थ — वेदे — वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा८[यजु० सं० ६,७,]

(चतुर्थः खण्डः

† अह — विनिग्रह — लोके — अयमहेदं करोतु । अयमिदम् ।

† ह — विनिग्रह — लोके — अयमिदमिदं ह करिष्यति । इदन्न करिष्यति ।

---

† पूर्वेण संप्रयुज्यते ।

‡ वाक्ये यो वक्ता प्रयुक्त समासे च श्रोत्राऽध्याहृत सन् एकस्मिन्कर्मणि द्वौवा बहून्वाऽर्थान् उपसङ्गृह्णाति उपसंबध्नाति स कर्मोपसंग्रहार्थः । यथा देवदत्त-यज्ञदत्तौ पचेते, यज्ञदत्तोदेवदत्तश्च पचेते ।

१ 'इदन्नु करिष्यति' (एक वार किसी वस्तुके प्रश्नका उत्तर हो जाने पर फिर उसीके प्रश्न का उत्तर होना अनुपृष्ट कहलाता है) कैसे करेगा ? उ० करेगा । कैसे करेगा ? ऐसा ही करेगा । यह द्वितीय उत्तर उक्त वाक्यका अर्थ है ।

२—इसने यह किया है, अब कैसे कहता है कि "यह कैसे करेगा ?।"

३—अधो न चक्रो. शूर इन्द्रन् प्रते मह्ना रिरिचे रोदस्यो । इक्षस्य नु ते पुरुहूत वया व्यूहतयो ववृश्नुरिन्द्र पूर्वी ॥ [ऋ० सं० ४, ६, १७, ३]

बार्हस्पत्य भरद्वाजने इस त्रिष्टुप् छन्दके पूर्व अर्धांशसे इन्द्रकी स्तुति करके उत्तरार्द्धसे उसका उपालम्भ किया है।

हे शूर। इन्द्र। पुरुहूत। पृथ्वी और द्युलोकमें दो चक्रोंमें महान् धुरीके समान तेरी बड़ी विभूति है, तेरे ऐसी विभूतिवालेके भक्त होने पर भी इनको शाखाओंके समान पुराने हमारे यज्ञकी आगमन मार्ग तेरे न आनेसे शून्य है। बड़ी खेद। हमारी मन्दभाग्यता है जिन हम लगोंके पासकि—वह धन नहीं है जिससे तेरी पूजा करें, इसमें हम तुमको क्या कह सकते हैं?

४—कोई निपात ऐसे होते हैं कि जो वाक्यमें सुने या बोले नहीं जाय तो भी उस स्थानमें * अध्याहारसे अपना अर्थ देते हैं उनका अर्थ अनेक पदार्थोंका भेद दिखलाना ही है ऐसे निपातोंके स्थानके जाननेके लिये सरूप अथवा विरूप शब्दोंका एकत्रीव तथा अर्थका सामर्थ्य ही उपाय है, ऐसे निपात कर्मोपसंग्रहार्थ कहलाते हैं। जैसे—

देवदत्त यज्ञदत्तौ † ="देवदत्तश्च यज्ञदत्तश्च"

* वाक्यमें उसके अर्थको पूर्ण करनेके लिये किसी बाह्य शब्दके ग्रहण करनेका नाम अध्याहार है।

† यद्यपि यहाँ पर देवदत्त और यज्ञदत्त दोनों ही श्रवणके विषय होते हैं किन्तु उनका औद्देशिक (उच्चारण ज्ञात) पृथक्त्व नहीं है अर्थात् "गा, अश्वान्, पुरुषान्, पशून्" यहाँ प्रत्येक पदके उच्चारणसे ही उन पदार्थों का भेद प्रतीत होता है, किन्तु "देवदत्त-यज्ञदत्तौ, इस उदाहरणमें विग्रह या दोनों पदोंके अलग कर देने तथा च शब्दके लगाने से पृथग्भाव प्रतीत होता है। तात्पर्य यह है कि जहाँ दो या बहुत अर्थोंको मिलित करके एक क्रियामें उपसमावेश किया जाय वह कर्मोपसंग्रह होता है। जैसे —(देवदत्त यज्ञदत्तौ पचेते) देवदत्त यज्ञदत्त पाक करते हैं। यहा एक ही पाक क्रियामें देवदत्त यज्ञदत्त दोनोंका समावेश है। इससे यह कर्मोपसंग्रह हुआ। अथवा 'इहस्पतिश्च' ऐसा कहने पर अनुक्त भी दूसरा पदार्थ उपापत्ति प्रतीत होता है यह कर्मोपसंग्रह है। एवम् इस कर्मोपसंग्रह अर्थमें रहनेवाले निपात कर्मोपसंग्रहार्थ कहाते हैं।

५—"अहं च त्वं च वृत्रहन्त्संयुज्याव सनिभ्य आ। अरातीवा चिदद्रिवोऽनु नौ शूर मंसते भद्रा इन्द्रस्य रातयः॥ [ऋ०सं० १, ४, ४१, ५]

घोरपुत्र प्रगाथ ऋषि। इन्द्र देवता। पंक्ति छन्द। इन्द्रके सखिभावकी इच्छासे प्रगाथ ऋषि बोले कि हे इन्द्र! मैं (प्रगाथ) और तू दोनों एक प्रयोजनके लिये उसकी प्राप्ति तक संयुक्त हो जावें। हे अद्रिव! (इन्द्र!) हम दोनोंको इस प्रकारसे संयुक्त देखकर अदानशील या कृपण भी हमारे लिये अवश्य देनेको अनुमत होगा।

ऐसा समझकर कि-'इन्द्रको देना कल्याणकारी है। प्रयोजन यह है कि—'कौन ऐसा है, जो हमें तुम्हारे संयोग होनेपर न देगा'। नोट—कभी यही समुच्चयार्थक चकार अलग हुए—हुए दोनों ही अर्थोंके साथ संयुक्त होकर आता है, जैसा कि-इसी मन्त्रमें 'अहञ्च त्वंच'॥

६—"यो अग्निः कव्यवाहनः पितॄन् यक्षदृतावृधः। प्रेदु हव्यानि वोचति देवेभ्यश्च पितृभ्य आ॥ [ऋ०सं० ७, ६, २२, १]

अनुष्टुप् छन्द। आप्री-देवता। पितृयज्ञमें विनियोग।

जो अग्नि कव्य (पितृ अन्न) का प्रेरक है, अर्थात् जिसका यह अधिकार है, कि—वह कव्योंको प्रेरक, वह इस हमारे पितृयज्ञमें होताके रूपमें स्थित होकर पितरोंकी पूजा करे, कि—जो पितर सत्य वा यज्ञके बढ़ाने वाले हैं। तथा देवता और पितरोंको हमारे दिये हविर्योंकी सूचना देवे।

७—ऐन्द्रलव ऋषि। गायत्री छन्द। लव कहता है कि—क्या मैं इस पृथ्वीको इस स्थानसे उठाकर इस अन्तरिक्ष लोकमें, या इस द्युलोकमें, या इस दाहिने कन्धेपर अथवा इस बांए कन्धेपर रखूं। क्योंकि—मैंने अधिक सोमपान किया है, उस सोमपानके अनुरूप (समान) ही मुझमें ऐसा पराक्रम है।

८—"वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा गन्धर्वाः सप्तविंशतिः। ते अग्रे अश्वमयुञ्जंस्ते अस्मिञ्जवमादधुः" [य० सं० ६, ७]

अनुष्टुप् छन्द। वाजपेयमें अश्वके योजनमें विनियोग। हे अश्व! वायु, मनु और सत्ताईस (२७) गन्धर्व देवता तुझे इस रथमें बांधते हैं। क्योंकि वे जानते हैं, जिस प्रकार तू बांधने योग्य है। तथा इन्होंने देवताओं और ऋषियोंके अश्वको भी पहिले

निपात	अर्थ	प्रयोग	उदाहरण
† उ	(१) विनिग्रह	लोके	मृषेमे वदन्ति, सत्यमु ते वदन्ति।
	(२) पदपूरण	वेदे	६ इदमु [ऋ० सं० ३-८-२-१] १० 'तदु' [ऋ० सं० १-५-२-१]॥
हि	(१) हेत्वपदेश	लोके	इदंहि करिष्यति।
	(२) अनुपृष्ट	लोके	कथंहि करिष्यति।
	(३) असूया	लोके	कथंहि व्याकरिष्यति।
किल	विद्याप्रकर्ष	लोके	एवं किल।
न-किल-	अनुपृष्ट	लोके	न किलैवम्।
ननु-किल-	अनुपृष्ट	लोके	ननु किलैवम्।
मा	प्रतिषेध	लोके	(१) मा कार्षीः (२) मा हार्षीः।
खलु	प्रतिषेध	लोके	(१) खलु कृत्वा (२) खलु कृतम्।
	पदपूरण	लोके	एव खलु तद् बभूव
शश्वत्	विचिकित्सा	लोके	(शश्वद्ब्राह्मणोऽयम्।
शश्वदेवम्	अनुपृष्ट	लोके	शश्वदेवम्
एव शश्वत्	अस्वयंपृष्ट	लोके	एवं शश्वत्।

नाभा है और उसमें वेगको धारण किया है। इसोसे है अग्र। मैं कहता हूं कि— इस ग्रन्थका वे दो जोड़े और उसमें बलका आधान करे।

+ पदेषु सम्प्रयुज्यन्ते।

६—"इदमु त्यत् पुरुतमं पुरस्ताज्ज्योतिस्तमसा वयुनावदस्थात्। नूनं दिवो दुहितरो विभातीर्गातुं कृणवन्नुषसो जनाय॥ [ऋ० सं० ३. ८, २, १]

वामदेव गौतमने इस त्रिष्टुप् छन्दसे उषाकी स्तुति की है। प्रातरनुवाक और आश्विनम शस्त्र है।

तृतीय पादको विशेष व्याख्या।

यह वह ज्योति है, जिसको मनुष्य बहुत कुछ कहते है क्योंकि—वह अन्धकारको दूर करके अपनेको प्रकट करती है। [उक्तिया] पूर्व दिशामे प्रज्ञानके समान ज्योति उठ रही है। निश्चय ही ये द्युलोककी दुहिताए (कन्याये) रात्रिके अंधेरेको दूर करती हुई, मनुष्योंके गमनको सफल करती हुई उषा आ रही है, जैसे कि यह पूर्व दिशा लाल होती आती है, और अन्धकार नष्ट होता जाता है। एक ही उषाके प्रशंसाके लिये यह वचन दिया है।

१०—"तदु प्रयक्षतममस्य कर्म दस्मस्य चारुतममस्ति दंसः। उपह्वरे यदुपरा अपिन्वन् मध्वर्णसो नद्य १ श्चतस्रः॥ [ऋ० सं० १, ५, ५, १]

दूसरा उदाहरण—

गौतम नोधस् ऋषिने इस त्रिष्टुप् छन्दमें इन्द्रकी स्तुतिकी है। प्रवर्ग्य मे विनियोग है।

इस दानशील या दर्शनीय इन्द्रका और भी बहुत प्रकारका पूज्यतम कर्म है, क्योंकि—उसने एकान्त देशमे जहाँ मनुष्योंकी भीड नहीं है, बैठ कर चार मीठे जलवाली नदियोंको गिराया और यज्ञ आदि कर्मको प्रवृत्त किया, अर्थात यही इसका पूज्यतम कर्म है।

१—विवेक पूर्वक निश्चयके अभिप्रायको विचिकित्सा कहते हैं।

२—अगस्त्यने पहिले इन्द्रके लिये हविका निर्वाप करके पीछे मरुत देवताओंको देनेका विचार कर लिया, इसमें इन्द्रने आकर परिदेवना की, परिदेवना नाम क्रोधपूर्वक विलापका है। इसी निदानपर यह मन्त्र प्रकट हुआ है।

[इन्द्र]—मेरा पहिले यह विचारणीय है कि -'आजका हवि मेरा नहीं है, तो कलका भी न होगा। अर्थात आजके भागको छोड़कर कलके भागपर भी आशा नहीं कर सकते, क्योंकि—आज जो हमारे लिये ही निर्वाप किया गया था, वही हमें नहीं मिला, तो कल पर क्या प्रत्याशा है? कारण यह है कि -जो वस्तु उत्पन्न नहीं हुई है, उसको कौन जानता है, वह किसको होगा? मेरी या दूसरेको। और यह भी कारण है कि -दूसरेका चित्त चञ्चल होता है, उसकी स्थिरता नहीं। आजके हविको मैंने जाना था कि—यह मेरा होगा, तो भी यह नष्ट हुआ जाता है।

३—गृत्समद ऋषि। पृथ्वीके चतुर्थ अहन्में मरुत्वतीयम शस्त्र हैं। इस मन्त्रमें 'नूनम्' केवल पदपूरणके लिये ही है। हे इन्द्र। तेरे पुत्रभावक कर्ममें रहनेवाली जो दक्षिणा है, सो स्तुति करनेवाले यजमानको वर दे। [यद्यपि दक्षिणावाले कर्मसे ही फलकी प्राप्ति होती है, किन्तु दक्षिणासे नहीं, तथापि यहां दक्षिणाकी महिमा कहनेके लिये उसीमें फल सामर्थ्य कहा गया है] दक्षिणामें हिरण्य धान्य आदि सब रहता है। और हे इन्द्र। तू ऋत्विजोंको शिक्षा या सद्बुद्धि दे। और हम छोड़कर औरोंको

धन मत दे, अर्थात् पहिले हमें दे, और फिर औरोंको। और हमको धन मिले, जिससे कि हम यज्ञमें या घरमें बडी बडी बाते कहें कि—"दो—खावे"। इसके अतिरिक्त हम वीरोंवाले होवे, अर्थात यदि अपुत्रवाले होवे, तो पुत्रवान् बने, और पुत्र-वान् होवे, तो कल्याण वीर पुत्रवाले हो।

४—गृत्सम-कूर्म या गृत्समदका पुत्र कूर्म ऋषि। त्रिष्टुप् छन्द सूर्य्य देवता। इस ऋचामें सूर्य्यकी वरुण नामसे स्तुति की गई है।

"प्रसीमादित्यो असृजद् विधर्त्ताँ ऋतं सिन्धवो वरुणस्य यन्ति।
न श्राम्यन्ति न विमुञ्चन्त्येते वयो न पप्तू रघुया परिज्मन" ॥
[ऋ० सं० २, ७, ६, ४]

'सीम्' निपात जब पदपूरण रहता है, तब इसका कुछ अर्थ नहीं लिया जाता। "आदित्य प्र असृजत" आदित्यने अपनी किरणोंको फैला दिया। [इस पक्षमें कहांसे फैलाया? या कहां फैलाया? यह प्रश्न नहीं उठाया जाता] जब उक्त निपात परि-ग्रह अर्थमें होता है, [तो] "आदित्य सीम (सर्वत) प्र असृजत" आदित्य (सूर्य) ने सब जगहसे किरणोंको फैलाया' [ऐसा अर्थ हो जाता है।] जो [सूर्य] 'विधर्त्ता' नाम रसोंका या रश्मियोंका धारण करनेवाला है, अथवा अपनी रश्मियोंके जालके अन्तर्गत सब जगत्‌को धारण करनेवाला है। सूर्यके रश्मि वर्षाकालमें सरल या पूर्व दिशामें आभिमुख्यसे झरने लगते है, एव वेही सूर्यनारायणसे प्रेरित होकर सर्वलोकके जलको लेकर वरुण नाम सूर्यके मण्डलको चले जाते हैं इस प्रकार रात्रि-दिवस-जलका लेना और छोडना इस अपने कर्मको करते हुए नहीं थकते है, तथा थक कर भी वैराग्यसे भी उस कर्मको नहीं छोडते। पक्षियोंके समान शीघ्र गतिमें सम्पूर्ण जगत्‌में गमन करते हुए भी ये रश्मि न थकते ही है और न अपने कामको छोडते ही हैं। थकनेके भयसे इन्हे अपनी गति कभी धीमी नहीं करनी पडती। ऐसे गुणवाले रश्मियोंका भी फैलाने या समेटनेमें सूर्य ही प्रभु है, इस लिये यह सूर्यकी ही स्तुति है।

५—वामदेवके पुत्र नकुल ऋषिने इस त्रिष्टुप् छन्दसे आदित्य देवताकी स्तुति की है। प्रवर्ग्य में तथा अग्निचयनमें सुवर्णके धारणमे विनियोग है।

"ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद् विसीमतः सुरुचो वेन आवः।
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च विवः ॥
[य० सं० १३, ३]

आदित्याख्य ब्रह्मने जब जगत्‌में अन्य पदार्थ उत्पन्न नहीं हुये थे, पहिले पूर्व दिशामें ही

(३ यः खण्डः)

* त्व—सर्वनाम अनुदात्त

1 सर्वनाम—अन्य अर्थमे प्रथमा एक व०
१ ऋचान्त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रन्त्वो गायति शक्करीषु । ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उत्वः ॥
[ऋ०स० ८,५,२-२४]

२ अर्द्धनाम—द्वितीया-एक वच०
२ उत त्व सख्ये स्थिरपीतमाहु' इति
[ऋ०सं० ८,२-२३-४]

३ अन्यार्थ-चतुर्थी-एक व०
३ उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे
[ऋ० स० ८-२ २३-५]

(चतुर्थ खण्डः)

४ ,, प्रथमा बहु व०
४अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः । आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे ॥
[ऋ० स० ८-२-३४-२]

अच्छे प्रकाशवाली अपनी किरणोंको सर्व ओर फैलाया था, इस कर्मके उपलक्षणसे प्राची (पूर्व) दिशा अपना प्राधान्य रखती है। उसी मेधावी आदित्यने सब दिशाओंको फैलाया या प्रकट किया है, जो दिशायें बुध्न नाम अन्तरीक्षकी अवयवभूत और सब जगत्को उपनिर्माण करनेवाली हैं अर्थात् इनमे ही सब जगत् प्रतिष्ठित होता है। तथा इन्हींमें सब जगत् भिन्न भिन्न होकर स्थित होता है, भाव यह है, कि—ऐसे गुणोंवाली दिशायें सूर्यके उदयसे ही प्रकट होती हैं। एवम् उसी आदित्य ब्रह्मने स्थूल सूक्ष्म जगत्के कारणको प्रकट किया है ॥

*—त्व शब्दकी कई आचार्योंने निपातोंमें गणना की है, किन्तु भाष्यकारके मतमें लौकिक वैदिक उदाहरणादि उपपत्तियोंसे सर्वनामसंज्ञक नाम ही है सन्दिग्ध होनेसे ही निपातोंमें इसका अवतरण हुआ है।

१—अत्र प्रथमादिपादेषु होतृउद्गातृब्रह्माध्वर्यूणां प्रत्येकं क्रमेण ऋगध्ययन सामगानमितरैश्च

(पञ्चम-खण्डः)

त्वत्—समुच्चयार्थे—वेदे—पर्याया इव त्वदाश्विनम् [ऋ०प्रा०१२-१०

[व्याख्या आश्विनश्च पर्य्यायाश्च]

ऋत्विगस्य "इदमवकुरुत इति विज्ञानकथनम इतिकर्त्तव्यताकरणाच्च इतीनेषा कर्मणा विनियोग उक्त ।

इस ऋचामें होता, उद्गाता, ब्रह्मा और अध्वर्यु, चारो ऋत्विजोका कर्म निरूपण किय है। जैसे होता नाम ऋत्विज् कर्मकालमें ऐसी ऋचाओंको अध्ययन करता है, जिनसे देवताओंके यथार्थ स्वरूप तथा कर्मके मर्मस्थानोकी क्रियाका वर्णन होता है, एवम् जिनके अध्ययनसे कर्मका पोषण होता है।

उद्गाता ऋत्विज् शक्करी नामवाली ऋचाओंमें गायत्र छन्दका गान करता है। अथात उद्गाताका सामगानरूप कर्म नियत है।

ब्रह्मनाम एक ऋत्विज् कर्ममें कोई प्रायश्चित्त उपस्थित होनेपर अन्य ऋत्विजोंको उसका विज्ञान कराता है, कि यहा यह करो'। क्योंकि ब्रह्मा तीनों वेदोंका जानने वाला होनेसे सब विद्याओंका वक्ता होता है। जो सवज्ञ नहीं होता वह ऐसे अधिकारको नहीं निभा सकता। और अध्वयु नाम ऋत्विज् यज्ञको नानाप्रकारकी इतिकत्त व्यताको करता है'

इसका व्याख्यान १ माध्यायके ६ठ पाद ४ खण्डमें देखो।

व्याख्यान अ०१ पा०६ ख०३ मे देखो।

"उतत्वः पश्यन्न ददर्श वाच-मुतत्वः शृण्वन्नशृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥

[ऋ० स० ८, २, २३, ४]

४ बृहस्पति ऋषि। विद्याम न्न

ऐसे मनुष्य जो सब नेत्रवाले है, इतना ही नहीं, बल्कि—उनकी सभी इन्द्रियां समान हैं, तथा पीठ, पेट, हाथ और पांव भी समान है, एवम् सभी मनुष्य सखि नाम समान जानकारी-वाले हैं, अथवा समान शास्त्रोंमें श्रम किये हुये है, अर्थात् वैयाकरण वैयाकरणोंके ही समानख्यान है, नैरुक्त (निरुक्तके पढ़नेवाले) नैरुक्तोंके ही समानख्यान (ज्ञान) हैं, तो भी वे मनोगम्य (प्रतिभासे जानने

[(३) पदपूरण]

क्रियावाचकमाख्यातमुपसर्गो विशेषवत्।

सत्वाभिधायकं नाम निपातः पदपूरणः॥

कम्, ईम, इत् और उ, और कहीं कहीं इव य निपात गद्यग्रन्थोमे वाक्यपूरण और पद्य-ग्रन्थोंमें पदपूरण होते है। ये प्रायः अनर्थक होते है, अर्थवान् कदाचित् ही कही होते होंगे॥

कम्—पदपूरण—वेदे—१ निष्ट्वक्रासश्चिदिन्नरो भूरितोका वृकादिव।
बिभ्यस्यन्तो ववाशिरे शिशिरञ्जीवनाय कम्॥
२—मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कम्
[ऋ० स० ८, ८, १६, १]

{ व्याख्या - कम इति पदपूरण एव,
जीवनाय कम जीवनार्थमित्यर्थ }

[आ — इम — एन]

योग्य) अर्थोंमे समान नही होते, किन्तु कोई पुरुष ऊहा, अपोहन, धारण और वक्तृत्वमें समर्थ होते है और कोई मेधा रहित होते हैं वे सच्ची बातोंतक पहुचते नही। ये किस प्रकार परस्पर असमान है, यह दृष्टान्तसे प्रतिपादन करता है।—कोई विद्वान् बुद्धिसे उस ह्रद (तडाग) के समान हैं, जिसमे मनुष्यके मुखके बराबर जल भरा हुआ हैं, कोई काखके समान जलवाले ह्रदके समान है, और कोई विद्वान् अपरिमित जलवाले तडागोंके समान है, अर्थात् उनके प्रज्ञानका कोई प्रमाण नही है, वे ऐसे दिखाई देते है।

* आ-इम एनम्=एमनम्। आ (आङ् उप०) आमुखा अर्थमे 'सजत' क्रियामें संयुक्त होगया, और 'एनम्' उसीका कर्मकारक है, तथा 'इम्' निरर्थक होकर पदपूरण मात्र करता है।

† "शिशिरञ्जीवनाय कम्" इस उदाहरणका शेषभाग वृत्तिकारको सन्तोषदायक नहीं मिला उसीसे उन्होंने "शाखान्तरेषु शेषो द्रष्टव्यः" ऐसा कह दिया है। जो कुछ

ईम्—पदपूरण—वेदे—*एमेनं सृजता सुते .(ऋ०स० १,१,१७,२)

व्याख्याः-आसृजतैन सुते—आभिमुख्येन-'ईम्' इति पदपूरण एव ।

इत्—पदपूरण—वेदे—१ तमिद्वर्द्धन्तु नो गिरो वत्स संशिश्वरीरिव । य इन्द्रस्य हृद सनिः [ऋ०सं०-७ १-२०-५]

उ—पदपूरण—वेदे—२ अयमु ते समतसि कपोत इव गर्भधिम् । वचस्तच्चिन्न ओहसे ॥ [ऋ०स०१-२-२८-४]

अयम् इति वर्त्तमान मन्
अय मान य प्रा'त नित्यकालमेव त्वं सम्पतसि
उ- इति पदपूरण

(षष्ठः खण्डः)

(कदाचित्)

इव—वाक्यपूरण (१) सुविदुरिव

व्या०(सुष्टु विदु यज्ञ ब्राह्मण, इति)

(२) सुविज्ञायते इव [इवोऽनर्थक एव वाक्य पूरण]

[व्याख्या —सुष्टु विज्ञायते यज्ञा नक्षत्र ब्राह्मणं]

उनको पाठ मिला वह उन्होंने पूर्णरूपसे यह उद्धृत कर दिया है। किन्तु "केचित्" पदके द्वारा इससे वे अपनी अरुचि प्रकट करते है। प० सत्यव्रत सामश्रमी महाशयने इसका ऋक्‌स हितामे पता दिया है वहाँ दूसरे उदाहरणके अनुसार पता व पाठ है।

"शिशिरं जीवनाय कम्" इस मन्त्रमें 'कम्' यह निपात पदपूरण है। शेष वाक्यका यह अर्थ है, कि—शिशिर ऋतु प्राणियोंके जीवनके लिये होता है क्योकि उसमें शरदृऋतुके बोये हुये धान्य बहुत निपजते है।

सम्पूर्ण मन्त्रका अर्थ—कोई वस्त्रहीन बहुतसन्तानवाले दरिद्र मनुष्य हेमन्तऋतुमे शीतसे भेड़ियेके समान डरते हुये वार वार चिल्लाते हैं, कि 'हमारे जीवनके लिये शिशिर ऋतु आता है,

(४) निपात समाहर.

नेत्—परिभये—वेदे—१ हविर्भिरेके स्वरितः सचन्ते
(न+इत्) (सर्वतोभये) सुन्वन्त एके सवनेषु सोमान्।
शचीर्मदन्त उत दक्षिणाभि नें ज्जिह्मा-
यन्त्यो नरकम्पतामेति ॥

व्याख्या —नेत्—इति पदपूरणा
वय जिह्मायन्त्य जिह्मम् आचरन्त्य भगवन्-
नरकं पताम

नचेत्— अनुपृष्टेऽर्थे—लोके—नचेत् सुरां पिबन्ति
(न+च+इत्)

व्याख्या —
कोई किसीसे पूछता है
प्र० खड हैं यह
उ० खडे हैं।
अनु० प्र० खड है तव क्यों नही आजाते
पुन उ० नचेत् सुरा पिबन्त्यागमिष्यन्ति
यदि सुरा नही पीते हैं तो
आजायगे।

क्योंकि उसमे बहुत थोड़ा शीत होता है, उसमें हम सुखसे जीवेंगे" ॥

१ अमहीयु आङ्गिरस ऋषि। सोम देवता। गायत्री छन्द। ग्रावस्तुतिमे विनियोग है।

हमारी गिरायें (वाणियें) उस सोमको, जो इन्द्रके हृदयमें लगता है, बढ़ावें, जैसे-एक बच्छेवाली बहुतसी गौवें क्रम क्रमसे अपन अपन दुग्धोसे एक बच्छेका पोषण करती हैं। अर्थात् बहुल गौओंके और और बच्छे मर जानेपर कदाचित् उनका एक बच्छा ही जीता रहे और वे सब उसी वत्ससे अपना स्नेह कर लें। तथा उसे ही अपना अपना दुग्ध पिलाने लगें।

(नोट) इस प्रकार अनेक (ऊंचे नीचे) अर्थोंमें निपात समाहार आते हैं।

वे सब लक्षण शास्त्रके अनुसार (निरुक्तकी रीतिसे) कौन किस अर्थमें हैं सो देख लेने चाहियें।

(इति तृतीयः पादः समाप्तः)

---

२ यूपमें नियुक्त हुये शुन शेपने अपने मोक्षकी इच्छासे इस गायत्री छन्दसे इन्द्रकी स्तुतिकी है।

हे इन्द्र! जिस प्रकार कपोत (कबूतर) कपोतिका (कबूतरी) या अपने अण्डोंवाले घुंसलेके प्रति बार बार गिरता है उसी प्रकार जिस सोमके प्रति तू नित्यकाल ही गिरता है, वही यह सोम ऋत्विजोंसे तैयार किया हुआ है। इससे हमसे तुम्हारा यह क्या प्रयोजन होगा? हमे छुड़ा दे।

क्या हमारे बार बार रोते हुओंके स्तुतिरूप इस वचनके अभिप्रायको तू नहीं जानता? कि हम किस प्रयोजनसे यह कह रहे हैं। कौनसे तुम्हारे गुण इसमें नहीं आये, जिससे कि तू हमें इस यूपसे नहीं छुड़ाता है। अर्थात् यह सुन कर बुद्धिसे अर्थको जानकर तथा हमारी आर्त्तता (पीड़ा) को निश्चय करके कारुण्य भावसे हमे छुड़ा दे। भाव यह है कि हमसे ही तुम्हारा क्या प्रयोजन है; जब कि हमसे भी बहुत उत्तम सोमरस तुम्हारे लिये अभिषुत तैयार है।

१ ऐसा सुना गया है कि नारदजीने परीक्षार्थ असुरोंकी स्त्रियोंकी उनके पतियोंमें अश्रद्धा उत्पन्न करनेके लिये कुछ धार्मिका बात कही थी, उसीका उत्तर उन्होंने नारदजीको इस मन्त्रसे दिया है।

कोई पुरुष देवताओंके लिये पुरोडाश आदि रूप हवि देकर इस लोकसे स्वर्गमें जाते हैं। कोई सोमयाग करके स्वर्गमें चले जाते हैं, कोई स्तुति करके, एवम् कोई बहुत दक्षिणाओंके दानसे स्वर्गको प्राप्त कर लेते हैं, इस रीतिसे भिन्न भिन्न उपायोंसे अपने अपने

अथ द्वितीय-तृतीय-पादयोः

प्रासङ्गिकाः शब्दाः ।

(द्वितीयः पादः)

२-यः खण्डः ।

(चित्) (१) आचार्य्यः = (१) आचारं ग्राहयति (२) आचिनोत्यर्थान्
(३) आचिनोति बुद्धिम् ।

(२) कुल्माषाः = कुलेषु सीदन्ति

३-यः खण्डः ।

(नु) (१) वयाः = शाखाः वेतेः-वातायना भवन्ति

(२) शाखाः = खशयाः शक्नोतेर्वा

(चादि) कर्मोपसग्रहः = यस्यागमात् अर्थं पृथक्त्वमह विज्ञायते नत्वौद्देशिकमिव विग्रहेण पृथक्त्वात् स कर्मोपसग्रहः ॥

(३-यः पादः)

१-मः खण्डः ।

(क) (नूनम्) (१) न नूनमस्ति- विनश्यन्ति = अगस्त्य इन्द्राय

कल्याणके प्रति सब प्राणियोंके उद्यत होने पर, हमें भी जप होम आदिका अधिकार न रहनेसे अपने कल्याणके अर्थ पतियोंकी सेवा करना चाहिये, जो कि स्त्रियोंके लिये एकमात्र उपाय है। यदि हम उसे भी न करें, या उनसे भी छल करें तो हमें नरक ही मिलेगा। भाव यह है कि स्त्रियोंके लिये पतिसेवासे अन्य और कोई धर्म नहीं है ॥

हविर्निरूप्य मरुद्भ्यः [विचिकित्सा] सम्प्रदित्सांचकार सइन्द्र एत्य परिदेवयांचक्रे ।

(२) परिदेवना = मन्युपूर्वको विलापः ।

(३) द्युः = इति अह्नो नामधेयं द्योतते इति सतः, (द्योतते इति कर्तृकारकम्)

सतः-सदिति यत्र ब्रूयात् तत्रो च्चारित एव कारकनियमो द्रष्टव्यः अन्यत्र यथेष्टं योज्यम् ।

(४) श्वः = उपशंसनीयः कालः ।

(५) ह्यः = ह्यो हीनः कालः ।

(६) अद्भुतम् = अभूतम्, अभूतमिवान्यस्य, शोणितवर्षादि, अभूतमिव कादाचित्कत्वात् ।

(७) अभिसञ्चरेण्यम् = अभिसञ्चारि ।

(८) अन्यः = (१) नानेयः—नानात्वेन व्यवस्थितस्य असत्कुलजस्यापत्यम्, (२) अथवा न सतामानेयः ।

(९) चितम् = चेततेः ।

(१०) आधीतम् = आध्यातम् अभिप्रेतम् ।

२-यः खण्डः ।

(ख) (नूनम्)‚(१) वरः = वरयितव्यो भवति ।

[पदपूरणे]

(२) जरिता = गरिता इति स्तुत्यर्थस्य ।

(३) मघोनी = मघवती (धनवती) ।

(४) मघम् = धनम् (मंहतेर्दानकर्मणः)

(५) दक्षिणा = दक्षतेः समर्द्धयत्यर्थस्य-
अथवा-दक्षिणा दिक्-हस्तप्रकृतिः-प्राङ्मुखस्य प्रजापतेर्दक्षिणो हस्तो बभूव सा दक्षिण दिगभवत्।

(६) दक्षिणोहस्तः = दक्षतेः उत्साहार्थस्य सहि उत्साहवान् भवति कर्मसु न तथा सव्यः। दाशतेर्वा स्यात् दानार्थस्य (तेनैव प्रायेण दीयते)

(७) हस्तः = हन्ते तेन हि हन्यते न अन्येनापि केनचिदङ्गेन।

(८) प्राशुः = शीघ्रः

(६) बृहत् — महतो नामधेयम् — परिवृढम्भवति।

(१०) वीरः = (१) वीरयत्यमित्रान् नानाप्रकारम्मारयतीत्यर्थः,
(२) वेतेर्वास्यात् — गतिकर्मणः (गत्यर्थे वर्त्तमानस्य) गच्छत्येवासावभिमुखं शत्रून,
(३) वीरयतेर्वा — (विक्रमार्थस्य) विक्रान्तो ह्यसौ भवति।

(सीम्) (१) सुरुचः = आदित्यरश्मयः — सुरोचनादपि वा।
(२) सीम = सीम्नः सीमतः सीमातः मर्यादातः सीमा (सीमा) मर्यादा विसीव्यति देशौ विगतसन्तानौ देशौ करोतीत्यर्थः।

(३यः खण्डः)

(त्त्व) (१) त्त्वः = एक — अन्यः।

(२) ऋक् = अर्चनी ।

(३) गायत्री = गायत्रं-गायतेः-स्तुतिकर्मणः ।

(४) शक्वर्यः = ऋचः शक्नोतेः-तद् यदाभिर्वृत्रमशकद्धन्तुं तच्छकरीणां शक्वरीत्वमिति विज्ञायते ।

(५) जातविद्याम् = जाते जाते विद्याम् ।

(६) ब्रह्मा = (१) सर्वविद्यः,
(२) सर्वं वेदितुमर्हति,
(३) परिवृढः (परिवृलढः) श्रुततः ।

(७) ब्रह्म = परिवृढ सर्वतः ।
(वेदःपरब्रह्म च)

(८) अध्वर्युः = (१) अध्वरयुः
(यु प्रत्यय) (२) अध्वरं युनक्ति,
(३) अध्वरस्य नेता (प्रापयिता)
(४) अध्वरं कामयते कर्त्तुम् ।
(५) अध्वरमधीते यः स अध्वर्युः ।

(९) अध्वरः = यज्ञः ।

(१०) ध्वरः = ध्वरति हिनस्तीति ध्वरः ।
ध्वरति, धर्वति इति हिंसार्थेषु पठितौ, तत्प्रतिषेधः अध्वरः अहिंस्र इत्यर्थः ।

(४र्थः खण्डः)

(११) अक्षण्वन्तः = अक्षिमन्तः ।

(१२) अक्षि = (१) चष्टेः (चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि)
(२) अनक्तेः इति आग्रायणः,
"तस्माद् एते व्यक्ततरे इव भवत इतिह विज्ञायते ।"

(१३) कर्णाः = (१) कृन्ततेः निकृत्तद्वारो भवति,

(२) ऋच्छतेः इत्याग्रायणः "ऋच्छन्तीव खे, उदगन्तामितिह विज्ञायते।"

(१४) मनोजवेषु = मनसां प्रजवेषु ।

(१५) आदघ्नासः = आस्यदघ्नाः ।

(१६) त्वे = अपरे

(१७) उपकक्षासः = उपकक्षदघ्ना उपकक्षपरिमाणा इत्यर्थः ।

(१८) आस्यम् = (१) अस्यतेः—असुक्षेपणे क्षिप्यते हि एतदाभिमुख्येन अन्नम् ।

(२) स्यन्दतेर्वा—आसन्दते एतदन्नम्, शुष्केऽपि ह्येतदन्ने आगते स्रवत्येव श्लेष्माणं येन तदार्द्रीकृतं ग्रसितुं शक्यते ।

(१९) दघ्नम् = (१) दघ्यतेः स्रवतिकर्मणः स्रुततरमिव भवति उत्तरात् परिमाणात् ।

(२) दस्यतेर्वा स्यात् क्षयार्थस्य विदस्ततरं हि उपक्षीयमाणं तद्भवति उत्तरस्मात्परिमाणात् ।

(२०) प्रस्नेयाः = प्रकर्षेण स्नातुं येषु योग्य अगाधत्वात्—ते प्रस्नेयाः स्नानार्हाः इत्यर्थः ।

(२१) ह्रदः = (१) ह्रादतेः शब्दार्थस्य,

(२) ह्रादतेर्वा स्यात् शीतीभावकर्मणः (ग्रीष्मेऽपि हि असौ शीतल एव भवति)

+शुष्केऽपि अन्ने आगते सति एतत् मुख [illegible] भवतीत्यादिरर्थः ।

(५मः खण्डः)

(कम्) (१) शिशिरम् = (१) शृणातेः—हिंसार्थस्य हिनस्ति तस्मिन् काले अप्रतिबध्यमानः अतिशयेन दावाग्निः शुष्कान् ओषधिवनस्पतीन्।

(२) शम्नातेर्वा—हिंसार्थस्यैव नाथकृतो विशेषः।

(इत्) (१) गिरः = स्तुतयः—गृणातेः।

(६ष्ठः खण्डः)

(नेत्) (१) नरकम् = (१) न्यरकम्,

(२) नीचैर्गमनम्,

(३) नास्मिन् रमणं स्थानमल्पमप्यस्तीति वा।

(न चेत्) (१) सुरा = सुनोतेः सा हि अभिषूयते अनेकैर्द्रव्यैः पिष्टादिभिः।

चतुर्थ पादः।

(खं० १)

इति इमानि चत्वारि पदजातानि अनुक्रान्तानि,—नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च। तत्र 'नामानि आख्यातजानि-' इति शाकटायनः, नैरुक्तसमयश्च। 'न सर्वाणि'-इति गार्ग्यः, वैयाकरणानाञ्चैके। तद्

† त्यच्छ्रत्नीव एतौ कर्णौ, खे अभिव्यक्ता मन्त्र. शब्दाः। एतावपि च उदगन्ता इच्छ्रत इव ग्रहणाय। विचार्यमाणे ज्ञायते खे कर्णाविति।

यत्र स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेन अन्वितौ स्यातां संविज्ञातानि तानि। यथा-गौः, अश्वः, पुरुषः, हस्ती, इति। अथ चेत् सर्वाणि आख्यात-जानि नामानि स्युः,—'यः कश्च तत्कर्म कुर्यात्, सर्वं तत्सत्त्वं तथा आचक्षीरन्?' 'यः कश्च अध्वान-मश्नुवीत अश्वः स वचनीयः स्यात्?' 'यत्किञ्चित् तृन्द्यात् तृणं तत्'? अथापि चेत् सर्वाणि आख्यात-जानि नामानि स्युः,--'यावद्भिर्भावैः संप्रयुज्येत ताव-द्भ्यो नामधेय-प्रतिलम्भः स्यात्॥ १॥

(खं० २)

अथापि य एषां न्यायवान् कार्मनामिकः संस्कारो यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युः, तथा एनानि आचक्षी-रन्,—पुरुषं 'पुरिशय' इति आचक्षीरन्? 'अष्टा' इति अश्वम्? 'तर्दनम्' इति तृणम्?। अथापि निष्पन्ने अभिव्याहारे अभिविचारयन्ति—प्रथनात् पृथिवी-इति इत्याहुः--'क एनामप्रथयिष्यत्? किमा-धारश्च? अथ अनन्वितेऽर्थे, अप्रादेशिके विकारे पदेभ्यः पदेतरार्द्धान् सञ्चस्कार शाकटायनः,—एतेः कारितं च यकारादिञ्च अन्तःकरणम्, अस्तेः शुद्धञ्च सकारादिञ्च?। अथापि 'सत्त्वपूर्वोभावः'—इत्याहुः,

'अपरस्माद् भावात् पूर्वस्य प्रदेशो नोपपद्यते ?'—इति नोपपद्यते ॥ २ ॥

(चतुर्थः पादः)

अबसे पहिले आख्यात, नाम, उपसर्ग और निपात ये चारों पद क्रमसे व्याख्यापूर्वक वर्णन किये गये हैं, [किन्तु पूर्व प्रतिज्ञाके अनुसार नामका कुछ अंश अब निरूपण किया जाता है]

शाकटायन और गार्ग्यवर्जित सब नैरुक्तोंका सिद्धान्त है कि—"सभी नाम सामान्य रूपसे आख्यातसे उत्पन्न हुए है।"

गार्ग्य और कोई कोई वैयाकरण पूर्वमतके विपक्षमें ऐसा मानते हैं कि—"सब नाम आख्यातसे उत्पन्न नहीं है।"

गार्ग्यके मतका स्पष्टीकरण।

गार्ग्यके मतमें नामोंके (३) तीन विभाग हैं,-प्रत्यक्षक्रिय, प्रकल्प्यक्रिय और अविद्यमानक्रिय।

कारकः, हारकः इत्यादि प्रत्यक्षक्रिय, गौः, अश्वः इत्यादि प्रकल्प्य क्रिय तथा डित्थः, डवित्थः, अरविन्दः, अर्वाङ्, चन्द्रः इत्यादि नाम अविद्यमानक्रिय हैं।

अर्थात् जिन नामोंमें उदात्त आदि स्वर एवं प्रकृति, प्रत्यय आदि रूप संस्कार दोनों लक्षण शास्त्रमें विहित उपपत्तिसे युक्त हो तथा उन धातुओंमे, जिनकी वाच्यक्रियाओंसे वे नाम प्रतिष्ठित माने गये हों, अनुगत हों, वे नाम आख्यातज हैं। इन्हींको कोई आचार्य्य संविज्ञात या संविज्ञान पद कहते हैं।

जिन गौः, अश्वः इत्यादि नामोंमें क्रियाकी साक्षात् प्रतीति नहीं होती है किन्तु कल्पना की जा सकती है वे प्रकल्प्यक्रिय नाम होते हैं।

एवम् जिन डित्थः, डवित्थः इत्यादि नामोंमें क्रियाकी कल्पना भी नहीं हो सकती, वे अविद्यमानक्रिय या रूढ़ शब्द कहाते हैं।

इन्हीं शब्दोंको कोई आचार्य संविज्ञानपद कहते हैं। गार्ग्य आचार्य्य कहते हैं कि—जब डित्थ, डवित्थ आदि शब्दोंमें धातुओंकी कल्पना भी नहीं की जासकती तो सब शब्दोंका आख्यातसे उत्पन्न मानना भूल ही है, अर्थात् शाकटायनके मतमें यह पहिला अव्याप्तिरूप दोष है।

२रा दोष यह है कि—यदि सब शब्दोंको उत्पत्ति आख्यातसे मानेंगे तो जो कोई सत्व या प्राणी उस कर्म अथवा क्रियाको करेगा, सभी उस तरह बोला जायगा। जैसे—जो कोई भी मार्गको अशन या व्यापन करेगा वही 'अश्व' कहलाएगा, तथा जो कोई भी तर्दन करेगा, वही तृण कहा जायगा। अर्थात् एक कर्मके करनेवाले सभी प्राणी एक नामसे बोले जाने चाहिएं, किन्तु अश्व उस क्रियाको नहीं करनेकी अवस्थामें भी अश्व कहा जाता है, और अन्य प्राणी उस क्रियाको करनेसे भी अश्व नहीं कहे जाते। जब कि—इसमें कोई विशेष हेतु नहीं है, तो मानना होगा कि—अशन क्रियाके अभिप्रायसे अश्व को अश्व नहीं कहा जाता, अपि तु क्रियाकी अपेक्षा न रखकर अर्थके बोधनके लिये यह शब्द व्यवहार मात्र है, इससे सब नाम आख्यातसे उत्पन्न नहीं हैं।

३य दोष—जिस द्रव्यमें जितनी क्रियाओंका सम्बन्ध होगा, उतने ही उसके नाम होंगे। क्योंकि—वर्त्तमान क्रियाओंमेंसे कुछ क्रियाओंके त्याग करने एवम् कुछ क्रियाओंके स्वीकार करनेका कोई विशेष कारण नहीं है। जैसे कि—स्थूणा (खम्भी) एक ही, दरमें शयन करनेसे 'दरशया' तथा उसमें बांस सञ्जन क्रिया (पोयाजोड़ा) जाता है, इससे 'सञ्जनी' भी कही जावेगी, किन्तु वह इन नामोंसे बोली नहीं जाती है। अर्थात् शाकटायनके सिद्धान्तानुसार अनेक वस्तु एक क्रियाके सम्बन्धसे एक नामवाले होंगे, और एक

वस्तुके अनेक क्रियाओंके सम्बन्धसे अनेक नाम होंगे। इससे सब नाम आख्यातसे उत्पन्न नहीं हैं।

४र्थ दोष-जबकि-सभी नाम आख्यात या धातुओंसे उत्पन्न हैं, तो क्यों नहीं सभी द्रव्य [वस्तु] ऐसे नामोंसे बोले जांय, जिनमें व्याकरण शास्त्रके न्यायसे संस्कार सिद्ध हो, तथा जिनसे उन वस्तुओंकी क्रिया स्पष्टरूपसे प्रतीत हो। अर्थात् जैसे-पाचक, लावक आदि शब्द व्याकरणसिद्ध तथा प्रतीतक्रिय हैं, वैसेही पुरुषको 'पुरिशय' कहेंगे, क्योंकि वह पुरीमें शयन करता है और वह ऐसा करनेसे प्रतीतक्रिय होताहै, ऐसेही अश्वको 'अष्टा' कहेंगे,क्योंकि वह अशन करता है, तथा तृणको 'तर्दन' कहेंगे, क्योंकि विना ही कारणके पुरुष आदि वस्तुओंको जिन नामोंसे उनकी क्रिया प्रतीत न हो उनसे [पुरुष, अश्व आदिकोंसे] बोलना न्यायसङ्गत नहीं है।

५ म दोष-शाकटायनादि आचार्य शब्दका प्रयोग करके, उसको सामने करके विचारते हैं कि-"यह किस धातुसे बना है।" जैसेकि प्रथन [फैलाने] क्रियाके सम्बन्धसे 'पृथिवी' नाम है।

किन्तु हम पूछते है, कि-यदि इसका क्रियाके सम्बन्धके विनाही स्वाभाविक 'पृथिवी' नाम है, तो नहीं फैलनेवालीको किसने फैलाया? यदि मानें कि-"ऐसी अवस्थामें भी किसीने इसका प्रथन किया ही है" तो प्रश्न उठता है-"प्रथन करनेवालेने किस आधार पर बैठकर प्रथन किया" क्योंकि-पृथिवी ही सर्व प्राणियों का आधार है और अनाधार पुरुषसे इस पृथ्वीका प्रथन शक्य नहीं। इससे प्रथन क्रियाका अभाव ही सिद्ध हुआ और प्रथनके अभावमें "सब नाम क्रियासे उत्पन्न हैं" यह सिद्धान्त भी अयुक्त ही हुआ। इससे "सब नाम आख्यातसे उत्पन्न नहीं हैं"।

६ष्ठ दोष-वेदके जितने अङ्ग है, उनमें प्रत्येकके अनेक भेद हैं। इस रीतिके अनुसार निरुक्त १४ प्रकार और व्याकरण ८ प्रकार-

का है। ये दोनों ही वेदाङ्ग, शब्दके अनुशासनसे मुख्य प्रयोजन रखते हैं, इसीसे कुछ कुछ शब्दोंमें नैरुक्तोंका वैयाकरणोंके साथ ऐकमत्य तथा कहीं कहीं वैमत्य होना स्वाभाविक है। क्योंकि अपने अपने व्याकरणोंमें शब्दोंके अनुविधान या अनुशासनका क्रम भिन्न भिन्न रखते हैं। जैसे—पाणिनीय लोग 'भू' प्रकृति [धातु] लेकर उससे लट् प्रत्यय लगाकर तथा उसके 'अ' 'ट्' को खोकर शुद्ध 'ल्' के स्थानमें 'तिप्' आदि आदेश करते हैं, ऐसी ही रीतिसे वे अपने शास्त्रमें 'भवति' पदको साधन कर सकते हैं। एवम् अन्य वैयाकरण लट्के विना किये ही 'भू' से 'तिप्' आदिका योग करके 'भवति' पदको सिद्ध कर लेते है। उनके मतमें "लट्को पढ़ना और फिर उसका लोप करना"—और इन दूसरोंके मतमे "लट्के विनाही तिप् आदि प्रत्ययोंको ले लेना"--ऐसी ऐसी व्यवस्थाओंका उनके शास्त्रोंमें शास्त्र-शैलीके अतिरिक्त अन्य कोई प्रयोजन नहीं है। क्योंकि-सबका लक्ष्य 'भवति' पदका साधन ही है।

गार्ग्य मुनि कहते हैं कि--शब्दोंके अनुशासनमें आचार्योंके विविध उपायोंकी दल दलको देखकर शाकटायन आचार्यने सब नामोंके आख्यातज होनेकी प्रतिज्ञाको पालन करनेके लिये बेजोड काम भी करडाला है अर्थात् कहीं एक नामको अनेक धातुओंसे बनाते हैं और कहीं एक नामको एक ही धातुसे जो कि अन्य व्याकरणोंमें अप्रसिद्ध है, किन्तु ऐसा करने पर भी शब्द अपने अर्थके पीछे नहीं चलता। इसीसे वह इस कृत्यके लिये पाणिन्यादि आचार्योंके आक्षेपभाजन बनते है। इसके अतिरिक्त शाकटायन अपनी प्रतिज्ञाको बहती हुई देखकर किसी किसी शब्दमें जब देखते कि--जिस क्रियासे द्रव्य परिचित होता है, उस क्रियाके वाचक धातुका व्याख्येय शब्दमें प्रवेश नहीं होता; तब नदीमें बहते हुए के तृणावलम्बनके समान पूरे पूरे आख्यात पदोंसे उनके अर्द्ध अर्द्ध

शब्द और अर्थका नित्यसम्बन्ध है। और ,नित्य वस्तु किसी कारणकी अपेक्षा नहीं रखती।

भाव यह है कि सब प्रकारसे "सम्पूर्ण नाम आख्यातसे उत्पन्न हैं" यह शाकटायनका मत युक्त नहीं है। उसके मतकी अनुपपत्ति होनेसे ही हमारे पक्षकी सिद्धि होती है कि—"कोई नाम आख्यातज हैं और कोई अनाख्यातज।"

परिसमाप्तो गार्ग्यपक्षः।

[खं० ३]

यथो हि नु वा एतत्—'तद्यत्र स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेन अन्वितौ स्याताम्' सर्वं प्रादेशिकम्,—इति, एवं सति अनुपालम्भ एव भवति। यथो एतत्—'यः कश्च तत्कर्म कुर्यात् सर्वं तत्सत्वं तथा आचक्षीरन्?' इति, पश्यामः समानकर्मणां नामधेयप्रतिलम्भम्,—'एकेषां 'नैकेषाम्'—यथा—तक्षा, परिव्राजकः, जीवनः, भूमिजः, इति। एतेनैव उत्तरः प्रत्युक्तः। यथो एतत्—'यथाचापि प्रतीतार्थानि स्युः, तथा एनानि आचक्षीरन्,-इति। सन्ति अल्पप्रयोगाः कृतोऽपि ऐकपदिकाः,—यथा व्रततिः, दमूनाः, जाट्यः, आट्-णारः, जागरूकः. दर्वीहोमी,-इति। यथो एतत्-'निष्पन्ने अभिव्याहारे अभिविचारयन्ति'-इति।

भवति हि निष्पन्ने अभिव्याहारे योगपरीष्टिः,-प्रथनात् 'पृथिवी'-इत्याहुः। 'क एनाम् अप्रथयिष्यत्? किमाधारश्च'-इति। अथ वै दर्शने पृथुः, अप्रथिता चेदपि अन्यैः ॥ ३ ॥

[खं० ४]

अथापि, एवं सर्वे एव दृष्टप्रवादा उपालभ्यन्ते। यथो एतत्—'पदेभ्यः पदेतरार्द्धान् संचस्कार' इति। यः अनन्विते अर्थे संचस्कार स तेन गर्ह्यः। सैषा पुरुषगर्हा। यथो एतत्—'अपरस्माद् भावात् पूर्वस्य प्रदेशो नोपपद्यते' इति। पश्यामः पूर्वोत्पन्नानां सत्वानाम् अपरस्माद् भावाद् नामधेय-प्रतिलम्भम्, एकेषां, न एकेषाम्। यथा—'विल्वादः' 'लम्बचूडकः'-इति ॥ ४ ॥

इति प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ १, ४ ॥

शाकटायनके पक्षसे इन दोषोंका प्रतिसमाधान।

(शाकटायन) जिस प्रकारसे गार्ग्य मुनिने नामोंके आख्यातजत्वके प्रतिषेधमें असमर्थ हेतु दिये हैं, उसी प्रकार हम प्रतिवक्ताके रूपसे प्रति-समाधान करेंगे।

१म, प्रतिसमाधान। जोकि -तुमने डित्थ, डवित्थ, आदि शब्दोंके उदाहरणोंसे दिखाया है कि -बहुत ऐसे शब्द हैं, जिनमें

व्याकरणकी रीतिसे स्वर, संस्कार तथा धातुकी कल्पना नहीं हो सकती, इससे "सब शब्द आख्यातज नहीं ।"

किन्तु हम कहते हैं कि—"सभी नाम क्रियासे उत्पन्न हैं" इससे तुमने जो हमें उपालम्भ दिया है, अयुक्त है। प्रयोजन यह है कि—नामोंमें क्रियावाचक धातुओंकी कल्पना करके जहां तक गम्य हो उनके आधार पर स्वर तथा संस्कारोंका अनुशासन करना चाहिए। क्योंकि–लक्षणों (व्याकरणके नियमों) की गति व्यापक है, यह शब्दका अपराध नहीं और न हमारा ही है, किन्तु यह आपकी मन्द शिक्षाका अपराध है, जिसके कारण विधमान भी स्वर-संस्कारोंको क्रियावाचक धातुमें तुम अनुविधान नहीं कर सकते, इससे तुम फिर व्याकरण पढ़ो, जबतक तुम्हें अनुविधानकी शक्ति हो।

भाव यह है कि–व्याकरणोंमें धातु पाठमात्रसे ही पूरे नहीं किये हैं, किन्तु उनके अतिरिक्त अन्य बहुत धातु हैं, जिनमें कोई सौत्र या सूत्रपठित, कोई तु, च, वा शब्दोंसे ज्ञातव्य, कोई अध्याहारसे गम्य एवम् कोई पठित धातुओंके विभागसे जानने योग्य हैं। भिन्न भिन्न व्याकरणके अविरोध स्थलमें भी कोई विधि किसी व्याकरण हीमें कही हैं। ये सभी बातें शब्दके प्रयोग करनेवालेको प्रयोगकालमें उपसंहार या समेटना चाहिये। इसी रीतिसे यहांपर सभी लक्षणोंकी सब संस्कारोंकी सिद्धिके लिये अपेक्षा करनी होगी। अतः हे गार्ग्य ! तुम फिर शिक्षाका लाभ करो, जबतक तुम्हें सब शब्दोंके अखिल संस्कारोंके अनुविधानकी शक्ति हो।

२रे प्रश्नका उत्तर। तुम भी देखते हो और हम भी देखते हैं,—कि समान कर्मके करनेवालोंमें कोई उस क्रियावाले नामसे बोले जाते हैं, और कोई नहीं। जैसे–तक्षा, परिव्राजक, जीवन, भूमिज। कोई मनुष्य तक्षण (लकड़ीका छीलना) क्रियासे

तक्षा कहा जाता है, और कोई तक्षण करनेसे भी 'तक्षा' (बढ़ई) नहीं कहाता। वे पूछें कि-क्या कारण है? तो हम कहेंगे कि-लोकसे पूछो। और उसीको उपालम्भ करो। मैंने ऐसा नियम नहीं किया है।

और यह कि-लोकमें बहुत मनुष्य समान कर्म करते हैं किन्तु उनमेंसे कोई सफल होते हैं और कोई निष्फल। वेदादिकोंमें कोई शब्द अन्य अर्थोंके होते हुए भी एक अर्थसे ही संयुक्त होते हैं। यह भी ठीक ही है, क्योंकि-शब्दोंकी अवस्थिति स्वभावसे ही उनकी अनेक क्रियाओंसे उत्पत्ति होनेपर भी किसी क्रिया-पर अवलम्बित होती है।

अथवा ऐसा नियम क्रियाके अतिशय पर होता है, जो जिस कामको अधिकतासे करता है, उसमें अन्य क्रियाओंके होते हुए भी उसी क्रियासे नाम पड़ता है।

यहां यह समाधान है कि-अथवा हम नहीं कहते कि-"जो जिस कालमे जहां तक्षण करता है, वही तक्षा है" बलिक "जो जिस कालमे जहां तक्षा है, वही तक्षा है"। यह लक्षण नियत नहीं है, जहां इच्छा हो वहीं इस नियमको काममें ला सकते हैं। अर्थात् और पदार्थोंमें और भी क्रिया नियततर हैं, जिनके कारण उनके अन्य नाम पड़ते हैं। तक्षा तो विशेषकर तक्षण ही करता है, अन्योंमें वह प्रधानतासे नहीं किन्तु और और ही क्रिया प्रधान हैं तक्षण प्रसङ्गात् होता है। जीवन नाम इक्षुरस अथवा कोई शाककी जाति है। भूमिज नाम अङ्गारक या मङ्गल ग्रहका है। इनकी शक्तिका विचार भी तक्षाके समान है।

३ य प्रश्नका उत्तर भी द्वितीय उत्तरसे हो गया। देखते हैं कि-अनेक क्रिया-युक्त पदार्थोंके नाम एक क्रिया पर ही होते हैं। जैसे-तक्षा, परिव्राजक, ये ही उदाहरण हैं। क्योंकि तक्षा अन्य कर्मोंको

भी करता है, किन्तु उन क्रियाओंसे उसके नाम नहीं होते। इससे अनेकोंका एक क्रियाके सम्बन्धसे एक नाम, तथा एकके अनेक क्रियाओंके सम्बन्धसे अनेक नाम, ये दोनों बातें अयुक्त हैं। क्योंकि लोकमें शब्दोंका नियम स्वभावसे ही व्यवस्थित है। इससे व्यवहारको अप्रसिद्धिका दोष नहीं है। इससे जो तुमने कहा कि—व्यवहारकी अप्रसिद्धि दोषसे "सब नाम आख्यातज नहीं" यह अयुक्त है।

४र्थ प्रतिसमाधान—तुमने कहा कि—"ऐसे ही सब पदार्थोंके नाम होने चाहिये जिनसे उनकी क्रिया प्रतीत होती रहे" किन्तु यह शब्दका स्वभाव है,—जोकि—"सब वैसे हो बोले जाते हैं, जैसे जैसे प्रतीतार्थ होते है" उसमें मैं आपका अपराधी नहीं बनता, और न शास्त्र ही। क्योंकि जिस प्रकार शब्द पहलेसे अवस्थित हैं, उन्हींका अन्वाख्यान या अनुवाद है, मैं शब्दोका बनानेवाला नहीं। जो इन शब्दोंके प्रयोग करनेवाले हैं, उन्हींको चिढ़ाओ अथवा निराकरण करो, यदि कर सको।

प्रश्न हो कि—क्यो लोकमें कुछ ही शब्द प्रतीतार्थ बोले जाते हैं? इसका भी उत्तर यही है कि—"यह शब्दोंका स्वभाव है,—कोई प्रतीतार्थ और कोई अप्रतीतार्थ" उनको भी शास्त्रसे प्रतीतार्थ ही करना चाहिये। यही शास्त्रका प्रयोजन या उसमें शास्त्रपना है, जो अप्रतीतार्थ नामोंको धातु—प्रत्यय आदिके विभागसे प्रतीतार्थ करदे। इसीसे कुछ लोकमें प्रतीतक्रिय हैं और कुछ को शास्त्र कर देता है। क्योंकि—शास्त्रके जितने लक्षण हैं वे सब रूढि शब्दोंमें उनके अनुसार ही चलते हैं, जसा उनमें देखते हैं, वैसाही कार्य्य करते हैं। रूढि स्थलमें शब्दकी प्रधानता और लक्षणकी गौणता रहती है। प्रतीतक्रिय शब्दोंमें लक्षणको प्रधानता और शब्दकी गौणता रहती है।

इसके अतिरिक्त यह भी है कि—केवल निरुक्त ही में रूढि शब्दोंको प्रतीतक्रिय बनानेका अभ्यास नहीं किन्तु व्याकरणमें भी कुछ ऐसे शब्द कृदन्त आदि स्थलमें साधन किये गये हैं, जैसे—व्रतति, दमूनाः, जाट्यः, आट्णारः जागरूकः, दर्विहोमी। व्रतति नाम वल्ली या लता। दमूनाः, दममनाः या दमनशील। जाट्य जटावान्। आट्णार अटनशील। जागरूक जागरणशील। दर्वि-होमी दर्वी या चाटूसे होम करनेवाला। इसी प्रकारसे रूढि शब्द प्रतीतार्थ भी हो जाते हैं, यह शाकटायनका अभिप्राय है। इससे "सब नाम आख्यातज नहीं" यह पक्ष अयुक्त है।

५म प्रतिसमाधान—शब्दके प्रयोगके अनन्तर उसके धातु आदिके विचारका प्रश्न भी ठीक नहीं है, क्योंकि—सिद्ध पदके उच्चारणमें ही योग या शास्त्रके लक्षणकी परीक्षा होती है। क्योंकि-लक्षणके सामने जबतक लक्ष्य न हो कैसे उसकी परीक्षा हो सकती है। भाव यह है कि—जो लक्षण, शब्दोंको देखकर बने है, वे उनके होने पर ही अपना काम करेंगे, शब्दके व्याहरणसे पहिले उनका कोई व्यापार नहीं होता।

जोकि-यह प्रश्न है कि—"यदि प्रथनसे 'पृथिवी' है तो इसे किसने प्रथन किया और किस आधार पर स्थित होकर?" हम इसका यही उत्तर देते हैं, किसीने इसका प्रथन किया है, इससे यह पृथिवी है।

दूसरा यह प्रश्न कि—"जब यह प्रथित नहीं थी, तो यह पृथिवी कैसे हुई?" यद्यपि किसीने भी इसका प्रथन नहीं किया, किन्तु देखनेमे यह फैली हुई है, इसीसे यह पृथिवी है।

तीसरा यह प्रश्न कि— किसने इसका प्रथन किया और किस आधार पर स्थित होकर? यह भी ठीक नहीं, क्योंकि-अन्य प्रकारसे धातुका अर्थ सघटित नहीं होता, हम वैसाही निर्वचन करेंगे जैसे

विरोध न हो। इससे शाकटायनका अभिप्राय अविरुद्ध है यह सिद्ध हुआ।

यदि पृथिवीके पृथुत्वको प्रत्यक्ष होने पर हमारा उपालम्भ किया जाता है, तो इसमें मेरा ही उपालम्भ नहीं बल्कि—सम्पूर्ण प्रत्यक्षवादोकी ही निन्दा हो जाती है। गार्ग्य मुनि प्रत्यक्षमें भी दोषारोप करते हैं, इस लिये यह अयुक्त है क्योंकि—इससे प्रत्यक्ष-की हानि है जोकि—सर्वथा अनिष्ट है अतः पृथुत्वके प्रत्यक्ष दर्शन से 'पृथिवी' कही जाती है यह ठीक है।

६ठा प्रतिसमाधान। अन्य पदोंके खण्डो (टुकड़ों) को लेकर अन्य पदोंकी व्युत्पत्ति आदिका आक्षेप भी ठीक नहीं है, क्योंकि—जो पुरुष अनन्वित अर्थमें असम्बद्ध संस्कारसे शब्दोंका संस्कार करता है, वही पुरुष निन्दनीय है किन्तु शाकटायन आचार्य ऐसा नही करते, बल्कि—एक अभिधान (नाम) में जितने अर्थ होते है, उनके अनुकूल अनेक धातुओंसे एक एक नामका संस्कार करते हैं, किन्तु मूढतासे नहीं। इस लिये गार्ग्य मुनिने जो शाकटायन की निन्दा की है वह उनके अभिप्रायको न समझकर की है। यह भी उनको जानना चाहिये था कि—कोई पुरुष अशिक्षित होनेके कारण एक धातुसे होनेवाले नामको भी नहीं जान सकता, बहुत धातुओंसे होनेवालेका जानना तो उसके लिये असंभव ही है।

अपिच लोकमें ऐसे भी पुरुष है. जो 'कारक', 'हारक' आदि स्पष्टक्रिय शब्दोको भी नहीं जान सकते कि—ये किन धातुओंसे बने हुए है किन्तु यह पुरुषका दोष है, शास्त्रका नहीं, क्योंकि—वह शब्दोंको अर्थके पीछे नहीं चला सकता।

शाकटायनने 'सत्य' शब्दको भी व्याख्या ठीक ही की है, वह 'सत् अर्थको ही प्रतीत कराता है।' इससे शाकटायनमत युक्त है।

गार्ग्य मुनि जिन रूढि शब्दोंको अधातुज मानते है, यह भी

ठीक नहीं है। क्योंकि—रूढि शब्दोंकी व्युत्पत्ति तथा कहीं एक धातु और कहीं अनेक धातुओंसे एक नामकी व्युत्पत्ति मन्त्र और ब्राह्मणमें देखी जाती है जोकि—हमारे सबसे बड़े या पूजनीय प्रमाण हैं। जैसे—"सर्पिः" शब्दकी व्युत्पत्ति "यद्सर्पत् १ तत्सर्पिः" इस मन्त्रमें और "नवनीत" शब्दकी व्युत्पत्ति २ "यन्नवनीतमभवन्" इस मन्त्रमें की है। इसी प्रकार ब्राह्मणमें 'हृदय' शब्दकी व्युत्पत्ति तीन धातुओंसे की है। 'हृ' हृञ् हरणे (हरति) धातु, 'द' अक्षर डुदाञ् दानेके 'ददति' रूपसे, तथा 'य' अक्षर इण् गतौके इकारके स्थानमें यकार आदेश करके लिया है। यही नहीं किया, बल्कि—इन तीनों अक्षरोंकी उत्पत्तिको जानने वालेके लिये तीन फल भी बताये हैं।

तदेतत् त्र्यक्षर ँ हृदयमिति, हृ इत्येकमक्षर † मभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद, द इत्येकमक्षरं ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद, यमित्येकमक्षरमेति स्वर्गं लोकं य एवं वेद।

(श० ब्रा० १४,८,४,१)

७म प्रतिसमाधान। "पूर्वकालीन नामकी व्युत्पत्ति अपर कालीन क्रियासे होना अयुक्त है" यह आक्षेप भी मानने योग्य नहीं है।

१—जो किसी द्रव्यपर पड़ते ही फैल जाता है।

१—जो भोजनमें नवीन निकाला हुआ ही उपयुक्त होता है। सर्पि और नवनीत यह दोनों नाम घृतके ही हैं। दूसरा मन्त्र भी सर्पि नामकी व्युत्पत्तिके लिये हो सकता है।

† हृदय नाममें 'हृ' अक्षर इस लिये है कि—जो कुछ प्राणी नाना पदार्थोंको हरण करते हैं, वह इस हृदयके लिये ही करते हैं, जो देते हैं वह इसीके तोषार्थ देते हैं इसलिये (द) अक्षर है, और हृदय या अन्तःकरण ही स्वर्गको जाता है क्योंकि—विभु आत्माका गमन संभव नहीं इसलिये यकार अक्षर है। (ऐसा अर्थ भी प्रतीत होता है)

क्योंकि-हम देखते हैं कि-पूर्वोत्पन्न द्रव्योंका नाम अपर कालीन क्रियाओंसे होता भी है और द्रव्योंका नहीं भी होता। जैसे कि—"विल्वाद:" यह नाम सत्वकी भाविनी विल्वभक्षण क्रिया की कल्पना करके भी हो जाता है। तथा पश्चात् कालमें होनेवाली चूडालम्बन क्रियासे भी किसी सत्वका "लम्बचूड़क" यह नाम पड़ जाता है।

"विल्व" शब्द भरण अथवा भेदन क्रियासे होता है। क्यो-कि—उसमें बीज भरे रहते हैं, तथा दुर्भिक्ष आदिके समय खानेवाले-का भरण (पालन) करता है। अथवा खानेके लिये वह अवश्य भेदन किया (फोड़ा) जाता है।

यहां ऐसी आपत्ति भी उठाई जा सकती है कि—अति मधुर जैसा पूर्व-उत्तर पक्षोंकी रचनापूर्वक नामके आख्यातजत्वको लेकर किस लिये यह व्याख्यान किया है ?

यह विस्तृत व्याख्यान शिष्योंको बुद्धिके वर्द्धनार्थ किया गया है, जिससे कि --वे व्युत्पन्नबुद्धि होकर अप्रतिबन्ध (बेरोकटोक) से सब ओर चलनेवाले लौकिक तथा वैदिक शब्दोंका निर्वचन कर सकें। किन्तु यह प्रयोजन नहीं कि—"कोई व्याकरण तथा निरुक्त अप्रमाण है", बल्कि वेदाङ्ग होनेसे सभी प्रमाण हैं। कोई यह नही कह सकता कि—उन्हींका फल साधु है, औरोंका नहीं। भाव यह है कि-गार्ग्य व शाकटायन आदि सभी आचा-र्योंके विचार युक्तिसम्पन्न और प्रमाण हैं। वक्ता व श्रोताकी बुद्धि वा इच्छाके विशेषसे एक पक्षकी गौणता और दूसरेकी मुख्यता प्रतीत होने लगती है। वास्तवमे सभी युक्तियां माननीय हैं।

समाप्तश्चतुर्थः पादः।

पञ्चमः पादः ।

(१ खं०)

अथापि इदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते। अर्थमप्रतियतो न अत्यन्तं स्वरसंस्कारोद्देशः। तदिदं विद्यास्थानं, व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकं च। यदि मन्त्रार्थप्रत्ययाय, अनर्थकं भवति,—इति कौत्सः। अनर्थका हि मन्त्राः, तदेतेन उपेक्षितव्यम्। नियतवाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति। अथापि ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते। "उरु प्रथस्व" इति प्रथयति। "प्रोहाणि"-इति "प्रोहति।" अथापि अनुपपन्नार्था भवन्ति। "ओषधे त्रायस्वैनम्" "स्वधिते मैनं हिंसीः" इत्याह हिंसन्। अथापि विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति। "एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः।" "असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्"। "अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे" "शतं सेना अजयत् साकमिन्द्रः" इति। अथापि जानन्तं सम्प्रेष्यति—"अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि"-इति। अथापि आह "अदितिः सर्वम्" इति। "अदिति-

द्यौरदितिरन्तरिक्षम्" इति । तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः । अथापि अविस्पष्टार्था भवन्ति । अम्यक्, याद्दृश्मिन्, जारयायि काणुकाः इति ॥

अर्थवन्तः शब्दसामान्यात् । "एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणम्-ऋग् यजुर्वा-अभिवदति" इति च ब्राह्मणम् ॥ १ ॥

(ख० २)

"क्रीलन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिः"-इति । यथो एतत् 'नियत वाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्तिः-इति । लौकिकेष्वपि एतत् । यथा 'इन्द्राग्नी' 'पितापुत्रौ'-इति । यथो एतत् –'ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते'-इति । उदितानुवादः स भवति । यथो एतत्-'अनुपपन्नार्था भवन्ति'-इति । आम्नायवचनात्-अहिंसा प्रतीयेत । यथो एतत्-विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति' इति । लौकिकेष्वयि एतत् । यथा-'असपत्नोऽयं ब्राह्मणः' अनमित्रो राजा' ,इति । यथो एतत्—'जानन्तं संप्रेष्यतिः इति । जानन्तमभिवादयते । जानते मधुपर्कं प्राह । यथो एतत् 'अदिति सर्वम्'-इति । लौकिकेष्वपि एतत् यथा-

'सुवरसा अस्मामाः पानीयम्'- इति । यथो एतत्-अविस्पष्टार्था भवन्ति'इति । नैष स्थाणोरपराधः, यदेनमन्धो न पश्यति, पुरुषापराधः स भवति । यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुषविशेषो भवति, पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति ॥ २ ॥

इति प्रथमाध्यायस्य पञ्चमः पादः ॥ १, ५ ॥

पञ्चमः पादः ।

निरुक्तका प्रयोजनान्तर ।

(व्याकरण और निरुक्त)

इस प्रकारसे आरम्भसे चतुर्थपाद-पर्य्यन्त विभागसे अवस्थित जो नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात उनका लक्षण सामान्य व विशेषरूपसे निरूपण किया गया । यह पदज्ञानरूप, निरुक्त शास्त्रका पहिला प्रयोजन है, उसी प्रकार पदार्थज्ञान भी दूसरा प्रयोजन है । अर्थात् जिस प्रकार पदज्ञानके विना मन्त्रोंमें अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती, उसी प्रकार पदार्थज्ञानके विना भी नहीं । इसीलिये शास्त्रारम्भके द्वितीय प्रयोजनको दिखानेके अर्थ यहांसे आरम्भ होता है । भाव यह है कि—इस निरुक्त शास्त्रके विना लोक तथा वेदमें पृथक् पृथक् पद रूपसे एवम् मन्त्रोंमें वाक्यरूपसे रहते हुए नाम आदिकोंके ज्ञान हो जाने पर भी वहां जो उनका समस्त मिलित अर्थ है, जिसको जानकर

कि—मनुष्यकी प्रवृत्ति तथा निवृत्ति होती है, उसका विशेष रूपसे निश्चय नहीं होता। सुतराम् इस शास्त्रके विना पदार्थकी प्रतीति अथवा वाक्यार्थको प्रतोति नहीं होतो।

पूछें कि—पदार्थ और वाक्यार्थका क्या विशेष है? ता कहेंगे कि—पदार्थ साकाङ्क्ष और वाक्यार्थ निराकाङ्क्ष होता है। एक पदार्थके ज्ञान हो जानेपर दूसरे पदार्थके ज्ञानकी अपेक्षा बनी रहती है, यही पदार्थ साकाङ्क्षता है। और वाक्यार्थके ज्ञान हो जानेपर फिर अन्य अर्थके जाननेकी कोई आकाङ्क्षा नही रहती, सुतराम् वाक्यार्थके ज्ञान होते ही पुरुषकी प्रवृत्ति तथा निवृत्ति हो जाती है। यही वाक्यार्थकी निराकाङ्क्षता है।

जैसे—किसीने "गौः" ऐसा पद कहा तो फिर आकाङ्क्षा होती है कि—क्या? उसके अनन्तर "गच्छति" ऐसा कहते ही उसको आकाङ्क्षा शान्त हो जाती है। इसी प्रकार "गच्छति" कहने पर "कः" यह आकाङ्क्षा होती है, वैसे ही "गौः" ऐसा कहते ही निराकाङ्क्षता हो जाती है। प्रयोजन यह निकला कि—"गौर्गच्छति" ("गौ जाती है") ऐसा वाक्य बोलनेसे 'गौ' वहन-दोहन आदि क्रियाओंसे पृथक् होकर गमन क्रियामें अवस्थित प्रतीत होती है। और गमन क्रिया भी अन्य अश्व आदिकोंसे अलग होकर गौमें ही अवस्थित हुई प्रतीत होती है। अर्थात् "गौः" ऐसा कहनेसे गौका बोध तो हो जाता है, किन्तु वह जाती है, या चरती है अथवा वहन-दोहन आदि क्रिया करती है, कुछ पता नहीं चलता? जब "गच्छति" (जाती है) कह देते हैं, तो अन्य सब क्रियाओंके सन्देह निवृत्त हो जाते हैं और गमनमें ही निश्चय हो जाता है, एवम् "गच्छति (जाता है) ऐसा कहनेसे घोड़ा जाता है या गौ जाती है अथवा मनुष्यादि कुछ निश्चय नहीं होता, किन्तु उसके साथ "गौः" यह पद बोलते ही जानेवालों

में जो सन्देह होता है निवृत्त होकर गौका निश्चय हो जाता है। यही पदार्थ और वाक्यार्थका विशेष है।

सो यह प्रकरणका अविरोधी वाक्यार्थ नियमसे पदार्थको लक्षित करता है, और पदार्थ पदके लक्षण को। क्योंकि—पदार्थके सामीप्यसे ही व्याकरणमें पदोंके प्रकृति प्रत्यय आदि लक्षण बताये जाते हैं।

जब कि—ऐसा है, तो अर्थको निश्चय रूपसे नहीं जाननेवाला पुरुष स्वर तथा संस्कारोंका निश्चय नहीं कर सकता। क्योंकि—अर्थके अधीन ही शब्दके स्वर और संस्कार रहते हैं।

ऐसी स्थितिमें "निरुक्त शास्त्र विद्याका स्थान है" यह सिद्ध हुआ, क्योंकि—अर्थका परिज्ञान इसीके अधीन है। इसीसे स्वर तथा संस्कारोंको अर्थके अधीन होनेके कारण यह शास्त्र व्याकरण को सम्पूर्ण बनाता है, क्योंकि—व्याकरणसे स्वर और संस्कारोंका ही विचार होता है, इससे वह अपरि समाप्त ही है जब तक निरुक्त शास्त्र नहीं पढा जाय,—इसका हेतु यह है कि—जो निरुक्त को नहीं पढा हुआ होता है, वह अर्थको निश्चय नहीं कर सकता और अनिश्चितार्थ पुरुष स्वर-संस्कारोंके तत्वको नहीं जान सकता।

प्रश्न हो सकता है कि—जब यह शास्त्र व्याकरणको सम्पूर्ण करता है, तो यह व्याकरणका एक भाग या अङ्ग ही हुआ। जैसे कि—द्रव्यके गुण होते है। और इससे इसको विद्याका स्थान कहना भी विरुद्ध है?

नहीं। क्योकि—यह शास्त्र अपने प्रयोजनको स्वतन्त्रतासे करता हुआ ही व्याकरणकी सम्पूर्णता भी करदेता है, जैसे कि—लोकमें कोई पुरुष अपने स्वार्थको साधन करनेके साथ दूसरेक अनुग्रह भी कर देता है।

यह प्रश्न, कि—गुणादिके समान अङ्गभूत है? यह भी ठीक नहीं, क्योंकि—व्याकरणका अङ्ग होता, तो जैसे "उणादयो बहुलम्" यह सूत्र उणादि शब्दोंका संग्रह करता है; उसी प्रकार "निघण्टवो बहुलम्" ऐसा सूत्र बनाकर पाणिनि मुनि इस शास्त्रका भी संग्रह कर देते, किन्तु ऐसा नहीं किया, इससे यह शास्त्र व्याकरणका अङ्ग नहीं है। इसलिये "यह शास्त्र अर्थके निर्वचनमें स्वतन्त्र है, व्याकरण तो केवल लक्षण प्रधान है" यह दोनोंका विशेष या भेद है। लक्षण नाम प्रकृति-प्रत्यय आदिका है, यह सब शब्द तक गति रखते हैं।

कौत्सके मतसे निरुक्तकी अनर्थकता।

कौत्स ऋषि कहते हैं कि—"यदि मन्त्रोंके अर्थज्ञानके लिये निरुक्त शास्त्रका आरम्भ किया जाता है, तो अनर्थक ही है, क्योंकि—मन्त्रोंका वाच्य वाचक भाव—सम्बन्धसे कोई अर्थ नहीं है। इस लिये निरुक्त शास्त्रका आरम्भ नहीं करना चाहिये।

किन्तु निरुक्त शास्त्रके पढ़नेवालोंको उनके ऐसे कथन पर ध्यान न देना चाहिये, प्रत्युत—वेद और शास्त्रोंको देखकर बातको व्यवस्थित करना चाहिये कि—वे सत्य कहते हैं या वृथा? अथवा जिन हेतुओंको अब हम दिखायेंगे, उनको समझकर मन्त्रोंका अर्थवत्व देखना चाहिये।

कौत्सके मतमें मन्त्रोंके अनर्थक होनेमें युक्तियां।

(१) मन्त्रोंमें जो शब्द पढ़े हुए हैं, पर्याय शब्द बदल कर नहीं पढ़े जाते, तथा जो शब्द पूर्व पढ़ा है, वह उत्तर नहीं पढ़ा जाता। जैसे कि—लोकमें "गामानय" गौको लेआ ऐसाभी कहते हैं; और गो शब्दके पर्याय धेनु शब्दको लेकर "धेनुमानय" भी कहते हैं। किन्तु वेदमें "अग्न आयाहि" (सा० सं० १, १, १, १) इस वाक्यके स्थानमें 'विभावसो! आगच्छ' इत्यादि वाक्य

नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार लोकमें "आहर पात्रम्" 'लेआ, पात्र' ऐसा भी कहते हैं, और "पात्रमाहर" 'पात्रको लेआ' ऐसा भी। वेदमें "अग्न आयाहि" के स्थानमें 'आयाह्यग्ने' ऐसा नहीं कह सकते। प्रयोजन यह कि—जब अर्थ के लिये शब्द बोले जाते हैं, तो वह जिस प्रकार सिद्ध हो, वैसे ही वैसे शब्द बोले जा सकते हैं, शब्दोंके क्रम तथा विशेषको नियत करनेका कोई प्रयोजन नहीं। जब कि—मन्त्रोंमें उक्त दोनों बातें नहीं हैं तो अर्थवाले शब्दोंके विरुद्ध स्थितिके कारण वे अनर्थक ही कहे जा सकते हैं।

(२) ब्राह्मण या विधि वाक्यसे जिन कर्मोंमे मन्त्र विनियोग किये जाते हैं स्वयम् उन कर्मोंको बोधन करनेकी शक्ति रखनेके कारण वे अपनेको उन कर्मोंमे विनियोग कर सकते हैं, तथापि मन्त्र ब्राह्मण वाक्यके द्वारा ही कर्मोंमें विनियुक्त होते हैं यदि ये मन्त्र अर्थवान् होते तो ब्राह्मण वाक्य इनका विनियोग नहीं करता।

भाव यह है कि—जो अपने कर्त्तव्यको आप जानता है, उसे शिक्षककी आवश्यकता नहीं होती, सुतराम् मूढके लिये दूसरे विद्वान् प्रेरकको अपेक्षा होती है, इसो रीतिसे मन्त्र अर्थशून्य होनेसे मूढ़के समान है इसीसे वह दूसरे अर्थवान् ब्राह्मण शासक वाक्यके द्वारा कर्मोंमें विनियुक्त किया जाता है।

जैसे—

"उरुमथस्वेति प्रथयति" (श० ब्रा० १, १, ६, ८)

इस ब्राह्मणका यह अर्थ है, कि "उरु प्रथस्व" इस मन्त्रसे (पुरोडाशका) प्रथन करे। अर्थात् इस विधिवाक्यने 'उरुप्रथस्व" (य० वा० स० १, २२) इस यजुःको पुरोडाशके प्रथन कर्ममें विनियोग किया, तथा यह मन्त्र भी—"हे पुरोडाश! तू फैल" अपने इस अर्थसे पुरोडाशके प्रथन कर्ममे सामर्थ्य रखता है,

क्योंकि इसके अर्थ से यह बात प्रतीत होती है। इसी प्रकार "प्रोहाणीति प्रोहति" यह ब्राह्मण, प्रोणकलशके प्रोहण कर्ममें "प्रोहाणि" इस मन्त्रको विनियोग करता है। और मन्त्र भी स्पष्ट रूपसे प्रोहणक्रियाको बता रहा है। इससे लिङ्ग सम्पन्न मन्त्रोंके विधानके कारण हम देखते हैं कि--मन्त्र अनर्थक हैं।

उपर्युक्त युक्तिसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि--ब्राह्मण विनियोजक (प्रेरक) होनेसे अर्थवान् है और मन्त्र विनियोज्य (प्रेर्य) होनेसे अनर्थक।

यदि कोई ऐसी कल्पना करे कि— ब्राह्मण ही अनर्थक क्यों न हो, मन्त्र अपने अर्थके सामर्थ्यसे ही विनियुक्त होता ?

इसका उत्तर यह है कि ब्राह्मण केवल मन्त्रका ही विनियोग नहीं करता अपितु देश, काल, कर्त्ता और दक्षिणा आदि अन्य कर्मोंके अङ्गोंको भी बताता है, वे सब कहांसे जाने जावेंगे। अतः ब्राह्मणकी अनर्थकता नहीं हो सकती। यदि बलात् ब्राह्मणकी अनर्थकता मान भी लें तो वेदके एक देश रूप मन्त्रकी अत्यन्त ही अनर्थकता होगी।

इसके अतिरिक्त यह भी है कि-यदि ब्राह्मणकी अनर्थकता मानें तो यह प्रश्न हो सकता है कि—ब्राह्मण फिर किस लिये है, जो विधि और कर्मको स्तुतिको नहीं करता ? किन्तु यदि मन्त्र-पर यह प्रश्न किया जाय कि यदि उसका कुछ अर्थ नहीं तो वह किस लिये है, तो उसका उत्तर यह दिया जा सकता है, उसका कर्मोंमें विनियोग होता है। अर्थात् ब्राह्मणका विधिके विना अन्य कोई प्रयोजन न रहनेसे उसको अर्थवान् मानना ही पड़ेगा और मन्त्रका अर्थ स्वीकार न भी किया जावे तो कोई हानि नहीं; इसलिये ब्राह्मण अर्थवान् और मन्त्र अनर्थक है यह सिद्ध हुआ।

(३) मन्त्रोंकी अनर्थकतामें यह भी कारण है कि—उनके जो

अर्थ हैं, वे किसी युक्तिसे संगत नहीं होते। अर्थात् मन्त्रोंमे जैसा अर्थ लब्ध होता है कि-- यह इनमें अर्थ होगा, वह घटता नहीं। जैसे—

"ओषधेत्रायस्व" (य० वा० सं० ४, १, ६, १५)

'हे ओषधे तू इस यजमानकी रक्षा कर।' अग्निष्टोम यज्ञमें यजमानके क्षौर कर्मके आरम्भमें उसके शिरपर कुशाका अङ्कुर या पत्ता लगाया जाता है कि पहिले छुरा शिरपर न टिककर उसी पर टिके, उस तृणके धरनेका यह मन्त्र है। किन्तु इस मन्त्रके अर्थको स्वीकार करें तो यह प्रश्न होगा कि—जब ओषधि अपनी ही रक्षा नहीं कर सकती तो यजमानकी क्या करेगी ?" तथा दूसरा मन्त्र छुरेके चलानेके लिये है—

"स्वधिते मैनꣳ हिꣳसीः" (य० वा० सं० ४, १-६, १५) इसका अर्थ है—हे क्षुर! पैनीधारवाले! तू इस यजमान की हिंसा न करना। अब देखते हैं, तो-जो छुरेसे स्वयम् यजमान के बालोंको काट रहा है, वही छुरेसे न काटनेको प्रार्थना कर रहा है। कौन ऐसा है जो ऐसा कह कर, ऐसा करेगा? लोकमें जितने ऐसे वाक्य होते हैं, वे सब उन्मत्त लोगोंके जैसे अनर्थक ही माने जाते हैं। इस लिये ये मन्त्र वाक्य भी अनर्थक ही हैं।

४—मन्त्रोंकी अनर्थकतामें और हेतु यह है कि—एक मन्त्रके अर्थको दूसरे मन्त्रका अर्थ निषेध करता या मिथ्या ठहराता है। जैसे कि—

"एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः" "असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्" (य० वा० सं० १६, ५४) "अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे" (ऋ० सं० ८, ७, २१, २) "शतं सेना अजयत्साकमिन्द्रः" (ऋ०

सं० ८, ५, २२, १) ये उदाहरण हैं। एक मन्त्रमें कहा गया है कि—'संग्राममें शत्रुओंको मारनेवाला एक ही रुद्र उठा हुआ था, कोई दूसरा न था' दूसरे मन्त्रमें कहा है कि—'पृथिवी पर असंख्य रुद्र हैं' यहां दोनों मन्त्रोंका परस्पर यह विरोध है कि—'एक है तो असंख्य कैसे' ? और 'असंख्य हैं, तो एक कैसे ?'

तथा एक मन्त्रमें कहा है कि—'इन्द्र अशत्रु था' एवम् दूसरे मन्त्रमें कहा है कि—'उसने एक साथ ही शत्रुओंकी सैकडों सेनाओंको जीता।'

यहां भी यह प्रश्न हो सकता है कि—यदि उसके कोई शत्रु न था, तो उसने शत्रुओंकी सेनाओंको नहीं जीता' और 'यदि शत्रुओंकी बहुत सेनाओंको जीता, तो वह अशत्रु न था।'

लोकमें उन्मत्त आदिकोंके ऐसे वाक्य अनर्थक समझे जाते हैं। इसीसे वे भी अनर्थक हैं।

५—मन्त्रोंकी अनर्थकतामें और हेतु यह है कि—अध्वर्यु (ऋत्विज् विशेष) जानते हुए होता को प्रैष (प्रेरणा) करता है कि—

"अग्नये समिध्यमानयानुब्रूहि" 'जलते हुए अग्निके लिये तू अनुवचनकर' किन्तु यह प्रैष निष्प्रयोजन है, क्योंकि—विधिमें विद्वान् ही होता लिया है, इस लिये वह स्वयम् जानता है कि—'इस अवधि या समयमें मुझे यह अनुष्ठान करना चाहिये' अतः जाननेवालेको ऐसा प्रेषण अनर्थक ही होता है, फलित यह कि—'जैसे यह अनर्थक है वैसे ही और मन्त्र भी अनर्थक होंगे।

६—कई ऐसे मन्त्र है, जो एक ही वस्तुको कभी कुछ और कभी कुछ कहते हैं, अर्थात् जिन जिन वस्तुओंके रूपमें एक वस्तुको बताया जाता है, वे प्रत्यक्षमें सदा ही परस्पर भिन्न हैं, जैसे—

"अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्ष

मदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।

विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना

अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥

(ऋ० सं० १, ६, १६, ५)

इस मन्त्रमें 'जो ही अदिति द्युलोक (३ द्युलोक) है वही मध्यम लोक (अन्तरिक्ष) है। एवम् वही माता, पिता, तथा पुत्र है।' ऐसी ऐसी बहुत बातें परस्पर विरुद्ध कही हुई हैं, यदि ऐसे मन्त्रोंको अर्थवान् जाना जावे तो उनका उपपादन करना अशक्य हो जायगा, इसलिये उनका अनर्थक मानना ही ठीक है।

७—इस लिये भी मन्त्र अनर्थक कहे जा सकते हैं, कि—उनमें ऐसे शब्द भी आते हैं, कि—जिनका स्पष्ट रीतिसे कोई अर्थ ही प्रतीत नहीं होता। जैसे—"अम्यक्, यादृश्मिन, जारयायि, काणुका" इत्यादि। क्योंकि—मन्त्रोंमें इनका कुछ स्पष्ट अर्थ जाना नहीं जा सकता। ऐसी कल्पना भी नहीं हो सकती कि—"मन्त्रोंमें कुछ शब्द अनर्थक हैं, और कुछ अर्थवान्"। क्योंकि—इसमे अर्द्धविशेष रह जायगा, इस लिये सारे ही अनर्थक हैं यह मानना अच्छा है।

परिसमाप्तः पूर्वपक्षः।

मन्त्रोंकी सार्थकताकी स्थापना।

१—यास्क—"मन्त्र अर्थवान् ही है" किन्तु कौत्सके कथनानुसार अनर्थक नहीं। क्योंकि—लोक और वेदमें समान ही शब्द है, अर्थात् जो 'गो' शब्द लोकमें स्वर-संस्कार युक्त है, वही मन्त्रोंमे भी है, ऐसी अवस्थामें 'वही शब्द लोकमें अर्थवान् रहे और मन्त्रोंमें अनर्थक'—इसमें कोई विशेष हेतु नहीं है। जब

कि—'विशेष हेतु नहीं है' तो शब्दोंकी समानतासे मन्त्र अर्थवान् हों हैं ।

२—कौत्सने कहा है कि—"लोकमें शब्दोंको अनियमसे प्रयोग करनेके कारण शब्द अर्थवान् हैं" और वेदमें शब्दोंके प्रयोगके नियम होनेके कारण मन्त्र अनर्थक हैं"—यह अयुक्त है । क्योंकि—लोकमें 'जो दो शब्द हैं' उनके पौर्वापर्यका परिवर्त्तन नहीं हो सकता ।

३—ब्राह्मण ग्रन्थ भी स्पष्ट रूपसे मन्त्रोंकी अर्थवत्ताको कह रहा है कि—

"एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्मक्रियमाणमृग्यजुर्वाऽभिवदति" इति च । [ब्राह्मणम्]

'यह यज्ञकर्मका समृद्ध है, वह क्या? जो रूप समृद्ध या मन्त्रलिङ्गोंसे कहा गया हो, अर्थात् किये जाते हुए कर्मको ऋचा अथवा यजू रूप मन्त्र अनुवाद करता हो ।

अब देखें कि—यदि मन्त्र अनर्थक हैं, तो कैसे कर्मको अनुवाद करेंगे? यदि अनुवाद नहीं करते तो कर्मका समर्द्धन कैसे करेंगे? सर्वथा इस ब्राह्मण वाक्यसे मन्त्रोंको अर्थवत्ता स्पष्ट उक्त होती है ।

ब्राह्मणको अनर्थकता स्वीकार करके तुम इस प्रमाणको निष्फल कर सकते हो, किन्तु तुम्हारा यह साध्य नहीं, क्योंकि—तुम पहिले ही ब्राह्मणको "ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्ते" इस वाक्यसे अर्थवान् स्वीकार कर चुके हो । इससे यह दिखाया जा चुका कि—मन्त्र अर्थवान् हैं ।

"इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ।
क्रीलन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे"

सूर्य ऋषि । अनुष्टुप् छन्द । विवाहमें विनियोग ॥ इसी अपने घरमें तुम दोनों स्त्री-पुरुष मोद या हर्षयुक्त हो। तुम कभी वियुक्त न हो।

बेटे और पोतोंके साथ क्रीड़ा करते हुए, पूर्ण आयुको भोगो। यह आशीर्वाद है। विवाह कर्मका समस्त प्रयोजन इस मंत्रमें स्पष्ट वर्णन किया है।

(पूर्वपक्षका खण्डन)

सिद्धान्तीने मन्त्रोंकी अर्थवत्ताको स्थापना कर दी, अब पर पक्षमें जो हेतु हैं, उनका खण्डन करते हैं।

१—मन्त्रोंकी अनर्थकतामें पहिला हेतु यह दिया है कि—उनमें शब्द तथा उनका क्रम नियत रहता है, हम कहते हैं कि—अर्थवाले लौकिक शब्दोंमें भी ऐसा देखा गया है, जैसे कि—"इन्द्राग्नी" "पितापुत्रौ"। जबकि—लौकिक शब्दोंमें भी नियत प्रयोग होते हुए कोई शब्द अर्थवान् है, तो मन्त्रोंको अनर्थकताके लिये वही हेतु अनैकान्तिक अथवा व्यभिचारी है। इससे मन्त्र अर्थवान् ही हैं।

२—दूसरा हेतु यह कि—'ब्राह्मणसे रूपसम्पन्न या अर्थके बोधक होते हुए भी मन्त्र विधान किये जाते हैं' ठीक नहीं। क्योंकि—उसका यह प्रयोजन नहीं कि—'मन्त्र अपने स्वरूपसे अपनेको ही विधान करनेमें समर्थ है, इस लिये उसको ब्राह्मण विधान करता है,' बल्कि—मन्त्रके कहे हुए अर्थको ही, उसकी विस्तारसे प्रशंसा या अनुमोदन करनेकी इच्छासे अनुवाद करता है। अर्थात् लोक, एकवार, संक्षेप तथा विना प्रशंसाके कहे हुए अर्थको ग्रहण नहीं करता, इसीसे मन्त्र जिस अर्थको एकवार संक्षेपसे प्रशंसाके बिना कहा जाता है, उसीको ब्राह्मण दुबारा विस्तारसे प्रशंसा पूर्वक कह देता है, और यह भी है कि—जबतक कोई बात कही हुई न हो, अचानक उसकी प्रशंसा नहीं होसकती, इसलिये जिस अर्थकी

ब्राह्मण प्रशंसा करे, वह अर्थ पहिले किसीका कहा हुआ होना चाहिये, किन्तु ऐसी आकांक्षाको सहजन्मा मन्त्रके अतिरिक्त और कौन पूरीकर सकता है। फल यह निकला कि—'मन्त्र अर्थवान् होकर भी ब्राह्मणसे विहित होता है, इससे वह अनर्थक नहीं होना चाहिये, प्रत्युत ब्राह्मणकी अर्थवत्ताके लिये उसे अर्थवान् होनेकी बड़ी आवश्यकता है। इस निर्णयके अनुसार कौत्सके मतमें, 'जो ब्राह्मणका अर्थवत्ता मन्त्रको अनर्थक बनाती थी,स्वयम् वही अब मन्त्रकीअर्थवत्ताके अनर्थक बनाती थी, स्वयम् वही अब मन्त्रकी अर्थवत्ताके बिना अपने ठहरनेका कोई आधार नहीं पाती। इस प्रकार ब्राह्मणकी अर्थवत्ताकी सहचरी बनकर मन्त्रकी अर्थवत्ता निर्विशङ्क विराजती है।

इसके अतिरिक्त ब्राह्मणकी अर्थवत्ता यो भी है कि—किसी किसी प्रकरणमें समानलिङ्ग अनेक मन्त्र होते है,जो सब समानरूपसे एकही कर्मको बोधन करते हैं, इससे या तो वे सभी कबूतरोंके समान एकदम उस कर्ममें आवें, या उनका विकल्प हो? वैसे स्थलमें किसी अभिधान एक मन्त्रका नियम कर देता है कि—इस कर्ममें यही मन्त्र लिया जाय। इस प्रकार ब्राह्मणकी स्वतन्त्र आवश्यकता है, उसके कारण मन्त्र अनर्थक नहीं हो सकते। इससे सिद्ध हुआ कि—"मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही अर्थवान् हैं।

३—जोकि—यह कहा कि—"औषधे त्रायस्वैनम्" "स्वधिते मैन ऽ हि ऽ सीः" इत्यादि मन्त्रोंका अर्थ उत्पन्न नहीं होता इस लिये मन्त्र अनर्थक है'? ठीक नहीं है। क्योंकि—जहां केश या वृक्ष आदिके छेदनमें यह मन्त्र विनियुक्त है, वहां इस मन्त्रके द्वारा औषधिके अधिदेवताको स्तुति की जाती है और उसीसे जजमान और वृक्ष आदिकोंके प्राणकी प्रार्थना है। जिससे कि—देवताकी

रूपसे निर्विघ्न पीड़ारहित संस्कृत होकर वे यज्ञकर्ममें विनियुक्त हों। इसलिये मंत्रोंके अर्थोंमें कोई अनुपपत्ति नहीं है।

४—जोकि—यह कहा कि—हिंसा करता हुआ भी कहता है कि—"स्वधिते मैनं ऽ ति ऽ सीः" इसपर कहना यह है कि-वेद वाक्यसे यह अहिंसा प्रतीत होगी।

प्रश्न होता है कि—प्रत्यक्षमें छेदन कर्म हिंसा है वह कैसे अहिंसा होसकती है?

सुनो;—'यह अहिंसा है' और यह हिंसा' यह आगमसे प्रतीत होता है। और सम्पूर्ण आगमोंमें वेद ही प्रतिष्ठित आगम है, क्योंकि—सब आगम वेदसे ही निकले हैं। इसलिये वेदमें जिस छेदनादि क्रियाका विधान है, वह हिंसा नहीं कही जासकती। इन सबका यह अभिप्राय है कि—वेदवाक्य, जो धर्मका प्रथम बतानेवाला है, उसीसे हिंसा और अहिंसाका पता चलेगा, जिसको वह हिंसा कहे वह हिंसा है,और जिसको अहिंसा कहे,वह अहिंसा। जबकि—हिंसा—अहिंसाका निर्णेता वेदही छेदनादि क्रियाका विधान करता है तो उसको हिंसा नहीं समझना चाहिये। जैसे कि कहा है,—

"या वेदविहिता हिंसा न सा हिंसा प्रकीर्त्तिता"

अर्थ—'जो हिंसा वेदमें विहित है वह हिंसा नहीं है।' क्योंकि-वैदिक आगम सारे ही जगत्के किसी एक उत्तम कल्याणके लिये उद्यत हुआ है, वह कैसे किसी प्राणीके अनिष्टके लिये विधान करता, इसलिये उसने जो कुछ किसी प्राणीके लिये छेदनादि कहा है, वह उसकी उत्तम गतिके लिये ही है।

किञ्च ओषधि, वनस्पति, पशु, मृग, पक्षी, तथा सरीसृप सब, यज्ञमें भले प्रकार उपयुक्त होकर उत्कर्ष को प्राप्त होते हैं। वह उनकी हिंसा नहीं, लाभ है।

हम समझते हैं कि—ठीक यही अभिप्राय निम्न लिखित मार्कण्डेयपुराणके सप्तशती स्तोत्रमें भी दिखाया है।

"एभिर्हतैर्जगदुपैति सुखं तथैते कुर्वन्तु नाम नरकाय चिराय पापम्। संग्राम मृत्यु मधिगम्य दिवं प्रयान्तु मत्वेतिनून महिमान्विनिहंसि देवि!" (४,१८)।

अर्थः—"हे देवि! संसारमें अशान्तिके उत्पन्न करनेवाले इन राक्षसोंको तुम समदर्शिनी होकर भी इसलिये मारती हो कि—'इनके मरनेसे सब जगत् सुखी हो, तथा ये (दैत्य) नरकमें जानेके लिये बहुत कालतक पाप करें, इसकी अपेक्षा संग्राममें मृत्युको प्राप्त होकर, स्वर्गमें जावें, अच्छा होगा।" अर्थात् भगवती उनके अनिष्टके लिये नहीं प्रत्युत उनके अभ्युदयके लक्ष्यसे उनका वध करती है इसी तात्पर्यके साथमें भगवान् वेद भी वृक्षादिकोंकी हिंसाका विधान करता है। इस रीतिसे मंत्रोंमें ऐसा कोई अर्थ नहीं जो अनुपपन्न हो, अतः—मंत्र अर्थवान् हैं।

(५) परस्पर विरुद्ध अर्थके उदाहरणसे भी मंत्रोंकी अनर्थकता नहीं है, क्योंकि—यह बात दैवतकाण्ड (७, १, ४) में स्पष्ट कही जायगी कि—'देवता महाभाग्यके योगसे एक भी अनेक होजाती है और अनेक होती हुई एक। इस कारण एक रुद्र अनेक रूप होसकती और अनेक एक, इसलिये मंत्रोंमें कोई ऐसा विरोध न होनेसे मंत्र अर्थवान् हैं।

(६) इन्द्रके शत्रुरहित होने और उसके सैकड़ों शत्रुसेनाओंके जीतनेका प्रश्न भी युक्त नहीं, क्योंकि—लोकमें भी "असपत्नोऽयं ब्राह्मणः" 'यह ब्राह्मण शत्रु रहित है' "अनमित्रोऽयं राजा" 'यह

राज्ञा कैरिशन्य है' इत्यादि व्यवहार प्रसिद्ध हैं। किन्तु लोकमें कोई शत्ररहित नहीं है। जैसाकि—कहा है—

मुनेरपि वनस्थस्य स्वानि कर्माणि कुर्वतः।
उत्पद्यन्ते त्रयः पक्षामित्रोदासीन शत्रवः।

अर्थ—मुनि जो बनमें रहकर केवल अपने कर्मोंको करता है, उसके भी मित्र उदासीन और शत्रु ये तीन पक्ष उत्पन्न होजाते हैं। तथापि किसीको कोई स्वल्पशत्रु देखकर ऐसा कह देता है कि—'वह अशत्रु है' इसी प्रकार जब इन्द्रने किसी बड़े भारी मेघका हनन किया, उस समय अन्यमेघोंकी असारता जानकर कह दिया कि—हे इन्द्र! अब तू अशत्रु होगया, जैसा कि—किसीके भारी शत्रुके नष्ट होजानेपर क्षुद्र शत्रुओंके रहते हुए भीं उसे अशत्रु कहा जावे, उसीके समान इंद्रकी अशत्रुता भी होसकती है।

यद्यपि देवताओंके कोई शत्रु नहीं होते, बलकि—वे विभुस्वतंत्र तथा महिमावाले होते हैं तथापि सैकड़ों सेनाओंके जीतनेकी स्तुति कल्पनामात्र है। क्योंकि—आगे कहेंगे कि—"जल और ज्योतिः के योगसे बर्षण कर्म होता है" वहां उपमाके लिये युद्धका वर्णन होता है" (नै० का० २, ५, २)। इसलिये हे कौत्स! तुम्हे यह ठीक नहीं दिखाई देता, निरुक्तके जाननेवालोंसे देवता तत्वको समझो, उसीसे तुम मन्त्रोंके अर्थोंको विरोध रहित जान सकोगे। इस प्रकार (जैसाकि—तुम करते हो) वाक्यके तत्वके न जाननेवालेसे मन्त्रार्थ अवगाहन नहीं किया जा सकता। क्योंकि—वेदके पदार्थ गम्भीर हैं। कैसे जानोंगे? वेदार्थके विचारमें भ्रान्त वादियोंने ही अपनी बुद्धिके लाघवके प्रकट करने के लिये सर्व-वर्णा साधारण दर्शनोंको प्रतिपादन किया है, उन्हींके चक्रमें तुम भी कहीं पड़ गये हो। अतः तुमने जो कहा है

कि—"विप्रतिषिद्धार्थ होनेसे मन्त्र अनर्थक हैं" यह तुम्हारा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि 'ये मन्त्र विप्रतिषिद्धार्थ नहीं हैं, किन्तु मन्द शिक्षाके कारण तुम्हारी बुद्धिका ही यह दोष है, इसलिये "मन्त्र अर्थवान् हैं"।

जानते हुएकी प्रेरणाका प्रश्न भी अयुक्त है, क्योंकि लौकिक अर्थवाले शब्दोंमें भी यही स्वभाव देखा गया है। जानते हुए गुरुको अभिवादन करते हुए शिष्य अपना गोत्र कहते हैं, तथा जानते हुए वर आदिको मधुपर्क देता हुआ तीनवार "मधुपर्को मधुपर्को मधुपर्क." ऐसा कहता है। इस तरह जैसे अर्थवान् शब्दोंमें भी बिहित अर्थके प्रकाश करनेके लिये शब्द प्रयोग होता है, वैसे ही वेदमें भी "अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि" इत्यादि मन्त्र जानते हुए भी होता आदिके लिये कहे जाते हैं। इसलिये मन्त्र अर्थवान् हैं।

६—जोकि—"अदितिः सर्वम्" इसमें यह आक्षेप किया कि—विभिन्न वस्तुओंको एक वस्तुमें देखना मन्त्रोंकी अनर्थकताको सिद्ध करता है। यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि—शब्दकी प्रवृत्ति दो प्रकारकी होती है, एक मुख्यार्थ और दूसरी गौणी। इससे यह स्वारस्य निकला कि—जहां मुख्य अर्थ असम्भव हो वहां गौण अर्थ स्वीकार करना। जैसे किसीने किसीके बहुत उपकार किये हैं और वह उस उपकारीसे कहे कि—'तू ही मेरी माता और तू ही पिता है' उसी प्रकार इसको भी देखना चाहिए। जिस प्रकार लौकिक अर्थवाले शब्दोंमें भी देखा गया है कि—"जिसे पानी मिल गया उसे सभी रस प्राप्त हो गये" उसी प्रकार यहां भी अदितिकी सर्वरूपता किसी तरह कही गई है। इससे जोकि—तुमसे यह कहा कि—'मन्त्रोंमें परस्पर विरुद्ध बहुत कुछ कहा हुआ है? यह

युक्त है, क्योंकि—मन्त्रोंमें सब उपपन्न होता है। तिससे 'मन्त्र अर्थवन्त् हैं' यह सिद्ध हुआ।

७—फिर यह कहा कि—मन्त्रोंमें बहुत ऐसे शब्द हैं जिनका कुछ अर्थ स्पष्ट नहीं होता, जैसे अम्यक् इत्यादि। यह भी ठीक नहीं। क्योंकि—"यह स्थाणु (ठूँठ) का अपराध नहीं कि उसे अन्धा न देखे" "किन्तु वह पुरुषका अपराध है" अर्थात् पुरुषका ही वह अपराध है कि—वह नेत्ररहित है। इसी प्रकार यहां भी मन्त्रोंका कोई अपराध नहीं है, कि—आप अशिक्षित होनेसे अर्थोंको न जाने। किन्तु वह आपका अपराध है, हे सज्जन! आप सब अपने अपराधोंको मन्त्रोंमें अथवा हमारेमें लगाना चाहते हो' वास्तवमें तुम्हें कुछ प्रज्ञा नहीं है।

जिस प्रकार लौकिक शिल्पकलादिकोंमें कोई पुरुष शिक्षित होकर अन्य पुरुषोंकी अपेक्षा उन क्रियाओंमें वह विशेष हो जाता है, उसी प्रकार यहां पर भी मन्त्रार्थकी शिक्षासे कोई पुरुष अन्य पुरुषोंसे विशेष हो जाता है। ऐसी स्थितिमें कोई पुरुष स्पष्ट मत्रोंका भी निर्वचन नहीं कर सकते और कोई गूढ़ मन्त्रोंके भी अर्थोंको स्पष्ट करनेमें समर्थ होते हैं। यही बात "उतत्वः" (ऋ० सं० ८, २, २३, ४) इस ऋचामें कही गई है।

इसी प्रकार वेद-शास्त्रके आद्यन्तके जाननेवाले ब्राह्मण जो कि—साक्षात्कृतधर्मा नहीं हैं, उनमें जो अधिक विद्वान् होता है, वही श्रेष्ठ होता है। जो ब्राह्मण मन्त्रोंके अर्थोंका विज्ञाता होता है, वही प्रशंसनीय होता है किन्तु अन्य जो मन्दबुद्धि एवम् अशिक्षित पुरुष नहीं। क्योंकि—बहुश्रुत पुरुष अनेक विषयोंवाले मन्त्रार्थमें कहीं भी रुकता नहीं, उसको कोई अर्थ भी गुप्त नहीं है। इस कारण हे कौत्स! तुम विस्तारसे सुनो! उससे तुम मन्त्रार्थोंको जानोगे।

जैसाकि—तुमने पहिले कहा है कि—'मन्त्र अविस्पष्टार्थ हैं" वे अविस्पष्टार्थ नहीं हैं, और उनको स्पष्ट करके हम व्याख्यान

भी करेंगे। यह संमोह तुम्हारी मतिको घुमाता है। इससे 'मन्त्र अर्थवान् हैं" यह सिद्ध हुआ। और इसीसे यह शास्त्र भी मन्त्रोंके अर्थके जनानेके लिये सार्थक ही हैं, इससे शास्त्रका आरम्भ भी सिद्ध हुआ। इस कारण वहां तुमने यह कहा कि—'यदि मन्त्रार्थके जाननेके लिये यह शास्त्र आरम्भ किया जाता है तो अनर्थक है' यह अयुक्त है।

इस रीतिसे वादीके हेतुओंका निराकरण हो जाने पर अपने पक्षकी सिद्धिमें हेतु उठे और मन्त्रगणकी सार्थकता तथा उसके लिये इस शास्त्रको प्रयोजनवत्ता सिद्ध हुई।

॥ समाप्तः पञ्चमः पादः ॥

षष्ठः पाद ।

(खं० १)

अथापि इमन्तरेण पदविभागो न विद्यते। "अवसाय पद्वते रुद्र मृल"-इति। पद्वत् अवसं गावः पथ्यदनम्। अते गत्यर्थस्य असौ नाम करणः। तस्मात् न अवगृह्यन्ति। "अवसायाश्वान्"-इति। स्यतिः उपसृष्टः विमोचने, तस्मात् अवगृह्यन्ति। "दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम" इति। पञ्चम्यर्थं प्रेक्षा वा षष्ठ्यर्थप्रेक्षा वा, आः कारान्तम्। "परो निर्ऋत्या आचक्ष्व"-इति। चतुर्थ्यर्थं प्रेक्षा, ऐकारान्तम्। "परः संनिकर्षः संहिता"। पद प्रकृतिः संहिता। पद प्रकृतीनि सर्वचरणानां

पार्षदानि। अथापि यज्ञे दैवतेन बहवः प्रदेशा भवन्ति। तत् एतेन उपेक्षितव्यम्। ते चेद् ब्रूयु 'लिङ्गज्ञा अत्र स्मः' इति। "इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुम्पृणन्ति" —इति। वायुलिङ्गञ्च इन्द्र-लिङ्गञ्च आग्नेये मन्त्रे। "अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्वः"-इति। तथा अग्निर्मान्यवे मन्त्रे त्विषितः-ज्वलितः। 'त्विषिः'-इत्यपि-अस्य दीप्तीर्नाम भवति। अथापि ज्ञान प्रशंसा भवति, अज्ञान निन्दा च॥ १॥

अनुवाद।

और भी इस (निरुक्त) के बिना पद विभाग (पाठ) नहीं है, या हो सकता है। [जैसे-] "अवसायं पद्वते रुद्र मृळः" [ऋ० सं० ८, ८, २७, १] हे रुद्र! पैरवाले अवस या अन्नके लिये सुखरूप हो। पद्वत्=पैरवाला, अवस=खाद्य, गोरूप,—जो पाथेय या पथिभोजन है। गत्यर्थक 'अव' धातुसे यह (अवस) नाम बनता है। इससे इसमें अवग्रह नहीं करते। "अवसायाश्वान्" [१, ७, १८, १] हे इन्द्र! घोड़ोंको [रथसे] अलग करके। यहां 'षो' (सा) अन्तकर्मणि, धातु 'अव' उपसर्गके साथ विमोचन या छोड़ देने अर्थमें है। इसीसे यहां 'अव' और 'सा' का विभाग दिखानेके लिये अवग्रह या रुककर पाठ करते हैं। "दूतो निर्ऋत्या"... [ऋ० सं० ८, ८, २३, १] हे देवगण! निर्ऋतिका या निर्ऋति से (कपोत) दूत इस (घरमें) आया। यहां [निर्ऋत्याः पदमें] पञ्चमीके अर्थका ग्रहण अथवा षष्ठीके अर्थका ग्रहण होता है।

'आः' कार अन्तम है। परो निर्ऋत्या आचक्ष्व' [ऋ० सं० ८, ८, २२, १] हे व्याधे! तू अलग जा, निर्ऋति या मृत्युके लिये कह। यहां चतुर्थीके अर्थ का ग्रहण है। [निर्ऋत्यै] ऐ कार अन्तमें है। वर्णोंका अत्यन्त सामीप्य संहिता होती है। पदोंकी प्रकृति या कारण संहिता है। अथवा पद रूप प्रकृतिसे संहिता (विकृति) है। सब शाखान्तरोंके प्रातिशाख्य या शिक्षा ग्रन्थ पदोंको ही संहितामें प्रकृति बताते हैं।

और भी [प्रयोजन], यज्ञ कर्मके होते हुए देवताका लिङ्ग मन्त्रके बहुत स्थानोंमें प्रतीत होता है, जो कि इस निरुक्तसे ही निश्चय होने योग्य है। यदि वे [याज्ञिक लोग] कहें,-कि-हम लिङ्गके जाननेवाले हैं। [तो-] "इन्द्रं न त्वाः [ऋ० सं० ४, ५, ६, २] हे अग्ने! तुझे देवता इन्द्रके समान और वायुके समान मानते हैं। इस अग्निके मन्त्रमें वायुका लिङ्ग और इन्द्रका लिङ्ग (बोधक) है। "अग्निरिव०" [ऋ० सं० ८, ३, १६, २] हे मन्यो! अग्निके समान दीप्तियुक्त होता हुआ सहन करनेवाला हो। वैसे ही यहां मन्युके मन्त्रमें अग्निका लिङ्ग है। 'त्विषित' नाम ज्वलितका है। 'त्विषि'- इसका भी दीप्ति नाम होता है।

और भी [निरुक्तका प्रयोजन।] वेदमें भी ज्ञानकी प्रशंसा होती है, और अज्ञानकी निन्दा॥ १॥—

विशेष—मूलमें 'त्विषि रित्यप्यस्य दीप्तिर्नाम भवति' इसके स्थानमें 'त्विषि रित्यपि दीप्तेर्नाम भवति'—ऐसा युक्त पाठ प्रतीत होता है। कारण 'त्विषि' यह भी दीप्तिका नाम है, यद्यपि दीप्ति नामोंमें पढा हुआ नहीं। ऐसे अर्थसे ही प्रकरणकी सिद्धि होती है।

व्याख्या ।

शास्त्रके आरम्भके प्रयोजनका अधिकार या प्रकरण चला आता है, उसीमें दूसरा प्रयोजन यह कहा गया था कि—"इस निरुक्त शास्त्रके विना मन्त्रोंमें अर्थका निश्चय नहीं हो सकता"। इसके विरुद्ध कौत्सने बहुत हेतुओंसे मन्त्रोंकी अनर्थकताका उपादन किया और आचार्यने उनके हेतुओंका खण्डन करके मन्त्रोंकी अर्थवत्ताका स्थापन किया। इस रीतिसे शास्त्रारम्भके प्रयोजन दिखानेका यह अभिप्राय है कि—शिष्यको बुद्धि किसो शब्दार्थोंके निर्णायक न्यायोंके परस्पर विरोधस्थलमें संकटमें न गिरकर सुखसे निर्णय कर ले। उसके अतिरिक्त इस शास्त्रके आरम्भका और प्रयोजन यह भी है कि—"इस शास्त्रके बिना मन्त्रोंमें पदविभागका परिज्ञान भो नहीं हो सकता है" कि—'इस प्रकारसे पद कहने चाहिये' क्योंकि—अर्थके अधीन ही पद अवस्थित होते हैं। और अर्थका ज्ञान इस शास्त्रके बिना नहीं हो सकता। इससे सिद्ध हुआ कि—'मन्त्रोंमें पदोंके विभागकी प्रसिद्धि भो इसी शास्त्रसे है'। "पदविभाग सब शाखाओंमें प्रसिद्ध है, इसलिये इसकी सत्ताको कोई किसी अवस्थामें अस्वीकार नहीं कर सकता, और इसका (पदविभागका) मन्त्रोंको अर्थवत्ताके विना कोई प्रयोजन नहीं, तथा उस मन्त्रार्थका परिज्ञान निरुक्त शास्त्रके अधीन है, इसलिये पदविभागको सार्थकताके लिये मन्त्र अर्थवान् हैं"—और उसके कारण निरुक्त शास्त्र अर्थवान् या सप्रयोजन है—ऐसा कोई आचार्य कहते हैं।

ऐसी प्रतिज्ञा करके दिखाते हैं कि—जिन मन्त्रोंमें पदविभाग अनेक प्रकारसे हो सकता है वहां अर्थके परिज्ञान द्वारा ही पदोंके विभाग विशेषका निश्चय होता है। अर्थात् जैसा मन्त्रका उच्चारण है, वह कई प्रकारकी सधियोंसे सम्भव है। इसलिये वहां अर्थके

अतिरिक्त कोई अवलम्ब नहीं है कि—जिससे, पदविभाग एक प्रकारसे स्थिर किया जाय।

मयो भूर्वातो अभिवातूस्रा ऊर्जस्वतीरोषधी रारि शन्ताम्। पीवस्वतीर्जीवधन्यः पिबन्त्व वसाय पद्वते रुद्रमृल ॥ (ऋ० सं० ८, ८, २७, १)

शबरो नाम गौतमः समयोभूरित्यहया त्रिष्टुभः पूर्वैं त्रिभिः पादैः गवामाशिष माशास्योत्तमे न ता सामेवच रुद्रात्सुखमयाचत। गवामपुपस्थाने विनियुक्ता। (भ० दु०)

मयोभूरिति चतुर्ऋं चमष्टादशं सूक्तं कक्षीवद् गोत्रस्य शबरस्यार्षं त्रैष्टुभं गोदेवत्यम्।" घासाय वनंप्रतिष्ठमानागाः आदितोद्वाभ्यामभिमन्त्रणीयाः। (सा० भा०)

आरोग्यका उत्पन्न करनेवाला पश्चिम दिशाका वायु इन गौओंके सामने चले और ये गौवें उस सुखकारी एवम् अनुद्वेग या अभय प्रद वायुके स्पर्शसे घने रसवाली ओषधियोंको चरें तथा सुख-कारी ओषधियोंका स्वाद ले लेकर अपने वाञ्छित समयमें जीवोंको प्राण देनेवाले जलको पीवें, और ओषधि सहित पान किया हुआ वह जल इन गौओंके उदरकोष्ठमें रस-शोणित-मांस-मेदा-मज्जा तथा अस्थिके रूपसे पके, एवम् ये मोटी बलवती बहुत दूधवाली हो जायें, हे रुद्र! तुम भी इस पाद (पैर) वाले गोरूप अवस नाम अन्नके लिये सुखरूप हो, अर्थात् इनकी हिंसा न कर।

दूसरा उदाहरण—

"अव सायाश्वान् "

(ऋ० सं० १, ७, १८, १)

एतयां त्रिष्टुभा कुत्स आङ्गिरस इन्द्रं तुष्टाव ।

कुत्स आङ्गिरस इन्द्रकी स्तुति करता है कि—हे इन्द्र ! तुम्हारे बैठनेके लिये मैंने जो यह स्थान किया है, तू उस पर आकर निश्चय ही बैठ, अर्थात् जिस प्रकार रस्सियोंसे बंधा तथा शब्द करता हुआ घोड़ा अपने स्थानमें स्थित होता है, उसी प्रकार मेरी स्तुतियोंसे हर्ष शब्दोंको करते हुए मेरे बिछाये हुए कुशरूप आसन पर तू दिन और रात्रिमें चलनेवालोंसे अधिक चलनेवाले अपने घोड़ोंको रथसे अलग कर रस्सियोंसे मुक्त कर, तथा उन्हें चारा देकर, अनन्तर स्वस्थ वा निश्चिन्त होकर बैठ। किन्तु तुम्हारे इस यजनकालमें हमारे लिये विघ्न उपस्थित न कर।

उक्त दोनों ही ऋचाओंमें "अवसाय" पद आता है, किन्तु पदकार पहिली ऋचामें इसको अन्नके पर्याय अदन्त अवस नामका चतुर्थ्यन्त पद समझ कर विना अवग्रह किये पढ़ते हैं। तथा दूसरी ऋचामें 'अव' उपसर्ग 'षो' अन्तकर्मणि धातु और 'क्त्वा' प्रत्ययका समस्त पद समझकर 'अव ऽ साय' ऐसा अवग्रह पूर्वक पढ़ते हैं।

भाव यह है कि-वेदके संहिता पाठके समान मन्त्रोंका एक पद पाठ भी है, जिसमें ऋषियोंने मन्त्रोंके अर्थको सुखपूर्वक जानने एवम् उसके अन्यथा न होनेके लिये आनुपूर्वीसे मन्त्रगत सब पद

१—"योनिष्टा इन्द्र निषदे अकारितमा निषीद स्वानोनार्वा ।
विमुच्यावयोऽवसायाश्वान् दोषा वस्तोर्वहीयसः प्रपित्वे ॥"
(ऋ० सं० १, ७, १८, १

अलग अलग पढ़े हैं । मन्त्रके स्वरूपमें जैसा संहिता पाठ प्रामाणिक है, वैसा ही पद-ज्ञानके लिये पद पाठ भी मान्य हैं । ऋषियोंसे उसमें अभ्रान्तिके लिये यहां तक विशेष कर दिया है कि—जहाँ दो या बहुत पदोंका समास या अविलम्बसे उच्चारण है, उनको आधी मात्राके कालसे विलम्बित कर जिसे अवग्रह कहते हैं पढ़ा है । अर्थात् यद्यपि व्याकरणमें जहाँ 'राजपुरुषः' इत्यादि पदोंमें समास हो जाता है, वहाँ उन समस्त पदोंके उच्चारणमें परस्पर एकपदके अक्षरोंका नियम माना जाता है, जिससे कि-वह अलग अलग प्रतीत न होकर अनेक होते हुए भी एक पद प्रतीत हों, तथापि वेदार्थमें ऐसा मानने पर अनेक स्थानोंमें भ्रान्तिका अधिक संभव है, इसलिये वहां उस धर्मके असाधारण या अद्वितीय आधार स्तम्भकी रक्षाके लिये उस नियमको भङ्गकर अवग्रह अर्थात् विच्छेदपाठ स्वीकार किया है, जितनेसे कि-उन पदोंकी पृथकता प्रतीत हो सके, प्रयोजन यह है कि—उस पाठमें स्वतन्त्र स्वतन्त्र पद जिस विलम्बसे पढ़े जाते हैं, उनकी अपेक्षा उनमें अल्पविलब ही किया जाता है, इससे समासका धर्म और पदोंकी पृथक्ता दोनों ही कार्य हो जाते हैं । उसी चालके अनुसार उक्त दोनों ऋचा-ओंमें अर्थभेदके जनानेके लिये पहिले मन्त्रमें अवग्रहका अभाव और दूसरेमें अवग्रह रखा गया है, किन्तु यह अवग्रह अर्थज्ञान पूर्वक किया जा सकता है, और वह अर्थज्ञान एकमात्र निरुक्त शास्त्रके अधीन है, इसलिये निरुक्त शास्त्रके बिना पदपाठ भी सिद्ध नहीं होता, अतः निरुक्त शास्त्रका यह तृतीय प्रयोजन है, जोकि इससे वेदका पदपाठ सिद्ध होता है ।

पहिले मन्त्रमें 'अवसाय' पदका 'अन्नके लिये'-यह अर्थ होता है, और दूसरेमें 'छुड़ा करके' या 'अलग करके' अर्थ होता है ।

यद्यपि उक्त उदाहरणमें अवग्रहको लेकर जो फल दिखाया है, वह निरुक्तका ही है, तथापि वह पदके अभ्यन्तरके सम्बन्धको लेकर ही है, पदविभागमें कोई विशेष नहीं आया, जिससे कि— प्रतिज्ञाके अनुसार निरुक्तका प्रयोजन पदविभाग समझा जाता, इसलिये अब ऐसा उदाहरण देते हैं जिनमें दो पदोंके मध्यमें सन्धिमात्रसे विशेष होता है और वह निरुक्त शास्त्रकी व्युत्पत्तिसे ही प्रतीत होता है। जैसे कि—

"दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम" (ऋ० सं० ८, ८, २३, १)

"परो निर्ऋत्या आचक्ष्व" (ऋ० सं० ८, ८, २२, १)

प्रथम उदाहरणमें 'निर्ऋत्याः+इदम्' तथा 'निर्ऋत्यै+इदम्' इस प्रकारसे दो तरह पदविभाग हो सकता है, क्योंकि—प्रथम स्थानमें रुत्व-यत्व और यलोप होनेसे, और दूसरे स्थानमें 'आय्' आदेश और यलोप होनेसे "निर्ऋत्या इदमाजगाम" ऐसा यथोक्त वाक्य बन जाता है किन्तु एक पक्षका स्थिर करना अर्थापेक्ष होनेसे निरुक्तके अधीन है, जिससे प्रतीत होगा कि यह पञ्चमी या षष्ठी विभक्ति है चतुर्थी नहीं। इस मन्त्रका कपोतशान्तिके लिये कपोत पद हरणमें विनियोग है। इसमें देवताओंसे प्रार्थना की गई है कि—हे देवगण! निर्ऋति (मृत्यु) के निजका दूत यह कबूतर हमारे घरमें आकर बैठा है, जो कि-हमारे पूर्वजन्मके किये हुए पाप कर्मके विपाकको अपने घुंसले या दीवारों पर पदचिन्होंसे सूचित करता है. आप उसके दूर करनेमें समर्थ हैं, इसीसे हम तुम्हारी पूजा करते हैं। इसके अतिरिक्त इस अपशकुनकी शान्तिके लिये हम निष्कृति या शान्ति भी करेंगे। इसलिये हम कहते हैं कि - तुम्हारे प्रसाद और हमारे तपसे हमारे मनुष्यों और पशुओंमें कल्याण रहे।

इसी प्रकार दूसरे उदाहरणमें भी "निर्ऋत्यै+आचक्ष्व" तथा निर्ऋत्याः+आचक्ष्व" इन दोनों विभागोंसे ही सन्धिके नियमोंसे "निर्ऋत्या आचक्ष्व" यह यथोक्त वाक्य सिद्ध हो जाता है, किन्तु निरुक्त शास्त्रकी रीतिसे निर्णय हो जाता है कि—प्रथम पदविभाग ही ठीक है दूसरा नहीं।

यह दूसरा मन्त्र दुःस्वप्नकी शान्तिके लिये पढ़ा जाता है। इसमें कहा गया है कि—

हे मनसस्पते! मृत्यो! या व्याधे! तू हमसे अलग हो जा। और अलग होकर भी, हमारे पास ही मत ठहर, किन्तु दूर जाकर रह। तथा दूर जाकर भी ऐसा दूर रह कि—फिर हमारी ओर तेरा आना न हो। और यह कि—यहांसे दूर होकर जिसका तू दूत है, उस निर्ऋतिसे बहुत प्रकारसे कह दे कि—"वह मुमूर्षु या मरनेवाला नहीं है।" क्योंकि—मेरा मन जीते हुएके समान स्वच्छ है। मेरी सब इन्द्रियां सूर्यनारायणके प्रकाशमें यथार्थ ज्ञानको उत्पन्न करती हैं, जिस पुरुषका मृत्यु निकट आ जाता है, उसका अनुभव प्रकाशमें भी ठीक नहीं होता, जो कुछ देखता है, अन्यथा अन्यथा ही देखता है।

संहिता और पद।

स्वर तथा उनके सहारे पर लगे हुए व्यञ्जनोंका जो परस्पर अत्यन्त सामीप्य उसको संहिता[1] कहते हैं।

इस संहिता और नाम-आख्यात आदि रूप पदोंके सम्बन्धमें दो मत हैं, कोई कहते हैं कि—संहितासे पद होते हैं, और कोई कहते हैं कि—पदोंसे संहिता बनती है। पहिले मतमें संहिता प्रकृति (कारण) और पद विकृति (विकार या कार्य) हैं। एवम् दूसरे मतमें पद प्रकृति और संहिता विकृति है।

१—परः संनिकर्षः संहिता। (पा० १. ४. १०९)

प्रधानताका निर्णय करके, उसी उसी देवताके कर्ममें उस उस मन्त्रके विनियोगका निर्धार करना।

यद्यपि पूर्वमीमांसा दर्शनके ३ य अध्यायके द्वितीय पादमें मन्त्रोंके विनियोगोंका निर्णय किया है, जैसे कि—७वें अधिकरणमें "इन्द्राग्नी रोचन" इत्यादि याज्या-अनुवाक्या नामक मन्त्र काम्य ऐन्द्राग्न इष्टिमें ही विनियुक्त होते हैं, किन्तु—नित्यामे नहीं। तथा ८ वें अधिकरणमें "आग्नेय्याऽऽग्नीध्रमुपतिष्ठते" "ऐन्द्र्या सदः" "वैष्णव्या हविर्धानम्" इन विधियोंमें बताया है, कि—'ज्योतिष्टोम यज्ञमे आग्नेयी (अग्नि देवताकी) ऋचासे आग्नीध्र नामक मण्डपका उपस्थान करना। एवम् ऐन्द्री (इन्द्र देवताकी) ऋचासे सदस् नाम मण्डपका तथा वैष्णवी (विष्णु, देवताकी) ऋचासे हविर्धान नाम मण्डपका उपस्थान करना।' यहां ज्योतिष्टोमके मन्त्रकाण्डीय तथा कर्मकाण्डीय प्रकरणमें जो जो अग्न्यादि देवताओंकी ऋचा पढ़ी हुई हैं, वे ही ऋचा उस उस मण्डपके उपस्थानमें विनियुक्त होती हैं, किन्तु समस्त ऋग्वेदमें जितनी इन देवताओंकी ऋचा हैं, वे नहीं। इत्यादि रूपसे मन्त्रोंके अर्थाभिधान सामर्थ्य रूप लिङ्ग, समाख्या तथा प्रकरण आदि प्रमाणोंके द्वारा मन्त्रोंके विनियोगोंका निर्णय किया है, तथापि "इन्द्रं नत्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति" (ऋ० सं० ४, ५, ६, २,) इस आग्नेय (अग्नि देवताके) मन्त्रमें मीमांसक निर्णय नहीं कर सकते कि—'अग्नि देवताका है, तो इन्द्र और वायुका क्यों नहीं? क्योंकि—इन्द्र और वायु देवताके भी नाम इस मन्त्रमें हैं। उनके दर्शनमे बहु देवताओंके संकरस्थलमें निर्णयका उपाय नहीं है और निरुक्त शास्त्रमें यह निर्णय किया है कि—'यहां कौनसा देवताका नाम प्रधान है और कौनसा गौण।'

यदि याज्ञिक या मीमांसक लोग निरुक्त शास्त्रकी उपेक्षा करके

बलपूर्वक लिङ्गके सहारे पर मंत्रोंका विनियोग करें, तो एक मन्त्रमें आनेवाले अनेक देवताओंके नामोंके गुण-प्रधान भावको न जाननेसे, वे अन्य देवताके 'मन्त्रको अन्य देवताके कर्ममें लगा देंगे, जिससे कि विधि विरुद्ध करनेसे कर्मकी समृद्धि न होगी, इतना ही नहीं बल्कि—दुष्ट यज्ञसे यजमानकी हानि भी होगी। इसलिये निरुक्त शास्त्र सर्वथा जानने योग्य है। इस प्रकार देवताके परिज्ञान द्वारा पुरुषके प्रति निरुक्त शास्त्र विशिष्ट उपकारका करनेवाला है, इसीसे यह आरम्भ करने योग्य है।

"त्वां हि मन्द्रतम मर्कशोकैर्ववृमहे महिनः श्रोष्यग्ने। इन्द्रं नत्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति राधसानृतमाः॥" ऋ० सं० ४, ५, ६. २)

भारद्वाजस्यार्षम्। आग्नेयी। प्रातरनुवाकाश्विनयोर्विनियोगः।

हे अग्ने! सब देवताओंमें अधिक कोमल हृदयवाले तुम्हीं हो, इस कारण हम ब्रह्मचर्य व्रतपूर्वक अध्ययन किए हुए वीर्ययुक्त मंत्रोंके द्वारा तुम्हारा ही सेवन करते हैं। तुम हमारे मन्त्रोंसे किये हुए स्तोत्रको सुनो। तुम केवल हमारे ही पूज्य नहीं हो, अपितु देवता और लोकमें जो धन-बलसे सम्पन्न प्रतिष्ठित मनुष्य हैं, वे सभी इन्द्र तथा वायुके समान तुम्हारी ही पूजा करते हैं।

इस प्रकार यह मन्त्र आग्नेय है, लिङ्गमात्रके दर्शनसे प्रधान देवताके आने बिना इन्द्र या वायु देवताके कर्ममें विनियुक्त होकर यह मन्त्र कर्त्ताके वांछितको पूर्ण करनेके लिये समर्थ न होगा और कर्मके विगुण होनेके कारण प्रत्युत कर्त्ताका अपध्वंस करेगा। इसलिये मन्त्र देवताके निश्चय ज्ञानके लिये निरुक्त ज्ञातव्य है।

दूसरा उदाहरण—

"अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व" इति।

(ऋ० सं० ८, ३, १६, २)

जिस प्रकार पूर्वोक्त आग्नेय मन्त्रमें वायु और इन्द्र देवताका लिङ्ग है, वैसे ही इस मन्यु देवताके मंत्रमें भी अग्निका भी नैघण्टुक वा गौण लिङ्ग है। ऐसे ऐसे अनेक देवताओंके लिङ्ग संकटस्थलोंमें निरुक्त न पढ़नेवालोंको जिनको कि-मंत्रोंके व्याख्यानके नियम विदित नहीं हैं, देवता तत्वका निर्धारण करना कठिन है।

इससे मीमांसकोंका ऐसा कहना कि—"हम लिङ्गके ज्ञाता हैं, हमें निरुक्तसे कुछ प्रयोजन नहीं है" यह अयुक्त है।

त्विषि नाम दीप्तिका है। यद्यपि यह दीप्तिके नामोंमें पठित नहीं है, किन्तु यह नियम नहीं है कि—"जो वहां जिस अर्थमें पढ़े हैं, वे ही उस अर्थके वाचक हैं" अपितु और और शब्द भी उन उन अर्थोंमें आसकते हैं।

५वां प्रयोजन। शास्त्रमें ज्ञानकी प्रशंसा और अज्ञानकी निन्दा है। ऐसी अवस्थामें "हम अनिन्द्य और प्रशंसनीय हों" इसलिये निरुक्त शास्त्र ज्ञातव्य है। क्योंकि—निरुक्तशास्त्रसे मन्त्रोंके अध्यात्म, अधिदैवत, तथा अधियज्ञ सब अर्थ जाने जाते हैं, और वे अर्थ, परिज्ञात होकर मनुष्यके उत्तम कल्याणके लिये होते हैं। इस रीतिसे यह शास्त्र अखिल पुरुषार्थोंके उपकारमें समर्थ है, इस प्रयोजनसे इसका आरम्भ न्यायसे संगत है।

(प्रमाण)—कहां ज्ञानकी प्रशंसा तथा अज्ञानकी निन्दा है—

(खं० २)

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्। योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते

नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा। यद्गृहीत मविज्ञात निगदेनैव शब्द्यते। अनग्नाविवशुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्। (शिष्टाचारस्मृतिः)

लोक और वेदमें। लोकमें जो कोई विद्वान् होता है, वह पुण्यफलार्थी जनोंसे पूजित होता है। यह तो प्रत्यक्षमें देखा ही जाता है। किन्तु शास्त्रमें भी उपरिलिखित वाक्य है।

जैसे—वृक्ष अपने पत्र-पुष्प-फलोंके धारण करनेका ही भागी है, किंतु उनके गन्ध-रस-रूप तथा स्पर्शके उपभोग सुखोंसे संयुक्त नहीं होता। ऐसे ही वह पुरुष है, जिसने वेद पढ़कर उसका अर्थ नहीं जाना। जो पुरुष अर्थको भी जानता है, किन्तु केवल पाठमात्रका पढ़नेवाला नहीं है, वह पुरुष ही सकल (अखण्डित) कल्याणको भोगता है। और क्या? इस लोकमें शिष्ट पुरुषोंका पूज्य होकर अन्तमें स्वर्गमें जाता है, जहां दुःखका नाममात्र भी नहीं है।

वह पुरुष ऐसे स्थानमें क्यों जाता है? स्वर्गमें जानेके विरोधी जितने पाप हैं वे सब उसके ज्ञानसे नष्ट हो जाते हैं। इसीसे वह स्वर्गमें जाता है। जैसा कि कहा है--

"नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।"

अर्थ—'ज्ञानके समान इस संसारमें और कुछ भी पवित्र नहीं है।

अथवा स्थाणु नाम गधेका है, वह जिस प्रकार चन्दनभारको ढोता है, किन्तु उसके गन्धका उपभोग नहीं करता ऐसे ही वह पुरुष है जो अर्थको नहीं जानता।

अज्ञानकी निन्दा—

जो गुरुमुखसे अर्थके बिना शब्दमात्रसे पढ़ता है, तथा नित्य काल ही उच्चारणमात्र करता रहता है, किन्तु कभी उसके अर्थका

विचार नहीं करता, जिस प्रकार सूखा काष्ठ अग्निसे अन्यत्र कभी नहीं जलता, ऐसे ही वह पुरुष वेदाध्ययनके भारमात्रसे सम्बन्ध रखता है किन्तु उसके फलसे नहीं।

इससे फलित यह हुआ कि—परिज्ञान, पुरुषको श्रेय तथा अभ्युदयसे संयुक्त करता है, इसलिये निरुक्त शास्त्र आरम्भ करने योग्य है।

"स्थाणु" और "अर्थ" शब्दका निर्वचन।

(नि०) स्थाणुः तिष्ठतेः। अर्थः अर्त्तेः। अरणस्थोवा॥ २॥

स्थाणुः—क्योंकि यह सदा ही स्थित या खड़ा रहता है, किन्तु कभी बैठता नहीं। इसलिये यह 'स्थाणु' है। ष्ठा (स्था) गति निवृत्तौ धातुसे बनता है।

अर्थः—(१) क्योंकि—अर्थी लोग इसे सदा ही प्राप्त करते रहते हैं, इससे यह अर्थ कहाता है। ऋ गतौ धातुसे बनता है।

(२) जब इस (अर्थ) का स्वामी इस लोकसे परलोकको जाता है, तब यह उसके साथ न जाकर इसी लोकमें रह जाता है, इसीसे यह रुपये अशरफी अर्थ कहाते हैं।

इसके सादृश्यसे शब्दका अर्थ भी अर्थ कहलाता है।

(खं० ३)

"उतत्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुतत्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्। उतोत्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्यउशती सुवासाः।

अप्येकः पश्यन्, न पश्यति वाचम्, अपिच शृण्वन् न शृणोति एनाम्।—इति अविद्वांसमाह

अर्द्धम् । अपि एकस्मै तन्वं विसस्रे, इति । स्वम् आत्मानं विवृणुते ज्ञानं प्रकाशनम्-अर्थस्य आह अनया वाचा । उपमोत्तमया वाचा-जायेव पत्ये कामयमाना सुवासाः ऋतुकालेषु । सुवासाः कल्याणवासाः कामयमाना ऋतुकालेषु । यथा स एनां पश्यति, स शृणोति,—इति-अर्थज्ञप्रशंसा ।

अनुवाद ।

एक पुरुष देखता हुआ भी वाणीको नहीं देखता, और सुनता हुआ भी इसे नहीं सुनता । यह ऋचाका आधा भाग अविद्वान्को कह रहा है । [३ य पाद-] [वाणी-] एक [विद्वान्] के लिये तन् (शरीर) को दिखाती है । अपने आत्माको फैलाती है । इस तीसरे पादसे ऋचा अर्थके ज्ञान या प्रकाशनको कहती है । उपमोत्तमा वाक् या चौथे पादसे [कहती है-] जैसे—ऋतुकालमे सुवस्त्रवाली कामयुक्त जाया (पत्नी या भार्या) पतिके लिये [अपने शरीरको] [एक पद निरुक्त] 'सुवासाः' नाम कल्याण वस्त्रवाली कामना करती हुई ऋतुकालमें । [जैसे] वह [विद्वान्] इस (वाणी) को देखता है, वह सुनता है । यह अर्थज्ञकी प्रशंसा है ।

व्याख्या ।

"उतत्वः" ० ० [ऋ० स० ८, २, २३, ४]

विद्यासूक्ते द्वे अपि एते ऋचौ बृहस्पतेरार्षम् ।

बहुतसे मनुष्योंमें सबके एकसे पीठ, पेट, हाथ तथा पैर होनेपर भी और एक गुरुसे एक साथ एक ही रीतिसे पढ़ने पर भी,

कोई पढ़नेवाला देखता हुआ भी अर्थके अज्ञानसे नहीं देखता है। क्योंकि—वही पुरुष उस वाणीको देखता है, जो उसके अर्थको जानता है। क्योंकि—वाणीमें अर्थ ही कला, या सार है। इसी प्रकार एक सुनता हुआ भी नहीं सुनता है। क्योंकि—जो अर्थको जानता है, उसीको वह ठीक सुनाई देती है, किन्तु, दूसरेको नहीं। वह केवल वाणीको उच्चारणमात्र करता है।

अब उत्तर-आधी ऋचासे अर्थके जाननेवालेकी प्रशंसा करता है।

एक, किसी अर्थज्ञके लिये वाणी अपने शरीरको खोलकर दिखाती है, अर्थात् अर्थ, वाणीका शरीर होता है, उसको उद्घाटन कर अपने आत्माको दिखा देती है।

जिस प्रकार ऋतुकालमें रजसे शुद्ध होकर, कामयुक्त स्त्री सुन्दर वस्त्र धारण करके वाञ्छित पतिको अपने आपेको दिखाती है, क्योंकि—उस समय उसको बहुत ही पुरुषकी इच्छा होती है। और जिस प्रकार पुरुष उसको यथावत् देखता है, जैसा कि—और स्त्रीको नहीं देखता, जिसने अपने शरीरको बहुत ही गुप्त कर रखा है, अथवा जो अपने आत्माको उसे दिखाना नहीं चाहती। ऐसे वही पुरुष इस वाणीको ठीक ठीक सुनता है, जो इसको पर्दोंसे खोल कर इसके समस्त अर्थको देखता है।

तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥ ३ ॥ उसकी अधिक व्याख्याके लिये अगली ऋचा है ॥ ३ ॥

(खं० ४)

उतत्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु। अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्॥ अपि एकं वाक्-सख्ये स्थिर पीतमाहुः। रममाणं निपीतार्थम।

देवसख्ये, रमणीये स्थाने इति वा । विज्ञातार्थं य न आप्नुवन्ति, वागज्ञेयेषु बलवत्सु अपि । अधेन्वा हि एष चरति मायया वाक् अतिरूपया, नास्मै कामान् दुग्धे वाग्-दोह्यान्, देव मनुष्यस्थानेषु । यो वाचं श्रुतवान् भवति, अफलाम् अपुष्पाम्, इति । अफला अस्मै अपुष्पा वाग् भवति,-इतिवा । किंचित्पुष्पफला,-इति वा । अर्थं वाचः पुष्पफलमाह, याज्ञ दैवते पुष्पफले, देवताध्यात्मे वा ॥ ४ ॥

अनुवाद ।

"उतत्वम्" [ऋ० स० ८, २. २४, ४] [१म पादार्थ-] किसी एकको विद्वद्गोष्ठी = पण्डितोंकी सभामें स्थिर-पीत कहते हैं । स्थिर नाम रममाण या निर्भयतासे डटा हुआ, पीत नाम जिसने अर्थको पान या धारण किया । [मन्त्रमें] अथवा सख्य नाम जिसमें देवताओंको प्रीति हो, उस रमणीय स्थानका है । [२य पादार्थ-] उस [जिस] अर्थके जाननेवालेको वाणीसे जाने जानेवाले गम्भीर अर्थोंमे अन्य पुरुष बिलकुल नहीं पहुंचते । [३य पाद-] [अविद्वान्को निन्दा-] वह नहीं दुहनेवाली वाणीरूप मायाके साथ फिरता है । [एकपद निरुक्त] [अधेनु] इसके लिये वाणीसे दोहेजानेवाले कामोंको नहीं देती । [कहां] देवस्थान = परलोकमें, और मनुष्यस्थान = इस लोकमे । [चतुर्थ पदार्थ] जो निष्फल और पुष्परहित वाणीको सुननेवाला है । [अर्थान्तर] अथवा इस (अविद्वान्) के लिये वाणी फलरहित और पुष्परहित हो जाती है [अर्थान्तर] अथवा कुछ पुष्प और फल देती है । [ऋषि] अर्थको वाणीका पुष्प और फल कहता है । यज्ञका विज्ञान पुष्प और देवता-विज्ञान फल है । अथवा देवता विज्ञान पुष्प और आत्मविषयक ज्ञान फल है ॥ ४ ॥

व्याख्या।

"उतत्व" [ऋ० सं० ८, २. २१, ५]।

'जिस पुरुषने वेदार्थको जानकर अपने आत्मामे स्थिर कर लिया है, उसका वेदवाणी विद्वद्-गोष्ठीमें, जहा बहुत विद्वान् किसी अर्थ-को विचार रहे हैं, एकहीको अनेक विद्वान् कहती है, अर्थात् उस एक पुरुषका कहा हुआ अनेक विद्वानोंके कहे हुएके समान है। परिशिष्ट (१३, १३) मे कहा है कि—विद्वान् पुरुष जिस जिस देवता-का निर्वचन करता है, उस उस देवताके भावको प्राप्त होता है। इसीसे विद्वान् अनेक देवताओके निर्वचन करनेसे अनेक देवतारूप होता है।

अथवा सख्य नाम देवताओके प्यारे देवलोकका है, वेदवाणी कहती है कि—"अर्थज्ञ पुरुषका देवलोकमे अक्षय निवास होता है।

किञ्च मन्दबुद्धि पुरुष, वेदके उन दुर्ज्ञेय वा दुरवघटनीय देवता परिज्ञानादि अर्थोमें जो समुद्रमें छिपे हुए रत्नोंके समान हैं, इस अर्थज्ञ विद्वान्के पीछे नही जा सकते। भाव यह है कि—जिस अर्थको वह अकेला खोल सकता है, उस अर्थको बहुतसे भी मन्दबुद्धि आकर नहीं कह सकते। यह उसका स्वतन्त्र संस्कार है, वह देखादेखी उसके समान अध्ययनादि लभ्य नहीं है।

उत्तरार्द्धसे अविद्वान्की निन्दा—

वाणी उस पुरुषके सङ्ग, इस लोक तथा परलोकमे नहीं जाती, जो इसके अर्थको नही जानता। किञ्च—जिस प्रकार कोई पुरुष मायासे सुवर्णको धारण करे, वैसे ही अनर्थज्ञ पुरुष इस वाणी-को धारण करता है। वह वाणी उस पुरुषके लिये उन कामोको नहीं दुहाती, जो उससे देवलोक या मनुष्यलोकमें दोहे जा सकते हैं। जिसने पुष्प और फल रहित इस वाणीका श्रवण किया है अर्थात् दृढ आग्रहके साथ मान लिया है, कि—'पाठमात्रके अति-

रिक्त और कुछ इसमें नहीं है" उसके लिये यह वेदवाणी वैसी अफला तथा अपुष्पा हो जाती है, जैसा उसने देखा है या उसका भाव है।

अथवा "अफला" "अपुष्पा" का यह अर्थ है, कि—किञ्चित्-फला तथा किञ्चित्पुष्पा हो जाती है। सर्वथा यह परिश्रम व्यर्थ ही नहीं है। यह भाष्यकारका अभिप्राय है।

पुष्प—फल।

वाणीका अर्थ ही उसका पुष्प तथा फल होता है। याज्ञ, दैवत और अध्यात्म यह वाणीका समुदित अर्थ है। उसीको रूपकल्पनासे मन्त्रद्रष्टा ऋषि, पुष्प और फल रूप दो विभागोंमें कहता है।—"याज्ञ दैवते पुष्पफले" "दैवताध्यात्मे वा" याज्ञके परिज्ञानको याज्ञ कहते है। देवताके परिज्ञानको दैवत, तथा आत्मविषयक ज्ञानको अध्यात्म कहते है। मन्त्र-ब्राह्मणरूप सम्पूर्ण वेदराशि इन तीन अर्थोंमें बटा हुआ है।

जब अभ्युदयरूप धर्मके अभिप्रायको लिया जाता है, तो याज्ञ पुष्प, और दैवत फल है। क्योंकि—पहिले पुष्प ही फलके लिये होता है और फिर वही पुष्प फल रूपसे परिणत होता है। इसी प्रकार यज्ञ भी देवताके लिये पहिले किया जाता है, इस सादृश्यसे याज्ञ पुष्प और दैवत फल है।

और जब निःश्रेयस (मोक्ष) रूप धर्मके अभिप्रायको लिया जाता है, तब यज्ञ-दैवत दोनों अर्थ, पुष्प स्थानमें गिने जाते हैं, क्योंकि—दैवतके भीतर ही याज्ञ भी आ जाता है, जिसमे कि—वह उसीके लिये है इसलिये अलग नहीं कहा जाता। और अध्यात्म फल है। क्योंकि—उपासक या मुमुक्षु पुरुष अपने संस्कार युक्त ज्ञानसे सम्पूर्ण दैवत ज्ञानको आत्माके ही प्रति सम्पादन करता है, जिस प्रकारसे कि—"अधियज्ञ और अधिदैवत सब

उच्छिन्न (लीन) होकर कार्य-कारणके अधिदैवताओंके द्वारा आध्यात्म ही बन जाता है। जिस प्रकार घटाकाश मठाकाशमें लय हो जाता है, और मठाकाश महाकाशमें, तथा जिस प्रकार पुष्प भावको त्याग करके पुष्प, फल भावके लिये हो जाता है, उसी प्रकार अधियज्ञ और अधिदैवत सब अध्यात्मभावको धारण कर लेते हैं। इससे याज्ञ और दैवत पुष्पस्थानमें हैं और अध्यात्म फलस्थानमें ॥ ५ ॥

(खं० ५)

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। ते अवरेभ्यः असाक्षात्कृत-धर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तः अवरे बिल्म, ग्रहणाय इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः, वेदं च वेदाङ्गानि च। बिल्मं, भिल्मं, भासनम्, इति वा। एतावन्तः समानकर्माणो धातवः। धातु-र्दधातेः। एतावन्ति अस्य सत्वस्य नामधेयानि। एतावताम् अर्थानामिदम् अभिधानम्। नैघण्टुकमिदम्। देवतानामप्राधान्येन इदम्,-इति। तद्यत् अन्यदैवते मन्त्रे निपतति, नैघण्टुकं तत् ॥ ५ ॥

अनुवाद ।

धर्मके प्रत्यक्ष देखनेवाले ऋषि हुए। उन्होंने पीछे होनेवाले तथा धर्मको साक्षात्कार न करनेवाले ऋषियोंके लिये उपदेश धर्मसे मन्त्रोंको दिया। पीछे होनेवाले ऋषियोंने उपदेशके लिये ग्लानि करते हुए बिल्मसे ग्रहणके लिये इस (निघण्टु) ग्रन्थको और वेद तथा वेदाङ्गोंको समाम्नान किया। बिल्म नाम ज्ञान बीन या प्रकाश का है। [निघण्टुका लक्षण] (जहां) इतने धातु समान अर्थवाले हैं। 'धातु' शब्द 'डुधाञ्' धारणपोषणयोः, धातुसे बनता है। इस द्रव्यके इतने नाम है; ऐसा ऐसा बताया जावे। यह [ऐकपदिक या नैगमकाण्डका लक्षण] जहां इतने अर्थोंका यह नाम है, और इसके अतिरिक्त यह नैघण्टुक (नाम) है, या देवता-

ओंके अप्राधान्यसे यह है, यह भी दिखाया जावे। [यह नैगम-काण्ड] अन्य देवताके मन्त्रमें उसीकी प्रशंसाके लिये दूसरे देवता का नाम आजावे उस नामको 'नैघण्टुक' कहते हैं। [यह 'नैघण्टुक' शब्द आद्य प्रकरणके लिये नहीं बल्कि-शब्द विशेषोंके लिये है, जो नैगम काण्डमें बताये जावेंगे।] ॥ ५ ॥

व्याख्या ।

निरुक्तकी प्रधानता ।

उत्पत्ति और उसका प्रयोजन। पूर्व ऋषि और अवर ऋषि।

जिन्होंने अपने तपोबलसे धर्मका साक्षात्कार किया है, ऐसे साक्षात्कृतधर्मा पूर्व ऋषि हुए हैं। अर्थात् पूर्व ऋषि जो सब ऋषियोंसे पहिले हुए थे, उन्होंने किसी पुरुषान्तरसे मन्त्रोंका श्रवण नहीं किया था, अपितु विनाही श्रवणके तपोमात्रसे मन्त्रोंका दर्शन किया था। धर्मके साक्षात्कारसे, धर्मसे उत्पन्न होनेवाले सुखोंके साक्षात्कारसे है, कि-उन्होंने धर्मसे उत्पन्न होनेवाले फलोंका प्रत्यक्ष दर्शन किया था, इसीसे वे वेदार्थ व धर्मके सम्बन्धमें सर्व प्रकारसे सन्देहरहित थे।

उन्हीं साक्षात्कृतधर्मा पूर्व ऋषियोने अवर या उनसे पीछे होनेवाले ऋषियोको ग्रन्थ तथा अर्थ दोनो ही रूपसे मन्त्र दिये। इन ऋषियोको पूर्व ऋषियोंके समान बिना ही श्रवणके मन्त्रोंका दर्शन नहीं हुआ था, अपितु पूर्व ऋषियोसे श्रवणके द्वारा ही मन्त्र प्राप्त हुए थे, इससे पूव ऋषियोंकी अपेक्षा इनका "श्रुतर्षि" यह विशेष नाम होता है। किन्तु उनमे भी उनसे पीछे होनेवाले पुरुषोंकी अपेक्षा इतना महत्व हुआ कि-उन्होने उपदेशमात्रसे ही अर्थ सहित मन्त्रोंका ग्रहण कर लिया, उनके लिये पूर्व ऋषियोंको उनके समझानेके लिये कुछ विशेष उपायोका अवलम्बन नहीं करना पड़ा और

न उन्होंको कुछ मन्त्रों या अर्थोका घोषण करना पड़ा।। तात्पर्य यह कि–वे अन्तःकरणकी अति पवित्रताके एक बारही कथनमात्रसे ज्ञातव्य अर्थका ग्रहण तथा धारण करनेमें समर्थ हुए थे ।

उन श्रुतर्षि महापुरुषोंने अपनेसे पीछे होनेवाले पुरुषोंको देखा कि–ये अल्पायु और मन्दबुद्धि हैं, इससे ये हमारे समान वेद व वेदार्थको सकेतसे बताने मात्रसे नहीं समझेंगे,इसके कारण ग्लानि तथा खेदको प्राप्त होते हुए, ऋषियोंने अवरजनों पर परम अनुकम्पा करके गो आदि देवपत्नी पर्यन्त (१७७०) शब्दोंके संग्रह स्वरूप ग्रन्थका निर्माण किया । यही नहीं किन्तु इसके अतिरिक्त वेद और वेदाङ्गोका भी समाम्नान किया ।

प्रयोजन यह कि–पहिले एक ही वेद था, इसलिये वह अतिमहान् और पढ़नेमें कठिन था। इसलिये उसकी अनेक शाखाभेदसे समाम्नान किया। भगवान् व्यासदेवने अवर पुरुषोके सुखपूर्वक ग्रहणके लिये यह महाप्रयत्न किया था। जैसे कि–ऋग्वेदकी इक्कीस (२१) शाखा, यजुर्वेदकी एक सौ (१००) सामवेदकी सहस्र (१०००) तथा अथर्ववेदकी नो (९) शाखाएं कर दीं। इसी प्रकार ऋषियोने वेदाङ्गोका भी विभाग कर दिया।। जैसे कि–व्याकरण आठ (८) प्रकार और निरुक्त चोदह प्रकारका करदिया। ऐसा करदेनेसे सबके छोटे छोटे रूप होगये । "शक्तिहीन तथा अल्पायु पुरुष यथाप्रयोजन सुखपूर्वक पढ सकेंगे", यही प्रयोजन इस प्रयत्नका था।

"बिल्म" शब्द भाष्यका है, उसका निर्वचन स्वयम् करते हैं—

(क) **बिल्म** नाम भिल्म. वेदोका भेदन या व्यासका है ।

(ख) भाषण

(ग) भास्वन (प्रकाशन) क्योंकि-वेदाङ्गोंके ज्ञानसे वेदका अर्थ प्रकाशित होता है। उक्त व्युत्पत्तियोंके अनुसार "बिल्म" शब्द "भिद्" या "भास्" धातुसे बनता है।

निघण्टुशास्त्रकी विरचना ।

"निघण्टु" शास्त्रकी रचना तीन भागोंमें कीगई है।

१—पहिला भाग "नैघण्टुक" है। जिसमें "इस द्रव्यके इतने नाम हैं" "इतने समान अर्थ वाले धातु हैं" ऐसी ऐसी पदोंकी राशि दिखाई गई हैं।

इस प्रकरणमें 'इतने इस द्रव्यके नाम हैं' इस प्रकार जो नामोंकी संख्या बनाई गई है, वह उसी प्रकार स्वीकार करने योग्य है। जैसे कि—"पृथिवीके इक्कीस (२१) नाम हैं" यहां इक्कीस (२१) संख्या ग्राह्य है। इसी प्रकार धातुओंमें जो संख्या बताई है वह भी उसी प्रकार ग्राह्य है। जैसे-"गतिकर्माण उत्तरे धातवो द्वाविंशतशतम्" 'आगेके एकसौ बाईस (१२२) गति अर्थ वाले धातु हैं' तथा "कान्तिकर्माण उत्तरे धातवोऽष्टादश" 'आगे अठारह, (१८) कान्ति अर्थ वाले धातु हैं' यह १८ संख्या है। इत्यादि।

अर्थात् जहां उपर्युक्त दोनों बातें या और कुछ प्रसङ्ग प्राप्त बिचारा जावे, वह नैघण्टुक काण्ड है। "गौः" पदसे "जहा" शब्दसे पूर्व जितने शब्द हैं, वे उक्त सञ्ज्ञानसे बोले जाते हैं।

२—दूसरा भाग "नैगम" या "ऐकपदिक" काण्डके नामसे बोला जाता है। इस काण्डमे "इतने अर्थोंका यह नाम है" यह अर्थ विचारा जाता है। जैसे—"आदित्य भी 'अकूपार' है" और "समुद्र भी 'अकूपार' है" ऐसे ऐसे अनवगत संस्कार "जहा" आदि निगम शब्द विचारे जाते हैं। जिनका अर्थ

मन्त्र आदिके साक्ष्य पर निर्णय करके संस्कार स्थिर किया जाता है कि—यह किस धातु और किस प्रत्ययके योगसे बनना चाहिये।

प्रसंगसे अन्य अन्य भी उपयुक्त बातें विचारी जाती हैं। जिन शब्दोंके निर्वचनसे यह प्रतीत होता है कि—इनके प्रधान या विशेष्य मन्त्रोंमें और और पद भी है, ऐसे शब्दोंके निर्वचनका जो भाग है, वह नैगम या ऐकपदिक कहा जाता है।

"नैघण्टुक" शब्दका अर्थ।

जो पद अन्य देवताकी प्रधानतावाले मन्त्रमें, उस देवताका विशेषण होजाता है, वह नैघण्टुक (गौण) कहलाता है। अर्थात् इस शास्त्रमें ऐसे पदोंकी "नैघण्टुक" यह संज्ञा है ॥ ५ ॥

(खं० ६)

"अश्वं न त्वा वारवन्तम्।" अश्वमिव त्वावालवन्तम्। 'वालाः' दंशवारणार्था भवन्ति। 'दंशः' दशतेः। मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः"। मृग इव भीमः कुचरो गिरिष्ठाः। "मृगः" मार्ष्टेर्गति कर्मणः। "भीमः" बिभ्यति अस्मात्। 'भीष्मः' अपि एतस्मादेव। "कुचरः,"-इति, चरति कर्म कुत्सितम्। अथ चेद् देवताभिधानम्—क्वाऽयं न चरति, इति। "गिरिष्ठाः" गिरिस्थायी। 'गिरिः' पर्वतः। समुद्गीर्णो भवति। पर्ववान् 'पर्वतः'। 'पर्व' पुनः पृणातेः। प्रीणातेर्वा। अर्द्धमासपर्व। देवान् अस्मिन्

प्रीणाति,-इति । तत्प्रकृति इतरत्, सन्धिसामा-न्यात् । मेघस्थायी । मेघोऽपि गिरिः, एतस्मादेव ।

तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद् 'दैवतम्' -इत्याचक्षते । तद् उपरिष्टाद् व्याख्या-स्यामः । नैघण्टुकानि इह इह ॥ ६ ॥

अनुवादः ।

"अश्वं न०० ' [ऋ० सं० १, २, २२, १] । [पादार्थ-] अश्वके समान बालवाले तुझको । [व्याख्या पद निरुक्त] 'बाल' जो दंशो या मच्छरोंके हटानेके अर्थ हों । [व्याख्याकी व्याख्याके पदका निरुक्त] 'दंश' शब्द 'दंश' दशने धातुसे बनता है । "मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः" [ऋ० सं० ८, ८, ३८, २] [पादार्थ-] हे इन्द्र ! तू मृगके समान भीम कुचर और गिरिष्ठा है । [यहां 'इन्द्र' प्रधान और 'मृग' शब्द नैघण्टुक है] [एक पद निरुक्त-] 'मृग' गत्यर्थक 'मृज्' धातुसे होता है । 'भीम' जिससे प्राणी डरें । [समान शब्दका निरुक्त-] 'भीष्म' शब्द भी इसी ['ञिभी' भये] धातुसे बनता है । [एक पद निरुक्त-] 'कुचर' जो कुत्सित या बुरा कर्म करता है । और जो देवताका कथन हो,-[तो-] कहां यह नहीं जा सकता, अर्थात् सर्वत्र जानेके सामर्थ्यसे 'कुचर' है । 'गिरिष्ठाः' गिरिमें रहनेवाला । 'गिरि' पर्वत । [क्योंकि-] वह ऊपरको निकला हुआ होता है । [व्याख्या-पद निरुक्त-] पर्ववाला होनेसे पर्वत है । [विग्रहपद निरुक्त-] 'पर्व' नाम जो पूर्ण करे, अर्थात् (शिला) सन्धि । अथवा तृप्ति अर्थवाले 'प्री' धातुसे 'पर्व' बनता है । [अर्थ-तत्व-] आधे मासकी सन्धि [अमावास्या या पूर्णिमा] । [क्योंकि-] इसमें देवताओंको हवियोंसे तृप्त किया जाता है । [यह] दूसरा

(पर्व) भी उसीको प्रकृति या स्वभाववाला है। [क्योंकि-] दोनोंमें सन्धि धर्म समान है। [पहिलेमें शिलासन्धि और दूसरेमें काल सन्धि है] । [देवपक्षमे] 'गिरिष्ठा' नाम मेघमें रहनेवालेका। [क्योंकि-] 'गिरि' नाम मेघका भी है। उसी धर्म [ऊपरको उठा हुआ होने] से ॥

विशेष-दूसरे उदाहरणमें उपमान मृग या सिंह और उपमेय इन्द्र दोनोंके भीम, कुचर, और गिरिष्ठा, तीनों विशेषण हैं। 'भीम' का दोनों पक्षोंमें समान अर्थ है और अन्य दोनोंका अलग अलग जैसा कि अनुवादमे दिया गया है।

अनुवाद।

[मन्त्रोंमें] प्रधानतासे जिन देवताओंकी स्तुति होती है, उनके सब नामोको 'दैवत' [काण्ड] कहते हैं। उसकी व्याख्या पीछे करेंगे। यहां नैघण्टुक शब्दो (गौण शब्दो) की व्याख्या होगी। दूसरा 'इह' शब्द अध्यायकी समाप्तिके सूचनके लिये है, अथवा एक 'इह' शब्द 'गौः' आदि नैघण्टुक काण्डके अभिप्रायसे और दूसरा नैगम काण्ड जो 'जहा' आदि शब्दोंका समूह रूप है, उसके लिये है।

व्याख्या।

[उदाहरण] **अश्वं न त्वा वारवन्तं वन्दध्या अग्निं नमोभिः। सम्राजन्तमध्वराणाम्।** [ऋ० सं० १, २, २२, १]

शुनःशेपस्य आर्षं, गायत्री, वारवन्तीयानुशासने विनियुक्ता। साम्नश्च वारवन्तीयस्य एषः योनिः।

हे अग्ने! जैसे बालवाले घोड़ेकी परिचर्या या सेवा की

जाती है, वैसे ही हम तुम तेजवाले और अध्वरों या यज्ञोंके सम्राट्को नमस्कारोंसे वन्दना करते हैं। इस ऋचामें 'अश्व' शब्द नैघण्टुक या गौण है और 'अग्नि' प्रधान, यह इसके अर्थसे ही प्रतीत होता है।

उदाहरणके शब्दोंकी व्याख्या।

'अश्वं, न' अश्वमिव। अश्वके समान।

'वारवन्तम्' वालवन्तम्। बालवालेको।

व्याख्या प्रसक्तकी व्याख्या—

'वालाः' दंशवारणार्था भवन्ति। मच्छरोंके वारण करनेवाले।

व्याख्याकी व्याख्यामें आये हुएकी व्याख्या।

'दंशः' दशतेः। काटनेवाला या डसनेवाला।

(२)—"मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावत आजगन्था परस्याः। सृकं संशाय पविमिंद्र तिग्मं वि शत्रून् ताळ्हि वि मृधो नुदस्व॥"(ऋ० सं० ८.८, ३८, २)

गयो नामेन्द्रपुत्रः, तस्येयमार्षम्। त्रिष्टुप्। वमृधस्य हविषो याज्या।

इस ऋचामें इन्द्र प्रधान है, और "मृग" नैघण्टुक (गौण)।

हे इन्द्र! तू दूर द्युलोकसे हमारे इस कर्ममें आ। और अपने वज्रको तीखा करके पर्वतचारी अन्य प्राणियोंको संहार करनेवाले भयानक सिंहके समान हमारे शत्रुओंको मार, तथा जिनको न मारना चाहे, उनको दूर ले जा, जिसमें कि—वे फिर न आवें।

उदाहरण ऋचाके शब्दोंकी व्याख्या।

"मृगः" सिंह अथवा व्याघ्र। गत्यर्थक 'मृज्' धातुसे बनता है।

"न" इव। समान।

"भीमः" बिभ्यति अस्मात्। जिससे अन्य प्राणी या शत्रु डरें 'ञिभी' भये धातुसे बनता है।

"भीष्मः" यह शब्द मन्त्र और उसकी व्याख्यामें नहीं है, किन्तु 'भीम' शब्दके सादृश्यसे आया है। वही धातु और वही अर्थ है।

"कुचरः" (१) 'चरति कर्म कुत्सितम्' निन्दित कर्मका करनेवाला। (२) देवताके पक्षमें 'क्वायं न चरति' कहां नहीं जा सकता? अर्थात् सब स्थानोंमें विचरनेवाला।

"गिरिष्ठाः" 'गिरिस्थायी' पर्वतमें रहनेवाला।

"गिरिः" 'पर्वतः' पहाड़। क्योंकि—वह पृथ्वीसे उगला हुआ रहता है।

"पर्वतः" 'पर्ववान् भवति' क्योंकि—उसमें शिला शिखरोंकी सन्धियां रूप पर्व रहते है।

"पर्व" (१) 'पृणाति पर्वतम्' 'पृ' धातु (पूरणार्थक) से बनता है। क्योंकि—शिलाओंके शिखरोंकी सन्धियां पर्वतको पूर्ण या व्याप्त कर देती हैं (२) अथवा प्रीञ् तर्पणे धातुसे बनता है, पूर्णिमा या अमावस्याका नाम है। क्योंकि—इनमें देवताओंकी तृप्ति की जाती है।

जिस प्रकार 'पर्व' शब्दका शिलासन्धिके अतिरिक्त अर्द्ध मास सन्धि या पक्ष सन्धि अर्थ हो जाता है, वैसे ही 'गिरिष्ठा' शब्दका भी 'पर्वस्थायी' अर्थके अतिरिक्त 'मेघस्थायी' भी होता है, क्योंकि—मेघ भी अन्तरिक्ष या आकाशमें उगला हुआ होता है, इससे

वह 'गिरि' शब्दका वाच्य होता है। यह अर्थ देवपक्षमे लिया जाता है अर्थात् पर्वतमें सिंह और मेघमें इन्द्र रहता है, इसलिये यह विशेषण दोनों पक्षोंमे उपयुक्त होता है।

उपसंहार।

निरुक्त शास्त्र उक्त रीतिके अनुसार तीन प्रकरणोंमें विभक्त है। नैघण्टुक, नैगम, और दैवत। मन्त्रोंमें सर्वत्र ही दैवता पद मुख्य या विशेष्य होता है, क्योंकि—उनमें देवताओंकी स्तुति ही होती है, इसलिये देवता पदोंके अतिरिक्त सब पद देवताकी प्रशंसाके लिये होते हैं, इससे वह सब विशेषण होते हैं, मन्त्रोंमें प्रधानतासे जिनकी स्तुति की जाती है वे देवता है, उनके नाम जो 'अग्नि' आदि 'देवपत्नी' पर्यन्त १५१ शब्द है, एक स्थानमे संग्रह किये हुए हैं, वे ही मन्त्रोंमे विशेष्य पदके रूपमे आते है। ये ही समुदित शब्द 'दैवत' इस रूढ संज्ञासे बोले जाते हैं। इनकी व्याख्या शास्त्रके अन्त या पिछले भागमें की जावेगी, क्योकि—विशेषण शब्दोंके अर्थ-ज्ञानके पश्चात् उनके अर्थके जाननेमे सुभीता रहेगा, इसके अति-रिक्त यह भी है कि—"निघण्टु" ग्रन्थमें कुल १७७० शब्द है, उनमें १५१ शब्द देवताओंके वाचक या विशेष्य है, शेष १६१९ शब्द विशे-षण हैं, इस रीतिसे विशेषण शब्दोंकी संख्या अधिक होने पर भी व्याख्या अल्प और सुगम है, एवम् दैवत शब्दोंकी संख्या अत्यल्प होनेपर भी व्याख्या अधिक और गम्भीर तथा सूक्ष्मबुद्धिग्राह्य है, इस बुद्धि गौरवके कारण ही दैवत काण्डकी व्याख्या अन्तमें ही की जायगी। यहां पर पहिले नैघण्टुक तथा नैगम प्रकरणमें विशेषण शब्दोंकी व्याख्या की जायगी।

आचार्यने इस बात पर बड़ा ही ध्यान रखकर निरुक्तशास्त्रकी रचना की है, कि—मनुष्योंको इस शास्त्रके द्वारा देवता तत्वका

परिज्ञान तथा उससे मिलनेवाले फलका लाभ किस प्रकार सुख-पूर्वक हो ?

'गोः' पदसे आरम्भ करके "देवपत्नी" पर्यन्त जो कुल शब्द इस शास्त्रमें हैं, उन सबका "निघण्टु" नाम है, उसके एक भागको "नैघण्टुक" कहते हैं, जिसमें "गौः" पदसे आरम्भ कर 'जहा" शब्दसे पूर्व पूर्व परिगणित शब्द आये हैं ।

इस शास्त्रकी लोक व्यवहारसे "निघण्टु" सञ्ज्ञा, और उसके उपर्युक्त भागके प्रथम अध्यायसे तृतीय अध्याय पर्यन्त ग्रन्थके रूपमें है, भाष्य व्यवहारसे "नैघण्टुक" संज्ञा है ।

"जहा" शब्दसे (पीछे और "अग्निः" पदसे पूर्व) पूर्व जितने शब्द हैं, वे सब मिलकर "नैगम" और ऐकपदिक इन दो संज्ञाओंसे व्यवहृत होते हैं । यह प्रकरण निघण्टु शास्त्रके चतुर्थाध्यायके रूपमें है । इन दोनों प्रकरणोंमें नैघण्टुक तथा नैगम शब्दोंकी व्याख्या होगी ।

षष्ठः पादः समाप्तः ।

प्रथमाध्यायश्च परिसमाप्तः ।

१ खण्ड सूत्र--

समाम्नायः (१) तत्र[1] चतुष्ट्वम् (२) अतोऽन्ये[2] (३) अथ[3] निपाताः (४) वायुर्वात्वा[4] (५) न नूनम् (६) नूनं सा ते (७) ऋचान्त्वः (८) असरावन्तः[5] (९) निष्ट्[6]व-क्त्रासः (१०) हविर्भिः (११) इतीमानि (१२) अथा-पि यः (१३) यथोहि[7] नु (१४) अथापीदम् (१५) अर्थ[8]-वन्तः (१६) अथापीदम् (१७) स्थाणुरयम् (१८) उतत्वः पश्यन् (१८) उतत्वं[9] सख्ये (२०) विंशतिः (२०) ॥

इति निरुक्ते पूर्वषट्के प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

१—"गौरश्वः ०—० औदुम्बरायणः" इतना भाग १ खण्डका इसमें सम्मिलित है, तथा इसी खण्डका भाग "षड्भाव विकाराः" तीसरा खण्ड है।

२—इसका एक भाग "आ इत्यर्वागर्थे" यह ५वां खण्ड किया हुआ है। (१मः पादः)

३—"चिदित्येषः" २रा और "वृक्षस्यनु" ३रा खण्ड इसीके अश हैं।

४—यह "वृक्षस्यनु" इस खण्डके अन्तमें सन्निविष्ट है। और "अह इतिच" यह इसीका भाग है। (द्वितीयः पा०,)

५—इसका अन्तिम भाग "पर्य्याया इव ०—० कर्मोमिद्धिनि" अगले खण्ड निष्ट्वक्त्रासः" के आदिमें है।

६—इसका अन्तिम भाग "सुविदुरिव ०—० परिभये" अगले "हविर्भिः" खण्डके आदिमें संयुक्त है। (३यः पादः)

७—इसीका भाग "अथाप्येवम्" पर खण्ड है। (४र्थः पादः)

८—यह पूर्व खण्डके अन्तमें संयुक्त है, इसीका शेष क्षीलन्तौ यह पर खण्ड है। (५मः पादः)

९—इसीके भाग—"साक्षात्कृतधर्माणः" और "अश्वं न त्वा" ये खण्ड हैं।

हिन्दी-निरुक्त ।

द्वितीयाध्यायस्य--

प्रथम-पादः ।

(खं० १)

ॐ । अथ निर्वचनम् । तद् येषु पदेषु स्वर संस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेन अन्वितौ स्यातां, तथा तानि निर्ब्रूयात् । अथ अनन्विते अर्थे, अप्रादेशिके विकारे अर्थ नित्यः परीक्षेत, केनचिद्वृत्ति सामान्येन । अविद्यमाने सामान्येऽपि अक्षरवर्ण सामान्याद् निर्ब्रूयाद्, नत्वेव न निर्ब्रूयाद्, न संस्कार माद्रियेत । विषयवत्यो हिवृत्तयो भवन्ति । यथार्थं विभक्तीः, सं नमयेत् । 'प्रत्तम्' 'अवत्तम्'-इति धात्वादीएव शिष्यते ॥ १ ॥

अर्थ—[क्योंकि—निर्वचनके लक्षणके बिना शब्दोंकी व्याख्या नहीं हो सकती,] इसीसे निर्वचनका [लक्षण कहते हैं ।] [जिस व्युत्पत्ति या व्याख्याके द्वारा शब्दका अर्थ, उसके भागों (प्रकृति-प्रत्यय आदिकों) से प्रतीत हो जावे, उस व्याख्याको 'निर्वचन' कहते हैं ।] वह [इस प्रकार होना चाहिए-] जिन पदोंमें स्वर

और संस्कार समर्थ या समान अर्थमें हों, और प्रादेशिक या क्रिया-वाचक धातुसे संयुक्त हों, वहां उन्हें उसी प्रकार निर्वचन करे। यदि और ही प्रकारका अर्थ हो, और और ही प्रकारका शब्द हो, तो अर्थ प्रधान होकर, किसी क्रिया या गुणकी समानता को लेकर, शब्दकी व्याख्या या निर्वचन करे। यदि वैसी भी समानता न पावे, तो अक्षर या वर्णका सादृश्य लेकर ही निर्वचन करे। किन्तु 'न निर्वचन करे और न संस्कारका आदर करे'— ऐसा न हो। क्योंकि—शब्दकी वृत्तियां संशय युक्त होती हैं। [इसी प्रकार] विभक्तियोंका अर्थके अनुसार विपरिणाम करना। 'प्रत्तम्' 'अवत्तम्' यहां पर धातुके आदि अक्षर ही शेष रहते हैं ॥१॥

व्याख्या

"अथ निर्वचनम्"।

नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपातका लक्षण कहकर, शास्त्रके प्रयोजन, प्रयोजन-सहित वेद तथा वेदाङ्गोंके भेद, तीन प्रकरणोंके विभागसे, निघण्टु समाम्नायकी रचना बताकर, दैवत-काण्डको अवशेष रखकर, नैघण्टुक तथा नैगम दोनों काण्डोंको साम्हने रख कर कहा है कि—इनमें नैघण्टुक और नैगम शब्द कहे जाँयगे। किन्तु निर्वचनके लक्षणके बताये बिना उनकी व्याख्या नहीं हो सकती। इस कारण पहिले निर्वचनका लक्षण या उन शब्दोंकी व्याख्या करनेके नियम कहते हैं।

निर्वचन—परोक्षवृत्ति और अतिपरोक्षवृत्ति शब्दोंमें धातु-प्रत्यय आदिके विभाग दिखाकर, उनके अर्थको कहना ही, निर्वचन है।

यहां दो प्रकारके शब्द हैं, समर्थ-स्वर-संस्कार और असमर्थ-स्वर-संस्कार।

१—इनमें जो प्रथम 'समर्थ-स्वर-संस्कार' शब्द हैं, जिनमें कि—स्वर (उदात्त, आदि) और संस्कार (प्रत्यय, आदि) क्रिया-

वाचक, धातुसे सयुक्त हों, अर्थात्—व्याकरण शास्त्रकी रीति-से उन शब्दोंमें जैसा प्रकृति और प्रत्यय विभाग, बताया है, वह सब उन शब्दोंके स्वर तथा अर्थके अनुकूल हों, किन्तु कोई विरोध न करता हो, तो वहां व्याकरणकी रीतिसे ही उन शब्दोंका व्याख्यान या निर्वचन करना। वहां निरुक्तके लक्षणके अनुसार व्याख्या करनेका प्रयोजन नहीं है।

२—जिन शब्दोंमें व्याकरण-शास्त्रकी विधिसे बहुत निपुणतापूर्वक देखनेसे भी स्वर-संस्कार, सहित धातुके द्वारा शब्द वा अर्थ-की कल्पना नही की जा सकती है; अर्थात्—व्याकरणकी रीति पर जो कुछ किया जाता है, उससे वहांके शब्द व अर्थ-की सिद्धि न होकर और ही शब्द या अर्थ बनता दिखाई दे, वहां व्याकरणके अवलम्बको छोड़कर अर्थ-नित्य या अर्थ प्रधान होकर शब्दोंकी परीक्षा करे। प्रयोजन यह है कि—उस नामको देखकर उसमें किसी धातु या अर्थका कुछ सादृश्य (सामान्य) दिखाई दे, कि—इस धातु या क्रियाका इसमें कोई सम्बन्ध है, उसीसे उसका निर्वचन कर लेना, क्योंकि—अर्थ प्रधान और शब्द, गुणभूत या गौण हैं। इसीसे शब्द सादृश्यकी अपेक्षा अर्थका सादृश्य अधिक बलवान् होता है।

३—जहां एक शब्दके साथ दूसरे शब्दका अर्थ सादृश्य भी नहीं है, वहां पर अर्थकी समानता न रहने पर भी, स्वर या व्यञ्जन-के सादृश्यको लेकर ही निर्वचन करे, किन्तु ऐसी अवस्थामें भी, व्याकरणोक्त संस्कारोंका आदर न करके, शब्दके निर्व-चनकी टाल न करे।

इस प्रकार अर्थके सामान्य रूपके न होने पर भी स्वर अथवा वर्णके सामान्य मात्रसे भी निर्वचन अवश्य ही करे, ऐसा बिलकुल

न हो कि—निर्वचन न करे ; क्योंकि—ऐसा न होनेपर निरुक्त-शास्त्र अनर्थक ही रहेगा ; किन्तु ऐसा न हो ! इसीसे यह कहा है, कि—"जिन शब्दोंमें व्याकरणके नियम (सूत्र) नहीं घटते हों, उनमें उनका आदर न करे"।

तो फिर क्या करे ? अर्थ-सामान्य या शब्द सामान्यको लेवे। जैसे कि—'प्रवीण' 'उदार' और 'निस्त्रिंस' शब्द, अपने अभिधेय (स्वभाव प्राप्य) अर्थके सम्बन्धको छोड़कर, क्रियाके सामान्य रूप हेतुको ही लेकर अन्य ही अर्थोंमें रहते हैं।

यथा—"प्रकृष्टो वीणायां प्रवीणो गान्धर्वे"—

'प्र' और 'वीणा' इन दो शब्दोंसे 'प्रवीण' शब्द बना है। जिसका मुख्य अर्थ यह हो सकता है कि—वीणाके बजानेमें बहुत अभ्यासी है ; अथवा गन्धर्व शास्त्रमें बड़ा चातुर या योग्यतावान् है। किन्तु यह शब्द अपने गन्धर्व-पाटव-रूप मुख्य अर्थको छोड़ कर, केवल अभ्यासके पाटव या चतुराईको लेकर सभी जगह प्रवृत्त हो गया है। अर्थात् 'जो पुरुष जिस कर्ममें कुशल है, वही 'प्रवीण' शब्दसे बोला जाता है'। जैसे 'प्रवीणो व्याकरणे' व्याकरणमें प्रवीण है। 'प्रवीणो निरुक्ते' निरुक्तमें प्रवीण है। तात्पर्य यह है कि—इस शब्दने अपने मुख्य अर्थमेंसे गांधर्व-विद्याके सम्बन्धको छोड़ दिया है, और वे भाग अर्थात् अभ्यास-पाटव, जो अन्य अन्य स्थानोंमें भी है, ले लिया है। जो अर्थका भाग अनेक स्थानोंमें मिलता है, उसीको अर्थका सामान्य या साधारण भाग कहते हैं, अर्थ सामान्यसे निर्वचनके स्थानमें इस बात पर ध्यान रखना चाहिये।

ऐसे ही 'उदार' शब्द है, यह शब्द 'उद्' और 'आर' शब्दसे बना है। उद्का अर्थ 'उद्गत' है, चला गया या दूर हो गया, अथवा उड़ गया। 'आर' नाम उस लोहेके कांटेका है, जिसे गाड़ी-

वान् लोग घोड़े या बैलके चुभानेके लिये किसी पतली लाठीमें लगाये रखते हैं।

जो घोड़ा या बैल अपने ऊपर आरके आनेसे पहिले ही गाड़ीवान्के अभिप्रायको जानकर पहिले ही चल पड़ता है, वो 'उद्गतार', अर्थात् जिससे सदा ही आर दूर रहता है, उस घोड़े या बैलमें, इस शब्दकी उचित वृत्ति है, किन्तु यह अपने उस उचित अर्थको छोड़कर केवल 'अभिप्रायके अनुसार करने' को निमित्त बनाकर ही सर्वत्र प्रवृत्त हो जाता है। जो कोई किसीको,—उसके अभिप्रायको—जानकर ही, उसके मांगनेसे पहिले ही, दे देता है, वह 'उदार' नामसे बोला जाता है।

ऐसे ही 'निस्त्रिंश' शब्द है। 'निः' 'त्रि' और 'शो' (शा) धातु इन तीन शब्दोंके मेलनसे 'निस्त्रिंश' शब्द बना है। तीन प्रदेशों अर्थात् दो धार और एक अग्रसे निशित या पैना (तीक्ष्ण) होकर छेदन करता है, वह 'निस्त्रिंश' कहलाता है। अर्थात् खड्ग। क्योंकि वहीं इस शब्दकी मुख्य। अर्थके ग्रहणसे समञ्जस वृत्ति होती है, किन्तु यह शब्द छेदनरूप क्रूरता सामान्यको लेकर सब जगह प्रवृत्त है। जो ही लोकमें क्रूर होता है, वही 'निस्त्रिंश' नामसे बोला जाता है। इस रीतिसे ये शब्द क्रिया-रूप गुणके सामान्य मात्रको लेकर अन्यत्र अन्यत्र अर्थोंमें रहते हैं।

जैसे कि—ये हैं, ऐसे ही और शब्दोंमें भी ऊहा या कल्पना करना। और कल्पना करके अर्थ सामान्यसे निर्वचन करना। स्वर और वर्ण सामान्यके बहुत उदाहरण हैं, अर्थात् जितने नैगम शब्द शब्दीय, काण्डमें आवेंगे सब स्वर-वर्ण सामान्यमात्रसे ही निर्वचन किये जाते हैं।

निरुक्तमें कारक, हारक, लावक,—आदि शब्दोंकी व्युत्पत्ति नहीं की जाती, क्योंकि—उनकी व्युत्पत्ति सीधी और व्याकरणमें प्रसिद्ध

है। अर्थात् जो शब्द दुर्बोध्य या परोक्षवृत्ति तथा अपरोक्षवृत्ति हैं, जैसे—क्लिम, कृदर, उदार, वैतस, पव आदि शब्द हैं वेही व्युत्पत्तिके साथ निर्वचन किये जाते हैं। उन्हीं शब्दोंमें निरुक्तकी विशेषरूपसे सार्थकता है। उन्हींको अर्थ सामान्यसे या शब्द सामान्यसे निर्वचन करे। उनमें व्याकरणोक्त संस्कारका आदर न करे।

व्याकरणके अनादरका मुख्य कारण यह है। कि—परोक्षवृत्ति शब्द जो 'असमर्थ स्वर संस्कार' नामसे विभाग किये जा चुके हैं, उनकी व्याकरणके अनुसार चलने या न चलने पर, भी किसी अर्थमें वृत्ति नहीं टिकती, अपितु नानाभावसे अनेक अर्थोंमें जाती है, नहीं निश्चय होता कि—"ऐसे होगा? या ऐसे होगा?" विचार करते हुए मनुष्य विरुद्धपक्षसे मोहको प्राप्त होजाते हैं। जब कि—इनकी वृत्ति उक्त प्रकारसे अवस्थित नहीं होती, तो व्याकरणके पीछे लगे ही रहनेसे क्या होगा? इससे व्याकरण पर नितराम् निर्भर नहीं रहना होगा।

शब्दोंकी वृत्तियोंके भेद।

(१) कोई शब्द अर्थके सादृश्यसे कहीं, (२) कोई स्वरके सादृश्य से कहीं, (३) और कोई वर्णके सादृश्यसे कहीं, रहते है। इसी प्रकारसे विभक्तियोंका भी पूर्व-पर प्रकरणोंके अविरोध पूर्वक अर्थके अनुसार परिवर्त्तन होता है। क्योंकि—उनका भी व्यत्यय या विपरीतभाव देखा जाता है। जैसे कि—वैयाकरणोंने कहा है—

"सुपांस्थाने सुपोभवन्ति"—

इसका तात्पर्य्यार्थ यह है कि—चाहे जिस विभक्तिके स्थानमें चाहे जो विभक्ति होजाती है। जैसा कि—आचार्य (दै० कां० ६, ३, १२) दिखावेंगे भी—'हृत्सुशोकैः" ०—०'हृदयानिशोकैः' इत्यादि। अर्थात् यहां द्वितीयाके एक वचनके बदलेमें, उसका बहु वचन लिया जाता है।

इसी प्रकार व्याकरणमें अर्थके अधीन शब्दका विपर्यय भी होता है—"प्रत्तम् अवत्तम्-इति धात्वादो एव शिष्येते" इत्यादि।

डुदाञ् दाने (जुहोत्यादि) धातु और 'प्र' उपसर्ग दोनोसे 'प्रत्त' शब्द बनता है। यहां पर 'द्-आ' (दा) धातु है, उससे परनिष्ठा प्रत्ययका 'त' कार है वहां "दोदद्घोः" (पा० ७, ४, ४६) इसकी अनुवृत्ति लेकर "अच उपसर्गात्तः" (पा० ७, ४, ४७) से 'आ' का 'त' कार बन जाता है। "झरोझरि सवर्णे" (पा० ८, ४, ६५) सूत्रसे धातुके अन्त तकारका लोप होजाता है। "खरि च" (पा० १, ४, ५५) सूत्रसे 'द्' कारका 'त' कार होने पर "परः संनिकर्षः संहिता" (पा० १, ४, १६) सूत्रसे धातुका तकार प्रत्ययके तकारसे मिल जाता है, जिसकी "हलोनन्तराः संयोगः" (पा० १, १, ७) सूत्रसे संज्ञा होती है। फिर प्रादि समास होने पर "प्रत्त' यह शब्द बनता है। इसी प्रकार 'दो अवखण्डने' धातुके आदिमें 'अव' उपसर्ग जोड़ देनेसे 'अवत्त' शब्द बनता है। यहाँ पर 'द्' और 'ओ' धातु है, उसके 'ओकारका आकार' बनजाने पर त भाव लोप-त-पर अक्षरमें मिलना तथा प्रादि समास यह सब संस्कार पहिले शब्दके समान ही होते है। जिस प्रकार इन दो धातुओंके आदि वर्ण ही शेष रहते हैं, ऐसे ही और शब्दोंमें भी और और धातुओंके अक्षरोंके परिवर्तन आदि प्रक्रिया जानी जा सकती है।

इन 'प्रत्त' और 'अवत्त' दो उदाहरणोंमें वैयाकरणोंकी प्रक्रियाके देखनेसे प्रतीत होगा, कि—वे छोटे छोटे एक एक शब्दके लिये तोड़ फोड़ लगाते हैं, यह केवल उनकी इच्छानुसार शब्दकी व्युत्पत्तिके लिये कल्पित उपाय ही है, वह कोई नियत धर्म नहीं है कि—और वैयाकरण या नैरुक्त भी इन शब्दों या और शब्दोंमें इन्हींकी चाल पर व्युत्पत्ति करें, किन्तु इनके समान औरोंको भी इस कार्यमें स्वतन्त्रता है, कि—वे जिन शब्दोंमें उनकी व्युत्पत्तिके अनुसार जो

चाहें-उपाय करें । इसीसे वैयाकरणोंमें सर्व प्रतिष्ठित * पतञ्जलि मुनिने कहा है कि—

"उपेय प्रतिपत्त्यर्थमुपाया अव्यवास्थिताः"—

जो वस्तु या कार्य तुम्हें करना है, उसके लिये उपाय नहीं है, जिन उपायोंसे शीघ्रता तथा लाघवसे कार्य होसके उन्हीं उपायोंका तुम अवलम्बन करो ।

इसी विचारको दृढ़ करनेके लिये सक्षेपसे वैयाकरणोंके उपायोंको दिखा देते हैं, कि-इनके अनुसार नैरुक्तोंको भी सुभीता होगा, वे भी शब्दोंके निर्वचन कर्ममें उन उपायोंका अवलम्बन करेंगे । तथा वैसा करनेसे वैयाकरणोंके उपालम्भपात्र बनेंगे, एवम् उनके सादृश्य पर और और उपाय भी कल्पित कर सकेंगे ॥ १ ॥

(ख० २)

अथापि अस्ते निर्वृत्ति स्थानेषु आदि लोपो भवति । स्तः, सन्तः, इति । अथापि अन्त लोपो भवति । गत्वा, गतम्, इति । अथापि उपधा लोपो भवति । जग्मतु, जग्मुः, इति । अथापि उपधा विकारो भवति । राजा, दण्डी, इति । अथापि वर्ण लोपो भवति । "तत्वायामि" इति । द्विवर्ण लोपः । तृचः इति । अथापि आदि विपर्ययो भवति । ज्योतिः, घनः, विन्दुः, वाट्यः, इति ।

---

* यथोत्तर मुनीनां प्रामाण्यम् ।

अथापि आद्यन्त विपर्य्ययो भवति। स्तोकाः। रज्जुः। सिकताः। तर्कु, इति। अथापि अन्तव्यापत्तिर्भवति ॥ २ ॥

अर्थः—

और 'अस्' भुवि (अदा० प०) धातुके गुण और वृद्धिके अभावस्थलमें आदिवर्णका लोप होता है। [जैसे-] स्तः। सन्तिः। और अन्तके वर्णका लोप होता है। [जैसे-] गत्वा। गतम्। 'गम्लृ' गतौ, (भ्वा० प०) धातुके 'क्त्वा' प्रत्यय और 'क्त' प्रत्ययमें 'म' कारका लोप होता है। और उपधाका लोप होता है। जग्मतुः। जग्मुः। [यहां 'गम्लृ' गतौ धातुके उपधा अकारका लोप होता है।] और उपधा या अन्त्य वर्णसे पूर्व वर्णको विकार होता है। [जैसे-] राजा। दण्डी। ['राजन्' 'दण्डिन्' इन शब्दोंमें 'अ' 'इ' को दीर्घ होता है।] और वर्णका लोप होता है। [जैसे-] "तत्वायामि" [ऋ० सं० १, २, १५, १] [ऋ० सं० ५, ७, २६,४] ['त्वाम्' के 'म' कारका लोप होता है।] दो वर्णोंका लोप। [जैसे-] तृचः। [त्रि+ऋच्में 'र्' और 'इ' का लोप होता है।] और आदि अक्षर फेर बदला होता है। [जैसे-] ज्योतिः। ['द्युत' दीप्तौ, (भ्वा० आ०) धातुके 'द्' कारका 'ज' कारसे पलटा होता है।] घनः। ['हन' हिंसागत्योः, (अदा० प०) धातुका 'ह' कार 'घ' कारसे पलटता है।] विन्दुः। [भिदिर विदारणे (रु० उ०) से।] वाट्यः। ['भट' भृतौ, (भ्वा० प०) धातुसे होता है।] और आदि अन्त दो अक्षरोंका पलटा होता है। [जैसे] स्तोकाः। ['श्च्युतिर्' क्षरणे, (भ्वा० प०) धातुके 'च' कार 'त' कारका बदला होता है।] रज्जुः। ['सृज विसर्गे, (दि० आ० तु०

प०) धातुसे बनता है ।] सिकताः । ['कस' विकसने] (भ्वा० प०) धातुसे होता है ।] तर्कु । ['कृती' छेदने, [तु० प०] धातुसे होता है ।] और अन्त अक्षरको आदेश होता है । ॥ २ ॥

(खं० ३)

ओघः, मेघः, नाधः, गाधः, वधूः, मधु,-इति । अथापि वर्णोपजनः,-'आस्थत्' 'वारः' भरूजः'-इति । तद् 'यत्र स्वराद् अनन्तराऽन्तस्थान्तर्धातु भवति तद् द्विप्रकृतीनां स्थानम्'-इति प्रदिशन्ति । तत्र सिद्धायाम्-अनुपपद्य-मानायाम् इतरया उपपिपादयिषेत् । तत्रापि एके अल्प निष्पत्तयो भवन्ति । तद् यथा एतद्-'ऊतिः' 'मृदुः' 'पृथुः' 'पृषतः' 'कुणारुम्'-इति । अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः कृतो भाष्यन्ते । 'दमूनाः' 'क्षेत्रसाधाः' इति । अथापि नैगमेभ्यो भाषिकाः । 'उष्णम्' 'घृतम्' इति । अथापि प्रकृतय एव एकेषु भाष्यन्ते, विकृतयः एकेषु ॥ ३ ॥

अर्थः--

[उदाहरण] ['वह' प्रापणे (भ्वा० उ०) धातुसे] ओघ, ['मिह' सेचने (भ्वा० प०) धातुसे] मेघ ['णह' बन्धने (दि० उ०) धातुसे] नाध, ['गाह' विलोऽने (भू० आ०) धातुसे] गाध, ['वह' प्रापणे (भू० उ०) धातुसे] वधू, ['मद' तृप्तौ (चु० आ०) धातुसे] मधु, [शब्द होता है ।] ॥

और भी—वर्णकी उत्पत्ति होती है। [जैसे] 'आस्थत्' ['असु' क्षेपणे (दि० प०) धातुसे, ['वृङ्' संभक्तौ (क्र्या० आ०) धातुसे] 'वार' और ['भ्रस्ज' पाके (तु० उ०) धातुसे] 'भरूज'' शब्द बनता है॥

[द्विस्वभाव धातुका लक्षण] सो-जहां या जिस धातुरूपमें स्वरसे पूर्व या पर व्यवधान रहित अन्तस्थ (य, र, ल, व, मेंसे कोई) वर्ण धातुके मध्यमें हो, वह द्विस्वभाव धातुओंका स्थान है, ऐसा आचार्य कहते हैं। वहां जो अर्थ सिद्ध या निश्चित है, वह एक रूपसे सिद्ध न हो, तो दूसरे धातु रूपसे उपपादन करे या घटावे। वहां पर भी यह देखना चाहिये, कि—कोई धातु थोड़े ही प्रयोगोंमें सम्प्रसारणी होते हैं। सो जिस प्रकार यह—'ऊति'—गत्यर्थक 'अव' (भ्वा० प०) धातुसे, 'मृदु'-'म्रद' मर्दने (भ्वा० आ०) धातुसे 'पृथु' प्रथ' प्रख्याने (भ्वा० आ०) धातुसे, 'पृषत'-'प्रुष' दाहे (भ्वा० प०) धातुसे और 'कुणारु' शब्द 'क्वण' शब्दे (भ्वा० प०) धातुसे होता है।

और भी—[द्रष्टव्य यह है] लौकिक धातुओंसे वैदिक कृदन्त शब्दोंका निर्वचन होता है। [जैसे] 'दमूनाः' 'दम' उपशमे (दि० प०) धातुसे, और 'साध' संसिद्धौ (स्वा० प०) धातुसे सिद्ध होता है।

और भी-[द्रष्टव्य यह है] वेद प्रसिद्ध धातुओंसे भाषिक या लोकके शब्द [निर्वचन किये जाते हैं।] [जैसे] 'उष्ण'-शब्द 'उष' दाहे [वेद प्रसिद्ध, भ्वा० प०] धातुसे और 'घृत' शब्द 'घृ' क्षरण दीप्त्योः (जु० प०) धातुसे होता है।

और भी-[देखना चाहिये] कोई स्थानोंमें धातुओंकी प्रकृति या आख्यात रूपोंसे व्याख्या की जाती है, और कोई स्थानोंमें धातुओंकी विकृति या नाम रूपोंसे व्याख्या की जाती है॥ २॥

व्याख्या—(खं० २, ३ ।)

उपायका नाम ।	उदाहरण ।	व्यवस्था ।
(१) आदिलोप ।	स्तः । सन्ति ।	यह दोनों प्रयोग 'अस्' धातुके होते हैं। इनमें धातुके आदि 'अ'का लोप हो जाता है। जहां वृद्धि या गुण नहीं हो सकता।
(२) अन्तलोप ।	गत्व । गतम् ।	यह दोनों शब्द 'गम्' धातुसे बनते हैं, इनमें गम्के अन्त 'म्'का लोप होता है।
(३) उपधालोप ।	जग्मतुः । जग्मुः ।	यहां दोनो स्थानोंमें 'गम्' धातुके 'ग-अ-म्'मेंसे 'अ' का लोप होता है। अन्तसे पहिले अक्षरको उपधा कहते है।
(४) उपधा विकार[1] ।	राजा । दण्डी ।	इन दोनोंमें उपधा 'अ' तथा 'इ' को दीर्घ होता है। राजन् (र्-आ-ज्-अ-न्) दण्डिन् (द्-अ ण् ड्-इ-न्) पहिलेमें 'अ' और दूसरेमें 'इ' उपधा है। यहां 'अ'

१—विकारका प्रयोजन यह है कि-एक अक्षरके बदलेमें दूसरा अक्षर हो जाना, जैसे—'अ' का 'आ' और 'इ' का 'ई'। लोपमें वह अक्षर उठ जाता है, किन्तु उसके बदलेमें और अक्षर नहीं आता।

उपादका नाम।	उदाहरण।	व्यवस्था।
		'आ' से और 'इ', 'ई' से बदलता है। दीर्घ होते ही अन्त न्'का लोप होजाता है।
(५) वर्णलोपः।	२-* तत्वायामि।	यह वैदिक उदाहरण है, यहां 'याचामि'का 'यामि' रह गया है। 'चा'का लोप होता है। लोकमें इसके स्थानमें याचे'पद बनता है।
(६) द्वि वर्णलोप तृचः।		'त्रि-ऋच्' दो शब्दोंसे 'तृ च्' बनता है। यहां

२—तत्वायामि ब्रह्मणा वन्दमान स्तदा शास्ते यजमानो हविर्भिः। अहेलमानो वरुणोह बोध्युरु शंसमान आयुः प्रमोषीः॥ [ऋ० सं०, १, २, १५, १।]

*—इस त्रिष्टुप् छन्दसे उपाकरण किये हुए शुनःशेप (ऋषि-पुत्र) ने वरुणकी स्तुति की है। इस ऋचासे साग्निक ऋतुओंमें समिष्ट यजुःके उत्तरकालमें आज्य (घृत) की आहुति होती है। और चातुर्मास्योंमें वरुणप्रघासमें यह वरुण देवताके हविष्की याज्या है।

हे वरुण! तुझसे मैं वेदसे स्तुति करता हुआ, याचना करता हूं, और जिस वस्तुको मैं मांगता हूं, उसीको यह यजमान भी तेरे लिये संस्कृत हविषोंको प्रस्तुत किये हुए तुझसे मांगता है। सो तू क्रोध न करता हुआ (क्योंकि-जिससे कुछ मांगा जाता है, वह क्रोध करता है) जान, या चेत कर। हे बहुस्तुत्य! वरुण! और चेत करके हम दोनोंके वाञ्छितको पूरा कर, कि—हमारी आयुको नष्ट मत कर, अर्थात् हमारे अभिप्रायको सिद्ध कर।

उपायका नाम ।	उदाहरण ।	व्यवस्था ।
		'त्रि' (त् र्-इ) में र् और इ का लोप होने पर त्, ऋचके ऋसे मिल जाता है। व्याकरणमें यह सम्प्रसारणके द्वारा होता है। उसीका यह स्पष्टीकरण है।
(७) आदि विपर्यय।	ज्योतिः। घनः। विन्दुः। वाट्यः।	द्युत् दीप्तौ धातुके द् का ज् बननेसे ज्योतिः सिद्ध होता है। हन् हिंसा-गत्योः इस धातुसे 'घनः,' 'भिदिर्' 'विदारणे' (रु० उ०) धातुसे 'विन्दुः' और 'भट' भृतौ (भ्वा० प०) धातुसे 'वाट्यः' बनता है।
(८) आद्यन्तविपर्यय।	स्तोकाः। रज्जुः। सिकताः। तर्कु।	'श्चुतिर' क्षरणे (भ्वा० प०) धातुके आदि तथा अन्त दोनों अक्षरोका परिवर्त्तन होनेसे 'स्तोक' शब्द बनता है। ऐसे-'सृज' विसर्गे (दि० आ० तु० प०) धातुसे

उपायका नाम।	उदाहरण।	व्यवस्था।
		'रज्जुः,' 'कस' विकसने धातुसे 'सिकता' और 'कृती' छेदने (तु० प०) धातुसे तर्क शब्द बनता है।
(९) अन्तव्यापत्ति-	(क) ओघः।	'वह' (भू० उ०) प्रापण, अन्त 'ह्' का घ्।
	(ख) मोघः।	'मिह' (भू० प०) सेचने, अन्त 'ह्' का घ्।
	(ग) नाघः।	णह (दि० प०) बन्धने, अन्त ह् का घ्।
	(घ) गाधः।	गाहू (भू० आ०) विलोडने अन्त ह का ध्।
	(ङ) वधूः।	वह (भू० उ०) प्रापणे, अन्त ह् का ध्।
	(च) मधु।	मद (चु० आ०) तृप्तौ अन्त द् का ध्।
(१०) वर्णोपजन। [वर्णकी उत्पत्ति या आगम]	(क) आस्थत्।	'असु' (दि० प०) क्षेपणे, थ् का आगम।
	(ख) द्वारः।	वृङ् (क्र्या० आ०) संभक्तौ, द् का आगम।
	(ग) भरूज।	भ्रस्ज (तु० उ०) पाके, ऊ का आगम।

इस उपर्युक्त प्रकारसे लक्षण-प्रधान (जिसमें लक्षणहीकी प्रधानता है, किन्तु अर्थकी नहीं) व्याकरण शास्त्रमें भी शब्दोंमें अर्थके अनुसार लोप, आगम तथा विपरिणाम देखा गया है, फिर अर्थ-

द्विस्वभाव (उभय प्रकार) धातुका लक्षण।

जिस धातुमें अकार आदि स्वरसे पूर्व या पर अन्तःस्थ अर्थात्-य, र, ल, व, मेंसे कोई वर्ण हो, वह धातु द्विस्वभाव होता है।

जैसे-यज्ञ देव-पूजा संगति करण दानेषु (भ्वा० उ०) धातु है। इसमें अकारसे पूर्व 'य' आया है। इस धातुकी दो शब्द प्रकृति हैं, सम्प्रसारण पक्षमें 'इष्टवान्, इष्टः इष्ट्वा। और असम्प्रसारणपक्षमें-यष्टा, यष्टुम्, यष्टव्यम्।

इस ज्ञानसे यह लाभ उठाना चाहिये कि—जहां एक प्रकारसे अर्थ सिद्धि न हो, वहां दूसरे प्रकारसे करना चाहिये। प्रयोजन यह है कि—सम्प्रसारण तथा असम्प्रसारण प्रकृति दोनोंमेंसे, जिसी-से शब्दके अर्थकी उपपत्ति होती दिखाई दे, उसीसे उपपादन करनेकी इच्छा करे। अथवा दोनों ही प्रकारसे अर्थका उपपादन न होसके तो, स्वयम् अपनी इच्छानुसार उत्पत्ति कर निर्धारण-पूर्वक जिस जिस प्रकारसे अर्थ उपपन्न हो, या घटे, वैसे ही उपपादन करे या घटावे। यदि लक्षण-शास्त्र (व्याकरण) से हो सके तो, उसीके नियमसे करे, क्योंकि-अर्थकी प्रधानता है, उसको हर उपायसे सिद्ध करना चाहिये—यही सिद्धान्त है।

अल्प निष्पत्ति धातु। सम्प्रसारणवाले धातुओंमें कोई धातु ऐसे होते हैं, जिनमें बहुत ही अल्प संप्रसारण होता है। वे भी ध्यानमें रखने चाहियें। ("य,' 'इ' से, 'व,' 'उ' से 'र,' 'ऋ' से और 'ल', ऌ" से बदलनेको संप्रसारण कहते हैं।)

जैसे-ऊतिः। मृदुः। पृथुः। पृषतः। कुणारुम्। अवगत्यर्थक (भ्वा० प०) को क्ति-प्रत्यय होने पर, "छ्वोः शूडनुनासिके च" (पा० ६, ४, १९) सूत्रके अनुवर्तनमें "ज्वरत्वरस्रिव्यविमवामुपधायाश्च" (पा० ६, ४, २०) सूत्रसे ऊल्-भाव किया जाता है,

उससे 'ऊति' यह शब्द होता है । म्रद मर्दने (भ्वा० आ०) का मृदु होता है । रेफका प्रसारण होनेसे ऋकार होता है ।

ऐसे ही प्रथ प्रख्याने (भ्वा० आ०) का 'पृथु' होता है । प्रुष दाहे (भ्वा० प०) का 'पृषत' होता है । कण शब्दे (भ्वा० प०) का 'कुणारु' बनता है ।

निर्वचनमें लोक और वेदको परस्परकी अपेक्षा ।

इस रीतिसे सप्रसारण असंप्रसारणके विशेषसे जानने योग्य शब्दोंके निर्वचन करनेवाले पुरुषको यह और जानना चाहिये कि—'जो जो शब्द भाषिक हैं, अर्थात् भाषः या लोकमें प्रसिद्ध हैं, उनसे वैदिक कृदन्त शब्दोंको व्युत्पत्ति या निर्वचन किया जाता है' ।

जैसे—'दमूनाः, क्षेत्र साधाः" । 'दम उपशमे' (दि० प०) धातु है । उसके लोकमें 'दाम्यति अनड्वान्' बैल दमन होता है ; 'दमयति अनड्वाहम्' बैलको दमन करता है, 'दान्तः अनड्वान्' बैल दमन किया गया, इत्यादि प्रयोग होते हैं । और वेदमें 'दमूनाः' पदसे अग्नि बोला जाता है । वह भाषाके किसी अर्थ सामान्य पर निर्वचन कर लेना चाहिये जैसे कि—दममनाः,—इत्यादि । अर्थात् दममें जिसका मन हो । इसी प्रकार 'साधू' (दिवा० पा०) धातु जो लोकमें बहुत आता है, उससे-'साधाः' पद होता है ।

"**मित्रं न क्षेत्र साधसम्** [ऋ० सं० ६, २, ४०, ४]

'मित्रमिव क्षेत्र साधसम्' मित्रके समान क्षेत्रका साधन करनेवाला, इत्यादि-रूपसे निर्वचन करने योग्य है ।

ऐसे ही नैगम, जो निगम या वेदमें ही प्रसिद्ध हैं, उन शब्दोंसे अर्थात्—उनके सादृश्यको लेकर भाषिक या लौकिक कृदन्त शब्दोंकी निरुक्ति होती है ।

जैसे—"उष्ण घृतम्" 'उष दाहे' (भ्वा० पा०) धातु है। यह प्रायः वेदमें प्रसिद्ध है।—"प्रत्युष्ट रक्षः प्रत्युष्टा अरातयः" (य० वा० स० १, ७,) इत्यादि।—और भाषामें 'उष्ण' शब्द बोला जाता है। यह नैगम शब्दके सादृश्य पर निर्वचन किया जाता है। ऐसे ही-'घृ क्षरण दीप्त्योः' (भ्वा० प०) धातु है, उसका—"आत्वा जि घर्मि" (य० वा० सं० ११, २३) इत्यादि-वेद वाक्योंमे प्रयोग प्रसिद्ध है, और भाषामें 'घृतम्' पद व्यवहृत होता है, सो यह वैदिक 'घृ' धातुसे ही निर्वचनीय है। इस प्रकारसे 'लौकिक शब्दोंसे वैदिक शब्द और वैदिक शब्दोंसे लौकिक शब्दोंका निर्वचन करना चाहिये।

निर्वचनमें विभिन्न देश भाषाओंका परिज्ञान।

निर्वचन करनेवालेको और यह एक बात ध्यानमे रखनी चाहिये कि—"कुछ देशोमे धातु शब्दोंकी प्रकृति ही बोली जाती है, और कुछ देशोंमें विकृति"। धातुका आख्यात पदके रूपमें जो प्रयोग है, वह प्रकृति कहाता हैं, क्योंकि—पहिले-"सब नाम आख्यातसे ही उत्पन्न होते है"। इस सिद्धान्तके द्वारा आख्यातको कारण बता चुके है। और 'नाम'के रूपमें जो धातुका प्रयोग होता है, वह उसकी विकृति है, यह बात भी उपर्युक्त सिद्धान्तसे ही आ जाती है ॥ ३ ॥

(ख० ४)

शवतिर्गति कर्मा, कम्बोजेषु-एव भाष्यते। कम्बोजाः, कम्बलभोजाः, कमनीय भोजा वा। कम्बलः कमनीयो भवति। विकार मस्यार्येषु भाषन्ते शव इति। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्र·

मुदी च्येषु । एवम्-एक-पदानि निर्ब्रूयात् । अथ तद्धित समासेषु एक पर्व सु च अनेक पर्व सु च पूर्वं पूर्वम् अरम् अपरं प्रविभज्य निर्ब्रूयात् । दण्ड्यः पुरुषः, दण्डमर्हति,-इति वा । दण्डेन सम्पद्यते इति वा । दण्डः,-ददतेः धारयति कर्म्मणः । "अक्रूरो ददते मणिम्"—इति अभिभाषन्ते । 'दम-नात्'—इति औपमन्यवः । 'दण्ड मस्या कर्षत'—इति गर्हायाम् ॥ ४ ॥

अर्थः—

'शवति' क्रिया-रूप, गति-अर्थमें कम्बोज या म्लेच्छ देशोंमें ही बोला जाता है। [उदाहरण विशेषमें आये हुए शब्दका निर्वचन-] 'कम्बोज' नामसे कम्बलोंको सेवन करनेवाले या सुन्दर पदार्थोंको खानेवाले-[बोले जाते हैं।] [विग्रहमें आया हुआ शब्द-] 'कम्बल नाम वाञ्छनीयका होता है। इस 'शवति' धातुकी 'शव' इस विकृति या नाम पदको आर्य-देश (हिन्दुस्थान) में बोलते हैं। 'दाति'—क्रिया छेदन अर्थमें प्राच्य या पूर्वी देशोंमें बोली जाती है। 'दात्र' जो इसकी विकृति है, उदीच्य या उत्तरी देशोंमें बोली जाती है। इस प्रकारसे एक—पद या अखण्ड—पदोंकी व्याख्या करे।

इसके अतिरिक्त एक पदवाले अथवा अनेक पदवाले तद्धित और समासोंमें पहिले पहिले और पिछले पिछलेको अलग अलग करके निर्वचन करे। [जैसे-] 'दण्ड्यः पुरुषः,' जो पुरुष दण्डके योग्य हो। अथवा दण्डसे सिद्ध किया जावे। [पदार्थ—निर्वचन—] 'दण्ड'—शब्द धारणार्थक 'दद' (भ्वा० आ०) धातुसे होता है।

[लोकमें—] 'अक्रूरो ददते मणिम्' 'अक्रूर मणिको धारण करता है'—ऐसा बोलते हैं। औपमन्यव आचार्य इस (दण्ड) शब्दको दमन क्रियाके सम्बन्धसे ('दम' उपशमे (दि० प०) धातुसे) बना हुआ मानते हैं। [लोकमें—] "दण्डमस्य आकर्षत"—हे सभासदो! इसको दण्ड दो, ऐसा गर्हा या निन्दामें प्रयोग करते हैं ॥४॥

व्याख्या--

'शवतिः'—कम्बोज नाम म्लेच्छ देशोंमे 'शवति' यह आख्यातकी क्रिया 'गच्छति'—(जाता है) के अर्थमें बोली जाती है, यह इस धातुका प्रकृति-रूप है। और आर्य देश या हिन्दुस्थानमें इसी धातुके विकार भूत 'शव' नामसे मृतक शरीर (मुर्दा) बोला जाता है। इस प्रकार कोई देशोंमें प्रकृति और कोई देशोंमें धातुकी प्रकृति बोली जाती है, या कहीं चेतन, और कहीं अचेतन।

कम्बोजाः—[क-] 'कम्बलभोज' शब्दसे 'कम्बोज' शब्द बना है, क्योंकि—उन देशोंमें शीतके आधिक्यसे कम्बलको ओढ़ने, पहिननेमें बहुत लेते हैं; इसलिये कम्बलभोजसे ही कम्बोज बना होगा।

[ख-] अथवा 'कमनीयभोज' शब्दसे कम्बोज शब्दकी उत्पत्ति हुई। क्योंकि-उन देशोंके मनुष्य, कमनीय—या उत्तम उत्तम वस्तुओंको उपभोग करते है। 'भुज' धातुके भोजन अर्थको लेकर काश्मीर देश कम्बोज कहा जा सकता है, क्योंकि—वहाँ अच्छे मेवे होते है; जिनको वहांके लोग खाते है।

यदि उपभोग अर्थ लेवें तो कम्बोज उस देशका नाम हुआ, जिस समुद्रके अन्तरमें मोती आदि कमनीय रत्न पैदा होते हैं, जिसका-कि, अब भी कम्बोज नाम प्रसिद्ध है; क्योंकि-वहांके लोग कमनीय रत्नोंका उपभोग करते हैं।

कम्बलः—कमनीय होनेसे ही कम्बल कहाता है। क्योंकि-शीतसे पीड़ित मनुष्यका वह प्रार्थनीय होता है।

दूसरा उदाहरण।

"दाति" धातु आख्यातकी क्रियाके रूपमें प्राच्य या पूर्वीय देशोंमे बोला जाता है; जिसका वहां छेदन अर्थ होता है। जैसे-'व्रीहीन्दाति'-'धानोंको काटता है। 'यवान् दाति'-'यवोंको काटता है'। और यही धातु उदीच्य या उत्तरीय देशोंमें विकृति या नामके रूपमें 'दात्र' ऐसा बोला जाता है। 'दीयते अनेन' इति दात्रम्। जिससे काटा जाय उसे दात्र कहते है।

जिस प्रकार कम्बोज और आर्य देशोंमें भिन्न भिन्न रूपोंमें पाये हुए शवति धातुके प्रयोगोंके अर्थानुसन्धानसे उसके अभिधेयकी स्थिरता होती है, कि-वहाँ भी जाना अर्थ देता है, और यहाँ भी,-जिसके प्राण चले गये, उस शरीरको कहते हैं, सर्वथा दोनों देशोंमं इसका चलना अर्थ है। इससे गति अर्थ सन्दिग्ध है।

तथा 'दाति' धातुका प्राच्य और उदीच्य दोनों देशोंके व्यवहारसे लवन या छेदन अर्थ निश्चित होता ह, इसी प्रकार अन्य अन्य जो एक पद या स्वतन्त्र स्वतन्त्र पद हैं (जैसे कि-ऐक पदिक काण्डमें आवेंगे) उनका लोक और वेदकी व्यवस्थासे या देश-भाषाओंकी प्रसिद्धिके विभागसे निर्वचन करना।

तद्धित तथा समास युक्तपदोंका निर्वचन।

जो शब्द तद्धित व समाससे रहित है, वे शुद्ध नाम तथा आख्यातके रूपमें एक एक पद होते हैं, इससे उनकी निरुक्तिमें किसी क्रम विशेषकी शंका नहीं होती,किन्तु जहां समास व तद्धितका योग है, वहाँ अनेक अनेक पदोंके मेल होते है, इस लिये वहां पर क्रम

बताना चाहिये, पहिले पूर्व पूर्व पदोंका निर्वचन होकर पर पदोंका निर्वचन होगा या इससे उलटा ? इस प्रश्नका स्पष्ट अर्थ यह है कि-

(१) तद्धित युक्त पदोंमें क्या पहिले, पूर्व पदके अर्थका निर्वचन होगा ? या तद्धितके अर्थका ?

(२) ऐसे ही समास युक्त पदोंमें पहिले पदोंके अर्थका निर्वचन होगा ? या समासके अर्थका ?

तद्धित और समास।

"तद्धिताः" (पा०-४, १, ७६) इस सूत्रके अधिकारमें जो प्रत्यय विधान किये गये हैं, वे तद्धित कहाते हैं। तथा "समर्थः पदविधिः" (पा०-२, १, १) या "प्राक्कडारात्समासः" (पा० २, १, ३) सूत्रके अधिकारमें जो संस्कार या वृत्ति विधान की गई हैं, वे समास हैं।

इन दोनोंमें ही समान नियम हैं, चाहे वे एक पर्व (एक पद) या अनेक पर्व (अनेक पद) हों, उनमें पहिलेको पहिले, और पिछलेको पीछे निर्वचन करना। अर्थात् तद्धित युक्तपदमें पहिले तद्धितार्थका निर्वचन करे और पीछे पदार्थका। एवम्, समास युक्त पदोंमें पहिले समासार्थका निर्वचन करे, और पीछे पदार्थोंका।

"दण्ड्यः"—यह एक तद्धित है,और "वार्ष्यायणिः" यह अनेक पद। क्योंकि यह अपने आत्मामें अनेक पदोंको लय किये हुए है। जैसे "वृषस्यापत्यं-वार्ष्यः" वृषका अपत्य या सन्तान वार्ष्य, और 'वार्ष्यस्यापत्यं=वार्ष्यायणः' वार्ष्यका सन्तान वार्ष्यायण, तथा- 'वार्ष्यायणस्य अपत्यं वार्ष्यायणिः' वार्ष्यायणका अपत्य वार्ष्यायणि होता है।

ऐसे ही एक शेष, एक पद समास होता है, जिसको विधान "सरूपाणामेकशेष एक विभक्तौ" (पा०-१, २, ६४) सूत्रसे होता है, जैसे कि -"पुरुषश्च पुरुषश्च पुरुषौ" दो पुरुष शब्दोंमेंसे एक

शब्दका लो। और एक शेष रहनेसे 'पुरुषौ' बनता है। 'पुरुःश्च पुरुषश्च पुरुषश्च पुरुषाः' यहां तोन पुरुष शब्दोंमेंसे एक पुरुष शब्द-का शेष और दोके लोप होनेसे 'पुरुषाः' पद बनता है।

द्विगु[1], द्वन्द्व, अव्ययो भाव, कर्मधारय, बहुव्रीहि और तत्पुरुष ये छः समास अनेक पद हैं।

पाणिनीयसूत्र—"संख्या पूर्वोद्विगुः" (पा० २, १, ५२) उदा-हरण—पञ्चमूली पञ्चरथी, दशरथी—इत्यादि।

सूत्र—"चार्थेद्वन्द्वः" (पा० २, १, २६) यह विकल्पसे एकके समान होता है- वहां एक वचन और अन्य स्थलमें पदार्थोंकी संख्याके अधोन द्विवचन तथा बहु वचन होता है।

उदाहरण—'प्लक्षन्यग्रोधौ' पिलखन-बट। 'अहिनकुलम्' साँप-न्योला। 'भीमार्जुन वासुदेवाः' भीम-अर्जुन-वासुदेव। इत्यादि।

'उपसर्ग निपात पूर्वकोऽव्ययीभावः' उदाहरण—

'उपमणिकम्' मणिकके समीप। 'अनुसमुद्रम्' समुद्रके सदृश्य। 'व्यभ्रम्' मेघोंका अभाव। इत्यादि। इनमें उपसर्ग या निपात ही पूर्व पद होते हैं।

'तुल्यलिङ्ग विभक्तिकयो रुभयोः पदयोः समा-नाधिकरणः कर्मधारयः'

जिन दो पदोंके लिङ्ग और विभक्ति समान हो, उनके समाना-धिकरण या एकार्थ पर समासको कर्मधारय कहते हैं।

जैसे—'कृष्णमृगः' काला मृग। 'रक्ताश्व' लाल घोड़ा। श्वेत पताका इत्यादि निर्वचनमें क्रमके जाननेके लिये उदाहरण।

१—"द्विगु र्द्वन्द्वोऽव्ययी भावः कर्मधारयएवच।
पञ्चमन्तु बहुव्रोहिः षष्ठस्तत्पुरुषः स्मृतः॥"

(१) तद्धित।

"दण्ड्यः पुरुषः"-'दण्ड्य' शब्द एकपद तद्धित है, और पुरुष शब्दका विशेषण है; इसकी व्युत्पत्ति—(तद्धितार्थ निर्वचन)

(क) 'दण्डमर्हति' किसी अपराधमें योग्यको 'दण्ड्य' कहते हैं।

(ख) अथवा 'दण्डेन वा कार्षापणादिना सम्पद्यते, संयुज्यते दण्ड्यः,' दण्ड जो कार्षापण आदि राजनियत मुद्रा आदि जुर्माना उससे संयुक्त किया जाय।

पदार्थ निर्वचन।

"दण्डः"-'दण्ड' धारणार्थक 'दद' धातुसे बनता है। "धार्यते ह्येषोऽपराधेषु राजभिः" राजा लोग अपराधोंके समय इसको धारण करते हैं, इससे यह दण्ड कहाता है।

'दद' धातुका धारण अर्थ लोक और वेद दोनों स्थलोंमें देखा जाता है। जैसे-वेदमें "विश्वेदेवाः पुष्करे त्वा ददन्ते" (ऋ०सं० ५, ३, २४, १) विश्वदेवता पुष्करमें तुझे धारण करते हैं। और लोकमें "अक्रूरो ददते मणिम्" अक्रूर स्यमन्तक मणिको धारण करता है।

औपमन्यव आचार्य, दमनक्रियाके सम्बन्धसे 'दमु उपशमे' (दि० प०) धातुसे बनता है, क्योंकि जो पुरुष अदान्त=नियमसे बाहर चलनेवाला होता है, उसे दण्डके द्वारा ही दमन करते हैं। इसीसे यह कहा गया है कि—"अदान्तोंका दमन करे" लोकमें भी जो कोई पुरुष अदान्त होता है, उसके लिये कहते हैं "दण्डमस्याकर्षत" हे सभासद गणों! इसको दण्डित करो, उसीसे यह दान्त या दमनशील होगा', ऐसा निन्दामें प्रयोग किया जाता है।

[खं० ५]

'कक्ष्या' रज्जुः, अश्वस्य । कक्षं सेवते । 'कक्षः' गाहतेः । 'क्सः' इति नामकरणः । ख्यातेर्वा अनर्थकः अभ्यासः । किम्-अस्मिन्ख्यानम्-इति । कषतेर्वा । तत्सामान्यात्-मनुष्य कक्षः । बाहुमूल सामान्याद्-अश्वस्य । राज्ञः पुरुषः राज पुरुषः । 'राज' राजतेः । 'पुरुषः' पुरिषादः । पुरीशयः । पूरयते र्वा । पूरयति-अन्तः-इति अन्तर पुरुषम्-अभिप्रेत्य । "यस्मात् परं ना पर मस्ति किञ्चिद् यस्मान्नाणी यो न ज्यायोऽस्ति किञ्चित् । वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक स्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्।" इत्यपि निगमो भवति ॥ ५ ॥

अनुवादः ।

'कक्ष्याः' नाम घोड़ेकी रस्सी (तंग) का है। [क्योंकि-वह] कक्ष (बगल) को सेवन करती है। ['कक्ष' नाम और 'य' तद्धित प्रत्यय।] [पदार्थ] 'कक्ष' शब्द विलोडनार्थ 'गाहू' (भ्वा० आ०) धातुसे होता है। 'क्स' यह प्रत्यय है। अथवा 'ख्या' प्रकथने (अदा० प०) धातुसे। अभ्यास [दो वार उच्चारण] अनर्थक है। [अथवा सार्थक है] क्या इसमें बताने योग्य है? अथवा 'कष' (भ्वा० प०) धातुसे है। [क्योंकि—वह नित्य ही खुजली पैदा करता।] अश्वके कक्षकी समानतासे मनुष्यका कक्ष भी 'कक्ष' कहलाता है। घोड़ेके भी बाहुके मूल स्थानको सादृश्यसे

कक्ष कहते हैं। [समासका उदाहरण] राजका पुरुष राज-पुरुष कहलाता है। [पदार्थ] 'राजन्' शब्द दीप्ति-अर्थ 'राजृ' (भ्वा० उ०) धातुसे है। 'पुरुष' नाम पुरिषादका है। [क्योंकि—] वह पुर् नाम शरीर अथवा बुद्धिमें रहता है। [अथवा] पुरिशय या शरीरमें सोनेवाला होनेसे पुरुष है। अथवा 'पूरी' आप्यायने (चु० उ०) धातुसे 'पुरुष' है। भीतरसे सब जगत्को व्यापन करता है, इस प्रकार अन्तर-पुरुषके अभिप्रायसे। [निगम] जिससे पर अथवा पूर्व कुछ नहीं है, जिससे सूक्ष्म अथवा स्थूल या मोटा कुछ नहीं है, वृक्षके समान निश्चल भावसे अकेला आकाशमें खड़ा है, उससे यह सब जगत् पूर्ण या व्याप्त है।" यह भी निगम है ॥५॥

व्याख्या--

२य, तद्धितका उदाहरण।

(तद्धितार्थ निर्वचन)

"कक्ष्या"। 'कक्ष्या'-यह तद्धित है। घोड़ेके चारजामेके कसनेकी रस्सीको कक्ष्या कहते हैं। क्योंकि—वह कक्षको सेवन करती है, या उससे संयुक्त होती है, अथवा उसमें रहती है।

पदार्थका निर्वचन।

कक्षः—विलोडनार्थक 'गाह' धातु (भ्वा० आ०) से 'कक्ष' शब्द बनता है। क्योंकि—कक्षों या बगलोंमें ही किसी दबाने योग्य वस्तुको विलोडन करता या दबाता है। 'गाह' धातुसे 'क्स' प्रत्यय जुड़नेसे 'कक्ष' हो जाता है। और सब कुछ जो आद्यन्त विपर्यय आदि होता है, वह जैसा दिखाया है, अथवा जैसा सम्भव हो, जहां तहां कार्यस्थलमें यथासम्भव योजन कर लेना चाहिये।

अथवा 'ख्या' धातुका अनर्थक अभ्यास (दोहराये हुए धातुका पहिला रूप) ककार है। अर्थात् 'ख्य' का 'कख्य' होकर 'कक्ष' हो गया।

अथवा ककार सार्थक ही है, अनर्थक नहीं। कैसे?

"किमस्मिन् ख्यानम्" इति कक्षः। अर्थात् क्या इसमें ख्यान वा प्रसिद्ध करने योग्य कुछ नहीं। क्योंकि—देखनेमें नहीं आता, या छिपाने योग्य है। इस अर्थके अनुसार 'किंख्य' शब्द होकर 'कक्ष' शब्द हो जाता है। अथवा—'कष,-विलेखने' (भ्वा० प०) धातुसे 'कक्ष' शब्द बनता है, क्योंकि—वह नित्य काल ही खेदशील होनेसे खुजली पैदा करता रहता है, इसीसे उसे (बगलको) नखोंसे नित्य खुजाते हैं, इस रीतिसे कषण-क्रियाके सम्बन्धसे 'कक्ष' शब्द बन जाता है। उसके सादृश्यसे मनुष्यका कक्ष भी कक्ष कहलाता है। अश्वका भी जो बाहुका मूल देश है, वह 'कक्ष' कहलाता है। और उसको सेवन करनेसे अश्वके तंगको 'कक्ष्या' कहते हैं।

अन्य टीकाकारोंका मत।

"पूर्वं पूर्वमपरमपरं प्रविभज्य निर्ब्रूयात्"

(नि० अ० २, पा० १ ख० ४)

इस वाक्यकी पहिले व्याख्या की गई है, कि—"तद्धित व समास युक्त पदोंमें पहिले तद्धित व समासके अर्थका निर्वचन करना, और पदोंके अर्थका निर्वचन पीछे करना।" किन्तु कोई टीकाकार इसकी व्याख्या दूसरे प्रकारसे करते हैं कि—"पहिले जो पद हो, उसकी निरुक्ति पहले ही करना, तथा जो पद पीछे आवे उसकी व्याख्या पीछे ही करना" अर्थात् इनके मतमें यह वचन तद्धित और समासके लिये नहीं है, किन्तु पदोंके निर्वचन मात्रकी व्यवस्था करता है, इस लिये तद्धित-समासमें निर्वचन

करनेवालेकी इच्छा है, जिसे चाहे, पहले निर्वचन करे, और जिसे चाहे पीछे ; किन्तु भगवद्दुर्गाचार्य इसमें सहानुभूति नहीं करते, उनके विचारमें पहिले व्याख्या ही ठीक है।

समासका उदाहरण।

"राज्ञःपुरुषो-'राजपुरुषः'। 'राजपुरुषः"-यह समस्त पद है। 'राजका पुरुष' यह इसका अर्थ होता है। यहां ध्यानसे देखो कि-इस वाक्यका पहिला भाग 'राजाका' यही बोला जाय तो सभी कुछ उसका प्रतीत होता है, जबकि-इसके सामने पुरुष, पद और कह दिया जाता है, तो अन्य सब पदार्थोंसे उसकी स्वता या स्वाम्यता हटकर पुरुष पर ही आ जाती है, या पुरुष शब्द अपनेसे अन्य पदार्थोंको उसके स्वता या स्वाम्यतासे अलग करदेता है। इसी प्रकार जब उक्त वाक्यका दूसरा भाग 'पुरुष' यही बोला जाता है, तो उसका सभी स्वामी प्रतीत है, जबकि-प्रथम भाग भी उसके साथ जुड़ जाता है। तो राजाके अतिरिक्त सब स्वामी निवृत्त होजाते हैं। अर्थात्-'राजपुरुष' ऐसा मिलाकर बोलनेसे राजा अन्य स्वामियोसे पुरुषको निवृत्त करके अपनेमें संयुक्त कर लेता हैं। और पुरुष भी राजाको अन्य स्वकीय पदार्थोंसे निवृत्त कर अपनेमें सयुक्त कर लेता है। इस प्रकार वे दोनों शब्द अपने अर्थोंको परस्पर मिलाकर समस्त हो जाते है। इसीसे "राज पुरुषको ले आओ" ऐसा कहने पर 'न राजाको ही लाते है' और न पुरुष मात्रको ही, किन्तु राजस्वामिक (जिसका राजा स्वामी है) पुरुषको लाते हैं। प्रयोजन यह निकला कि, समासमें भिन्न ही शक्ति होती है, जिसका अनुभव ख्याल करनेसे होता है। यह समासार्थ हुआ।

यह प्रश्न हो कि-इस वाक्यमें 'राजस्वामिक' यह अर्थ कहांसे लब्ध होता है, तो इसका उत्तर यह है कि-'प्रधान और उपसर्जन (गौण) पद दोनो मिलकर एक अर्थको कहते हैं।

पदके अर्थका निर्वचन ।

पूर्वोक्त नियमके अनुसार समासार्थका निर्वचन करके पदार्थका निर्वचन करते हैं-"राजा" 'राज्' दीप्तौ, (भ्वा० उ०) से 'राजा पद बनता है । क्योंकि-वह पांच लोकपालोंके शरीरसे दीप्तिमान् होता है ।

"पुरुषः" 'पुरुष' शब्द पुर् शब्द, जो शरीर या बुद्धिका नाम है, सद् (षद्लृ) विषरण गत्यवसादनेषु (भ्वा० प०) धातुसे बनता है । क्योंकि-वह शरीर व बुद्धिमें विषयोंकी उपलब्धि या अनुभवके लिये रहता है । इससे 'पुरिषाद' होकर पुरुष शब्द बन गया ।

अथवा-उसी 'पुर' शब्दके साथमें 'शीङ्, स्वप्ने' (अदा० आ०) धातु मिलकर 'पुरिशय' शब्दसे 'पुरुष' शब्द बना । क्योंकि-वह विशेषकर उन दोनोंमें शयन या स्थिति करता है ।

अथवा-पूरयति (पूरी आप्यायने) (चु०) धातुसे ही 'पुरुष' शब्द बना । क्योंकि—इस पुरुषसे व्यापक होनेके कारण सब जगत् पूर्ण है ।

अथवा-'पूरयति अन्तः' जिससे कि—यह भीतर ही पूर्ण रहता है, इस व्युत्पत्तिके सहारे अन्तर पुरुषके अभिप्रायसे उसी धातुसे 'पुरुष' शब्द बना । (यह बात प्रासङ्गिक है ।)

उक्त व्युत्पत्तिके प्रमाणमें निगम ।

"यस्मात् परं नापर मस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किञ्चित् । वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक स्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ।

अर्थ-जिससे पर या अपर कुछ नहीं है, जिससे छोटा अथवा बड़ा कुछ नहीं है । यह अभिप्राय है कि—सब वही है । प्रकाश-

स्वभाव अपने आत्मस्वरूपमें वृक्षके समान निष्क्रिय भावसे स्थित है, उसी पुरुषसे यह सब स्थावर–जङ्गम जगत् व्याप्त है ॥ ५ ॥

(खं० ६)

विश्वकद्राकर्षः । 'वि' इति "चकद्र" इति श्वगतौ भाष्यते । 'द्राति' इति गति कुत्सना । 'कद्द्राति' इति द्राति कुत्सना । 'चकद्द्राति'— 'कद्राति' इतिसतः—अनर्थकः—अभ्यासः । 'तत्-अस्मिन् अस्ति'—इति विश्वकद्रः । कल्याणवर्ण-रूपः । कल्याण वर्णस्य इव अस्य रूपम् । कल्याणं कमनीयं भवति । 'वर्णः'—वृणोतेः, 'रूप' रोचतेः। एवं तद्धित समासान् निर्ब्रूयात् । न-वैयाकरणाय, न अनुपसन्नाय,न अनिदंविदे वा । नित्यं हि अवि-ज्ञातुर्विज्ञाने असूया । उपसन्नायतु निर्ब्रूयात् । योवा—अलं विज्ञातुंस्यात् । मेधाविने, तप-स्विने वा ॥ ६ ॥

अनुवाद ।

[व्याख्येय शब्द-] 'विश्वकद्राकर्ष' । [व्याख्या-] 'वि'-यह [और-] चकद्र' यह शब्द श्वान या कुत्तेकी गति या चालमें बोला जाता है । 'द्राति' या 'द्रा' (अदा० प०) धातुगतिकी निन्दा [का वाचक है ।] 'कद्–द्राति' या 'कुत्' अव्ययके साथमें 'द्रा' [अदा० प०] धातु, 'द्रा' के अर्थकी निन्दा [का वाच–] है ।

'चक्कद्राति'—यंद्र कद्र द्राति' इस कर्तृवाच्य आख्यातका अनर्थक या अर्थशून्य अभ्यास हैं, [अभ्यास नाम दोहराया हुआ शब्द है ।] वह या निन्दितसे भी कुत्तेकी गति जिसमें है,-वह विश्व-कद्रु है । [उसको आकर्षण करने [खेंचनेवाले] को 'विश्व-कद्राकर्ष' कहते हैं] ।

[व्याख्येय शब्द—] 'कल्याण वर्णरूप' । [व्याख्या—] कल्याणवर्ण या शुभ रूपवालेके समान जिसका रूप हो ॥ [विग्रहके। शब्दकी व्याख्या—] 'कल्याण' नाम कमनीय या वाञ्छनीयका है । ['कमु' कान्तौ, [भ्वा०.आ०] धातुसे बना है ।] 'वर्ण' शब्द 'वृञ्' वरणे (स्वा० उ०) धातुसे है । 'रूप' शब्द 'रुच' दीप्तौ, (भ्वा० आ०) धातुसे है । इस [उक्त—] प्रकारसे तद्धित और समासोंका निर्वचन करे, किन्तु एक या अखण्ड पदोंका निर्वचन न करे । [अनधिकारी—] व्याकरणके न जाननेवालेके लिये [यह निर्वचन न सुनावे] न अशिष्यके लिये और न, इसको न जाननेवालेके लिये । क्योंकि—अजान या मूढ़को विज्ञानमें सदा ही असूया या, अश्रद्धा या निन्दा रहती है । [अधिकारी—] किन्तु उसके लिये जो उपसन्न या शिष्य धर्मसे अपने पास आवे, सुनावे । अथवा समझानेमें पूर्णरूपसे समर्थ हो । धारणावाली बुद्धिवालेको अथवा तपस्वीको—[सुनावे ।] ॥ ६ ॥

व्याख्या--

समासका द्वितीय उदाहरण ।

(समासार्थ)

विश्वकद्राकर्षः" = विश्वकद्रुमाकर्षति'—इति विश्वकद्राकर्षः । विश्वकद्रुको खेंचनेवाला, 'विश्वकद्राकर्ष' कहलाता है ।

(पदार्थ)

विश्वकद्र = 'वि' और 'चकद्र' ये दोनों शब्द श्वानकी गति (चाल) अर्थमें बोले जाते हैं। अर्थात्-जो मनुष्य कुत्तोंके साथ चलता है, दोनों शब्द मिल कर उसको बोधन करते हैं। इन्हीं दोनों शब्दोंके मेलसे 'विश्वकद्र' शब्द उत्पन्न होता है। भाष्यकार 'चकद्र' शब्दकी बनावटमें और भी महत्व बताते हैं कि—व्याकरणमें 'द्रा' (अदा० प०) धातुका कुत्सा (निन्दा) अर्थ है, और 'कत्' जो 'कु' के स्थानमें आदेश होता है, उसका भी कुत्सित अर्थ है। इन दोनोंके जोड़ देनेसे 'कद्रा' शब्द बन जाता है, जिसका 'निन्दित-की निन्दा' अर्थ हो सकता है। ऐसी धातु कल्पित करके उसीके पहिले अक्षर 'क' को 'च' से बदल कर, जिसे अभ्यास कहते हैं, अनर्थक मान कर पढ़ते है, ऐसा करनेसे 'चकद्रा' धातु बन जाता है। निन्दितकी निन्दा यहाँ पर इस रीतिसे होती है,—कि, कुत्तेके साथ जाना ही निन्दा है, फिर उसके साथ प्राणियोंकी हिंसा भी करना यह दूसरी निन्दा हो जाती है। इस प्रकार 'खोटी गति और खोटीसे भी खोटी गति' ये दोनो जिसमें हों, वो पुरुष 'विश्वकद्र' कहाता है, उसको किसी अपराधमें जो दूसरा मनुष्य, आकर्षण करता है, उसे 'विश्वकद्राकर्ष' कहते हैं।

दूसरा प्रकार।

कोई आचार्य कहते हैं कि—कुत्ता ही 'विश्वकद्र' है, क्योंकि—स्वभावसे ही इसकी हिंसाशील होनेसे कुत्सित गति होती है, और फिर उसके पैर भी विकल (बिगड़े हुए-टूटेके समान) होते हैं। इससे उसकी कुत्सितसे भी कुत्सितता है, 'वि' शब्द दोनों अर्थोंके मत्वर्थको बतानेवाला है, जिसके योगसे प्रतीत होगा कि-ऐसी गतियों वाला, इस रीतिसे कुत्ताका नाम 'विश्वकद्र' होता है, वो विश्वकद्राकर्ष है।

मेरी समझमें यदि 'वि, श्वन, कद्रा' (धा०) इनको जोड़ कर विश्वकद्र शब्द बनाया जाय तो और भी अनुकूलता पडती है। जैसे कि-"विशेषण श्वभिः सह कद्राति ('कुत्सितां कुत्सिततरांश्च गतिं करोति') इति विश्वकद्रः। अधिकतासे कुत्तोंके साथ बुरी और बुरोसे भी बुरी गति करता है, वो 'विश्वकद्र' होता है।

रूप-समास ।

(समासार्थ)

कल्याणवर्णरूपः—कल्याण वर्णके समान है रूप जिसका, वो 'कल्याणवर्ण रूप' कहलाता है। कल्याणवर्ण नाम सुवर्णका है। उसके समान जिसका रूप हो वह कल्याणवर्ण है, अग्नि या और कोई।

पदार्थ ।

"कल्याणम्" 'कमनीयम्' क्योंकि-वह सबको प्रार्थनीय होता है, इससे वह कल्याण कहलाता है।

"वर्णः"-वर्ण नाम रूपका है, क्योंकि-वह अपने आश्रय या आधारको आवरण कर लेता है।

"रूपम्" 'रूप' शब्द 'रुच-दीप्तौ' (भ्वा० आ०) धातुसे बनता है, क्योंकि-वह प्रदीप्त होता है।

उपसंहार ।

इस प्रकारसे तद्धित और समासयुक्त पदोंका निर्वचन करना चाहिये।

चेतावनी ।

जो 'एकपद' शब्द हैं, उनका निर्वचन ऐसी अवस्थामें न करना चाहिये कि-जब कोई द्रोहबुद्धिसे चाहे जहां पूछे, अर्थात् अपनी बुद्धिकी प्रगाढ़ता या तीव्रता दिखानेके लिये अथवा किसी अन्य

कारणसे स्वतन्त्रतापूर्वक निर्वचन न करे। क्योंकि-उन शब्दोंके अर्थका निश्चय प्रकरणसे या उसके समीपस्थ पदोंके सहारेसे होता है।

यदि प्रकरणको न समझ कर अन्यथा ही निर्वचन करेगा, तो प्रत्यवाय या पापके सम्बन्धसे हानि होगी।

जैसे कि—"जहा" (४, १, १) यह 'एकपद' है, यदि प्रकरण अथवा उपपदकी उपेक्षा करके इसकी व्याख्या की जाय, तो नहीं जाना जाता—'क्या यह 'हन्' धातुका है, या 'ओहाक् त्यागे' (जुहो० प०) का।'

जबकि—प्रकरण और उपपदकी अपेक्षासे इसका निर्वचन करते हैं, तो "मान एकस्मिन्" (ऋ० स०-६, ३, ४८, ४) में "मावधीः" यह पद है, उसीसे-"यह 'हन्' धातुका ही रूप है," यह निश्चय हो जाता है।

जिस पदके प्रकरण और समीपवर्त्ती पदका ज्ञान हो जाता है, उसीका अर्थ करना समञ्जस या न्याययुक्त होता है, इस रीतिसे जिन शब्दोंके संस्कारोंका पता नहीं है, ऐसे 'एकपद' शब्दोंका निर्वचन प्रकरण अथवा उपपदकी सहायतासे किया जा सकता है। इसीलिये 'एकपद' शब्दोंके निर्वचनका निषेध किया है।

समाम्नायके श्रवणका अधिकारी।

निर्वचनका लक्षण कहा गया, किन्तु अब उस पुरुषका लक्षण कहना चाहिये, जिसके लिये, ऐसे निर्वचनवाले समाम्नायका उपदेश किया जावे। इस कारण अब उस श्रवणके अधिकारीका लक्षण कहते हैं।

त्याज्य श्रोता।

१—"नावैयाकरणाय"। जिसने व्याकरण-शास्त्र नहीं पढ़ा हो, क्योंकि-वह लक्षणका जानकार न होनेसे व्युत्पत्तिपूर्वक

निर्वचन करबे पर भी न समझेगा तथा श्रम की व्यर्थता होगी।

२—"नानुपसन्नाय" । "क्या ही इसने बड़ा अद्भुत काम किया है, जोकि-इसने व्याकरण पढ़ लिया है"—ऐसे गौरवके साथ उस वैयाकरणको भी यह शास्त्र न पढ़ाय जाय जो गुरुका अभक्त हो। क्योंकि-धर्म सर्वथा ही अपरित्याज्य है, इससे वैयाकरणको भी, उसीको पढ़ाना जो सच्ची शिष्यवृत्ति रखता है।

३—(क) "अनिदंविदे" वैयाकरण भी कोई जड़ होता है, जिसको समझाने पर भी नहीं समझ पड़ता। जिससे कि-इस शास्त्रमें देवता आदि अनेक सूक्ष्म पदार्थ ज्ञातव्य हैं, इसीलिये जो इस शास्त्रकी बातोंको विशेष रूपसे समझनेमें असमर्थ हो, उसे वैयाकरण होने पर भी न बतावे।

(ख) जो आत्मवित् न हो, उसे भी न पढ़ावे। किन्तु आत्मवेत्ता या योगीको ही इस शास्त्रका उपदेश करे। क्योंकि—उस पुरुषके आत्मज्ञानसे सब पाप दूर होजाते हैं, इसलिये वह थोड़े ही यत्नसे सूक्ष्म अर्थोंको जाननेमें समर्थ होता है।

(ग) अथवा—किसी शास्त्रके जाननेवालेसे 'इदंवित्' पदका प्रयोजन है, जिसने पहिले कोई भी शास्त्र न पढ़ा हो, उस अनिदंविद, मलिन या संस्कार-शून्यहृदयको यह शास्त्र उपदेश नहीं करना चाहिये।

इसका कारण यह है कि—जिस पुरुषको किसी प्रकारका भी विज्ञान नहीं होता, वह स्वयम् न समझता हुआ अपने दोषको आचार्यमें ही लगाता है, कि—"आप ही गुरु नहीं समझता है, मुझे क्या समझावेगा" इसलिये जिसने पहिले अन्य शास्त्र नहीं पढ़ लिया हो, तथा किसी प्रकारका शास्त्रके जाननेके लिये मनमें जिसे खेद न हो, उसे निरुक्त शास्त्र नहीं पढ़ाना।

ग्राह्य अधिकारी ।

१-जो कोई भी पुरुष मेधावी हो, जिसे जन्मान्तरोंके अनुभवोंके संस्कार हो, अथवा तपस्वी हो, ये चाहे व्याकरण न भी पढ़े हों, किन्तु दोनोंको यह शास्त्र पढ़ाना चाहिये । क्योंकि-इन दोनों प्रकारके पुरुषोंको कुछ असाध्य नहीं है । जैसे-पूर्वकालमें तपके प्रभावसे ही स्वयम् ही ऋषियोको वेदार्थका प्रादुर्भाव होगया था, इसी प्रकार मेधावी पुरुष भी स्वयम् उत्प्रेक्षा करनेमें समर्थ हो सकता है, फिर उससे कहा जाय तो समझनेमें आश्चर्यही क्या है।

अथवा और कोई पुरुष दृढ़ग्राही वा स्थिरमति शास्त्रके अर्थको समझनेमें समर्थ हो, ऐसे मनुष्यके लिये सर्वथा ही निर्वचन करे। किन्तु जो शरणागत न हो, उसके लिये कभी न उपदेश करे, चाहे वो तपस्वी, मेधावी तथा दृढ़ग्राही क्यों न हो? जैसा कि-कहा है।

"यश्चान्यायेन निब्रूयात् यश्चान्यायेन पृच्छति ।
तयोरन्यतरो मृत्युं विद्वेषं वाधिगच्छति ॥ ६ ॥"

अर्थः—जो अन्यायसे निर्वचन करे और जो अन्यायसे पूछे, उन दोनोंमें जो दोषी हो वह, मृत्युको या विद्वेषको प्राप्त होता है।

(खं० ७)

"विद्याह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय
मा शेवधिष्टेहमस्मि ।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा
ब्रूया वीर्यवती तथास्याम् ॥
य आतृणत्त्यवितथेन कर्णा व
दुःखं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन् ।
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै
न द्रुह्येत्कतमच्च नाह ॥

अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते
विप्रा वाचा मनसा कर्मणाऽवा ।
यथैव ते न गुरोर्भोजनीया-
स्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत् ॥
यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं
ब्रह्मचर्योपपन्नम् ।
यस्ते न द्रुह्येत्कतमच्च नाह तस्मै
माब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ॥"
इति—। निधिः शेवधिः,-इति ॥ ७ ॥

विद्याकी अधिदेवता इच्छित रूप धारण कर किसी वेद-वेदाङ्गों-के जाननेवाले जितेन्द्रिय ब्राह्मणके पास आई, और उसके पास जा कर नम्र हो कर बोली—

विद्या—हे ब्रह्मन्! तू मेरी रक्षा कर। फिर रक्षित होकर मैं तेरे सुखका निधान या कोश बनूंगी।

ब्राह्मण—मैं किससे तेरी रक्षा करू ?

विद्या—जो मनुष्य दूसरेमें दोषारोप किया करते हैं, जिसकी वृत्तियां मन, वाणी, और देहमें समानतासे नहीं रहतीं, तथा जिसकी इन्द्रियाँ चञ्चल हों, या जिसके किसी न किसी अङ्गमें अपवित्रता बनी रहती हो, ऐसे मनुष्यके लिये मुझे मत दे।

ब्राह्मण—ऐसा करनेसे क्या होगा ?

विद्या—ऐसा करनेसे तुम्हारी मैं वीर्यवती हो जाऊंगी, किञ्च जो ब्राह्मण शिष्यके खुले हुए कानोको सत्य-ब्रह्म (वेद) से भर देता है, जिसके भरनेसे उसे सुख हो जाता है, जो ब्राह्मण मोक्षके देनेवाले ज्ञानको देता हुआ उसके कानोंको भरता है, उसीको माता तथा पिता मानें, किन्तु दूसरे जन्मदाताओंको नहीं, कहा भी है—

"उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्मदः पिता।
"ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम्॥
[म० सं०-२, १४६]

अर्थः—जन्म देनेवाले और ब्रह्म (वेद) के देनेवाले दोनों पिताओंमें ब्रह्म देनेवाला ही पिता श्रेष्ठ होता है, क्योंकि-ब्रह्मजन्म ही ब्राह्मणका इस लोक और परलोकमें स्थायी रहनेवाला है।

उस गुरुके लिये जो अकेला ही माता-पिता दोनोंको मूर्त्ति है, कभी द्रोह न करे, चाहे घोर आपत्ति पड़े॥

दुष्ट शिष्योंके लिये—

जो ब्राह्मण मेधावी, गुरुसे विद्या पढ़ कर फिर उसका मन वाणी तथा कर्मसे आदर नहीं करते, वे जिस प्रकार गुरुके भोजन योग्य नहीं होते (उनके यहां गुरु भोजन नहीं करते) उसी प्रकार पढ़ा हुआ शास्त्र भी उनको रक्षा नहीं करता, अर्थात् शास्त्रके फलसे उन्हें संयुक्त नहीं करता।

विद्या देने योग्य शिष्य।

हे ब्रह्मन्! जिसको तू जाने कि- "यह शुचि है, यम-नियमोंमें अप्रमत्त है, मेधावो है, ब्रह्मचर्यसे युक्त है, और जो तेरे लिये किसी आपत्तिकी अवस्थामें भो द्रोह न करे, उसो तेरे विद्या-रूप कोशको रक्षा करनेवालेको तू मुझे दे॥"

"निधिः"। 'निधि' शब्दका अर्थ 'शेवधि' है, 'शेव' नाम सुखका और उसके निधान या आश्रयको 'शेवधि' कहते हैं॥ ७॥

इति हिन्दी निरुक्ते द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः।

द्वितीय पादः ।

अथ निघण्टु प्रथमाध्यायः ॥ १ ॥

[निघ०-] गौः (१) । ग्मा (२) । ज्मा (३) । क्ष्मा (४) । क्षा (५) । क्षमा (६) । क्षोणिः (७) । क्षितिः (८) । अवनिः (९) । उर्वी (१०) । पृथ्वी (११) । मही (१२) । रिपः (१३) । अदितिः (१४) । इला (१५) । निर्ऋतिः (१६) । भूः (१७) । भूमिः (१८) । पूषा (१९) । गातुः (२०) । गोत्रा (२१) । इति-एकविंशतिः पृथिवीनामधेयानि ॥ १ ॥

(खं० १)

अथ-अतः-अनुक्रमिष्यामः । 'गौः'-इति पृथिव्या नामधेयम् । यद् दूरं गता भवति । यत् च अस्यां भूतानि गच्छन्ति । गातेर्वा 'औ'कारो नामकरणः ।

अथापि-पशुनाम इह भवति-एतस्मात्-एव ।

अथापि-अस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवत्-निगमा भवन्ति । [यथा-] "गोभिः श्रीणीत मत्सरम्" [ऋ० सं०; ७, १, ३, ४] इति पयसः । 'मत्सरः' सोमः, मन्दतेः-तृप्तिकर्म्मणः । 'मत्सरः'-इति लोभनाम । अभिमत्तः एनेन धनं भवति । 'पयः' पिबतेर्वा;

प्यायतेर्वा। 'चीरं' चरतेः; घसेर्वा। 'ई'कारो नाम-करणः। 'उशीरम्'-इति यथा।

"अंशुं दुहन्तो अध्यासते गवि" [ऋ० सं०; ८, ४, ३०, ४] इति अधिषवण चर्मणः। 'अंशुः' शमष्ट-मात्रो भवति। अननाय शं भवति,-इति वा। 'चर्म' चरतेर्वा। उच्चृत्तं भवति-इति वा।

अथापि-चर्म च श्लेष्मा च। [यथा-] "गोभिः सन्नद्धो असिवील यस्व" [ऋ० सं०; ४, ७, ३५, १] इति-रथस्तुतौ।

अथापि-स्नाव श्लेष्मा च। [यथा-] "गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता"-इति-इषुस्तुतौ।

ज्यापि 'गौः' उच्यते। गव्या चेत्, ताद्धितम्। अथ चेत्,-न गव्या,गमयति,-इषून् इति [यथा-] ॥१॥

अनुवाद।

जिससे कि-सामान्य व्याख्या होचुकी इसीसे अब शब्दोंको विशेष व्याख्याके लिये अनुक्रमण करेंगे। 'गो' यह पृथिवीका नाम है, जिससे कि—दूर गई हुई है। और जिससे कि—इसमें प्राणी गमन करते हैं। अथवा 'गाङ्' गतौ (भ्वा० आ०) धातुसे है। 'ओ' प्रत्यय होजाता है।

और-इसी धातु और व्युत्पत्तिसे यहाँ पशुका भी नाम होता है।

और-इस गो पशुमें पूरे अर्थके समान गौण-रूपसे प्रयोग होनेमें [मन्त्र] निगम या ज्ञापक हैं। [जैसे—]

"गोभिः श्रीणीत मत्सरम्"-[अर्थ-] दूधसे सोमको पकाओ। इस ऋचामें 'गो' नाम दूधका है। 'मत्सर' नाम सोमका है। तृप्ति अर्थमें 'मदि' [भ्वा० आ०] धातुसे है। 'मत्सर' यह लोभका नाम भी है। क्योंकि-लोभसे धन, और उससे मनुष्य उन्मत्त होता है। 'पयस्' शब्द 'पा' पाने (भ्वा० प०) धातुसे होता है। अथवा 'ओप्यायी' वृद्धौ (भ्वा० आ०) धातुसे। 'क्षीर' शब्द 'क्षर'-श्च्योतने (भ्वा० प०) धातुसे है। अथवा 'घस्लृ' अदने (भ्वा० प०) धातुसे। 'ईर' प्रत्यय होता है। जैसे—'उशीर' शब्दमें।

'अशुं दुहन्तो अध्यासते गवि" इस ऋचामें 'गो' नाम अधिषवण चर्मका है। 'अशु' नाम यजमानको सम्बन्ध मात्रसे ही सुखका देनेवाला। अथवा सब प्राणियोंके जीवनके लिये सुखरूप होनेवाला। 'चर्म' शब्द 'चर' गतौ (भ्वा० प०) धातुसे है। अथवा शरीरसे उखाड़ा जाता है, इसीसे वह चर्म है। ['चृती' हिंसायाम् (तु० प०) धातुसे है।]

और-'गो' नाम चर्म और श्लेष्माका भी है। जैसे—

"गोभिः सन्नद्धो असिवील यस्व"

अर्थः—'हे रथ तू 'गो' नाम चर्मसे मढ़ा हुआ, अथवा चर्बीसे चुपड़ा हुआ है, तू चल' इस रथकी स्तुतिमें।

स्नाव (नाड़ी) और श्लेष्मा (चर्बी) का भी वाचक है। [जैसे-]

"गोभिः संनद्धा पतति प्रसूता"

[अर्थः-] जो बाण गो या सूक्ष्म आँतोंके सूतोंसे बंधी हुई, और धनुष्मान्से प्रेरित हुई चलती है।

ज्या—नाम धनुषकी ताँत भी 'गो' कहलाती है। यदि वह गोके द्रव्यसे बनी हो, तो वहाँ 'गो' शब्द गौण है। और यदि गोकी नहीं है, तो 'बाणोंको चलाती है', इस व्याख्यासे मुख्य है॥१॥

व्याख्या ।

यास्क मुनिने जैसी प्रतिज्ञा की थी, कि-'मैं समाम्नायकी व्याख्या करूंगा।" उसके अनुसार आप सम्पूर्ण समाम्नायकी सामान्य व्याख्याको पूरी कर चुके हैं,-जैसे कि, 'यह सब नामोंका सामान्य लक्षण है'-'यह आख्यातोंका'-'यह उपसर्गोंका' और 'निपातोंका' एवम्, उसीके प्रसङ्गमें शास्त्रके आरम्भके प्रयोजन कहे, आगमका परिशोधन[1] किया, वेद और वेदाङ्गोंका विस्तार प्रयोजन सहित कहा, निघण्टु समाम्नायकी तीन प्रकरणोंके विभागोंसे विरचनाका उपदेश किया, तथा अनेक विस्तारोंके सहित निर्वचनका लक्षण कहा।

अब विशेष व्याख्यासे समाम्नायकी प्रतिपद व्याख्या करना है, उसीके लिये विशेष प्रतिज्ञा करते हैं—"अथातोऽनुक्रमिष्यामः"

विशेष व्याख्याका परिचय ।

विशेष व्याख्यासे प्रयोजन एक एक शब्दकी व्याख्यासे है, सामान्य व्याख्यामें शब्दोंके बड़े बड़े समूहोंके साथ परिचय दिये जाते हैं, जैसे—आख्यात और नाम आदि। किन्तु यहाँ निघण्टुमें जो 'गौः' 'ग्मा' 'ज्मा' आदि "देवपत्नी" पर्य्यन्त शब्द परिगणन किये हैं, उनमेंसे एक एक शब्दकी पृथक् पृथक् व्याख्या होगी।

जिस प्रकार सामान्य व्याख्यामें आपने अनेक प्रसङ्गोंकी आपत्तियोंके साथ अनेक उत्तम विषयोंका प्रदर्शन कराया है, उसी प्रकार आपकी विशेष व्याख्या भी बहुत चमत्कारोंको अङ्कमें लिये हुए है। निरुक्त-शास्त्रको आद्यन्त देखनेसे प्रतीत होता है कि—इस शास्त्रके द्वारा वेदके जिस विभागकी पूरी व्युत्पत्ति होती है, वह

१—मन्त्रोंके आनर्थक्यका आक्षेप और उसका समाधान।

दूसरे किसी वेदाङ्ग या शास्त्रसे नहीं हो सकती, सर्वथा यह अङ्ग अपने प्रयोजनके लिये स्वतन्त्र और महत्व-पूर्ण है। शब्दोंके अर्थके स्थिर करने तथा उनके ऐतिहासिक तत्वकी शिक्षा देनेमें अन्य, शास्त्रोंसे इसका प्रथम आसन है, इसमें कोई आपत्ति नहीं उठा सकता।

जिस प्रकार इस समाम्नायमें 'नैघण्टुक' 'नैगम' और 'दैवत' यह तीन काण्ड अलग अलग स्थित हैं, उसी प्रकार इनकी विशेष व्याख्यायें भी पृथक् पृथक् प्रकारकी हैं। ऐसा होना भी चाहिये था, क्योंकि—जब उनमे पृथक् पृथक् जातिके शब्द हैं, तो उनकी व्याख्याके उपाय या साधन भी पृथक् पृथक् होगे। इस स्वाभाविक नियमके अनुसार प्रथम क्रमागत नैघण्टुक काण्डमें प्रत्येक शब्दकी व्याख्यामें आवश्यकतानुसार प्रायः सात बातें दिखाई जावेंगी। जैसे—तत्व या व्याख्येय शब्दका वाच्य-अर्थ (१) पर्याय शब्द जो उसका समानार्थक, और उसी अर्थमें प्रसिद्ध हो (२) भेद या व्याख्येय शब्दकी व्युत्पत्ति (३) संख्या या निघण्टुमें व्याख्येय शब्दके समान अर्थमें दिखाये हुए शब्दोंकी गणना (४) संदिग्ध, व्याख्येय शब्दका वह अर्थ जो दिखाये हुए अर्थसे भिन्न हो (५) सन्दिग्धोदाहरण, अर्थात्—वह उदाहरण, जिसमें उन दोनों अर्थोंका सम्भव हो (६) और उसका निर्वचन, अर्थात् जो मन्त्र या निगम उदाहृत किया है, उसकी व्याख्या (७)।

वास्तवमें व्याख्या उसीको कहते हैं, कि—जिस वस्तुकी व्याख्या करना हो, उस वस्तुके सम्बन्धको लेकर जितने प्रश्न उठ सकें, उनमें प्रत्येकका उत्तर दिया जाय। परन्तु मैं जहां तक समझता हूं, संसारमें कोई ऐसी वस्तु नहीं, जिसके सम्बन्धको लेकर उठनेवाले प्रश्नोंका अन्त हो, सुतराम्, संसारकी प्रत्येक वस्तुके सकल प्रश्नोके अन्त पर अपने प्रश्नोंके अन्तको निर्भर करती

है। इस रीतिसे जो पुरुष किसी एक वस्तुकी व्याख्या करने बैठता है, मानो वह सकल संसारकी ही व्याख्या करेगा, किन्तु ऐसा करना सर्वथा असाध्य है, यदि साध्य होता तो अबतक कोई महापुरुष वैसा कर ही डालता, या, यों समझिये कि-संसारमें जितने पुस्तक हैं, वे सब उसी महाव्याख्याके भाग मात्र है। इस लिये मानना होगा कि-जिस वस्तुकी व्याख्यामें वक्ताकी इच्छा-नुसार जितने प्रश्न आवश्यक या उपयुक्त हों, उनके उद्धारका ही नाम व्याख्या है।

इसी प्रयोजनसे हमारे यास्क मुनि भी प्रत्येक व्याख्येय शब्दों-मे आवश्यक प्रश्नोंको दिखाते हैं, जिनके द्वारा अध्येता पुरुष शब्दोंके अर्थनिर्णयमें पूर्ण योग्यता प्राप्त कर लेता है। ऐसे व्याख्याके समझानेके लिये कोई कल्पित उदाहरण न रख कर यास्क मुनिके प्रथम व्याख्येय गो शब्द (गौः) तथा उसकी व्याख्याको ही हम लेते हैं, उसीके अनुसार सकल नैघण्टुक शब्दोंमें कल्पना करना होगी।

"गौः"

व्याकरणके समान इस शास्त्रका भी प्राधान्यसे शब्दतत्व ही सामान्य व विशेष रूपसे व्याख्येय होता है, इस लिये यहाँ 'गौः' आदिके कहनेसे उसके अर्थकी व्याख्याका लक्ष्य न समझ कर शब्द-के स्वरूप पर ही ध्यान रखना होगा।

यहाँ "गौः" या 'गो' शब्द, जिसका शरीर 'ग्-ओ'-इन दो अक्षरोंसे बना हुआ है, व्याख्येय है।

(१) गो शब्दका तत्व क्या है, जिसका यह अभिधान करता है? पृथ्वीरूप द्रव्य।

(२) गो शब्दका पर्याय क्या है, जो इसके अभिधेय अर्थको अभि-धान करता है? 'पृथ्वी' शब्द।

(३) गो शब्दकी व्युत्पत्ति क्या है, या वह क्या कारण है, जिससे यह गो शब्द अपने पृथ्वीरूप द्रव्य अर्थ पर रहता है ?

[क] यह दूर तक गई हुई है, "दूरं गता भवति" अर्थात् जहाँ तक मनुष्य जाय, वहां सब जगह मिलती है, इसका अन्त नहीं है। प्रयोजन यह है कि—'ग्' गम्लृ गतौ (भ्वा० प०) का होनेसे गमन अर्थको बोधन करता है, और 'ओ' (उ० प्र०) सम्बन्धीको, क्योंकि-पृथ्वीमें गमनका सम्बन्ध है, इसीसे इन दोनों अक्षरोंका योगरूप 'गो' शब्द पृथ्वी पर गया।

[ख] जिससे कि-इस पर सब भूत (प्राणी) गमन करते हैं, इसीसे यह 'गो' है, इस व्युत्पत्तिमें भी दूसरे प्रकारसे गमनके सम्बन्धके कारण ही 'गो' शब्द पृथ्वी द्रव्यमें रहता है। "यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति"।

(४) क्या 'गो' शब्द 'गम्लृ, गतौ' (भ्वा० प०) धातुसे अतिरिक्त धातुसे भी बन सकता है? हाँ, 'गाङ्, गतौ' (भ्वा० आ०) धातुसे। इसमें भी 'गम्' के समान 'ग्' और गति अर्थ दोनों हैं।

(५) क्या 'गो' शब्द 'गम्' या 'गा' धातुसे ही बनता है, इसमें किसी नामकरण प्रत्ययके योगकी आवश्यकता नहीं है? नहीं, है,-इसमें 'ओ'कार नामकरण प्रत्यय है। "ओकारो नामकरणः"।

धातु केवल क्रियाहीको कहता है, किन्तु उसके सम्बन्धको नहीं, इसीसे वह अकेला किसी द्रव्यका नाम नहीं बन सकता, जैसे जो धातु खानेका नाम है, वह खानेवालेका नहीं हो सकता, उसके बोधनके लिये भाषामें खानेके सामने 'वाला' शब्दके समान किसी शब्दके योगकी अपेक्षा रहती है, ऐसे ही सम्बन्धके बोधक

शब्दोंको कृत् प्रत्यय या नामकरण कहते हैं। इसी प्रकार धातुओं-से नामकरणोंके योग होनेसे सब नाम बनते हैं। यही नामकरण प्रत्योंकी नामकरणता है।

(६) क्या निघण्टुके अनुसार 'गो' शब्दका पृथ्वी द्रव्य ही अर्थ है, अन्य कोई नहीं? नहीं, है, इन्हीं दोनों कारकोंमें तथा इन्हीं दोनों धातुओंसे 'गो' यह पशुका नाम होता है। अर्थात् यह भी स्वयम्, गमन करता है, तथा इसमें भी मनुष्य दुग्धादिके लिये गमन करते हैं। "अथापि पशुनामेह भवति"।

(७) क्या यह 'गो' शब्द जिस प्रकार सम्पूर्ण 'गो', पशुको बोधन करता है, उसी प्रकार उसके किसी भाग विशेषको भी बोधन करता है? हाँ, कहीं, गोके दूधका नाम भी हो जाता है। जैसे-'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्"। [ऋ० सं०-७, १, ३, ४]

यह अनेक प्रकारसे शब्दकी वृत्तिका विषय इस लिये दिखाया जाता है कि-क्यों नहीं शिष्य, इस प्रकारसे शब्दकी वृत्तियोंको जानकर मन्त्रोंके अर्थोंका निर्वचन करेगा।

"आधावता सुहस्त्यः शुक्रामभ्णीत मन्थिना।
गोभिः श्रीणीत मत्सरम् ॥" [ऋ० सं०, ७, १, ३, ४]

अयास्य आङ्गिरस ऋषि, गायत्री छन्दः, ग्राव (पाषाण) स्तुतिमें विनियोग।

हे सुवर्णसे अलङ्कृत हस्तवाले अध्वर्युओ! दौड़ आवो, इन शुक्रा मन्थी नामक ग्रहोको, समयके बीतनेसे पहिले ही, ग्रहण करो, और गौओंसे निकले हुए दुग्धसे इस सोमको पकाओ, तथा पक कर ठण्डा होने पर उससे होम करो।

यहाँ पर जिस सोम-पाकका विधान मन्त्रसे ही प्रतीत होता है, वह [सोम-पाक] साक्षात् गौओंसे शक्य नहीं, इस कारण गो शब्दसे, गौके दुग्ध का ही ग्रहण है ऐसी, प्रतीति होती है।

१—उक्त मन्त्रमें "मत्सर" नाम सोमका है, क्योंकि–वह 'मन्द' [मदि स्तुति मोद मद स्वप्न कान्ति गतिषु] धातु [भ्वा० आ०] से बनता है। "मदन्ते तृप्यन्ति देवता अनेन इति मत्सरः" जिससे देवता तृप्त होते हैं, वह 'मत्सर' कहा जाता है।

२—'मत्सर' लोभका भी नाम है, क्योंकि, मनुष्यमें जब लोभ आ घुसता है, तब वह धनको ही सब कुछ देखता हुआ,अन्य जगत्से विमुख होकर उन्मत्त हो जाता है।

पहिला 'मत्सर' शब्द, उदाहरणमें आनेसे **'उदाहरण-प्रसक्त'** होकर व्याख्यामें आया, और दूसरा 'मत्सर' शब्द प्रथम 'मत्सर' शब्दके समान होनेसे ही आया है, ऐसे शब्दको 'शब्द-सामान्य प्रसङ्ग-प्रसक्त' कहते हैं।

"पयः"—[क-] पिबतेर्वा पानार्थस्य" 'पयस्' शब्द 'पा' (भ्वा० प०) पाने, धातुसे बनता है, क्योंकि–वह पान किया जाता है।

[ख-] "प्यायतेर्वा वृद्ध्यर्थस्य" अथवा वृद्धि अर्थवाले 'प्याय्' [भ्वा० आ०] धातुसे बनता है, क्योंकि, उससे प्राणी वृद्धिको प्राप्त होते हैं।

उक्त मन्त्रमें जो 'मत्सर' शब्द आया है, उसीका पर्याय पयस् शब्द है, इससे, इसकी व्याख्या की गई है। ऐसे शब्दको **पर्याय-प्रसक्त** कहते हैं।

"क्षीर क्षरतेः" श्च्योतनार्थस्य। 'क्षीर' शब्द 'क्षर' (भ्वा० आ०) धातुसे बनता है, 'क्षर' का क्षरण या झरना अर्थ होता है, दूधको क्षीर इसीसे कहते हैं, कि—वह ऊधस् या ऊँढ़ीसे झरता है।

(ख) अथवा 'क्षीर' शब्द भक्षण अर्थवाले 'घस' धातुसे बनता है, वास्तवमें यह शब्द 'अद' भक्षणे (अदा० प०) धातुसे बनता है, 'घस' उसीका आदेशमात्र है।

कोई आचार्य कहते हैं कि—'घस' धातु स्वतन्त्र है, किन्तु 'अद' धातुका आदेश नहीं है।

जब 'घस' धातुसे क्षीर शब्द बनाते हैं, तब उससे 'ईर' प्रत्यय जोड़ते हैं, जैसे कि, 'वश-कान्तौ' (अदा० प०) धातुसे 'ईर' प्रत्यय लग कर 'उशीर' शब्द बन जाता है। धातुके वकारको 'उ' सम्प्रसारण आदेश होता है। उशीर नाम खसका है, उसमें सुन्दर गन्ध रहता है, इसीसे इस नामको 'वश-कान्तौ' धातुसे बनाना उचित हुआ।

'गो' शब्द अधिषवण चर्मका वाचक भी होता है, जिस पर कि—'सोमयाग' में सोमलता, का रस निकालनेके लिये अभिषव संस्कार होता है।

तात्पर्य यह है कि—जिस प्रकार, यह गो शब्द सम्पूर्ण गोका वाचक है, उसी प्रकार गोके एक भाग-(अंश) रूप चर्मका भी वाचक है, इसीको **'कृत्स्नवत् अभिधायक'** कहते हैं।

उदाहरण—"ते सोमादो हरी इन्द्रस्य निंसतेऽशुं दुहन्तो अध्यासते गवि। तेभिर्दुग्धं पपिवान् सोम्यं मध्विन्द्रो वर्द्धते प्रथते वृषायते। [ऋ० सं०-८, ४, ३०, ४]

जगती छन्दः, अर्बुद नामका द्रवेय ऋषि, ग्राव (पाषाण) स्तुतिमें विनियोग।

ये सोमरसके भक्षण करनेवाले पाषाण जब अभिषव (कुट्टन) कर्ममें प्रवृत्त होते है, उस समय इन्द्रके घोड़े यज्ञमें आगमनके

अर्थ इनके शब्दको सुन कर सोमको संस्कृत हुआ ज्ञान कर रथमें जुड़नेकी इच्छा करते हुए स्वयम् ऋजीष या खूखसको भक्षण करनेके लिये, और इन्द्रको सोमरस पिलानेको आप ही आप जूएमें संयुक्त होनेके लिये अपनी गर्दनोंको झुकाते है, मानों सूचित करते हैं, कि-'हे इन्द्र! यज्ञस्थानमें चल, सोम तय्यार है'। उधर ऋत्विज् लोग भी इन्द्रके आगमन-कालको ज्ञान कर शीघ्र शीघ्र गोके अवयवभूत अधिषवण चर्मके ऊपर सोमरसको निचोड़ते हुए डटे रहते हैं, मानों इस कर्मको करते हुए इसकी प्रतीक्षा ही कर रहे हैं, कि—इतनेमें इन्द्र आकर उनके दुहे हुए मधुर सोमरसको पान कर उससे तृप्त होता है। अनन्तर वीर्यसे बढ़ता है, पश्चात् शरीरसे विस्तृत होता है, और फिर विस्तीर्ण हो कर अपने वीर्यसे मेघको विदीर्ण करके वृष्टिको प्रवृत्त करता है।

जिस सोमरसको पान करके इन्द्र देवता वर्षण आदि कर्मसे सब जगत्‌को अनुगृहीत करता है, उस सोमरसकी लोढी शिलपट्टोंसे ही सिद्धि होती है, इससे, इस सम्पूर्ण उपकारके मूल कारण ये ही हुए, इस रीतिसे मन्त्रोक्त स्तुति ग्रावोंकी ही होती है।

निगम प्रसक्तका[1] निर्वचन।

"अंशुः" शमष्टमात्रो भवति, 'अंशु' नाम सोमका है, तथा वह सुख-वाचक 'शम्' अव्यय और 'अशू व्याप्तौ' धातु [स्वा० आ०] से बनता है। इनसे यह अर्थ निकलता है कि-जैसे ही यजमान सोमको सम्पादन करके उस पर अपनी व्याप्ति कर लेता है, वैसे ही, वह, उसके लिये सुखरूप हो जाता है, अर्थात् सोमके कर लेनेसे सुखी हो जाता है कि,—मैंने सोम याग कर लिया,

---

१ किसी शब्द पर दिये हुए निगम या मन्त्रमें व्याख्येय शब्दको निगम-प्रसक्त कहते हैं।

और जन्म लेनेका जो ऋण है, वह चुका दिया, मैं कृतकृत्य हो गया,—इस प्रकार उसके मनका दुःख जो अपने ऊपर ऋणका भार समझता है, दूर हो जाता है।

अथवा 'शम्' अव्यय और 'अन-प्राणने' [अदा० प०] धातुसे अंशु शब्द बनता है। अर्थात्—सोम सब प्राणियोंके जीवनके लिये सुखरूप होता है, क्योंकि, यज्ञसे वृष्टि होती है, उससे सब प्राणी सुखसे जीवन करते हैं, इसीसे, इसका नाम 'अंशु' है।

"गो' शब्द अधिषवण = चर्मका भी वाचक है"— ऐसी पूर्वोक्त व्याख्यामें 'चर्म' शब्द भी एक ऐसा आगया जिसका निर्वचन कर देना भाष्यकार आवश्यक समझते हैं। ऐसे शब्द **व्याख्या-प्रसक्त** कहे जाते हैं।

[क] "चर्म—चरतेर्वा" 'चर्म' शब्द 'चर-गतिभक्षणयोः' [भ्वा० प०] धातुसे बनता है। क्योंकि-वह सम्पूर्ण शरीरमे चरितनाम गत या व्याप्त होता है, इसीसे वह चर्म कहलाता है।

[ख]- 'उच्चृत्तं भवति-इति वा" अथवा, वह, शरीरसे उधेड़ा जाता है, इससे 'चर्म' कहलाता है। 'चृती-हिंसाग्रन्थनयोः [तु० प०] धातुसे बनता है। 'गो' शब्द चर्म व श्लेष्माका भी वाचक होता है। जैसे कि—

"गोभिः सन्नद्धो असिवील यस्व" [1]। [ऋ० सं०, ४, ७, ३५, १] यह रथस्तुति है। रथ चर्म से मढ़ा हुआ होता है, और उसके अरे,

---

१—वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया अस्मत् सखा प्रतरणः सुवीरः। गोभिः सन्नद्धो असि वीलयस्वा स्थाताते जयतु जेत्वानि॥ [ऋ० सं०-४, ७, ३५, १। य० वा० स०-२६, ५२। अथर्व स०-६, १२, ५, १।]

श्लेष्मा या चर्बी से चुपड़े हुए होते हैं। यहां चर्म तथा श्लेष्माके अतिरिक्त अन्य किसी अर्थका संभव नहीं है। जैसे कि,—

"गोभिः सन्नद्धा[2] पतति प्रसूता" [ऋ० स०, ५, १, २१, १] यह बाणकी स्तुति है।

'इषु' भी स्नाव (नाड़ी) से वेष्टित और श्लेष्मासे चुपड़ा हुआ होता है।

'ज्या' को भी 'गो' शब्दसे बोलते हैं। यदि वह गोसे ही बनी हुई हो तो वहां 'गो' शब्दको ताद्धित या गौण समझना। जो नाम जिस वस्तुका होता है, वह नाम जब उस वस्तुके किसी अवयव या उसके सम्बन्धी, किसी अन्य, वस्तुको कहे, तो उसे गौण समझना उसीको ताद्धित कहते हैं। जो शब्द, जिस अर्थमें प्रसिद्ध हो, उस अर्थमें उसकी मुख्यावृत्ति समझना, और उस शब्दको वहां मुख्य या अभिधायक जानना। यदि शब्द उस मुख्य अर्थके सम्बन्धसे ही, किसी अन्य अर्थमें चला जाय तो, वहां, उस शब्दको गौण, और उसकी वृत्तिको गौणी समझना।

इसी रीतिसे गो, शब्द, गौ अर्थमें मुख्य है, और गोके चर्म, स्नाव तथा श्लेष्मा आदि अर्थमें गौण है। ऐसे ही अन्यत्र अन्यत्र भी ध्यान रखना चाहिये। यह शब्दका स्वभाव ही है, कि,—वह जिस अर्थमें प्रसिद्ध होता है, अविकृत होकर भी उससे हट कर उसके किसी भागमें चला जाता है। शब्दोंके व्याख्यानमे यह बात प्रायः देखी जाती है, इससे ऐसे स्थलोंमें आश्चर्य नहीं मानना।

२—सुपर्णं वस्ते मृगो अस्या दन्तो गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता। यत्रानरः संच विच द्रवन्ति तत्रास्मभ्यः मिषवः शर्म यंसन्॥ [ऋ० सं०–५, १, २१, १। य० वा० सं०–२६, ४७।]

[ख] यदि वह ज्या गोसे बनी हुई न हो तो, वहां 'गो' शब्दकी "गमयति इषून्—इति गौः" 'बाणोंको फेंकनेवाली'—ऐसी व्युत्पत्ति करके अन्य द्रव्य ही लेना। इस व्युत्पत्तिमें 'गो' शब्द स्वतन्त्रतासे ज्या अर्थमें आता है, किन्तु किसी अन्य अर्थके द्वारा नहीं, इससे मुख्य है, गौण नहीं। जैसे, क्कि पूर्व, अर्थमें था ॥ १ ॥

[खं० २]

*

"वृक्षे वृक्षे नियतामीमयद्गौ स्ततो वयः प्रपतान् पूरुषादः ।" [ऋ० सं०-७, ७, १६, २,]

[भाष्यम्] वृक्षे वृक्षे धनुषि धनुषि । 'वृक्षः' व्रश्चनात् । नियताऽमीयद् गौः[। शब्दं करोति । मीमयतिः शब्दकर्मा । ततो वयः प्रपतन्ति, पुरुषानदनाय । 'विः' इति शकुनिनाम । वेतेर्गति-कर्मणः । अथापि-इषु नाम-इह भवति एतस्माद्-एव ।

आदित्योऽपि 'गौः' उच्यते । [यथा]

"उतादः परुषे गवि" [ऋ० सं०-४, ८, २२, ३]

[भाष्यम्] पर्ववति भास्वति,—इति औपमन्यवः ।

---

* "अमीमयद् गौः" यहां वेद भगवान्ने एक उत्तम साहित्य भी दिखाया है, वह यह कि—धनुषकी तांतको गो बनाया, वह उधर उसके शब्दको मिमाना कहा है।

अथापि अस्य एको रश्मिः चन्द्रमसं प्रति दीप्यते, तद्-एतेन उपेक्षितव्यम्, आदित्यतः-अस्य दीप्तिर्भवति,—इति।

"सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः [य० वा० सं० १८, ४०]

इत्यपि निगमो भवति। [प्रयोजनम्] सोऽपि गौः उच्यते। [यथा]

"अत्राह गोरमन्वत"

इति तद् उपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः।

सर्वेऽपि रश्मयः गावः उच्यन्ते ॥ २ ॥ [यथा]

अनुवाद।

[मन्त्रार्थ] 'प्रत्येक धनुषमें बँधी हुई गो, या ताँत मिमाती, है, फिर पुरुषोंको भक्षण करनेके लिये पक्षी या बाण गिरते हैं' [भाष्य–] वृक्ष वृक्ष, = धनुष धनुषमें। 'वृक्ष' व्रश्चन या काटने-से है। बधी हुई गो, या तांत शब्द करती है। मीमयति धातु शब्दार्थक है। फिर 'वि' पुरुषोंके खानेके लिये गिरते है। 'वि' यह पक्षी-का नाम है। 'वि' शब्द गत्यर्थक 'वी' [अदा० प०] धातुसे बनता है। और यहांपर इषु या बाण का नाम भी होता है। इसी धातु से।

आदित्य भी 'गो' कहलाता है। [जैसे–]

"उताद: परुषे गवि" [ऋ० स०,—४, ८, २२, ३.]

[मन्त्रार्थ–] 'भार' या प्रकाश वाले, गमन शील [मण्डल] मे'।

[निरुक्तार्थ] 'पर्ववाले [या] प्रकाश वालेमें'-यह उपमन्यु के पुत्र मानते हैं।

और भी-इस [सूर्य] का किरण चन्द्रमा में प्रकाशित होता है, इसके साथ यह भी जानना चाहिये, कि—इस [चन्द्रमा-] की दीप्ति या ज्योति आदित्यसे होती है। [प्रमाण-]

"सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः ।" [य० वा० सं०-१८, ४०]

[मन्त्रार्थ-] सुषुम्ण-नामक सूर्यका किरण [ही] चन्द्रमा गन्धर्व है। यह निगम या जानने वाला भी है। [प्रयोजन-] वह भी 'गो' कहा जाता है। [जैसे-] "अत्राह गोरमन्यत"। इसका व्याख्यान आगे करेंगे।

सब रश्मि या किरणें भी 'गो' कहे जाते हैं ॥ २ ॥ [जैसे-]

व्याख्या।

उदाहरण-"वृक्षे वृक्षे नियता मीमयद्गौ स्ततो वयः प्रपतान् पूरुषादः। अथेदं विश्वं भुवनं भयात इन्द्राय सुन्वदृषये च शिक्षत्।

[ऋ० सं०,—७, ७, १९ २]

वसुक इन्द्रका पुत्र ऋषि। त्रिष्टुप्छन्दः। इन्द्र देवता। मरुत्वतीय महाव्रत में, शस्त्र।

भगवान् इन्द्र सग्रामोंमें अनेकबाहु होकर अनेक धनुष धारण करते हैं। उन को देखकर ऋषि इस प्रकार कहता है—'इन्द्र ने जितने धनुष धारण किये हैं, उनमें प्रत्येकमें नियत या बँधी हुई 'गौः' अर्थात् प्रत्यञ्चा [तांत] जो गौसे बनी है, अथवा बाणोंको चलाने वाली है, इन्द्रके भुजसे खिची हुई होकर शब्द करती है। "ततः"

[क-] शब्द होनेके अनन्तर ही, 'वयः'' [क-] पक्षी संग्राम भूमिमें इन्द्रके बाणोंसे तत्काल ही गिरे हुए शत्रुओंके मृत शरीरोंको भक्षण करनेके लिये गिरते हैं। "ततः" [ख-] अथवा उसी धनुषसे पक्षियोंके पत्र या पांख के लगे रहनेसे इषु [बाण] भी "वयः" पक्षी हैं, वे शत्रुओंके प्राण-भक्षण करनेके लिये गिरते हैं, अथवा "वयः" [ग] वी-गतौ (अदा० प०) धातुसे 'वि' शब्द बनता है, गति क्रियाके योगसे बाण भी 'वि' शब्दके वाच्य हैं, पहिले व्याख्यानमें बाण अर्थमें 'वि' शब्द गौण है, और दूसरेमे मुख्य है।

'ऐसा अति प्रभाववाला इन्द्र है'-यह जान कर सम्पूर्ण विश्व या प्राणि-मात्र यत्-किञ्चित् त्रुटिके लिये भी अपने अपने कर्ममें डरता है, तथा डर कर इन्द्रके लिये सोमका सवनरूप संस्कार करता हुआ ऋत्विज्को दक्षिणा देता है। भाव यह है कि-सब जगत् इन्द्रकी ओर मुख उठाये हुए और सब कार्यको छोड़ कर आदर सहित स्थित है, जो इन्द्र ऐसे प्रभाववाला है. उसको हम अपने वाञ्छितकी सिद्धिके लिये स्तुति करते हैं।

निगम-प्रसक्त[1] "वृक्ष" शब्दकी व्याख्या करते हैं—"वृक्षो व्रश्चनात्" इसी लिये वृक्षोंको वृक्ष कहते हैं, कि,-वह इन्धनके लिये काटा जाता है।

और शब्द मन्त्रके व्याख्यानमें ही आ चुके हैं, इससे उनका निर्वचन नहीं किया जाता। इन पूर्वोक्त उदाहरणोंसे यह दिखाया गया कि, 'अवयवमें अवयवीके समान शब्दका प्रयोग होता है। इसके अनन्तर यह दिखाते हैं कि—'अन्य बहुतसे अर्थान्तरोंमें भी

१—जो मन्त्र किसी शब्दके अर्थके साक्ष्यमें दिया जाता है, वह 'निगम' कहाता है, और उसमें आये हुए अन्य व्याख्येय शब्दको 'निगम-प्रसक्त' कहते हैं।

'गो' शब्द आता है, जिनमें गोका सम्बंध बिलकुल ही नहीं है। यह विषय ऐकपदिक या नैगम काण्डमें कहने योग्य है, किन्तु यहाँ 'गो' शब्दके प्रसङ्गसे कहा जाता है,—

[१] "आदित्योऽपि गौरुच्यते" आदित्यका नाम भी 'गो' है। जैसे—

"उताद: परुषे गवि सूरश्चक्रं हिरण्ययम्। न्यैरयद्रथी तमः॥ [ऋ० सं०, ४, ८, २२, ३]

भारद्वाज ऋषि। गायत्री छन्दः। पूषा देवता। नैरुक्तोंके मतमें पूषा नाम आदित्यका है, और अन्य मतमें भूमिका।

धारा विशेष या, प्रकाश अथवा अहोरात्रादि रूप पर्ववाले तथा निरन्तर गमन करनेवाले उस आदित्य-मण्डलमें स्थित होकर, रथीतम [जिसका रथ मुहूर्त्तमात्र भी विश्राम नही करता] सूर्यदेव तेजोमय मण्डलको, उदय, अस्तमय तथा मध्याह्नकालके विभाग करनेके लिये नियत मार्गसे नित्य ही घुमाता है।

अथवा उस मण्डलमें अवस्थित जो आदित्यान्तरवर्ती सूर्य-भगवान्, वह—लव, क्षण, निमेष, त्रुटि, मुहूर्त्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन तथा संवत्सर रूप कालचक्रको प्रेरित करता है। वह ऐसे गुणोंवाला है, इससे हम उसकी अपने वाञ्छित अर्थकी सिद्धिके लिये स्तुति करते हैं।

[२] सूर्य भगवान्का 'सुषुम्ण' नामक एक रश्मि या किरण होता है, वही चन्द्रमण्डलमें जाकर लगता है, उसीसे चन्द्रमा दीप्तिमान् होता है, और अपनी ज्योत्स्नासे सब दिशाओंको प्रकाशित करता है। इससे यह बात समझने योग्य है कि—"आदित्य देवसे ही चन्द्रमामें प्रकाश आता है।" इस अर्थको निगम भी प्रमाणित करता है।

"सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः" [य० वा० स०-१८, ४०]

'सुषुम्ण' नामक सूर्यका रश्मि चन्द्रमामें जाकर स्वयम् चन्द्रमा हो जाता है, तथा वही गन्धर्व होता है।

जिस सुषुम्ण नामक सूर्यकी रश्मिका ऊपर परिचय दिया गया है, वही एक रश्मि 'गो' शब्दका वाच्य होता है। जिस प्रकार यह 'रश्मि' 'गो' नामसे बोला जाता है, वैसा ही यह उदाहरण है,—

"अत्राह गो रमन्वत" उस आदित्यमण्डलमें 'गो' नाम सुषुम्ण नामक एक सूर्य रश्मिके अवस्थानको अन्य सूर्यके रश्मियोंने स्वीकार किया है। इस मन्त्रको विशेष व्याख्या नैगम काण्ड [४, ४, ४] में होगी।

[३] सब रश्मि भी 'गो' कहलाती हैं। इसके अनुसार यह ऋचा उदाहरण है ॥ २ ॥

[ख० ३]

"ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरि शृङ्गा अयासः। अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि ॥" [ऋ० सं०-२, २, २४, ६]

[भा०] तानिवां वास्तूनि कामयामहे, गमनाय, यत्र गावो बहु शृङ्गाः। 'भूरि,—इति बहुनो नामधेयम्, प्रभवति,—इतिसतः। 'शृङ्ग' श्रयतेर्वा। शृणाते र्वा। शम्नाते र्वा। शरणाय उद्गतम्, इति वा। शिरसो निर्गतम्,-इति वा 'अयासः'-अयनाः। तत्र तदुरुगायस्य

विष्णोः महागतेः परमं पदं परार्ध्यस्थम्-
अव भाति भूरि ॥

पादः पद्यतेः, तन्निधानात् पदम्। पशु पाद
प्रकृतिः प्रभाग पादः । प्रभाग पाद-सामान्याद्-
इतराणि पदानि।

एवमन्येषामपि सत्वानां सन्देहा विद्यन्ते,
तानि चेत् समान कर्माणि, समान निर्वचनानि,
नाना कर्माणि चेत् नाना निर्वचनानि। यथार्थं
निर्वक्तव्यानि, इति ।

इमानि एक विंशतिः पृथिवीनाम धेयानि अनु-
क्रान्तानि, तत्र-'निर्ऋतिः निरमणात्। ऋच्छतेः
कृच्छ्रापत्तिः-इतरा। सापृथिव्या सन्दिह्यते। तयो-
र्विभागः। तस्याएषा भवति ॥ २ ॥—

मन्त्रान्वयार्थः—हे दम्पती ! 'ता' तानि 'वास्तू-
नि' गृहाणि 'वां' युवाभ्यां गमध्यै गमनाय वयम्
'उश्मसि' कामयामहे । किम्भूतानि। 'यत्र' येषु
'भूरिशृङ्गाः' बहुदीप्तयः 'अयासः' गमनशीलाः 'गावः'
किरणाः सन्तीति शेषः। पुनः किम्भूतानि 'अत्राह'
यत्र (तत्र) 'उरुगायस्य' महागतेः 'वृष्णः' विष्णोः

'तत्' प्रसिद्धं 'परमम्' उत्कृष्टं 'पदम्' स्थानम् 'भूरि' बहु 'अवभाति' सर्वम् अधः कृत्वा दीप्यते इत्यर्थः ।

अनुवादः ।

मन्त्रार्थ—हे दम्पती ! उन स्थानोंको तुम दोनोंके जानेके लिये हम चाहते हैं । जहां बहु प्रकाश गमनशील किरणें हैं । और जहां बड़ी गतिवाले विष्णुदेवका उत्तमोत्तम स्थान सब संसारको नीचे करता हुआ प्रकाश कर रहा है ।

[भा० र्थ०-] तुम दोनोंके लिये उन स्थानोंको चाहते हैं, गमनके अर्थ । जहां गो या किरणें बहु शृङ्गवालीं । [एक पद निरुक्त] 'भूरि यह बहुतका' नाम है । 'प्रभवति' समर्थ होता है, इस कर्तृवाच्य 'प्र' उपसर्ग 'भू' । [भ्वा० प०] धातुसे । 'शृङ्ग' श्रिञ् सेवायाम् (भ्वा० उ०) धातुसे, अथवा 'शृ' हिंसायाम् [क्र्या० प०] धातुसे । अथवा 'शम्' उपशमे (क्र्या० प०) धातुसे अथवा शरण या हिंसाके लिये उठा है,-इससे या शिरसे निकला हुआ है, इससे[शृङ्ग] है । 'अयासः' गमन करने वाले वहां वह 'उरुगाय' या महागति 'वृषन्' या विष्णुका 'परम' या सबसे ऊँचा 'पद' स्थान सबको नीचा करता हुआ बहुत प्रकाश करता है ।

'पाद' शब्द 'पद'गतौ (दिवा० आ०) धातुसे है । उसके रख देनेसे पद होजाता है । पशुके पादके सादृश्यसे रुपये या मुहर आदि द्रव्य का पाद होता है । उसके पादके सादृश्यसे और क्षेत्र आदिके पद होते हैं ।

इसी प्रकार और द्रव्योंके भी सन्देह हैं । जो वे समान क्रिया वाले हों, तो उनके एकसे निर्वचन करना, यदि भिन्न भिन्न कर्म या क्रिया वाले होंतो,भिन्न भिन्न निर्वचन करना । प्रयोजन के अनुसार निर्वचन करना चाहिये ।

ये इक्कीस (२१) पृथ्वीके नाम गिने गये हैं। उनमें 'निर्ऋति' शब्द निरमण या सुख पहुंचानेसे-[पृथिवीका नाम] ['रमु' 'क्रीड़ायाम्' (भ्वा० आ०) धातुसे] दूसरी निर्ऋति कष्टकी आपत्ति है, जो 'ऋच्छ' इन्द्रिय प्रलये (तु० प०) धातुसे है। वह पृथिवीके साथ सन्दिग्ध होती है। उन दोनों का भेद है। उसकी [कृच्छ्रापत्ति और पृथिवीकी भी] यह निर्वचन करने वाली ऋचा है ॥ ३ ॥—

व्याख्या—

"तां वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरि शृङ्गा अयासः ॥ अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पद मवभाति भूरि ॥" [ऋ० सं०-२, २, २४, ६]

दीर्घतमस् ऋषि। विष्णु देवता। त्रिष्टुप् छन्दः। यथके अवधानमें तथा सोमातिरेक शस्त्रमें विनियोग।

इस मन्त्रमें यजमान और यजमान-पत्नी दोनोंके लिये आशीर्वाद है। ऋत्विज् कहते हैं कि—'हम तुम दोनोंके जानेके लिये उन निवास स्थानोंकी कामना करते हैं, जिनमें बहुत दीप्तिवाले निरन्तर फिरनेवाले तथा महागति (तीव्र निरन्तर एवम् बहुत दूर तक चलने वाले) रश्मियें या किरणें हैं, भगवान् विष्णुका परम पद या आदित्य-मंडल रूप स्थान, सम्पूर्ण जगत्को अपनेसे नीचे करके अत्यन्त प्रकाशित होता है।

अथ एक-निरुक्तम्।

(१) "भूरि" यह बहुतका नाम है। क्योंकि-देनेसे वह बहुत होता है। (२ "शृङ्ग" 'श्रिञ्सेवायाम्' धातुसे बनता है। क्योंकि वह शिरमें आश्रित होता है। अथवा 'शृहिंसायाम्' धातुसे

'शृङ्ग' शब्द बनता है, क्योंकि–सींग वाला पशु उसीसे मारता है। अथवा शिरसे निकलता है, इससे वह शृङ्ग है । अथवा परमपूजनीय स्थानमें स्थित होता है, इससे वह 'शृङ्ग' है । (३) 'पद' 'पद' गतौ' धातुसे 'पाद' शब्द [जो पैरका नाम है] बनता है, क्योंकि, उससे ही, शरीर धारी चलते हैं, और पादके धूलि या कीच आदिमें धरनेसे जो वैसीही आकृति उत्पन्नहो जाती है, वह पद कहाता है। चाहे वह पशुकाहो या मनुष्यका। पद शब्द पाद शब्दसे बनता है, और वह खोज का नाम है।

प्रसक्तानु-प्रसक्त ।

पाद नाम किसी भी वस्तुके चतुर्थांशका है, उसीके सादृश्यसे पशुके पैर को **पशु-पाद** कहते हैं, क्योंकि,–वहभी पशुका चौथा भाग जैसा प्रतीत होता है। एवम् उसीके सादृश्यसे दीनार (अशरफी) आदि मुद्राओंके चतुर्थांशको भी **'दीनार पाद'** आदि नामसे बोलते हैं, ये प्रभाग पाद कहाते हैं। इन प्रभाग पादोंकी समानतासेही और और वस्तुभी पाद कहाते है, जैसे ग्रन्थ पद, श्लोकपद, आदि। क्योंकि उनमेंभी उसी प्रकारसे विभाग है। सुतराम्, 'पद' शब्दका मूल 'पाद' शब्द है।

उपसंहार ।

इसी प्रकार और और शब्दोमेभी सन्देह होते हैं, केवल गो शब्दका पद शब्दमें ही नहीं। उन सभी स्थानोमें निर्वचनका स्वाभाविक लक्षण यह है कि "वे यदि समान क्रियावाले हों" तो उनका समानही निर्वचन करना चाहिये, और यदि भिन्न भिन्न क्रिया, युक्तहों तो भिन्न भिन्न प्रकारसे निर्वचन करना, इसी रीतिसे निर्वचन होता है।"

उदाहरण ।

ये 'गौः' आदि २१ पृथ्वीके नाम गिनाये हैं, इनमें एक 'निर्ऋ-ति' शब्द है। वह पृथिवी और दुःख देवताका नाम है। उन दोनोंका कर्मसे यह भेद है कि उनमें एक पथिवी अपनेमें आये हुए प्राणियोंको सुख देनेवाली है, और दूसरी पाप-देवता,दुःख देने-वाली। इसीसे उस एकही 'निर्ऋति' शब्दका निर्वचन अर्थके उद्दे-श्यानुसार दो प्रकारसे होता है। अर्थात्-पृथिवीके लिये 'नि' उप-सर्ग और 'रमु,क्रीडायाम्' (भ्वा० आ०) धातुसे और दुःख देवताके उद्देश्यसे दुःखार्थक 'ऋच्छ' [तु० प०] धातुसे निर्वचन होता है।

देखो ! आगेजो ऋचा दिखाई जाती है, उसमें निर्ऋति शब्दके आधार पर पृथिवी और दुःख देवताके अभिप्रायसे दो व्याख्यान होते हैं, जिनमें प्रत्येक व्याख्यान 'निर्ऋति' की भिन्न भिन्न व्याख्या करनेमें साक्ष्य देता है ॥ ३ ॥

[ख० ४]

"यईं चकार न सो अस्यवेद यईं ददर्श हि रुगिन्नु तस्मात्। समातु र्योना परिवीतो अन्तर्बहु प्रजा निर्ऋति माविवेश ॥"

(भा०) 'बहु प्रजाः कृच्छ्रम्-आपद्यते'- इति परिव्राजिकाः। 'वर्षकर्म' इति नैरुक्ताः। "यईं चकार" इति करोति-किरतीसन्दिग्धौ वर्षकर्मणा। "नसो अस्यवेद" मध्यमः। सएव अस्यवेद-मध्यमः,-यो ददर्श आदित्यो पहि-तम्। समातुर्योनौ। माता अन्तरिक्षम्।

निर्मीयन्ते अस्मिन् भूतानि । योनिः-अन्त रिक्षम् महानवयवः । "परिवीतः" वायुना । अयमपि इतरो योनिः,-एतस्माद्-एव । परियुतो भवति । "बहु प्रजाः" भूमिम्-आपद्यते वर्ष कर्मणा ।

शाकपूणिः संकल्पयां चक्रे-'सर्वा देवता जानामि'-इति । तस्मै देवता उभयलिङ्गा प्रादुर्बभूव । तां न जज्ञे । तां प्रपच्छ 'विविद षाणित्वा'-इति । सा अस्मै—'एताम् ऋचम् आदि देश एषा मद्देवता'—इति ॥ ४ ॥ "यईं चकार"-इति । दीर्घतमसः आर्षम् । त्रिष्टुप् । महाव्रते वैश्वदेवे शस्त्रे शस्यते ।"

अनुवाद ।

मन्त्रार्थ-'निर्ऋति' शब्दकी दुःख वाचकताके पक्षमें-जो मनुष्य गर्भको करने वाला है, वह इसके तत्वको नहीं जानता, बलकि-वह जो इस गर्भ या जन्तुको पेटके या शरीरके भीतर अध्यात्म-बुद्धिके द्वारा देखता है, यथार्थ रूपसे जानता है। वह गर्भका उत्पन्न करने वाला पुरुष माताकी योनि या गर्भ स्थानमें माताके खाये, पीये, चक्खे और चबाये हुए अन्नादिके परिणामसे पुष्ट होता है, तथा समय पर जरायु (जेर) से लिपटा हुआ जन्मता है। अनन्तर, इसी प्रकार, अनेक बार जन्म लेता हुआ, दुःखको प्राप्त होता है । अर्थात् यह गर्भतत्वके न जानने वालोंकी गति है। इस व्याख्यामें गर्भ कर्त्ताके लिये 'निर्ऋति' को प्राप्तिही फल दिखाया है, और वह दुःखही होसकता है, इस रीतिसे यह व्याख्यान 'निर्ऋति' शब्दके

दुःखार्थक 'ऋच्छ' धातुसे निर्वचन करनेमें नियम या सहायक होता है।

और—'निर्ऋति' शब्दको भूमि वाचकता पक्षमें-जो पुरुष इस वृष्टिका करनेवाला या फेंकने वाला मेघ है'-जानता है; वह इसके तत्वको नहीं जानता। बलकि-वह, जो आदित्यकी रश्मियोंके भीतर छिपी हुई वृष्टिको देखता है, जानता है। वह मेघ, माता या अन्तरिक्षके योनि=एक देशमें वायुसे घिरा हुआ, वर्षा कालमें बहुरूपसे उत्पन्न होता हुआ भूमिमें आता है। इस व्याख्यामें मेघ 'निर्ऋति' को आता है, और वह भूमिहो, होसकती है, इस लिये उसीके अनुसार 'निर्ऋति' शब्दका निर्वचनभी 'निरमण' क्रियासेही होना उचित है। यही "यथार्थं निर्वक्तव्यानि" [नि०-अ० २, पा० २, खं० ३] इस वचनका तात्पर्य है।

[भाष्यार्थ-] [प्रथम अर्थके पक्षपाती-] 'बहुत सन्तानोंका उत्पन्न करने वाला' दुःखको प्राप्त होता है, ऐसा सन्यासी मानते हैं। [प्रयोजन-उन्हींको दृष्टिसे इस मन्त्रमें ऐसा अर्थ दिखाई देता है] [दूसरा पक्ष-] 'इस मन्त्रमें वर्ष कर्म या वृष्टिका वर्णन है' यह निरुक्त शास्त्रके पण्डित मानते हैं। [इनके मतमें] 'यई चकार" यहां वर्ष कर्मके साथ 'चकार' पदमें 'डुकृञ्' करणो (तना० उ०) धातु और 'कृ' विक्षेपे (तु० प०) धातुका सन्देह है। [क्योंकि, यह रूप दोनोंसे समानही बनता है, और दोनोंके अर्थभी सगत होजाते हैं। जैसेकि, वर्षाको करता है, या, फेंकता है।] वह इसको नहीं जानता, जो देखता है,-'मध्यम या मेघ है'। जो देखता है-'आदित्यमें छिपे हुएको, [वह जानता है। "मातुर्योनौ"-माताकी योनिमें। 'मातः' नाम अन्तरिक्ष। [क्योंकि-] इसमें भूत (प्राणी) निर्म्माण किये जाते हैं। 'योनि' नाम अन्तरिक्ष या उसके छोटे भागका है। वह बड़ा और अनव-

यव या भाग रहित है। घिरा हुआ—वायुसे। यह भी दूसरा स्त्रीका योनि, इसी व्याख्यासे है। [क्योंकि-वहभी जोरसे लिपटा हुआ होता है। बहुत प्रकारसे होता हुआ भूमिको प्राप्त होता है -यह वर्ष कर्मसे [व्याख्या है ।]

निर्वचनके सम्बन्धमें सन्देहस्थलका एक वैदिक इतिहास।

शाकपूणि आचार्यने सकल्प किया कि—'मैं सब देवताओंको जानता हूं'। उसके साह्मने एक, दो प्रकारके चिन्हवाली देवता, जिसमें स्त्री और पुरुष दोनोंके चिन्ह थे, अथवा मध्यम लोकके देवता और द्युलोकके देवताके चिन्ह थे, प्रकट हुई। उसको उसने, न जाना। *उसको पूछा कि-'मैं तुझे जानना चाहता हूं'। उसने इसे यह ऋचा दी और कहा कि—"यह ऋचा 'मद्देवता' है, अर्थात् इस ऋचाकी मैं देवता हूं, तू इसके द्वारा मुझे जान सकेगा।' क्यौकि,—तू नैरुक्त है॥ ४॥

व्याख्या—

भाष्यकारने "य ईं चकार" इस ऋचाके चौथे पादकी व्याख्या दोनों मतोंके अनुसार इस मन्त्रके भाष्यके आदि और अन्तमें दिखाई है-"बहुप्रजाः कृच्छ्रमापद्यते इति परिव्राजकाः" "बहुप्रजा भूमि मा पद्यते, वर्ष कर्मणा"। और जो बीचमें भाष्य है, वह शेष तीन पादोंका है, और वह वर्षकर्म या नैरुक्त मतके अनुसार है। भाष्य अन्वयानुसार नहीं है, किन्तु फुटकर पदोंका है, भाष्य देखते समय मन्त्र पर दृष्टि रखनी चाहिये, ऐसे ही भाष्यसे सहायता मिल सकती है।

परिव्राजक पक्षमें 'माता' नाम जननी, और 'योनि' नाम स्त्री-योनिका है। नैरुक्त मतमें 'माता' नाम अन्तरिक्ष, और 'योनि' नाम उसके एक देश (एक भाग) अन्तरिक्षका है। मन्त्रमें दोनों ही पक्षोंमें 'चकार' क्रियाके साथ 'गर्भम्' या 'वर्षम्' कर्म अध्या-

हारसे लिया जाता है। 'तस्मात्' पद 'तस्य' (उसका) पदका अर्थ देता है, और 'हिरुक्' अभ्यन्तरका।

"नसो अस्य वेद, मध्यमः" इसको 'सः अस्य न वेद, यः मध्यमो वर्षस्यकर्त्ता, इति वेद' 'वह इसको नहीं जानता, जो समझता है,–इस वर्षका करनेवाला मध्यम या मेघ है' ऐसा अन्वय कल्पित करके समझना चाहिये।

इसी प्रकार "स एव अस्य वेद, मध्यमः" कोऽर्थः—सएव अस्य तत्वं जानाति, अय मध्यम इति, "यः आदित्योपहितम्, ददर्श" पश्यतीत्यर्थः। 'वही पुरुष इसके तत्वको जानता है, कि 'यह मध्यम है', जो आदित्य या उसको रश्मियोंके भीतर उसे देखता है' ऐसे अन्वयकी योजनासे देखना होगा।

अविद्यमानाः अवयवाः यस्य सः अनवयवः, महांश्चासौ अनवयवः, महानवयवः। जिसके अवयव या खण्ड न हों, उसे अनवयव कहते है, और महान् अनवयवको 'महानवयव। यह दोनों विशेषण अन्तरिक्ष या आकाशके हैं। बड़ा इससे है कि–इसमें संसार समाया हुआ है, और अनवयव इससे है कि, इसमें घट, पट, शरीर आदि पदार्थोंके समान जोड़ नहीं है। कहींसे भी इसके दो भाग नहीं हो सकते। भाष्यमें 'योनिः' पदके साथ इसका सम्बन्ध है।

"बहु प्रजाः।" मेघ पक्षमें 'बहु यथास्यात् तथा प्रजायते'– इति 'बहु प्रजाः'। बहु जैसे हो, वैसे होनेवाला। जब होता है, तब पृथिवी और जलाशयोमें सर्वत्र जल ही जल व्याप्त हो जाता है।

गर्भपक्षमें—'बहवः प्रजाः यस्य, सः बहुप्रजाः' बहुत हैं, प्रजा या अपत्य जिसके, वह बहुसन्तान पुरुष 'बहुप्रजाः' है।

भगवद्दुर्गाचार्यने छात्रोको मर्मज्ञ बनानेके लिये इसी ऋचाके

जोड़का एक और मन्त्र दिखाया है, और उस पर बहुत अच्छी टिप्पणी की है, हम उसे नीचे दिखा देते हैं:—

आप कहते हैं कि—'इस प्रकार इस मन्त्रमें नैरुक्तोंके मतमें 'निर्ऋति' शब्दसे भूमि और परिव्राजकोंके मतमें कृच्छ्रपत्ति कही जाती है, सो इसी प्रकारसे मन्त्रोंमें शब्दको गतिके वैभवसे दोनों ही अर्थ घट जाते हैं, वैसे ही "दधि क्राणो अकारिषम्" [ऋ० सं०-३, ७, १३, ६] यह मन्त्र है। इसके तीन स्थानोंमें विनियोग है,—(१) अग्निहोत्रमें अग्निके उपस्थानमें, (२) अग्निष्टोममें दधिके भक्षणमें, और-(३) अश्वमेधमें अश्वके समीपमें महिषी (यजमान-पत्नी) के खड़े हो जाने पर अन्य पत्नियोंके जप करनेमें। यहां प्रत्येक विनियोगके साथमें इसका अन्य अन्य अर्थ ही होना चाहिये। क्योंकि-कर्ममें मन्त्रका अपने अर्थके द्वारा उसका स्मरण कराना ही प्रयोजन है। और इसीसे ये मन्त्र वक्ताके अभिप्रायके अनुसार अन्यत्व या भिन्नताको धारण करते हैं, इनमें अर्थकी इयत्ता या परिमाण नहीं है, क्योंकि-ये महार्थ या अमोघ अथवा अपरिमित अर्थवाले होते हैं। तथा दुष्परिज्ञान या बड़ी कठिनाईसे जाने जा सकते हैं, जिस प्रकार घोड़ा सवारको विशेषतासे अच्छा और बहुत अच्छा चलता है, वैसे ही ये मन्त्र वक्ताके प्रकर्षसे साधु और साधुतर अर्थोंको भरते हैं।

इससे अध्ययन करनेवालोंको यह सार लेना चाहिये कि-इस शास्त्रमें एक शब्दका जो निर्वचन किया जाता है, वह लक्षण मात्र अथवा नाम मात्र है। कहीं कहीं अध्यात्म, अधिदैव और अधियज्ञ अर्थके दिखानेके लिये व्याख्या है। किन्तु जितने अर्थ अध्यात्म, अधिदैव और अधियज्ञमें घटनेवाले युक्तिसे सिद्ध हों, वे सभी योजनीय हैं, इसमें कोई अपराध नहीं है।

भाष्यकारने जो कुछ चमत्कार इस ग्रन्थमें रखा है, उसे हम देख नहीं सकते, अथवा जितना ध्यान देंगे, उतना ही देख सकेंगे।

इसके अनुसार हम देखते हैं कि—उपर्युक्त उदाहरणोंसे निर्वचनके विशालरूपको सन्मुख खड़ा करनेमें कोई त्रुटि नहीं रखी गई है, तथापि, पामर, मन्द—बुद्धि लोग कह सकते हैं कि, ऋषिने जैसा अर्थ परिव्राजक और नैरुक्तोंके मतभेदसे दिखाया है, यह सब आधुनिक लौकिक कल्पना है, ऐसा वेदमें सम्भव नहीं, उस आपत्तिको समूल नष्ट करनेके लिये एक वैदिक इतिहास दिखाकर इस प्रसङ्गके साथ पादको समाप्त कर देते हैं।

शाकपूणि ऋषिका जो सङ्कल्प हुआ,और उनके उस अहङ्कारको दूर करनेके लिये देवताने प्रादुर्भूत होकर जो ऋचाके द्वारा उत्तर दिया है, वह मार्मिक पुरुषोंको मनोगत करने योग्य है। जब ऋचा हीसे देवताने उत्तर दिया और वह शाकपूणिके देवता-परिज्ञानको अल्प ठहरानेके लिये ही है तो, इससे स्पष्ट हो प्रतीत होता है, कि,-वेदको अपना अर्थ अमोघ तथा अपरिमित अभीष्ट है ॥ ४ ॥।

(खण्ड ५)

"अयं स शिङ्क्ते येन गौरभी वृत्ता मिमाति मायुध्वंसनावधिश्रिता। साचित्तिभिर्निर्हि चकार-मर्त्यं विद्युद् भवन्ती प्रति वव्रिमौहत" ॥

[भाष्यम्-] अयं स शब्दायते, येनगौः-अभिप्रवृत्ता मिमाति मायुं शब्दं करोति, मायुमिव-आदित्यम्,-इति वा। वाग्-एषा माध्यमिका। ध्वंसने मेघे अधिश्रिता। सा चित्तिभिर्निकरोतिमर्त्यं विद्युद् भवन्ती। प्रत्यूहते—वव्रिम्। "वव्रिः"—इति-

रूपनाम,—वृणोति—इति सतः । वर्षेण प्रच्छाद्य पृथिवीं तत् पुनः—आदत्ते ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः-"अयं सः" मेघः "शिङ्क्ते" शब्दायते' शब्दं करोति, "येन" मेघेन "अभीवृत्ता" 'अभिप्रवृत्ता' सती "ध्वंसनावधिश्रिता" 'ध्वंसने मेघे अधिश्रिता' सती च । "गौः" (२,२, १) 'एषा' 'माध्यमिका' 'वाक्' "मायुं" "मिमाति" 'मायुं शब्दं करोति' । अथवा मायुम्' 'आदित्यमिव' 'आत्मानं 'मिमाति' निर्वर्त्तयति इत्यर्थः । ततः "सा" 'विद्युद्' भवन्ती "चित्तिभिः" चयूचटा शब्दैः "मर्त्य" मनुष्यम् "नि (हि)चकार" 'निकरोति' भीषयते इत्यर्थः । 'पुनः' 'वर्षेण पृथिवीं प्रच्छाद्यतत्' "वव्रिम्" रूपं "प्रति-औहत" 'प्रत्यूहते' 'आदत्ते' उपसंहरति—इत्यर्थः ।

मन्त्रार्थः–अह यह मेघ शब्द करता है, जिससे प्रवृत्त हुई हुई और मेघमें छिपी हुई मध्यमलोककी वाग्देवता शब्द करती है, अथवा अपनेको सूर्यके समान बना लेती है । फिर विद्युत् [बिजली] रूप धारण कर चटचटा शब्दोंसे मनुष्योंको डराती है, और फिर वर्षासे पृथिवीको ढाँप कर अपने रूपको छिपालेती, या लौटा लेती है ।

भाष्यानुवादः।

यह वह शब्द करता है जिससे गो प्रवृत्त हुई हुई मिमाती है। या मायु=शब्दको करती है। अथवा मायु नाम आदित्यके समान [अपनेको बनाती है।] यह वाक् देवता मध्यम लोककी है। ध्वंसन या, मेघमें टिकी हुई। वह चित्तियों या चटचटा शब्दोंसे विद्युत् होती हुई मनुष्यको झुका देती है। "वव्रि" को लौटाती है। "वव्रि" यह रूपका नाम है। 'वृणोति' ढाँप लेता है, इस कर्त्तृवाच्य क्रियासे है। वृष्टिसे पृथिवीको ढाँपकर उसे फिर ले लेती है॥ ५॥

व्याख्या।

शाकपूणि आचार्यको उभयलिङ्गा देवताने, देवतातत्वके जाननेके लिये जो ऋचा दी थी, वह यह "अयं स शिङ्क्ते" ऋचा है। यह ऋचा एक ही वाक्यमें अपने एक ही स्तवनीय देवताको, "अयम्, सः" इन पुंलिङ्ग पदोंसे पुरुष रूपमे, और "गौः, अभीवृत्ता" इत्यादि स्त्रीलिङ्गपदोंसे स्त्रीके रूपमें कह रही है। तथा उस एक ही देवताको मध्यमलोकके देवताके वर्षकर्मसे और उत्तमलोकके देवताके रसादान (जलका खेंच लेना) कर्मसे स्तुति करती है। इससे नहीं जाना जाता, क्या यह पुरुष देवता है? या स्त्री देवता है? तथा यह मध्यमलोककी देवता है? या उत्तम लोककी? किन्तु विरुद्ध वाक्यों या धर्मोंकी एक वाक्यता करनेसे यह फलित निकल आता है कि,—वही एक देवता मेघरूपसे पुरुष और वाक्रूपसे स्त्री है। एवम् विद्युद्-रूपसे मध्यम स्थाना और आदित्यरूपसे उत्तम—स्थाना है। अर्थात्—वही एक वाग् देवता मेघमें शब्द सहित विद्युद्रूपसे स्थित होकर वर्षकर्मसे पृथिवीको आच्छादन करती है। सुतराम्, देवताका कोई नियत रूप नहीं है, वह महाभाग होती

है, उसको इच्छानुसार सब प्रकारके रूप धारण करनेका सामथ्य है, अतः उसके विरुद्धरूपों तथा कर्मोंमें सन्देहाकुल नहीं होना चाहिये। यही देवता-तत्वका रहस्य उभय लिङ्ग देवताने शाकपूणि आचार्यको इस ऋचाके द्वारा समझाया है, और इसी प्रकार अन्यत्र अन्यत्र भी देवतातत्वके सन्देहको दूर करना चाहिये। यह मत किसी मनुष्यका नहीं, किसी ऋषिका नहीं, और न किसी अन्यका है। किन्तु, मन्त्र या वेद ऐसा कह रहा है, यह भी देवताकी कृपासे उसके द्वारा ऋषिको मिला है, और एक दूसरे ऋषिने ही उसका भाष्य किया है। अब वेद वेदाङ्गोंके माननेवाले उन मित्रोंको यहाँ ध्यानसे देखना चाहिये। जो देवताओंके अवतार और उनकी ऐसी कृपाओंमें सन्देह रखते हैं।

पहिले (२, २, ३-४) 'निर्ऋति' शब्द पर एक वाच्य-सन्देहका उपदर्शन कराया है, कि—"निर्ऋतिमाविवेश" यहाँ पर निर्ऋति पृथिवी है, या पाप्मा, और निर्णय किया है कि-परिव्राजकोंके मतसे यह पाप्मा या दुःख हो सकता है, और नैरुक्तोंके मतसे पृथिवी। उसी प्रकार यह देवता-सन्देहका उदाहरण दिया है। अर्थात् जिस प्रकार मन्त्रोंमें वाच्य-सन्देह होता है, उसी प्रकार देवता-सन्देह भी हो सकता है, यही सन्देह-सामान्य रूप पूर्व प्रकरणके साथ इस प्रकरणकी संगति है।

अब शब्दोंके अनुक्रमणका अधिकार है, इसमें एक 'गो' शब्दका निर्वचन हो चुका है, उसमें निर्वचनके धर्म सब दिखाये गये, उसीके सादृश्य पर और शब्दोंका निर्वचन ऊहा पूर्वक कर लेना चाहिये। जैसे—'ग्मा' क्योंकि-'दूरं गता भवति' वह दूर गई हुई होती है, या "अस्यां गच्छन्ति भूतानि" इसमें प्राणी गमन करते हैं। 'ज्मा' "जमन्ति गच्छन्ति अस्यां भूतानि" इसमें भूत गमन करते हैं,—इत्यादि।

नैघण्टुकास्तु ये शब्दाः प्रत्यर्थं गण.संस्थिताः।
छन्दोभ्योऽन्विष्यतत्त्वार्थान् निर्ब्रूयात् योग-
तस्तुतान्॥

अर्थः—पृथक् पृथक् अर्थ वाले गणोंमें जो नैघण्टुक शब्द हैं, उनको छन्दों या मन्त्रोंसे तत्वार्थ-सहित अन्वेषणा करके शास्त्रके नियमोंके अनुसार निर्वचन करे॥ ५॥

इति हिन्दी निरुक्ते द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयंपादः।

अथ तृतीयः पादः ।

[निघण्टुः] हेम (१)। चन्द्रम् (२)। रुक्मम् (३)। अयः (४)। हिरण्यम् (५)। पेशः (६)। कृशनम् (७)। लोहम् (८)। कनकम् (९)। काञ्चनम् (१०)। भर्म (११)। अमृतम् (१२)। मरुत् (१३)। दत्रम् (१४)। जातरूपम् (१५)। इति पञ्चदश हिरण्य नामानि ॥ २ ॥

अम्बरम् (१)। वियत् (२)। व्योम (३)। बर्हिः (४)। धन्व (५)। अन्तरिक्षम् (६)। आकाशम् (७)। आपः (८)। पृथिवी (९)। भूः (१०)। स्वयम्भू (११)। अध्वा (१२)। पुष्करम् (१३)। सगरः (१४)। समुद्रः (१५)। अध्वरम् (१६)। इति षोडश अन्तरिक्ष नामानि ॥३॥

[खण्ड १]

नि०-हिरण्य नामानि उत्तराणि पञ्चदश । हिरण्यं कस्माद् ? ह्रियते आयम्यमानम्-इति वा । ह्रियते जनाद्-जनम्-इति वा । हितरमणं भवति-इति वा । हर्यतेर्वास्यात् प्रेप्साकर्मणः ।

अन्तरिक्ष नामानि उत्तराणि षोडश। अन्त-रिक्षं कस्माद्? अन्तराक्षान्तं भवति। अन्तरा इमे इति वा। शरीरेषु-अन्तः-अक्षयम्-इति वा। तत्र समुद्र इत्येतत् पार्थिवेन समुद्रेण सन्दिह्यते। स-मुद्रः कस्मात्? समुद्रवन्ति अस्माद्-आपः। सम-भिद्रवन्ति-एनम्-आपः। सम्मोदन्ते अस्मिन् भू-तानि। समुद्रको भवति। समुनत्ति-इति वा।

तयोर्विभागस्तत्र-इतिहास मा चक्षते।-देवापि श्चार्ष्टिषेणः शन्तनुश्च कौरव्यौ भ्रातरो वभूवतुः। सशन्तनुः कनीयान्-अभिषेच याञ्चक्रे। देवापिः-तपः प्रतिपेदे। ततः शन्तनो राज्ये द्वादश वर्षाणि देवो न ववर्ष। तम् ऊचु ब्राह्मणाः-'अधर्मः त्वया चरितः'-'जेष्ठं भ्रातरम्-अन्तरित्य-अभिषेचितम्', त-स्मात् ते देवो न वर्षति'-इति। स शन्तनुर्देवापिं शिशिक्ष राज्येन। तम् उवाच देवापिः 'पुरोहितः ते असानि' 'याजयाति च त्वा' इति। तस्य-एतद् वर्ष काम सूक्तं, तस्य-एषा भवति ॥ १ ॥

अनुवाद।

प्रकृत पृथिवीके नामोंके अनन्तर पन्द्रह (१५) सुवर्णके नाम हैं। 'हिरण्य' क्यों-[कहलाता है?] [शिल्पी इसे कड़े-कुण्डल-

कण्ठे और बाजू आदि भूषणोंके रूपमें] विस्तृत करनेके लिये हरण करते हैं। अथवा एक मनुष्यसे दूसरे मनुष्यके प्रति हरण किया जाता है। [क्योंकि-इससे व्यवहार होता है. इससे एक स्थानमें यह स्थित नहीं होता, किन्तु, सदा हरण ही किया जाता है।] अथवा हित और रमण होता है। क्योंकि-वह जिसके पास होता है, उसका दुर्भिक्ष आदिके समय हित होता है। तथा उसे लेकर बच्चेको भी रति होती है, फिर मनुष्यको हो, इसमें कहना ही क्या है?] अथवा प्रेप्सा या प्रकष्ट प्राप्त करनेकी इच्छा अर्थमें 'हर्य्' (भ्वा० उ०) धातुसे है। [क्योंकि-सभी इसे हरण या बहुत ही प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं।]

सुवर्णके नामोंके अनन्तर सोलह (१६) अन्तरिक्ष या आकाशके नाम हैं। 'अन्तरिक्ष' क्यों बोला जाता है? द्युलोक और भूलोकके मध्यमें स्थित और पृथिवीके अन्त तक क्षान्त या फैला हुआ है। अथवा इन दोनों लोकोंके बीचमें निवास करता है। अथवा शरीरोंमें यही अक्षय-रूपसे भीतर रहता है, और पृथिवी आदि भूत क्षीण हो जाते हैं, इसी अक्षयत्व-रूप, धर्मसे यह 'अन्तरिक्ष' है।

उन सोलह नामोंमें 'समुद्र' यह एक नाम पार्थिव या प्रसिद्ध समुद्र रूप अर्थसे मन्त्रोंमें सन्दिग्ध होता है। [क्योंकि-अन्तरिक्षके समान वह भी इस शब्दका दूसरा अर्थ है।] [जलाशय-पक्षमें] क्योंकि-इससे लहरी तरङ्ग आदि रूपसे जल बहते हैं। इसमें भूत या जल-जन्तु संमोदन या बहु हर्ष करते हैं। [क्योंकि-यह अमोघ जल है।] अथवा उद्र या उदक इसमें संहत [इकट्ठा] है, इससे यह समुद्र है। अथवा यह सब जगत्को अपनेमेंसे निकले हुए जलोंसे सक्लेदन या गीला करता है।

उन दोनो अर्थोंका विभाग है। उसके उदाहरण मन्त्रके अर्थमें [आचार्य] इतिहास कहते हैं।—कुरुवंशमें ऋष्टिषेणके पुत्र देवापि

और शन्तनु दो भाई थे। उन दोनोंमें छोटा जो शन्तनु था, उसने अपना अभिषेक कर लिया, और अभिषिक्त होकर राजा हो गया। दूसरा-ज्येष्ठ, देवापि तप करने चला गया। फिर शन्तनुके राज्यमें बारह वर्ष तक इन्द्र देवने वर्षा नहीं की। उसे ब्राह्मण बोले—तैने अधर्म किया, कि-ज्येष्ठको बीचमें छोड़ कर अपना अभिषेक कर लिया, इसी कारणसे-तेरे राज्यमें-देव नहीं बरसता है। उस शन्तनुने देवापिसे प्रार्थना की; कि—यह राज्य प्रस्तुत है। देवापि उसे बोला कि-मै तेरा पुरोहित हो जाऊँ, और तुझे यज्ञ कराऊं'। उस देवापिको इस वर्ष काम-सूक्तका आविर्भाव हुआ था। उस 'समुद्र' शब्दके जो जल-निधिके साथ सन्दिग्ध हैं, प्रविभागके दिखानेके लिये यह ऋचा निर्वचन करनेवाली है॥ १॥

व्याख्या।

इस खण्डमें पन्द्रह हिरण्य नामों और सोलह अन्तरिक्ष नामोंको व्याख्या या भाष्य है। प्रायः सभी खण्डोंमें जो 'पञ्चदश' 'षोडश' आदि संख्या दी गई हैं, वह निघण्टु ग्रन्थमें पठित शब्दोंकी सख्या-का अनुवादमात्र है, किन्तु वह अन्य शब्दोंके निषेधके लिये नहीं। इससे असमाम्नात या अपठित पर्य्याय शब्द भी तहाँ तहाँ व्याख्येय समझने चाहिये। जैसे कि—प्रथम खण्डमें 'हाटक' 'सुवर्ण' 'चामीकर' और शात कुम्भ आदि, और दूसरेमें दिव् 'द्यो' विहा-यस्,-आदि।

पृथिवीमें ही सुवर्ण होता है, इस कारण पृथिवी नामोंके अनन्तर 'हिरण्य' नाम कहे गये हैं।

आद्य-खण्डमें एक 'हिरण्य' शब्दका ही निर्वचन किया है। उसमें दिखाया कि,एक ही हरण-क्रिया द्विविध सम्बन्धसे 'हिरण्य' शब्दको बनाती है, या उसे स्वर्ण-द्रव्यमें ले जासकती है। जैसे-[१] शिल्पी भी कटक, कुण्डल आदि भूषणोंके बनानेको उसे

हरण करते हैं। [२] अन्य अन्य मनुष्य, व्यवहारके लिये एकसे दूसरेके पास हरण करते हैं। तथा—'हित+रमण' और इच्छार्थक 'हर्य' [भ्वा० प०] धातुसे अर्थ और शब्दके सादृश्यसे 'हिरण्य'-शब्द बनाया है।

इस शब्दके ढङ्ग पर ही अन्य 'हेम' 'चन्द्र' आदिकी व्याख्या करना चाहिये। जैसे—'हितं मम इदम्,' अर्थात् 'यह मेरा हित है,' ऐसा सभी पुरुष मानते हैं। इनसे 'हित+मम' इन दो पदोंके विकारसे 'हेम' पद बना। एवम् 'चदि' कान्तौ [भ्वा० प०] धातुसे 'चन्द्र' शब्द है। क्योंकि—'चन्दति इद सर्वः', अर्थात् इसे सब चाहते हैं,—इससे यह चन्द्र है।

अन्तरिक्ष नामोंमें 'अन्तरिक्ष' और समुद्र' दो नामोंकी व्याख्या है। 'समुद्र' शब्दके दो अर्थ हैं, एक आकाश, और दूसरा समुद्र, इस निरुक्त'-शास्त्रमें मन्त्रोंमें जिसके दो या अनेक अर्थ होते हैं, या हो सकते हैं; वह—सन्दिग्ध-पद बोला जाता है, यह इस शास्त्रकी शैली है।

अन्तरिक्ष नामकी बनावट 'अन्तरा+क्षान्तम्' = 'अन्तरिक्षम्'— इस प्रकार, अन्तरा और क्षान्त इन दो पदोंसे मिलती है, और अर्थ भी उसके अर्थ-तत्वमें घट जाता है। ऐसे ही केवल 'अन्तरा' शब्द और 'अन्तर+अक्षय' इन दो शब्दोंसे भी निरुक्त होता है।

'अम्बर'—शब्द। 'अम्बुमत्-भवति, इति अम्बरम्। अर्थात्— अम्बु या जलवाला होता है, इस कारण 'अम्बर' है।

'वियत्'—शब्द। 'नाना भावेन सर्व तो वियतम्' इति वियत्। अनेक रूपसे सब ओर फैला हुआ है, इससे 'वियत्' है।

'व्योम'-शब्द। नाना भावेन एतद् अवति भूतानि,—इति व्योम। नाना प्रकारसे अवकाश दानसे यह भूतोंको रक्षा करता है, इससे व्योम है। इसी प्रकार अन्य शब्दोंमे ऊहा करना।

आगे जो वर्षकाम—सूक्तकी ऋचा दी जाती है,—उसमें सन्दिग्ध 'समुद्र' पदके दोनों अर्थ मन्त्रार्थके सामर्थ्यसे ही स्पष्ट प्रतीत होते हैं ॥ १ ॥

[खं० २]

आर्ष्टिषेणोहोत्रमृषिर्निषीदन्देवापिर्देव सुमतिं चिकित्वान्। उत्तरस्मा दधरं समुद्रमपो दिव्या असृजद्वर्ष्या अभि ॥"

[भा०] "आर्ष्टिषेणः" ऋष्टिषेणस्य पुत्रः। इषितः षेणस्य इति वा। 'सेना' सेश्वरा। समान गतिर्वा। 'पुत्र.' पुरुत्रायते। निपरणाद् वा। 'पु' नरकं, ततः त्रायते इति वा। "होत्रम्-ऋषिः-निषीदन्"।'ऋषिः' दर्शनात्।'स्तोमान् ददर्श'-इति-औपमन्यवः। "तद्-यद्-एनान्—तपस्या मानात् ब्रह्म-स्वयम्भु—अभ्यानर्षत्, तद् ऋषीणाम्—ऋषित्वम्"—इति विज्ञायते। "देवापिः" देवानाम्-आप्त्या, स्तुत्याच प्रदानेन च। "देव सुमतिम्" देवानां कल्याणीं मतिम्। "चिकित्वान्" चेतनावान्। "स उत्तरस्माद्—अधरं समुद्रम्"। 'उत्तरः' उद्धततरो

भवति । 'अधरः,' 'अधोरः;' 'अधः' 'न धावति' इति उर्द्धगतिः प्रतिषिद्धा । तस्य-उत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥ २ ॥

अन्वयार्थः-'आर्ष्टिषेणो देवापिर्ऋषिः होत्रं' कर्मप्रति 'निषीदन्' उपविष्टवान् । ततोऽपि 'सः' देव सुमतिम्' 'चिकित्वान्' जानानः 'उत्तरस्मात्' अन्तरिक्षात् समुद्रात् 'अधरं' पार्थिवं 'समुद्रं' प्रति [एष विभागः समुद्रयोः ।] 'दिव्याः' 'वर्ष्याः' वर्ष सम्बन्धिनीः 'अपः' जलानि 'असृजत्' अक्षारयत् — इत्यर्थः । ममापि इदानीं तथा एव अस्तु—इति वर्तमानेन सम्बन्धः ॥

अनुवाद ।

मन्त्रार्थ-ऋष्टिषेण या इषितषेणका पुत्र ऋषि देवापि होताके कर्ममें बैठा। उससे भी उसने देवताओंकी कल्याणी मतिको, जो वर्षाको देनेवाली है, जानते हुएने उत्तर या अन्तरिक्ष समुद्रसे अधर या पृथिवीके समुद्रके प्रति सुन्दर वृष्टिके जलोंको गिराया था। इस समय मेरे लिये भी वैसाही हो।

भाष्यार्थ-'आर्ष्टिषेण' ऋष्टिषेणका पुत्र। अथवा इषितषेण, जिसने सेना भेजी हो, उसका। 'सेना' इन अर्थात् ईश्वर या प्रभुके सहित। अथवा समान या एकसी गतिवाली। 'पुत्र' पुरु=बहुत, त्राण=रक्षा करता है। अथवा 'प'

पालन पूरणयोः [क्र्या० प०] धातुसे। अर्थात् पितरोंको पिण्डदानसे पालन या पूरण करनेवाला। अथवा 'पुम्' नाम एक नरक है, उससे त्राण करनेवाला। "होत्रम्-ऋषः-निषीदन्" यहाँ ऋषि शब्द दर्शन क्रियासे है। [क्योंकि-] 'उसने स्तोम या मन्त्रोंको देखा है, यह औपमन्यव आचार्य [मानता है] जो वह स्वयम्भू=दूसरेसे न होकर आपसे हुआ, ब्रह्म=वेद तप करते हुए इन ऋषियोंको प्राप्त हुआ, यही ऋषियोंका ऋषिपना है, यह [ब्राह्मणमें—] जाना गया है। 'देवापि' [क्यों ?] देवताओंकी प्राप्ति अर्थात् स्तुति अथवा प्रदानसे। 'देव सुमति' देवताओंको कल्याणी=वर्षाके देनेवाली बुद्धिको 'चिकित्वान्' चेतनेवाला वह उत्तर नाम अन्तरिक्ष समुद्रसे अधर नाम पृथिवीके समुद्रके ऊपर। 'उत्तर'–[क्यों ?–] बहुत उठा हुआ है। 'अधर' नीचेको न जानेवाला, और न दौड़नेवाला, अर्थात् ऊपरको, यह उर्द्ध-गतिका निषेध है, उसके वहुत निर्वचन या व्याख्याके लिये अगली ऋचा है॥ २॥

व्याख्या।

जिस देवापिको "आर्ष्टिषेण" यह ऋचा प्रकट हुई, उस देवापिसे मन्त्रस्थ देवापि भिन्न और कल्पान्तरका था। उसी प्रकार शन्तनु भी दो ही थे। क्योंकि-मन्त्रमें देवापि किसी पूर्वकालके देवापिके इतिहासको श्रवण या दर्शन कर रहा है। इससे मन्त्रार्थके अन्तमें 'इस समय मेरे लिये भी ऐसा ही हो' अवर या पीछेका देवापि जो इस मन्त्रका देखनेवाला है, की—ओरसे जोड लेना चाहिये। ऐसा करनेसे मन्त्रका वर्त्तमानसे सम्बन्ध हो जाता है। ऐसी योजना प्रयोजनानुसार अन्यत्र भी कर लेना चाहिये। क्योंकि-जो कोई भी मन्त्रका प्रयोग करता है, वह अपने स्वार्थके लिये

करता है, और प्रयोग कर्त्ताका स्वार्थ उसके समान कालमें होता है। तथा मन्त्रकी अर्थवत्ता वर्त्तमान कर्मके स्मरण करानेके द्वारा ही सार्थक होती है।

'समुद्र' शब्द अन्तरिक्ष और पार्थिवसमुद्र दोनोंके लिये आता है, यही बात पुष्ट करनेके अर्थ यह ऋचा दी गई है। इसमें कहा गया है कि– देवापिने ऊपरके समुद्रसे नीचेके समुद्रमें वृष्टि करवाई' इससे स्पष्ट रूपसे दोनों अर्थोंमें 'समुद्र' शब्दका होना सिद्ध हो जाता है।

'ऋष्टिषेण'–'ऋष्टि' एक आयुध होता है, जिसके सेनामें ऋष्टि आयुध बहुत हों, वह ऋष्टिषेण होता है। अथवा 'ऋष्टिषेण' से इषितसेन लेना। अर्थात्—जो शत्रुओंके प्रति नित्य ही सेना भेजता है वह 'ऋष्टिषेण' है।

'सेना'–'इन' यह ईश्वरका नाम है, वह नित्य ही नेतासे सयुक्त रहती है। अथवा समान गति होती है, अर्थात् एक जयरूप अर्थके उद्देश्यसे सदा जाती है।

'पुत्र' क्यों ?–पिताने चाहे बहुत भी पाप किये हों, तोभी उनसे उसकी रक्षा कर लेता है।

'ऋषि' शब्द दर्शन क्रियासे सम्बन्ध रखता है। क्योंकि–वह [ऋषि] सूक्ष्म अर्थोंको देख लेता है। उपमन्युका पुत्र मानता है कि—मन्त्रोंके दर्शन करनेसे 'ऋषि' है। इसी अर्थमें ब्राह्मण भी साक्ष्य देता है।

इस ऋचाके ऐतिहासिक अर्थको अगली ऋचा बहुत कुछ कहती है,–जैसे–देवापिने उत्तर समुद्रसे वृष्टिकी देवताओंसे याचना की, जैसे–उसने पुरोहितता की, और जिस प्रकार शन्तनुको जिस कर्मसे यज्ञ कराया ॥ २ ॥

[खं० ३]

"यद्देवापिः शन्तनवे पुरोहितो होत्राय वृतः कृपयन्नदीधेत्। देवश्रुतं वृष्टिवनिं रराणो वृहस्पतिर्वा च मस्मा अयच्छत् ॥"

[भा०] "शन्तनुः" शंतनो रस्त्विति वा। शम्-अस्मैतन्वअस्तु-इति वा। "पुरोहितः" पुरः एनं दधति। "होत्राय वृतः" कृपायमाणः-अन्वध्यायत्। "देवश्रुतं" देवा एनं शृण्वन्ति। वृष्टि याचितं "रराणः" रातिः-अभ्यस्तः। "वृहस्पतिः" ब्रह्मा आसीत्, सः "अस्मै" "वाचम्-अयच्छत्"। 'वृहत्'—उपव्याख्यातम् ॥ ३ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥२, ३॥

अन्वयार्थः-"यत्" यदा "देवापिः शन्तनवे" राज्ञे "होत्राय" वर्षार्थीये कर्मणि होतृ कर्मणे "वृतः" सन् "कृपयन्" राज्ञः शन्तनोः कृपायमाणः "अदीधेत्" वृष्टिर्भवेत्-इति अन्वध्यायत्, तदा 'वृष्टिवनि' वृष्टियाचिनम् एनं "देवश्रुत" देवापि "रराणो" ददत् "वृहस्पति" ब्रह्मा आसीत्। ब्रह्मत्वे च

अवस्थितः सः "अस्मै" "वाचम्"-वर्षसाधिकाम्-"अयच्छत्"-अददत्-इत्यर्थः ।

अनुवादः ।

[मन्त्रार्थः] जिस समय देवापि शन्तनु राजाके अर्थ वर्षाके साधक कर्ममें होताके कर्मके लिये वरण किया गया और उसने राजा शन्तनु पर कृपा करते हुए, ध्यान किया कि-इसके राज्यमें वृष्टि हो, तब वृष्टिके याचन करनेवाले देवापिको देते हुए बृहस्पति ब्रह्मा हुए और ब्रह्मत्वमें स्थित होकर उसने इस देवापिको वृष्टिके देनेवाली वाणी दी ।

[एकपद निरुक्त] 'शन्तनु'-'शम्' नाम सुखका और 'तनु' नाम शरीरका है । इन्हीं दो शब्दोंसे 'शन्तनु' शब्द बना । जिसका अर्थ यह होता है कि-वह किसीको रोगार्त्त देखकर कहता है कि-तेरे शरीरका कल्याण हो, तो वह नीरोग हो जाता है । अथवा इसको शरीरका सुख हो, इस प्रकार वह इच्छा करता है ।

'पुरोहित' 'पुरः' नाम पहिले 'हित' धारण किया गया, अर्थात्-राजा लोग शान्ति पौष्टिक और आभिचारिक कर्मोंमें इससे पहिले धारण करते है, या आगे करते हैं ।

'देवश्रुत्' 'देवाः एनम्-स्तुतीः-उच्चारयन्तं शृण्वन्ति इति-'देवश्रुत्' । अर्थात्-जब वह स्तुतियोंका उच्चारण करता है, तब देवता उसे सुनते हैं ।

'रराण' 'रा' दाने (अदा० प०) धातुका दोहराया हुआ रूप है । अर्थात् बहुत दान करनेवाला या उदार ।

'बृहन्'-यह शब्द 'बृहस्पति' शब्दके अन्तर्गत है। 'बृहन्' नाम 'महान्' या 'पूजनीय' का है. इसकी पहिले (१. ३. २) व्याख्या हो चुकी है। पूजनीयोंका जो पति है, वह 'बृहस्पति' कहलाता है ॥३॥

व्याख्या ।

"यद्देवापिः"—इस मन्त्रमें कहे हुए इतिहाससे यह निकलता है, कि-किसी अवस्था विशेषमें यज्ञकर्ममें ब्रह्मासे अतिरिक्त वर्णका मनुष्य भी यदि-यजमानका सवर्ण सहोदर भ्राता हो, कर सकता है। किन्तु ब्रह्माकी अनुमति उसे मिले। ब्रह्मा चारों वेदों व वेदोक्त सकल धर्मका ज्ञाता ब्राह्मण होता है। तथा इसी कारण उसके कर्त्तव्यमें कर्मका अवेक्षण एवम् उसकी त्रुटियोंके प्रायश्चित्तका अनुष्ठान है। श्रौत तथा स्मार्त्त कर्मोंमे ब्रह्मा व्यवस्थापक होता है। अतएव देवापिको अपने भाईके कष्ट पर करुणा आई ["कृपयन्न दीधेत्"] और उसने उसके कल्याणके अर्थ उसके होतृ-कर्ममें सयुक्त होना चाहा, (होत्रायवृतः) किन्तु वह क्षत्रिय था, उसे आर्त्विज्यका अधिकार नहीं था। क्योंकि—आर्त्विज्य ब्राह्मणोंका ही होता है, यह जैमिनीय पूर्व मीमांसामें निर्णीत है। इससे शन्तनु राजाके वृष्टि साधन यज्ञमें बृहस्पति ब्रह्माने देवापिको आज्ञा दी। "बृहस्पतिर्वाचमस्मा अयच्छत् ॥

यद्यपि-इसी प्रकरणमें पहिले भगवद्दुर्गाचार्यने कहा है कि—"देवापि विश्वामित्रके समान तीव्र तपसे ब्राह्मण हो गया था" तथापि मन्त्र और यास्क मुनिके अक्षरोंसे यह बात नहीं कही गई है, इससे नितराम् मान्य नहीं हो सकती। हाँ, मेरा यह अभिप्राय नहीं, कि-ऐसा हो ही नहीं सकता, वलकि-जाति ब्राह्मण नहीं, तो कर्म. ब्राह्मण हो सकता है। आपत्-कालमें अन्य, वर्णके मनुष्य अन्य-वर्णकी वृत्तियोंको करने लगते है। और वे वृत्तिके अनुसार वर्णान्तरके नामकी गौण प्रथासे व्यवहृत होने लगते है, तथा उनके

जाति व्यवहार जन्म-सम्बन्धी पूर्व-वर्णमें ही होते हैं, और होने चाहिये। ऐसी कई जाति इस समयमें भी हैं जो सुवर्णकार आदि जातिका कार्य करते हैं, तथा उनकी जातिका प्रसिद्ध नाम भी 'सुवर्णकार' आदि हो गया है, किन्तु उनके धार्मिक व सामाजिक व्यवहार क्षत्रिय आदि पूर्व जातिके अनुसार होते है। अतः जन्मसे जो प्राचीन पृथक् जाति या वर्ण हैं, उनमें कुछ लोग कर्मको प्रयोजकता लेकर गोलमाल करते हैं, यह शास्त्रीय मर्य्यादा नहीं है, और न अच्छी ही है, क्योंकि-जाति स्थायि वस्तु है, उसका निमित्त भी वैसा ही चाहिये, किन्तु कर्म कोई स्थायि वस्तु नहीं है ॥ ३ ॥

इति हिन्दी निरुक्ते द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥३॥

चतुर्थः पादः।

(खण्ड १)

(निघ०) स्वः (१)। पृश्निः (२)। नाकः (३)।
गौः (४)। विष्टप् (५)। नभः (६)।
इति षट् साधारणानि ॥ ४ ॥

(निरु०) साधारणानि-उत्तराणि षड्, दिवश्च आदित्यस्य च। यानि तु-अस्य प्राधान्येन-उपरिष्टात्-तानि व्याख्यास्यामः। आदित्यः कस्मात्? आदत्ते रसान्। आदत्ते भासं ज्योतिषाम्। आदीप्तो भासा-इति वा। अदितेः पुत्रः-इति वा। अल्पप्रयोगं तु-अस्य-एतत्-आर्चाभ्याम्नाये। सूक्तभाक्। "सूर्यं मादितेयम्" [ऋ० सं० ८, ४, १२, १]

एवमन्यासामपि देवतानाम्-आदित्यप्रवादाः स्तुतयो भवन्ति। तद्-यथाएतद्-मित्रस्य, वरुणस्य, अर्य्यम्णः, दक्षस्य, भगस्य, अंशस्य-इति।

अथापि मित्रावरुणयो—

"आदित्यः दानुनस्पती" [ऋ० सं० २, ८, ८, १] दानपती।

अथापि मित्रस्य-एकस्य—

"प्रसमित्र मर्त्तो अस्तु प्रयस्वान्यस्त आदित्य शिक्षति व्रतेन"-इत्यपि निगमो भवति [ऋ० सं० ३, ४, ५, २]

अथापि वरुणस्य-एकस्य—

"अथा वय मादित्य व्रते तव" [ऋ० सं० १, २, १५, ५]

'व्रतम्'-इति कर्मनाम, 'वृणोति'-इति सतः। इदमपि इतरद्-व्रतम्-एतस्मादेव, निवृत्तिकर्म, 'वारयति'-इति सतः। 'अन्नम्'-अपि व्रतम्-उच्यते, यद् आवृणोति शरीरम् ॥ १ ॥

अर्थ।

अन्तरिक्ष-नामोंके आगे दिव् और आदित्यके साधारण या साझेके छः (६) नाम हैं। किन्तु इस आदित्यके जो नाम प्रधान स्तुतिके भागी हैं, उनकी व्याख्या ऊपर या दैवतकाण्ड या सत्तरहवें अध्याय (दै० का० ६, २, १—३, ६) में करेंगे। 'आदित्य किस हेतुसे है?। रसोंका आदान या ग्रहण करता है। ज्योतियों या ग्रह-नक्षत्रोंकी दीप्तिको ले लेता है। अथवा भास् या प्रकाशसे आवरण किया हुआ है। अथवा अदितिका पुत्र है। इस अर्थका 'आदित्य' शब्द ऋग्वेदमें बहुत कम आता है। अदितिकी पुत्रताका बोध * 'आदित्य'नाम प्रायः करके सूक्तमें देवताकी स्तुतिके लिये ही आता है, कदाचित् हविके विधायक वाक्यमें भी। [उदाहरण] "यदेदेनमदधुर्यज्ञियासो दिवि देवाः सूर्यमादितेयम्" अर्थात्-'जब ही यज्ञके योग्य देवताओंने इस अग्नि और अदितिके पुत्र सूर्यको द्युलोकमें स्थापन किया।' [ऐसे ही] अन्य देवताओंकी भी 'आदित्य' विशेषणसे स्तुति होती हैं। सो जैसे-यह-मित्रकी, वरुणकी, अर्य्यमाकी, दक्षकी, भगकी, अंशकी,। और भी मित्र और वरुण

दोनों मिलित देवताओंकी-[उदाहरण] आदित्या दानुनस्पती"। अर्थात् अदितिके पुत्र और दानके पति [मित्रावरुण है।] दानके पति। और भी अकेले मित्रकी स्तुतिमें "प्रसमित्र०"। अर्थात् 'हे मित्र! अदितिके पुत्र! वह मनुष्य अन्नवान् हो, जो तेरे लिये निर्वपण आदि कर्मसे संस्कार करके इस चरु-रूप हविः को देता है' यह निगम होता है। और भी अकेले वरुणको 'आदित्य' नामसे स्तुतिमें—"अथाव "। 'हे अदितिके पुत्र! हम तेरे व्रतमें आदर-युक्त हों।' [यह निगम है।] 'व्रत' यह कर्मका नाम है। [क्योंकि-] वह कर्त्ताको आवरण कर लेता है। कर्तृवाच्य 'वृञ्' (स्वा० उ०) धातुसे। यह भी दूसरा 'व्रत' शब्द जो यम, नियम आदिका वाचक है इसी धातुसे होता है। यहाँ निवृत्ति अर्थ है। कर्तृवाच्य णिजन्त 'वारयति' इस क्रियारूपसे है। अन्न भी व्रत कहाता है। जो शरीरको आवरण या व्यापन कर लेता है॥ १॥

व्याख्या।

द्युलोक भी अन्तरिक्षका ही एक उच्चतम भाग है, एवम् उसीमें आदित्यमण्डल घूमता है, इससे अन्तरिक्ष नामोंके अनन्तर इन दोनोंके साधारण नाम कहे गये हैं। यद्यपि देवताओंके नामोंकी व्याख्याके लिये दैवतकाण्ड स्वतन्त्र स्थान है, अतः आदित्यके नाम होनेसे ये उसी काण्डमें चाहिये, तथापि द्युलोकके सम्बन्धसे ये नाम यहाँ नैघण्टुक काण्डमें संग्रह किये गये हैं। इसीसे जिन आदित्यके नामोसे मन्त्रोंमें आदित्यकी मुख्यतासे स्तुति आती है, उन 'सविता', भग' आदि नामोंकी व्याख्या दैवतकाण्डमें ही होगी।

व्याख्येय 'स्वः' आदि छः नामोंमें भाष्यकारको कुछ अल्प वक्तव्य है, किन्तु इनके व्याख्याभूत 'आदित्य' शब्दमे अनेक विशेष

हैं, उन्हींके उद्घाटन करनेके लिये कौतुकवश पहिले ही यह प्रश्न उठाते हैं—'आदित्यः कस्मात्'? यहाँ पर 'आदित्य' शब्दके चार अर्थ दिखाये हैं, जिनमें प्रथम तीन अर्थ-रसोंका आदान, ज्योतियोंकी दीप्तिका आदान और प्रकाशसे व्याप्त होना, आदित्य मात्रमें घटते हैं, और चतुर्थ अर्थ 'अदितिका पुत्रभाव' सूर्य तथा अन्य मित्र आदि सब देवताओंमें साधारण है, इससे उस अर्थको लेकर यह 'आदित्य' शब्द और देवताओंके लिये भी विशेषणरूपसे आता है।

भगवद्दुर्गाचार्यने "अल्पप्रयोगं तु अस्यैतद् आर्चाभ्याम्नाये" यह पंक्ति 'आदितेय' नामके अभिप्रायसे और 'सूक्तभाक्, सूर्यमादितेयम्'-यह पङ्क्ति 'आदितेय' नामके अभिप्रायसे लगाई है, किन्तु हमारे विचारमें "आदित्यः कस्मात्" से "अथावयमादित्य व्रते तव" तक आदित्य शब्दका ही सम्बन्ध है। आपको प्रकरण भेद करनेका मुख्य कारण "सूर्यमादितेयम्" यह उदाहरण है, इसीके कारण आपने 'सूक्तभाक्' इस वाक्यके लिये 'आदितेयः इति' का अध्याहार किया। किन्तु वास्तवमें यह ठीक नहीं प्रतीत होता। वस्तुतः 'सूर्यमादितेयम्' यह सूर्यमें आदित्य प्रवाद स्तुतिका उदाहरण ही है। इसीसे 'अन्यसामपि देवता नामादित्यप्रवादाः स्तुतयो भवन्ति'—इस अग्रिम पङ्क्तिमें अपि शब्द दिया है। जिसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार 'सूर्यमादितेयम्' इस उक्त उदाहरणमें सूर्यको आदित्यप्रवाद स्तुति है, उसी प्रकार और देवताओंकी भी हैं। यास्कके अभिप्रायमें 'आदित्य' और 'आदितेय' दोनों समानार्थ हैं।

इसके अतिरिक्त यह भी है कि 'आदित्य' शब्दके प्रथम तीन निर्वचन प्रत्यक्ष सिद्ध हैं, किन्तु चतुर्थ निर्वचन ही प्रमाणापेक्ष है, इसीसे यह उदाहरण दिया है, जिससे सूर्यकी अदितिपुत्रता स्पष्ट उक्त होती है।

आदित्यप्रवादाः । आदित्येन आदित्य-इति नाम्ना प्रवादः प्रकर्षेण वादः स्तवनं यासु, ताः आदित्यप्रवादाः । जिन स्तुतियोंमे आदित्य नामसे विशेष कर स्तुति या कथन हो वे स्तुतियें आदित्य-प्रवाद होती हैं ॥ १ ॥

(खण्ड २)

(निरु०) 'स्वः'—आदित्यो भवति । सु-अरणः, सु-ईरणः । स्वृतो रसान् । स्वृतो भासं ज्योतिषाम् । स्वृतो भाषा-इति वा । एतेन द्यौ र्व्याख्याता । 'पृश्निः' आदित्यो भवति । प्राश्नुते-एनं वर्णः-इति नैरुक्ताः । संस्प्रष्टा रसान् । संस्प्रष्टा भासं ज्योतिषाम् । संस्पृष्टो भासा-इति वा । अथ द्यौः—संस्पृष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च । 'नाकः' आदित्यो भवति । नेता भासाम् । ज्योतिषां प्रणयः । अथ द्यौः-'कम्'-इति सुखनाम, तत् प्रतिषिद्धं प्रतिषिध्येत ।

"न वा अमुं लोकं जग्मुषे किञ्च नाकम्" ।

न वा अमुं लोकं जग्मुषे किञ्चन-असुखम्, पुण्यकृतो हि-एव तत्र गच्छन्ति । 'गौः' आदित्यो भवति । गमयति रसान् । गच्छति-अन्तरिक्षे । अथ "द्यौ"-यत्-पृथिव्या अधि दूरं गता भवति । यच्च-अस्यां ज्योतींषि गच्छन्ति । 'विष्टप्' आदित्यो

भवति। आविष्टो रसान्। आविष्टो भासं ज्योतिषाम्। आविष्टो भासा-इति वा। अथ द्यौः-आविष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च। 'नभः' आदित्यो भवति। नेता भासाम्। ज्योतिषां प्रणयः। अपि वा भन एव स्याद्विपरीतः। न न भाति-इति वा। एतेन द्यौ र्व्याख्याता ॥ २ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ २, ४ ॥

अर्थ।

[दोनों पक्षोंमें छहों शब्दोंका निर्वचन।]

(आदित्य पक्षमें-) 'स्वर्' (१) आदित्य होता है। (क्योंकि-) सुन्दर गमन करता है। (ऋ' गतौ (जु० प०) धातुसे।) सुन्दर प्रेरण करनेवाला है। [अर्थात् उसके उदय होते ही सब लोक अपने कर्ममें लग जाता है।] ['ईर्' गतौ (अदा० आ०) धातुसे।] सुन्दर रसोंके प्रति गया हुआ। [सूर्यकी किरणें पृथ्वी पर सब जलको खेंचनेके लिये आती हैं।] सब ज्योतियोंके प्रकाशके प्रति गया हुआ। [क्योंकि सूर्यकी ज्योतिसे ही चन्द्र आदि ज्योति चमकते हैं।] अथवा भास् या प्रकाशसे घिरा हुआ। [द्युलोक-पक्षमें।] इससे द्यौ भी व्याख्याकी गई। [आदित्यवाली बातें आदित्य-लोकमे भी हैं, इससे वे ही अर्थ इस पक्षमें ले लेने चाहियें।] आदित्य पक्षमें-] 'पृश्नि' (२) आदित्य है। [क्योंकि-] नैरुक्त कहते हैं कि—'इसे वर्ण वाहुल्यसे व्याप्त करता है। रसोंको अच्छे प्रकार स्पर्श करता है। ज्योतियोंकी भास् को अच्छे प्रकार स्पर्श करने या छूनेवाला। अथवा भास् या

दीप्तिसे छूया हुआ। [द्युलोक पक्षमें-] और द्यौ (द्युलोक) ज्योतियों या ग्रह-ताराओंसे और पुण्यवान् पुरुषोंसे छूई हुई। [आदित्य पक्षमें-] 'नाक' (३) आदित्य है। [क्योंकि-] वह भासों या प्रकाशोंका नेता है। और ज्योतिश्चक्र या ग्रहमण्डलका घुमानेवाला। [इन्ही भगवान् सूर्यदेवके रश्मिजालके अग्रोंमें लगा हुआ ज्योतिश्चक्र घुमता है।] [द्युलोक पक्षमे-] और 'द्यौः' [नाक क्यो है?] 'क' यह सुखका नाम है। उसका प्रतिषेध करके प्रतिषेध किया जावेगा। [अर्थात् जो 'क' सुख नहीं है, वह 'अक' दुःख होता है, और 'अक' या दुःख जिसमें न हो, वह नाक होता है। द्युलोकमें दुःख न होनेसे वह 'नाक' है। 'न, अ, क'—इन तीन शब्दोंके जुडनेसे 'नाक' शब्द होता है।] [इस अर्थमें ब्राह्मण प्रमाण है-] "न वा ० ०"। उस लोकमें गये हुए को कोई असुख या दुःख नहीं होता। क्योकि वहाँ पुण्यकर्मके करनेवाले ही जाते हैं। [आदित्य पक्षमें-] 'गो' (४) आदित्य होता है। [क्यों?-] रसोंको अपनी ओर ले जाता है, या उन्हें पृथ्वीसे सुखा देता है। [अथवा-] अन्तरिक्षमें चलता है। और द्यौ [क्यों 'गो' है?] जिससे कि—वह पृथ्वीके ऊपर दूर गई हुई होती है। और जिससे कि—इसमें ज्योतिष्गण गमन करते हैं। [आदित्य पक्षमें-] विष्टप्' (५) आदित्य होता है। [क्योकि-] यह सम्मुख भावसे पृथिवी और अन्तरिक्षके रसोंको अपनी किरणोंसे लेनेको उनके प्रति लगा हुआ होता है। और ज्योतिषों या ग्रहोंकी भासाके प्रति आविष्ट अर्थात् प्रवेश किये हुए रहता है। अथवा भास् या दीप्तिसे प्रविष्ट होता है। [द्युलोक पक्षमें-] और द्यौः [क्यों 'विष्टप्' है?] वह ज्योतियों और पुण्यवानोंसे प्रवेशकी हुई होती है। [आदित्य पक्षमें-] नभस्' (६) आदित्य होता है। [क्योंकि-] भासःओंका नेता होता है। और ज्योतियों-

का प्रणयण या घुमानेवाला है। अथवा 'भनं' शब्दही उलटा हो। अर्थात् भासन होता हुआ ही विपरीत होकर नभ' होगया। अथवा 'नहीं प्रकाश होता हुआ नहीं, अर्थात् अवश्य प्रकाश होनेवाला। [द्युलोक पक्षमें-] इससे द्यौ का भी व्याख्यान हो चुका। [अर्थात् ये ही प्रकार उसमें भी जानने जो आदित्य पक्षमें हैं।] ॥ २ ॥

इति हिन्दीनिरुक्ते द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थ पादः समाप्तः ।

पञ्चमः पादः ।

[निघ०] खेदयः (१) । किरणाः (२) । गावः (३) । रश्मयः (४) । अभीशवः (५) । दीधितयः (६) । गभस्तयः (७) । वनम् (८) । उस्राः (९) । वसवः (१०) । मरीचिपाः (११) । मयूखाः (१२) । सप्त ऋषयः (१३) । साध्याः (१४) । सुपर्णाः (१५) । इति पञ्चदश रश्मिनामानि ॥ ५ ॥

[निघ०] आताः (१) । आशाः (२) । उपराः (३) । आष्ठाः (४) । काष्ठाः (५) । व्योम (६) । ककुभः (७) । हरितः (८) । इति अष्टौ दिङ् नामानि ॥ ६ ॥

(खण्ड १)

[निरु०] रश्मिनामानि-उत्तराणि पञ्चदश । 'रश्मिः यमनात् । तेषाम्-आदितः साधारणानि पञ्च अश्वरश्मिभः । दिङ् नामानि उत्तराणि-अष्टौ । 'दिशः' कस्मात् ? दिशतेः । आसदनात् । अपि वा अभ्यशनात् । तत्र 'काष्ठा' इत्येतद् अनेकस्यापि सत्वस्य भवति । काष्ठा दिशो भवन्ति । क्रान्त्वा

स्थिता भवन्ति। काष्ठा उपदिशो भवन्ति। इतरेतरं क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति। आदित्योऽपि काष्ठा उच्यते। क्रान्त्वा स्थितो भवति। आज्यन्तः-अपि काष्ठा उच्यते। क्रान्त्वा स्थितो भवति। आपः-अपि काष्ठा उच्यते। क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति-इति स्थावराणाम् ॥ १ ॥

अर्थ।

दिव् व आदित्यके नामोंके अनन्तर पन्द्रह (१५) रश्मि (किरण या लगाम) के नाम हैं। 'रश्मि' क्यों? जलों या अश्वोंके यमन (थाँम्हने) से। उनमें प्रथम पाँच नाम घोड़ोंकी रश्मियोंके साथ साझेके नाम है।

रश्मि नामोंके पश्चात् आठ (८) दिशाके नाम हैं। 'दिश्' किस निर्वचनसे? दिश् अतिसर्जन या दान अर्थमे (तु० प०) धातुसे। क्योंकि-'अति सृज्यन्ते आसु हविरादीनि देवतानाम्' इनमे देवताओंके लिये हविः आदि दी या रखी जाती हैं।] आसा-दन अर्थात् प्रत्येक वस्तुके आसन्न या समीप रहनेसे। अथवा प्रत्येक वस्तुको अभ्यशन या अपने अन्तर्गत कर लेती हैं, इससे। उनमें 'काष्ठा' यह नाम उनके द्वयोंका होता है। 'काष्ठा' दिशा होती है। क्योंकि वे प्रत्येक वस्तुके प्रति जाकर स्थित होती है। 'काष्ठा' उपदिशा या कोण-दिशा होती हैं। क्योंकि-वे भी परस्परको दबा कर दिशाओंके साथ स्थित होती है। आदित्य भी 'काष्ठा' कहा जाता है। क्योंकि-वह भी अपने स्थानको दबा कर

स्थित होता है । रण या संग्रामका देश भी-'काष्ठा' कहलाता है। क्योंकि-वह भी अपने स्थानको दबा कर स्थित होता हैं। जल भी 'काष्ठा' कहलाते है। [जल दो प्रकारके होते हैं, स्थावर और जङ्गम उनमें] ये जलाशयमें जाकर स्थित हो जाते हैं, यह स्थावरोंका निर्वचन है। [अस्थावर या चलते हुए जलोंके अभिप्रायसे- 'क्रामन्ते च एताः, न क्वचित् तिष्ठन्ति, इति काष्ठाः मेध्याः आपः' अर्थात् ये चलते ही रहते हैं, किन्तु कहीं भी ठहरते नहीं, इसीसे 'काष्ठाः' मेध्य या पवित्र जल हैं। यह निर्वचन है।] ॥ १ ॥

(खण्ड २)

(निरु०) "अतिष्ठन्ती नाम निवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम् । वृत्रस्य निण्यं विचरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः ॥"

"अतिष्ठन्तीनाम्"–अनिवेशमानानाम्-इति ।

अस्थावराणां "काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरं" मेघः । 'शरीरं' शृणातेः । शम्नातेर्वा । "वृत्रस्य निण्यं" निर्णामं "विचरन्ति" विजानन्ति-"आपः" इति । "दीर्घं" द्राघतेः । "तमः" तनोतेः' । "आशयत्" आशेतेः । "इन्द्रशत्रुः" इन्द्रः-अस्य शमयिता वा । शातयिता वा, तस्मादिन्द्रशत्रुः । तत्को वृत्रः ? मेघः इति नैरुक्ताः । त्वाष्ट्रः-असुरः- इति ऐतिहासिकाः । अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते । तत्रउपमार्थेन युद्धवर्णाः

भवन्ति। अहिवत् तु खलु मन्त्रवर्णाः ब्राह्मणवादाश्च। विवृद्ध्या शरीरस्य स्रोतांसि निवारयाञ्चकार, तस्मिन् हते प्रसस्यन्दिरे आपः। तदभिवादिनी-एषा-ऋग् भवति ॥ २ ॥

अर्थ।

[जङ्गम काष्ठा या जलोंके वर्णनमें मन्त्र—]

"हिरण्यस्तूपस्य इयमार्षम्, दासपत्नीरिति च। त्रिष्टुभावेते। अग्निष्टोमे निष्केवल्यं नाम शस्त्रम् तत्र निविद्धानीयमेतत् सूक्तम्, तत्र द्वे अपि शस्येते।"

'अतिष्ठन्ती' मेघके चलते हुए बराबर चलती हुई 'अनिवेशना' जलाशयकी प्राप्तिसे पहिले कहीं कहीं रुकनेवाली 'मध्ये' मेघके उदरमें स्थित हुई हुई काष्ठाओं (जलों) के बाहरसे विधाताने मेघरूप शरीर जो उनको आवरण किये हुए और उन्हींकी रक्षाके लिये है, लगा दिया है। अप् या जल वृत्र (मेघ) के 'निण्य' नीचे स्थानको जिससे वह गमन करता है, जानते हुएके समान नीचेकी ओर जाते हैं, और इन्द्र शत्रु (वृत्र या मेघ) उसके रोकनेवालेके समान दूर तक उसके आगे बढ़ता है, और अन्धकारको फैला कर स्थित होता है।

इस मन्त्रमें वर्षाकालीन मेघका स्वभाव और रूप वर्णन किया है। वर्षाऊ बादलकी काली काली घटाएं नीचेको पृथ्वीकी ओर लटक आती हैं और दूरतक फैल जाती हैं। बादलके भीतरका पानी भारीपनसे नीचेको आता है और उसीके साथ उसका धूम-आदि-मय शरीर भी उसके आगे तक फैल जाता है। मानो एकको स्पर्धासे एक आगे बढ़ता है, यही दृश्य इस मन्त्रके द्वारा देख रहा है।

[निरुक्तार्थ] नहीं ठहरने वालियोंके, नहीं निवेश (प्रवेश) करनेवालियोंके, वह स्थावर (चल) जलोंका (वर्णन है।) काष्ठाओंके बीचमें (रहते हुए) (विधाताने बाहरसे) शरीर रख दिया। शरीर नाम मेघ। "शरीर" शब्द 'शॄ' हिंसायाम्- (क्र्यादि० प०) धातुसे होता है। [क्योंकि वह इन्द्रदेवसे विदारण किया जाता है।] अथवा हिंसार्थक 'शम्' (क्र्या० प०) धातुसे है। "वृत्र" के 'निण्य' निर्णाम नीचेको झुके हुए स्थानको 'विचरन्ति' विशेषरूपसे जाती हैं। "आपः" जल। "दीर्घ" शब्द 'द्राघ्' वृद्ध्यर्थक (भ्वा० आ०) धातुसे होता है। [क्योंकि वह बढ़ा हुआ होता है।] "तमस्" शब्द विस्तार अर्थमें 'तनु' (त० उ०) धातुसे है। [क्योंकि वह विस्तृत होता है।] "आशयत्" पद 'आङ्' (३ प०) और 'शीङ्' स्वप्ने (अदा० आ०) धातुसे है। "इन्द्रशत्रु" [क्यों ?] इन्द्र इसका शमन करनेवाला है। अथवा शातन या छेदन करनेवाला है। इससे वह 'इन्द्रशत्रु' है। सो कौन "वृत्र" है ? 'मेघ' यह निरुक्तके आचार्य कहते हैं। 'त्वष्टाका पुत्र असुर है' यह इतिहासके जाननेवाले कहते हैं। जलोंके और ज्योति या बिजलीके मेलसे वृष्टि होती है। वहाँ मन्त्रोंमे उपमा रूपसे इन्द्र और वृत्रासुरके युद्धका वर्णन है। अहिके समान और वृत्रके समान मन्त्रोंके वर्ण और ब्राह्मण ग्रन्थोंके वाद हैं। [वृत्रने] शरीरको वृद्धिसे स्रोतो या जलके प्रवाहोंको रोका, इन्द्रके द्वारा उसके विदीर्ण होते ही जल झरे (बरसे) उसको कहनेवाली यह ऋचा है ॥ २ ॥

व्यवस्था ।

मन्त्रोंमे देवताओं और असुरोंके संग्रामका वर्णन बाहुल्यसे आता है, किन्तु उसमें सन्देह होता है, क्या यह वास्तव है या रूपक ?

यास्क आचार्य व्यवस्था देते हैं कि—नैरुक्त आचार्य इसे रूपक मानते हैं, और ऐतिहासिक उसे सच्चा इतिहास मानते हैं, जो कि-स्वयम् तहाँ तहाँ मन्त्रवर्णों से ही प्रमाणित है, किन्तु रूपक होनेमें प्रमाणकी अपेक्षा है, इसीसे आप उसे यों दिखाते हैं—यदि 'वृत्र' नाम मेघका है, तो मन्त्रोंमें जो संग्रामका श्रवण होता है, उसकी क्या सङ्गति है।

[उत्तर] मेघके भीतर पानी और उपयुक्त बिजलीके मेलसे वर्षा होती है। वैद्युत ज्योति वायुसे लिपटा हुआ होकर जिसे इन्द्र कहते हैं, जलको ताडन करता है, और उस ताडनके वश जल बरसने लगते हैं। वहाँ पर इसी प्रकारके जल और तेजके विरुद्ध-भावको युद्धके रूपमें वर्णन किया गया है, इस लिये मन्त्रोंमें युद्ध वर्णन रूपकमात्र है, क्योंकि न वास्तविक कोई युद्ध है और न इन्द्रके कोई शत्रुही हैं। मन्त्र भी इस बातको प्रमाणित करता है:—

यदचरस्तन्वा वावृधानो

बलानीन्द्र प्रब्रुवाणो जनेषु।

मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य

शत्रुं न नु पुरा विवित्से॥

[ऋ० सं० ८, १, १५, २]

वामदेवस्य बृहदुक्थस्य आर्षम्। त्रिष्टुप्।

व्यूढस्य अष्टमे अहनि निष्केवल्ये शस्यते।

अर्थः—हे इन्द्र! जो तू शरीरधारी होकर फिर फिर बढ़ता हुआ, मनुष्योंमें अपने वीर्योंको कहता हुआ जैसा, नानाप्रकारके कर्म करता है, [क्या तू वैसा ही है?] नहीं। वह सब तेरी माया ही है, और [ऐतिहासिक] जो तेरे युद्धोंको वर्णन करते हैं, वह

भी तेरी माया ही है। न तेरा अब कोई शत्रु है और न पहिले ही था, यह मैं ही नहीं जानता बलकि—तू भी यह सब जानता ही है।

इस प्रकार इस मन्त्रमें युद्धको मायारूप वर्णन किया है। और भी ब्राह्मण ग्रन्थमें कहा है—

"वीर्य्यं वै मावोर्य्यमिन्द्र इति ह विज्ञायते"

अर्थात् 'जितना संसारमें वीर्य है, वह इन्द्र ही है',—फिर कौन उसका शत्रु और किसके साथ उसका युद्ध हो। एवम्—

"तद्राहु र्नैतदस्ति यद् देवासुरमिति"

अर्थात् यह सब ऐसा ही नहीं है, जैसा कि देव और असुरोंका संग्राम वर्णन किया हैं।

अतः ठीक ही कहा है, कि—'जल और विद्युत्के मेलसे वर्षा होती है, और युद्ध वर्णन उपमा मात्र है' ॥ २ ॥

[खं० ३]

(निरु०) "दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्

निरुद्धा आपः पणिनेव गावः।

अपां बिलमपिहितं यदासीद्

वृत्रं जघन्वां अप तद्ववार ॥"

"दासपत्नीः" दासाधिपत्न्यः। 'दासः' दस्यतेः।

उपदासयति कर्माणि। "अहिगोपा अतिष्ठन्"। अहिना गुप्ताः। 'अहिः'-अयनात्। एति-अन्तरिक्षे। अयमपि-इतरः-'अहिः' एतस्मादेव। निर्ह्रसितोपसर्गः-आहन्ति-इति। "निरुद्धा

आपः पणिनेव गावः" 'पणिः'—वणिग् भवति। 'पणिः' पणनात्। वणिक पण्यं नेनेक्ति। "अपां बिलमपिहितं यदासीद्।" 'बिलं' भरं भवति। बिभर्त्तेः। "वृत्रं जघ्निवानपववार तद्।" 'वृत्रः' वृणोते र्वा। वर्त्तते र्वा। वर्द्धते र्वा। "यद्-अवृणोत् तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्" इति विज्ञायते। "यद् अवर्त्तत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्" इति विज्ञायते। "यद्-अवर्द्धत तद्वृत्रस्य वृत्रत्वम्-इति विज्ञायते ॥३॥

इति द्वितीयाध्यास्य पञ्चमः पादः ॥ २, ५ ॥

अर्थः ।

"दासपत्नीः" दासाधिपत्न्यः "अहिगोपाः" अहिना (मेघेन) गुप्ताः "पणिना" वणिजा "गावः-इव" मेघोदरे "निरुद्धाः" "आपः" "अतिष्ठन्।" "यदा" "अपां" "बिलम्" "अपिहितम्"मुद्रितम् "आसीत्" तदा इन्द्रः "वृत्रं" मेघम् "जघन्वान्" जघान "तद्" द्वारञ्च "अप-ववार" 'अपोवृत्तवान्' तथा आपश्च वर्षभावेन प्रसस्यन्दिरे,-इत्यर्थः ॥

दास (कर्म करनेवाले) की रक्षा करनेवालीं, मेघसे रक्षित वणियेसे गोओंके समान मेघके भीतर रुकी हुईं अप् (जल) ठहरी हुई थीं। जब जलोंके निकलनेका द्वार मुंदा हुआ था उस समय

इन्द्रने वृत्र या मेघको हनन किया और उस द्वारको खोला, तथा जल वृष्टिरूपसे गिरे ॥

[एक-पद निरुक्त] "दासपत्नी" दासकी अधिपत्नियें या दास-के पेटमें स्थित होकर उसकी रक्षा करनेवालीं। [अर्थात् जब नौकर काम करता हुआ थक जाता है, तब जलके पानसे उसे बल मिलता है, और उसकी थकावट दूर हो जाती है, यह जलसे दास-को रक्षा है।] [विग्रह-प्रसक्त] 'दास' शब्द 'दसु' उपक्षये (दि० प०) धातुसे है। [क्योंकि-] वह कृषि आदि कर्मोंको सम्पादन करता है। "अहिगोपाः-अतिष्ठन्" अहि (मेघ) से रक्षित हुई स्थित थीं। 'अहि' [क्यों ?] अयन या गमनसे अन्तरिक्ष (आकाश) में गमन करता है। यह भी 'अहि' शब्द जो सर्पका नाम है इसी धातुसे बनता है; क्योंकि—वह भी चलनेवाला है। अथवा उपसर्गको ह्रस्व करके 'अहि' कहा जाता है। [क्योंकि-] वह 'आहन्ति भोगेन' अर्थात् शरीरसे चलता है] 'आङ्' पूर्वक 'हन्' हिंसागत्योः (अ० प०) धातुसे होता है। "निरुद्धा आपः पणिना इव गावः" वणियेसे गौओंके समान रुके हुए जल। 'पणि' नाम वणिक् या वणियेका है। [यह पर्यायसे तत्व-कथन है] 'पणि' [क्यों ?] पणन या लेन देनसे। [क्योंकि—वह पणन या व्यवहार करता है] [पर्याय-प्रसक्त] 'वणिज्' (क्) [क्यो ?] वह पण्य (माल) को नित्य सुधारता रहता है, [जिससे कि वह मूल्यके योग्य हो जावे।] जब जलोंका बिल मुंदा हुआ था। 'बिल' [क्यों ?] वह जल आदिसे भरा हुआ रहता है। 'डुभृञ्' धारणपोषणयोः (जु० उ०) धातुसे है। 'वृत्रको मारा और उसे खोला।' वृत्र' शब्द 'वृञ्' वरणे (स्वा०) धातुसे। अथवा 'वृधु' वृद्धौ (भ्वादि० आ०) धातुसे। जो कि—वह आकाश अथवा जलको महान् होनेसे आवरण कर लेता है, यही वृत्रका वृत्रपना

है। ऐसे ही ब्राह्मणसे जाना जाता है। अथवा इन्द्रसे हत हुआ वृत्र या मेघ जलोंके बिलके खुल जाने पर जलोंको वृष्टिरूपसे वर्षाता है, यही वृत्रका वृत्रपना है, यह ब्राह्मणमें जाना जाता है। अथवा बहुत बढ़ जाता है, यह वृत्रमें वृत्रपना है, यह ब्राह्मणमें जाना जाता है ॥ ३ ॥

व्याख्या—

इस मन्त्रमें "दासपत्नी" विशेषणसे शूद्रोंका सेवाकर्म और "पणिनेव गावः" इस दृष्टान्तसे वैश्योंका गोसेवा और वाणिज्य धर्म कहा गया है।

"कृषी-वाणिज्य गोरक्षा वैश्यकर्म स्वभावजम्"

[भ० गी० १८, ४४]

अर्थात् भगवद्गीतामें 'कृषि, वाणिज्य और गोरक्षा ये वैश्यके स्वाभाविक कर्म है' कहा है।

इस उदाहरणसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि-वृत्र मेघ है, असुरमें जलोंका रुकना और उसके हननसे वृष्टि होना संभव नहीं। यह नैरुक्त-पक्षमें प्रमाण है ॥ ३ ॥

इति हिन्दीनिरुक्ते द्वितीयाध्यायस्य पञ्चमः पादः ॥२, ५॥

षष्ठः पादः ।

(निघ०) श्यावी (१) । क्षपा (२) । शर्वरी (३) । अक्तुः (४) । ऊर्म्या (५) । राम्या (६) । यम्या (७) । नम्या (८) । दोषा (९) । नक्ता (१०) । तमः (११) । रजः (१२) । असिक्नी (१३) । पयस्वती (१४) । तमस्वती (१५) । घृताची (१६) । शिरिणा (१७) । मोकी (१८) । शोकी (१९) । ऊधः (२०) । पयः (२१) । हिमा (२२) । वस्वी (२३) । इति त्रयोविंशती रात्रि-नामानि ॥ ७ ॥

विभावरी (१) । सूनरी (२) । भास्वती (३) । ओदती (४) । चित्रामघा (५) । अर्जुनी (६) । वाजिनी (७) । वाजिनीवती (८) । सुम्नावरी (९) । अहना (१०) । द्योतना (११) । श्वेत्या (१२) । अरुषी (१३) । सूनृता (१४) । सूनृतावती (१५) । सूनृतावरी (१६) । इति षोडश उषोनामानि ॥ ८ ॥

(खण्ड १)

(निरु०) रात्रिनामानि-उत्तराणि त्रयो-विंशतिः । रात्रिः कस्मात् ? प्ररमयति भूतानि ।

नक्तं चारीणि-उपरमयति, इतराणि ध्रुवीकरोति। राते र्वा स्याद् दानकर्मणः। प्रदीयन्ते अस्याम् अवश्यायाः।

उषोनामानि उत्तराणि षोडश। उषाः कस्माद्? उच्छति इति सत्याः। रात्रेरपरः कालः। तस्या एषा भवति ॥ १ ॥

अर्थ।

'काष्ठा' यह अनेक द्रव्यका नाम होता है,-यहाँसे दिशाओंके प्रसंग और अनुप्रसंगकी बातें कही गईं, अब प्रकृतकी व्याख्या होती है—

दिशाके नामोंसे आगे तेईस (२३) रात्रिके नाम हैं। [रात्रिमें तम या अँधेरा ही पदार्थ है, और वह दिशाओंमें ही अपनी स्थिति करता है, इससे दिग्नामोंके अनन्तर रात्रिनाम कहे गये हैं।]

'रात्रि' क्यों है? जब यह भी आती है, तो नक्तंचरो (रात्रिके विचरनेवालों) को रमण कराती है। [क्योंकि-वे दिनके बीत जाने पर, रात्रिके आते ही, अपने विहारका समय जान कर विशेष-रूपसे रमण करते है। और वही अन्य दिवाचारी मनुष्य आदि प्राणियोंका भी उपरमण कराती है, अर्थात् रात्रिके आजाने पर अपने अपने कार्योंसे निवृत्त होकर निवासके लिये स्थिर हो जाते हैं। अथवा दानार्थ 'रा' (अदा० प०) धातुसे है। [क्योंकि-] उसमें अवश्याय (तुषार) या ओस गिरती है। इन्हींका प्रदान करनेसे यह रात्रि है।

क्योंकि-रात्रिका ही पिछला समय 'उषस्' (उषा) कहलाता है, इसीसे रात्रिनामोंके पश्चात् सोलह (१६) 'उषा' के नाम हैं।

'उषा' क्यों है ?. जिससे कि यह अंधेरेको निवृत्त करती है। 'उच्छी' विवासे (भू० प०) धातुसे कर्त्त कारकमें है ।

'उषा' रात्रिका पिछला समय है, इसको कहनेवाली यह ऋचा है—॥ १ ॥

(खण्ड २)

[निरु०) "इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागाच्चित्रः प्रकेतो अजनिष्ट विभ्वा । यथा प्रसूता सवितुः सवाय एवा रात्र्युषसे योनिमारैक् ॥"

"इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिः"-आगमत् । चित्रं प्रकेतनं प्रज्ञाततमम् "अजनिष्ठ" विभूततमम् । "यथा प्रसूता सवितुः" प्रसवाय रात्रिः आदित्यस्य एवं "रात्री उषसे योनिम्" अरिचत्, स्थानम् । स्त्रीयोनिः । अभियुतः एनां गर्भः । तस्या एषा अपरा भवति ॥ २ ॥

अर्थ ।

आदित्यादीनां "ज्योतिषां" मध्ये "श्रेष्ठम्" "इदम्" उषो लक्षणं "ज्योतिः" "आगात्" आगच्छति । "चित्रः" 'चित्र' चायनीयं पूजनीयं वा श्रेष्ठत्वादेव, "प्रकेतः" 'प्रकेतनं' 'प्रज्ञाततमं' "विभ्वा" 'विभूततमम्' "अजनिष्ट" जातमित्यर्थः । "यथा" "प्रसूता" प्रसवमनुप्राप्ता "रात्रि" "सवितु"

'आदित्यस्य' "सवाय" 'प्रसवाय' आदित्योत्सृष्टे देशे जायते "एवा एवम् "रात्री" "उषसे" "योनिम्" 'स्थानम्' "अरिचत्" आरेचयति-ददाति-इत्यर्थः ॥

"इदं श्रेष्ठम्" इति आङ्गिरसस्य कुत्सस्य इयम्-आर्षम्, उत्तरा च। उभे अपि त्रिष्टुभो एते। प्रातरनुवाकाश्विनयोः शस्येते।

आदित्य आदि ज्योतियोंमें, अति शीत अति उष्ण (गरम) न होनेके कारण श्रेष्ठ यह उषा रूप ज्योति आता है। अपनी श्रेष्ठता-से ही पूजनीय अति प्रसिद्ध और अन्य छोटे ज्योतिओंकी अपेक्षा-अधिक व्यापक है। जिस प्रकार जनती हुई रात्रि आदित्यको जननेके लिये उसके स्थानसे दूसरे स्थानमें हो जाती है, उसी प्रकार उषाके लिये भी स्थान देती है।

जिस प्रकार उषा आदित्यके जन्मका कारण है, क्योंकि-वह उस (उषा) के अनन्तर ही होता है, उसी प्रकार रात्रि उषाका हेतु है। इस रीतिसे 'इस ऋचामें रात्रिका अपर (पिछला) भाग ही 'उषा हुआ।' यह प्रतीत होता है।

यह ज्योतियोंमें श्रेष्ठ (उत्तम) ज्योति (उषा) आती है। चित्र या पूजनीय, प्रकेतन नाम बहुत प्रसिद्ध और अधिक व्यापक हुआ। जैसे प्रसव या जननेवाली रात्रि सूर्यके प्रसव (जनने) के लिये है, उसी प्रकार रात्रि उषाके लिये स्थान देती है। [यह भी दूसरी] स्त्रीकी योनि [इसी धातुसे है] क्योंकि-गर्भ इसके साथ मिला हुआ रहता है। उसी उषाके लिये यह दूसरी और

ऋचा है। [रात्रिका अन्तिम भाग 'उषा' कहलाता है'—इसी अर्थकी दृढताके लिये यह और ऋचा है।] ॥ २ ॥

व्याख्या ।

"इद चित्रम्" इस ऋचामें योनि शब्द स्थानके लिये आया है। 'यु' मिश्रणे (अद० प०) धातुसे है। युत होनेसे वह योनि है। क्योंकि-जो जिसमें होता है वह उससे युत या मिला हुआ ही होता है, इस न्यायसे रात्रिमें उषा होती है, इससे वह उसके साथ युत या मिली हुई है, और इसीसे उषाकी योनि रात्रि है।

यास्क मुनि कहते हैं कि—लोकमे 'योनि' शब्दसे स्त्री-योनि ली जाती है, वह भी इसी धातुसे है. क्योंकि—उसके साथ भी गर्भ मिला हुआ रहता है।

यास्काचार्यके मतमें 'योनि' शब्द पुंलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग दोनों प्रकारका है। यह उनके प्रयोगसे सिद्ध है॥ २ ॥

(खण्ड ३)

(निघ०) वस्तोः (१)। द्यौः (२)। भानुः (३)। वासरम् (४)। स्वसराणि (५)। घ्रंसः (६)। घर्मः (७)। घृणः (८)। दिनम् (९)। दिवा (१०)। दिवे दिवे (११)। द्यवि द्यवि (१२)। इति द्वादशाहर्नामानि ॥ ९ ॥

[निरु०] "रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागादारैगु कृष्णा सदनान्यस्याः। समानबन्धू अमृते अनूची द्यावावर्णं[1] चरत आमिनाने ॥

---

१ 'द्यावा' पद प्रथमा-विभक्तिके द्विवचन और, तृतीया विभक्तिके एक वचनमें होता है।

"रुशद्वत्सा" सूर्यवत्सा।

"रुशत्"-इति वर्णनाम। रोचते-र्ज्वलति कर्मणः। सूर्यमस्या वत्समाह। साहचर्याद् रसहरणाद्-वा। "रुशती श्वेत्या गात्।" "श्वेत्या" श्वेततेः। अरिचत् "कृष्णा" सदनानि अस्याः। कृष्णवर्णा रात्रिः। 'कृष्णं' कृष्यतेः निकृष्टो वर्णः।

अथ-एने संस्तौति-"समानबन्धू" समानबन्धने "अमृते" अमरणधर्माणौ 'अनूची"-इति-इतरेतरमभिप्रेत्य। "द्यावा वर्ण चरतः" ते एव। द्यावौ द्योतनात्। अपि वा "द्यावा चरतः" 'तया चरतः'-इति स्यात्। "आमिनाने" अन्योन्यस्य अध्यात्म कुर्वाणे।

अहर्नामानि उत्तराणि द्वादश। अहः कस्मात्? उपाहरन्ति अस्मिन् कर्माणि। तस्य-एष निपातो भवति, वैश्वानरीयायाम्-ऋचि ॥ ३ ॥

अर्थ।

"रुशद्वत्सा" सूर्यवत्सा "रुशती" आत्मनाऽपि रोचनशीला "श्वेत्या" श्वेतवर्णा (उषाः) "आगात्" आगच्छति। "कृष्णा" कृष्णवर्णा रात्रिः च "अस्याः" सदनानि "आरैक्" आरेचयति ददातीत्यर्थः।

उभे मिलिते स्तौति—"समानबन्धू" समानबन्धने समानबन्धू च "अमृते" अमरण धर्माणौ "अनूची" इतरेतरं संश्लिष्टे "द्यावा" द्यावौ द्योतनशीले। वा द्यावा सह "आमिनाने" अन्योन्यस्य अध्यात्मं कुर्वाणे "चरतः" गच्छतः इत्यर्थः ॥

'रुशत्' चमकीले 'वत्स' बछड़ेवाली स्वयम् 'रुशती' चमकीली 'श्वेत्या' सुपेद (उषा) आती है। और काली (रात्रि) इसके स्थानोंको छोड़ती जाती है। [मिलित स्तुति] दोनों [रात्रि और उषा] सूर्यरूप एक बन्धन या एक बन्धुवालीं, कभी नहीं मरनेवालीं, आपसमें मिली हुईं, एक दूसरीको अपनेमे करती हुईं चलती हैं ॥

"रुशद्वत्सा" नाम सूर्यरूप बछड़ेवाली। 'रुशत्' यह वर्ण (चमकीले रङ्ग) का नाम है। प्रकाश अर्थवाले 'रुच्' (भ्वा० आ०) धातुसे है। मन्त्रका देखनेवाला ऋषि उस सूर्यको इस (उषा) का वत्स कहता है। [क्योंकि-] बच्छा अपनी माँके साथ रहता है, वैसे ही यह भी उषाके साथ रहता है। इस साहचर्यकी समानतासे सूर्य उषाका वत्स है। अथवा जैसे बच्छा अपनी माँको ऊँढीसे दुग्धरूप रसको हर लेता है, वैसे ही यह सूर्य प्रभात (उषा) कालको ओसको अपनी किरणोंसे हर लेता है। इस रस-हरण क्रियाकी समानतासे सूर्य उषाका वत्स है। 'रुशती' चमकीली 'श्वेत्या' सुपेद रंगवाली 'आगात्' आती है। 'श्वेत्या' शब्द वर्णार्थक 'श्वित्' (भ्वा० आ०) धातुसे है। कृष्णने इसके स्थानोंको छोड़ा या दिया। 'कृष्ण' नाम काले रंगवाली रात्रिका है। 'कृष्ण' शब्द 'कृष्' (दि० प०) धातुसे है। निकृष्ट-अधम

रंगका नाम है। [क्योंकि-वह स्वयम् अँधेरेका रङ्ग और अन्य वस्तुओंकी प्रतीतिका विरोधी है।

अब इस ऋचाके उत्तरार्द्धसे इन रात्रि और उषा दोनोंकी स्तुति करता है। "समान बन्धू" ये रात्रि और उषा दोनों एक बन्धनमें बंधी हुई हैं। क्योंकि रात्रि आदित्यके अस्त (छिपने) से बँधी हुई या मिली हुई है। और उषाः उसके उदयसे बंधी हुई है। "अनचो" दोनों आपसमें एक दूसरेसे मिली हुई। "द्यावा वर्ण, चरतः" दोनों रात्रि और उषा अपने अपने वर्णको प्रकाशित करती हुई साथ चलती हैं। अथवा द्युलोकके साथ स्पर्धा करती हुई दोनों चलती है! 'द्यो' क्यों है? द्योतन या प्रकाशनसे। 'द्युत' दीप्तौ (भ्वा० आ०) धातुसे है। "आमिनाने" आपसको आत्मा में (आपमें) करनेवालीं॥

'उषस्' शब्दके अर्थ तत्वको निश्चय करानेके लिये ये दोनों मन्त्र आये थे, इनका वर्णन हो चुका। अब प्रस्तुत-विषय कहा जाता है:—

'उषा' के नामोंके पश्चात् अहन् (दिन) के बारह नाम हैं। 'अहन्' क्यों? इसमें सब प्राणी कर्मोंको करते हैं। 'हृञ्' हरणे (भ्वा० उ०) धातुसे है। उस 'अहन्' शब्दका नैघण्टुक या गौण वृत्तिसे वैश्वानर देवताकी ऋचामें यह निपात या उपयोग है।—॥ ३॥

(खण्ड ४)

(निरु०) "अहश्च कृष्णमहरर्जुनञ्च
विवर्त्तेते रजसी वेद्याभिः।
वैश्वानरो जायमानो न राजा
वातिरज्ज्योतिषाग्निस्तमांसि॥

"अहश्च कृष्णं" रात्रिः, शुक्लं "च-अहः-अर्जुनं विवर्त्तेते रजसी" "वेद्याभिः" वेदितव्याभिः प्रवृत्तिभिः "वैश्वानरो जायमानः" इव उद्यन् आदित्यः सर्वेषां ज्योतिषां "राजा" अवाहन् "अग्निः ज्योतिषा तमांसि" ॥

[निघ०] अद्रिः (१)। ग्रावा (२)। गोत्रः (३)। वलः (४)। अश्नः (५)। पुरुभोजाः (६)। वलिशानः (७)। अश्मा (८)। पर्वतः (९)। गिरिः (१०)। व्रजः (११)। चरुः (१२)। वराहः (१३)। शम्बरः (१४)। रौहिणः (१५)। रैवतः (१६)। फलिगः (१७)। उपरः (१८)। उपलः (१९)। चमसः (२०)। अहिः (२१)। अभ्रम् (२२)। वलाहकः (२३)। मेघः (२४)। दृतिः (२५)। ओदनः (२६)। वृषन्धिः (२७)। वृत्रः (२८)। असुरः (२९)। कोशः (३०)। इति त्रिंशन्मेघनामानि ॥ १० ॥

(निरु०) मेघनामानि उत्तराणि त्रिंशत्। 'मेघः' कस्मात्? मेहति इति सतः। आ 'उपरः' 'उपलः' इति-एताभ्यां साधारणानि पर्वतनामभिः। 'उपरः' 'उपलः'-मेघो भवति। उपरमन्ते अस्मिन्-

अभ्राणि । उपरता आपः-इति वा ।. तेषामेषा भवति ॥ ४ ॥

अर्थ ।

क्योंकि 'अहन्' शब्द रात्रि और दिन दोनोंका ही वाचक है, इससे सन्देहका स्थान है । इसका विभाग इस ऋचामें विशेषणके भेदसे दिखाया है ।

'भारद्वाजस्य इयमार्षम् । त्रिष्टुप् । पृष्ठस्य षष्ठे अहनि आग्निमारुते शस्त्रे शस्यते ।'

काला दिन (रात्रि) सुपेद दिन (दिन) दोनों बदलते रहते हैं-रात्रि बीती दिन आया, दिन बीता रात आई । दोनों प्राणियोंकी अनन्त प्रवृत्तियोंसे (अथवा ज्योति (प्रकाश) से दिन, और अँधेरेसे रात्रि ।) "रजसी" रञ्जक या प्रीतिके देनेवाले है । "वैश्वानर" अग्नि "जायमान" उदय होते हुए ज्योतियोंके राजा सूर्यके समान अपने "ज्योतिष्" प्रकाशसे "तमांसि" अँधेरोंको "अवातिरत्" 'अवाहन्' दूर करता है ।

व्याख्या ।

इस ऋचामें एक ही 'अहन्' शब्द 'कृष्ण' विशेषण लगानेसे रात्रिका और अर्जुन (शुक्ल) विशेषण लगानेसे दिनका वाचक होता है । इसी रीतिसे सन्देहके स्थानमे विशेषण आदिके सम्बन्धसे शब्दका विशेष अर्थ निर्णीत करना चाहिये ।

वेदितव्या । 'विदित' नाम जानी हुई वस्तुओंका कदाचित् अन्त हो सकता है, किन्तु जो वेदितव्या या अभी नहीं जानी गई हैं किन्तु जानने योग्य है (जानी जावेंगी) उनका अन्त नहीं हो

सकता, अर्थात् कौन कह सकता है वे कितने हैं, इसी प्रकार वेदितव्या नामसे मन्त्रमें अनन्त अर्थ लिया गया है।

(निरु०) [क्योंकि—मेघ रात्रि और दिनमें ही होते हैं, इससे उनके] पश्चात् तीस मेघके नाम हैं। 'मेघ' शब्द किस निर्वचनसे है? 'मेहति' सेचन करता है, इस कर्तृवाच्य ('मिह' सेचने) (भ्वा० प०) धातुसे है। मेघ नामोंमें 'उपर' उपल' इन दो नामोंसे पूर्व सब नाम पर्वतनामोके साथ साधारण हैं। अर्थात् मेघ और पर्वत दोनोंके नाम हैं। 'उपर' और 'उपल' मेघ होता है। क्योंकि इसमें अभ्र (मेघ) उपरत या आकर स्थित होते हैं। अथवा इसमें जल उपरत होते हैं। र और ल के अभेदसे 'उपर' शब्दसे ही 'उपल' शब्द बन जाता है। उन मेघोंकी 'उपर' शब्द वाच्यतामें विशेष लिङ्गको बतानेवाली यह ऋचा है—॥ ४ ॥

(खण्ड ५)

(निरु०) "देवानां माने प्रथमा अतिष्ठन् कृन्तत्रादेषामुपरा उदायन्। त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनूपा द्वा बृबूकं वहतः पुरीषम् ॥

[ऋ० सं० ७, ७, १६, ३]

"देवानां" निर्माणे "प्रथमा अतिष्ठन्" माध्यमिका देवगणाः। 'प्रथम' इति मुख्यनाम। प्रतमो भवति। विकर्त्तनेन मेघानामुदकं जायते। "त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनूपाः" पर्जन्यो वायु रादित्यः शीतोष्णवर्षैः ओषधीः पाचयन्ति 'अनूपाः' अनुवपन्ति लोकान् स्वेन स्वेन कर्मणा। अयमपि

इतरः-'अनूपः' एतस्मादेव। अनूप्यते उदकेन। अपि वा 'अन्वाप्'-इति स्यात् यथा 'प्राक्' इति। तस्य 'अनूपः' इति स्यात्। यथा 'प्राचीनम्' इति। "द्वा बृबूकं वहतः पुरीषम्" वाय्वादित्यौ उदकम्। 'बृबूकम्' इति-उदकनाम। ब्रवीते र्वा शब्दकर्मणः। भ्रंशते र्वा। 'पुरीषं' पृणातेः, पूरयते र्वा॥ ५॥

इति द्वितीयाध्यायस्य षष्ठः पादः॥ २, ६॥

अर्थ।

'उपर' शब्दकी मेघवाचकतामें उदाहरण मन्त्र। उदाहरणमें आये हुए 'प्रथम' 'अनूप' 'बृबूक' और 'पुरीष' शब्दका निर्वचन।

"वसुक्रस्य इन्द्रपुत्रस्य इयमार्षम्। त्रिष्टुप्। महाव्रते मरुत्वतीये शस्यते।"

मन्त्रार्थ—प्रजापतिके द्वारा देवताओंके निर्माणमें मध्यम लोकके देवता ही प्रथम (मुख्य) हुए। [क्योंकि-मेघके अभावमें वृष्टि नहीं हो सकती और वृष्टिके बिना जब जगत् नहीं रह सकता, इसीसे इन मध्यम देवताओंकी उत्कृष्टता है।] इन मेघोंके कृन्तन कर्त्तन या छेदनसे उपर (जल) "उदायन्" आते हैं। तीन अनूप देवता पृथिवीको तपाते हैं। दो देवता पुरीष या तृप्तिके देनेवाले पुरीष (जल) को धारण करते हैं।

भाष्यार्थ-[१म पाद] देवताओंके निर्माणमें माध्यमिक देवगण प्रथम स्थित हुए। प्रथम यह मुख्यका नाम है। [क्योंकि] वह प्रतम या प्रकृष्टतम (उत्तम) होता है। [२य पाद-] मेघोंके विकर्त्तन [काटनेसे] उदक (जल) होता है। [३य पाद] तीन अनूप

पृथिवीको तपन करते हैं। अर्थात् पर्जन्य (मेघ) वायु (पवन) और आदित्य (सूर्य) शीत (ठढक) उष्ण (गरमी) और वर्ष (वृष्टि) से ओषधियोको पकाते है।

अनूप। क्योंकि-वे अपने अपने कर्मसे लोकोंको समयके अनुसार अनुगृहीत करते हैं। यह दूसरा भी (देश विशेषका वाचक) 'अनूप' शब्द इसी अनु (उप०) पूर्वक 'डुवप्' बीजसन्ताने (भ्वा० उ०) धातुसे है। क्योकि वह भी जलसे भरा जाता है। अथवा अनु (उप०) 'आप्' (स्वा० प०) धातुसे 'अन्वाप्' शब्द होगा। क्योंकि वह जलसे व्याप्त होता है। जैसे 'प्राच्' शब्द। उसका अनूप यह शब्द बन जायगा। जैसे 'प्राचीन' यह। [४र्थ पाद] दो पुरीष बृबूकको धारण करते हैं। दो वायु और आदित्य। 'बृबूक' जल। 'बृबूक' यह जलका नाम है। शब्दार्थक 'ब्रूञ्' (अदा० उ०) धातुसे है। अथवा 'भ्रंश' अधःपतने (भ्वा० आ०) धातुसे हैं। [क्योंकि-वह मेघसे गिरता है।] 'पुरीष' शब्द 'पॄ' पूरणे (क्र्यादि प०) धातुसे है। [क्योंकि-वह जलाशयोंको पूर्ण कर देता है।] अथवा तृप्त्यर्थक 'पूर' (चु० उ०) धातुसे बनता है [क्योंकि-वह प्राणियोकी तृप्ति करता है।]

इति हिन्दी-निरुक्ते द्वितीयाध्यायस्य षष्ठः पादः ॥२,६॥

सप्तमः पादः ।

[निघ०] श्लोकः (१)। धारा (२)। इला (३)। गौः (४)। गौरी (५)। गान्धर्वी (६)। गभीरा (७)। गम्भीरा (८)। मन्द्रा (९)। मन्द्राजनी (१०)। वाशी (११)। वाणी (१२)। वाणीची (१३)। वाणः (१४)। पविः (१५)। भारती (१६)। धमनिः (१७)। नालीः (१८)। मेना (१९)। मेलिः (२०)। सूर्य्या (२१)। सरस्वती (२२)। निवित् (२३)। स्वाहा (२४)। वग्नुः (२५)। उपब्दिः (२६)। मायुः (२७)। काकुत् (२८)। जिह्वा (२९)। घोषः (३०)। स्वरः (३१)। शब्दः (३२)। स्वनः (३३)। ऋक् (३४)। होत्रा (३५)। गीः (३६)। गाथा (३७)। गणः (३८)। धेना (३९)। ग्नाः (४०)। विपा (४१)। नना (४२)। कशा (४३)। धिषणा (४४)। नौः (४५)। अक्षरम् (४६)। मही (४७)। अदितिः (४८)। शची (४९)। वाक् (५०)। अनुष्टुप् (५१)। धेनुः (५२)। वल्गुः (५३)। गल्दा (५४)। सरः (५५)। सुपर्णी (५६) बेकुरा (५७)। इति सप्तपञ्चाशद् वाङ्नामानि ॥ ११ ॥

(खण्ड १)

[निरु०] वाङ्नामानि उत्तराणि सप्तपञ्चाशत् । 'वाक्' कस्मात् ? वचेः । तत्र 'सरस्वती'-इत्यस्य नदीवद् देवतावच्च निगमा भवन्ति । तद्-यद्-देवता वद्-उपरिष्टात् तद् व्याख्यास्यामः । अथ-एतद्-नदीवत्--॥ १ ॥

अर्थ ।

प्रकृत मेघके नामोंसे आगे सत्तावन (५७) वाक्के नाम हैं। 'वाक्' शब्द किस धातुसे है? 'वच्' (अदा० प०) धातुसे। उनमें 'सरस्वती' इस नामके नदीके समान और देवताके समान निगम (वर्णनवाले मन्त्र) हैं। सो-जो देवताके समान हैं, उसे सोलहवें या ग्यारहवे अध्याय, "पावका नः सरस्वती" (ऋ० सं० १, १, ६, ३) मन्त्रमें व्याख्यान करेंगे। और जो यह नदीके समान हैं, [उसकी व्याख्याकी जाती है] ॥ १ ॥

व्याख्या ।

मेघोंमें ही वाक् या शब्द अधिक होता है, इस कारण मेघ-नामोंके अनन्तर वाक्के नाम कहे जाते हैं। वे 'श्लोक' धारा' 'इला' इत्यादि हैं। श्रूयते इति श्लोकः। श्रवण किया जाता है,-इससे 'श्लोक' है। ध्रियते तं तम्-अर्थम्-अवधारयितुम्-इति धारा। अर्थात् उस उस अर्थके अवधारण (निश्चय) करनेको धारण की जाती है, इससे 'धारा' है। त तम् अर्थ प्रति ईट्टे-इति इडा। अर्थात् उस उस अर्थके प्रति समर्थ है, इससे इडा और ड-ल के अभेदसे 'इला' है। इसी प्रकार अन्य शब्दोंकी व्याख्या करना होगा ॥ १ ॥

[निघ०] अर्णः (१)। क्षोदः (२)। क्षद्मः (३)। नभः (४)। अम्भः (५)। कबन्धम् (६)। सलिलम् (७)। वाः (८)। वनम् (९)। घृतम् (१०)। मधु (११)। पुरीषम् (१२)। पिप्पलम् (१३)। क्षीरम् (१४)। विषम् (१५)। रेतः (१६)। कषः (१७)। जन्म (१८)। बृबूकम् (१९)। बुसम् (२०)। तुग्र्या (२१)। बुर्बुरम् (२२)। सुक्षेम (२३)। धरुणम् (२४)। सिरा (२५)। अररिन्दानि (२६)। ध्वस्मन्वत् (२७)। जामि (२८)। आयुधानि (२९)। क्षपः (३०)। अहिः (३१)। अक्षरम् (३२)। स्रोतः (३३)। तृप्तिः (३४)। रसः (३५)। उदकम् (३६)। पयः (३७)। सरः (३८)। भेषजम् (३९)। सहः (४०)। शवः (४१)। यहः (४२)। ओजः (४३)। सुखम् (४४)। क्षत्रम् (४५)। आवयाः (४६)। शुभम् (४७)। यादुः (४८)। भूतम् (४९)। भुवनम् (५०)। भविष्यत् (५१)। महत् (५२)। आपः (५३)। व्योम (५४)। यशः (५५)। महः (५६)। सर्णीकम् (५७)। स्वृतीकम् (५८)। सतीनम् (५९)। गहनम् (६०)। गभीरम् (६१)।

गम्भीरम् (६२)। ईम् (६३)। अन्नम् (६४)। हविः (६५)। सद्म (६६)। सदनम् (६७)। ऋतम् (६८)। योनिः (६९)। ऋतस्य योनिः (७०)। सत्यम् (७१)। नीरम् (७२)। रयिः (७३)। सत् (७४)। पूर्णम् (७५)। सर्वम् (७६)। अक्षितम् (७७)। बर्हिः (७८)। नाम (७९)। सर्पिः (८०)। अपः (८१)। पवित्रम् (८२)। अमृतम् (८३)। इन्दुः (८४)। हेम (८५)। स्वः (८६)। सर्गाः (८७)। शम्बरम् (८८)। अम्बरम् (८९)। वपुः (९०)। अम्बु (९१)। तोयम् (९२)। तूयम् (९३)। कृपीटम् (९४)। शुक्रम् (९५)। तेजः (९६ ।) स्वधा (९७)। वारि (९८)। जलम् (९९)। जलाषम् (१००)। इदम् (१०१)। इति एकशतमुदकनामानि ॥ १२ ॥

[निघ०] अवनयः (१)। यह्व्यः (२)। खाः (३)। सीराः (४)। स्रोत्याः (५)। एन्यः (६)। धुनयः (७)। रुजानाः (८)। वक्षणाः (९)। खादोअर्णाः (१०)। रोधचक्राः (११)। हरितः (१२)। सरितः (१३)। अग्रुवः (१४)।

नभन्व: (१५)। वध्व: (१६)। हिरण्यवर्णा: (१७)। रोहित: (१८)। सस्रुत: (१९)। अर्णा: (२०)। सिन्धव: (२१)। कुल्या (२२)। वर्य्य: (२३)। उर्व्य: (२४)। इरावत्य: (२५)। पार्वत्य: (२६)। स्रवन्त्य: (२७)। ऊर्जस्वत्य: (२८)। पयस्वत्य: (२९)। सरस्वत्य: (३०)। तरस्वत्य: (३१)। हरस्वत्य: (३२)। रोधस्वत्य: (३३)। भास्वत्य: (३४)। अजिरा: (३५)। मातर: (३६)। नद्य: (३७)। इति सप्तत्रिंशत् नदीनामानि॥ १३ ॥

(खण्ड २)

[निरु०] "इयं शुष्मेभि र्बिसखा इवा रुजत्सानु गिरीणां तविषेभि रूर्मिभिः। पारावतघ्नी मवसे सुवृक्तिभिः सरस्वती मा विवासेमधीतिभिः॥

"इयं" शुष्मैः शोषणैः। 'शुष्मम्'-[ऋ० स० ४, ८, ३०, २]

इति बलनाम, शोषयति इति सतः। 'बिसम्' बिस्यतेर्भेदनकर्मणः। वृद्धिकर्मणो वा। "सानु" समुच्छ्रितं भवति। समुन्नुन्नम्-इति वा। महद्भिः "ऊर्मिभिः" "पारावतघ्नीम्" पारावारघातिनीम्। 'पारं' परं भवति। 'अवारम्' अवरम्। अवनाय सुप्रवृत्ताभिः स्तुतिभिः "सरस्वतीम्" कर्मभिः परिचरेम॥

उदकनामानि उत्तराणि एकशतम् (१०१) । 'उदकं' कस्मात् ? 'उनत्ति-इति' सतः ।

नदी-नामानि उत्तराणि सप्तत्रिंशत् (३७) । नद्यः कस्मात् ? नदना भवन्ति, शब्दवत्यः । बहुलमासां नैघण्टुकं वृत्तम् । आश्चर्यमिव प्रधान्येन । तत्र-इतिहासमाचक्षते ।—

विश्वामित्र ऋषिः सुदासः पैजवनस्य पुरोहितो बभूव । 'विश्वामित्रः' सर्वमित्रः । 'सर्वम्' संसृतम् । 'सुदाः' कल्याणदानः । 'पैजवनः' पिजवनस्य पुत्रः । 'पिजवनः' पुनः स्पर्द्धनीयजवो वा । मिश्रीभावगति र्वा । स वित्तं गृहीत्वा विपाट् छुतुद्र्योः सम्भेदम्-आययौ । अनुययुः-इतरे । स विश्वामित्रो नदीस्तुष्टाव ।—'गाधा भवत'-इति । अपिद्विवत्, अपि बहुवत् । तद्-यद्-द्विवद्-उपरिष्टात् तद् व्याख्यास्यामः । अथ एतद्-बहुवत्-॥ २ ॥

अर्थ ।

(खण्ड विषय-) 'सरस्वती' शब्दके नदी वाचकतामें उदाहरण मन्त्र । मन्त्रगत-शुष्म, बिस, सानु, पारावतघ्नी, (व्याख्या प्रसक्त-) पार, अवार शब्दोंका निर्वचन । उदक-नामोंकी संख्या । 'उदक' शब्दका निर्वचन । नदी नामोंकी संख्या । 'नदी' शब्दका निर्व-

चन। नदियोंके नैघण्टुक वृत्तके बाहुल्य, और प्राधान्य वृत्तके आश्चर्यरूपताका उल्लेख। नदियोंको स्तुति यहाँ॥—

"भारद्वाजस्य आर्षम्। जगती।"

"इयं" सरस्वती "शुष्मेभिः" 'शोषणैः' बलिष्ठैः "तविषेभिः" 'महद्भिः' "ऊर्मिभिः" "गिरीणाम्" पर्वतानाम् "सानु" शिखरम् "बिसखाः" बिसखानकः "इव" "अरुजत्" अनादरेणैव भनक्तीत्यर्थः। वयं "पारावतघ्नीम्" 'पारावारघातिनीम्' तां "सरस्वतीम्" "अवसे" रक्षणाय "सुवृक्तिभिः" 'सुप्रवृत्ताभिः "धीतिभिः" "स्तुतिभिः" "आविवासेम" 'परिचरेम'-इत्यर्थः॥

यह सरस्वती बलिष्ठ बड़ी बड़ी लहरियोंसे पर्वतोके ऊँचे ऊँचे शिखरोंको बिस (कमलके नाल) को खोदनेवालेके समान अनादर-से ही भङ्ग कर देती है। हम इधर उधरके कनारोंको भेदन करने वाली उस सरस्वतोको अपनी रक्षाके अर्थ सुन्दर स्तुतियोंसे आराधन करें॥

"इयम्" यह शुष्मों शोषणों या बलिष्ठोंसे। 'शुष्म' यह बल-का नाम है, शोषण करता है, इस कर्त्तृवाच्य 'शुष्' (चु० उ०) धातुसे है। 'बिस' यह भेदनार्थक 'बिस्' (दि० प०) धातुसे है। अथवा वृद्ध्यर्थकसे। 'सानु' जो बहुत ऊँचा हो। अथवा भले प्रकार प्रेरित होता है। महत् (बड़ी) ऊर्मियों (लहरियों) से। पारावतघ्नी नाम पार अवारको घात करने वाली को। 'पार' नाम पर उधरवाला है। 'अवार' नाम अवर इधरवाला। अवन

(रक्षा) के लिये। सुप्रवृत्त स्वर आदिकी उत्तमतासे युक्त स्तुतियोंसे सरस्वतीको 'परिचरेम' आराधन करें।

वाक्के नामोंके अनन्तर एक सो एक (१०१) जलके नाम हैं। 'उदक' शब्द किस धातुसे है? 'उनत्ति' गीला करता है, इस प्रकार कर्तृवाचक 'उन्दी' क्लेदने (रुधा० उ०) धातुसे है।

जल नामोंके पश्चात् सैंतीस (३७) नदीके नाम हैं। 'नदी' क्यों हैं? जिससे कि-नदना या शब्दवाली हैं। इसका नैघण्टुक गौण/वृत्तान्त बहुत है। प्रधानता या मुख्यतासे आश्चर्य जैसा है। तहाँ इतिहास कहते हैं---विश्वामित्र ऋषि सुदस् पैजवनका पुरोहित हुआ था। 'विश्वामित्र' जो सबका मित्र हो, अथवा जिसका सर्व मित्र हो। 'सर्व' नाम फैला हुआ। 'सुदस्' नाम कल्याण या शुभदानवाले का है। 'पैजवन' पिजवन-का पुत्र। 'पिजवन' नाम फिर स्पर्द्धा करने योग्य वेगवाला। अथवा मिलित गति अथवा अनेक प्रकारकी गतिवाला; वह विश्वामित्र धन लेकर विपाशा और शुतुद्रूके सङ्गममें आया। दूसरे (चोर) पीछे आये। उस विश्वामित्र ने नदियोंकी स्तुति की कि—तुम अल्प-जल हो जाओ। दोके समान भी और बहुतके समान भी नदियोंकी स्तुतिएँ हैं)। सो जो दोओंकी जैसी हैं, आगे उसको व्याख्या करेंगे। और जो बहुतोंकी जैसी है वह यह है—॥ २॥

व्याख्या।

प्रथम खण्डमें कहा गया था कि-मन्त्रोंमें 'सरस्वती' यह नाम नदीके लिये और देवताके लिये दोनों प्रकारसे आता है। यहाँ पर नदी सरस्वतीकी स्तुतिमें "इयं शुष्मेभिः" यह मन्त्र दिया है। बड़ी और बलवाली ऊर्मियो—(लहरियों) से गिरि-शिखरोंको नदी ही भेदन कर सकती हैं। इससे इस मन्त्रमें सरस्वती पद

नदीके लिये ही है, किन्तु देवताके लिये नहीं ।। यह यास्काचार्य-का अभिप्राय है। निगमोंके द्वारा शब्दोंके अर्थ इसी प्रकार-निर्धारित होतेहैं। ॥ २ ॥

(खण्ड ३)

[निरु०] "रमध्वं मे वचसे सोम्याय ऋतावरी रुपमुहूर्त्त मेवैः। प्रसिन्धुमच्छा बृहती मनीषा वस्युरह्वे कुशिकस्य सूनुः ॥" [ऋ० सं० ३, २, १२५]

"उप" "रमध्वम्" "मे" "वचसे" "सोम्याय" सोमसम्पादिने। "ऋतावरीः" ऋतवत्यः। 'ऋतम्'-इति उदक-नाम। प्रत्यृतं भवति। "मुहूर्त्तम्" "एवैः"। अयनैः, अवनैर्वा। "मुहूर्त्तः" मुहुर्ऋतुः। 'ऋतुः' अर्त्तेर्गतिकर्मणः। 'मुहुः' मूढ इव कालः। यावत्-अभीक्ष्णं च-इति। 'अभीक्ष्णम्' अभिक्षणम्-भवति। 'क्षणः' क्षणोतेः। प्रक्ष्णुतः कालः। 'कालः' कालयतेर्गतिकर्मणः। "प्र" अभ्याप्यामि "सिन्धुम्"। 'बृहत्या' महत्या। 'मनीषया' मनस ईषया। 'स्तुत्या' 'प्रज्ञया वा'। अवनाय "कुशिकस्य सूनुः"। कुशिको राजा बभूव। क्रोशतेः शब्दकर्मणः। क्रंशतेर्वा स्यात् प्रकाशयतिकर्मणः। साधु विक्रोशयिता अर्थानाम् इति वा। नद्यः प्रत्यूचुः ॥ ३ ॥

अर्थ ।

[खण्ड विषय] विश्वामित्र कृत मिलित नदियोंकी स्तुति, पुनः एक नदीकी स्तुति और अपने पिताके परिचय देनेका जनानेवाला उदाहरण मन्त्र । मन्त्रका भाष्य और तहाँ मन्त्रगत-सोम्य, ऋतावरी, मुहूर्त्त, मनीषा, कुशिक, और विग्रहप्रसक्त-ऋत, मुहुः, ऋतु, अभीक्ष्ण, क्षण, काल, शब्दोंका निर्वचन। नदियोंके प्रत्युत्तरका प्रस्ताव ।

"रमध्वं मे वचसः" इति त्रिष्टुभः एताः ।

हे "ऋतावरीः" । उदकवत्यो नद्यः । "मे" मम "सोम्याय" सोम सम्पादिने "वचसे" वचनाय; "एवैः" एभिः (उदकैः) "मुहूर्त्तम्" "उपरमध्वम्" मन्दवेगाः अल्पोदकाश्च भवत-इत्यभिप्रायः । [एकां प्रति] "कुशिकस्य सूनुः" पुत्रः अहं विश्वामित्रः "अवस्युः" अवनम्-इच्छन् "सिन्धुम्" "अच्छा" अच्छ अच्छ "बृहती, मनीषा" बृहत्या मनः पूर्विकया स्तुत्या "प्र-अह्वे" प्राभिह्वयामि इत्यर्थः ॥

हे जलवाली नदिओं ! मेरे देवताओंको सोम दिलानेवाले वचनके लिये (उसे सत्य करनेके अर्थ) इन अपने जलोंसे थोड़ी देर तक मन्दवेग और थोड़े-जलवाली हो जाओ। [एक नदीके प्रति] मैं कुशिकका पुत्र विश्वामित्र अपनी रक्षाकी इच्छा करता हुआ सिन्धु नदीको अच्छी और बड़ी स्तुतिसे आह्वान करता हूं ॥

मेरे वचनके लिये अनुकूल हो। "सोम्य" सोमके तैयार करानेवालेके लिये। "ऋतावरी" नाम ऋतवालीं। 'ऋत' यह जलका

"इन्द्रो अस्मान्-अरदद्-वज्रबाहुः" । 'रदतिः' खनतिकर्मा । "अपाहन्-वृत्रं-परिधिं" "नदीनाम्" इति व्याख्यातम् । "देवोऽनयत् सविता सुपाणिः" । कल्याणपाणिः । 'पाणिः' पणायतेः पूजाकर्मणः । प्रगृह्य पाणी देवान् पूजयन्ति । "तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः" । 'उर्व्यः' ऊर्णोतेः । वृणोतेः—इति और्णवाभः । प्रत्याख्याय अनन्ततः आशुश्रुवुः ॥४॥

अर्थ ।

[खण्ड विषय-] नदियोंका प्रतिवचन, कि हम तुम्हारी प्रार्थना के स्वीकारमें स्वतन्त्र नहीं। पाणि, उर्वी शब्दोंका निर्वचन। सूक्तके अन्तमें ऋषिके वाञ्छितको पूरा करनेकी प्रतिज्ञाका उल्लेख ।

हे विश्वामित्र ! "वज्रबाहुः इन्द्रः अस्मान् अरदत्" अखनत् । "नदीनां परिधिं" निरोधकं "वृत्रं" मेघम् "अपाहन्" अपावधीत् । स एव "सविता" वर्षद्वारेण सर्वार्थ-प्रसविता "सुपाणिः" 'कल्याणपाणिः' समुद्रम् "अनयत्" "तस्य" इन्द्रस्य "प्रसवे" आदेशे वर्त्तमानाः "उर्वीः" ऊर्णुवत्यः वयं "यामः" गच्छामः इत्यर्थः ।

हे विश्वामित्र ! वज्रको हाथमें रखनेवाले इन्द्रने हमें खोदा है। [क्योंकि-] नदियोंके रोकनेवाले मेघको उसने मारा, [जिसके हत होनेसे पानी पृथ्वी पर गिरे, और वे पृथ्वीको खोदते हुए नीचे

नीचेको ओर चले, उन्हींके किये हुए खातोंसे हम जाती हैं।]
इसी प्रकार कामोंके देनेवाले सुन्दर-हथवाले इन्द्र देव ने हमें समुद्र में पहुँचाया। अतः हम पृथ्वीको ढाँपती हुईं उसकी आज्ञामें चलती हैं। हमारा वही ईश्वर है, वही हमें आज्ञा दे सकता है, किन्तु तुम नहीं, यह अभिप्राय है॥

वज्रबाहु इन्द्रने हमको रदन किया। 'रद्' (भ्वा० प०) धातु का खोदना अर्थ है। नदियोंके परिधि (रोकनेवाले) वृत्रको मारा। "नदी" शब्दका व्याख्यान [नदना या शब्दवती] [अ० २ पा० ७ खं० २] [नद्यः कस्मात्? नदना भवन्ति शब्दवत्यः] किया जा चुका। "अविता" कामोंके दाता सुपाणि इन्द्रदेवने हमें पहुँचाया। 'सुपाणि' नाम कल्याण या मङ्गलकारी हाथवाले-का है। 'पाणि' शब्द पूजा अर्थमें 'पण' (भ्वादि आ०) धातुसे है। [क्योंकि] पाणि (हाथ) जोड़ कर ही देवताओंको पूजते हैं। हम उर्वी या ढाँपनेवाली, उसके प्रसव (आदेश) में चलती हैं। 'उर्वी' शब्द 'ऊर्णुञ्' आच्छादने (अदा० उ०) धातुसे है। 'वृञ्' वरणे (स्वा० उ०) धातुसे है—यह और्णवाभ आचार्य मानते हैं। अस्वीकार कर अन्तमें नदियों ने स्वीकार किया॥ ४॥

व्याख्या।

नदियोंने जो विश्वामित्रकी प्रार्थनाका "इन्द्रो अस्मान्" इस मन्त्रमें प्रत्याख्यान किया है, उसमें नदियाँ अपने साथ शत्रुके मारने रूप इन्द्रके उपकारके बदलेमें उसके प्रति पूरी कृतज्ञता और वश्यता दिखा रही हैं। यह मनुष्योंके लिये उपादेय धर्म है॥ ४॥

(खण्ड ५)

[निघ०] अत्यः (१)। हयः (२)। अर्वा (३)। वाजी (४)। सप्तिः (५)। वह्निः (६)।

दधिक्राः (७)। दधिक्रावा (८)। एतग्वा (९)। एतेशः (१०)। पैद्वः (११)। दौर्गहः (१२)। औच्चैःश्रवसः (१३)। तार्क्ष्यः (१४)। आशुः (१५)। ब्रध्नः (१६)। अरुषः (१७)। मांश्चत्वः (१८)। अव्यथयः (१९)। श्येनासः (२०)। सुपर्णाः (२१)। पतङ्गाः (२२)। नरः (२३)। ह्वार्याणाम् (२४)। हंसासः (२५)। अश्वाः (२६)। इति षड्विंशतिरश्वनामानि ॥ १४ ॥

[निरु०] "आ ते कारो शृणवामा वचांसि ययाथ दूरादनसा रथेन । नि ते नंसै पीप्यानेव योषा मर्यायेव कन्या शश्वचै ते ॥"

[ऋ० सं० ३. २, १३, ५]

"आ शृणवाम" "ते कारो!" वचनानि । याहि दूराद्-अनसा च "रथेन" च । "नि" नमाम "ते" पाय यमाना "इव-योषा" पुत्रम् । "मर्याय-इव कन्या" परिष्वजनाय निनमै-इति वा । अश्व-नामानि-उत्तराणि षड्विंशतिः ।

तेषामष्टौ-उत्तराणि बहुवत् । 'अश्व' कस्मात्? अश्नुते अध्वानम् । महाशनो भवति-इति वा । तत्र 'दधिक्रा'-इत्येतद्-'दधत् क्रामति'-इति वा ।

'दधत्-क्रन्दति'-इति वा । दधत् आकारी भवति-इति वा । तस्य अश्ववद्-देवतावच्च निगमा भवन्ति । तद् यद् देवतावद्-उपरिष्टात् तद् व्याख्यास्यामः । अथ एतद् अश्ववत् ॥ ५ ॥

अर्थ ।

[खण्ड विषय-] विश्वामित्रकी प्रार्थनाके स्वीकार करनेमें नदियोंका वचन = "आते कारो" मन्त्र । अश्वका गौण संज्ञा । अश्व, दधिक्राः, इन दो शब्दोंका निर्वचन । दधिक्रा शब्दके अश्व और देवता दोनोंके लिये मन्त्रोंमें आनेका उल्लेख । देवतार्थकके आगे व्याख्यान करनेकी प्रतिज्ञा । अश्व अर्थमें यहीं उदाहरण देनेका प्रस्ताव" ।

हे "कारो !" स्तोत्राणां कर्त्तः ! "ते" तव "वचांसि" "आ" आभिमुख्येन वयं "शृणवाम" [अतो ब्रूमः] त्वं "ययाथ" याहि । कथम् ? "अनसा" शकटेन "रथेन" च सह । यतस्त्वं "दूरात्" आयातः परिश्रान्तश्च । तेन वयम्-एताः "ते" तुभ्यं पुत्रं "पीप्याना" पाययमाना" योषा-इव" "निनंसै" निनमाम । पुनश्च "मर्य्याय" मनुष्याय "शश्वचै" परिष्वजनाय "कन्या" नवोढा "इव" "ते" तुभ्यं निनमाम ।

हे मन्त्र समूहोंके कहनेवाले! तेरे वचनोंको हम सामनेसे सुनती हैं। इससे हम कहती हैं, कि तुम गाड़ी और रथ सहित चले आओ। क्योंकि तुम दूरसे आये और थके हुए हो। इसलिये ये हम तेरे लिये पुत्रको पिलानेवाली माताके समान और आलिङ्गन या लिपटानेके लिये पुरुषके अर्थ बींदनीके समान झुकती हैं।

हे कारो! तेरे वचनोंको आभिमुख्यसे सुनती हैं। जा। दूरसे गाड़ीसे और रथसे। तेरे लिये झुकती हैं। पुत्रको पिलाने वाली स्त्रीके समान। अथवा लिपटानेके अर्थ पुरुषके लिये कन्या नयी ब्याही स्त्रीके समान हम झुकती हैं।

प्रकृत नदीके नामोंके अनन्तर छब्बीस (२६) अश्वके नाम हैं। उनमें पिछले आठ (८) नाम बहु वचनान्त हैं। 'अश्व' क्यों? वह मार्गको अशन या व्याप्त करता है। अथवा बहुत अशन या भोजन करनेवाला है। तहाँ 'दधिक्रा' यह नाम है। अश्वारोहको धारण करता हुआ चलता है। अथवा अश्वारोहको धारण करता हुआ क्रन्दन या शब्द करता है। अथवा अश्वारोहको धारण करता हुआ आकारवाला होता है। उसके अश्वके समान और देवताके समान निगम (मन्त्र) हैं। सो जो देवताके समान है उसे आगे (दैवतकाण्ड अ० १० में) व्याख्यान करेंगे। और यह अश्वके समान है।—॥ ५ ॥

व्याख्या।

मनुष्यस्वभाव—जब मनुष्यको किसीकी प्रार्थना पूरी करना होता है, तो वह उसके सामने देख कर सुनता है, और जब उसे उसका कार्य नहीं करना है, तो सामने नहीं देखता, तथा सुनी अनसुनी कर देता है। जब कोई कहता है, मैंने सुना! तो समझना चाहिये कि मेरी प्रार्थनाको पूरी करना चाहता है। ऐसा ही नदियोंने अब "आते" मन्त्रमें विश्वामित्रसे कहा है।

धर्म-दूसरे अपने पास आये हुआका अनुरोध (लिहाज) और शरणागतकी रक्षा । मन्त्रमे नदियोंने विश्वामित्रसे ऐसा ही वर्त्ताव किया है।

दधिक्राः । 'दधत्' शब्दके साथ पर्यायसे 'क्रम्'। (भ्वा० प०) 'क्रन्द्' (भ्वा० प०] धातु और आकार शब्दके मेलसे बनाया है। सवारके चढ़ जाने पर ही अश्वकी उदासीनता छूटती है, और वह यथेष्ट गति, शब्द, और आकारको धारण करता है ॥ ५ ॥

(खण्ड ६)

[निघ०] हरी इन्द्रस्य (१)। रोहितः-अग्नेः (२)। हरितः-आदित्यस्य (३)। रासभौ-अश्विनोः (४)। अजाः पूष्णः (५)। पृषत्यो मरुताम् (६)। अरुण्योगावः-उषसः (७)। श्यावाः सवितुः (८)। विश्वरूपाः बृहस्पतेः (९)। नियुतो वायोः (१०)। इति दश आदिष्टोपयोजनानि ॥ १५ ॥

वैदिक देवताओंके वाहन ।

अर्थः—हरे दो घोडे,-इन्द्रके (१) लाल घोडा,-अग्निका (२) हरे बहुत घोड़े, आदित्यके (३) । दो गधे,-दोनों अश्विनी-कुमारोंके (४)। बहुत बकरे पूषाके (५)। बहुत पृषती (गो या मृग-विशेष)-मरुतोंके (६) । लाल गौएं-उषाके (७)। श्याव या काले रङ्गको सविताके (८)। सब रङ्गवाली बृहस्पतिके (९)। मिलीजुली गौएं वायुके वाहन हैं। (१०)। दश 'हरी' आदि नाम विशेष विशेष देवताओंसे सम्बन्ध रखनेवाले हैं ॥ १५ ॥

[निघ०] भ्राजते (१) । भ्राशते (२) । भ्राश्यति (३) । दीदयति (४) । शोचयति (५) । मन्दते (६) । भन्दते (७) । रोचते (८) । द्योतते (९) । ज्योतते (१०) । द्युमत् (११) । इति एकादश ज्वलति कर्माणः ॥ १६ ॥

[निघ०] जमत् (१) । कल्मलीकिनम् (२) । जञ्जणाभवन् (३) । मल्मलाभवन् (४) । अर्चिः (५) । शोचिः (६) । तपः (७) । तेजः (८) । हरः (९) । घृणिः (१०) । शृङ्गाणि (११) । शृङ्गाणि इति एकादश ज्वलतो नामधेयानि नामधेयानि ॥ १७ ॥

निघण्टु का खण्डसूत्र—

"गौः (१) हेम (२) अम्बरम् (३) स्वः (४) खेदयः (५) आशाः (६) ; श्यावी (७) । विभावरी (८) वस्तोः (९) अद्रिः (१०) श्लोकः (११) अर्णः (१२) अवनयः (१३) अत्यः (१४) हरी इन्द्रस्य (१५) भ्राजते (१६) जमत् (१७) इति सप्तदश (१७) ॥"

इति निघण्टौ प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

[निरु०] "उतस्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति

ग्रीवायां बद्धो अपिकक्ष आसनि ।

क्रतुं दधिक्रा अनुसन्तवीत्वत्

पथामङ्कांस्यन्वापनीफणत् ॥"

[ऋ० सं० ३, ७, ४, ४]

"अपि" स "वाजी" वेजनवान् क्षेपणमनु तूर्णम्-अश्नुते ऽध्वानम्, "ग्रीवायां बद्धः ।" 'ग्रीवा' गिरते र्वा । गृणाते र्वा । गृह्णते र्वा । "अपिकक्ष-आसनि" इति व्याख्यातम् । "क्रतुं दधिक्राः" कर्म वा प्रज्ञां वा । "अनुसन्तवीत्वत् ।" तनोतेः पूर्वया प्रकृत्या निगमः । "पथामङ्कांसि ।" पथां कुटिलानि । 'पन्थाः' पतते र्वा । पद्यते र्वा । पन्थते र्वा । 'अङ्कः'-अञ्चतेः । "अपनी फणत्"-इति फणतेः-चर्करीतवृत्तम् । दश-उत्तराणिआदिष्टोपयोजनानि-इति-आचक्षते-साहचर्य-ज्ञानाय। ज्वलति कर्माणः उत्तरे-धातवः-एकादश । तावन्ति- एव उत्तराणि ज्वलतो नामधेयानि नाम-धेयानि ॥ ६ ॥

(इति षष्ठः खण्डः)

सप्तमः पादः ।

द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ २ ॥

अर्थ ।

[खण्ड विषय-] 'दधिक्रा' शब्दकी अश्ववाचकतामें उदाहरण मन्त्र। 'ग्रीवा' शब्दका निर्वचन। 'आसन्' शब्दके पूर्व किये हुए निर्वचनका स्मरण। 'अनुसन्तवीत्वत्' पदकी प्रकृति। 'पथिन्' और 'अङ्क' शब्दका निर्वचन। 'अपनीफणत्' पदकी प्रकृति और वृत्ति। प्रयोजन सहित आदिष्टोपयोजन नामोंकी संख्या। ज्वलति-कर्मा धातुओं और ज्वलत्के नामोंकी संख्या ॥'

"उतस्य वाजी-इति गोतमपुत्रस्य वामदेवस्य इयमार्षम्। जगती। वाजपेये वाजियुक्तं रथमारुह्य यजमानोऽनुवाकं जपति, तत्रैषा।"

"उतस्यः" अपि सः "वाजी" वेजनवान् 'ओविजी' भयचलनयोः (रु० प०)-(तु० आ०) भयवान् परेभ्यो भयदाता, "ग्रीवायां कक्षे आसनि" मुखे च "बद्धः अपि" "दधिक्राः" अश्वः "क्षिपणि" कशाघातम् अनु [अनाहतोऽपिवा] "तुरण्यति" तूर्णमश्नुते अध्वानम्, "क्रतुम्" आत्मीयं गमनं कर्म अथवा अश्वारोहस्य प्रज्ञाम् "अनुसन्तवीत्वत्" अनुसन्तनोति, "पथां" मार्गाणाम् "अङ्कांसि" कुटिलानि अनुलोमानि इव कुर्वन् "आपनीफणत्" आभिमुख्येन पुनः पुनः भृशं वा फणति गच्छति-इत्यर्थः ॥

वह 'वाजी' शत्रुओंको डरानेवाला गर्दनमें बांधीसे, छातीमे कक्ष्या या तङ्गसे और मुखमें खलीन या लगामसे बँधा हुआ होने पर भी घोड़ा कोड़ेके लगते ही, या लगनेसे पहिले ही शीघ्र मार्गको व्याप्त कर लेता है [जब कि दूसरा प्राणी एक स्थानमें भी बँधा हुआ चल भी नहीं सकता, शीघ्र चलना तो कहाँ ।] अपने गमन-रूप कर्मको अथवा अपने सवारकी बुद्धिको विस्तृत [क्योंकि-शीघ्र चलनेके कारण स्वामीके वाञ्छितको सिद्ध करता है ।] और मार्गकी जो कुटिलता या टेढ़ापन है, उसे अपनी शीघ्रगतिके प्रभावसे सरल करता हुआ बार बार या अति गमन करता है ॥

इस मन्त्रमें दधिक्राके वर्णनमें जो विशेषण दिये हैं, वे सब अश्वमें ही घटते हैं, इस लिये यह 'दधिक्रा' के अश्ववचनतामें प्रमाण है ।

वेदके समयमें जो घोडेकी तैयारीमें सभ्यता थी, वह अब तक भी उसी रूपमें है, कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ है ।

वह वाजी वेजनवान् या भयवान् कोड़ेके साथ ही शीघ्र मार्गको व्याप्त करता है । ग्रीवामें बँधा हुआ । 'ग्रीवा' शब्द निगलने अर्थमें 'गृ' (तु० प०) धातुसे है । क्योंकि—उससे अन्नको निगलता है । अथवा शब्द अर्थमें 'गृ' (क्र्या० प०) धातुसे है । क्योंकि—उससे शब्द करता है । अथवा ग्रहण अर्थमे 'ग्रह' (क्र्या० उ०) धातुसे है । क्योंकि—उससे जल आदिको ग्रहण करता है । अथवा वह जञ्जीरसे बाँधी जाती है । कक्ष (छाती) में और आसन् (मुख) में । 'आसन्' शब्दकी व्याख्या [ ] हो चुकी । "क्रतुं दधिक्राः" 'क्रतु' कर्म या प्रज्ञाको । 'दधिक्रा' अश्व । "अनु सन्तवीत्वत्" 'तनु' विस्तारे (त० उ०) धातुकी पहिली प्रकृतिसे निगम है ।

"प्रकृत्यन्तः सनन्तश्च यङन्तो यङ्लुगेव च।
णायन्तो णायन्तसनन्तश्च षड्विधो धातुरुच्यते॥"

अर्थः—प्रकृत्यन्त, सन्नन्त, यङन्त, यङ्लुक्, णायन्त, और णायन्त सन्नन्त छः प्रकारका धातु होता है।

'पथित्' शब्द 'पत्लृ' पतने (भ्वा० प०), 'पद' गतौ (दि० आ०) और 'पथि' गतौ (चु० प०) धातुसे है। 'अङ्क' शब्द 'अञ्चु' गतिपूजनयोः (भ्वा० प०) धातुसे है। 'अपनीफणत्' यह क्रिया पद 'फण' गतौ (भ्वा० प०) यङ्लुगन्त धातुसे है। अश्वोंके नामोंके अनन्तर दश (१०) आदिष्टोपयोजन हैं ऐसा आचार्य कहते हैं। यद्यपि ये अश्वोंके ही नाम हैं, इससे इन्हें पूर्वोक्त अश्व नामोंके साथ मिला कर ही कहना चाहिये था, तथापि ये नाम विशेष विशेष देवताओंके सम्बन्धसे ही मन्त्रोंमें आते हैं, इस लिये उन देवताओंके साहचर्य या सम्बन्धके दिखानेके लिये अलग पढ़े गये हैं।

आदिष्टोपयोजन नामोंके पश्चात् 'ज्वलति' (जलता है) के अर्थमे ग्यारह (११) धातु हैं। उतने ही उनके आगे ज्वलत् पर जलता हुआके नाम है॥ ६॥

व्याख्या।

ज्वलितकर्मा। क्योंकि—जो ही अश्ववाले होते हैं, वे ही तेजसे जलते हुए जैसे होते हैं, इसीसे अश्वनामोंके अनन्तर ज्वलित अर्थ-वाले धातु कहे हैं॥ ६॥

निरुक्तके द्वितीय-अध्यायका खण्डसूत्र—

[१म पाद] 'अथ निर्वचनम् (अर्थनित्यस्तैः) (१) ओघः (शवनिः) (कक्ष्या-सामान्यादश्वस्य) (विश्व-कद्राकर्षः) (२) राज्ञः (३) विद्याह वै (४) [द्वि० पा०] अथातोऽनुक्रमिष्यामः (५) वृक्षे वृक्षे (६) ता वां वास्तूनि (७) य ईं चकार (८) अयं स शिङ्क्ते (९) [तृ० पा०] हिरण्यनामानि (१०) आर्ष्टिषेणः (११) [४र्थ पा०] यद्देवापिः (१२) साधारणानि (१३) स्वरादित्यः (१४) [५म पा०] रश्मिनामानि (१५) अतिष्ठन्तीनां (१६) दासपत्नीः (१७) [६ष्ठ पा०] रात्रिनामानि (१८) इदं श्रेष्ठं (१९) रुशद्वत्सा (२०) अहश्च कृष्णम् (२१) देवानां माने (२२) [७म पा०] वाङ्नामानि (२३) इयं शुष्मेभिः (२४) रमध्वं मे (२५) इन्द्रो अस्मान् (२६) आ ते कारो (२७) उतस्यः (२८) अष्टाविंशतिः (२८) ॥

इति निरुक्ते पूर्वषट्के

द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥२, ७॥

ऊपर दिये हुए खण्डसूत्रके अनुसार इस द्वितीय अध्यायमें आरम्भसे अन्त तक निरुक्तके पाठमें खण्ड आये हैं। उन्हींके स्मरणार्थ यह खण्डसूत्र है। जहां आदर्श पुस्तकमें एक खण्डमें दो खण्ड या अन्यथा किया गया है, वहां मूल खण्ड प्रतीकके साथ द्व्यर्धचन्द्र-( ) चिन्हके भीतर नवीन पाठ-विभाग दे दिया गया है। पादोंका आरम्भ और खण्डोंकी संख्या भी यथास्थान उक्त चिन्हमें दी गई है।

इति हिन्दीनिरुक्ते पूर्वषट्के द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ २, ७ ॥

॥ श्रीः ॥

हिन्दी-निरुक्त।

अथ तृतीयाध्याय।

(१ म पादः)

अथ निघण्टौ द्वितीयोऽध्यायः १

[निघ०] अपः (१)। अप्नः (२)। दंसः (३)। वेषः (४)। वेपः (५)। विष्ट्वी (६)। व्रतम् (७)। कर्वरम् (८)। शक्म (९)। क्रतु (१०)। करणम् (११)। करणानि (१२)। करांसि (१३)। करन्ती (१४)। करिक्रत् (१५)। चक्रत् (१६)। कर्त्वम् (१७)। कर्त्तोः (१८)। कर्त्तवैः (१९)। कृत्वी (२०)। धीः (२१)। शची (२२)। शमी (२३)। शिमी (२३)। शक्तिः (२५)। शिल्पम् (२६)। इति षड्विंशतिः कर्म नामानि ॥ १ ॥

[निघ०] तुक् (१)। तोकम् (२)। तनयः (३)। तोक्म (४)। तक्म (५)। शेषः (६)।

अप्नः (७) । गयः (८) । जाः (९) । अपत्यम् (१०) । यहुः (११) । सूनुः (१२) । नपात् (१३) । प्रजा (१४) बीजम् (१५] । इति पञ्चदश अपत्य नामानि ॥ २ ॥

(खण्ड १)

[निरुक्तम्] ओ३म् । कर्मनामानि उत्तराणि षड्विंशतिः । कर्म कस्मात् ? क्रियते-इति सतः ।

अपत्यनामानि उत्तराणि पञ्चदश । अपत्यं कस्मात् ? अपततं भवति । न अनेन पतति इति वा । तद्-यथा जनयितुः प्रजा-एवमर्थीये ऋचा उदाहरिष्यामः ॥ १ ॥

अर्थ ।

ज्वलत्के नामोंके पीछे छब्बीस (२६) कर्मके नाम हैं । [क्योंकि कर्मोको करता हुआ ही तेजसे जलता है अथवा चमकता है, इसीसे ज्वलत्के नामोंके पश्चात् कर्म कहे गये है ।] 'कर्म' शब्द किस धातुसे है? 'क्रियते' किया जाता है ऐसे कर्मवाच्य 'कृञ्' (त० उ०) धातुसे है ।

प्रकृत कर्म नामोंके पीछे पन्द्रह (१५) अपत्यके नाम हैं । [क्योंकि सब कर्मों में पितृऋणके दूर करनेके द्वारा अपत्य या सन्तानका उत्पन्न करना ही प्रधान कर्म है, इससे, कर्मनामोंके पश्चात् अपत्य-नाम कहे गये हैं ।]

'अपत्य' क्यों है ? अप-तत अर्थात् पितासे आकर अलग जैसा विस्तृत होता है। अथवा इसके उत्पन्न हुए हुए होनेसे पितर नरकमे नहीं गिरते हैं [इससे अपत्य है।]

[धर्मके जाननेवाले पुरुष विवाद करते हैं कि दोनोंके सन्निपात या उपस्थितिमें क्या क्षेत्रवालेका अपत्य है या बीज वालेका ? सो यह कहा जाता है कि] 'जिस प्रकार उत्पन्न-करनेवाले या बीजवालेका ही अपत्य या प्रजा है इस प्रकारकी व्यवस्थामें दो ऋचाएं उदाहरण करते हैं।

(खण्ड २)

"परिषद्यं ह्यरणस्य रेक्णो नित्यस्त रायः पतयः स्याम। न शेषो अग्ने अन्यजात मस्त्यचेतानस्य मा पथो विदुक्षः॥" [ऋ० सं० ५, २, ६, २]

[भा०] परिहर्त्तव्यम् हि न उपसर्त्तव्यम्, अरणस्य रेक्णः। अरणः, अपार्णो भवति। 'रेक्णः, इति धननाम। रिच्यते प्रयतः। नित्यस्यरायः पतयः स्याम।" पित्र्यस्य इव धनस्य। "न शेषो अग्ने अन्यजात मस्तिः।" 'शेषः' इति अपत्यनाम। शिष्यते प्रयतः। अचेतयमानस्य तत् प्रमत्तस्य भवति। "मा" नः "पथो" "वि" दूदुषः-इति। तस्य उत्तरो भूयसे निर्वचनाय॥ २॥

अर्थ ।

"परिषद्यं हि" न हि ग्रभाय "इति च (२, ३ खं०) एते त्रिष्टुभौ ।"

वसिष्ठ और अग्निके संवादमे हतपुत्र वसिष्ठने अग्निसे प्रार्थना की कि 'मुझे पुत्र दे' । अग्निने वसिष्ठसे कहा कि-क्रीतक (खरीदा हुआ) कृत्रिम (बनावटी) और दत्तक (गोदका) आदि पुत्र बहुत हैं, उनमेंसे कोई पुत्र कर सकते हो । इस प्रकार अग्निसे उत्तर पाकर वसिष्ठने दो ऋचाओंसे (अन्यजात (औरससे उत्पन्न) पुत्रोंकी निन्दा करते हुए औरस (जो अपने वीर्यसे अपनी पत्नीमें उत्पन्न होता है) पुत्र माँगा ।

'हि' यतः 'अरणस्य' अपगतोदकसम्बन्धस्य पर-कुलजातस्य 'रेक्णः' यद्-अपत्याख्यं धनम् तत्-'परिषद्यम्' परिहर्त्तव्यम् न पुत्रत्वेन परिकल्पयित-व्यमित्यर्थः । यतः एवम् अतो ब्रूमः-'नित्यस्य' 'रायः' अपत्याख्यस्य धनस्य 'पतयः' स्वामिनः 'स्याम' भवेम । हे 'अग्ने ।' 'न' 'शेषः' अपत्यम् 'अन्य-जातम्-अस्ति' । 'अचेतानस्य' धर्मान् अश्रुतवत एव तद् भवति । तस्मात् 'पथः' सन्मार्गात् अस्मान् मा कथञ्चित् 'विदुक्षः' विदूदुषः प्रच्यावय इत्यर्थः । त्वं देहि नः पुत्रम्-औरसम्-इत्यभिप्रायः ।

जिससे कि-उसका अपत्य (पुत्र) रूप धन जिसके साथ अपना जलका सम्बन्ध नहीं अर्थात् दूसरे कुलमें पैदा हुआ है,

त्याज्य या पुत्र-भावसे मानने योग्य नहीं हैं। इस कारण कहते हैं कि-इस नित्य (जो सदा हमारे सङ्ग रहे) पुत्ररूप धनके पति या स्वामी होवें। हे अग्नि देव! दूसरेसे उत्पन्न हुआ अपत्य नहीं होता। अर्थात् जो ही उसे उत्पन्न करता है, उसीका वह होता किन्तु दूसरेका नहीं। अनज्ञानको ही वह सन्तोष मात्र है, कि-यह मेरा अपत्य है पर वास्तवमें वह अपत्यका काम नहीं देता। अतः हम कहते हैं कि-हमें हमारे बाप दादोंकी मर्यादासे मत गिराओ। प्रयोजन यह कि-हमें औरस पुत्र दो।

[निरुक्तार्थ] [१ म पा०] क्योंकि अरण या जलके सम्बन्धसे रहित पुरुषका रेक्ण या अपत्यधन छोड़ने योग्य है,या पास जाने योग्य नहीं है। 'अरण' नाम अपार्णका है, अर्थात् जिसके साथ जलका सम्बन्ध नहीं। 'रेक्ण' नाम धनका है। क्योंकि वह इस लोकसे परलोकको जाते हुए या मरते हुएका यहीं रह जाता है, या उससे वह खाली हो जाता है।

[द्वि० पा०] हम 'नित्य' जो अपने संगको कभी न छोड़े, धनके पति होवें। जैसे कि बापके धनका स्वामी बेटा हो जाता है।

[तृ० पा०] हे अग्निदेव! दूसरेसे उत्पन्न हुआ 'शेष' नहीं है। 'शेष' यह नाम अपत्यका है। क्योंकि मरते हुएका वह शेष (बचा हुआ) रह जाता है।

[च० पा०] 'अचेतयमान' या प्रमादीका वह होता है। हमें उस मार्गसे मत अलग करो।

इसी अपत्य शब्दके निर्वचनके प्रसङ्गमें इस मन्त्रकी व्याख्या की गयी है, और आगेका मन्त्र प्रसक्तानुप्रसक्त ही कहा गया है, इसी अभिप्रायसे आचार्य कहते हैं—"तस्य उत्तरा भूयसे निर्वचनाय।" अर्थात् उसी मन्त्रकी पर्याप्त (काफी) व्याख्याके लिये अगली ऋचा है ॥ २ ॥

व्याख्या ।

यद्यपि "परिषद्यं हि" यह ऋचा 'अपत्य' शब्दके निर्वचनमें किसी अर्थको पुष्ट नहीं करती, इससे इसे यहां न पढ़ना चाहिये था। [व्याकरणके समान निरुक्तमें भी शब्दोंका ही अनुशासन है, अतः शब्द ही उसके विषय हैं, उनके व्याख्यानमें उनके अर्थको पुष्ट करनेके लिये जो मन्त्र रखा जाता है वह वहाँ निगम नामसे बोला जाता है और आवश्यक होता है, किन्तु यह ऋचा उस कार्यको नहीं करती ।] तथापि 'अपत्य शब्दके अर्थ अपत्य या पुत्रके सम्बन्धकी एक ऐसी मार्मिक बातको यह ऋचा कहती है, जो अपुत्र मनुष्य पुत्रकी लालसा रूप अग्निको बुझानेके अर्थ दत्तक-कृत्रिम आदि पुत्र करते हैं, उन्हें याद रखने और विद्वानोंको हृदयङ्गम करने योग्य है, ऐसा जान कर आचार्यने इसे यहाँ रख दिया है । इसके अतिरिक्त यह भी इस ऋचाके द्वारा आचार्यने दिखाया कि, जिस प्रकार स्मृतियोंमें धर्मके अनेक रहस्य विस्तारसे दिखाये हैं, उसी प्रकार वेदमें भी वैसे ही रहस्य विस्तार पूर्वक हैं।

वसिष्ठजी इस मन्त्रमें अपने देवतासे दो प्रार्थनाएं (दरख़ास्तें) करते हैं (क) हम नित्य (अपत्य) धनके पति हों। (ख) हमे सच्चे मार्गसे भुलावा न दें। इन प्रार्थनाओंके ठहरानेमें तीन कारण दिखाये हैं (क) असम्बन्धीका (अपत्य) धन परित्याज्य है (ख) हे अग्ने! अन्यजात अपत्य (पुत्र) नहीं होता। (ग) किन्तु वह अचेतान (अनजान) को होता है।

अरण या अपगतोदक-सम्बन्ध ।—

"सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्त्तते ।
समानोदक-भावस्तु जन्मनाम्नो खिदने ॥"

[मनु० ५, ६०]

अर्थात्-सातवें पुरुष या पीढ़ीमे सापिण्ड्य दूरा हो जाता है, और 'हमारे कुलमे अमुक नामका पुरुष हुआ'- इस प्रकार जन्म और नामके परिज्ञान न रहनेसे समानका सम्बन्ध छूट जाता है ॥ २ ॥

(खण्ड ३)

[निरु०] "न हि ग्रभायारणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ। अधा चिदोकः पुनरित्स एत्यानो वाज्यभीषाले तु नव्यः ॥" [ऋ० सं० ५, २, ६, ३]

'न हि' ग्रहीतव्यः 'अरणः' सुसुखतमोऽपि। 'अन्योदर्यो मनसाऽपि न मन्तव्यो-मम-अयम्-पुत्रः- इति। अथ 'सः' 'ओकः' 'पुनः' एव तद् 'एति' यतः आगतो भवति। 'ओकः' इति निवास नाम उच्यते। 'एतु' 'नो' 'वाजी' वेजनवान् अभिषह् माणः सपत्नान् नवजातः स एव पुत्रः इति।

अथ एतां दुहितृदायाद्ये उदाहरन्ति पुत्र-दायाद्ये-इत्येके ॥-॥ ३ ॥

अर्थ।

[सं० मन्त्रार्थः] "सुशेवः" 'सुसुखतमः' परिचारकः हितैषी अपि "अरणः" अपगतोदकसम्बन्धः पुत्रः "नहि ग्रभाय" 'नहि ग्रहीतव्यः' "अन्योदर्यो मनसा" 'अपि' "न" "मन्तवै (उ)" 'मन्तव्यः'।

"अधः" अथ यतः "सः" तद् "ओकः" स्वं निवास स्थानं स्वं वंशं वा "पुनः-इत्" 'पुनरेव' "एति" 'आगतो भवति'। यतः एवम्-अतो ब्रवीमि 'स एव' "नव्यः" 'नवजातः पुत्रः' य "वाजी" 'वेजनवान्' परेभ्यो भयदाता "अभीषाट्" अभि-षहमाणः' अभिभवन् सपत्नान् "नः" अस्माकम् "एतु" आगच्छतु न परकीयः पुत्रः सङ्कल्पितः इत्यर्थः।

चाहे बहुत सुखका देनेवाला, सेवा करनेवाला और हितका चाहनेवाला भी क्यों न हो, परन्तु जिसके साथ जलका सम्बन्ध न हो उसे पुत्र कभी न बनाना चाहिये; तथा "अन्योदर्य" दूसरेके डाले हुए वीर्यसे उत्पन्न हुआ या दूसरेकी पत्नीके पेटसे उत्पन्न हुआ मनसे भी सङ्कल्प न करना चाहिये कि-यह मेरा पुत्र है। क्योंकि फिर भी वह अपने उस पुराने घर या वंशमे आ जाता है। जिससे कि-ऐसा है, इससे मैं कहता हूं कि-वह नव्य नवजात (नया पैदा हुआ) पुत्र जो शत्रुअ का भय देनेवाला और उन्हे तिरस्कार करने वाला हमें पुत्र मिले, अर्थात् दूसरेका पुत्र हमारा सङ्कल्पित या वाञ्छित नहीं है।

(नि० अ०) नहीं ही लेना चाहिये, जिसके साथ जलका सम्बन्ध नहीं, चाहे बहुत सुखदायी भी हो। दूसरेके पेटसे उत्पन्न हुआ (पुत्र) मनसे भी न मानना चाहिये कि-यह मेरा है। क्योंकि वह उस स्थानको फिर भी आ जाता है, जहाँसे वह आया हुआ होता है। 'ओकस्' यह निवासका नाम कहा जाता है। मिले

हमें शत्रुओंको डरानेवाला और तिरस्कार करनेवाला वही नवीन पैदा हुआ पुत्र ।

अब उस ऋचाको कन्याके दायभागित्वमे उदाहरण देते हैं और कोई पुत्रके दायभागित्वमें ॥ ३ ॥

व्याख्या ।

पहिली ऋचामें अरणका पुत्र त्याज्य बतलाया है और इस ऋचामे स्वयम् अरण ही त्याज्य पुत्र कहा है किन्तु दोनोंका अभिप्राय एक ही है । क्योंकि अरणका पुत्र भी अरण ही होगा ।

इसी प्रकार पूर्व ऋचामें अन्य जातकी पुत्रताका निषेध है, और इस ऋचामे अन्योदर्यका निषेध है । इन दोनोंका भी परिणाम एक ही अर्थमें होता है । क्योंकि अन्यका जात तभी हो सकता है, जब कि वह दूसरेके क्षेत्रमे बीज बोता है । और अन्यका उदर भी वही है जो बोनेवालेकी स्त्रीका उदर नहीं है ।

अन्यजात अन्योदर्य तथा अरण पुत्रका निषेध दोनों मन्त्रोंमें एककी अपेक्षा एक बहुत ही बलपूर्वक करता है । एक कहता है कि- अन्यजात पुत्र ही नहीं है, और दूसरा कहता है कि अन्योदर्य-को मनसे भी नहीं सोचना । केवल पूर्वमन्त्रसे इस मन्त्रमें नयी बात यह कही है कि—अन्यजात पुत्र फिर भी समय पाने पर अपने पुराने ठिकाने ही चला जाता है । जो अभिमान मनुष्यको अपने गर्भाधान करनेवालेसे होता है, दूसरेसे कभी नहीं होता । यह मन्त्रकी मर्मोक्ति है । इसके अतिरिक्त यह भी है कि-चाहे वह सेवा आदि गुणोसे युक्त हो तो भी उसे नहीं लेना । इसमें प्रकृति-की महिमाकी दुस्तरता दिखाई है । क्योंकि-उसे गुणवान्को मोहित करनेमे भी कोई परहेज नहीं है ।

इस मन्त्रके चतुर्थ पादमें यह भी सूचित किया कि—जो अपना औरस-पुत्र होता है, उसे ही अपने बाप दादोंके बैर भँजानेका आग्रह होता है तथा उसीसे बापकी इच्छा पूरी होती है।

इस विचारे पुराने वेदने तो कितने ही बलके साथ अन्यजात या अन्योदर्य पुत्रकी निन्दा की, पर नये वेदको जो एक स्त्रीको ग्यारह पतियोंकी पत्नी बनाता है इसकी क्या परवाह होगी ? उसके हिसाबमें तो अन्य पत्नीका अपनी पत्नी होना कोई बड़ी बात ही नहीं है ॥ ३ ॥

(खण्ड ४)

[निरु०] "शासद्वह्नि दुर्हितु र्नप्त्यङ्गाद्विद्वाँ ऋतस्य दीधितं सपर्य्यन्। पिता यत्र दुहितुः सेक-मृञ्जन् संशग्म्येन मनसा दधन्वे ॥" [ऋ० सं० ३, २, ५, १]

प्रशास्ति वोल्हा सन्तान कर्मणे 'दुहितुः' पुत्र-भावम्। 'दुहिता' दुर्हिता दूरे हिता। दुग्धेर्वा। नप्तारमुपागमद् दौहित्रं पौत्रमिति विद्वान् प्रजनन-यज्ञस्य रेतसो वा। अङ्गादङ्गात्सम्भूतस्य हृदयादधि जातस्य मातरि प्रत्यृतस्य विधानं पूजयन्-अवि-शेषेण मिथुनाः पुत्राः दायादाः इति। तदेतद्-ऋक् श्लोकाभ्यामुक्तम् :—

"अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधि जायसे। आत्मा वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम्" इति। [गो० गृ० सू० २, ८, २१]

"अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः।
मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥

'न दुहितरः' इत्येके। तस्मात् 'पुमान् दायादोऽदायादा स्त्री'-इति विज्ञायते। तस्मात् स्त्रियं जातां परास्यन्ति न पुमांसम्-इति च। स्त्रीणां दान विक्रयातिसर्गा विद्यन्ते न पुंसः। 'पुंसोऽपि' इत्येके। शौनः शेपे दर्शनात्। 'अभ्रातृमती वादः'-इत्यपरम्। (अमूर्या यन्ति जामयः सर्वा लोहित-वाससः।) अभ्रातर इव योषा स्तिष्ठन्ति हतवर्त्मनः अभ्रातृका इव योषा स्तिष्ठन्ति सन्तान कर्मणे पिण्ड दानाय हतवर्त्मानः इति। अभ्रातृकाया अनिर्वाहः औपमिकः। तस्य-उत्तरा भूयसे निर्वचनाय॥ ४॥

अर्थः।

"शासद्वह्नि" रिति एषा त्रिष्टुप्। ऐन्द्रे सूक्ते वैश्वामित्री। माध्यन्दिने सवने उक्थ पर्याये

अच्छावाकस्य यच्छस्त्रम्–अभिजिद्विश्वजिदादिषु अहीनकेषु अहः सु अहीनसूक्तं नाम तत्रेयं शस्यते । "न जामये तान्व" (६ खं०) इति इयमपि अनयैव समानार्ष विनियोग दैवतच्छन्दस्का ।

(मन्त्रार्थः) "वह्नि" 'वोढा' उद्वोढा स्त्रियाः 'सन्तानकर्मणो' अर्थाय "दुहितुः" या स्वस्यां भार्यायां जायते पुत्री तस्याः 'पुत्रभावं' 'इयमेव मे पुत्रः' इति भावं "शासत्" 'प्रशास्ति' प्रख्यापयति प्रज्ञापयति इत्यर्थः । कथं पुनर्ज्ञायते प्रशास्ति-इति ? । उच्यते-इतः । यस्मात् "नप्त्राङ्गात्" 'नप्तारमुपागमत्' उपागच्छति चेतसा, दौहित्रं पौत्रमिति । कीदृशः ? "ऋतस्य" 'प्रजननयज्ञस्य' 'रेतसो वा "विद्वान्" अभिज्ञः किं कुर्वन् ? "दीधितिं" विधानं "सपर्य्यन्" अविशेषेण पुत्रदुहित्रोर्गर्भाधानेतिकर्त्तव्यतां पूजयन् सञ्जानन्नित्यर्थः । "पिता" 'यत्र" यस्मिन् काले "दुहितुः" 'अप्रत्तायाः' प्रदानात्–प्राक्–इत्यर्थः "सेकं" 'रेतः सेकं' जामातरम् "ऋञ्जन्" 'प्रार्जयति' प्रकल्पयति तदा तस्मै दुहितरं ददत् "संशग्म्येन" संगमेन विगतापुत्रत्वसन्तापेन "मनसा" चेतसा

"दधचे" 'आत्मानं सन्दधाति' यदत्र पुत्रिकायाम् अपत्यमुत्पत्स्यते तन्मम' इति सन्धारयति इत्यर्थः।

स्त्रीका पति जो उसका ब्याहने वाला है, उसमें होनेवाली पुत्रीमें सन्तान कर्मके अर्थ पुत्रभावको मानता है, या प्रसिद्ध करता है। [अर्थात्] मनसे इस बातको पक्की कर लेता है कि—इस होनेवाली पुत्रीमें जो पुत्र होगा (दौहित्र) वह मेरा पौत्र (पोता) होगा। [क्योंकि] वह गर्भाधान यज्ञ अथवा वीर्यके सम्बन्धको जाननेवाला तथा विधानका माननेवाला है। प्रयोजन यह कि—जिस मन्त्र और जिस विधानसे पुत्रके उत्पन्न करनेमें वीर्यका स्थापन होता है, उसीसे पुत्रीके उत्पन्न करनेमें भी। [उत्तरार्द्ध] जिस कालमें कन्याके दानसे पहिले वरको जामाता (जँवाई) बनाता है, उस समय उसे कन्या देता हुआ अपुत्रताके सन्तापसे रहित मनसे यह धारणा दृढ़ कर लेता है कि—इस कन्यामें जो पुत्र होगा वह मेरा होगा।

(निरुक्तार्थ) ब्याहनेवाला पति सन्तानके अर्थ अपनी स्त्रीमें उत्पन्न होनेवाली दुहिता (कन्या) में पुत्रभावको मान लेता है। 'दुहिता' नाम दुर्हिताका है, अर्थात् जो दूर रहती हुई भी पिताके लिये हित-शुभ चाहनेवाली होती है। 'अथवा' 'दुह' प्रपूरणे (अदा० उ०) धातुसे है। क्योंकि—वह प्रार्थना स्वभाव होनेके कारण नित्य ही पितासे धनको दोहती रहती है। दौहित्रको नप्ति या पौत्र मानता है। गर्भाधानके यज्ञ अथवा वीर्यको जाननेवाला है। अङ्ग अङ्ग (सब अङ्गों) से, हृदयके अनुस्मरणसे उत्पन्न एवम् माताके प्रति गये हुए वीर्यके विधानको आदर करता हुआ, 'समानतासे कन्या और पुत्र दोनो दायाद या धनके उत्तराधिकारी है'—मानता है। सो यह दो ऋचा-श्लोकोंसे कहा गया है—

"अङ्गादङ्गात्" इस ऋचाको बाप परदेशसे आकर पुत्रके मस्तकमें पढ़ कर सूंघता है। यह अनुष्टुप् छन्द है। पुत्रसे कहता है—"हे पुत्र! तू मेरे अङ्ग अङ्गसे हुआ है। और तू मेरे हृदयसे हुआ है। तू पुत्रके नामसे मेरा आत्मा ही है। सो तू सौ वर्ष जी।"

"स्त्री और पुरुषरूप जो पुत्र उनका धर्मके अनुसार समानतासे दाय होता है। यह स्वयम्भूके पुत्र मनुने सृष्टिके आरम्भमें कहा है।"

कोई धर्मवेत्ता कहते हैं कि—"कन्याएँ दायभागिनी नहीं होती।" "इससे पुरुष दाय (पैतृक-सम्पत्ति) का भागी होता है, स्त्री 'अदायादा' दायकी अधिकारिणी नहीं होती" यह इस ब्राह्मणके विचारसे प्रतीत होता है। [दूसरा ब्राह्मण] ["क्योंकि हवन कर्मसे स्थालीको अलग कर देते हैं, फिर उससे होम नहीं करते" काष्ठके पात्रको अलग नहीं करते फिर उसीसे होम करते हैं"] "इससे उत्पन्न हुई हुई स्त्री (कन्या) को अलग कर देते हैं या दूसरेको दे डालते हैं, किन्तु पुरुषको नहीं" ["इससे पुरुष ही बापके धनका स्वामी बनता है, कन्या नहीं"] और स्त्रियोंके दान, विक्रय (बेचना) और अतिसर्ग (त्याग) हैं, पुरुषके नहीं। क्योंकि वह दूसरेको दे दी जाती है, और वैवाहिक शुल्कसे बेच दी जाती है। जैसा कि—सुभद्राहरणमें भगवान् कृष्णने कहा है:—

"विक्रयश्चाप्य पत्यस्य मतिमान् को न मंस्यते।
स्वल्पो वाथ बहुर्वाऽपि विक्रयस्तावदेव सः॥"

(महाभारत)

अर्थात् "बल-परीक्षा आदि रूपसे जो कन्या दी जाती है, यह अपत्य (सन्तान) का बेचना ही है, कौन बुद्धिमान् इसे न मानेगा। थोड़ा हो या बहुत, वह विक्रय ही हुआ।

अतिसर्ग नाम त्यागका है। क्योंकि—बन्धुओंसे कन्या छोड़ दी जाती है, स्वयंवरमें जिसे गर्व हो वह तुझे ले लेवे, या जो तुझे अच्छा लगे उसे तू ले ले। सो यह क्षत्रियोंका ही स्वयंवर धर्म है, और वर्णोंका नहीं। किन्तु यह और वर्णोंके लिये भी प्रमाण है, कि—कन्याओंका दाय नहीं होता। इससे कन्या दायभागिनी नहीं होती।

और धर्मवेत्ता मानते हैं कि—पुरुषके भी विक्रियादि है। क्योंकि वेदमें शुनः शेपके आख्यानमें देखा जाता है। अर्थात् जो यह कहा है कि 'दान, विक्रय और अतिसर्गके कारण स्त्रीका दाय नहीं' यह व्यभिचारी हेतु है। क्योंकि—दान, विक्रय और अतिसर्ग पुरुषके भी अवश्य हैं। जैसे कि—बारह पुत्रोंमें दत्तक और क्रीतक पुत्रोंका होना वेदके और महाभारतके शुनः शेपके आख्यानमें उसके दान और विक्रय, एवम् विश्वामित्रके द्वारा मधुच्छन्द आदि पुत्रों का त्याग प्रसिद्ध है। इससे इन हेतुओंको दोनों ओर होनेके कारण दोनोंका दायभागित्व समान है।

उपर्युक्त मन्त्रसे जो कन्याका धनभागित्व आता है, "यह भ्रातासे रहित कन्याके लिये है—" यह अन्य आचार्य-मत है। अर्थात् जिस कन्याका भाई नही होता, वही पिताके धनकी स्वामिनी होती है, किन्तु भाई वाली नहीं। क्योंकि—पिताको पिण्ड देने वाले पुरुषोंके रहते हुए स्त्री धन नहीं पा सकती क्यों कि वह दूसरेके वंशको बढ़ाती है, इस कारण वह अर्थभागिनी नहीं होती। और अभ्रातृका (भाईसे रहित) कन्यामें यह विशेष है, कि उसके बापको दूसरा पुत्र नहीं है, इस कारण उसके

अर्थ पिण्डदान आदि कार्योंमें दौहित्र (दोहता) ही खड़ा होता है, अतः अभ्रातृका ही धनकी अधिकारिणी होती है। जैसा कि कहा है—

"पिता उत्सृजेत् पुत्रिकाम्-अनपत्योऽग्निं प्रजापतिंच इष्ट्वा अस्मादर्थमपत्यम्-इति संवाद्य अभिसन्धानमात्रं पुत्रिका"-इति एकेषाम् ।

अर्थात् 'पुत्ररहित पिता अग्नि और प्रजापतिका यजन करके 'इससे मुझे पुत्र अर्थ है', यह ठहरा कर पुत्रिकाको छोड़े, पुत्रिका नाम मात्र है, (वस्तुतः मेरा यह बेटा ही है) यह कोई आचार्योंका मत है ।

यह अर्थ एक मन्त्रकी उपमासे भी आता है :—

"अमूर्या यन्ति जामयः सर्वा लोहितवाससः ।
अभ्रातर इव योषा स्तिष्ठन्ति हतवर्त्मनः ।"

[अथ० सं० १, १७, १]

यह ऋचा अथर्ववेदकी है। इसका स्त्रियोंके प्रदर (योनिसे निरन्तर रक्तका बहना) रोगके रोकनेवाले कर्ममें विनियोग होता है।

इन सब नाड़ियोंके मार्ग रुके, और ये रक्तको निरन्तर न बहाव, जैसे बिना भाईकी सब बहिने स्त्रियें लाल वस्त्रोंसे बापके घरमें ही सन्तानके पिण्डदानरूप कर्मके लिये रुके हुए मार्ग होकर ठहर जाती हैं।

इस मन्त्रकी उपमासे अभ्रातृका कन्याके विवाहका निषेध आता है। इसकी विस्तृत व्याख्याके लिये अगली ऋचा है ॥ ४ ॥—"

व्याख्या।

इस खण्डमें कन्याके धनभागित्वमें चार मत दिखाये हैं :—

(क) पुत्रके समान कन्या भी पिताके धनकी भागिनी होती है।

(ख) पुरुष ही पिताके धनका स्वामी होता है, किन्तु स्त्री नहीं। क्योंकि-उसके दान, विक्रय और त्याग होते हैं, पुरुषके नहीं।

(ग) शुनः शेप और मधुच्छन्द आदिके दृष्टान्तसे पुरुषमें भी दान आदि दोष हैं, इससे दोनों स्त्री पुरुष पिताके धनके स्वामी समान हैं। (यह मत प्रथम मतकी पुष्टि मात्र है।)

(घ) जिस कन्याके भाई नहीं होता, वही अपने पिताके धनकी स्वामिनी होती है। क्योंकि—उसके विवाहका निषेध होनेसे वह पिताके ही वंशको बढ़ानेवाली, और उसीके घरमें रहनेवाली होती है।

यह चतुर्थ आचार्यका सम्मत है। और इसी पर सब वाक्यों-की सङ्गति होती है। अन्य मतोंमे किसीको भी माननेसे दूसरे पक्षके प्रमाण रुष्ट हो जाते हैं, किन्तु इस मतमें जो कन्याको धन दिलाने वाले प्रमाण हैं, वे अभ्रातृमती कन्याको दिला देते हैं। सुतराम् इस पक्षमें सब प्रमाणोंको अवकाश मिल जाता है।

अभ्रातृमतीको जो पुरुष विवाहता है, वह किसी अन्य लोभसे काम्य-विवाह करता है, किन्तु उसे अपने वंशकी वृद्धिके लिये दूसरा विवाह भी करना होता है। अथर्वकी ऋचामें जो कन्याओंको "लोहितवाससः" "हतवर्त्मानः" ये दो विशेषण दिये हैं, वे अभ्रातृका कन्याके लिये वरकी दुर्लभताको स्पष्टरूपसे सूचित कर रहे हैं। क्योंकि—उनकी सन्तान उनके पिताओंकी ही होती है, इस लिये कोई वर सहजमें उनके निकट नहीं आता तथा विना ही कारणके एक व्यर्थ स्त्रीका विवाह करे, और फिर दूसरी स्त्रीका भी

अपने सन्तान कर्मके लिये करे, क्यों? इसी गौरवके टंटेसे वे पिताके घरमें ही रजस्वला हो जाती हैं तथा उनके मार्ग या फाटक बन्द हो जाते हैं।

पक्षान्तरमें इससे यह भी आता है कि--जो भ्रातृमती कन्याएँ होती हैं, उन्हें पहिलेसे ही वर मिल जाते हैं तथा उन्हें पिताके घरमें रक्तवस्त्र नहीं होना पड़ता। इससे कन्याके विवाहका मुख्य-काल रजोदर्शनसे पहिले ही है। यह मन्त्रके उक्त पदोंसे निकलती हुई घृणासे आता है। इस पर उन्हें भी ध्यान देना चाहिये जो लड़कीके अठारह वर्षसे ऊपर विवाहके पक्षपाती तथा वैदिक हैं ॥ ४ ॥

(खण्ड ५)

[निरु०] "अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्त्तारुगिव स नये धनानाम्। जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः॥" [ऋ०स० १,१,२४,७]

अभ्रातृका-इव पुंसः पितॄन्-एति अभिमुखी, सन्तानकर्मणे पिण्डदानाय न पतिम्। गर्त्तारोहिणी-इव धनलाभाय दाक्षिणाजी। गर्त्तः सभास्थाणुः। गृणातेः। सत्यसंगरो भवति। तं तत्र या-अपुत्राया-अपतिका, सा अरोहति। तां तत्र अक्षैः-आघ्नन्ति, सारिक्थं लभते।

[गर्त्तप्रसक्तम्-] श्मशानसञ्चयोऽपि गर्त्त उच्यते। गुरतेः। अपगूर्णो भवति। श्मशानं

श्मश्मयनम्। श्मशरीरम्। शरीरं शृणातेः। शम्नाते र्वा। श्मश्रु लोम। श्मनि श्रितं भवति। लोम लुनाते र्वा। लीयते र्वा।

"नो परस्या विष्कुर्यात्, यदुपरस्या विष्कुर्याद् गर्त्तेष्ठाः स्यात् प्रमायुको यजमानः।"—

इत्यपि निगमो भवति। रथोऽपि गर्त्त उच्यते। गृणातेः स्तुतिकर्मणः। स्तुततमं यानम्।

"आरोहथो वरुण मित्र गर्त्तम्।"

[ऋ० सं० ४, ३, ३१, ३]

इत्यपि निगमो भवति। जायेव पत्ये कामयमाना सुवासा ऋतुकालेषु उषाः हसना इव दन्तान् विवृणुते रूपाणि इति। चतस्रः उपमाः।

"नाभ्रात्रीमुपयच्छेत तोकं ह्यस्य तद् भवति"-इति अभ्रातृकायाः उपयमनप्रतिषेधः प्रत्यक्षः पितुश्च पुत्रभावः। [उत्तरार्द्धव्याख्या खं० ४] पिता यत्र दुहितुः-अप्रत्ताया रेतः सेकं प्रार्जयति सन्दधाति-आत्मानं सङ्गमेन मनसा-इति। अथ-एतां जाम्या ऋक्थप्रतिषेधे—उदाहरन्ति। ज्येष्ठं पुत्रिकायाः इत्येके॥ ५॥

अर्थः ।

"अभ्रातेव" इति दीर्घतमः पुत्रस्य कक्षीवत आर्षम् । त्रिष्टुप् । औषसी । प्रातरनुवाकाश्विनयोः शस्यते ।"

(मन्त्रार्थः) [१ म-पा०) "अभ्राता इव" 'अभ्रातृका' कन्या यथा दत्ता अपि सती पित्रा, स्वीकृताऽपि भर्त्रा, पुनः "पुंसः" 'पितॄन्' पितृवंशमेव "प्रतीची" 'अभिमुखी' 'सन्तानकर्मणे पिण्डदानाय' "एति" आगच्छति, 'न' 'पति' पतिवंशमित्यर्थः । एवम् उषाः अपरकाले रात्र्यां नभः आरोहति । [द्वि० पा०] "धनानां" "सनये" लब्धये काचिद् दाक्षिणात्या स्त्री "गर्त्तारुक्-इव" यथा गर्त्तं सभास्थाणुम् आरोहति तथा उषाः अपि नभः आरोहति । [तृ० पा०] "जाया-इव" जाया यथा "पत्ये" भर्त्रे "उशती" कामयमाना "सुवासाः" भूत्वा ऋतुषु आत्मानं दर्शयति, तथा उषाः अपि आत्मानं जनानां दर्शयति । [च० पा०] "हस्रा-इव" काचित् हसनशीला स्त्री यथा आत्मनो दन्तान् दर्शयति, तथा उषाः अपि आत्मनोऽन्तर्भूतानि सर्वद्रव्याणां रूपाणि दर्शयति ।

शार्वरेण तमसा दिग्धानि सर्वद्रव्याणि प्रकाशोद्केन धौतानीव करोतीत्यर्थः॥

भाई बिना की कन्या जिस प्रकार पिताकी दी हुई होकर भी, और पतिकी स्वीकारकी हुई होकर भी, सन्तान कर्म पिण्डदानके लिये अपने बापके वशमें ही आ जाती है। किन्तु पतिके घरमें नहीं, उसी प्रकार उषा रात्रिके पिछले पहरमें आकाशमें चढ़ जाती है। जिस प्रकार कोई दाक्षिणात्या (दक्षिण देशकी) स्त्री, जो पति और पुत्रसे हीन है, धनकी प्राप्तिके लिये गर्त्त या सभास्थाणु (चबूतरा या तख्त) पर चढ़ जाती है, उसी प्रकार उषा आकाशमें चढ़ जाती है। जिस प्रकार काम-युक्त नारी ऋतुकालमें सुन्दर वस्त्र धारण कर पतिको अपना रूप दिखाती है, उसी प्रकार उषा भी मनुष्योंको अपना रूप दिखाती है। और जिस प्रकार हास्य स्वभाववाली कोई स्त्री हँस कर अपने दाँतोंको दिखाती है, उसी प्रकार उषा अपने भीतर छुपे हुए सब द्रव्योंके रूपोंको दिखाती है।

नि० अ०—जिस प्रकार भाई बिनाको स्त्री सन्तान कर्म पिण्डदानके लिये अपने पिताके वंशके समुख आती है, किन्तु पतिके घर नहीं। जैसे दक्षिण देशकी (पति-पुत्र-विहीन) स्त्री धनके लाभार्थ गर्त्त पर चढ़ती है। 'गर्त्त' नाम सभास्थाणु (पासे डालनेके तख्त) का है। 'गॄ' निगरणे (क्र्या० प०) धातुसे है। क्योंकि वह सत्यसङ्गर होता है। अर्थात् प्राय करके उस पर कितव या जुआरिये 'सत्य-यह यहाँ पर गिरा है, यह नहो गिरा',—इस प्रकार सत्य शब्दको वहुत बोलते हैं। जो झूठके लिये होता है, इसीसे वह सत्यसङ्गर और गर्त्त है। वहाँ उसे वह स्त्री अरोहण करती है, जो पति और पुत्रसे रहित है। उस स्त्रीको वहाँ अक्षों या पासोंसे ताड़न करते है (और) वह पतिके भागको प्राप्त होती है।

[गर्त्तके प्रसङ्गसे] श्मशान सञ्चय या मुरदे जलानेकी चबूतरी भी 'गर्त्त' कहलाती है। 'गुरी' उद्यमने (तु० आ०) धातुसे है। क्योंकि—वह अपगूर्ण या लोकके विनाशके अर्थ उद्यत जैसा होता है। अर्थात् वहाँ पर जो पिशाच आदि भूत रहते हैं, वे मनुष्योंकी मृत्युको माँगते रहते हैं, और उनके मरने पर प्रसन्न होते हैं।

[व्याख्यानके प्रसङ्गसे] 'श्मशान' श्मशयनसे है। क्योंकि—वहाँ 'श्म' शयन करता है। क्योंकि वह मरे हुएका वहाँ पर फेंक दिया जाता है। 'श्म' नाम शरीरका है। 'शरीर' 'शॄ' हिंसायाम् (क्र्या० प०) धातुसे है। 'श्मश्रु' नाम लोम (रोम) का है। क्योंकि वहँ 'श्म' (शरीर) में आश्रित रहता है। 'लोम' शब्द 'लूञ्' छेदने (क्र्या० उ०) धातुसे है। अथवा 'लीङ्' श्लेषणे (दि० आ०) धातुसे है। [क्योंकि—वह छेदन किया जाता है, अथवा शरीरमें लगा हुआ रहता है।]

[गर्त्त शब्दकी श्मशान वाचकता पर निगम]

"उपरको न उखाड़ना चाहिये, यदि उपरको उघाड़े, तो यजमान श्मशानमें सोवे, या मर जावे।" यह भी निगम है। [अपि शब्दसे और निगमोंकी सम्भावना भी दिलाते हैं।] रथ भी 'गर्त्त' कहलाता है। स्तुति-अर्थमें 'गॄ' (क्र्या० प०) धातुसे है। क्योंकि वह औरयानोंसे सुखदायी यान (सवारी) है, अतः अधिक प्रशंसा योग्य है।

[रथ अर्थमें निगम]

"आरोहथो मित्र" इत्यादि। "हे मित्र ! हे वरुण ! तुम दोनों गर्त्त या रथ पर चढ़े हुए हो।" यह भी निगम है।

जिस प्रकार ऋतुकालमें कामयुक्त स्त्री सुन्दर वस्त्र धारण कर पतिको रूप दिखाती है। जिस प्रकार हसना स्त्री दाँतोंको

अभ्रातृमतीवादके अनुसार "शासद्वन्हिः" इसके पूर्वाद्ध का अर्थ :—

उसी अभ्रातृमती कन्याका जो पुत्र है, उसीको पुत्रिका विधानके द्वारा आपना अभिनिवेश या अभिमान कर लेनेसे अपुत्र नाना अपना पौत्र मानता है। किन्तु अन्य भाईवाली कन्याओंके पुत्रोंको नहीं। ऐसा न माननेसे सभी विवाहने वाले अपुत्र होंगे, तथा उससे विवाहका परिश्रम व्यर्थ ही होगा। और पुत्रिकाके पिताकी भी भार्या दूसरेकी कन्या है, इससे उसमें भी जो कन्या होगी, वह नाना ही की होगी किन्तु दूसरे पुत्रिका पिताकी नहीं। यह सब बात अनिष्ट है। इस कारण जोही कन्या अभिनिवेश पूर्वक पुत्रिका की जाती है, उसीका पुत्र मातामहका होता है सब कन्याओंका नहीं। और वह दायकी स्वामिनी होती है किन्तु भातृमती नहीं। इसीलिये "पिता यत्र" इत्यादि उत्तराद्धं कहा है।

पुत्रिका—जो अपुत्र पिता अपनी कन्याको इसलिये दूसरेको देता है कि—उसके पुत्रको वह ले लेगा, वह कन्या पुत्रिका कहलाती है।

अभ्रातृकाके पुत्र नानाके मुख्य पौत्र हैं और भातृमती कन्याके भी पुत्र कहीं लोक और वेदमें नानाके पौत्र कहे जाते हैं, किन्तु वे गौणपौत्र है और अपने पिताके मुख्य पुत्र हैं।

जबकि अभ्रातृका कन्याका पिता उसका पुत्रिका धर्मसे विवाह कर दे और बादमें उसके पुत्र हो जावें तो धनके विभाग कालमें ज्येष्ठ भ्राताका जो भाग है वह उस पुत्रिकाको मिलेगा और सब पुत्रोंको यथा भाग धन मिलेगा। किन्तु और सब कन्याएँ भाग रहित ही होती हैं। सोही इस अगली ऋचासे कहा जाता है, जिस प्रकार कि-अन्य कन्याओंका भाग नहीं है।

"गर्त्तारुक्—इव" इसके निरुक्तसे प्रतीत होता है कि यास्क-मुनिके समयमे दक्षिण देशमें पुत्र विहीन विधवा स्त्रीकी उसे उसके पतिके धन मिलनेके अर्थ इस प्रकारकी कोई परीक्षा होती हो और उसके द्वारा उसके पातिव्रत्यका निर्णय माना जाता हो।

ऐसे सन्धिग्ध अर्थोंके निर्णयके लिये धर्म-शास्त्रमें अनेक परिक्षाएँ विधान भी की हैं। भगवद्दुर्गाचार्य और सायणाचार्यने अक्षोंसे ताडनका कोई प्रयोजन स्पष्ट नहीं किया है। यास्कने गर्त्तको सभास्थाणु, भगवद्दुर्गने अक्षनिर्वपण स्थान और सायणने गृह तथा औचित्यसे न्यायालय बताया है। हमारी समझमें जुआरिणी स्त्री–सामान्य लेनेसे भी मन्त्रकी उपमा भले प्रकार बन सकती है। वह जिस प्रकार धनके लोभसे द्यूतके पीठपर चढ़ जाती है, उसी प्रकार उषा भी आकाशमें चढ़ जाती है॥

उपर। यज्ञमें जो वृक्षसे यूप बनता है, उसका पाँचवाँ भाग लम्बाईका बिना छिला या छिलके सहित छोड़ दिया जाता है, और उसे गाड़ देने पर वह गढ़े से जिसमें वह खड़ा होता है बाहर रह जाता है पर उसे कुश या मृत्तिकासे ढाँप दिया जाता है। यदि वह उघाड़ा रह जावे तो यजमानकी मृत्युका कारण बनता है। इसी प्रयोजनको "नोपरस्याविष्कुर्यात्" यह श्रुति कहती है।

(ख० ६)

[निरु०] "न जामये तान्वो रिक्थमारैक् चकार गर्भं सनितुर्निधानम्। यदी मातरो जनयन्त वन्हि मन्यः कर्त्ता सुकृतोरन्य ऋन्धन्"

"न जामये" भगिन्यै। 'जामिः' अन्ये अस्यां जनयन्ति। "जामपत्यम् जमतेर्वा स्याद्गतिकर्मणः।

निर्गमनप्राया भवति। "तान्वः" आत्मजः पुत्रः। "रिक्थं" प्रारिचत् प्रादात् "चकार" एनां गर्भ-निधानीं 'सनितुः' हस्तग्राहस्य। "यदि मातरो जनयन्त वह्निम्" पुत्रम् अवह्निञ्च स्त्रियम्। अन्य-तरः सन्तानकर्त्ता भवति। पुमान् दायादः। अन्यतरोऽर्द्धयित्वा जामिः प्रदीयते परस्मै ॥६॥

इति तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥३, १॥

अर्थः ।

मंत्रार्थः। "तान्वः" आत्मजः पुत्रः "जामये" 'भगिन्यै' रिक्थं" भागं "न" "आरैक्" 'प्रारिचत्-प्रादात्' ददाति-इत्यर्थः। [तर्हि किं करोति? "सनितुः" 'हस्तग्राहस्य' भर्त्तुः "गर्भं निधानम्" 'एनां गर्भनिधानीं' प्रसवसमर्थां "चकार" करोति पु-ष्णाति। "मातरः" "यदी" यत् पुत्रद्वयं वन्हिम्" 'पुत्रंस्त्रियं च' तत्र "अन्यः 'अन्यतरः" पुमान् सन्तान कर्त्ता भवति, स एव दायादः। "सुकृतोः" एकेनापि प्रयत्नेन कृतयोः उत्पादितयोः "अन्यः" 'अन्यतरः' 'जामिः' भगिन्याख्यः "ऋन्धन्" 'अर्द्धयित्वा' वर्द्धयित्वा 'परस्मै प्रदीयते -इत्यर्थः।

आत्मज या पुत्र बहिनको भाग नहीं देता। किन्तु उसके भर्त्ताके लिये उसे गर्भ धारण करनेमें समर्थ बना देता है। माताएँ जो पुत्र और पुत्रको जनती हैं, जो कि-एकसे यत्नसे पैदा किये जाते हैं उनमेंसे एक सन्तानका और दूसरी भगिनी बढ़ाकर दूसरेको दे दी जाती है॥

नि० अ०—"जामि" भगिनीके लिये नहीं। 'जामि' क्यों? जिससे कि-इसमें दूसरे अपत्यको उत्पन्न करते हैं। 'जाम्' नाम अपत्यका है। गति अर्थमें 'जम्' (भ्वा प०) धातुसे है। क्योंकि-वह प्राय करके गई हुई होती है। "तान्व" नाम आत्मज अपनेसे उत्पन्न पुत्रका है। "रिक्थ" भागको देता है। इसे हाथके पकड़ने वालेके अर्थ गर्भके योग्य बना देता है। माताएँ जो वन्हि या पुत्र और अवन्हि या स्त्रीको जनती हैं। उनमेंसे एक पुरुष सन्तानका करनेवाला और दाय (धन) का लेने वाला होता है। और दूसरा भगिनीरूप अपत्य बढ़ा कर दूसरेको दे दिया जाता है॥३,१॥

व्याख्या।

"न जामये" मन्त्रसे दो बातें निकलती है कि-भाईको बहिनका दान-मानसे पोषण करना चाहिये, और वही (भाई) बापके धनका स्वामी है किन्तु कन्या नहीं। यद्यपि दोनोंकी उत्पत्ति समान यत्नसे ही होती है तथापि पुत्रसे बापका वंश बढ़ता है और कन्या दूसरेको दे दी जाती है, इसीसे वह बापके धनकी भागिनी नहीं बनती। धर्मशास्त्रमें जो गोत्र और सापिण्ड्यको त्याग कर कन्याका देना लिखा है, उसका मूल यह मन्त्र भी हो सकता है।

पहिले यह कहा गया है कि पुरुषके भी दान, अतिसर्ग और विक्रय होते है सो वह कदाचित् किसी निमित्तसे होते हैं, और

स्त्री तो नियमसे ही दी जाती है, बेची जाती है और त्यागी जाती है, अर्थात् वह परार्थ ही उत्पन्न की जाती है, इससे वह अभागा है या पिताके धनकी अधिकारिणी नहीं होती ॥ ६ ॥

इति हिन्दीनिरुक्ते तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः

समाप्तः ॥ ३, १ ॥

तृतीयाध्याये—

द्वितीयः पादः ।

[निघण्टुः] मनुष्याः (१)। नरः (२)। धवाः (३)। जन्तवः (४)। विशः (५)। क्षितयः (६)। कृष्टयः (७)। चर्षणयः (८)। नहुषः (९)। हरयः (१०)। मर्याः (११)। मर्त्याः (१२)। मर्त्ताः (१३)। व्राताः (१४)। तुर्वशाः (१५)। द्रुह्यवः (१६)। आयवः (१७)। यदवः (१८)। अनवः (१९)। पूरवः (२०)। जगतः (२१)। तस्थुषः (२२)। पञ्चजनाः (२३)। विवस्वन्तः (२३)। पृतनाः (२५। इति पञ्चविंशतिर्मनुष्य नामानि ॥ ३ ॥

(खण्ड १)

[निरुक्तम्] मनुष्य नामानि उत्तराणि पञ्चविंशतिः। मनुष्याः कस्मात् ? मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति। मनस्यमानेन सृष्टाः। मनस्यतिः पुनर्मनस्वीभावे। मनोरपत्यं मनुषाः वा। तत्र पञ्चजनाः इत्येतस्य निगमाः भवन्ति ॥ १ ॥

अर्थ ।

प्रकृत अपत्य नामोंसे आगे पच्चीस (२५) मनुष्यके नाम हैं। 'मनुष्य' क्यों ? (क) जान कर कर्मों को करते हैं। (ख) हर्ष युक्त होते हुए प्रजापतिने इन्हें रचा है। 'मनस्य' धातु (नामधातु) मनस्वीभाव अर्थमे है। [मनस्वोभाव नाम हर्षयुक्त होनेका है।] (ग) मनुका अपत्य। (घ) अथवा मनुष्का अपत्य है। तहाँ (मनुष्यनामोंमें) 'पञ्चजन' इस नामके निगम बहुत हैं॥ १॥

व्याख्या ।

अपत्य नामोंके अनन्तर मनुष्य नामोंके कहनेका यह प्रयोजन है कि-अपत्य ही बढ़ कर मनुष्य कहलाते हैं। मनुष्यके नामोंमें 'पञ्चजन' शब्दकी प्रामाणिक कई व्याख्याएँ मिलती हैं, इस कारण 'पञ्चजन' शब्दकी व्याख्याको ही प्रस्तुत करते हैं—"तत्र पञ्चजनाः" ॥ १ ॥

[निघ०] आयती (१)। च्यवाना (२)। अभीशु (३)। अप्नवाना (४)। विनङ्गृसौ (५)। गभस्ती (६)। करस्नौ (७)। बाहू (८)। भुरिजौ (९)। क्षिपस्ती (१०)। शक्करी (११)। भरित्रे (१२)। इति द्वादश बाहु नामानि ॥ ४ ॥

[निघ०] अग्रुवः (१)। अराव्यः (२)। विशः (३)। क्षिपः (४)। शर्याः (५)। रशनाः (६)। धीतयः (७)। अथर्यः (८)। विपः (९)। कक्ष्याः (१०)। अवनयः (११)।

हरितः (१२)। स्वसारः (१३)। जामयः (१४)। सनाभयः (१५)। योक्त्राणि (१६)। योजनानि (१७)। धुरः (१८)। शाखाः (१९)। अभीशवः (२०)। दीधितयः (२१)। गभस्तयः (२२)। इति द्वाविंशतिरङ्गुलिनामानि ॥ ५ ॥

(खं० २)

[निरु०] तदद्यवाचः प्रथमं मंसीय

येनासुरां अभि देवा असाम।

ऊर्जाद उत यज्ञियासः पञ्चजना

मम होत्रं जुषध्वम्"।

[ऋ० सं० ८, १, १३, ४]

"तदद्य वाचः" परम "मंसीय" "येन-असुरान्-अभि भवेम देवाः" असुराः असुरताः स्थानेषु। अस्ताः स्थानेभ्यः-इति वा। अपि वा 'असुः' इति प्राणनाम। अस्तः शरीरे भवति। तेन तद्वन्तः। "सोऽदेवान्-असृजत, तत् सुराणां सुरत्वम्। असोः असुरान् असृजत, तद् असुराणाम्-असुरत्वम्" इति विज्ञायते। "ऊर्जाद उत यज्ञियासः। अन्नादाश्च यज्ञियाश्च। 'ऊर्क'-इति अन्ननाम। ऊर्जयति इति-सतः। पक्वं सुप्रवृक्णम्-इति वा। "पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्।"

'गन्धर्वाः, पितरः, देवाः, असुराः, रक्षांसि'-इत्येके । 'चत्वारो वर्णाः निषादः पञ्चमः'—इति औपमन्यवः । 'निषादः' कस्मात् ? 'निषण्ण मस्मिन् पापकम्'-इति नैरुक्ताः । "यत् पाञ्चजन्यया विशा ।" पञ्चजनीनया विशा । 'पञ्च' पृक्ता संख्या । स्त्रीपुंनपुंसकेषु अविशिष्टा । बाहुनामानि उत्तराणि द्वादश । 'बाहू' कस्मात् ? प्रबाधत आभ्यां कर्माणि । अङ्गुलिनामानि उत्तराणि द्वाविंशतिः । अङ्गुलयः कस्मात् ? अग्रगामिन्यो भवन्ति-इति वा । अग्र गालिन्यो भवन्ति इति वा अग्रकारिण्यो भवन्ति-इति वा । अङ्कना भवन्ति-इति वा । अञ्चना भवन्ति इति वा । अपि वा अभ्यञ्जनादेव स्युः । तासामेषा भवति ॥ २ ॥

अर्थ ।

"तदद्य वाचः"-इति सौचीकस्य अग्नेरार्षम् । तस्य विश्वैर्देवैः सह संवादः । तत्रेयं होतृजपे विनियुक्ता ।

मन्त्रार्थः—हे देवाः ! अद्य अहम् "तत्" "प्रथमं" 'परमम्' उत्कृष्टम् "वाचो" वीर्यं "मंसीय"

अन्ये जाने इत्यर्थः । "येन" वयम् "असुरान्" "अभिअसाम" 'अभिभवेम' । "उत" अपि च हे "यज्ञियासः" यज्ञसम्पादिनो देवाः अपि च हे "ऊर्जादः !" अन्नभक्षयितारः ! "पञ्चजनाः !" मनुष्याः ! निषादपञ्चमा वर्णाः यूयम् "मम" "होत्रं" यज्ञं "जुषध्वम्" सेवध्वम् अनुगृह्णीध्वम् ॥

हे यज्ञके सम्पादन करने वाले देवो ! आज मैं उस वाणीके ऊँचे बलको जानता हूं, जिससे हम असुरोंको जीत सकें। और हे अन्नके खाने वाले मनुष्यो ! (जिनमे पाँचवाँ वर्ण निषाद है।) तुम मेरे यज्ञको सेवन करो या अनुग्रह करो ॥

नि० अ०—आज उस वाणीके पूज्य या उत्तम वीर्यको जानता हूं, जिससे हम असुरोंको तिरस्कार करें, हे देवो ! 'असुर' क्यों है ? जिससे कि वे स्थानोंमें (चपलताके कारण) अच्छे प्रकार जम कर नहीं रहते। अथवा देवताओंसे स्थानोंसे गिरा दिये या हटा दिये गये हैं। अथवा 'असु' यह प्राणका नाम है। क्योंकि—वह शरीरमें अस्त (डाला हुआ) होता है, उस (प्राण) से वे (असुर) उस वाले (प्राणवाले) है। ['र' मत्वर्थप्रत्यय ।] अथवा [और ब्राह्मणमें कहा हुआ निवचन है] "सु" से देवोंको रचा है, यह सुरों (देवों) का सुरपना है, और 'असु' से असुरोंको रचा है, यही असुरोंका असुरपना है"। यह ब्राह्मणमे जाना जाता है। [उत्तरार्द्ध-] "ऊर्ज् अन्नके खानेवाले और यज्ञके सम्पादन करने वाले। 'ऊर्ज्' यह अन्नका नाम है। 'ऊर्जयति' बल देता है इस प्रकार कर्तृवाच्य 'ऊर्ज' बलप्राणनयोः (चु० उ०) धातुसे है। अथवा पका हुआ होने पर उत्तम प्रकारसे कट जाता है।

"तुम सब पञ्चजन या मनुष्य मेरे यज्ञको सेवन करो" । 'पञ्चजन' पाँच जने । (क) कोई आचार्य मानते हैं—गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस् ये पाँच जने 'पञ्चजन' हैं । (ख) चार वर्ण और पाँचवाँ निषाद् ये पाँच पञ्चजन हैं, यह उपमन्युका पुत्र मानता है । 'निषाद्' क्यों है ? 'इसमें पापकर्म बैठा हुआ है'—यह नैरुक्त मानते हैं । [पञ्चजनके दूसरे निर्वचनमे निगम-] "यत् पाञ्चजन्यया विशा"—[ऋ० सं ६, ४, ४३, १] अर्थात् "पाँच जातिओमें बटी हुई मनुष्य जातिके सहित ऋत्विजोंने इन्द्रके न बरसने पर उसकी स्तुति की" इत्यादि । 'पञ्च' क्यो ? जिससे कि—वह पृक्त संख्या है, अर्थात् स्त्री, पुम्, और नपुंसक तीनों लिङ्गोंमें समान रूप रहती है ।

मनुष्य नामोंके अनन्तर बारह (१२) बाहुके नाम हैं । [क्योंकि ये मनुष्योंके ही होते हैं, इससे मनुष्य नामोंके अनन्तर कहे गये।] 'बाहु' क्यों ? जिससे कि—इनसे कर्मोको बहुत बाधित करता है ।

बाहुके नामोंके अनन्तर अङ्गुलियोंके बाईस (२२) नाम हैं । 'अङ्गुलि' क्यों हैं ? ये अग्रगामिनी या आगे चलनेवाली होती हैं । अथवा आगे करने वाली होती हैं । अथवा इनसे जिसे ताडन किया जाता है, वह अङ्कित जैसा हो जाता है । अथवा इनसे अभ्यञ्जन (मालिश) की जाती है इसीसे ये अङ्गुलि हो सकती है । उनके निर्वचनको करने वाली यह ऋचा है—॥२॥

व्याख्या ।

मनुष्योंके नामोंमें २३ वाँ 'पञ्चजन' एक नाम है, जिसका कि—इस खण्डमें 'तदद्य" यह निगम दिया गया है । कोई आचार्य मानते हैं कि—यह मनुष्य जातिसे अतिरिक्त पाँच जातियोंके समूहको कहता है । जैसे कि—गन्धर्व, पितर, देव, असुर और

राक्षस। और औपमन्यव आचार्य मानते है कि—यह 'पञ्चजन' नाम मनुष्य जातिका ही है। जिससे प्रयोजन यह है कि—मनुष्य जातिमे पाँच विभाग हैं। चार वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) और एक निषाद जाति, जो चारों वर्णोंसे अलग है। उक्त आचार्यका मतही यास्क-मुनिको स्वीकृत है। जिसका प्रमाण आपने "यत्पाञ्चजन्यया विशा" यह ऋचा दी है। इस ऋचामें 'विश्' का विशेषण 'पाञ्चजन्या' है। 'विश्' नाम मनुष्यका है जो उपर्युक्त निघण्टूक मनुष्यके पच्चीस (२५) नामोंमे से पाँचवाँ है। इससे इस मन्त्रमें पाँच विभाग वाली मनुष्य जाति बताई गई और चार प्रसिद्ध ब्राह्मण आदि भागोंके अतिरिक्त काई और जातिका इशारा पाया गया, किन्तु वह कौन है? इसका उत्तर औपमन्यवके मतसेही ("निषादः पञ्चमः") दे दिया है और यही ठीक भी है। क्योंकि—"निषादस्थपतिं याजयेत्" [ ] अर्थात् निषाद स्थपतिको यज्ञ करावे। "वर्षासु रथकारः" [ ] अर्थात् वर्षा ऋतुमे रथकार आधान करे इत्यादि श्रुति उसके आधान और यज्ञके अधिकारको बता रही हैं। स्थपति, निषाद और रथकार एवम् सौधये एक अर्थमें ही रूढ़ है। इन नामोंकी व्याख्या या उल्लेख अन्यत्र अन्यत्र ऋचाओंमें भी पाया जाता है। जैसे—

"रथं ये चक्रुः सुवृत्तम्" [ऋ० सं० ३, ७, ७, ३]

"सौधन्वना ऋभवः" [ऋ० सं० १,७,३०,४] इत्यादि ॥२॥

(खण्ड ३)

[निघ०] वश्मि (१)। उश्मसि (२)। वेति (३)। वेनति (४)। वेसति (५)। वाञ्छित।

(६) । वष्टि (७) । वनोति (८) । जुषते (९) । हर्यति (१०) । आचके (११) । उशिक् (१२) । मन्यते (१३) । छन्त्सत् (१४) । चाकनत् (१५) । चकमानः (१६) । कनति (१७) । कानिषत् (१८) । इति अष्टादश कान्तिकर्माणः ॥ ६ ॥

(नि०-] अन्धः (१) । वाजः (२) । पयः (३) । प्रयः (४) । पृक्षः (५) । पितुः (६) । वयः (७) । सिनम् (८) । अवः (९) । क्षु (१०) । धासिः (११) । इरा (१२) । इला (१३) । इषम् (१४) । ऊर्क् (१५) । रसः (१६) स्वधा (१७) । अर्कः (१८) । क्षद्म (१९) । नेमः (२०) । ससम् (२१) । नम (२२) । आयुः (२३) । सूनृता (२४) । ब्रह्म (२५) । वर्चः (२७) । कीलालम् (२७) । यशः (२८) इति अष्टाविंशतिः अन्ननामानि ॥ ७ ॥

[निघ०-] आवयति (१) । भर्वति (२) । बभस्ति (३) । वेति (४) । वेवेष्टि (५) । अविष्यन् (६) । वप्सति (७) । भसथः (८) । बब्धाम् (९) । ह्वरति (१०) इति दश अत्तिकर्माणः ॥८॥

[निघ०-] ओजः (१)। वाजः (वा)। पाजः (३)। शवः (३)। तरः (४)। तवः (५)। त्वक्षः (६)। शर्द्धः (७)। बाधः (८)। नृम्णम् (९)। तविषी (१०)। शुष्मम् (११)। शुष्णम् (१२)। शूषम् (१३)। दक्षः (१४)। वीलु (१५)। च्यौत्नम् (१६)। सहः (१७)। यहः (१८)। वधः (१९)। वर्गः (२०)। वृजनम् (२१)। वृक् (२२)। मज्मना (२३)। पौंस्यानि (२४)। धर्णसिः (२५)। द्रविणम् (२६)। स्यन्द्रासः (२७)। शम्बरम् (२८)। इत्यष्टाविंशति र्बलनामानि ॥ ९ ॥

[निघ०] मघम् (१)। रेक्णः (२)। रिक्थम् (३)। वेदः (४)। वरिवः (५)। श्वात्रम् (६)। रत्नम् (७)। रयिः (८)। क्षत्रम् (९)। भगः (१०)। मीव्हुम् (११)। गयः (१२)। द्युम्नम् (१३)। इन्द्रियम् (१४)। वसु (१५)। रायः (१६)। राधः (१७)। भोजनम् (१८)। तना (१९)। नृम्णम् (२०)। वन्धुः (२१)। मेधा (२२)। यशः (२३)। ब्रह्म (२४)।

द्रविणम् (२५) । श्रवः (२६) । वृत्रम् (२७) । वृतम् (२८) । इति अष्टाविंशतिरेव धननामानि ॥ १० ॥

[निघ०] अघ्न्या (१) । उस्रा २ । उस्रिया (३) । अही (४) । मही (५) । अदितिः (६) । इला (७) । जगती (८) । शक्वरी (९) । इति नव गोनामानि ॥ ११ ॥

[निघ०] रेलते (१) । हेलते (२) । भामते (३) । हृणीयते (४) । भ्रीणाति (५) । भ्रेषति (६) । दोधति (७) । वनुष्यति (८) । कम्पते (९) । भोजते (१०) । इति दश क्रुध्यतिकर्माणः ॥ १ ॥

[निघ०] हेलः (१) । हरः (२) । घृणिः (३) । त्यजः (४) । भामः (५) । राहः (६) ह्वरः (७) । तपुषी (८) । जूर्णिः (९) । मन्युः (१०)। व्यथिः (११)। इत्येकादश क्रोधनामानि ॥१३॥

[निघ०) वर्त्तते (१) । अयते (२) । लोटते (४) । स्यन्दते (५) । कसति (६) । सर्पति (७) । स्यमति (८) । स्रवति (९) । स्रंसति (१०) । अवति (११) । श्चोतति (१२) । ध्वंसति

(१३)। वेनति (१४)। मार्ष्टि (१५)। भुरण्यति (१६)। शवति (१७)। कालयति (१८)। पेलयति (१९)। कण्टति (२०)। पिस्यति (२१)। विस्यति (२२)। मिस्यति (२३)। प्रवते (२४)। प्लवते (२५)। च्यवते (२६)। कवते (२७)। गवते (२८)। नवते (२९)। चोदति (३०)। नक्षति (३१)। सक्षति (३२)। म्यक्षति (३३)। सश्चति (३४)। ऋच्छति (३५)। तुरीयति (३६)। चतति (३७)। अतति (३८)। गाति (३९)। द्रूयक्षति (४०)। सश्चति (४१)। त्सरति (४२)। रंहति (४३)। यतते (४४)। भ्रमति (४५)। ध्रजति (४६)। रजति (४७)। लजति (४८)। क्षियति (४९)। धमति (५०)। मिनाति (५१)। ऋण्वति (५२)। ऋणोति (५३)। स्वरति (५४)। सिसर्त्ति (५५)। विषिष्टि (५६)। योषिष्टि (५७)। रिणाति (५८)। रीयते (५९)। रेजति (६०)। दध्यति (६१)। दभ्नोति (६२)। युध्यति (६३)। धन्वति (६४)। अरुषति (६५)। आर्य्यति (६६)। सीयते (६७)। तकति (६८)। दीयति (६९)। ईषति (७०)। फणति (७१)। हनति (७२)। अर्दति (७३)।

मर्दति (७४)। सस्ते (७५)। नसते (७६)। ह्मयति (७७)। ह्वयति (७८)। ईर्त्ते (७९)। ईङ्कते (८०)। ज्रयति (८१)। ख्वावति (८२)। गन्ति (८३)। आगनीगन्ति (८४)। जङ्गन्ति (८५)। जिन्वति (८६)। जसति (८७ (। गमति (८८)। ध्रति (८९)। ध्राति (९०)। ध्रयति (९१)। वहते (९२)। रथर्यति (९३)। जेहते (९४)। ष्वःकति (९५)। चुम्यति (९६)। प्साति (९७)। वाति (९८)। याति (९९)। द्रुषति (१००)। द्राति (१०१)। द्रूलति (१०२)। राजति (१०३)। जम्रति (१०४)। जवति (१०५)। वञ्चति (१०६)। अनिति (१०७)। पवते (१०८)। हन्ति (१०९)। सेधति (११०)। अगन् (१११)। अजगन् (११२)। जिगाति (११३)। पतति (११४)। द्रुन्वति (११५)। द्रमति द्रवति (११६)। (११७)। वेति (११८)। ह्नात् (११९)। एति (१२०)। जगायात् (१२१)। अययुः (१२२)। इत द्वाविंशशतं गतकर्माणः ॥ १४ ॥

[निघ०] नु (१)। मक्षु (२)। द्रवत् (३)। ओषम् (४)। जीराः (५)। जूर्णिः (६)। शूर्त्ताः

(७)। शूघनासः (८)। शीभम् (९)। तृषु (१०)। तूयम् (११)। तूर्णिः (१२)। अजिरम् (१३)। भुरण्युः (१४)। शु (१५)। आशु (१६)। प्राशुः (१७)। तूतुजिः (१८)। तूतुजानः (१९)। तुज्यमानासः (२०)। अज्राः (२१)। साचीवित् (२२)। द्युगत् (२३)। ताजत् (२४)। तरणिः (२५)। वातरंहा (२६)। इति षड्विंशतिः क्षिप्रनामानि ॥ १५ ॥

[निघ०] तलित् (१)। आसात् (२)। अम्बरम् (३)। तुर्वशे (४)। अस्तमीके (५)। आके (६)। उपाके (७)। अर्वाके (८)। अन्तमानाम् (९)। अवमे (१०)। उपमे (११)। इति एकादश अन्तिकनामानि ॥ १६ ॥

[निघ०] रणः (१)। विवाक् (२)। विखादः (३)। नदनुः (४)। भरे (५)। आक्रन्दे (६)। आहवे (७)। आजौ (८)। पृतनाज्यम् (९)। अभीके (१०)। समीके (११)। ममसत्यम् (१२)। नेमधिता (१३)। सङ्काः (१४)। समितिः (१५)। समनम् (१६)। मीळ्हे (१७)। पृतनाः (१८)। स्पृधः (१९)। मृधः (२०)। पृत्सु (२१)।

समत्सु (२२)। समर्य्ये (२३)। समरण (२४)। समोहे (२५)। समिथे (२६)। सङ्ख्ये (२७)। सङ्गे (२८)। संयुगे (२९)। संगथे (३०)। संगमे (३१)। वृत्रतूर्य्ये (३२)। पृक्षे (३३)। आणौ (३४)। शूरसातौ (३५)। वाजसातौ (३६)। समनीके (३७)। खले (३८)। खजे (३९)। पौंस्ये (४०)। महाधने (४१)। वाजे (४२)। अज्म (४३)। सद्म (४४)। संयत् (४५)। संवतः (४६)। इति षट्चत्वारिंशत् संग्रामनामानि ॥ १७ ॥

[निरु०] "दशावनिभ्यो दशकक्ष्येभ्यो
दशयोक्त्रेभ्यो दशयोजनेभ्यः ।
दशाभीशुभ्यो अर्चताजरेभ्यो
दशधुरो दशयुक्ता वहद्भ्यः ॥"

[ऋ० सं० ८, ४, ३०, २]

'अवनयः' अङ्गुलयो भवन्ति । अवन्ति कर्माणि । 'कक्ष्याः' प्रकाशयन्ति कर्माणि । 'योक्त्राणि' योजनानि-इति व्याख्यातम् । 'अभीशवः' अभ्यश्नुवते कर्माणि । "दशधुरो दशयुक्ता वहद्-

भ्यः'' 'धूः' धूर्वतेर्वधकर्मणः। इयमपि इतरा धूः—एतस्मादेव। विहन्ति वहम्। धारयते र्वा।

कान्तिकर्माणः उत्तरे धातवः अष्टादश।

अन्ननामानि उत्तराणि अष्टाविंशतिः। अन्नं कस्मात्? आनतं भूतेभ्यः। अत्ते र्वा।

अत्तिकर्माणः उत्तरे धातवो द ।

बलनामानि उत्तराणि अष्टाविंशतिः। 'बलं' कस्मात्? बलं भरं भवति। बिभर्त्तेः।

धननामानि उत्तराणि अष्टाविंशतिरेव। धनं कस्मात्? धिनोति-इति सतः।

गोनामानि उत्तराणि नव।

क्रुध्यतिकर्माणः उत्तरे धातवो दश।

क्रोधनामानि उत्तराणि एकादश।

गतिकर्माणः उत्तरे धातवो द्वाविंशशतम्।

क्षिप्रनामानि उत्तराणि षड्विंशतिः। 'क्षिप्रं' कस्मात्? संक्षिप्तो विकर्षः।

अन्तिकनामानि उत्तराणि एकादश। 'अन्तिकं' कस्मात्? आनीतं भवति।

संग्रामनामानि उत्तराणि षट्चत्वारिंशत् । 'सङ्ग्रामः' कस्मात् ? सङ्गमनाद्वा । संगरणाद्वा । संगतौ ग्रामौ-इति वा । तत्र 'खलः' इत्येतस्य निगमा भवन्ति ॥ ३ ॥

अर्थ ।

"दशावनिभ्यः, इति त्रिष्टुप् छन्दः । अर्बुदः कद्रूपुत्रऋषिः । ग्रावस्तुतो विनियोगः ।"

मन्त्रार्थ—हे ऋत्विजो ! तुम इन पाषाणों (लोढ़ों) के लिये स्तुतियोंका उच्चारण करो, दश अङ्गुलियोंसे उपचार या ग्रहण किये जाते हैं, जो दश अङ्गुलियोंसे युक्त होकर पेषण (पीसना) आदि कर्मको वहन या धारण करते हैं । जो कभी जीर्ण नहीं होते, और जो दश अङ्गुलियोंको पीड़न करने वाले हैं । [इस मन्त्रमें बाईस (२२) अङ्गुलि नामोमेसे 'अवनि' 'कक्ष्या' 'योक्र' 'योजन' और 'अभीशु' ये पाँच नाम एक साथ तथा एकही स्थानमें आये हुए हैं । अतः आरम्भके पाँच पदोंका एकही अर्थ है । एवम् यह अकेलाही मन्त्र अङ्गुलिके अनेक नामोंका निगम बन जाता है, यह इसका एक वैचित्र्य है ।]

नि० अ०--'अवनि' अङ्गुलि होती हैं । [क्योंकि-] ये कर्मों-को अवन या रक्षण करती हैं । 'कक्ष्या' [क्यों ?-] कर्मोंको प्रकाश करती हैं । 'योक्र' पद 'योजन' इस पदसेही व्याख्यान किया गया है । [और योजन पद स्वयम् प्रसिद्धार्थ है ।] 'अभीशु' [क्यों?] कर्मोंको आभिमुख्य (संमुखता) से व्यापन करती हैं । [४ र्थ पाद] "दश धुरो दश युक्ता वहद्भ्यः" । 'धूः' 'धुर्' शब्द बध अर्थमें

'धुर्व्' (भ्वादि० प०) धातुसे है। यहभी 'दूसरी धुर्' (धुरी या भार) जो बैल आदिसे सम्बन्ध रखतीहै बैल या घोड़ा उसे मारती है। अथवा 'धारयति' (धारणार्थक 'धृञ्' चु० उ०) धातु-से है।

अङ्गुलि नामोंके अनन्तर अठारह (१८) कान्ति (कामना) अर्थवाले धातु हैं।

कान्त्यर्थक धातुओंके अनन्तर अट्ठाईस (२८) अन्नके नाम हैं। "अन्न" किस अर्थसे हैं? भूतो या प्राणियोंके सामने संमुख भावसे झुक जाता है। (आङ् उप० 'नम्' (भ्वा० प०) धा०)। अथवा 'अद्' भक्षणे (अदा० प०) धातुसे है। क्योंकि-प्राणी उसे खाते हैं।

अन्न नामोंके अनन्तर दश (१०) अत्ति भक्षण) अर्थवाले धातु हैं।

अत्तिकर्म धातुओंके अनन्तर अठाईस (२८) बलके नाम हैं। 'बल' क्यों? [जोही पुरुष गर्व करता है वह उससे भरण या धारण किया जाता है। 'बल' भर होता है। 'डुभृञ् धारणपोषणयोः' (तु० उ०) धातुसे है।

बल नामोंके अनन्तर अट्ठाईस (२८) ही धनके नाम हैं। 'धन' किस अर्थसे है? 'धिनोति' (धि-धा० स्वा० उ०) इस कर्तृवाच्य तर्पणार्थक धातुसे है। [क्योंकि-वह प्राप्त होकर पुरुषको तृप्त कर देता है]

धन नामोंके अनन्तर नव (९) गोके नाम हैं।

गो नामोंके अनन्तर दश (१०) क्रोधार्थक धातु हैं।

क्रधार्थक धातुओंके अनन्तर ग्यारह (११) क्रोधके नाम हैं। क्रोध नामोंके अनन्तर गति अर्थवाले एकसौ बाईस (१२२) धातु हैं। गत्यर्थक धातुओंके अनन्तर (२६) क्षिप्र (शीघ्र) के नाम हैं। 'क्षिप्र' किस अर्थसे है? विशेष रूपसे खैंचा हुआ या संक्षिप्त किया हुआ कहा जाता है।

क्षिप्र नामों के अनन्तर ग्यारह (११) अन्तिक (समीप) के नाम हैं। 'अन्तिक' किस अर्थसे है ? [क्योंकि] वह लाया हुआ होता है।

अन्तिक नामोंके अनन्तर छियालीस (४६) संग्रामके नाम हैं। 'संग्राम' किस अर्थसे है। सङ्गमन या दोओंके मिलनेसे। अथवा उसमें एक दूसरा अपने शत्रुके प्रति संगरण या शब्द करता है, या उक्ति प्रत्युक्ति करता है। अथवा उसमें दो समूह परस्परके जीतने की इच्छासे मिलते हैं। तहाँ 'खल' इस नामके निगम हैं॥ ३॥

व्याख्या।

निगमका प्रयोजन। "दशावनिभ्यः" यह निगम इसलिये दिया गया कि अङ्गुलि नामोंमें से कई नाम और और अर्थोंमें भी आये हुए हैं। जैसे कि–नदी नामोंमें (अध्याय १ खण्ड १३) 'अवनि' शब्द और रश्मि नामोंमें (अ० १ ख० ५) 'अभीशु' शब्द, इस कारण उनकी सन्दिग्धता मिटाई जावे अथवा अङ्गुलि अर्थको निश्चय कराया जावे। मन्त्रमें अवनि आदि पाँचों पदोंके साथ 'दश' संख्यावाचक शब्दके विशेषण होने, उनके अर्थोंमें जो क्रियाएँ हैं, उनसे तथा लोढ़ेके सम्बन्धसे ये पाँचो शब्द यहाँ पर अङ्गुलिके ही नाम हो सकते हैं, नदी या रश्मिके नहीं।

अनेक अङ्गुलि नामोंको एक ही स्थानमें जो मन्त्रमें दे रहा हैं, वह भिन्न भिन्न शब्दोंके द्वारा अङ्गुलियोमे होनेवाली भिन्न भिन्न क्रियाओंके जतानेके लिये है। जैसे कर्मकी रक्षा, कर्मका प्रकाश, कर्मकी योजना, कर्मको व्याप्त करना आदि।

ग्रावस्तुतिमें अनेक अङ्गुलि नामोंका एक साथ उपयोग यह है कि–अनेक क्रियावाली अङ्गुलियोंसे ये ग्रहण किये जाते हैं, इससे उनकी स्तुति करो।

सङ्गातर्य—क्योंकि-बाहु सहित अङ्गुलि सहित पुरुषकी व्याख्या हो चुकी है, इससे अब पुरुषको प्रथम कामहीने प्रवेश किया इस कारण कान्ति या काम अर्थवाले धातु कहे गये हैं। अथवा कान्ति नाम सौन्दर्यका है। क्योंकि-जो वस्तु असुन्दर होती है, वह अङ्गुलियोंसे ही सुन्दर की जाती है, इस कारण अङ्गुलि नामोंके अनन्तर कान्ति अर्थवाले धातु कहे गये हैं।

सब पदार्थोंकी अपेक्षा अन्न ही कान्त या प्रिय होता है, इसलिये कान्त्यर्थक धातुओंके अनन्तर अन्न नाम हैं।

अन्न ही खाया जाता है, इससे अन्न नामोंके अनन्तर अत्तिकर्म धातु है। क्योंकि-जो ही खाते है, बलवान् होते हैं, इसलिये अत्ति कर्म धातुओंके अनन्तर बलके नाम हैं।

क्योंकि—जो बलवान् होते है वे ही धनको प्राप्त होते हैं, इस कारण बल नामोंके अनन्तर धनके नाम हैं।

सब धनोंमें गोधन ही उत्तम धन है, इस कारण धन नामोंके अनन्तर गो नाम है।

धन या गोके अर्थ ही क्रोध होता है, इसलिये गो नामोंके अनन्तर क्रोधार्थ धातु हैं।

क्रोध अर्थके सम्बन्धसे ही क्रोध नाम कहे गये हैं।

क्रुद्ध होकर ही सुतराम् गमन करते है, इससे क्रोध नामोंके अनन्तर गत्यर्थक धातु हैं।

गमन ही से शीघ्र कहा जाता है, इससे गत्यर्थक धातुओंके अनन्तर क्षिप्र (शीघ्र) नाम हैं।

क्योंकि—शीघ्र चलने वाले ही, अपने वाञ्छित स्थानके निकट होते हैं, इससे शीघ्र नामोंके अनन्तर अन्तिक नाम हैं।

समीपमें हुए हुए योधोंका ही सग्राम होता है, इसलिये अन्तिक नामोंके अनन्तर संग्रामके नाम हैं।

(खण्ड ४)

[निघ०] इन्वति (१)। नक्षति (२)। आक्षाण: (३)। आनट् (४)। आष्ट (५)। आपान: (६)। अशत् (७) नशत् (८) आनशे (९)। अश्नुत: (१०)। इति दश व्याप्तिकर्माण:।

[निघ०] दभ्नोति (१)। श्नथति (२)। ध्वरति (३)। धूर्वति (४)। वृणक्ति (५)। वृश्चति (६)। कृणवति (७)। कृन्तति (८)। श्वसिति (९)। नभते (१०)। अर्दयति (११)। स्तृणाति (१२)। स्नेहयति (१३)। यातयति (१४)। स्फुरति (१५)। स्फुलति (१६)। निबपन्तु (१७)। अवतिरति (१८)। वियात: (१९)। आतिरत् (२०)। तलित् (२१)। आखण्डल (२२)। द्रूणाति (२३)। रमृणाति (२४)। शृणाति (२५)। शम्नाति (२६)। तृणेव्हि (२७)। ताव्हि (२८)। नितोषते (२९)। निवर्हयति। (३०)। मिनाति (३१)। मिनोति (३२)। धमति (३३)। इति त्रयस्त्रिंशद्व वधकर्माण: ॥ १९ ॥

[निरु०] "अभीदमेकमेको अस्मि निष्षाडभी द्वा
किमु त्रयः किरन्ति। खले न पर्षान्
प्रतिहन्मि भूरि किं मा निन्दन्ति
शत्रवोऽनिन्द्राः॥"

[ऋ० सं० ८, १, ६, २]

अभिभवामि-इदमेकमेकोऽस्मि। निष्षहमाणः सपत्नान् अभिभवामि द्वौ। किं मा त्रयः कुर्वन्ति। 'एकः' इता संख्या। 'द्वौ' द्रुततरा संख्या। 'त्रयः' तीर्णतमा संख्या। 'चत्वारः' चलिततमा संख्या। 'अष्टौ' अश्नोतेः। 'नव' न वननीया। नावाप्ता वा। 'दश' दस्ता दृष्टार्था वा। 'विंशतिः' द्विर्दशतः। 'शतं' दश दशतः। 'सहस्र' सहस्वत् 'अयुतं' 'नियुतं' 'प्रयुतं' तत्तदभ्यस्तम्। अर्बुदो मेघो भवति। अरणम्-'अम्बु'। 'तद्दोऽम्बुदः'। अम्बुमद् भाति इति वा। अम्बु मद् भवति इति वा। स यथा महान् बहुर्भवति वर्षं स्तदिवार्बुदम् "खले न पर्षान् प्रतिहन्मि भूरि।" खल इव पर्षान् प्रतिहन्मि भूरि। 'खल' इति संग्राम नाम। खलतेर्वा। स्खलतेर्वा। अयमपि इतरः खल एतस्मादेव। समास्कन्नो भवति। "किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः।" ये इन्द्र

न विदुः । इन्द्रो हि अहमस्मि, अनिन्द्रा इतरे-इति वा । व्याप्तिकर्माण: उत्तरे धातवो दश । तत्र द्वे नामनी । 'आचाणः' आश्नुवानः । 'आपानः' आप्नुवानः । वधकर्माण: उत्तरे धातवस्त्रयस्त्रिंशत् । तत्र 'वियातः' इत्येतद् वियातयत इति वा । वियातयेति वा । "आखण्डल प्रहूयसे ।" आखण्डयितः । 'तडित्' इति अन्तिक-वधयोः । संसृष्ट-कर्म ताडयति इति सतः ॥ ४ ॥

अर्थ ।

"अभीदम्" इस मन्त्रका वैकुण्ठ इन्द्र पुत्र ऋषि । जगती छन्दः । दश रात्रके नवम अहन् (दिन) में निष्केवल्यमें शस्त्र ।" 'आध्यात्मिक मन्त्र ।"

मन्त्रार्थ—मैं अकेला ही शत्रुओंको दबाता हुआ इस जगत्का अभिभव (तिरस्कार) या आधिपत्य करता हूं । किस प्रकार ? यदि एक शत्रु आता है, तो अकेला ही उसे हरा देता हूं । दोओंको भी आये हुओंको अकेला ही हरा देता हूं । और क्या ? तीन भी एक साथ आए हुए मेरे सकेलेका क्या कर सकते हैं ? [किन्तु कुछ नहीं—यह अभिप्राय है ।] बहुत क्या ? खल या खलोंमें जिस प्रकार कर्षक लोग बहुत सञ्चित धान्योंको भी सहजमें गाह डालते हैं, उसी प्रकार संग्राममें मैं निष्ठुर (कठोर) शत्रुओंको भी क्षण ही में मार देता हूं । मेरा ऐसा प्रभाव होने पर भी इन्द्र रहित या इन्द्र भिन्न या इन्द्रको न जानने वाले शत्रु मेरी क्या निन्दा कर सकते हैं ? अर्थात् मैं निन्दाके योग्य नहीं बलकि स्तुति करने योग्य हूं ॥

(नि० अ०) मैं एक इस एक जगत्को तिरस्कार करता हूं। शत्रुओंको तिरस्कार करता हुआ दो को (भी) तिरस्कार करता हूं। क्या मेरा तीन कर सकते हैं? [एक पद निरुक्त] 'एक' इत या प्राप्त संख्या। [दो आदि अन्य संख्याओंमें भी गई हुई रहती है।] 'द्वि' अधिक फैली हुई संख्या। [एक की अपेक्षासे।] 'त्रि' अधिकसे अधिक तैरी हुई संख्या। [दो की अपेक्षा।] 'चतुर' बहुत चली हुई संख्या [तीनकी अपेक्षा।] 'अष्ट' व्याप्ति अर्थमें 'अश्' (स्वा० आ०) धातुसे है। [क्योंकि वे सातको व्यापन करके रहते हैं] 'नव' यह संख्या 'न वननीय' या वाञ्छनीय नहीं है। [क्योंकि–नव (९) संख्या वाली तिथि नवमीमें कोई शुभ कर्म नहीं होता।] 'दश' यह संख्या दस्ता या सब संख्याओं-का अन्त करने वाली है। अथवा दृष्टार्थ होनेसे 'दश' है। [क्योंकि–एकादश द्वादश आदि संख्याओंके ऊपर फिर फिर देखी जाती है।] 'विंशति' दो वार दशसे। 'शत' दश वार दशसे। 'सहस्र' क्यों? सहस् नाम बलका है, सहस् वाला होनेसे 'सहस्र' है। [क्योंकि दुर्बलोंका भी सहस्र बलवान् ही होता है।] 'अयुत' 'नियुत' 'प्रयुत' उस उसको दश दश वार अभ्यास करनेसे होते हैं। [अर्थात् सहस्र दश वार अभ्यास किया गया 'अयुत', अयुत दश वार अभ्यस्त 'नियुत', और नियुत दश वार अभ्यस्त प्रयुत होता है।] 'अर्बुद' मेघ है। [मेघ सादृशसे है।] 'अम्बु' क्यों? अरण या चलन करता है। उस (जल) को देने वाला 'अम्बुद'। [अर्थात् अम्बुदसे 'अर्बुद' होता है।] अथवा अम्बुमान् भान होता है। अथवा अम्बुवाला होता है। वह (मेघ) जिस प्रकार जलको बरसता हुआ महान् (बड़ा) बहु (बहुत) होता है, उसके समान बहु द्रव्य 'अर्बुद' कहाता है। [३य पाद] "खले न पर्षान् प्रतिहन्मि भूरि।" अर्थात् खल (खाता) में

धान्योंको जैसे, वह कठोर शत्रुओंको प्रतिघात करता हूं। 'खल' यह संग्रामका नाम है। प्रशार्थक 'खल' (भ्वा० प०) धातुसे है। [क्योंकि उसमें योधा गिरते हैं।] अथवा हिंसार्थक 'स्खल' (भ्वा० प०) धातुसे। [क्योंकि—इसमें योधा परस्परसे हिंसा किये जाते हैं।] यह भी दूसरा (धान्य) खल इसी (अर्थ) से है। [क्योंकि उसमें भी धान्य चूर्ण हो हो कर गिरते हैं। अथवा हिंसा किये जाते हैं।] [अथवा] धान्योंसे समास्कन्न या बिखरा हुआ होता है, इससे 'खल' है। [४र्थ पाद] "किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः।" अर्थात् अनिन्द्र शत्रु मुझे क्या निन्दा कर सकते हैं। [अनिन्द्र क्या?] जो इन्द्रको नहीं जानते हैं। अथवा क्योंकि मैं इन्द्र हूं, अतः और सब अनिन्द्र हैं। व्याप्ति अर्थ वाले अनन्तर दश धातु हैं। उनमें दो नाम हैं। (१) 'आक्षाण' अशन या व्याप्त करने वाला। (२) 'आपान' व्याप्त होने वाला। अगले वध अर्थमें तेतीस धातु हैं। उनमें 'वियात' यह नाम है। [अर्थ] अथवा जो शत्रुओंको नाना प्रकारसे कष्ट या यातना देता है। अथवा स्तोताओंसे जो 'वियातयः' इस प्रकार कहा जाता है। ['आखण्डल' यह भी नाम ही है।] [निगम] "आखण्डल प्रहूयसे।"

[ऋ० सं० ६, १, २५, २]

अर्थात् हे आखण्डल! इन्द्र! तू आदरसे बुलाया जाता है। 'आखण्डल' शत्रुओं या मेघोंका आखण्डयिता खण्डन करने वाला। 'तडित्' यह अन्तिक या समीप अर्थमें संसर्ग रखने वाला है। 'ताडयति' ताडन करता है, इस कर्तृ वाच्यसे है ॥ ४ ॥

व्याख्या ।

"अभीदम्" मन्त्र 'खल' शब्दकी व्याख्याके लिये दिया गया है। इसमें इसके संग्राम और खली दोनों अर्थोंका निर्वाह उत्तम प्रकारसे

हो जाता है। उपमानमें खली और उपमेयमें संग्राम। 'खले' पदके आगे 'न' पद उपमा वाचक 'यथा' के अर्थमें है।

वैकुण्ठका अभिमान। मन्त्रमें वैकुण्ठने जो अभिमान किया है। वह इन्द्र पुत्र होनेके कारणसे है। पुत्र पर पिताका अविकल स्वभाव आना प्राकृतिक है। इसी कारण हिन्दुओंमें कुलीनताका विशेष आदर है ॥ ४ ॥

सङ्गतियाँ—क्योंकि संग्राममें परस्परको योधा व्याप्त करते हैं, इस कारण संग्राम नामोंसे आगे व्याप्ति अर्थ वाले धातु कहे।

क्योंकि संग्राममें पहले परस्परको व्यापन करते हैं, और फिर मारते हैं, इससे व्याप्तिकर्म धातुओंके अनन्तर वधकर्म धातु कहे गये ॥ ४ ॥

(ख० ५)

[निघ०] दिद्युत् (१)। नेमिः (२)। हेतिः (३)। नमः (४)। पविः (५)। सृकः (६)। वृकः (७)। वधः (८)। वज्रः (९)। अर्कः (१०)। कुत्सः (११)। कुलिशः (१२)। तुञ्जः (१३)। तिग्मम् (१४)। मेनिः (१५)। स्वधितिः (१६)। सायकः (१७)। परशुः (१८)। इति अष्टादश वज्रनामानि ॥ २० ॥

[निघ०] इरज्यति (१)। पत्यते (२)। क्षयति (३)। राजति (४)। इति चत्वारः ऐश्वर्यकर्माणः ॥ २१ ॥

[निघ०] राष्ट्री (१) । अर्यः (२) । नियुत्वान् (३) । इन इनः (४) । इति चत्वारि ईश्वरनामानि ॥ २२ ॥

अपः (१) । तुक् (२) । मनुष्याः (३) । आयता (४) । अग्रुवः (५) । वश्मि (६) । अन्धः (७) । आवयति (८) । ओजः (९) । मघम् (१०) । अघ्न्या (११) । रेलते (१२) । हेलः (१३) । वर्त्तते (१४) । नु (१५) । तलित् (१६) । रणः (१७) । इन्वति (१८) । दभ्नोति (१९) । दिद्युत (२०) । इरज्यति (२१) । राष्ट्री (२२) । द्वाविंशतिः (२२) ॥

इति निघण्टौ द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

[निरु०] "त्वया वयं सुवृधा ब्रह्मणस्पतेस्पार्हा वसु मनुष्या ददीमहि । या नो दूरे तडितो या अरातयोऽभिसन्ति जम्भयाता अनप्नसः ॥"

[ऋ० सं० २, ६, ३०, ४]

त्वया वयं सुवर्द्धयित्रा ब्रह्मणस्पते स्पृहणीयानि वसूनि मनुष्येभ्यः आददीमहि । याश्च नो दूरे

तडितो याश्च अन्तिके अरातयः अदान-कर्माणो वा। अदान प्रज्ञा वा। जम्भयता अनमय:। [एकपद निरुक्तम्] आभवति रूप नाम। 'आप्नोति' इति विद्युत् 'तडिद' भवति। इति शाक पूर्णिः। सा हि अवताडयिति दूराच्च दृश्यते। अपि तु—इदमन्तिकनामैव अभि-प्रेतं स्यात्। "दूरे चित् सन्तडिदिवा तिरोचसे" । [ऋ० सं० १, ६, ३१, २] दूरेऽपि सन्नन्तिक इव संदृश्यते-इति। वज्रनामानि उत्तराणि अष्टादश। 'वज्रः' कस्मात्? वर्जयति इति सतः। तत्र 'कुत्स' इत्येतत् कृन्ततेः। ऋषिः 'कुत्सो' भवति कर्त्ता स्तोमानम् इति औपमन्यवः। अत्रापि अस्य वधकर्मैव भवति। "तत्सख इन्द्रः। शुष्णं जघान" इति।

ऐश्वर्यकर्माणः उत्तरे धातवश्चत्वारः। ईश्वर-नामानि उत्तराणि चत्वारि। तत्र 'इन' इति एतत् सनित ऐश्वर्येण वा। सनितमनेन-ऐश्वर्य-मितिवा ॥ ५ ॥

अर्थ ।

"त्वयावयम्" मन्त्रका गृत्समद ऋषि । जगती छन्दः । प्रवर्ग्यमें विनियोग ।"

मन्त्रार्थ—हे ब्रह्मणस्पति देव ! सुन्दर बढ़ानेवाले तुमसे हम वाञ्छनीय धनोंको दाता कनुष्योंसे लेवें । दूर देशमें जो शत्रु और जो निकट देशमें शत्रु हमें तिरस्कार करते हैं उन कर्महीन या रूप होन शत्रुओंको तुम नाश करो ॥

नि० अ०—हे ब्रह्मणस्पति देव ! तुझ बढ़ानेवालेके कारणसे वाञ्छनीय धनोंको कनुष्योंसे लेवें । जो हमारे दूर देशमें और तडित् या निकटमें शत्रु हैं, हमें वाञ्छित अर्थोंको देनेवालेके रोकने वाले या स्वयम् देना नहीं चाहने वाले उन दोनों कुरूपोंको तुम बेचेत करो । [एक पदानि] 'अप्नस्'यह रूपका नाम है 'आप्नोति' व्यापन करता है, इस कर्तृ वाच्य क्रियासे है, 'तडित्' विद्युत् या बिजलो होती है यह शाकपूर्णि आचार्य मानते हैं । क्योंकि वह ताडन करती है और दूरसे दिखाई देती है । किन्तु यह अन्तिक या समीपका ही नाम अभिप्रायसे हो सकता है । [उदाहरण] "दूरमें भो रहता हुआ समीपमें जैसा स्थित हुआ दिखाई पड़ता है ।" [यहाँ 'तडित्' शब्दक समीप वाचकता अत्यन्त स्पष्ट है ।]

वधकर्म धातुओंके अनन्तर अठारह (१८) वज्रके नाम हैं । 'वज्र" किस धातुसे है ? 'वर्जयति' इस (चु० उ०) कर्तृ वाच्य धातुसे है । अर्थात् यह प्राणियोंको प्राणोंसे वियुक्त कर देता है । [सन्देह-पद-] उन वज्र नामोंमे 'कुत्स' यह पद 'कृतो' छेदने (तु० प०) धातुसे है । 'कुत्स' ऋषि (भो) है । क्योंकि वह स्तोम नाम कर्मों का करनेवाला है, यह औपमन्यव आचार्य मानते हैं । इस (ऋषि) अर्थमें भो इस धातुका 'वध' अर्थ ही है ।

क्योंकि उसके सखा इन्द्रने रसोंको शोषण करने वाले असुर या मेघको मारा है।

वज्र नामोंके अनन्तर चार (४) ऐश्वर्य अर्थवाले धातु हैं।

ऐश्वर्य कर्म धातुओंके अनन्तर चार (४) ईश्वरके नाम हैं। उन ईश्वरके नामोंमें 'इन' यह क्यों? ऐश्वर्यसे सनित या व्याप्त है। अथवा इससे ऐश्वर्य व्याप्त है ॥ ५ ॥

व्याख्या।

इस खण्डमें 'तडित्' इस सन्दिग्ध पदकी "त्वयाऽस्मत्" उदाहरणसे व्याख्या दिखाई कि मन्त्रोंमें यह पद समीप अर्थमें आता है। शाकपूणि आचार्य विद्युत्का नाम भी मानते हैं। किन्तु आचार्यने दूसरे मन्त्रसे भी पूर्व अर्थको ही पुष्ट किया है, जो यहाँ प्रकरणके अनुरूप है।

वज्र नामोंमें 'कुत्स' यह सन्दिग्ध पद है। क्योंकि वज्र और ऋषि दोनों अर्थोंमे आता है। ऋषि अर्थका पक्ष औपमन्यव आचार्य लेता है। पर आचार्य इस पक्षमें भी इस शब्दके धातुका वध अर्थ ही मानते हैं, जिसे उन्होंने उनके उपास्य देव इन्द्रके द्वारा सिद्ध किया है।

"त्वया वयम्" मन्त्रमें गृत्समद ऋषिने अपने ब्रह्मणस्पति देवसे अरातियों या शत्रुओंके नाश करनेकी प्रार्थना की है यहाँ भगवद्दुर्गाचार्यने शत्रुओंके दो भेद बताए हैं। (१) दुःखासंनाश्य जिनका दुःखसे नाश हो सकता है। (२) सुख संनाश्य जिनका सुखसे नाश हो सकता है। पहले भेदमें वे शत्रु हैं, जो यह बुद्धि रखते हैं कि 'हमें' इनके लिये देना नहीं चाहिये। और दूसरे वे हैं, जो औरोंको देते हुओंको रोकें ॥ ५ ॥

(खण्ड ६)

[निरु०] "यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथा भिस्वरन्ति । इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः समाधीरः पाकमत्राविवेश ॥"

[ऋ० सं० २, ३, १८. १]

यत्र "सुपर्णाः" सुपतनाः आदित्यरश्मयः-"अमृतस्य भाग" मुदकस्य अनिमिषन्तः वेदनेन "अभिस्वरन्ति"-इति वा, अभिप्रयन्ति-इति वा । ईश्वरः सर्वेषां भूतानां गोपायिता आदित्यः । "स मा धीरः पाकमत्राविवेश"-इति । "धीरः" धीमान् । "पाकः" पक्तव्यो भवति । विपक्वप्रज्ञः आदित्यः-इति उपनिषद्वर्णो भवति-इति अधिदैवतम् । अथाध्यात्मम् । यत्र सुपर्णाः सुपतनानि इन्द्रियाणि अमृतस्य भागं ज्ञानस्य अनिमिषन्तः वेदनेन अभिस्वरन्ति इति वा, अभिप्रयन्ति इति वा । ईश्वरः सर्वेषाम् इन्द्रियाणां गोपायिता आत्मा "स मा धीरः पाकमत्राविवेश" इति । "धीरः धीमान्" "पाकः" पक्तव्यो भवति, विपक्वप्रज्ञः आत्मा इति आत्मगतिमाचष्टे ॥ ६ ॥

इति तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ ३, २, ॥

वह मन्त्र जिसमें 'इन' यह ईश्वरका नाम है—"यत्रा सुपर्णा" इत्यादि। इस मन्त्रका दीर्घतमाः ऋषि। त्रिष्टुप् छन्दः। विश्वेदेवाः देवता। महाव्रतमें तृतीय सवनमें वैश्वदेव शस्त्रमें शस्त्र है।

मन्त्रार्थ—[देवता पक्ष-] 'यत्र' जिस आदित्य मण्डलमें स्थित हुए हुए 'सुपर्णा' जो अन्धकारको दूर करनेके लिये गिरते हैं अथवा सुन्दर होते हुए गिरते हैं 'अमृत' अमर जलके 'भाग' भजन (सेवन) योग्य अंशको पृथ्वी लोकसे लेकर 'विदथा' अपने अधिकारके ज्ञान पूर्वक अनिमिष' आलस्य रहित या आदर-युक्त आदित्य-रश्मि 'अभिस्वरन्ति' सम्मुख भावसे आदित्य मण्डलको जाते हैं। या लोकको तपाते हैं। उस आदित्य मण्डलमे स्थित हुआ हुआ सब लोकोंका 'इन' ईश्वर 'गोपा' रक्षा करने वाला 'धीर' धीमान् स्वच्छबुद्धि वाला वह आदित्य अनुग्रहसे अत्र' इस आदित्य मण्डलमें मा' 'पाकम्' मुझ अपक्वबुद्धिको 'आविवेश' प्रवेश करे।

[आत्मपक्ष-] 'यत्र' जिस शरीरमें 'सुपर्णा' अपने अपने काले विन्दु आदि स्थानोंमें स्थित हुयी हुयी चक्षु आदि इन्द्रियें 'अमृतस्य' अमर धर्म युक्त ज्ञानको 'भागम्' अपने अपने ग्राह्य रूप आदि विषय रूप रसको लेकर 'अनिमेषम्' आलस्य रहित या आदर युक्त 'विदथा' विषय विज्ञान पूर्वक 'अभिस्वरन्ति' बाह्य विज्ञानका रखने के लिये आत्माके सम्मुख जाती है। उस शरीरमें रहता हुआ 'विश्वस्य भुवनस्य इनः' सब शरीररूप भुवनका ईश्वर 'गोपा' सब इन्द्रियोंका रक्षक 'धीरः' बुद्धिमान् 'सः' वह 'अत्र' इस देहमें बुद्धिके अधि देवता रूपसे तैजस नाम वाला 'पाकम्' पक्वबुद्धि 'माम्' मुझको अनुग्राह्य बुद्धिसे 'आविवेश' प्रवेश करे। [उसीके अनुग्रहसे इस जीवको यथार्थ ज्ञान होता है उसीको प्रार्थना है।]"

नि० अ०—जिस आदित्यमण्डलमें सुपर्णा नाम सुन्दर पतन करने वाले आदित्यके रश्मि अमृत नाम उदकके भागको आलस्य

रहित अथवा विज्ञानसे तपाते हैं अथवा सम्मुख जाते हैं। सब भूतों या प्राणियोंको रक्षा करने वाला आदित्य वह मुझे 'धीरः पाकमत्राविवेश'' इति। 'धीर' नाम धीमान् धारणा बुद्धिवाला, 'पाक' नाम पकाने योग्यका है। उत्तम पकी हुई प्रज्ञान बुद्धिवाला, आदित्य (सूर्य) यह उपनिषद् विद्या है। यह देवता परक व्याख्या है। अब अध्यात्म नाम आत्म विषयक व्याख्या है। जिस (शरीर) में सुपर्ण नाम सुन्दर-गमन करने वाले इन्द्रिय, अमृत या अमरज्ञानके भागको (लेकर) आलस्यसे रहित विज्ञान पूर्वक भोक्ता पुरुषको विषयके ज्ञान द्वारा दुखितः करते हैं। अथवा बाह्य विज्ञानको स्थापन करनेके अर्थ आत्माके प्रति जाते हैं। सब इन्द्रियोंका ईश्वर रक्षक वह तैजस आत्मा "धीरः पाकमत्राविवेश" 'धीर' नाम 'धी' धारणा वाली बुद्धिवाला, 'पाक' नाम पकाने योग्य होता है, या विशेष पकी हुई बुद्धिवाला आत्मा। इस प्रकार आत्म पक्षको कहता है ॥ ६ ॥

व्याख्या ।

"यत्रा सुपर्णा" यह मन्त्र 'इस' शब्दको ईश्वरवाचकता दिखानेके लिये दिया गया है। अधिदेवत या आदित्य पक्षमे सब भुवनोंका ईश्वर और अध्यात्म पक्षमें सब इन्द्रियोंका ईश्वर कहा गया है।

[अधिदेवत-] जिस मन्त्र या प्रकरणमें देवताके अधिकार या प्राधान्यसे अर्थ कहा जावे वह अधिदैवत है। जैसे उक्त "यत्रा सुपर्णा" मन्त्रमे सूर्य देवताके अभिप्रायसे आदित्यमण्डल रश्मिएँ या किरणें, उनका रसको ले जाकर पृथ्वीको तपाना आदि अर्थ कल्पित किया है। ऐसे ही अन्य मन्त्रोंमें जिस देवतामें मन्त्र लगाना होता है, उसीके अनुरूप सब शब्दोंके अर्थ कर लिये जाते हैं।

तृतीयाध्यायस्य-

तृतीयः पादः ।

(खण्ड १)

अथ निघण्टौ तृतीयोऽध्यायः ।

[निघ०] उरु (१) । तुवि (२) । पुरु (३) । भूरि (४) । शश्वत् (५) । विश्वम् (६) । परी- णसा (७) । व्यानशिः (८) । शतम् (९) । सहस्रम् (१०) । सलिलम् (११) । कुवित् (१२) । इति द्वादश बहुनामानि ॥ १ ॥

[निघ०] ऋहन् (१) । ह्रस्वः (२) । नि- घृष्वः (३) । मायुकः (४) । प्रतिष्ठा (५) । कृधु (६) । वम्रकः (७) । दभ्रम् (८) । अर्भकः (९) । क्षुल्लकः (१०) । अल्पः (११) । इत्येकादश ह्रस्वनामानि ॥ २ ॥

[निघ०] महत् (१) । ब्रध्नः (२) । ऋष्वः (३) । बृहत् (४) । उक्षितः (५) । तवसः (६) । तविषः (७) । महिषः (८) । अभ्वः (९) ।

ऋभुक्षाः (१०)। उक्षाः (११)। विहायाः (१२)। यह्वः (१३)। ववक्षिथ (१४)। विवक्षसे (१५)। अम्भृणः (१६)। माहिनः (१७)। गभीरः (१८)। ककुहः (१९)। रभसः (२०)। ब्राधन् (२१)। विरप्शी (२२)। अद्भुतम् (२३)। बंहिष्ठः (२४)। बर्हिषत् (२५)। इति पञ्चविंशतिर्महन्नामानि ॥३॥

[निघ०-] गयः (१)। कृदरः (२)। गर्त्तः (३)। हर्म्यम् (४)। अस्तम् (५)। पस्त्यम् (६)। दुरोणे (७)। नीलम् (८)। दुर्याः (९) स्वसराणि (१०)। अमा (११)। दमे (१२)। कृत्तिः (१३)। योनिः (१४)। सद्म (१५)। शरणम् (१६)। वरूथम् (१७)। छर्दिः (१८)। छदि (१९)। छाया (२०)। शर्म (२१)। अज्म (२२)। इति द्वाविंशतिर्गृह-नामानि ॥ ४ ॥

[निघ०-] इरज्यति (१)। विधेम (२)। सपर्यति (३)। नमस्यति (४)। दुवस्यति (५)। ऋध्नोति (६)। ऋणद्धि (७)। ऋच्छति (८)। सपति (९)। विवासति (१०)। इति दश परि-चरणकर्माणः ॥ ५ ॥

[निघ०-] शिम्बाता (१)। शतरा (२)। शातपन्ता (३)। शर्म (४) स्यूमकम् (५)। शेवृधम् (६)। मयः (७)। सुग्म्यम् (८)। सुदिनम (९)। शूषम् (१०)। शुनम् (११)। शग्मम् (१२)। भेषजम् (१३)। जुलाषम् (१४)। स्योनम् (१५)। सुम्नम् (१६)। शेवमे (१७)। शिवम् (१८)। शम् (१९)। कम् (२०)। इति विंशतिः सुख नामानि ॥ ६ ॥

[निघ०] निर्णिक् (१)। वव्रिः (२)। वर्पः (३)। वपुः (४)। अमतिः (५)। अप्सः (६)। प्सुः (७)। अप्नः (८)। पिष्टम् (९)। पेशः (१०)। कृशनम् (११)। प्सरः (१२)। अर्जुनम् (१३)। ताम्रम् (१४)। अरुषम् (१५)। शिल्पम् (१६)। इति षोडश रूपनामानि ॥ ७ ॥

(निघ०) अस्रेमाः (१)। अनेद्यः (२)। अनेघः (३)। अनवद्यः (४)। अनभिशस्ताः (५)। उक्थ्यः (६)। सुनीथः (७)। पाकः (८)। वामः (९)। वयुनम् (१०)। इति दश प्रशस्यस्य ॥ ८ ॥

[निघ०] केतः (१)। केतुः (२)। चेतः (३)। चित्तम् (४)। क्रतुः (५)। असुः (६)।

धीः (७)। शचीः (८)। माया (९)। वयुनम् (१०)। अभिख्या (११)। इति एकादश प्रज्ञा नामानि ॥ ९ ॥

[निघ०] बट् (१)। श्रत् (२)। सत्रा (३)। अद्धा (४)। इत्था (५)। ऋतम् (६)। इति षट् सत्यनामानि ॥ १०॥

[निघ०] चिक्यत् (१)। चाकनत् (२)। आचक्ष्म (३)। चष्टे (४)। विचष्टे (५)। विचर्षणिः (६)। विश्वचर्षणिः (७)। अवचाकशत् (८) इति अष्टौ पश्यतिकर्माणः ॥ ११ ॥

[निघ०] दिकम् (१)। नुकम् (२)। सुकम् (३)। आहिकम् (४)। आकीम् (५)। नकिः (६)। माकिः (७)। नकाम् (८)। आकृतम् (९)। इति नव उत्तराणि सर्व-पद-समाम्नानाय ॥ १२ ॥

[निघ०] इदमिव (१)। इदं यथा (२)। अग्निर्नये (३)। चतुरश्चिद् ददमानात् (४)। ब्राह्मणा व्रतचारिणः (५)। वृक्षस्य नु ते पुरुहूत-वयाः (६)। जार आभगम् (७)। मेषोभूतो ३

भियन्नयः (८)। तद्रूपः (६)। तद्वर्णं (१०)। तद्वत् (११)। तथा (१२)। इति उपमाः ।।१३।।

[निरु०] बहुनामानि उत्तराणि द्वादश। बहु कस्मात्? प्रभवति इति सतः।

ह्रस्वनामानि उत्तराणि एकादश। ह्रस्वो ह्रसतेः।

महन्नामानि उत्तराणि पञ्च विंशतिः। महान् कस्मात्? मानेन अन्यान् जहाति इति शाकपूणिः। मंहनीयो भवति-इति वा। तत्र 'ववक्षिथ' 'विवक्षसे'' इति-एते वक्तेर्वा वहतेर्वा साभ्यासात्।

गृहनामानि उत्तराणि द्वाविंशतिः। गृहाः कस्मात्? गृह्णन्ति इति सताम्।

परिचरण-कर्माणः उत्तरे धातवो दश।

सुखनामानि उत्तराणि विंशतिः। 'सुखं' कस्मात्? सुहितं खेभ्यः। 'खं' पुनः खनतेः।

रूपनामानि उत्तराणि षोडश। रूपं' रोचतेः।

प्रशस्य-नामानि उत्तराणि दश।

प्रज्ञानामानि उत्तराणि एकादश।

सत्यनामानि उत्तराणि षट्। 'सत्यं' कस्मात्? सत्सु तायते। सत्प्रभवं भवति इति वा।

अष्टौ उत्तराणि पदानि। पश्यति-कर्माणः उत्तरे धातवः। चायति-प्रभृतीनि च नामानि आमिश्राणि।

नव उत्तराणि पदानि सर्वपदसमाम्नानाय।

अथात उपमाः। 'यदतत्तत्सदृशम्' ~~इति~~ गार्ग्यः तदासां कर्म। ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयांसं वा अप्रख्यातं वा उपमिमीते। अथापि कनीयसा ज्यायांसम्।

अर्थ।

निरुक्तार्थ—ईश्वर नामोंके अनन्तर बारह (१२) बहु (बहुत) के नाम हैं। 'बहु' किस अर्थसे है? 'प्रभवति' अर्थात् समर्थ होता है, इस कर्तृवाच्य (प्र० उप० भू० धा०) से। अनन्तर 'ह्रस्व' के ग्यारह (११) नाम हैं। 'ह्रस्व' अल्पोभाव अर्थमें 'ह्रस्व' (भ्वा० प०) धातुसे है। [क्योंकि—वह महत्को अपेक्षा छोटा हुआ प्रतीत होता है।]

'महत्' के नाम पच्चीस हैं। 'महान्' क्यों है? मान या परिमाणसे अन्योंको छोड़ता है। यह शाकपूणि आचार्य मानते हैं। अथवा महनीय या पूजनीय होता है। उन महत् नामोंमें 'ववक्षिथ' 'विवक्षसे' ये दोनों दोहराये हुए 'वच्' (अ० प०) धातुसे अथवा वह (भ्वा० उ०) धातुसे हैं।

अनन्तर बाईस (२२) गृह "(घर) के नाम हैं. 'गृह' क्यों हैं ? ग्रहण करते हैं। (धान्य आदिको) इस प्रकार कर्तृवाच्य 'ग्रह' उपादाने (क्र्या० उ०) धातुसे हैं।

अनन्तर दश (१०) परिचरण अर्थमें धातु हैं।

अनन्तर बीस (२०) सुखके नाम हैं। 'सुख' क्यों ? 'ख' नाम इन्द्रियोंके लिये सुहित होता है। फिर 'ख' शब्द 'खन' खनने (भ्वा० उ०) धातुसे है। [क्योंकि कर्ण आदि इन्द्रियोंके स्थान खोदे हुए जैसे होते है।]

अनन्तर सोलह (१६) रूपके नाम हैं। 'रूप' शब्द दीप्ति अर्थवाले (भ्वा० आ०) 'रुच' धातुसे है। [क्योंकि-वह दीप्त होता है।

अनन्तर दश (१०) प्रशस्य (प्रशंसा योग्य) के हैं।

अनन्तर ग्यारह (११) प्रज्ञाके नाम हैं।

अनन्तर छः (६) सत्यके नाम हैं। 'सत्य' क्यों ? सत्पुरुषोंमें ही फैलता है। [क्योंकि-सत्पुरुषोंके समीप मिथ्या नहीं बोला जा सकता।] अथवा सत्पुरुषोंसे ही उत्पन्न होता है। [क्योंकि-सत्पुरुष ही सत्य बोलते हैं।]

अनन्तर आठ (८) उत्तरे पद हैं। अनन्तर आठ (८) नेत्रसे देखने अर्थ वाले धातु हैं। और 'चायति' आदि नाम हैं। अतः ये आमिश्र (मिले हुए) हैं।

अनन्तर नव (९) उत्तर पद हैं सब (नाम आख्यात, उपसर्ग और निपात) चारों प्रकारके पदोंके समाम्नानके अर्थ हैं। [अर्थात् इन्हीं नव (९) पदोंके आम्नान करनेमें सब निपात और उपसर्ग दिखाये गये समझे जावंगे। चारोंमें इन्हींके दिखानेकी त्रुटि थी सो अब पूरी की जाती है।]

अनन्तर उपमा हैं। [लक्षण] जो उस (उपमेय) से भिन्न और उसके समान हो सो उपमा होती है—यह गार्ग्य आचार्य मानते हैं। सो इन उपमाओंका कर्म या अथ है। क्या? जो-अथवा उत्कृष्ट-गुणसे अल्पगुण या छोटेको अथवा अधिक प्रसिद्धसे अप्रसिद्धका उपमा करता है। और छोटे या निकृष्टसे बड़े या श्रेष्ठको (उपमा करता है।)॥ १॥

व्याख्या।

इस खण्डमें निघण्टुकी तेरह (१३) खण्डोंकी व्याख्या है।

जिनमें बहु (१) ह्रस्व (२) महत् (३) गृह (४) परिचरण (५) सुख (६) रूप (७) प्रशस्य (८) प्रज्ञा (९) सत्य (१०) पश्यति (११) सर्वपद (१२) उपमा (१३) इन अर्थोंके वाचक शब्द हैं। इनका सगतिएँ भी योग्यतानुसार कल्पित कर लेना चाहिये। जैसे कि—ईश्वर ही बहु होते हैं। बहु सम्बन्धसे ह्रस्व, ह्रस्व सम्बन्धसे महत्, जो महत् होते हैं वे ही गृही (गृहस्थ) होते हैं, गृहोंमें ही परिचर्या (सेवा) होती है परिचर्यासे ही सुख होता है, सुखी ही रूपवाले होते हैं रूपवाले ही प्रशंसनीय होते हैं, जो प्रज्ञा (बुद्धि) वाले होते हैं वे ही प्रशसनीय होते हैं जो प्रज्ञावान् होते हैं, वे ही सत्य बोलते हैं, जो सत्य बोलते हैं, वे ही देखते हैं—इत्यादि।

चिक्यत् आदि। इस खण्डके भगवद्दुर्गाचार्यने तीन व्याख्यान दिखाये हैं, जो भिन्न भिन्न पूर्वाचार्योंके हैं और यास्काचार्यके अनुमत हैं।

१—चिक्यत् आदि दर्शनार्थक धातु हैं, और वे ही चायति आदि रूपमें नाम हैं। इसलिये ये मिलित या ससर्गी हैं। कहीं धातु

और कहाँ पर नाम इस प्रकारका ज्ञान प्रकरण और समीपस्थ पदसे होगा।

२—उनमें कोई नाम और कोई आख्यात हैं।

३—चिक्यत् (१) विचर्षणिः (२) विश्वचर्षणिः (३) ये तीन नाम हैं और जो शेष हैं वे सब धातु हैं। और वे पूर्वाचार्योंके प्रामाण्यवश मिलित पढ़े जाते हैं।

उपमा—जिस प्रकार अन्य पृथिवी आदि पदार्थोंके नाम केवल अपने स्वरूपसे ही निघण्टुमें पढ़े गये हैं और उनके उदाहरण वेदमें ढूंढ लिये जाते हैं उसी प्रकार उपमा शब्दोंको वहाँ ही पढ़ा है, किन्तु उनके उदाहरण ही आम्नान किये हैं जिनमें उपमा वाचक शब्द और वे जिस प्रकारसे जिसकी उपमा जिसमें कह रहे हैं वह सब हैं। जैसे "इदमिव" इसके समान। यहां इव' उपमा वाचक और 'इदम्' उपमेयवाचक पद हैं।

उपमा दो पदार्थोंके बाचका एक सम्बन्ध है इसीसे वह दूसरेके साथमें हो आता है, किन्तु कहीं एक पदार्थ अपना आप ही उपमान हो जाता है, जैसे "वायोरात्मोपमा गतिः" अर्थात् वायुकी गति या वेग अपनी ही उपमा रखता है।

अधिकसे अल्पकी उपमा। "सिंहो माणवकः" माणवक सिंह है। यहाँ सिंहके अधिक शूरत्वसे माणवक (बालकके) के शौर्यको उपमा है।

अधिक प्रसिद्धसे अप्रसिद्धकी उपमा। "चन्द्र इव कान्तो माणवकः" चन्द्रमाके समान सुन्दर माणवक है यहाँ प्रसिद्ध चन्द्रसे अप्रसिद्ध माणवककी उपमा है।

कहीं छोटे या अल्पगुणसे बड़े या अधिक गुणकी उपमा। किन्तु यह वेदमें ही मिलती है, लोकमें इसका अधिक उपयोग नहीं है॥ १॥

(खण्ड २)

[निरु०] "तनूत्यजेव तस्करा वनर्गू रशनाभि दशभीरभ्यधीताम् ।"

[ऋ० सं० ७. ५, ६२, ६]

'तनूत्यक्' तनूत्यक्ता 'वनर्गू' वनगामिनौ अग्निमन्थनौ बाहू तस्कराभ्यामुपमिमीते । 'तस्करः' तत् करोति, यत् पापकम्-इति नैरुक्ताः । तनोतेर्वा स्यात् । सन्ततकर्मा भवति । अहोरात्रकर्मा ~~वा~~ । "रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम्" अभ्यधाताम् । ज्यायांस्तव गुणोऽभिप्रेतः ॥ २ ॥

अर्थ ।

"तनूत्यजेव" मन्त्रका त्रित ऋषि । त्रिष्टुप् छन्दः । प्रातरनुवाक और आश्विनमें शस्त्र ।

वनमें रहनेवाले, मार्गमें लूटनेवाले दो चोर 'हरेंगे, या भागेंगे' ऐसे अभिप्रायसे चले, उन्हींसे दो बाहुओं (भुजों) को उपमा इस मन्त्रमे है ।

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! शरीरको त्यागनेवाले, वनमें विचरनेवाले दो चोरोंके समान हमारे दो बाहु दश अङ्गुलियोंसे दोनों अरणियोंके द्वारा तुम्हें बाँध लें । यहाँ श्रेष्ठ भुजोंकी निकृष्ट तस्करोंसे उपमा है ।

नि० अ०—'तनूत्यज्' नाम तनू (शरीर) का त्यागने वाला । 'वनर्गु' वनगामी या वनमें रहने वाले । अग्निके मथने वाले बाहुओंको दो तस्करों (चोरों) से उपमा करता है । 'तस्कर' क्यों ? 'वह कर्म करता है जो पाप रूप है'—यह नैरुक्त आचार्य मानते हैं ।

अथवा सन्तत (निरन्तर) कर्मवाला होता है। अथवा रात्रि दिन कर्म करता है [दिनमें वनमें चोरी करता है और रात्रिमें ग्राममें ।] दश रशनाओं (अङ्गुलियों) से "अभ्यधोताम्" बाँध लें ॥ २ ॥

व्याख्या ।

"तनूत्यजव" मन्त्र 'अथापि कनीयसा ज्यायांसम्' छोटेसे भी बड़ेको उपमा दो जाती है, इस पूर्व खण्डके वाक्यके अनुसार निकृष्ट पदार्थसे उत्तम पदार्थकी उपमामें उदाहरण है।

तस्करके दो विशेषण मन्त्रमें हैं—"तनूत्यज्या" देहत्यागी "वनर्गू" वनचारी। ये दोनों ही विशेषण यह बता रहे हैं कि ग्राम-वासी और अपने प्राणोंको बचानेकी इच्छा रखने वाला चोर असली चोर नहीं है। इसीसे बाँधने और पकड़नेकी उपमाको पुष्ट करनेके लिये मन्त्रमें तस्करके ये दो विशेषण भी दिये हैं॥ २ ॥

(खण्ड ३)

[निरु०-] "कुहस्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः । को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ ॥" [ऋ० सं० ७, ८, १, ८२]

क्वस्विद् रात्रौ भवथः, क्व दिवा, क्वाभिप्राप्तिं कुरुथः, क्व वसथः, को वां शयने विधवेव देवरम् ।

[एकपदनि०-] (देवरः कस्माद् ? द्वितीयो वर उच्यते) 'विधवा' विधातृका भवति । विधवनाद् वा । विधावनाद् वा इति चर्मशिराः । अपि वा

'धव' इति मनुष्य नाम। तद् वियोगाद् विधवा। 'देवरो' दीव्यतिकर्मा। 'मर्यो' मनुष्यः। मरणधर्मा 'योषा' यौतेः। [४ र्थ पादः] आकुरुते सहस्थने ॥

अथ निपाताः पुरस्तादेव व्याख्याताः। 'यथा' इति कर्मोपमा।

"यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति" ॥ [ऋ० सं० ४, ४, २, ४]

"भ्राजन्तो अग्नयो यथा" ॥ [ऋ० सं० १, ४, ७, ३]

"आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा"। [ऋ० सं० ८, ५, १०, १,]

[एक पद निरु-] 'आत्मा' अततेर्वा। आप्तेर्वा। अपि वा आप्त इव स्याद्, यावद् व्याप्तिभूत इति।

"अग्नि र्न ये भ्राजसा रुक्मवक्षसः" [ऋ० सं० ८, ३, १२, २]

अग्निरिव ये (मारुतो भ्राजमाना रोचिष् पूरस्काः) भ्राजस्वन्तो रुक्मवक्षसः ॥ ३ ॥

अर्थ।

"कुहस्विद्दोषा" मन्त्रका कक्षीवान्की पुत्री घोषा ऋषि अश्विन् देवता। जगती छन्दः। प्रातरनुवाक और आश्विनमें शस्त्र है।"

मन्त्रार्थ—हे अश्विनो! तुम दोनों रात्रिमें कहाँ रहते हो? तुम दोनों दिनमें कहाँ रहते हो? कहाँ तुम दोनों स्नान भोजन आदिके अर्थ अपनी उपस्थिति करते हो? कहाँ वसते हो? विधवा शयनमें देवरको जैसे (या) (कोई) स्त्री (किसी) पुरुषको जैसे, कौन तुम्हें अपने पासमे करता है? [जिससे कि-तुम न रात्रि और न दिन होमें हमारे देखनेमें आते।] दुःख! [इस ऋचामें नीच देवरसे उत्कृष्ट (बड़े) अश्विनोंकी उपमा है।]

नि० अ०—कहाँ रात्रिमें होते हो? कहाँ दिनमें? कहाँ आना जाना करते हो? कहाँ वसते हो? कौन तुम दोनोंको शयनमें विधवा देवरको जैसे॥

[एक पद नि०-] [देवर क्यों? द्वितोय (दूसरा) वर कहाता है] 'विधवा' क्यों? विधातृका है या उसका धाता (वर) मर गया। अथवा भर्त्ताके मर जानेसे वह कम्पित जैसी हो जाती है। अथवा 'पतिके अभावसे उसे कोई रुकावट नहीं रहती और वह जहाँ तहाँ धावन करती है, इसीसे विधवा है।"—यह चर्मशिराः (चमड़ेका टोप पहनने वाले) आचार्य मानते हैं। अथवा 'धव' यह मनुष्यका नाम है, उसके वियोगसे यह विधवा है। 'देवर' क्यों? क्रीड़ा करता है। 'मर्य्य' नाम मनुष्य। (क्योंकि-) वह मरण धर्मवाला है। 'योषा' 'यु' मिश्रणे (अदा० प०) धातुसे है। [क्योंकि-) वह अपनेको पुरुषके साथ मिला लेती है।] [४र्थ पाद-] समान स्थानमें बुला लेता है, या करता है।

यहाँसे निपात हैं, सो [सामन्यरूपसे-] पहले ही व्याख्यान किये जा चुके हैं। [अब विशेषरूपसे कहे जाते हैं-] 'यथा' यह कर्म या क्रियाकी उपमामें है। जैसे—

"जिस प्रकार वायु कम्पित होता है, जिस प्रकार वन, तथा जिस प्रकार समुद्र कम्पित होता है। [वैसे ही हे दश मासमें

होने वाले गर्भ ! तू अपनी इस माताको दुःख न देता हुआ जरायु (जेर) के साथ बाहर निकल ।]"

[यहाँ 'यथा' पदसे वायु, वन और समुद्रकी कम्पन क्रियासे गर्भकी क्रियाको उपमा दी गई है ।] अन्य उदाहरण--

"भ्राजन्तो अग्नयो यथा" अर्थात् ' [भगवान् सूर्यके किरण] अग्नियोंके समान प्रदीप्त होते हुए [अन्धकारको दूर करने या अन्य उपकारोंके करने या ओषधियोंके पाक आदि करनेके लिये मनुष्योंके प्रति जाते हैं ।]"

[यहाँ 'यथा' पदसे अग्निकी प्रदीपन क्रियाका सादृश्य किरणों के प्रदीपनमें बताया गया है ।] अन्य उदाहरण--

"आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा ।" अर्थात् [मैं आथर्वण भिषक् (वैद्य) जिस समय इन ओषधियोंको प्रशंसा करता हुआ हाथमें धारण करता हूं, और हस्तमें लेकर रोगीके पास पहुंचता ही हूं कि उसी समय ओषधियोंके प्रयोगसे] पहले ही यक्ष्म रोगका आत्मा नष्ट हो जाता है जिस प्रकार 'जीवगृभ्' (जीवका लेने हारा) या यमदूतके प्रहारसे पहले ही अहत या बिना मारे प्राणीहीका जीव नष्ट हो जाता है ।

[एक पद नि०] 'आत्मा' क्यों ? 'अत, सातत्यगमने (भ्वा० प०) धातुसे है । [अर्थात् सब स्थानोंमें गया हुआ रहता है ।] अथवा व्याप्ति अर्थमें 'आप्' (स्वा० प०) धातुसे है । क्योंकि-सभी वस्तु मात्र उससे व्याप्त रहता है, जिससे कि वह सर्वगत है । अथवा वह कार्य और कारणमें स्थित हुआ संघात (देह) में आप्त (पाया हुआ) जैसा होता है, जितनेसे कि-वह व्यापन किया हुआ है । या सर्वव्यापक होने पर भी जितने शरीरसे व्यापन किया हुआ होता है उतना ही प्रतीत होता है । क्योंकि

उतने ही प्रदेशमें उसको चैतन्यशक्ति प्रकट होती है। जिस प्रकार तप्त लोहे पर तृणको मुट्ठी छोड़ने पर 'तृण संयोग स्थलमें ही अग्नि प्रकट होता है और अन्य तप्त लोह भागमें अग्नि रहता हुआ भी प्रत्यक्ष नहीं होता। [नैरुक्तोंके मतमें भी आत्मा विभु है।] "अग्निर्न ये भ्राजसा रुक्मवक्षसः" अर्थात् "अग्निके समान आ मरुद् देव भ्राजमान (प्रकाशमान) सुवर्णयुक्त छातीवाले या चमकीली छाती वाले हैं।" ॥ ३ ॥

व्याख्या ।

"कुहस्विद् दोषा" मन्त्र जो उपमाके उदाहरणमें दिया गया है, कक्षीवानकी पुत्री घोषा और अश्विनीकुमारोंके संवादसे हिन्दुओंके घरकी पतिव्रता स्त्री और व्यभिचारकी शङ्कासे युक्त पतिके संयोगमें स्त्रीका उस पतिके प्रति कैसा भाव हो जाता है तथा हिन्दू पुरुषोंमें वह कैसा घृणास्पद अथवा त्याज्य हो जाता है इसका एक उत्तम चित्र दिखाता है। हिन्दू स्त्री और पुरुषका सहनिवास ही नियत है, पुरुषको चाहिये कि वह दिनमें बाह्य-कृत्योंको करके रात्रिके समय अपने घरमें आवे। जब वह ऐसा नहीं करता है तो स्त्रीको उस पर परस्त्री संयोगकी शङ्का हो जाती है। इसी नियमके अनुसार घोषाको अश्विनों पर शङ्का हुई है, उसने अश्विनोंसे कहा है कि जिस प्रकार विधवागामी देवर या कोई पुरुष परस्त्रीगामी किसी सज्जनके पास नहीं बैठ सकता उसी प्रकार तुम भी हो। जैसा कि कहा है कि—"कः वां सधस्थे आकृणुते" कौन पुरुष तुम्हें पास बुला सकता है या बुलाता है" अर्थात् कोई नहीं, प्रयोजन यह कि—तुम असदाचारके कारण किसी पुरुषके पास बैठने योग्य नहीं हो। जैसे कि—ओर और व्यभिचारी।

"कः" पुल्लिंग निर्देषका प्रयोजन यह है कि दूसरी स्त्रियोंने तो उसे अपने पास बैठा कर व्यभिचारी बनाया ही है, तब पुरुष ही उसका त्याग कर सकते हैं।

भाष्यकारने भी "कनीयसा ज्यायांसम्" के उदाहरणमें इस मन्त्रको देकर यही प्रयोजन लिया है कि व्यभिचारी या विधवा-गामी देवर त्याज्य है।

"यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति। एवा त्त्वं दशमास्य सहावेहि जरायुणा।"

इस मन्त्रका सप्तवध्रि आत्रेय ऋषि। अनुष्टुप् छन्दः। गर्भका अनुमन्त्रण कर्म। जिस समय गर्भवती स्त्रीको दशवें मासमे प्रसव शूल हो इस मन्त्रसे पिता गर्भको अभिमन्त्रित करता है, जिससे सुखपूर्वक प्रसव हो जाता है।

"यदि मा वाजयन्नहमोषधी र्हस्त आदधे। आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा।"

ओषधिसूक्तमें ऋचा है। आथर्वण भिषक् ऋषि। अनुष्टुप् छन्दः। इस मन्त्रसे दीक्षा किया हुआ यजमान आदि अग्निसे उपतप्त (जला हुआ या दाभा हुआ) इक्कीस बार कुशजलसे मार्जन किया जाता है। मन्त्रसामर्थ्यसे रोगीका मार्जन विशेष करके यक्ष्म रोगीका मार्जन करनेसे उसका हित होता है।

"अग्निर्नये" मन्त्र उपमार्थक "न" निपातका उदाहरण है। इस मन्त्रमें उपमार्थके लिये 'न' निपात चार बार आया है।— 'अग्निर्न' अग्निके समान (१) 'वातासो न' वायुओंके समान (२) 'प्रज्ञातारः सुनीतयोन' बड़े समझदारों व शुभ नीतिवालोंके समान (३) 'सुशर्माणोन' सुखकारी बन्धुओंके समान (४) मरुद् देवता हैं। पहले भाष्यकारने निरुक्तके प्रथमाध्यायके द्वितीय पादमें

निपातोंकी व्याख्या की है और वहां पर "न" निपातका उपमा अर्थमें "दुर्मदासो न सुरायाम्" मदिराके पानसे दुष्ट मदवालोंके समान, यह उदाहरण भी दिया है, इससे यहाँ पर उसी निपातका उक्त उदाहरण फिर देना न चाहिये था ? इस पर भगवद्दुर्गने दो मत दिखाये हैं:—

(क) कोई आचार्य इस खण्डमे "अग्निर्नये" इस उदाहरणको नहीं पढ़ते।

(ख) कोई आचार्य मानते है कि-पहले भाष्यकारने निपातोंकी व्याख्या भूमिकाके अवसरमें की है, और इस समय निघण्टुशास्त्रके क्रमानुसार की है इसलिये यह उदाहरण यहाँ पर उचित है॥ ३॥

(खण्ड ४)

[निरु०-] "चतुरश्चिद् ददमानात् विभीयादानिधातोः।
न दुरुक्ताय स्पृहयेत्।" [ऋ० सं० १, ३, २३, ४]

चतुरोऽक्षान् धारयत इति तद् यथा कितवाद् बिभीयात्, एव मेव दुरुक्ताद् बिभीयात्, न दुरुक्ताय स्पृहयेत् कदाचित्। 'आ' इत्याकार उपसर्गः। पुरस्तादेव व्याख्यातः। अथापि उपमार्थे दृश्यते।—

"जार आभगम्" [ऋ० सं० ७, ६, १०, १]

जार इव भगम्। आदित्योऽत्र जार उच्यते। रात्रेर्जरयिता स एव भासाम्। तथापि निगमो भवति।—

"स्वसु र्जारः शृणोतु नः" [ऋ० सं० ४, ८, २१, ५]

इति उषसम् अस्य स्वसार माह। माहचार्याद् रस रणाद् वा। अपि तु अयं मनुष्यजार एव अभिप्रेतः स्यात्, स्त्री भगम् यथा स्यात्। भजतेः।

'मेष' इति भूतोपमा।

"मेषो-भूतो३ भियन्नयः" [ऋ० सं० ५, ७, २४, ५]

मेषो मिषते। तथा पशुः पश्यतेः।

'अग्निर्' इति रूपोपमा।

"हिरण्यरूपः स हिरण्य स ऩृगपान्नपात्सेदु हिरण्यवर्णः।" [ऋ० सं २, ७, २३, ५]

हिरण्यवर्णस्येवास्य रूपम्। 'था' इति च।—

"तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथे मथा।" [ऋ० सं० ४, २, २३, १]

प्रत्न इव। पूर्व इव। विश्व इव इम इव इति। 'अयस्' एततरः आमुष्मात्। 'असौ' अस्ततरः अस्मात्। 'अमुथा' 'यथा' असोइति व्याख्यातम्। 'वत्' इति सिद्धोपमा। ब्राह्मणवत्। वृषलवत्। ब्राह्मण इव। वृषला इव-इति। वृषलो वृषशीलो भवति, वृषाशीलो वा॥ ४॥ (१३)

अर्थ।

"चतुरश्चित्" मन्त्रका घोरपुत्र ऋषि। मित्र, वरुण और अर्यमा देवता। गायत्री छन्दः।"

'चित्' निपातका उदाहरण—

मन्त्रार्थ—जिस प्रकार चार अक्षों (पासों) को धारण किये हुए जुवारियेसे उसके पासोंका फेंकनेसे पहले, दूसरा कितव (जुवारिया) जो उसके साथ जुआ कर रहा है, डरता है, [क्या मेरी इच्छानुसार पासे गिरेंगे या विपरीत, जिससे कि मुझ यह जीत लेगा ?] उसी प्रकार दुरुक (गाली) से डरना चाहिये, तथा दुरुक्तकी कभी भी इच्छा न करे ।

नि० अ०—चार अक्षोंको धारण करनेवाले कितवसे जिस प्रकार डरे, ऐसे ही दुरुक्त (दुर्वचन) से डरे, किन्तु कदाचित् दुरुक्त (गाली) खानेकी इच्छा न करे । 'आ' यह आकार उप-सर्ग (रूपसे) पहले ही (अ० १ पा० १ खं० ५ में) व्याख्यान किया जा चुका है । अब उपमा अर्थमें (निपातके रूपसे) देखा जाता है । [जैसे-]

"जार आ भगम्" [ऋ० सं० ७,६,१०,१]

'जार भग (रस) को जैसे ।' यहाँ 'जार' आदित्य (सूर्य) कहा गया है । [क्योंकि] वह रात्रिका जरण (नाश) करने वाला है । वही भासों (ज्योतियों) का । वैसा भी निगम (जनानेवाला) मन्त्र है । 'स्वसुर्जारः शृणोतु नः" [ऋ० सं० ४, ८, २१, ५]

स्वसा (भगिनी) का जार हमारी सुनाई करे । उषाको ही इसकी बहिन कहता है [किस कारण] साथ रहनेसे या रस (जलके) हरनेसे । इसके अतिरिक्त [मन्त्र] में] यह मनुष्य जार ही माना जा सकता है । [ऐसा होनेसे भग शब्दसे] स्त्री भग (योनि) हो सकता है । 'भज' (भ्वा० उ०) धातुसे । 'मेषो भूतः' मेष (मोढे) के समान' यह 'भूत' शब्दसे उपमा अर्थ है । [जैसे] "मेषो भूतो ३ भियन्नयः" [ऋ० सं० ५, ७, २७, ५]

हे इन्द्र! जो तू मेंढेके समान मेधातिथिके यज्ञमें आया, 'मेष' 'मिष' (तु० प०) धातुसे है। वैसे ही 'पशु' पश्यति या 'दृश' (भ्वा० पा०) धातुसे है।

अग्निको रूप शब्दसे उपमा। जैसे—

"हिरण्य रूपः०" इत्यादि

'हिरण्य (सुवर्ण) के रूपके समान रूप वाला, वह हिरण्य जैसा दिखाई देनेवाला हिरण्य जैसा अपांनपात् जलोंका पोता, वैद्युत, अग्नि।' हिरण्य (सुवर्ण) वर्णका जैसा इसका रूप है। और 'था' यह उपमार्थक है। [जैसे—

"तं प्रत्नथा० [ऋ० सं० ४, २, २३, १]

'हे सोम! तू 'तम्' उस इन्द्रको अपने वीर्यसे तृप्त करके (प्रत्नथा) चिरन्तन भृगु आदि महर्षियोंके समान (पूर्वथा) ऋषि पुत्रोंके समान (विश्वथा) सब प्राणियोंके समान (इमथा) इस समयके यजमानोंके समान [हमारे कामोंको दोहन करता है।]

[प्रसङ्गसे] 'अयम्' (इदम्) जो बहुत ही समीप हो, दूरस्थकी अपेक्षा। "असौ" (अदस्) जो निकटसे दूर गिरा हुआ जैसा हो। 'अमुथा' की व्याख्या "असौ" के समान है।

'वत्' यह लोकमें प्रसिद्ध उपमावाचक है। [कैसे] 'ब्राह्मणवत्' ब्राह्मणोंके समान। 'वृषलवत्' वृषलों (शूद्रों) के समान। 'वृषल' क्यों? वह 'वृष (बैल) कासा शीलवाला होता है। अथवा वृष (धर्म)में अशील (अधर्म स्वभाव) वृषल होता है ॥४॥(१६)

व्याख्या।

अपांनपात्। रूपोपमाके उदाहरण "हिरण्यरूपः...अपांनपात्" मन्त्रमें 'अपांनपात्' देवताकी स्तुति है। अप् नाम जलका और 'नपात्' या नप्ता, पोते (नाती) का नाम है, दोनोंके मेलसे

'अपांनपात्' नाम बना है, जिसका अर्थ है,-जलका पोता। इसको मन्त्रोंसे प्रमाणित प्रक्रिया इस प्रकार है, कि-जलका बेटा सूर्य है क्योंकि वह समुद्रसे निकलता है। "समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारत्" [ऋ० सं० ३, ८, १०, १] 'सूर्य समुद्रसे निकला।' और सूर्यका बेटा मध्यम लोकका वैद्युत अग्नि है। "आदूतो अग्निमभरद् विवस्वतः" अर्थात् देवताओंका दूत वायु विवस्वान् (सूर्य) से अग्नि लाया। इस परम्पराके साथ जलका नाती वैद्युत अग्नि हुआ, तथा इसी कारण 'अपांनपात्' कहलाता है।

भूतोपमा। उपमार्थक 'भूत' शब्दसे उपमा।

रूपमोपमा। उपमार्थक 'रूप' शब्दसे उपमा।

सिद्धोपमा। लौकिक प्रयोगोंमें 'ब्राह्मणवत्' आदि ॥ ४ ॥(१६)

(खण्ड ५)

[निरु०-] "प्रियमेधवदत्रिवज्जातवेदो विरूपवत्।

अङ्गिरस्वन्महिव्रत प्रस्कण्वस्य श्रुधी हवम्"।

[ऋ० सं० १. ३, ३१, ३]

'प्रियमेधः' प्रिया अस्य मेधा। यथा एतेषाम् ऋषीणाम्, एवं प्रस्कण्वस्य शृणु ह्वानम्। 'प्रस्कण्वः' कण्वस्य पुत्रः। कण्वप्रभवो यथा प्राग्रम्। अर्चिषि भृगुः सम्बभूव। भृगुर्भृज्यमानः, न देहे। अङ्गारेषु अङ्गिराः। 'अङ्गाराः' अङ्कनाः (अञ्चनाः)। अत्रैव 'तृतीयम् ऋच्छत' इत्यूचुस्तस्मात्-'अत्रिः'। न त्रयः इति। विखननाद्—'वैखानसः'। भरणाद्—

'भरद्वाजः'। 'विरूपो' नानारूपः। 'महिव्रतो' महाव्रतः-इति ॥ ५ ॥ (१७)

इति तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३, ३ ॥

अर्थ।

"प्रियमेधवत्" मन्त्रका प्रस्कण्व ऋषि। अग्निदेवता। अनुष्टुप् छन्दः। प्रातरनुवाक और आश्विनमें शस्त्र।

'वत्' का मन्त्र उदाहरण—

हे जातवेदस्! सर्वज्ञ महिव्रत! बड़े व्रतवाले! या कर्म वाले! अग्नि! प्रियमेधके समान, अत्रिके समान, विरूपके समान, और अङ्गिराके समान मुझ प्रस्कण्वका 'भो' आह्वान सुन। [यह आशीः या प्रार्थना है।]

नि० अ०—'प्रियमेध' क्यों? इसकी प्रियमेधा (बुद्धि) है। जिस प्रकार इन ऋषियोंका, इसी प्रकार प्रस्कण्वका बुलावा सुन।

[एक पद निरुक्त-] 'प्रस्कण्व' क्या? कण्वका पुत्र। अथवा कण्व-प्रभव (कण्वसे उत्पन्न हुआ) जैसे प्रगत अग्रका प्राग्र। अर्चिष् या ज्वालाओंमें भृगु उत्पन्न हुआ। 'भृगु' क्यों? भृज्यमान भुँजता हुआ [होनेसे,] देहमें नहीं। [प्रयोजन—भृगु देहसे उत्पन्न नहीं हुए, ये दिव्य सृष्टि हैं।] अङ्गारोंमें (अङ्गिरस्) ऋषि हुए। 'अङ्गार' क्यों? अङ्कन हैं. [क्योंकि जहाँ गिरते हैं वहाँ अङ्क (चिन्ह) कर देते हैं।]'इसीमें तृतीय (तीसरे)को पाओ' यह बोले-इसीसे 'अत्रि' है।] अत्र एव...ऋच्छत इस वाक्यके अक्षरोंसे चुनकर 'अत्रि' शब्द बना।] अथवा 'न त्रि' 'तीन नहीं' इन दो शब्दोंसे।'अत्रि' शब्द बना है। विशेष खनन (खोदने) से 'वैखानस' है। भरण (पालन) से 'भरद्वाज' है। नानारूप होनेसे 'विरूप' है। महाव्रत या बड़े कर्मवाला होनेसे 'महिव्रत' है। इति ॥ ५ ॥ (१७)

इति तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३, ३ ॥

व्याख्या ।

भृगु, अङ्गिरा, अत्रि और वैखानस ऋषियोंकी उत्पत्ति जो निरुक्त शास्त्रके आचार्योंको अभिमत है।—

ऐसा इतिहास है, कि सृष्टिके आरम्भकालमें प्रजापतिने अपना वीर्य लेकर अग्निमें होम कर दिया, उससे ज्वाला (झल) में 'भृगु' नाम महर्षि उत्पन्न हुआ। फिर ज्वालाके हट जानेसे अङ्गारोंमें उसी वीर्यके एक अंशसे 'अङ्गिरस्' नाम महर्षि हुआ। फिर पहिले उत्पन्न हुए महर्षि बोले कि-इसी स्थानमें तृतीय (तीसरे) को पाओगे, इस वचनके अनन्तर पाये हुए ऋषिका पूर्व ऋषियोंके वाक्यके अक्षरोंसे ही 'अत्रि' नाम हुआ। अथवा 'अत्रि' नाममें जो 'अ'-कार है, यह निषेध अर्थको देता है, कि 'तीन ही नहीं' किन्तु खोदो इसी स्थानमें चौथा और है, इस अर्थके अनुसार तीसरे महर्षिका नाम 'अत्रि' है। और अग्नि हटाकर उसी स्थानको खोदनेसे जो महर्षि निकला उसका नाम वैखानस है। इस प्रकार "प्रियमेधवत्" मन्त्रोक्त तथा अन्य कुल चार ऋषियोंकी उत्पत्ति और नामका इतिहास है।

यद्यपि उदाहरण मन्त्रमें 'भृगु' और 'वैखानस' नहीं हैं अतः उनका निर्वचन यास्कको नहीं करना चाहिये था, किन्तु मन्त्रोक्त 'अत्रि' 'अङ्गिरस्' नामोंका इतिहास इनके साथ है, इसीसे मन्त्रके पाठके क्रमको छोड़कर भृगु और अङ्गिरस् आदि क्रमसे निर्वचन किया। क्योंकि इस आनुपूर्वीके बिना इनका निर्वचन नहीं हो सकता था, तथा अन्यत्र भी प्रयोजनके अनुसार ऐसे निर्वचनका अनुसन्धान रखना चाहिये। यह दिखानेके अर्थ ऐसा किया॥५॥

तृतीय पादको उपमाका चित्र ।

उपमा वाचक पद	उदाहरण	अर्थ	अ०	पा०	खं०
(१) इव ।	"तनूत्यजेव"...	(ऋक्) देहत्यागी जैसे	३	३	२
,,	"विधवेव"...	(ऋक्) विधवा जैसे	३	३	३
(२) न ।	"मर्यं न"...	(ऋक्) मनुष्यको जैसे ।	३	३	३
,,	"अग्नि र्न"...	(ऋक्) अग्निके समान ।	३	३	३
(३) यथा ।	"यथावातः"...	(ऋक्) पवन जैसे ।	३	३	३
,,	"अग्नयो यथा"...	(ऋक्) अग्निओं जैसे ।	३	३	३
,,	"जीवगृभो यथा"...	(ऋक्) जीवको लेनेवालेके जैसे ।	३	३	३
(४) चित् ।	"चतुरश्चिद्ददमानात"	(ऋक्) चार अश्वोंके लेनेवालेसे जैसे ।	३	३	४
(५) आ ।	"आ भगम्"...	(ऋक्) भग (रस या योनि) जैसे ।	३	३	४
(६) भूतः ।	"मेषो भूतः"...	(ऋक्) मेढा जैसा ।	३	३	४
(७) रूपम् ।	"हिरण्यरूपः"...	(ऋक्) सुवर्ण जैसा ।	३	३	४
(८) था ।	"प्रत्नथा"...	(ऋक्) चिरन्तनोंको जैसे ।	३	३	४
(९) वत् ।	"ब्राह्मणवत्"...	(ऋक्) ब्राह्मण जैसे ।	३	३	४
,,	"प्रियमेधवत्"...	(ऋक्) प्रियमेधके जैसे ।	३	३	५

इति तृतीयः पादः ॥ ३ ॥ ३ ॥

तृतीयोऽध्याये—

४र्थः पादः ।

(खण्ड १)

अथ लुप्तोपमानि अर्थोपमानि इति आचक्षते । सिंहो व्याघ्र इति पूजायाम् । श्वा काक इति कुत्सायाम् । काक इति शब्दानुकृतिः । तदिदं शकुनिषु बहुलम् । "न शब्दानुकृति विद्यते" इति औपमन्यवः । काकः अपकालयितव्यो भवति । तित्तिरिः तरणात् । तिलमात्रचित्र इति वा । कपिञ्जलः कपिरिव जीर्णः । कपिरिव जवते । ईषत्पिङ्गलो वा । कमनीयं शब्दं पिञ्जयति इति वा । 'श्वा' आशुयायी । शवते र्वा स्याद् गतिकर्मणः । श्वसिते र्वा । 'सिंहः' सहनात् । हिंसे र्वा स्याद् विपरीतस्य । सम्पूर्वस्य वा हन्तेः । संहाय हन्ति इति वा । 'व्याघ्रः' व्याघ्राणात् । व्यादाय हन्ति इति वा ॥ १ ॥

अर्थ ।

यहांसे 'लुप्तोपम' जिनमें उपमावाचक लुप्त हो जाते हैं ऐसे पदोंको व्याख्या करेंगे । इनको आचार्य अर्थोपम कहते हैं । पूजा प्रशंसामें 'सिंह' 'व्याघ्र' [शब्द बोले जाते हैं ।] कुत्सा (निन्दा)

में 'श्वा' (कुत्ता) 'काक' (कौआ) शब्द । 'काक' यह शब्दके अनुकरण पर नाम है। सो यह पक्षियोंमें प्रायकरके होता है। "शब्दका अनुकरण नहीं है" यह औपमन्यव (उपमन्युका पुत्र) मानता है। 'काक' (क्यों ?) अपकालयितव्य (हटाने योग्य) होता है। 'तित्तिरि' (क्यों ?) तरनेसे। अथवा वह तिलके बराबर चित्र वर्ण वाला होता है। 'कपिञ्जल' (क्यों ?) कपि (वानर)के समान रङ्गमें होता है। अथवा वानरके समान भागता है। अथवा कम (थोड़ा) पीलासा होता है। अथवा कमनीय (मनोहर) शब्दको पिञ्जता (बोलता) है। 'श्वा' (क्यों ?) आशु (शीघ्र) चलता है। अथवा गति अर्थमें 'श्वि' (भ्वा० प०) धातुसे है। अथवा श्वास अर्थमें 'श्वस' (अदा० प०) धातुसे है। 'सिंह' (क्यों ?) सहन करनेसे। अथवा हिंसा अर्थमें 'हिंस' (रु० प०) धातुके उलटे रूपसे है। अथवा 'सम्' (उप०) सहित 'हन्' (अ० प०) धातुसे है। 'व्याघ्र' (क्यों ?) विशेष सूंघनेवाला होनेसे। अथवा मुख फैलाकर मारता है ॥ १ ॥

(खण्ड २)

[निघ०] अर्चति (१)। गायति (२)। रेभति (३)। स्तोभति (४)। गूर्द्धयति (५)। गृणाति (६)। जरते (७)। ह्वयते (८)। नदति (९)। पृच्छति (१०)। रिहति (११)। धमति (१२)। कृपायति (१३)। कृपण्यति (१४)। पनस्यति (१५)। पनायते (१६)। वल्गूयति (१७)। मन्दते (१८)। भन्दते (१९)। छन्दति। (२०)। छदयते (२१)। शशमानः (२२)।

रञ्जयति (२३) । रजयति (२४) । शंसति (२५) । स्तौति (२६) । यौति (२७) । रौति (२८) । नौति (२९) । भनति (३०) । पणायति (३१) । पणते (३२) । सपति (३३) । अपृक्षाः (३४) । महयति (३५) । वाजयति (३६) । पूजयति (३७) । मन्यते (३८) । मदति (३९) । रसति (४०) । स्वरति (४१) । वेनति (४२) । मन्द्रयते (४३) । जल्पति (४४) । इति चतुश्चत्वारिंशत् पर्चतिकर्माणः ॥ १४ ॥

[निघ०-] विप्रः (१) । विग्रः (२) । गृत्सः (३) । धीरः (४) । वेनः (५) । वेधाः (६) । कण्वः (७) । ऋभुः (८) । नवेदाः (९) । कविः (१०) । मनीषिः (११) । मन्धाता (१२) । विधाता (१३) । विपः (१४) । मनश्चित् (१५) । विपश्चित् (१६) । विपन्यन्वः (१७) । आकेनिपः (१८) उशिजः (१९) । कीस्तासः (२०) । अद्धातयः (२१) । मतयः (२२) । मतुथाः (२३) । वाघतः (२४) । इति चतुर्विंशतिर्मेधाविना-

[निघ०] रेभः (१) । जरिता (२) । कारुः (३) । नदः (४) । स्तामुः (५) । कीरिः (६) । गौः (७) । सूरिः (८) । नादः (९) । छन्दः (१०) । स्तुप् (११) । रुद्रः (१२) । कृपण्युः (१३) । इति त्रयोदश स्तोतृनामानि ॥ १६ ॥

[निघ०] यज्ञः (१) । वेनः (२) । अध्वरः (३) । मेधः (४) । विदथः (५) । नार्य्यः (६) । सवनं (७) । होत्रा (८) । इष्टिः (९) । देवता (१०) । मखः (११) । विष्णुः (१२) । इन्दुः (१३) । प्रजापतिः (१४) । घर्मः (१५) । इति पञ्चदश यज्ञनामानि ॥ १७ ॥

[निघ०] भारताः (१) । कुरवः (२) । वाघतः (३) । वृक्तबर्हिषः (४) । यतस्रुचः (५) । मरुतः (६) । सबाधः (७) । देवयवः (८) । इति अष्टौ ऋत्विङ् नामानि ॥ १८ ॥

[निघ०] ईमहे (१) । यामि (२) । मन्महे (३) । दद्धि (४) । शग्धि (५) । पूर्द्धि (६) । मिमिड्ढि (७) । मिमीहि (८) । रिरिड्ढि (९) । रिरीहि (१०) । पीपरत् (११) । यन्तारः (१२) । यन्धि

(१३)। इषुध्यति (१४)। मदेमहि (१५)। मनामहे (१६)। मायते (१७)। इति सप्तदश याच्ञाकर्माणः ॥ १९ ॥

[निघ०] दाति (१)। दाशति (२)। दासति (३)। राति (४)। रासति (५)। पृणक्षि (६)। पृणाति (७)। शिक्षति (८)। तुञ्जति (९)। मंहते (१०)। इति दश दानकर्माणः ॥२०॥

[निघ०] परिस्रव (१)। पवस्व (२)। अभ्यर्ष (३)। आशिषः (४)। इति चत्वारोऽध्येषणा कर्माणः ॥ २१ ॥

[निघ०] स्वपिति (१)। सस्ति (२)। इति द्वौ स्वपिति कर्माणौ ॥२२॥

[निघ०] कूपः (१)। कातुः (२)। कर्तः (३)। वव्रः (४)। काटः (५)। खातः (६)। अवतः (७)। क्रिविः (८)। सूदः (९)। उत्सः (१०)। ऋश्यदात् (११)। कारोतरात् (१२)। कुशयः (१३)। कीवटः (१४)! इति चतुर्दश कूपनामानि ॥ २३ ॥

[निघ०] त्रपुः (१)। तक्वा (२)। रिभ्वा (३)। रिपुः (४)। रिक्वा (५)। रिहायाः (६)।

तायुः (७)। तस्करः (८)। वनर्गुः (९)। हुरश्चित् (१०)। मुषीवान् (११)। मलिम्लुचः (१२)। अघशंसः (१३)। वृकः (१४)। इति चतुर्दशैव स्तेननामानि ॥ २४ ॥

[निघ०-] निरायम् (१)। सस्वः (२)। सस्तः (३)। ह्विरुक् (४)। प्रतीच्यम् (५)। अपीच्यम् (६)। इति षट् निर्णीतान्तर्हित-नामानि ॥ २५ ॥

[निघ०-] आके (१)। पराके (२)। पराचैः (३)। आरे (४)। परावतः (५)। इति पञ्च दूरनामानि ॥ २६ ॥

[निघ०-] प्रत्नम् (१)। प्रदिवः (२)। प्रवयाः (३)। सनेमि (४)। पूर्व्यम् (५)। अन्हाय (६)। इति षट् पुराण नामनि ॥ २७ ॥

[निघ०-] नवम् (१)। नूतनम् (२)। नूत-नम् (३)। नव्यम्। (४) इदा (५)। इदानीम् (६)। इति षडेव नवनामानि ॥ २८ ॥

[निरु०-] अर्चतिकर्माणः उत्तरे धातवश्चतु-श्चत्वारिंशत् ॥

मेधाविनामानि उत्तराणि चतुर्विंशतिः । मेधावी कस्मात् ? मेधया तद्वान् भवति । 'मेधा' मतौ धीयते ॥

स्तोतृनामानि उत्तराणि त्रयोदश ।

यज्ञनामानि उत्तराणि पञ्चदश । 'यज्ञः' कस्मात् ? 'प्रख्यातं यजति कर्म'-इति नैरुक्ताः । याच्ञयो भवति-इति वा । यजुरुन्नो भवति-इति वा । 'बहुकृष्णाजिनः'-इति औपमन्यवः । 'यजूंषि एनं नयन्ति'-इति वा ।

ऋत्विङ्नामानि उत्तराणि अष्टौ । 'ऋत्विक्' कस्मात् ? ईरणः । 'ऋग्यष्टा भवति'-इति शाकपूणिः । ऋतुयाजी भवति इति वा ।

याच्ञाकर्माणः उत्तरे धातवः सप्तदश ।

दानकर्माणः उत्तरे धातवो दश ।

अध्येषणाकर्माण उत्तरे धातवश्चत्वारः ।

स्वपिति, सस्ति-इति द्वौ स्वपितिकर्माणौ ।

कूपनामानि उत्तराणि चतुर्दश । 'कूपः' कस्मात् ? कुपानं भवति । कुप्यते वा ।

स्तेननामानि उत्तराणि चतुर्दशैव । 'स्तेनः' कस्मात् ? 'संस्त्यानमस्मिन् पापकम्'-इति नैरुक्ताः ।

निर्णीतान्तर्हित नामधेयानि उत्तराणि षट् । (निर्णीतं कस्मात् ? निर्णिक्तं भवति ।)

दूरनामानि उत्तराणि पञ्च । 'दूरं' कस्मात् ? द्रुतं भवति । दुरयं भवति ।

पुराणनामानि उत्तराणि षट् । 'पुराणं' कस्मात् ? पुरानवं भवति ।

नवनामानि उत्तराणि षडेव । 'नवं' कस्मात् ? आनीतं भवति ॥ २ ॥ (१८)

अर्थ ।

[निरु०] आगे पूजामें चवालीस (४४) धातु हैं ।

आगे मेधावी (धारणावाली बुद्धिवाले) के चौबीस (२४) नाम हैं । 'मेधावी' क्यों है ? मेधासे मेधावान् होता है । 'मेधा' (क्या ?) मति (बुद्धि) में पुरुषकी एक शक्ति प्रकट होती है वह मेधा है ।

आगे स्तोतृ (स्तुति करने वाले)के तेरह नाम (१३) नाम हैं ।

आगे यज्ञके पन्द्रह (१५) नाम हैं । 'यज्ञ' क्यों है ? " 'यज्' (भ्वा० उ०) धातुका अर्थ (यज्ञ) लोकमें प्रसिद्ध है ।" यह निरुक्त शास्त्रके आचार्य मानते हैं । अथवा इसमें याचना होती है इससे (यज्ञ) है । अथवा यजुर्वेद (मन्त्रों) से गीला जसा होता है । [क्योंकि-वेही उसमें बहुत होते हैं ।] "उसमें बहुत काले अजिन (मृगचर्म) होते हैं । इससे 'यज्ञ' है" यह

औपमन्यव आचार्य मानते हैं। अथवा यजुर्मन्त्र इसे अन्त तक पहुँचाते हैं।

आगे 'ऋत्विज्' के आठ (८) नाम हैं। 'ऋत्विक्' क्यों है ? स्तुतियोंको ईरण करता है, (बोलता है) ऋचाओंसे यज्ञ कराता है,-इससे 'ऋत्विज्' है" यह शाकपूणि आचार्य मानते हैं। अथवा ऋतुमें यजन करता है।

आगे याच्ञा (माँगने) अर्थमें सत्तरह (१७) धातु ह।

आगे दान अर्थमें दश (१०) धातु हैं।

आगे आज्ञा अर्थ (प्रेरणा अर्थ) में चार (४) धातु हैं।

'स्वप्' 'सस' ये दो धातु स्वप्न अर्थमें हैं।

आगे कूपके चौदह (१४) नाम हैं। 'कूप' क्यों है ? कुपान (जिसमें कष्टसे पान) होता है। अथवा क्रोध अर्थमें 'कुप्' (दिव० प०) धातुसे है। [क्योंकि-इसके पास जाकर प्यासे जन कोप करते हैं।]

आगे स्तेन (चोर) के चौदह (१४) ही नाम हैं। 'स्तेन' क्यों है ? "इसमें पापकर्म इकट्ठा रहता है" यह नैरुक्त मानते हैं।

आगे निर्णीत (निर्णय किये हुए) और अन्तर्हित (छुपे हुवे) के छः (६) नाम हैं। ['निर्णीत' क्यों है ? धोया हुआ जैसा होता है।]

आगे दूरके पाँच (५) नाम हैं। 'दूर' क्यों है ? द्रुत (गया हुआ) होता है। अथवा दुरय या दुःखसे मिलता है।

आगे पुराण (पुराने) के छः (६) नाम हैं। 'पुराण' क्यों है ? पहले नया होता है।

आगे नव (नये) के छः (६) ही नाम हैं। 'नव' क्यों है ? लाया हुआ होता है ॥ २ ॥ (१६)

(खं० ३)

[निघ०-] प्रपित्वे (१)। अभीके (२)। दभ्रम् (३)। अर्भकम् (४) तिरः (५)। सतः। (६)। त्वः (७)। नेमः (८)। ऋक्षाः (९)। स्तृभिः (१०)। वम्रीभिः (११)। उपजिह्विका (१२) ऊर्दरम् (१३)। कृदरम् (१४)। रम्भः (१५)। पिनाकम् (१६)। मेनाः (१७)। ग्नाः (१८)। शेपः (१९)। वैतसः (२०)। अया (२१)। एना (२२)। सिषक्तु (२३)। सचते (२४)। भ्यसते (२५) रेजते (२६)। इति षड्विंशतिर्द्विश उत्तराणिनामानि २९।

[निघ०-] स्वधे (१)। पुरन्धी (२)। धिषणे (३)। रोदसी (४)। क्षोणी (५)। अम्भसी (६)। नभसी (७)। रजसी (८)। सदसी (९)। सद्मनी (१०)। घृतवती (११)। बहुले (१२)। गभीरे (१३)। गम्भीरे (१४)। ओराणी (१५)। चम्वौ (१६)। पार्श्वौ (१७)। मही (१८)। उर्वी (१९)। पृथ्वी (२०)। अदिती (२१)। अह्नी (२२)। दूरेअन्ते (२३)। अपारे (२४)।

अपारे-इति चतुर्विंशतिर्द्यावापृथिवीनामधेयानि ॥ ३० ॥

उव (१)। ऋहन् (२)। महत् (३)। गयः (४)। इरज्यति (५)। शिम्बाता (६)। निर्णिक् (७)। अस्त्रेमाः (८)। केतुः (९)। बट् (१०)। चिक्यत् (११)। हिकम् (१२)। इदमिव (१३)। अर्चति (१४)। विप्रः (१५)। रेभः (१६)। यकृजः (१७)। भारताः (१८)। ईमहे (१९)। दाति (२०)। परिस्रव (२१) स्वपिति (२२)। कूपेः (२३)। तृपुः (२४)। निरायम् (२५)। आके (२६)। प्रत्नम् (२७)। नवम् (२८)। अपित्वे (२९)। स्वधे (३०) त्रिंशत् (३१) ॥

इति निघण्टौ तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

[निरुक्तम्-] द्विश उत्तराणि नामानि।

प्रपित्वे, अभीके — इति आसन्नस्य [नामनी] [पदार्थः] 'प्रपित्वे' प्राप्ते 'अभीके' अभ्यक्ते।

"आपित्वे नः प्रपित्वे तूय मागहि"

[ऋ० सं० ५, ७, ३, ३]

"अभीके चिदु लोककृत्" [ऋ० सं० ८, ७, २१, १]

इत्यपि निगमो भवतः।

दभ्रम्, अर्भकम् — इति अल्पस्य [नामनी] 'दभ्रं' दभ्नोतेः। सुदम्भं भवति। 'अर्भकम्' अवहृतं भवति।

"उपोप मे परामृश मा मे दभ्राणि मन्यथाः"

[ऋ० सं० २, १, ११, ७]

"नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यः"

[ऋ० सं० १, २, २५, ३]

इत्यपि निगमो भवतः।

तिरः, सतः — इति प्राप्तस्य — 'तिरः' तीर्णं भवति। 'सतः' संसृतं भवति।

"तिरश्चिदर्यया परिवर्त्ति यात मदाभ्या"

[ऋ० सं० ४, ४, १६, २]

"पात्रेव भिन्दन् सत एति रक्षसः ।"

[ऋ० सं० ५, ७, ६, १]

इत्यपि निगमौ भवतः ।

त्वः } इति अर्द्धस्य { 'त्वः' अपततः ।
नेमः } { 'नेमः' अपनीतः ।

'अर्द्धं हरते विंपरीतात् । हारयते र्वा स्यात् । उद्धृतं भवति । ऋध्नोते र्वा स्यात् । ऋद्धतमो विभागः ।

"पीयति त्वो अनु त्वो गृणाति"

[ऋ० सं० २, २, १६, २]

"नेमे देवा नेमेऽसुराः" [ब्राह्मणम्]

वाजपेये मैत्रायणीयानाम् ।

इत्यपि निगमौ भवतः ।

ऋक्षाः } इति नक्षत्राणाम् । { 'नक्षत्राणि' नक्षते र्गतिकर्मणः ।
स्तृभिः } { "नेमानि क्षत्राणि" इति च ब्राह्मणम् ।

'ऋक्षाः' उदीर्णानीव ख्यायन्ते ।

'स्तृभिः' स्तीर्णानीव ख्यायन्ते ।

"अमी य ऋक्षा निहिता स उच्चा ।"

[ऋ० सं० १, २, १४, ५]

"पश्यन्तो द्यामिव स्तृभिः ।

[ऋ० सं० ३, ४, ६, ३]

[खं० ४]

रम्भः
पिनाकम्
इति दण्डस्य

'रम्भः' आरम्भन्ते एनम् ।

"आ त्वा रम्भं न जिव्रयो ररम्भ"

[ऋ० सं० , ३, ४५, ५]

इत्यपि निगमो भवति ।

आरभामहे त्वा जीर्णा इव दण्डम् [निगमार्थः]

'पिनाकम्' प्रतिपिनष्टि एनेन ।

"कृत्तिवासा पिनाकहस्तोऽवततधन्वा" इत्यपि निगमो भवति । [य० वा० सं० ३, ६१]

मेनाः
ग्नाः
इति स्त्रीणाम् ।

'स्त्रियः' स्त्यायतेः अपत्रपणकर्मणः । 'मेनाः' मानयन्ति एनाः । 'ग्नाः' गच्छन्ति एनाः ।

"अमेनांश्चिज्जनिवतश्चकर्थ ।"

[ऋ० सं० ५, १, २९, २,]

"ग्नास्त्वा कृन्तन्नपसोऽतन्वत ।"

[सा० कौ० शा० १, १, ८]

इत्यपि निगमौ भवतः ।

शेपः
वैतसः
इति पुंस्प्रजननस्य ।

'शेपः' शपतेः स्पृशति कर्मणः । 'वैतसः' वितस्तं भवति ।

"यस्या सुशन्तः प्रहराम शेपम् ।"

ऋ० सं० १, ३, २७, २]

"चिः स्म मा न्हः श्नथयो वैतसेन"

ऋ० सं० ८, ५, १, ५]

इत्यपि निगमौ भवतः ।

अया } इति उपदेशस्य ।
एना }

"अया ते अग्ने समिधा विधेम"- ति स्त्रियाः ।

ऋ० ३, ४, २५, ५]

"एना वो अग्निम्"-इति नपुंसकस्य ।

[ऋ० सं० ५, २ २१, १]

"एना पत्या तन्वं १ [illegible]"-इति पुंसः ।

[ऋ० सं० ८, ३, २५, २]

सिषक्तु } इति सेवमानस्य ।
सचते }

"स नः सिषक्तु यस्तुरः ।" [ऋ. स. १, १, ३४, २]

"सचस्वा नः स्वस्तये" [ऋ० सं० १, १, २, ४]

'स नः सेवतां यस्तुरः ।'
'सेवस्व नः स्वस्तये ।'
{ इति क्रमेण निगमयोरर्थौ }

'स्वस्ति' इति अविनाशिनाम । अस्तिः-अभि पूजितः सु अस्तीति ।

भ्यसते }
रेजते } इति भयवेपनयोः ।

"यस्य शुष्माद् रोदसी अभ्यसेताम् ।"

[ऋ० सं० २-६-७-१]

"रेजते अग्ने पृथिवी मखेभ्यः ।"

[ऋ० सं० ५-१-२-४]

- इत्यपि निगमौ भवतः ।

द्यावापृथिवी नामधेयानि उत्तराणि चतुर्विंशतिः तयोरेषा भवति ॥ ४ ॥ (२१)

अर्थ ।

आगे एक एक वस्तुके दो दो नाम नाम हैं, [जैसे-

प्रपित्वे }
अभीके } ये आसन्न या समीपमें रहनेवालेके दो नाम हैं।

'प्रपित्वा' नाम प्राप्त और 'अभीक' नाम अभ्यक्त या पासमें लगे हुए का है।

(१) "हे इन्द्र ! पान कालके प्राप्त होते ही तुम हमारे यहाँ शीघ्र आओ"।

(२) संग्राम कालके प्राप्त होनेपर इन्द्र उपस्थित होता है। } ये भी निगम हैं"

दभ्र }
अर्भक } ये अल्प (थोड़े) के नाम हैं।

'दभ्र' वधार्थक 'दम्भ' (स्वा॰ प॰) धातुसे है। क्योंकि वह सहजमें काटा जा सकता है। 'अर्भक' क्यों ? कम हुआ हुआ होता है। अर्थात् ह्रस्व या छोटा।

"उपोपमे……' सर्वाह मस्मि रोमशा गन्धारीणामिवाविका"

अर्थात्-रोमशा नाम बृहस्पतिकी पुत्री परिहास करते हुवे अपने पतिके प्रति कहती है कि-हे पति ! 'उप' पास आकर 'उप' आलिङ्गन करके मेरे (अङ्ग) को तुम छूओ। 'मे' मेरे अङ्गोंको 'दभ्राणि'-अल्प 'मा' मत 'मन्यथाः' मानो। (क्योंकि 'अहम्' मैं 'सर्वा' सारी या सब अङ्गोंमें 'रोमशा' रोमयुक्त 'अस्मि' हूं। 'इव' जिस प्रकार 'गन्धारीणाम्' गन्धार देशकी भेड़ोंमें 'रोमशा' अच्छे रोमों वाली 'अविका' कोई भेड़ होती।

"नमो महद्भ्यः"……… ।

अर्थात्, 'बड़ोंको नमस्कार, छोटोंको नमस्कार। ये दो इन ('दभ्र' 'अर्भक') दो शब्दोंके निगम हैं।

तिरः } ये दो प्राप्तके नाम हैं।
सतः }

'तिरः' तीर्ण (तर गया हुआ) होता है।

'सतः' संसृत (फैला हुआ) होता है।

"तिरश्चिदर्यया"……… ।

'हे अश्विनो ! तुम स्थान प्राप्त होने पर भी उसे छोड़ कर, किसी कार्यमें रहते हुए भी उसे बदल कर शीघ्र गतिसे आओ। जो तुम 'अदाभ्य' किसीसे हिंसा नहीं किये जा सकते।'

"पात्रेव"…………… ।

हे इन्द्र ! तुम "पात्रा इव भिन्दन्" लाठीसे मिट्टीके बर्तनोंको फोड़ते हुएके समान "रक्षसः" "भिन्दन्" राक्षसोंको मारते हुए "सतः" प्राप्त दूर देशसे "एति" मेरे यज्ञमें आओ ।

ये भी दो निगम हैं। [अपि शब्दसे और निगमोंको सूचना है।

त्वः } ये दो अर्द्ध (आधे) के हैं।
नेमः }

त्व' 'अपेत्य ततः' हट कर विस्तृत है।

'नेम' काट कर नीत या अलग किया है।

अर्द्ध' विपरीत 'हृ' (भ्वा० उ०) धातुसे है। अथवा 'हारि' (हृ-णिच्) (चु० उ०) धातुसे है, क्योंकि वह उद्धृत या निकाला हुआ होता है। अथवा ऋध् (स्वा० प०) से है। क्योंकि वह ऋद्धतम या बहुत बढ़ा हुआ विभाग है।

"पीयति त्वो"......... ।

अर्थात् हे अग्ने ! दो भागोंमें बटे हुए, प्रजापतिसे उत्पन्न हुए, देवताओं और असुरोंमेंसे 'त्वः' आधा असुर भाग तेरे तनूको 'पीयति' हिंसा करता है और त्वः' आधा देवभाग 'अनुगृणाति' स्तुति करता है।

"नेमे देवाः नेमेऽसुराः" .... ।

अर्थात् 'नेमे' आधे 'देवाः' देव 'नेमे' आधे 'असुराः' असुर हुए।

ये भी दो निगम होते हैं।

ऋक्षाः } ये दोनों नक्षत्रोंके नाम हैं।
स्तृभिः }

'नक्षत्र' गति अर्थमें 'नक्ष' (भ्वा० प०) धातुसे है।

किन्तु ब्राह्मण-'इमानि' ये 'नक्षत्राणि' धन 'न' नहीं हैं, किन्तु धनसदृश हैं। अर्थात् सूर्यके किरण लगनेसे सुवर्णके समान चमकते हैं।"

'ऋक्षाः' क्यों? उदीर्ण या किसीसे आगे किये हुए जैसे दिखाई देते हैं।

'स्तृभिः' क्यों? स्तीर्ण या फैले हुए जैसे दिखाई देते हैं।

"अमी ये"……… । अर्थात्

"अमूनि" वे 'यानि' जो 'ऋक्षा' नक्षत्र 'उच्चा' ऊँचे 'निहतास' रखे हुए हैं।"

"पश्यन्तो……… ।"

"हे अग्ने! 'स्तृभिः' नक्षत्रोंसे 'द्याम्-इव' द्युलोक को जैसे 'पश्यन्तः' देखते हुए हम तुम्हें स्तुति करते हैं।

वम्री
उपजिह्विका } ये दो सोमिकाओं या चींटियोंके नाम हैं।

'वम्री' क्यों? वमन करनेसे।

'सोमिका' क्यों? स्यमन या नित्यगमन करनेसे।

'उपजिह्विका' क्यों? उपघ्राण या सूँघनेसे।

"यदत्त्युप"……… "। अर्थात्—

"उपजिह्विका" चींटी 'यत्' जो 'अत्ति' भीतर घुस कर खाती है। और 'वम्रः' किसी प्रकारकी चींटी (दीमक) 'यत्' जिसे 'अतिसर्पति' गीली मिट्टीसे लपेटती हुई व्यापन करती है, हे अग्निदेव! 'तत्' वह 'सर्वम्' सब 'ते' तेरे लिये 'घृत' घी 'अस्तु' हो।

ऊर्दर
कूदर } ये दो 'आवपन' कोठी अथवा थैलेके नाम हैं।

'ऊर्दर' क्यों ? उद्दीर्ण या ऊपरसे फटा हुआ होता है। अथवा बलके लिये फटा रहता है।

"तमूर्दरं न·········। अर्थात्

हे अध्वर्युओं! यव अन्नसे कोठोके समान सोमसे इन्द्रको पूर्ण कर दो—जिस प्रकार कोई पुरुष यव अन्नसे कोठोको पूरण करता है, वैसे ही तुम सोमसे इन्द्रको पूर्ण करो। [यह 'पूरयति' पदकी संगतिके लिये है।]

'कृदर' क्यों ? कृतदर या उसमें द्वार किया हुआ होता है।

"समिद्धो'·········।" अर्थात् 'समिद्धः' प्रज्वलित हुआ देवताओंके 'मतीनाम्' मतियोंके 'कृदरम्' फैले रूप। [क्योंकि लिप्सासे उनकी बुद्धि वहाँ आकर ठहरती है। घृतको 'अञ्जन' अपनी ओर ले जाता हुआ, यह भी निगम है।

४र्थ खण्ड।

रम्भ }
पिनाक } ये दो दण्डके नाम हैं।

'रम्भ' क्यों ? इसे मर्यादासे न गिरनेके लिये आरम्भ करते हैं।

"आ त्वारम्भं·········। अर्थात्—

"हे इन्द्र! 'जिव्रयः' वृद्ध 'रम्भं न' लाठीको जैसे (वयम् हम) 'त्वा' तुझे 'आ' रभामहे' आरम्भ या आश्रयण करते हैं।

'पिनाक' क्यों ? इससे अपराधीको प्रतिपेषण या मारा जाता है।

"कृत्तिवासाः'·········।"

["एषते रुद्र भागस्तेनावसेन परोमूजवतोऽतीहि।
अवततधन्वा पिनाक-हस्तः कृत्तिवासा"]

[य० वा० सं० ३, ६१,]

"हे रुद्र ! तेरे लिये यह भाग है, इस पथवाड़ेको लेकर तुम धनुषको कन्धे पर रखकर हाथमें पिनाक या लाठी लेकर चर्णवस्त्र को धारण किये हुए मूजवान् पर्वतसे परे चले आओ ।" यह भी निगम है ।

मेना } ये दो स्त्रियोंके नाम हैं ।
ग्ना

'स्त्री' लज्जार्थक स्त्यै (भ्वा० प०) धातुसे है । (क्योंकि-प्राय वे लज्जावाली होती हैं ।] 'मेना' क्यों ? इन्हें पुरुष मान करते हैं । 'ग्ना' क्यों ? इन्हें पुरुष मान करते हैं ।

"अमेनांश्चित्............ ।" अर्थात्—

"हे इन्द्र ! तुम स्त्री रहितोंको भी अपने भक्तोंको स्त्रीको उत्पन्न करनेवाले बनाते हो ।"

"ग्नास्त्वा............ ।" अर्थात्—

"हे वस्त्र ! "ग्नाः त्वा अकृन्तन्" स्त्रियोंने तुझे काता है । "अपसः अतन्वत" जुलाहेके छोटे छोटे लड़कोंने तुझे तना है ।"— ये भी दो निगम हैं ।

शेप } ये दो पुंस् प्रजनन (लिङ्ग) के नाम हैं ।
वैतस

'शेप' क्यों ? स्पर्श अर्थमें 'शप्' (भ्वा० प०) धातुसे है । [क्योंकि इससे स्त्रीको स्पर्श किया जाता है ।] 'वैतस' क्यों ? स्त्रीके स्मरणसे पहले 'वितस्त' या सङ्कुचित होता है ।

"यस्यामुशन्तः········ ।" अर्थात्—

"हे भगवन् ! पूषन् ! जिस योनिमें पुत्रको कामना करते हुए हम शेप या लिङ्गका प्रहार करते हैं ।"

"त्रिः स्म.........." ।

इस मन्त्रमें उर्वसी और पुरूरवाकी पुराण प्रसिद्ध कथाका मूल है । पुरूरवाने उर्वशीसे कहा-कि-'तू मत जा, ठहर, उस पर उर्वसीने कहा कि—"हे पुरूरवः ? 'अन्हः' दिनके 'त्रिः' तीनवार 'स्वम्' तूने 'मा' मुझे 'वैतसेन' शिश्नदण्डसे 'श्नथयः' ताडन किया है"........इत्यादि ।

ये भी दो निगम हैं ।

अया } ये दो उपदेशके नाम हैं ।
एना }

[यह उपदेश स्त्री पुंस और नपुंसक तीनों लिङ्गोंमें आता है ।]

"अया ते.........." । अर्थात्—

"हे अग्ने ! भगवन् ! 'अया' अनया 'समिधा' इस समिध् से 'ते' तेरो 'विधेम' परिचर्या करते हैं ।" 'अया' यह समिध् के साथ स्त्री लिङ्ग है ।

"एना वो अग्निम्".........। अर्थात्—

"मैं 'वः' 'एना' 'नमसा' तुम्हारे इस प्रस्तुत अन्नसे 'अग्निम्' 'आहुवे' अग्निको बुलाता हूं ।" 'एना' यह 'नमसा' नपुंसक पदके साथ नपुंसकका उपदेश है ।

"एना पत्या तन्वं व संसृजस्व"......... । अर्थात्—

"हे बधु ! इस पतिसे अपने तन् (शरीर) को मिला दे ।" 'एना' यह पति शब्दके साथ पुलिङ्ग उपदेश है ।

सिषक्तु } ये दो सेवाके वाचक हैं ।
सचते }

"सनः सिषक्.........।" अर्थात्—

'वह हमारो सेवा करे, जो शीघ्रकारो हो ।'

"सचस्वानः स्वस्तये········।" अर्थात्—

'हमारे कल्याणके अर्थ संयुक्त हो।'

'स्वस्ति' यह अविनाशी (नहीं नष्ट होनेवाले) का नाम है। अस् (अदा० प०) धातु प्रशंसा अर्थमें है। 'सु' और 'अस्ति' से स्वस्ति शब्द बना है।

भ्यसते } ये दो धातु भय और वेपन या कम्पन अर्थमें हैं।
रेजते }

"यस्य शुष्माद् रोदसी········।" अर्थात्—

"जिसके क्रोधसे पृथिवी और द्युलोक काँपते हैं, या डरते हैं।"

("प्रचित्र मर्कः") "रेजते अग्ने पृथिवी मखेभ्यः"। अर्थात्-

"हे अग्ने! 'मखेभ्यः' जिन पूजनीय मरुतोंसे 'पृथिवी' 'रेजते' काँपती या डरती है।"

ये दो निगम हैं।

आगे द्यावा पृथिवी (द्युलोक और भूलोक) के चौबीस (२४) नाम हैं। उनके साहचर्य या एक साथ रहनेको कहनेवाली यह ऋचा है॥ ४॥ (२१),

(खं० ५)

[निरु०-] "कतरा पूर्वा कतरा परायोः कथा जाते कवयः को विवेद।
विश्वं त्मना बिभृतो यद्ध नाम विवर्त्तेते अहनी चक्रियेव॥" [ऋ० सं० २, ५, २, १,]

कतरा पूर्वा कतरा परा अनयोः कथं जाते कवयः क एने विजानाति। सर्वम् आत्मना विभृतः यद्धै-नयो कर्म विवर्त्तेते च एनयोः अहनी अहोरात्रे

चक्रयुक्ते इव,-इति द्यावापृथिव्यो र्महिमानमाचष्टे आचष्टे ॥ ५ ॥ २२ ॥

इति तृतीयाऽध्याय चतुर्थः पादः ॥ ३, ४ ॥

अर्थ ।

"कतरा पूर्वा" मन्त्रका अगस्त्य ऋषि। त्रिष्टुप् छन्दः। यह ऋचा पृष्ठ और अभिप्लवके षष्ठ (छठे) दिनमें तथा महाव्रतके तृतीय सवनमें वैश्वदेव शस्त्रमें है ।:'

स्वयमेव (आप ही आप) अगस्त्य ऋषि बितर्क करता हुआ संशययुक्त होकर कहता है-इन दोनों (द्यावा पृथिवीओं) में कौन पूर्व है? और कौन अपर या पीछे हुई है? ये कैसे उत्पन्न हुई हैं? (एक साथ या आगे पीछे?) हे कविओ! कोई भी स्पष्ट-जानता है? किन्तु मैं इतना शास्त्रसे कह सकता हूं कि ये हिरण्मय अण्डके दो टुकड़े हैं। जैसा कि कहा है—"अण्डकपाले रजतं च सवर्णं चाभवताम्" तद् यद् रजतं सेयं पृथिवी यत् सुवर्णं सा द्यौः' अर्थात् अण्डके दो कपाल या टुकड़े हुवे रजत (चाँदी) और सुवर्ण, जो वह रजत था सो यह पृथिवी, जो सुवर्ण था वह द्यौः (द्युलोक)। इससे जाना जाता है कि ये एक साथ हुए होंगे।

और ये दोनों विश्व (जगत्) को अपनेसे धारण करते हैं, जिस लिये कि इनका नाम है। और इन्हींके भीतर रात्रि और दिन चक्रके समान बदलते हुवे रहते हैं। प्रयोजन यह कि-दो चक्रोंके समान ये द्यावा पृथिवी आपसमें जुड़े हुवे हैं।

इस प्रकार ऋषि इस मन्त्रके द्वारा द्यावापृथिवीओंके महाभाग्यको कहता है।

इस प्रकार यह नैघण्टुक काण्ड समाप्त हुआ। इससे आगे 'ऐक्कपदिक' या 'नैगम' प्रकरण होगा। जिसका पहिला वाक्य 'एकार्थमनेकशब्दम्' यह है इति।

व्याख्या।

(१ ख०) उपमा दो प्रकारसे आती है, एक शब्दोपमा जो पूर्व पादमें विस्तारसे दिखाई गई है! दूसरी लुप्तोपमा या अर्थोपमा है। उपमाके स्थलमें उपमाके वाचक 'इव' आदि शब्दोंके रहनेसे शब्दोपमा होती है और इन्हीं इव आदि शब्दोंके लोपसे उपमा लुप्तोपमा कही जाती है। एवम् उपमा वाचक शब्दके न रहनेसे भी उसका अर्थ जो सादृश्य है प्रतीत होता है, इससे वही 'अर्थोपमा' कहलाती है। जैसे—'सिंहो देवदत्तः' अर्थात् सिंह सदृश देवदत्त है। यहाँ सिंह पदके आगे इव आदि उपमा वाचक शब्दके न रहनेसे भी उसका अर्थ सादृश्य प्रतीत होता है।"

अर्थोपमा दो प्रकारकी होती है, एक प्रशंसामें, और दूसरी निन्दामें। प्रशंसाके लिये 'सिंह' 'व्याघ्र' आदि शब्द दिये जाते हैं और निन्दाके लिये 'श्वा' (कुत्ता) 'काक' आदि शब्द होते हैं। जैसे 'श्वा पुरुषः' कुत्ते जैसा पुरुष है, इत्यादि—

यद्यपि निघण्टुशास्त्रमें शब्दोपमाका ही पाठ है, किन्तु लुप्तोपमाका नहीं इससे यहाँ भाष्यमें इसके दिखानेकी आवश्यकता नहीं थी, तथापि भाष्य ग्रन्थ विषयको विस्तारसे वर्णनके लिये ही होता है, अतः अवसर पानेसे अर्थोपमाका व्याख्यान भी कर दिया गया है।

पक्षियोंके नामोंमें दो पक्ष हैं। (क) बहुत निरुक्ताचार्य मानते हैं कि-प्राय करके पक्षियोंके नाम शब्दके अनुकरण पर ही हैं, अर्थात् अर्थात् जो पक्षी जैसा शब्द करता है उसका नाम उसके समान ही होता है। जैसे काक 'काँकाँ' शब्द करता है इसीसे उसका नाम 'काक' है।

(ख) औपमन्यव आचार्य मानते हैं कि—शब्दके अनुकरण पर कोई नाम नहीं होता, किन्तु सभी नाम क्रियाके सम्बन्धसे धातु, प्रत्यय आदि संस्कार युक्त होते हैं। उसके अनुसार अपने पक्षियों तथा तिर्यक् (पशुओं) के कई नामोंकी व्युत्पत्ति भी दिखाई है। जैसे—काक तित्तिरि, कपिञ्जल [पक्षी] श्वा, सिंह, व्याघ्र। [पशु।]

यद्यपि निरुक्त शास्त्र वेदाङ्ग है, और वैदिक शब्दोंके निर्वचनके अर्थ ही प्रवृत्त हुआ है, इससे इसमें सिंह, व्याघ, श्वा, काक ऐसे अर्वाचीन नामोंको व्याख्या आचार्यको नहीं करना चाहिये थी, किन्तु निर्वचनके प्रकारको दिखानेके लिये कि-ऐसा भी निर्वचनका प्रकार है, इन शब्दोंकी व्याख्या की है।

सिंह-'सिह' शब्दमें 'हिंस' (रु० प०) धातुसे और सम् (उप०) तथा हन् (आ० प०) धातुके मेलसे व्युत्पत्ति कह कर दिखाया कि-शब्दोंके निर्वचन अनुलोम और प्रतिलोम दोनों प्रकार से होते हैं। पहिले निर्वचनमें हिंस् धातुके आदिका अक्षर अन्तमें आ जाता है और अन्तका आदिमें। इससे यह प्रतिलोम निर्वचन हुआ। तथा दूसरेमें सकार, हकार दोनों अक्षर जहाँके तहाँ रहे यही अनुलोम निर्वचनको प्रकार है। यह पक्ष वैयाकरणोंको भी सम्मत हैं।

(३-३-४ खं०) इस खण्डसे पूर्व निघण्टु शास्त्रमें ऐसे ही नाम दिये हैं, जो एक एक वस्तुके बहुत बहुत नाम हैं, किन्तु यहाँसे ३ य ४र्थ, ५म खण्डोंमें एक एक वस्तुके दो दो नाम हैं, उनकी व्याख्या की है। एवम् इन्हीं शब्दोंके साथ नैघण्टुक काण्डकी समाप्ति भी हो जाती है। इसके आगे चौथे अध्यायसे दूसरा नैगम काण्ड आरम्भ होगा।

"अमेनांश्चित्" मन्त्रसे अमैथुन सृष्टि जो पुराणोंमें प्रसिद्ध है, प्रमाणित होती है।

"स्नात्वा" से वस्त्रके तैयार करनेकी क्रियाएं तथा उसमें स्त्री, बालक एवम् पुरुषोंका पृथक् पृथक् उपयोग दिखाया है।

"पीयतित्वा" मन्त्रमें राम कृष्ण आदि अवतारोंके होनेकी सूचना, तथा उनसे असुरोंके प्रतिकूल और सुरोंके अनुकूल बर्तावकी स्वाभाविकता आती है। ऐसी ऐसी अनेक बातें मन्त्रोंसे मिल सकती हैं, किन्तु अध्ययन करने वालेकी बुद्धि और ध्यान पर निर्भर है।

इति हिन्दी निरुक्ते तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ॥ ३, ४ ॥

निरुक्तके तृतीयाध्यायका खण्ड सूत्र—

[प्र० पा०] कर्मनामानि (१) परिषद्यं (२) नहिग्र-भाय (३) शासद्वन्हिः (४) अभ्रातेव (५) न जामये (६) [द्वि० पा०] मनुष्य-नामानि (७) तदद्य (८) दृषाव-निभ्यः (९) अभाद्रं (१०) त्वयावयं (११) यत्रा सुपर्णा (१२) [तृ० पा०] बहुनामानि (१३) तनुत्यजे (१४) कुहश्चित् (१५) चतुरश्चित् (१६) प्रियमेधवत् (१७) [च० पा०] अथ लुप्तोपमानि (१८) अर्चंति (१९) द्विशो (२०) रम्भः (२१) कतरा पूर्वा (२२) द्वाविंशतिः ॥

इति निरुक्ते पूर्वषट्के तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

(नैघण्टुकं काण्डं समाप्तम्।)

इति हिन्दी निरुक्ते तृतीयोध्यायः समाप्तः ॥३॥

(नैघण्टुकं काण्डं समाप्तम्।)

हिन्दी निरुक्त

नैगम काण्ड

भूमिका

समाम्नाय (निघण्टु) शास्त्र में नैघण्टुक, नैगम और दैवत ये तीन काण्ड हैं। इनमें "गौः" से "अपारे" पर्यन्त शब्दों का संग्रह रूप जो प्रथम तीन अध्यायों के परिमाण में नैघन्टुक काण्ड है, उसकी व्याख्या उसके भाष्य निरुक्त में विशेष रूपसे द्वितीय अध्यायके द्वितीय पाद से तृतीय अध्याय की समाप्ति तक पूरी होगई है। अब नैगम काण्ड, जो "जहा" शब्द से "ऋबीसम्" शब्द पर्यन्त शब्दों का संग्रह रूप समाम्नाय का चतुर्थ अध्याय है, उसकी व्याख्या निरुक्त के चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठ (६ ठे) अध्याय में होगी। इस काण्ड में "जहा" (६२) "सस्निम्" (८४) और "आशुशुक्षणिः" (१३२) ये तीन खण्ड अर्थात् कुल दो सौ अठत्तर (२७८) शब्द हैं, उन में से प्रथम "जहा" खण्ड के बासठ (६२) शब्दों की व्याख्या क्रम से इस निरुक्त के चतुर्थ अध्याय में होगी।

जैसे अमरकोश के प्रथम काण्ड में स्वर्ग आदि एक एक पदार्थके अनेक अनेक नाम हैं, उसी प्रकार समाम्नाय के प्रथम काण्ड में पृथिवी और हिरण्य आदि एक एक पदार्थ के अनेक

अनेक नाम हैं। एवम् अमरकोश के नानार्थ वर्ग में 'नाक' 'लोक' आदि शब्दोंके जिस प्रकार आकाश, स्वर्ग 'लोक' 'भुवन' आदि अनेक अनेक अर्थ बताये हैं, उसी प्रकार इस नैगम काण्ड में एक एक शब्द के अनेक अनेक अर्थ बताए गए हैं, तथा ऐसे शब्द, जिनके संस्कार आदि की प्रतीति नहीं होती, उनके संस्कार आदि का अवगम भी कराया गया है। सुतराम् इस काण्ड में अनवगत और अनेकार्थ शब्द व्याख्येय हैं। अवगत नाम जाने हुए और अनवगत नाम नहीं जाने हुए का है। किन्तु इस प्रकरण में अनवगत शब्द से वे शब्द लिये गए हैं, जिनके प्रकृति, (धातु) प्रत्यय, जाति आदि शब्द-धर्मों का श्रवणमात्र से परिज्ञान नहीं होता। भगवद्दुर्गाचार्य्य ने इन अनवगत शब्दोंके भेदोंकी एक सूची भी 'शिताम' शब्दकी टीकामें दी है। जिस शब्द में जिस धर्म की प्रतीति नहीं होती, वह उस धर्म से अनवगत कहा जाता है। जैसे—संस्कार (प्रकृति प्रत्यय आदि) की प्रतीति नहीं, तो संस्कारानवगत और जाति की प्रतीति नहीं, सो जात्यनवगत इत्यादि।

अनवगत भेदों की उदाहरण सहित सूची।

अनवगत भेद।	उदाहरण।	व्याख्या
(१) पदजात्यनवगत।	"त्व"	नाम, या निपात?
(२) अभिधेयानवगत।	"शिताम"	बाहु, या यकृत् आदि?
(३) स्वरानवगत।	"वनेनवायो"	'वने' 'न' का स्वर या 'वनेन' का?
(४) संस्कारानवगत।	"ईर्मान्तासः"	क्या धातु, और क्या प्रत्यय?
(५) गुणानवगत।	"करूलती"	किसका गुण (विशेषण)?
(६) विभागानवगत।	"मेहना"	"मेहना" या "मे-इह-ना" (नास्ति)?

अनवगत भेद	उदाहरण	व्याख्या
(७) आमानवगत ।	"उपरमध्वं मे वचसे" देखो-नि० अ० २ पा०७ खं० ३ 'उप' मन्त्र के बीच से उठाकर आदि में जोड़ा गया है ।	
(८) विक्षेपानवगत ।	"द्यावानः पृथिवी"	०
(९) अध्याहारानवगत ।	"दानमनसो नो मनुष्यान्"	०
(१०) व्यवधानानवगत ।	"वायुश्चमियुत्वान्"	०

इसके अतिरिक्त कहीं एक पदके दो पद कर लिये जाते हैं, जैसे-" पुरुषादः " का ' पुरुषानदनाय ' । कहीं दो पद भी एक पद कर लिये जाते हैं,जैसे-"गर्भनिधानीं सवितुः" लोक में- "पश्यतो हरः" । एवम् आख्यात भी नाम कर लिया जाता है, जैसे-" सर्वाणीन्द्रस्य धनानि विभक्ष्यमाणाः" लोक में-"पचत-भृज्जता" "खादतमोदता" इत्यादि । कहीं नाम भी आख्यात हो जाता है । जैसे-"सोमो अक्षाः" (अ०५ पा० १ खं० ३) अश्नोति इत्यादि । इसी प्रकार मन्त्रों में शब्दों और अर्थों में अनेक प्रकार का संकर या मेल है, उसे वहां जैसा देखे वैसा करे । क्योंकि-वेदमें दृष्ट (देखे हुए) के अनुसार विधि होती है। प्रयोजन यह है, कि-वैदिक शब्दों की काट छाट की विधि को वैदिक शब्द ही बताते हैं, उनके अनुशासन की विधि किसी लौकिक व्याकरण के अधीन नहीं है ।

इस अध्याय में जिस जहा खण्डके बासठ (६२) शब्दोंकी व्याख्या की जावेगी, उनमें (१) जामि, (२) रजः, (३) हरः, (४) द्यतिः, (५) व्यन्तः ये पांच (५) शब्द केवल अनेकार्थ हैं । (१) नूचित्, (२) नूच, (३) ऋधक ये तीन (३) शब्द निपात, एवम् अनेकार्थ है । यद्यपि इनके पाठ की इस गण में आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि-निपातों में

संस्कार की विचारणा नहीं है और उनकी स्वतन्त्र व्याख्या भी प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद में होचुकी है, तथापि इस प्रकरण में अनेकार्थ शब्द व्याख्येय हैं, उनकी समानता से यहां पर दिखा दिये गए हैं। (१) मेहना, (२) एरिरे, ये दो शब्द विभागानवत हैं। (१) जरते, (२) चयसे (३) वियुते ये तीन शब्द अर्थानवगत हैं। (१) अस्याः (२) अस्य, ये दो शब्द स्वरानवगत हैं । (१) गौः, (२) गातुः, इन दो पदों की व्याख्या पहिले आचुकी। (१) वसन्त, (२) परितक्म्या (३) क्षिप्रे इन तीन पदों की व्याख्या आगे होगी, और शेष इकतालीस (४१) शब्द सब अनवगत संस्कार हैं ।

अध्यायके अन्तमें मूल (समाम्नाय) शब्दों और प्रासंगिक शब्दों की सूचिएं भी दी जावेंगी, जिनसे इन शब्दों के अर्थ और निगम भी जाने जा सकेंगे ॥

शब्द समाधि ।

शब्द समाधि उसे कहते हैं, जिस में उसके प्रकृति (धातु) प्रत्यय (विभक्ति और वचन आदि) स्पष्ट प्रतीत होते हों, और वह किसी ऐसे शब्दके अक्षरों व अर्थ से समानता रखता हो, जिसके प्रकृति और प्रत्यय आदि स्पष्ट प्रतीत न होते हों अर्थात् परोक्षवृत्ति या अतिपरोक्षवृत्ति शब्द । प्रयोजन यह है कि-इस प्रकरणमें जितने मूल शब्द हैं, वे आपस में कोई किसी से पर्य्यायता नहीं रखते, इस लिये उनकी व्याख्यो में शब्द समाधि ही एक उत्तम उपाय है, जिसके द्वारा सहजमें निश्चय हो जाता है, कि-इस शब्द की सृष्टि इसी प्रकार है, और इसका यह अर्थ होना उचित है । जैसे-'जहा' की शब्द समाधि 'जघान' है । जिसके द्वारा प्रतीत होता है कि-'जहा'

में 'हन्' (अदा०प०) धातु और लिट् के प्रथमका एक वचन है। और 'मध्या' की 'मध्ये' इत्यादि।

शब्द समाधि कब और किस प्रकार देना चाहिये ?

जिस मन्त्र का परोक्षवृत्ति शब्द हो, उस मन्त्र की अर्थ परिज्ञान के लिये देखना चाहिए। जब उसके अन्य शब्दों का अर्थ और संगति प्रतीत होजावें वहां किसी एक शब्द के संस्कार या प्रकृति प्रत्यय आदि की प्रतीति नहो, तो उस काल में जितना अर्थ वाक्य में अपूर्ण और एक शब्दगम्य हो उसे उस गूढ शब्द का अर्थ मानना चाहिए। अर्थ निश्चय के अनन्तर ही इस शब्द समाधि का उपयोग होता है, जिससे किंशिष्य को लाभ है।

एक काण्ड का विषय दूसरे काण्ड में।

जिस प्रकार दो तलय्याओं का जल एक नालीके द्वारा मिलता हो, उसी प्रकार प्रथम दो काण्डों का विषय आपसमें मिल जाता है। प्रथम काण्डमें एक एक अर्थ में अनेक अनेक शब्द दिखाये हैं और दूसरे में एक एक शब्द स्वतन्त्र २ अर्थों में संग्रह किये हैं,किन्तु दो या अधिक शब्द एक अर्थमें नहीं। यही उनका विषय भेद है। तो भी शब्द स्वभाव उन दोनों काण्डों के विषयको मिला देता है। अर्थात् जो ही शब्द परस्पर की अपेक्षा भिन्न अर्थों को कहते हैं, वेही किसी एक अर्थ को कहने लगते हैं। और जो एक अर्थको कहते हैं, वेही आवश्यकतावश से भिन्न २ अर्थों को कहने लगते हैं। इस प्रगति के अनुसार जो ही शब्द भिन्नार्थकता की दशामें नैगम (ऐकपदिक) काण्ड में आजाते हैं, वेही समानार्थकता के अधीन नैघण्टुक काण्डमें चले आते हैं। यही दोनों काण्डोंका विषय संकर (मेल) है।

शब्दों की एकार्थता और भिन्नार्थता।

जो लुढकता है, वह ढलान की ओर चलता भी है। जो उछलता है, वह नीचे से ऊपर को चलता भी है जो गिरता है, वह ऊपरसे नीचे को चलता भी है। जो सरकता है, वह धीरे २ एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर चलता भी है। इस प्रकार एक ही क्रिया दो रूपों में दिखाई देती है, इस कारण से जब कोई किसी एक विशेष क्रिया को किसी शब्द से कहेगा, तो वह शब्द अवश्य दो क्रियाओं को भी बोधन करेगा। इसके लिये फिर 'लुढकता है' आदि उक्त क्रियाओं पर ध्यान दीजिये, जिनके प्रयोग से 'लुढकना' और 'चलना' दोनों क्रियायें प्रतीत होती हैं। प्रयोजन? जब इनका चलन अर्थ ही लेते हैं, तो ये अनेक शब्द एक अर्थ के वाचक होकर नैघण्टुक काण्डमें आजाते हैं, और जब विशेष २ अर्थों को कहने लगते हैं, तो भिन्नार्थक होकर नैगम काण्ड में चले आते हैं। इसी रहस्य के अनुसार भिन्नार्थकता के कारण नैगम काण्ड के विषय होने पर भी 'कसति' 'लोठते' 'श्च्योतते' इत्यादि बहुत से धातु (निघ०अ०२खं०१४) में गमनार्थक एक सौ बाईस (१२२) धातुओं के मध्य में पढे गए हैं, जिससे उनका सामान्य रूपसे गमन-यह एक ही अर्थ होता है, तो भी प्रसिद्धि के अनुरोधसें पृथक् २ द्रव्यों की क्रिया के वाचक ही समझने चाहियें। जैसे- जो पुरुष कमर को ऊंची करके चलता है, वही 'कसति'-ऐसे कहा जाता है. किन्तु अन्य नहीं,-जो खड़ा २ चलता है। जो ही कोई अचेतन लोहा आदि वा अन्य चेतन पुरुष आदि इच्छा के विना ढलान में लुढकता है, वही 'लोटते' ऐसे कहा जाता है, किन्तु अन्य नहीं और ऐसे ही जब कोई द्रव द्रव्य या पिघली हुई वस्तु झरती है, तब वही 'श्च्योतते' ऐसे कही

जाती है, किन्तु अन्य नहीं। इस प्रकार गमन अर्थ वाले धातुओं की एकार्थता होने पर भी प्रसिद्ध अर्थ में सामर्थ्य रखने के कारण उन धातुओं का गमन विशेषों में योग्यतानुसार निवेश जानना चाहिये, तथा ऐकपदिक भी समझना चाहिये।

ध्यान रहे कि-एक स्थान से दूसरे स्थान में प्राप्ति जो चलन से होती है, वह सब गतिओं का एकसा कार्य है, इसी से उन सबकी एकार्थता कही है। क्यों कि-'सामान्य अर्थ के वाचक शब्द कहीं विशेष अर्थ के वाचक होजाते हैं, और विशेष अर्थ के वाचक कहीं सामान्य अर्थ के वाचक।

नैगम काण्ड की व्याख्या का स्वरूप।

"तत्वं पर्य्यायशब्देन व्युत्पत्तिश्च द्वयोरपि निगमो निर्णयश्चेति व्याख्येयं नैगमंपदे"

अर्थात् पर्य्याय शब्द से तत्व (अर्थ) करना। मूलशब्द और उसके पर्य्याय दोनों की व्युत्पत्ति करना। निगम देना। और उसका, निर्णय करना। इसके अतिरिक्त 'दयति' 'अकूपार' आदि पदों को स्थान बना कर उनके उपदया, दान, हिंसा आदि अनेक अर्थों को बताना, तथा इन उपदया, दान, हिंसा आदि अनेक अर्थों का एक शब्द से वाच्य सिद्ध करना ऐसी व्याख्या भी इस काण्ड में होगी।

दो व्याख्याएं।

इस कांड में संक्षेप से दो व्याख्यायें हैं। एक-नहीं प्रतीत होते हुये अर्थ को पर्य्याय शब्द देकर विभाग पूर्वक प्रतिपादन करना। और दूसरी शब्दकी व्युत्पत्ति करना। पहिली व्याख्या का प्रयोजन अर्थ का परिज्ञान है, और दूसरी का शब्द-परिज्ञान। यह दोनों प्रकार की व्याख्या इस नैगम काण्ड में यथासंभव दी जावेगी।

ऐकपादिक नाम का प्रयोजन ।

पहिले काण्ड में एक एक अर्थ के वाचक पद समूह के समूह पढे गए हैं, और इस प्रकरण में एक एक अर्थ का वाचक एक एक ही पद रखा गया है, जैसे-'जहा' 'निधा' इत्यादि, इसी से इस काण्ड का नाम 'ऐकपदिक' (एक एक पद से रचित) पूर्वाचार्यों ने धरा है-।

मन्त्रों में पदों का अध्याहार ।

भाष्यकार यास्क मुनि मन्त्रों की व्याख्या में पदों को अध्याहार करते (ऊपर से लेते) हैं । जैसे-(नि० अ० ४ पा०१ खं० २) "कोनुमर्या" मन्त्रमें "को अस्मदीषते" की व्याख्या में 'कः अस्मद् भीतः पलायते' यहां 'भीतः' पद का अध्याहार किया है । एवम् (नि० अ० ४ पा० १ खं० ६-) "संमातपन्ति" मन्त्र में "शिश्ना व्यदन्ति" वाक्यमें 'सूत्राणि' पद, (नि० अ० ४ पा०१ खं० ८-) "मरुत्वां इन्द्र" मन्त्र में "वृषभः" की व्याख्या में 'अपाम्' पद, और "मदाय" की व्याख्या में 'जैत्राय' पद, (नि० अ० ४ पा० २ खं० ४-) "इन्द्रेण संहिदृक्षसे" मन्त्र में "अबिभ्युषा" की व्याख्या में 'गणेन' पद, (नि० अ०४ पा०३ खं०५) "अथानः शंयोः" मन्त्र में "शंयोः" पदकी व्याख्या में 'रोगाणाम्' 'भयानाम्' ये दो पद अध्याहार किये हैं । इस से यह सिद्ध हुआ कि-मन्त्रमें अर्थ के अविरोधि पद अध्याहार करने चाहिएं । यह आवश्यक भी है । क्यों कि-मन्त्रोंमें प्रायः अधूरे वाक्य बहुत हैं, यदि उन में ऐसा नहीं किया जायगा, तो उनकी अर्थवत्ता ही न रहेगी ॥

समाम्नाय और निरुक्त का एक कर्त्ता

(प्रश्नः) "विद्याम तस्य" (नि० अ०४ पा०३ खं०२) इस मन्त्र

में 'अकूपारस्य' 'दावने' इन दोनों पदों का इसी अनुक्रम से पाठ है, और समाम्नाय में 'दावने' (३२) 'अकूपारस्व, (३३) इस प्रकार मन्त्रपाठ के विपरीत पाठ है। इससे जाना जाता है कि—अन्य ही ऋषिओंने समाम्नायका समाम्नान (विरचन) किया है, और अन्य ही यह भाष्यकार है। क्यों कि यदि एक ही पुरुष समाम्नान और भाष्य को करता, तो प्रयोजन के विना ही एक मन्त्र-स्थ दो पदों के पाठ क्रम को न बदलता। (उत्तर-) समाम्नाय में जो शब्द पढे हुए हैं; वे किसी मन्त्रार्थों के अनुरोध से नहीं पढे गये हैं, किन्तु स्वतन्त्रतासे सब पठित हैं, इस लिये उन शब्दों में संयोगवशात् दो पद एक मन्त्र में आगए और उन को भाष्यकार मन्त्रोक्त क्रम से ही व्याख्या करते हैं, इस से दोनों ग्रन्थों के एक आचार्य होने में भी कोई दोष नहीं है। भगवद्दुर्गाचार्य का यही समाधान पञ्चम अध्याय में 'वाजपस्त्यम् (४९) वाजगन्ध्यम् (५०) इन दो शब्दों का भी हो सकता है।

इस अध्याय के निघण्टुस्थ शब्दों की निरुक्तस्थ संक्षिप्त व्याख्या

निघण्टु-स्थ सं०	अनेकार्थ	तत्व (अर्थ) अवगम	निगमः
४६	जामिः (५)	अतिरेक नाम। बालिशः। भगिनी असमानजातीयोवा (पा० ३ ख०४)	"यत्रजामयः कृणवन्नजामि"
३६	रजः (२)	रजतेः। ज्योतिः। उदकम्। लोकाः। असृगहनी। (पा० ३ ख० ३)	
४०	हरः (३)	हरतेः। ज्योतिः। उदकं। लोकाश्च (पा० ३ ख० ३)	"अग्नेयत्तेहरः"
२६	दयतिः (१)	उपदया दान विभाग दहन हिंसार्थः। (पा० ३ ख० १)	(१) "नवेनपूर्वंदयमानाः"। २।३ "यएकइद्‌विदयते" (४) "दुर्वर्त्तुर्भीमोदयते" (५) "विद्वद्वसुर्दयमानोविशत्रून्"।
४२	व्यन्तः (४)	(अनेकार्थधातुप्रकृतिः) (पा० ३ ख० ३)	"पदंदेवस्य नमसा व्यन्तः"।
	निपात		

३७	नूचित् }	{ [अनेकार्थत्वादिह समाम्नातः निपातानां संस्कारोनास्ति ।] पुराणनवयोरर्थयोः । (पा० ३ ख० १)	
३९	नूच }		
६०	ऋधक्	पृथक् । (पा०४ख०४)	"ऋधगया ऋधगुताशमिष्ठाः"
	विभागानवगत		
४	मेहना	मंहनीयम् । मे इह न अस्ति । (पा० १ ख०४)	"यदिन्द्रचित्र मेहना"
५०	एरिरे	आ-ईरिरे । 'ईर्त्तिः'(अदा०आ०)उपसृष्टोऽभ्यस्तः । (पा०४ख०२)	"यमेरिरे भृगवः"
	अर्थानवगत		
५२	जरते	स्तौति । (पा०४ख०३)	"इन्धान एनं जरते स्वाधीः"
५८	चयसे	चातयसि । (पा०४ख०४)	
५६	वियुते	द्यावापृथिव्यौ । (पा०४ख४)	"सासान्या वियुते दूरे"
	स्वरानवगत		
६१	अस्याः	अस्यै । (पा०४ख०४)	"अस्या ऊषुणः"
६२	अस्य	'अस्याः' इत्येतेनव्याख्यातम् । (पा०४ख०४)	"अस्य वामस्य पलितस्य"

निघण्टु-स्थ सं०	अनेकार्थ	तत्व (अर्थ) अवगम	निगमः
	व्याख्यात		
५४	गौः	व्याख्यातः [नि० अ० २ पा० २ ख० १] (पा० ४ ख० ३)	"अत्राह गोरमन्वत"
५५	गातुः	व्याख्यातः । (पा० ४ ख० ४)	
	व्याख्यास्यमान		
११	शिप्रे	हनूनासिके । (पा० २ ख० २)	
२२	नसन्त	द्वादशाध्याये । (पा० २ ख० ७)	
२७	परितक्म्या	षोडशाध्याये । (पा० ३ ख० ८)	
	अर्थसंस्कारोभयानवगत और अनेकार्थ		
३	शिताम	दोः (बाहुः) । योनिः, शाकपूणेः । श्यामः, तटीकेः श्वेतमांसं, गालवस्य ।	

	संस्कारानवगत		
१	जहा	जघान । [पा० १ खं०१]	"जहा को अस्मदीषते',
२	निधा	पाश्या । यन्निधीयते सा निधा । [पा० १ खं० २]	"मुमुग्ध्यस्मान्निधयेव बद्धान्"
५	दमूनाः	दमनाः । दान्तमनावा । दानमनावा । [पा० १ खं० ३]	" जुष्टो दमूनाः "
६	मूषः	मूषिकाः । (बहुवचनम्) (मूट् । मूषौ । मूषः ।)	" मूषो न शिश्ना व्यदन्ति । "
७	क्षुषिरः	ईषणम् । एषणम् । ऋषणंवा । (पा०६ खं०७)	" क्षुषिरेण ते मनसा "
८	कुरुतन	कुरुत । ' न ' इति अनर्थकः । " अनर्थका उपजना भवन्ति" ।	
९	जठरम्	उदरम् । जग्धमस्मिन् ध्रियते धीयते वा । (पा० १ खं०७)	" आसिञ्चस्वजठरे" ।
१०	तितउ	परिपवनं भवति । ततवद्वा । तुन्नवद्वा । तिलमात्रतुन्नमितिवा ।	" सक्तुमिव तितउना"
१२	मध्या	मध्ये । (पा० २ खं० ३१)	" मध्या कर्त्तोर्विततं संजभार" ।

निघण्टुस्थ सं०	अनेकार्थं	तत्व (अर्थ) अवगम	निगमः
१३	मन्दू	मदिष्णू । मन्दुना इतिवा । (शब्दसमाधी) [पा० २ खं० ४]	" मन्दू समानवर्चसा"
१४	ईर्मान्तासः	समीरितान्ताः । पृथ्वन्तावा । (शब्द समाधी) [पा० २ खं० ५]	" ईर्मान्तासः"
१५	कायमानः	चायमानः । कामयमानो वा । [पा० २ खं० ६]	"कायमानो वना त्वम् "
१६	लोधम्	लुब्धम् । (पा० २ खं० ६)	"लोधं नयन्ति पशु मन्यमानाः"
१७	शीरम्	(अग्निः ।) अनुशायिनम् आशिनम् वा । (पा० २ खं० ६)	"शीरं पावकशोचिषम् "
१८	विद्रधे	विधे । (पदं अनेकार्थम् ।) (पा० २ खं० ७)	"कनीनकेवविद्रधे "
१९	द्रुपदे	द्रुममये । (पादुके) (पा० २ खं० ७)	"नवेद्रुपदे अर्भके"
२०	तुग्व	तीर्थम् । तूर्णमेतत् आयन्तिइति शब्द समाधिः । (पा० २ खं० ७)	

२१	नंसन्ते	नमन्ते (पा०२ ख०२)	"विवासे कुविन्नं सन्ते मरुतः"
२३	आहनसः	आहननवन्तः। (पा०२ खं०७)	"एतेमदा आहनसः"
२४	अप्नसत्	अदसादिनी। अप्नसानिन्नीवा। (पा०२ खं० ८)	"अप्नसन्न ससतो बोधयन्ती।"
२५	इष्मिणः	ईषणिनः। एषणिनः। आर्षणिनीवा। (पा० २ खं० ८)	"ते वाशी मन्त इष्मिणः
२६	वाहः	स्तोत्रम्। (पक्षे अनेकार्थम्)। स्तोमएवहि देवानां वोढाभवति	"वाहः कृणवाव जुष्टम्"
२८	सुविते	सुइते। सूते। (शब्द समाधी) (अनेकार्थंच) (पा० ३ खं०१)	"सुविते माधाः"
३२	दावने	दानस्य। (पा० ३ खं० २)	"वयमकूपारस्य दावने"
३३	अकूपारस्य	अकुपरणस्य। अकूपारः, आदित्यः, समुद्रः, कच्छपश्च।	"वयमकूपारस्य"
३४	शिशीते	निश्यति। (पा० ३ खं०२)	"शिशीतेशक्रः रक्षसे विनिक्षे"
३५	सुतुकेभिः	सतुकनैः। पक्षे अनेकार्थम्। (पा० ३ खं० २)	"अग्निः सुतुकः सुतुकेभिरश्वैः"
३६	सुप्रायणाः	सुप्रगमनाः (इतिशब्दसमाधिः) (पा० ३ खं० २)	"सुप्रायणा अस्मिन् यज्ञे"

निघण्टु-स्थ सं०	अनेकार्थ	तत्व (अर्थ) अवगम	निगमः
३७	अप्रायुवः	अप्रमाद्यन्तः । (पा०३खं०३)	"असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवे दिवे "
३८	च्यवनः	च्यावनः । (ऋषिः) (पा० ३ खं० ३)	" युवं च्यवानं सनयं यथा रथम् "
४१	जुहुरे	जुह्विरे । (अनेकार्थधातुप्रकृतिः) (पा० ३ खं० ३)	" जुहुरे विचिंतयन्तः"
४३	क्राणाः	कुर्वाणाः । (पा० ३ खं० ३)	"गीर्भिः क्राणा अनुषत" ।
४४	वाशी	वाक् (पक्षे अनेकार्थम् ।) (पा० ३ खं० ३)	" वाशीभि स्तक्षताश्मन्मयीभि" ।
४५	विषुणस्य	विषमस्य । (पा० ३ खं० ३)	" सशर्द्ध दर्यो विषुणस्य जन्तोः" ।
४७	पिता	माता (पातावा) पालयितावा जनयितावा । (पा०३ ख. ५)	" द्यौर्मेपिता" ।
४८	शंयोः	(सुखंयोः) (पञ्चम्यन्तं वा षष्ठ्यन्तं वा) शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम् । अथापिवार्हस्पत्य : ।	" अथानः शंयोररपो दधात" । " तच्छंयोरावृणीमहे"

४९	अदितिः	अदीना। देवमाता [पा०४खं०१]	"अदितिर्द्यौः" ।
५१	जसुरिम्	जस्तम् । [पा० ४ खं० ३]	"नीचायमानंजसुरिं न श्येनम्"
५३	मन्दी	मन्दतेःस्तुतिकर्मणः । [पा०४ खं० ३]	"प्रमन्दिने पितुमदर्चता वचः"
५६	दंसयः	कर्म्माणि । [पा० ४ खं०४]	"कुत्साय मन्मन्नह्यश्च दंसयः" ।
५७	तूताव	तुताव । [पा० ४ खं० ४]	"स तूताव" ।

चतुर्थाध्याय के निरुक्तस्थ कुछ प्रासंगिक शब्द

शब्द	अर्थ
मर्य्या ।	मनुष्यनाम मर्य्यादा वा । (खं० २)
मेथतिः ।	आक्रोशकर्मा ।
पाश्या ।	पाशसमूहः ।
वयः ।	वेर्बहुवचनम् ।
(सुपर्णाः)	सुपतनाः ।
चक्षुः	ख्यातेः । चष्टेर्वा ।
पूर्धि	पूरय । देहि वा ।
पार्श्वम्	पर्शुमयमङ्गं भवति ।
पर्शुः	स्पृशतेः ।
पृष्ठम्	स्पृशतेः ।
अङ्गम्	अङ्कनात् । अञ्चनाद्वा
श्रोणिः	श्रोणतेः
दोः	द्रवतेः ।
श्यामम्	श्यायतेः ।
यकृत्	यथाकथाच कृत्यते ।
शितिः	श्यतेः ।
मांसम्	माननंवा । मानसंवा । मनोऽस्मिन् सीदति इतिवा
मेदः	मेद्यतेः ।
अद्रिः	आदृणाति एतेन । अपिवा अत्तेः ।
राधः	इतिधननाम । राध्नुवन्ति एतेन ।
उभौ	समुब्धौ भवतः ।
दमः	इति गृहनाम ।
मनः	मनोतेः ।
अतिथिः	अभ्यतितोगृहान् भवति ।
	अभ्येति तिथिषु परगृहान इतिवा । गृहाणिइतिवा

प्रासंगिकशब्दाः ।

शब्द	अर्थ
दुरोणः	इतिगृहनाम । दुरवा भवन्ति दुस्तर्पाः । भोजनानि इतिवा धनानि इतिवा ।
मूषिकाः	पुनर्मुष्णातेः ।
मूषः	अपि, एतस्मादेव ।
त्रितः	तीर्णतमो मेधया । अपिवा संख्यानामैव अभिप्रेतं स्यात्-एकतो द्वितः त्रितःइतित्रयो बभूवुः। (खं०६)
वासराणि	वेसराणि विवासनानि गमनानि-इतिवा । खं(७)
कर्त्तन, हन्तन, यातन	इति अनर्थका उपजनाः । ('न' अनर्थकः)
मरुत्वान्	मरुद्भिस्तद्वान् । (खं०८)
वृषभः	वर्षिता अपाम् ।
रणाय	रमणीयाय ।
मदाय	मदनीयाय ।
मधु	सोमम् औपमिकम् । माद्यतेः (प्रथमपादःसमाप्तः)

द्वितीयः पादः

शब्द	अर्थ
सक्तुः	सचतेः । दुर्धावो भवति । कसतेर्वास्याद् विपरीतस्य विकसितो भवति । (खं० २)
धीराः	प्रज्ञानवन्तः । ध्यानवन्तः ।
भद्रम्	भगेनव्याख्यातम् । भजनीयंभूतानाम् । अभिद्रवणीयम् । भवद्रमयति इतिवा । भाजनवद्वा ।
लक्ष्मीः	लाभाद् वा । लक्षणाद्वा । (लक्ष्यनाद्वा) लाञ्छनाद्वा । लषतेर्वास्यात् प्रेप्साकर्मणः । लग्यतेर्वा-

प्रासंगिकशब्दाः

शब्द ।	अर्थ
	स्यात् आश्लेषकर्मणः । लज्जतेर्वास्याद् अश्लाघाकर्मणः ।
हरितः	आदित्यरश्मयः । (हरणाः) अश्वाः इतिवा
वेसरम्	अहः ।
रात्री	रात्रीइव, इतिवा उपमार्थे " यदत्रार्थोविरोधि तत्प्रतिपत्तव्यम्" (खं० ३)
सिलिकमध्यमाः	संसृतमध्यमाः । शीर्षमध्यमा वा । (खं०५)
शिरः	(आदित्यः) यदनुशेते सर्वाणि भूतानि । मध्ये च एषां तिष्ठति । इदमपि 'शिरः' एतस्मादेव । समाश्रितानि एतद् इन्द्रियाणि भवन्ति ।
शूरः	शवतेर्गतिकर्मणः ।
दिव्याः	दिविजाः ।
अत्याः	अतनाः ।
हंसाः	हन्तेः ।
श्रेणिः	श्रयतेः ।
अज्मम्	वाहिका (स्वर्गपथः)
कन्या	कमनीया भवति । क्वेयं नेतव्या इति वा । कनतेर्वास्यात् कान्तिकर्मणः ।
दारु	दृणातेर्वा । द्रुणातेर्वा ।
द्रु	तस्मादेव ।
सुवास्तुः	नदी । (खं० ७)
शुन्ध्युः	शोधनात् । आदित्यः) शकुनिः । आपश्च ।
वक्षः	भासा अध्यूढम् । इदमपि ' वक्षः ' एतस्मादेव । अध्यूढंकाये ।

प्रासंगिक शब्दाः ।

शब्द अर्थ

नोधाः ऋषिः । नवनं दधाति ।

अन्न अन्नम् ।

वाशी वाक् । साहि वाश्यते । (द्वितीयःपादः समाप्तः)

तृतीयः पादः

रयिः धनम् । राते दानकर्मणः ।

कच्छपः कच्छं पाति । कच्छेन पाति । कच्छेन पिबति इति वा ।

कच्छः खच्छः । खच्छदः । अयमपि नदीकच्छः एतस्मादेव । कम्—उदकं तेन छाद्यते ।

रक्षः रक्षितव्यम्—अस्मात् । रहसि क्षणोति—इतिवा । रात्रौ नक्षते इतिवा । (खं०२)

युवा प्रयौति कर्माणि । (खं० ३)

तक्षतिः करोतिकर्मा।

विचितयन्तः विचेतयमानाः ।

पातम् पिबतम् ।

द्रोः द्रुममयस्य ।

हरिः सोमः । हरितवर्णः अयमपि इतरो हरिःएतस्मादेव ।

शिश्नदेवाः अब्रह्मचर्य्याः ।

शिश्नम् श्नथतेः ।

ऋतम् सत्यंवा । यज्ञंवा ।

घा (अनर्थकम् ।) (खं० ४)

आगच्छान् आगमिष्यन्ति ।

उपबर्बृहि उपधेहि ।

प्रासंगिक शब्दाः ।

शब्द	अर्थ
बन्धुः	संबन्धनात् । (खं० ५)
नाभिः	संनहनात् । "नाभ्या संनद्धागर्भा जायन्ते ।"
ज्ञातिः	संज्ञानात् ।
उत्तानः	उत्ततानः ऊर्ध्वतानो वा ।
रपः	रिप्रम् । इति पापनामनी (तृ० पादः समाप्तः)

चतुर्थः पादः ।

वस्त्रमथिम्	वस्त्रमाथिनम् ।
वस्त्रम्	वस्तेः ।
तायुः	इति स्तेन नाम ।
भरः	संग्राम नाम । भरतेर्वा । हरतेर्वा ।
नीचायमानम्	नीचैः अयमानम् ।
नीचैः	निचितं भवति ।
उच्चैः	उच्चितं भवति ।
श्येनः	शंसनीयं गच्छति ।
यूथम्	यौतेः । समायुतं भवति (खं० ३)
अपीच्यम्	अपचितम् अपगतम् । अपिहितम् । अन्तर्हितंवा (खं०४)
अंहतिः	(अंहश्च अंहुश्च) हन्तेर्निरूढोपधाद्विपरीतात् ।
देवपीयुम्	देवहिंसितारम् । पीयति हिंसाकर्मा ।
समानम्	सम्मानमात्रं भवति ।
मात्रा	मानात् ।
दूरम्	व्याख्यातम्
अन्तः	अततेः ।

प्रासंगिक शब्दाः ।

शब्द	अर्थ
हेमन्तः	हिमवान्
हिमम्	हन्तेर्वा । हिनोतेर्वा ।
अजरम्	अजरणधर्माणम् ।
अनर्वम्	अप्रत्यृतम् अन्यस्मिन् ।
षलरे	(अडरे) [षट् अराः यस्मिन् सः तथा ।]
मासाः	मानात् ।
प्रधिः	प्रहितो भवति ।

हिन्दी निरुक्त

नैगम काण्ड

चतुर्थोऽध्याय·

१मःपादः

(खं० १)

—>>०<<—

अथ निघण्टौ चतुर्थोऽध्यायः ।

[निघ०] जहा (१) निधा (२) शिताम (३) मेहना (४) दमूनाः (५) मूषः (६) इषिरेण (७) कुरुतन (८) जठरे (९) तितउ (१०) शिप्रे (११) मध्या (१२) मन्दू (१३) ईर्मान्तासः (१४) कायमानः (१५) लोधम् (१६) शीरम् (१७) विद्रधे (१८) द्रुपदे (१९) तुग्वनि (२०) नंसन्ते (२१) नसन्त (२२) आहनसः (२३) अश्नसत् (२४) इष्मिणः (२५) वाहः (२६) परितक्म्या (२७) सुविते (२८) दयते (२९) नूचित् (३०) नूच (३१)

दावने (३२) अकूपारस्य (३३) शिशीते (३४) सुतुकः (३५) सुप्रायणाः (३६) अप्रायुवः (३७) च्यवनः (३८) रजः (३९) हरः (४०) जुहुरे (४१) व्यन्तः (४२) काणाः (४३) वाशी (४४) विधुराः (४५) जामिः (४६) पिता (४७) शंयोः (४८) अदितिः (४९) एरिरे (५०) जसुरिः (५१) जरते (५२) मन्दिने (५३) गौः (५४) गातुः (५५) दंसयः (५६) तूताव (५७) चयसे (५८) वियुते (५९) ऋधक् (६०) अस्याः (६१) अस्य (६२) इतिद्विषष्टिः पदानि ॥ १ ॥

आद्यं नैघण्टुकं काण्डं व्याख्यातमतिविस्तरात् ।
अथैकपदिकं काण्डं व्याचष्टे हैन्दवीगिरा ॥ १ ॥

[निरुक्त-] ओ३म् । एकार्थमनेकशब्दम्—इत्येतदुक्तम् । अथ यानि अनेकार्थानि एकशब्दानि तानि अतोऽनुक्रमिष्यामः, अनवगतसंस्कारांश्च निगमान् । तद् "ऐकपादिकम्" इतिआचक्षते ।

जहा जघान—इत्यर्थः ॥१॥

अनुवादः ।

'एकार्थ अनेक शब्द' हो, ऐसा प्रकरण कहा गया। ['एकार्थ'–एक अर्थ पृथिवी आदि रूप अनेक गो आदि शब्दोंका जहां तत्वभूत कहा जावे। 'अनेक शब्द' जहां अनेक गो आदि शब्द पृथिवी आदि एक अर्थ के वाचक कहे, जावें।] अब जो अनेकार्थ एक शब्द पद हैं वे यहां से अनुक्रम से कहे जावेंगे। ['अनेकार्थ'–जिन 'दयति' "अकूपार" आदि पदों के उपदया, दान दहन, और हिंसा आदि अनेक अर्थ वाच्य हैं। 'एक शब्द'–जिन उपदया, दान, दहन, और हिंसा आदि अनेक अर्थों के दयति, अकूपार, आदि एक एक शब्द वाचक हैं वे अर्थ मात्र।] और अनवगत संस्कार, जिनके संस्कार या प्रकृति प्रत्यय विभाग न जाने जावें, ऐसे निगमोंको कहेंगे। उस दोनों प्रकार वाले प्रकरण को आचार्य 'ऐकपदिक' इस नाम से कहते हैं [जैसे–] 'जहा' (१) का जघान या मारा यह अर्थ है ॥१॥

१ (ख०२)

[निरु०] "कोनुमर्य्या अमिथितः सखा सखायमब्रवीत्। जहा को अस्मदीषते" [ऋ०सं०६,३,४९,२,] मर्य्या इति मनुष्य नाम। मर्य्यादाभिधानं वा स्यात्। मर्य्यादा (मर्य्यैरादीयते मर्य्यादा) मर्य्यादि-

१–"कोनुमर्य्या" [ऋ० सं० ६, ३, ४९, २,] इस मन्त्र का त्रिशोक ऋषि। गायत्री छन्दः। महाव्रत में महदुक्थ में तृचाशीति में शस्त्र है ॥ २ ॥

नोर्विभागः। मेथतिः आक्रोशकर्मा। 'अपापकं जघानकमहंजातु'। 'कोऽस्मद्भीतः पलायते'।

निधा (२) पाश्या भवति। यन्निधीयते। 'पाश्या' पाशसमूहः। 'पाशः' पाशयतेः। विपाशनात् ॥२॥

अनुवादः।

मन्त्रार्थः—किस विना गाली दिए हुए भी सखा या समान ज्ञान वाले मनुष्य ने सखा या समान ज्ञान (पुरुष) को कहा [कि–'मुझे मत मार'] कभी भी किस पाप रहित को मैंने मारा ? कौन मुझ से डर कर भागता है या भागा।

'निधा' (२) पाश्या होती है। [अर्थात् बालों का या तांत का पक्षियों के पकड़ने का जाल] 'निधा' क्यों ? जिससे कि–यह पक्षियों के पकड़ने के अर्थ नीचे रखी जाती है, एवम् जो 'निधि' या 'निधानी' कहना चाहिये 'निधा' कही जाती है। 'पाश्या' क्या ? पाशों (फांसियों) का समूह। 'पाश' क्यों? वधार्थक पाश (चु० उ०) धातु से है। क्यों कि– उससे विपाशन या वध होता है ॥२॥

१ (ख० ३)

[निरु०–] "वयः सुपर्णा उपसेदुरिन्द्रं प्रियमेधाऋषयो नाधमानाः। अपध्वान्त मूर्णुहि पूर्द्धि

१–"वयः सुपर्णाः" इति मन्त्रस्य शाक्योगौरिवीतिऋषिः त्रिष्टुप् छन्दः। अग्निष्टोमे मरुत्वतीयशस्त्रस्य परिधानीया एषा निविद्धानीये सूक्ते ॥३॥

चक्षुर्मुमुग्ध्य १स्मान्निधयेव बद्धान् ॥ " [ऋ०सं० ८, ३, ४, ११]

[भा०-] 'वयः' वे बहुवचनम् । (सुपर्णाः) सुपतना आदित्यरश्मयः । "उपसेदुरिन्द्रं" याचमानाः । अपोर्णुहि आध्वस्तं " चक्षुः । " ' चक्षुः ' ख्यातेर्वा । चष्टेर्वा । "पूर्धि" पूरय, देहि-इतिवा । [४र्थ पा०] मुञ्च "अस्मान्" पाशैरिव "बद्धान्"

"पार्श्वतः श्रोणितः शितामतः" [य०मा०सं० २१, ४३] [गद्यः]

[भा०-] ' पार्श्वं ' पर्शुमयम् अङ्गं भवति । 'पर्शुः' स्पृशतेः । संस्पृष्टा पृष्ठदेशम् । 'पृष्ठं' स्पृशतेः । संस्पृष्टमङ्गैः । ' अङ्गम् ' अङ्गनात् । अञ्चनाद्वा । 'श्रोणिः' श्रोणते र्गतिचलाकर्मणः । श्रोणिश्चलतीवगच्छतः ।

दोः 'शिताम' भवति । 'दोः' द्रवतेः ।

' योनिः शिताम ' इतिशाकपूणिः । विषितो भवति ।

' श्यामतः, यकृत्तः ' इतितैटीकिः । ' श्यामं ' श्यायतेः । 'यकृत्' यथा कथा च कृत्यते ।

'शितिमांसतो मेदस्तः' इतिगालवः । 'शितिः श्यतेः । 'मांसं' माननं वा । मानसंवा । मनोऽस्मिन् सीदति-इतिवा । 'मेदः' मेद्यतेः ॥ ३ ॥

अनुवादः ।

मन्त्रार्थः—'प्रियमेधाः' यज्ञ से प्यार करने वाले 'ऋषयः' प्रकाशक 'सुपतनाः' अच्छे उड़ने वाले ' नाधमानाः ' याचना करते हुए 'वयः' आदित्यके रश्मि 'इन्द्रम्' 'उप' आदित्य के पास ' सेदुः ' गए कि-'ध्वान्तम्' अन्धकार को 'अप-ऊर्णु हि' दूर करो । 'चक्षुः' मनुष्यों को दृष्टि ' पूर्द्धि ' पूरो (दो) 'निधया' जाल से 'बद्धान्-इव' बँधे हुए पक्षियोंको जैसे 'अस्मान्' हमें ' मुमुग्धि ' छोड़ो ॥

निरुक्तार्थ— 'वयः' 'वि' का बहुवचन है । ('सुपर्णाः ।) ' सुपतन ' अच्छे उड़ने वाले आदित्य के रश्मि या किरणें याचना करती हुईं आदित्य के पास गईं । खोलो अँधेरे से ढांपे हुए चक्षुः (नेत्र) को । 'चक्षुष' शब्द 'ख्या' (अदा०प०) धातु से है । अथवा ' चक्ष ' (अदा० आ०) धातु से । पूरण कर या दे । (४र्थपा०) छोड़ हमें जालोंसे बँधे हुओं को जैसे ।

[शिताम ३–] "पार्श्वतः" पसवाड़े से "श्रोणितः" कूले से "शितामतः" शिताम से 'पार्श्व' पर्शुओं (आंतों) से बना हुआ (पांसू) अङ्ग होता है । 'पर्शु' स्पृश् (तु० प०) धातु से है [क्योंकि–] पृष्ठ (पीठ) के स्थान को छूए हुए होती है । 'पृष्ठ' स्पृश् (तु०प०) धातु से है [क्योंकि–] अङ्गों से छूया हुआ होता है । 'अङ्ग' [क्यों?] अङ्कन (चलने) से अथवा अञ्चन (चलने) से 'श्रोणि' गत्यर्थक 'श्रुण' (भ्वा० प) धातु से है ।

[क्योंकि]श्रोणि(कूला)चलते हुए की चलती हुई जैसी होतीहै।

'शिताम' दोः या बाहु होता है। 'दोः' ' ' गतौ (भ्वा० प०) धातु से है।

'शिताम योनि (गुद) होती है, यह शाकपूणि आचार्य मानते हैं।

'शिताम' क्यों?। वह विषित या मल से व्याप्त होता है।

जो अर्थ 'श्यामलः' पद से होता है, वही अर्थ 'शितामलः' पद से होता है। अर्थात् "पार्श्वतः" इत्यादि गद्य मन्त्र में 'शिताम' नाम श्याम का है और 'श्याम' नाम यकृत् (पेटकी कोई आंत) का है।-यह तैटीकि आचार्य मानते हैं। 'श्याम' शब्द 'श्यै' (भ्वा० आ०) धातु से है। [क्योंकि-वह सम्पर्क से होती है] 'यकृत्' क्यों?। जैसे तैसे (विना परिश्रम) ही काटी जा सकती है।

'शितिमांस अर्थात् मेदा से' यह गालव आचार्य मानते हैं। अर्थात् उनके मत में उक्त गद्य मन्त्र में 'शिताम' नाम शितिमांस (श्वेतमांस) का है। 'शिति' शब्द 'शो' (दि० प०) धातु से है 'मांस' क्यों?। जो कोई ही मान्य होता है, उसके लिये बनाया जाता है। अथवा सुमनस् या सुन्दर मनसे लिया जाता है। अथवा इस में मन सदन (स्थान) करता है इस से यह मांस है। 'मेदस' स्नेहार्थक 'मिदृ' (दि० प०) धातुसेहै॥३॥

१ (खं०४)

[निरु०-]"यदिन्द्र चित्र मेहनास्ति त्वादातमद्रिवः।

१-"यदिन्द्र चित्र०" इति अत्रेर्भौमस्यार्षम्। अनुष्टुप् छन्दः ऐन्द्री। स्वरपृष्ठानां स्वरसाम्नां प्रथमे स्वरसाम्नि "यज्जायथा अपूर्व्य" इति स्तोत्रियः, स्वरपृष्ठानां "यदिन्द्रचित्रमेहना" इति द्वे, "आ इन्द्र भज आभर" इति तृतीयानुरूपस्य-इति विनियोगः

राधस्तन्नो विदद्वस उभया हस्त्याभर ॥" [ऋ०सं० ४, २, १०, ३९]

(भा०) [चित्रं] चायनीयं मंहनीयं धनमस्ति, 'यत् मे इहनास्ति'-इतिवा। त्रीणि मध्यमानि पदानि। त्वया नस्तद् दातव्यम् अद्रिवन्!। 'अद्रिः' आदृणाति एतेन। अपिवा अत्तेःस्यात्। 'ते सोमादः' इति हविज्ञायते। 'राधः' इति धन नाम। राध्नुवन्ति एनेन। तत् नः त्वं वित्तधन! उभाभ्यां हस्ताभ्याम् आहर। 'उभौ' समुब्धौ भवतः॥

दमूनाः (५) दममनावा। दानमनावा। दान्तमनावा। अपिवा 'दम' इति गृहनाम। तन्मनाः स्यात्। 'मनो' मनोतेः॥ ४॥

अनुवादः।

मन्त्रार्थः-हे इन्द्र! 'यत्' जो 'चित्रम्' पूजनीय 'मेहना' मँहगा अथवा 'यत् मेइहन' मुझे यहां अप्राप्त 'त्वादातम्' हमारे लिये तुमसे देने योग्य 'राधः' तेरा धन 'अस्ति' है, 'तत्' वह 'नः' हमारे लिये हे 'अद्रिवः' वज्रके धारण करने वाले! हेविद्द्वसो! धन को प्राप्त किए हुए! 'उभया' दोनों 'हस्ति' हाथों से 'आभर' ले आओ॥

निरुक्तार्थ-"चित्र" 'चायनीय' पूजनीय या 'मंहनीय' (मंहगा) धन है। (शाकल्यमत) अथवा 'जो मेरे यहां नहीं है'—यह (गार्ग्यमत।) 'यत्' 'मे' 'इह' 'न' 'अस्ति' इस

प्रकार बीच में तीन पद हैं। (सन्धिसे 'मेहना' एक पद जैसा होगया है।) हे अद्रिवन्! वज्रके धारण करने वाले! तुमसे हमारे लिये वह (धन) देने योग्य है। 'अद्रि' क्यों? इस से आदरण या विदारण करता है। अथवा भक्षणार्थक 'अद्' (अदा० प०) धातु से है। क्योंकि "ते सोमादः" (वे सोम के भक्षण करने वाले) ["हरी इन्द्रस्य निंसते"] [ऋ० सं० ८, ४, ३०, ४] इस मन्त्र को विचारते हुए ऐसा ही जान पड़ता है। 'राधस्' यह धन का नाम है। क्यों कि—इससे सब कार्यों को राधन (साधन) करते हैं। "तत्" सो "नः" हमारे लिये 'त्वम्' तू 'वित्तधन' हे प्राप्तधन! 'उभाभ्याम्' दोनों 'हस्ताभ्याम्' हाथों से "आहर" लेआ। 'उभ' क्यों? सम्पूर्ण (पूरे) होते हैं॥

(दमूनाः (५)। 'दमूना' क्यों? दममनाः या मनको दमन करनेवाला (दबाने वाला) है। अथवा दान में मन वाला है। अथवा दान्त (दबे हुवे) मन वाला है। अथवा 'दम' यह घरका नाम है। उसमें मन रखता है। 'मनः' क्यों? 'मन' (तनो० आ०) धातु से है। (इससे मनन किया जाता है।) ॥ ४ ॥

'मेहना' (४) पद में पद-विकल्प है। बह्वृच (ऋग्वेदी) 'मेहना' इतना एक पद मानते हैं, और छन्दोग (सामवेदी) इस में 'मे-इह-न' ऐसे तीन पद मानते हैं। इन दोनों ही मतों पर ध्यान देते हुए भाष्यकार ने शाकल्य और गार्ग्य दोनों, आचार्य्यों के अभिप्राय यहां पर दिखाए हैं। प्रयोजन, ऐसे ऐसे निर्वचन और दोनों आचार्य्यों के प्रामाण्य का दिखाना है।

पदकारों का पद विकल्प में अभिप्राय।

विद्यावान् या धनवान् किसी उत्तम वस्तु को मांगता है,

जो कि उसके घर में नहीं हैं, चाहे कोई विलक्षण वस्तु हो, या अपने घर में विद्यमान वस्तु की सदृशीय वस्तु। किन्तु इन दोनों प्रकार की प्रार्थनीय वस्तुओं में एक ही के मांगने में कोई प्रमाण नहीं है, इस लिये 'मंहगा' या ' प्रार्थनीय ' इस अर्थ की बुद्धि से शाकल्य 'मेहना' को एक पद मानता है। अर्थात् इन के मत में ऐसी व्याख्या से उक्त दोनों प्रकार की वस्तु मांगी जा सकती है।

दूसरे गार्ग्य आचार्य के मत में 'मेहना' पद से वही वस्तु मांगी गई है, जो 'मेइह नास्ति' (मेरे इस घर में नहीं है) इस वाक्य से आती है, इस लिये यहां तीन पद ही होने चाहिएं।

"यदिन्द्र" मन्त्र के "मेहना" पद में किसी एक पक्ष को पुष्ट करने वाला कोई लिङ्ग या प्रमाण नहीं, इसी से ऐसी विप्रतिपत्ति (विरुद्ध उक्ति) हुई है। ऐसेही शाखा भेद से पदों के विकल्पों में अर्थ के अविरोध से व्याख्या करनी होगी ॥२॥

(५ खं०)

[निरु०] "जुष्टो[१] दमूना अतिथि र्दुरोण इमन्नो यज्ञ मुपयाहिविद्वान्। विश्वा अग्ने अभियुजो विहत्या शत्रूयता माभरा भोजनानि ॥"
[ऋ० सं० ३, ८, १८, ४]

---

१ 'जुष्टो दमूनाः" इति वसुश्रुतस्य आत्रेयस्य द्वयमार्षम्। त्रिष्टुप्छन्दः। आग्नेयी। प्रातरनुवाकाश्विनयोःशस्यते। स्विष्टकृत्पुरोनुवाक्याचेयं चातुर्मास्येषुसाकमेधे।

(भा०) 'अतिथिः' अभ्यातितो गृहान्भवति। अभ्येति तिथिषु परकुलानि–इति वा। गृहाणि–इति वा। (अयमपि इतरः अतिथिः एतस्मादेव) 'दुरोण' इति गृहनाम। दुरवा भवन्ति, दुस्तर्पाः। [२यपा०] "इमं नो यज्ञ मुपयाहि विद्वान्" [३यपा०] सर्वा अग्ने अभियुजो विहत्य [४र्थपा०] शत्रूयताम्आभर भोजनानि। [व्याख्यान्तरम्] विहत्य अन्येषां बलानि, शत्रूणां भवनात् आहर भोजनानि–इति वा। धनानि–इतिवा।

'मूषः' (६) मूषिका इत्यर्थः। 'मूषिकाः' पुनः मुष्णातेः। 'मूषो' ऽपि एतस्मादेव ॥५॥

अनुवादः।

मन्त्रार्थः– हे भगवन्! अग्नि देव! 'जुष्टः' हमसे स्तुतियों द्वारा सेवा किया हुआ, 'दमूनाः' कठोर मन न हुआ हुआ, या 'यह मेरा घर है' ऐसा मानता हुआ अथवा 'इन्हें देनाही चाहिये'–ऐसा मन करता हुआ, अथवा 'दमन शीलों में तेरा मन है, और वैसे है,-यह जानता हुआ, 'अतिथि' सांझ सवेरे अग्निहोत्रियों के अतिथि (मह्यमान 'विद्वान्' हमारी भक्ति को जानने वाला'नः'हमारे 'दुरोणे' घर में 'इमम्' इस 'यज्ञम्' यज्ञ को 'उपयाहि' आ। [और-] हे अग्ने! अग्नि देव! 'विश्वा' सब 'अभियुजः' ताड़ना करने वालों को 'विहत्य'

मार कर 'शत्रूयताम्' शत्रुता करने वालोंके 'भोजनानि' अन्नों को 'आभर' ले आ ॥

निरुक्तार्थः—'अतिथि' क्यों ? घरों के संमुख जाता है। अथवा तिथिओं में घर कुलों को जाता है। अथवा घरों को। (यह भी दूसरा अतिथि इसी से है।) 'दुरोण' यह घर का नाम है। क्योंकि? वे दुरव या दुस्तर्प [जिनमें कितना ही कुछ लाकर रखो भरते ही नहीं] हैं। जानने वाले (आप) इस हमारे यज्ञ को आओ। हे अग्ने ! सब साह्लना करने वालों को मार कर, वैर करने वालों के भोजनों को, अथवा औरों के बलों को नष्ट करके शत्रुओं के घर से भोजनों को ले आ। अथवा धनों को ॥

'मूषः' (६)। 'मष' का मषिका या मूसिए'-यह अर्थ है"। 'मूषिका' चोरी अर्थ में 'मुष्' (क्र्या० प०) धातु से"है। [क्यों कि- वे धान्य आदि द्रव्यों को चोरते हैं।] 'मूष्' भी इसी धातु से है। ॥५॥

१ (६ खं०)

[निरु०-] "संमा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः मूषो न शिश्नाव्यदन्ति माध्यः स्तोतारन्ते शतक्रतो वित्तंमे अस्य रोदसी ॥" [१, ७, २१, १०५]

[भा०-] सन्तपन्ति माम् अभितः सपत्न्यइव इमाः पर्शवः, कूपपर्शवः। मूषिकाइवास्नातानि सूत्राणि

१- "संमातपन्ति" इति आप्त्यस्य त्रितस्य कुत्सस्यवेयमार्षम्। पङ्क्तिश्छन्दः। ऐन्द्री एषा।

व्यदन्ति । स्वाङ्गाभिधानं वा स्यात्,-'शिश्नानि व्यदन्ति,-इति । सन्तपन्ति मा आध्यः कामाः स्तोतारं ते शतक्रतो! (वित्तं मे अस्य रोदसी ।) जानीतं मे अस्य द्यावापृथिव्यौ-इति ।

त्रितं कूपे अवहितम् एतत् सूक्तं प्रतिबभौ ।[1] तत्र ब्रह्म इतिहासमिश्रम् ऋङ्मिश्रं गाथामिश्रं भवति । 'त्रितः' तीर्णतमो मेधया बभूव । अपिवा संख्यानामैव अभिप्रेतं स्यात्,-एकतो, द्वितः त्रितः इति त्रयो बभूवुः ॥६॥

अनुवादः ।

मन्त्रार्थः व निरुक्तार्थः- 'शतक्रतोः' हे इन्द्र! 'मा' मुझे 'सपत्नीः'-'इव' सौतियों (सौकों) के समान 'पर्शवः' कूए की

---

१ अत्र शाट्यायनिन इतिहासमाचक्षते-एकतो द्वितस्त्रित इति पुरा त्रय ऋषयो बभूवुः, ते कदाचिन्मरुभूमावरण्ये वर्त्तमानाः पिपासया सन्तप्तगात्राःसन्तः एकं कूपमविन्दन् तत्र त्रिताख्य एको जलपानाय कूपं प्राविशत् स्वयंपीत्वा इतरयोश्च कूपादुदकमुद्धृत्य प्रादात् तौ उदकं पीत्वा त्रितंकूपे पातयित्वा तदीयंधनं सर्वमपहृत्य कूपंच रथचक्रेण पिधाय प्रास्थिषाताम् । ततः कूपे पतितः स त्रितः कूपात् उत्तरीतुम् अशक्नुवन् सर्वे देवा मामुद्धरन्तु-इति मनसा सस्मार ततस्तेषां स्तावकमिदं सूक्तं ददर्श । (साय. भा०)

कंकरिए 'अभितः' चारों ओर से 'सं-तपन्ति' पीड़ा करती हैं। 'मूषः' मूसे 'न' जैसे 'शिश्ना' अन्न आदि से लिप्त सूत्रों को चाबते हैं। अथवा अङ्ग का नाम हो सकता है। पूंछों को 'व्यदन्ति' घृत तैल के पात्रों में डुबो कर चाटते या चबाते हैं। हे देव! 'ते' तेरे 'स्तोतारम्' स्तुति करने वाले मुझको 'आध्यः' मनकी कामनाएं या व्यथाएं पीड़ा करतीहैं। हे 'रा-दसी' द्यावापृथिवीओ! 'मे' मुझ 'अस्य' इस जन के दुःखको 'वित्तम्' तुम दोनों जानते हो॥

कूए में गिरे हुए त्रित ऋषि को यह सूक्त प्रतीत हुआ। इस विषय में इतिहास से मिला हुआ, ऋचाओं से मिला हुआ, और गाथा या कथा से मिला हुआ ब्रह्म या वेद है। 'त्रित' क्यों? मेधा (बुद्धि) से तीर्णतम (बहुत तैरा हुआ) था। अथवा संख्या से ही नाम माना हुआ हो सकता है। [जैसे-] एकत, द्वित, और त्रित ये तीन ऋषि हुए थे॥६॥

व्याख्या

इतिहासमिश्रम्। इस से भाष्यकार ने यह दिखाया कि यह भी एक सूक्तों का स्वभाव है, उन में इतिहास जैसा भी होता है। अतः—उन में प्रकरण से भी संदेह युक्त पद का अर्थ निश्चय कर लेना, जैसे कि—भाष्यकार ने 'पशु' शब्द को समझा॥ ६॥

१ (ख० ७)

[निरु०-] "इषिरेण ते मनसा सुतस्य भक्षीमहि

१—"इषिरेण ते मनसा" इति प्रगाथस्य ऋषमार्षम् त्रिष्टप छन्दः। सौमी। ७॥

पित्र्यस्येव रायः। सोमराजन् प्रण आयूँषि त रीरहानीव सूर्यो वासराणि" ॥

[ऋ० सं० ६, ४, १२, २]

(भा०) ईषणेन वा, एषणेन वा, अर्षणेन वा ते मनसा सुतस्य भक्षीमहि, पित्र्यस्येवधनस्य। प्रवर्द्धय च नः आयूँषि सोमराजन्। "अहानीव सूर्यो वासराणि"। 'वासराणि' 'वेसराणि' विवासनानि' गमनानि-इतिवा ॥

'कुरुतन' (८) इति। अनर्थका उपजनाः भवन्ति,-कर्त्तन, हन्तन, यातन,-इति।

'जठरम्' (९) उदरंभवति। जग्धम् अस्मिन् ध्रियते, धीयते वा ॥७॥

अनुवादः।

[इषिर (७)]। मन्त्रार्थः- हे भगवन् 'सोम! 'इषिरेण' सब प्रकार से तेरे प्रति गए हुए 'मनसा' मनसे 'सुतस्य' निचुड़े हुए का 'ते' तेरा (अंश, जो हमारा भाग है, उसे) 'पित्र्यस्य' बाप के 'रायः-इव' धन को जैसे 'भक्षीमहि' खाएं। हे 'सोमराजन्' तू 'नः' हमारी 'आयूंषि' आयुओं को 'प्र-तारीः' बढा, 'सूर्यः' सूर्य 'वासराणि' वसन्त के 'अहानि-इव' दिनों को जैसे बढाता है॥

निरुक्तार्थः 'इषिर' द्वारा ईषण (गत) या गए हुए का

है। क्योंकि- 'ईषति' (धा० गत्यर्थों में पढा हुआ है। अथवा 'एषण' शब्द से है। क्योंकि–वह इच्छावाला होता है। ('इष् इच्छायाम्' (तु० प०) धातु है।) अथवा 'अर्षण' या 'ऋषण' शब्द से है। [क्योंकि-वह सब पदार्थों का दर्शन करने वाला होता है।] 'ते' तेरा, जो हमारा भाग है 'सुत' निचोड़कर तैयार किया हुआ रस उसे मनसे बाप के धन के समान भक्षण करें। और हे सोम राजन्! तुम हमारी आयुओं को बढाओ। सूर्य जिस प्रकार वासर या वसन्त के दिनों को (बढाता है ।)

'वासर' क्यों? वे वेसर हैं, अर्थात् शीत और उष्ण (गर्मी) दोनों से चलते हैं। रात्रि में ठंडक, दिन में गरमी अथवा विवासन या शीत को नाश करते हैं। अथवा गमन या फैलने वाले होते हैं॥

'कुरुतन' (८) "अनर्थक जिन का कोई अर्थ नहीं) उपजन (प्रत्यय) होते हैं।" अर्थात् जो ही अर्थ 'कुरुत' (तुम सब करो) पद से होता है, वही अर्थ 'कुरुतन' पद से होता है। सुतराम् यहां 'न' का कोई अर्थ नहीं, इसी से यह अनर्थक है। इसी प्रकार और और स्थलों में अनर्थक प्रत्यय आते हैं। जैसे—'कर्त्तन' 'हन्तन' 'यातन'।

'जठर' (६) 'जठर नाम उदर (पेट) का है। क्यों? इस में जग्ध (खाया हुआ) धरा जाता या रखाजाता है ॥७॥

१ (ख०८)

[निरु०] "मरुत्वाँइन्द्रवृषभो रणाय पिबासोम

१—"मरुत्वां इन्द्र" इति विश्वामित्रस्येयमार्षम्। त्रिष्टप् छन्दः। महाव्रते पृष्ठयस्य चतुर्थेऽहनि शस्यते।" ॥४,१॥

मनुष्वधं मदाय । आसिञ्च स्वजठरे मध्वऊर्मिं त्वं राजासि प्रदिवः सुतानाम् ॥

(ऋ० सं० ३, ३, ११,१)

(भा०) " मरुत्वानिन्द्र " मरुद्भिस्तद्वान् । 'वृषभः' वर्षिता अपाम् ' रणाय ' रमणीयाय संग्रामाय । पिब सोमम् अनुष्वधम् अन्वन्नम् 'मदाय' मदनीयाय जैत्राय । आसिञ्चस्वजठरे मधुनः ऊर्मिम् । 'मधु' सोमम्-इत्यौपमिकम् । माद्यतेः । इदमपि इतरत् मधु एतस्मादेव । त्वंराजासि पूर्वेषु अपि अहःसु सुतानाम् ॥८॥

इति चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥४,१॥

अनुवादः ।

मन्त्रार्थ व निरुक्तार्थ ।—हे ' इन्द्र ! ' जो तू मरुत्वान् मरुतों (वायुओं) से बन वाला (मरुतों वाला) या उनका स्वामी [कहलाता है] 'वृषभः' जलों का वर्षने वाला है, रण या रमण के देने वाले संग्राम के उद्देश्य से ' मदाय ' मदनीय या हर्ष-दायक या ' जैत्र ' जय-दायक मद के अर्थ ' सोमम् ' सोम रस को ' अनुष्वधम् ' अन्न खा-खाकर 'पिब' पी । [कम नहीं, बलकि] ' स्वजठरे ' अपने पेट में 'मधुनः' सोम की ' ऊर्मिम् ' लहरी को ' आसिञ्च ' खूब सींच ।

'मधु' सोम का औपमिक (उपमा से) नाम है । [अर्थात् मद्य के समान मद का देने वाला है ।] हर्ष अर्थ में ' मद '

(दिवा० प०) धातु से है। यह भी मधु (शहद या मद्य) इसी धातु से है। हे इन्द्र ! 'प्रदिवः' पहिले दिनों में 'सुतानाम्' बनाए हुये सोम रसों का भी 'त्वम्' तू 'राजा' 'असि' है ॥ ८ ॥

इति चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ ४,१ ॥

चतुर्थेऽध्याये

द्वितीयः पादः

(ख० १)

[निरु०] तितउ (१०) परिपवनं भवति । ततवद्वा । तुन्नवद्वा । तिलमात्रतुन्नमितिवा ॥ १ (९) ॥

अनुवादः ।

[निरुक्तार्थः–] 'तितउ' (१०) परिपवन अर्थात् जिससे सत्तु छाने जावें ऐसी चालनी का नाम है। 'तितउ' क्यों ? तत (चर्म) से मँढाहुआ होता है। अथवा तुन्नों (छिद्रों) वाला होता है। अथवा उसमें तिलके बराबर तुन्न (छिद्र) होते हैं॥ १ (९) ॥

१ (खं०२)

[निरु०–] "सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसावाचमक्रत अत्रासखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि ॥"

[ऋ० सं० ८, २, २३, २]

१–"सक्तुमिव तितउना" इति विद्यासूक्तं बृहस्पतेरार्षम् ।

(भा०) सक्तुमिव परिपवनेन पुनन्तः । 'सक्तुः' सचतेः । दुर्धावोभवति । कसतेर्वास्याद् विपरीतस्य । विकसितो भवति । [द्वि० पा०-] " यत्र धीरा मनसा वाच-" मक्रूषत । [व्याख्यान्तरम्-] प्रज्ञानं धीराः,-प्रज्ञानवन्तः, ध्यानवन्तः । [तृ०च० पा०-] तत्र "सखायः सख्यानि" सं " जानते " " भद्रैषां लक्ष्मी र्निहिताधिवाचि" ॥

' भद्रं ' भगेन व्याख्यातम् । भजनीयं भूतानाम् । अभिद्रवणीयम् । भवद्रमयति- इतिवा । भाजनवद्वा ।'लक्ष्मीः' लाभाद्वा । लक्षणाद्वा (लप्स्यनाद्वा ।) लञ्छनाद्वा । लषतेर्वास्यात् प्रेप्साकर्मणः । लग्यतेर्वास्याद्- आश्लेषकर्मणः । लज्जतेर्वास्याद्-अश्लाघाकर्मणः ॥

' शिप्रे (११) ' इति उपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः ॥ २ (१०) ॥

अनुवादः ।

मन्त्रार्थः- 'यत्र' जहां 'इव' जैसे (कोई) 'तितउना' परिपवन या चालनी से 'सक्तुम्' सत्तू को 'पुनन्तः' पवित्र करते हैं (करते हुवे होते हैं) 'धीराः' विद्वान् पुरुष 'मनसा' मन से शब्द और अर्थ का निश्चय करके 'वाचम्' वाणी को 'अक्रत'

न्याय युक्त करते हैं, । 'अत्र' वहां 'सखायः' समान ज्ञान वाले 'सख्यानि' समान शास्त्रों में परिश्रम किये हुओं के विज्ञानों को 'जानते' जानते हैं । [किन्तु दूसरा नहीं ।] क्योंकि-'एषाम्' इनकी 'अधि-वाचि' वाणीके ऊपर 'भद्रा' सुखदायक 'लक्ष्मीः' लक्ष्मी 'निहिता' स्थापित है ॥

[निरुक्तार्थ-] सत्तूके समान परिपवन (चालनी) से पवित्र करते हुए । 'सक्तु' लगना अर्थ में 'सच' (भ्वा०प०) धातु से है क्योंकि-वह दुर्धाव या कठिनाई से धोया जाने वाला होता है । अथवा उलटे हुए 'कस' (भ्वा०प०) धातु से हो-सकता है । क्योंकि ? वह विकसित या फूला हुआ होता है । यहां धीर पुरुष मन से वाणी को न्याययुक्त करते हैं । अथवा 'धीर' धी या प्रज्ञावाले, वा धी या ध्यान-वाले पुरुष 'वाच्' नाम प्रज्ञान (प्रकृष्ट ज्ञान) को करते हैं । तहां 'सखा' समान विद्यावाले सख्य समान विद्यावालों की विद्याकी उन्नति को अच्छी तरह जानते हैं । इनकी वाणीके ऊपर भद्र (वाञ्छनीय) लक्ष्मी स्थापित है ।

'भद्र' 'भग' शब्दसे व्याख्यान किया गया । (दोनों शब्दोंकी समान व्याख्या है ।) 'भग' क्यों ? प्राणियों का भजने योग्य है, या प्राणी उसे भजते हैं । अथवा उसकी ओर भागते हैं । अथवा 'भवत्' (होता हुआ) रमण (रति) देता है । (क्योंकि-जिसके वह होता है, वह रमता है) अथवा सुकृती जन उस के भाजन होते हैं, इस से भग है ।

'लक्ष्मी' क्यों ! लाभ से । (क्योंकि-उसे लक्ष्मीवाले ही लभते या प्राप्त होते हैं । अथवा लक्षण से । (क्योंकि- लक्ष्मी-वान् पुरुष लक्षित (चिन्हित) जैसा हो जाता है ।) अथवा

लञ्छन से। (क्योंकि- लक्ष्मीवान् उससे लञ्छित जैसा हो जाता है।) अथवा प्रेप्सा (बड़ी लालसा) अर्थमें 'लष' (भ्वा०प०) धातु से हो। क्योंकि- सभी उसे बहुत चाहते हैं।) अथवा आश्लेष (चपकना) अर्थ में 'लग' (भ्वा० प०) धातु से है। (क्योंकि- वह पुरुष के साथ लगी हुई जैसी होती है॥)

'शिप्रे' (११) इसकी आगे व्याख्या करेंगे॥ २ (१०)॥

१ (३ खं०)

[निरु०] "तत्सूर्य्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्त्तोर्विततं सञ्जभार। यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै॥"

(ऋ० सं० १, ८, ७, ४,)

(भा०) तत्सूर्य्यस्य देवत्वं तन्महित्वं, मध्ये यत्कर्मणां क्रियमाणानां विततं संह्रियते। यदा-असौ-अयुक्त हरणान् आदित्यरश्मीन्। हरितः अश्वान्-इतिवा। अथ रात्री वासस्तनुते सिमस्मै। वेसरम् अहः-अवयुवती सर्वस्मात्। अपिवा उपमार्थे स्यात्-'रात्री-इव वासस्तनुते' इति। तथापि निगमो भवति। "पुनः समव्यद् विततं वयन्ती" [ऋ० सं० २, ८, २, ४,]।

(भा०) समनात्सीत्॥ ३ (११)

---

१ "तत्सूर्य्यस्य देवत्वम्" इति आङ्गिरसस्य कुत्सस्य इयमार्षम् त्रिष्टुप् छन्दः। सौर्य्यस्य पशोः षड्विंशे वपाया याज्या

अनुवादः ।

मन्त्रार्थः—मैं 'सूर्यस्य' भगवान् सूर्य के 'तत्' उस 'देवत्वम्' देवताभाव को 'तत्' उस 'महित्वम्' महिमा को जानता हूं. कि-उसने 'कर्त्तोः' कुल कर्मकर्त्ताओं के 'मध्या' मध्य में या सामने 'विततम्' यह प्रकाश जाल फैलाया। और भी बड़ी भारी महिमा यह है कि 'संजभार' जो प्रकाश समूह औरों से बहुत काल में भी हटाया जाना कठिन है, उसे विना ही परिश्रम के एक ही क्षण में सायंकाल के समय स्वयम् सूर्य देव हटा देते हैं। यदा-इत् जिसी समय सूर्य भगवान् अस्त होते हुये 'हरितः' रस (जल) के हरने वाले किरणों को 'सधस्थात्' पृथिवी लोक से खेंच कर 'अयुक्त' अपने में रख लेते हैं 'आत्' उसी समय 'रात्री' 'वासः' सब लोक से दिन को खेंच कर 'सिमस्मै' सब लोक के लिये 'तनुते' अन्धकार को फैला देती है। अर्थात् यह सूर्य देव की ही महिमा है, कि उस के निकट होने से अँधेरा नष्ट होता है, और उस से त्यागे हुए देश में अन्धकार छा जाता है॥

निरुक्तार्थ-सूर्य का वह देव भाव और वह महिमा है, जो किये जाते हुए कर्मों के स्थल में फैला, हुआ (प्रकाश) संहार किया जाता है। जब उस ने (वह) हरणों या आदित्य की रश्मियों को जोड़ा (जोड़ता है)। अथवा हरितों नाम अश्वों को। उसी समय सब के लिये रात्री दिन को (हटाकर) (अँधेरे को) फैलाती है। 'वेसर' नाम दिन को सब से हटा कर अपने में मिलाती हुई। अथवा उपमा अर्थ में हो-'जैसे रात्री दिन को (हटा कर) (अँधेरे को) फैलाती है' यह

वैसा भी निगम (बोधक मन्त्र) है।—"पुनः समव्यत्००" [ऋ० सं० १, ८, २, ४,] अर्थात् जैसे कोई स्त्री वस्त्र को बिनती हुई अस्त काल में फैलाए हुए तन्तुओं को फिर समेटती है, और फिर उदय काल में फैलाती है, ऐसे यह रात्रि उदय काल में तम को समेटती है, और अस्तकाल में फिर उसे फैला देती है। (भा०) 'समानात्सीत्' लपेट लेती थी या लपेट लेती है॥ ३ (११)॥

(खं ४)

१

[निरु-०] " इन्द्रेण संहिदृक्षसे सञ्जग्मानो अबिभ्युषा। मन्दूसमानवर्चसा॥" [ ]

(भा-०) इन्द्रेणहि सन्दृश्यसे, सङ्गच्छमानः- अबिभ्युषा गणेन। मन्दू मदिष्णू युवांस्थः। अपि वा 'मन्दुना तेन-' इति स्यात्, 'समानवर्चसा'- इत्येतेन व्याख्यातम्॥ ४(१२)॥

अनुवादः।

मन्त्रार्थ- निरुक्तार्थ- हे भगवन्! इन्द्र! तू 'अबिभ्युषा' भय रहित 'इन्द्रेण' ईश्वर के अथवा प्रदीप्त मरुद्-गण के साथ 'संजग्मानः' नित्य ही मिलता हुआ 'संदृक्षसे' दिखाई देता है

---

१ "इन्द्रेण संहि दृक्षसे" इति मधुच्छन्दसः इदमार्षम्। महाव्रते मरुदुक्थे तृचाशीतिषु शस्यते। सात्त्रिकेषु च अहःसु स्तोमातिवृद्धौ प्रातःसवने ब्राह्मणाच्छंसि शस्त्रे इन्द्र उच्यते।

तुम दोनों [इन्द्र और मरुद्गण] 'मन्दू' हर्ष-स्वभाव और 'समान वर्चसा' समान तेज वाले हो। [यह व्याख्यान 'मन्दू 'समान वर्चसा' इन दोनों पदों को द्विवचन समझ कर किया

(१३)

गया।] अथवा 'मन्दू' (मन्दुना) हर्ष स्वभाव 'समान वर्चसा' समान तेज वाले 'मरुद्गणेन' मरुद्गण के साथ,—इस रीति से दोनों ['मन्दू' 'समान वर्चसा'] पदों को तृतीया विभक्ति के एकवचन में समझ कर व्याख्यान हो सकता है। 'समानवर्चसा' यह पद 'मन्दू' इस पदके साथ व्याख्यान किया गया ॥४(१२)॥

(खं० ५)

१ (१४)

[निरु०-] "इर्मान्तासः सिलिकमध्यमासः संशूरणासो दिव्यासो अत्याः। हंसा इव श्रेणिशो यतन्ते यदाक्षिषु र्दिव्यमज्ममश्वाः॥"[२,३,१२,१०] (भा०) इर्मान्ताः समीरितान्ताः (सुसमीरितान्ताः) पृथ्वन्ता वा। 'सिलिकमध्यमाः' संसृतमध्यमाः। शीर्षमध्यमा वा। अपिवा शिर आदित्यो भवति। यदनुशेते सर्वाणि भूतानि, मध्येच एषां तिष्ठति। इदमपि इतरत् 'शिरः' एतस्मादेव। समाश्रितानि एतत् इन्द्रियाणि भवन्ति। 'संशूरणासः' (दिव्यासो-

१—"ईर्मान्तासः" इति दीर्घतमसः आर्षम्। "यमेन दत्तम्" इति इयं च, द्वे अप्येते अश्वस्तोमीये सूक्ते, तेन च अश्वः स्तूयते अश्वमेधे, आदित्यस्य रथे ये अश्वा युक्तास्ते उच्यन्ते।

अत्याः) 'शूरः' शवतेर्गतिकर्मणः। 'दिव्याः' दिविजाः। 'अत्याः' अतनाः। "हंसाइव श्रेणिशो यतन्ते।" 'हंसाः' हन्तेः। घ्नन्ति-अध्वानम्। (श्रेणिशः इति) 'श्रेणिः' श्रयतेः। समाश्रिता भवन्ति। "यदाक्षिषुः" यदापन्। "दिव्यम्-अज्मम्" अजनिम्, आजिम्-अश्वाः। अस्ति-आदित्यस्तुतिः-अश्वस्य। "आदित्यादश्वो निस्तष्ट" इति। "सूरादश्वं वसवोनिरतष्ट" [ऋ० सं० २, ३, ११, २] इत्यपि निगमो भवति ॥ ५ (१३) ॥

अनुवादः।

मन्त्रार्थः–निरुक्तार्थः–सूर्य के रथ में जुते हुए घोड़ों की स्तुति है।–सात (७) घोड़ों में से चार (४) घोड़े 'ईर्मान्तासः' विरल या आपस में अन्तर दिये हुए हैं। अथवा पृथ्वन्त (चौड़ी छाती वाले) या मोटी जांघ वाले हैं। उन सातों में से जो बीच के तीन घोड़े हैं, वे 'सिलिकमध्यमासः' एक से एक सटे हुए हैं। अथवा सातों घोड़े जघन और छाती में मोटे या चौड़े, तथा पेट में पतले या बिलकुल विना पेट के हैं। [ऐसे भी स्तुति हो जाती है।] अथवा शीर्षमध्यम हैं, या उन सातों के बीचका घोड़ा शिरोमणि है। अथवा 'सिलिक' नाम शिर और वह आदित्य है, क्यों कि– सब भूत (प्राणी) उसी पर टिके हुए हैं, और वो ही इनके मध्य में स्थित है। [प्रा-

संगिक-] यह भी दूसरा [मनुष्यों का] 'शिर' इसी व्याख्यानसे है। क्यों कि ? इसके सब इन्द्रियें आश्रित हैं। 'संशूरणासः' भगवान् आदित्य से मिले हुए हैं। 'शूर' शब्द गत्यर्थक 'शु' (भ्वा० प०) धातु से है। [क्यों कि ? वह शत्रुओं के साम्हने चला ही जाता है, लौटता नहीं।] 'दिव्यासः' द्युलोक में पैदा हुए हैं। 'अत्याः' निरन्तर चलते ही रहते हैं, किन्तु क्षणमात्र भी कभी नहीं ठहरते। 'हंसाः इव श्रेणिशो यतन्ते' हंसों के समान श्रेणि (पङ्क्ति) बांध कर चलते हैं। 'हंस' क्यों? वे मार्ग को हनन (गमन) करते हैं। 'श्रेणि' 'श्रिञ् सेवायाम्, (भ्वा० उ०) धातु से है। 'यत्' जब वे 'अश्वाः' घोड़े 'दिव्यम्' स्वर्ग के 'अज्मम्' मार्ग को 'आक्षिषुः' (उदय से अस्त पर्यन्त) प्राप्त होते हैं ॥

'अश्वाः' पद के साथ तुल्य विभक्ति होने से 'ईर्मान्तासः' इत्यादि पद अश्व के विशेषण है, "आत्माएव एषा रथो भवति आत्मा अश्वः" अर्थात् 'आत्मा ही इनका रथ होता है, और आत्मा ही अश्व'-इस युक्ति से सूर्यदेवता का ही यह मन्त्र हो सकता है या होना चाहिये, किन्तु अश्व की स्तुति में विनियुक्त हुआ है, यह ठीक नहीं? इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिये भाष्यकार समाधान करते हैं—

'आदित्य की स्तुति अश्व की होती है, क्यों कि—अश्व आदित्य से घड़ा गया है, या उत्पन्न हुआ है।' "सूरादश्वं वसवो निरतष्ट" [ऋ० सं० २, ३, ११, २] अर्थात्—वसुओंने अश्व (घोड़े) को सूर्य से घड़ कर निकाला है यह निगम भी है ॥ ५ (१३) ॥

(खं० ६)

[निरु०] "(१५) कायमानो[1] वना त्वं यन्मातॄरजगन्नपः ।
नतत्तेअग्ने प्रमृषे निवर्त्तनं यद्दूरे सन्निहाभवः ॥ "
[ऋ० सं० ३, १, ५, २]

(भा०) 'कायमान' श्चायमानः । कामयमान इतिवा । बनानि त्वंयत्मातॄः अपः-अगमः उपशाम्यन् । न तत्ते अग्ने प्रमृष्यते निवर्त्तनं, दूरे यत् सन्-इहभवासि जायमानः । "(१६) लाधं नयन्ति पशुमन्यमानाः" । [ऋ०सं० ३, ३, २३, ३] "शीरं पावकशोचिषम्" । [ऋ०सं० ७, ११,११] पावकदीप्तिम् । 'अनुशायिनम्'-इतिवा । 'आशिनम्-' इतिवा ॥ ६ (१४) ॥

अनुवादः ।

मन्त्रार्थ—हे भगवन् ! अग्ने ! 'यत्' जब 'त्वम्' तू 'वना' वनरूप अथवा 'अपः' जलरूप 'मातॄः' माताओं को 'कायमानः' देखता हुआ या इच्छा करताहुआ 'अजगन्' जाता है, तो 'तत्' वह 'ते' तेरा 'निवर्त्तनम्' मार्ग 'न' नहीं 'प्रमृषे' लुप्त होता। 'यत्' क्योंकि-'दूरे' 'सन्' दूर या नष्ट होता हुआ भी तू फिर

१—"कायमानो वनात्वम्" इति विश्वामित्रस्य द्व्यमार्षम् । बृहती छन्दः । प्रातरनुवाकाश्विनयोः शस्यते ।

'इह' यहां काष्ठों में अरणि से अग्नि के रूपमें और जलमें विजली के रूपमें 'अभवः'। उत्पन्न हो जाता है ॥

निरुक्तार्थः-'कायमान' (१५) देखता हुआ। अथवा इच्छा करता हुआ। जब तू बन या काष्ठरूप और जलरूप माताओं में शान्त होता हुआ लय हो जाता है। हे अग्नि देव! वह तेरा मार्ग लुप्त नहीं होता। क्योंकि-तू दूर (नष्ट) होता हुआ भी फिर यहां (काष्ठ (अरणि) अथवा जल (मेघ) में) वन्हि या विजली के रूप में उत्पन्न हो जाता है ॥

(१६)

"लोधं नयन्ति पशु मन्यमानाः" (ऋ०सं० ३, ३, २३, २)
अर्थात् लोभी को पशु के समान मानते हुए लेजाते हैं।

"शीरं (१७) पावक शोचिषम्" (ऋ०सं० ६, ७, ११, ११)
अर्थात् शीर या अनुशायी सब भूतों (प्राणियों) में प्रवेश कर के शयन करने वाले को। अथवा सब प्राणियों में अशन (व्यापने वाले) को। 'पावक शोची' या अग्नि के समान दीप्ति (तेज) वाले को स्तुति करता हूँ ॥ ६ (१४) ॥

व्याख्या।

"लोधंनयन्ति" यह जिस ऋचा का टुकड़ा है, उसमें पुराण प्रसिद्ध विश्वामित्र और वसिष्ठजी के इतिहास का एक अंश है, उसकी भगवद्दुर्गाचार्य ने व्याख्या नहीं की। क्योंकि- भगवद्दुर्गाचार्य वासिष्ठ था और उसमें वसिष्ठ-की निन्दा है। पहिले किसी समय विश्वामित्र ब्रह्मर्षि बनने के अर्थ बहुत कालतक तप करके वसिष्ठ जी के पास गए कि- अब के बारमें मुझे वे 'ब्रह्मर्षि' कहकर संबोधन करेंगे। किन्तु वहां उनसे

वैसे व्यवहार नहीं किया गया । अनन्तर विश्वामित्र अपने तप के लोप के भय से वसिष्ठ को शाप विना दिये ही चुप चाप लौटे । तब वसिष्ठ ने सोचा कि-इस वार इनका तप शापसे नष्ट नहीं हुआ, अतः इनका तप नष्ट करना चाहिये इसी प्रयोजन से उनको बांध कर लाने के लिये अपने आदमी भेजे, वे गए और विश्वामित्र को पकड़ कर वसिष्ठ के साम्हने ले चले, उस समय विश्वामित्र उन पुरुषों से कहते हैं—

"न सायकस्य चिकिते जनासो लोधं नयन्तिपशुमन्यमानाः । नावाजिनं वाजिना हासयन्ति न गर्दभं पुरो अश्वान्नयन्ति" [ऋ०सं० ३,३,२३,३]

अर्थात् हे जनों ! तुम ध्वंसकारी विश्वामित्र के मन्त्रगण के सामर्थ्य को नहीं जानते, इसी से मुझ तपके लोभी को पशु के समान बांधकर ले जाते हो। किन्तु वाजिन या विद्वान् अवाजिन (मूर्ख) का उपहास नहीं करते और गधे को घोड़े के साम्हने से नहीं ले जाते । प्रयोजन यह कि-मेरे मन्त्र बल को न जान कर मुझे ले जाने की तुम बड़ी भूल करते हो । मैं विद्वान् हूँ, उस मूर्ख वसिष्ठ की हांसी नहीं करना चाहता । एवम् घोड़े से गधे का साम्हना जैसा अनुचित है, वैसे मेरा भी उस के साथ है ॥ ६, १७ ॥

(७ खं०)

[निरु०] "कनीनकेव[1] विद्रधे[18] नवे द्रुपदे[19] अर्भके ।

१-"कनीनकेव विद्रधे" इति वामदेवस्यार्षम् ।

बभ्रूयामेषु शोभेते ॥ " [ऋ० सं० ३, ६, ३०, ७]

(भा०) 'कनीनके' कन्यके। 'कन्या' कमनीया भवति। क-इयंनेतव्या'-इतिवा (कमनेन आनीयते इतिवा) कनतेर्वा स्यात् कान्तिकर्मणः। 'कन्ययोरधिष्ठानप्रवचनानि सप्तम्या एकवचनानि' इति शाकपूणिः। विद्धयो र्दारुपाद्योः। 'दारु' दृणातेर्वा। द्रूणातेर्वा। तस्मादेव 'द्रु'। 'नवे' नवजाते। 'अर्भके' अवृद्धे। ते यथा तदाधिष्ठानेषु शोभेते, एवं बभ्रूयामेषु शोभेते। बभ्रोः अश्वयोः संस्तवः।

'इदं च मे अदात्, इदंच मे अदात्'- इति ऋषिः प्रसंख्याय आह—

[20] "सुवास्त्वा अधितुग्वनि" [ऋ० सं० ६,१,३५,७]

(भा०) 'सुवास्तु'र्नदी। 'तुग्व' तीर्थं भवति। तूर्णमेतत् आयन्ति। [21] कुविन्नंसन्तेमरुतः पुनर्नः" [ऋ० सं० ५, ४, २८, ५]

(भा०) पुनर्नो नमन्ते मरुतः।

'नसन्त' (२२) इति उपरिष्टाद् (१२ अ०) व्याख्यास्यामः। [23] "ये ते मदा आहनसो विहायसस्तेभिरिन्द्रं चोदय दातवे मघम्।" (ऋ० सं० ७,२,२३,५)

(भा०) ये ते मदा आहननवन्तो वञ्चनवन्तः, तैः–इन्द्रं चोदय दानाय मघम् ॥ ७ (१५) ॥

अनुवादः ।

मन्त्रार्थः–हे इन्द्र! 'विद्रधे' (१८) बहुत दृढ 'नवे' नवीन 'अर्भके' ठीक परिमाण से युक्त 'द्रुपदे' खड़ाऊंओंके ऊपर चढ़ी हुईं 'कनीनका'–'इव' दो कन्याओंके समान 'यामेषु' घुड़शाल में 'बभ्रू' भूरे रंग वाली घोड़ियें 'शोभेते' सुहाती हैं ॥

निरुक्तार्थः–'कनीनका' दो कन्याएं । 'कन्या' क्यों? कमनीय (वाञ्छनीय) होती है। [सभी उसे चाहते हैं] अथवा 'कहां यह पहुंचाना चाहिये' यह उस के अर्थ पिता चिन्ता करता है। अथवा कमन (सुन्दर वर) से आनयन की जाती है (लाई जाती है)। अथवा इच्छार्थक 'कन्' (भ्वा०प०) धातु से है।

"'विद्रधे' 'नवे' 'द्रुपदे' 'अर्भके' ये चारों पद कन्याओं के अधिष्ठान (खड़ाओं) के जनाने वाले सप्तमी के एकवचन हैं" यह शाकपूणि आचार्य मानतेहैं।

'विद्रयोः' नीचे से घोड़े के खुर के आकार में घड़ी हुईं, 'दारुपाद्वोः' दो काष्ठकी पादुकाएं (खड़ाऊं जोड़ी) इस प्रकार अर्थ का अनुसन्धान कर के यास्काचार्य उक्त चारों पदों को द्विवचनान्त मानते हैं।

'दारु' शब्द 'दॄ' विदारणे (क्र्या० प०) धातु से है। अथवा 'द्रू' (क्र्या० प०) धातु से है। उसी धातु से 'द्रु' शब्द है। 'नवे' नई बनी हुईं 'अर्भके' अवृद्ध या बड़ी नहीं (ठीक

परिमाण से बनी हुईं)। वे दो कन्याएं जिस प्रकार उन अधिष्ठानों (खड़ाऊंओं) पर शोभित होती हैं, उसी प्रकार यामों (अश्वशालाओं) में बभ्रु (बादामी रंगकी) घोड़िएं शोभित होती हैं [यह-] बभ्रु वर्ण वाली घोडियों की स्तुति है ॥

व्याख्या ।

"कनीनकेव" [ऋ०सं० ३,६,३०,७] यह मन्त्र 'विद्रधे' (१८) 'द्रुपदे' (१६) इन दो पदों के उदाहरण में दिया है। 'विद्रध' नाम विदृढ या विशेष दृढ का, और 'द्रुपद' 'द्रु' वृक्ष, उसके बने हुए पद (पैर) का है। इन पदों की विभक्ति के वचनमात्र में शाकपूणि और यास्क के मत का भेद है। मन्त्र में जैसे रूप दिए हुए हैं, वे व्याकरण में एकवचन और द्विवचन में समान ही सिद्ध होते हैं। और अर्थ भी दोनों प्रकार से संगत होता है। इसी से दोनों ही मत सफल हो जाते हैं।

'तुग्वनि' (२०) शब्द के निगम की भूमिका—

[निरुक्तार्थ-] 'यह मुझे दिया' 'यह मुझे दिया इस प्रकार (त्रसदस्युराजा के दान की) गणना करके (काण्व सौभरि) ऋषि कहता है—

(" उतमे प्रयियोर्वयियोः) " सुवास्त्वा अधि तुग्वनि " (तिसृणां सप्ततीनां श्यावः प्रणेता भुवद् वसुर्दियानां पतिः " [ऋ० सं० ६, १,३५, ७] ॥

अर्थात्- (और 'प्रयियु' जिसपर चढकर चलते हैं, अश्व

२०

आदि धन) सुवास्तू नदी के ' तुग्वनि ' तीर्थपर (मुझे दिया 'वयियु' विनाहुआ वस्त्र आदि धन मुझे दिया। तीन सप्तति (७०) अर्थात् दोसौ दश (२१०) गौओंके आगे चलने वाला

'श्याव' श्याम वर्ण वृषभ (सांड) 'भुवद्‌-वसु' धनों को उत्पन्न करने वाले 'दियानां पतिः' दान योग्य धनों के स्वामी त्रसद्-स्यु ने मुझे दिया ॥

व्याख्या ।

यहां दान के सम्बन्ध से 'सुवास्तु' शब्द नदी का वाचक होता है क्योंकि—नदी पर दान करना प्रसिद्ध है । और नदी के सम्बन्ध से ही 'तुग्वन्' शब्द तीर्थ का वाचक होता है । भाष्यकार ने इस प्रकार से यह भी सूचित किया कि-निगम (मन्त्र) के अर्थके निश्चयार्थ सूक्त का अर्थ भी देख लेना चाहिए

जिस ऋचा में सौभरि ऋषिने त्रसदस्यु के दान की बड़ाई पहिले की है, वह ऋचा—

" अदान्मे पौरुकुत्स्यः पञ्चाशतं त्रसदस्युर्वधूनाम् ।
मंहिष्ठो अर्यः सत्पतिः" [ऋ० सं० ६, १, ३५, ६]

यह ऋचा कण्वके पुत्र सौभरि ऋषि की है । वह कहता है कि-'मंहिष्ठ' बड़ा पूजनीय 'अर्य्य' ईश्वर 'पौरुकुत्स्य' बहुत शत्रुओं को मारने वाले का पुत्र 'त्रसदस्यु' दस्युओं (डाकुओं) को डराने वाले राजा ने 'पञ्चाशत्' पचास (५०) 'वधू' ब्याहने योग्य कन्याएं 'मे' मुझे 'अदात्' दी हैं ॥

इन दोनों ऋचाओं में नदी तीर्थ पर दान करने की महिमा और कन्याओं के दान की महिमा तथा एक पुरुष को अनेक वधू देने की महिमा आती है । ऐसे दानों को वेद में ढूंढने वालों के लिये ये ऋचाएं पूरा सन्तोष देने वाली हैं ।

निरुक्तार्थ-'नसन्त' (२१) शब्द का निगम—

"कुविन्नंसन्ते मरुतःपुनर्नः" (ऋ०सं०५,४,२८,४)।

अर्थात्–'मरुतः' मरुत् देवता 'नः' हमारे अर्थ 'पुनः'फिर 'कुवित्' बहुत 'नंसन्ते' वर्षा आदि उपकार से झुकते हैं।

'नसन्त' (२१) आगे १२वें अध्याय में व्याख्यान करेंगे।

आहनसः (२३) शब्द का निगम—

"येतमदा" ० ० (ऋ० सं० ७, २, ३३, ५)

अर्थात् हे सोम! 'ये' जो 'ते' तेरे 'मदाः' मद 'आहनसः' बन्धन या मोहित करने वाले 'विहायसः' और बड़े हैं, 'तेभिः' उन मदों से 'मघम्' धन को 'दातवे' देने के अर्थ 'इन्द्रम्' इन्द्रदेव को 'चोदय' प्रेरणा कर (जिससे कि-वह उन्मत्त होकर हमें धन दे।) ७ (१५)॥

१ (८ खं०)

[निरु०] "उपो अदर्शि शुन्ध्युवो न वक्षो नोधा इवाविरकृत प्रियाणि। अद्मसन्न ससतो बोधयन्ती शश्वत्तमागात्पुनरेयुषीणाम्॥" [ऋ० सं० २, १, ७, ४]

(भा०) उपादर्शि 'शुन्ध्युवः'। 'शुन्ध्युः' आदित्योभवति। शोधनात्। तस्यैव वक्षो भासाध्यूढः (म्) इदमपि इतरद् 'वक्षः' एतस्मादेव। अध्यूढं काये। शकुनिरपि शुन्ध्युरुच्यते। शोधनादेव। उदकचरो भवति। आपोऽपि 'शुन्ध्यवः'

१ "उपो अदर्शि" इति कक्षीवतः आर्षम्। औषसी। त्रिष्टुप् छन्दः। प्रातरनुवाकाश्विनयोः शस्यते।

उच्यन्ते । शोधनादेव । 'नोधा' ऋषिर्भवति । नवनं दधाति। स यथा कामान् आविष्कुरुते, एवम् उषाः रूपाणि आविष्कुरुते । 'अद्मसत् (२४)' । 'अद्म' अन्नंभवति । अद्मसादिनी-इतिवा। अद्मसानिनी इतिवा । ससतोबोधयन्ती "शश्वत्तमागात्पुनरेयुषीणाम् ।" (स्वपतो बोधयन्ती ।) शाश्वतिकतमा आगात् पुनरेयुषीणाम् ।

"तेवाशीमन्त इष्मिणः" (२५) [ऋ० सं० १,६,१३,६] ईषणिनः-इतिवा । एषणिनः-इतिवा । आर्षणिनः-इतिवा 'वाशी' इतिवाङ्नाम । वाश्यते इतिसत्याः ।

"शंसावाध्वर्य्यो प्रति मे गृणीहीन्द्राय वाहः (२६) कृणवाव जुष्टम् ।" [ऋ०३,३,१९,३]

अभिवहनस्तुतिम् अभिषवणप्रवादो स्तुतिं मन्यन्ते । ऐन्द्री त्वेव शस्यते ।

'परितक्म्या' (२७) इति उपरिष्टाद्व्याख्यास्यामः ॥ ८ (१६) ॥

इति चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ ४, २ ॥

अनुवादः ।

मन्त्रार्थ—यह उषा 'शुन्ध्युवः' आदित्य के मण्डल में 'वक्षः' छाती के 'न' समान 'उप' उपश्लिष्ट या चपकी हुई

'अदर्शि' दिखाई देती है। [क्योंकि उषा (सवेरे की लाली) के पीछे ही आदित्य-मण्डल उदय हो जाता है।] 'नोधाः' नोधस् ऋषि के 'इव' समान (यह उषा) 'प्रियाणि' प्यारी वस्तुओं को 'आविः-अकृत' प्रकट करती है । 'अद्मसत्' अन्न (रसोई) बनाने वाली स्त्री के 'न' समान 'ससतः' सोए हुओं को 'बोधयन्ती' जगाती हुई 'पुनः-एयुषीणाम्' जा कर फिर आने वालियों में मुख्य 'शश्वत्तमा' सदा रहने वालियों में से एक यह उषा 'आगात्' आती है ॥

निरुक्तार्थ—शुन्ध्यु (आदित्य) के लगी हुई दिखाई देती है। 'शुन्ध्यु' आदित्य होता है। क्यों शोधन से। [अर्थात् जो कुछ भी अशुद्ध होता है, उसे अपनी किरणों से शुद्ध कर देता है।] उसी आदित्य का वक्षस् (छाती) प्रकाश से पूर्ण है।

यह दूसरा 'वक्षस्' (मनुष्य की छाती) भी इसी से है। क्योंकि वह काय (शरीर) में अध्यूढ (जमा हुआ) है ॥

शकुनि (पक्षी) भी 'शुन्ध्यु' कहलाता है। क्यों ? शोधन से ही। जिससे कि- वह जलमें विचरता है। जल भी 'शुन्ध्यु' कहलाते हैं। क्यों ? शोधन से ही। (अपवित्र वस्तु से लिपे हुए वस्त्र आदि जलसे शुद्ध हो जाते हैं।)

'नोधस्' ऋषि होता है। क्योंकि-वह नवन या स्तोत्र को धारण करता या रचता है। वह जैसे कामों (वाञ्छाओं) को प्रकट करता है, उसी प्रकार उषा रूपों को प्रकाश करती है।

'अद्मसत्' (२४)। 'अद्म' अन्न होता है। अर्थात् अद्म-सादिनी अन्न को सुधारकर रखने वाली, या अद्मसानिनी अन्न को सानने वाली रसोई बनाने वाली स्त्री (अद्मसत् कह

जाती है।) सोतेहुओं को जगाती हुई। फिर आनेवालियों में से एक सदा रहने वाली (उषा) आती है।

'इष्मिणः' (२५) का निगम—

" तेवाशीमन्त इष्मिणः " (ऋ०सं०१,६,१३,६)

अर्थात्—'ते' वे मरुत् 'वाशीमन्तः' वाग्मी या वाणी वाले 'इष्मिणः' गमनवाले या इच्छा वाले हैं।

निरुक्तार्थ- 'ईषणिनः' गमनवाले। अथवा 'एषणिनः' इच्छा वाले। अथवा 'आर्षणिनः' अभिमुख (संमुख) भाव से सब पदार्थों के द्रष्टा या देखने वाले।

'वाशी' यह वाक् (वाणी) का नाम है। 'वाश्यते' चाही जाती है, इस कर्मवाच्य क्रिया से है।

'वाहस्' (२६) यह अनवगत पद है, पञ्च से अनेकार्थ है, उसका उदाहरण—

"शंसाध्वर्यो००" ऋ० सं० ३, ३, १६, ३)

अर्थात् हे अध्वर्यो ! तू आ, मुझे प्रतिगिरा (प्रतिवचन) दे, हम दोनों स्तोत्र करें। इन्द्रके लिये 'वाहस्' (२६) स्तोत्र करें (या सोमोदक-पूर्ण अधिषवण फलक (पात्र) करें।)

कोई आचार्य्य अभिवहन (सोमोदक पूर्ण फलक) की स्तुति मानते हैं। किन्तु इन्द्र देवता के लिये ही (यहऋचा) शस्त्र की जाती है। ('वाहस्' शब्द के व्याख्यान के अतिरिक्त इस मन्त्र के संबन्ध में आचार्य इतना ही और कहना चाहते हैं, यह अभिप्राय है।)

'परितक्म्या' (२७) इस शब्द की व्याख्या निरुक्त के ११वें अध्याय में " किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमानट " [ऋ०सं० ८, ६, ४, १,] इस मन्त्र में करेंगे।

इति चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः॥

चतुर्थेऽध्याये

तृतीयः पादः

(१ खं०)

[निरु०-] 'सुविते'(२८)। सुइते। सूते। सुगते। प्रजायामितिवा। "सुविते माधा।" [य०वा०सं० ५, ५] इत्यपि निगमो भवति।

'दयतिः' (२९) अनेककर्मा। "नवेन पूर्वं दयमानाः स्याम" [य०वा० २८, १६] इति उपदयाकर्मा [1]"य एक इद् विदयते वसु" [ऋ०सं० १, ६, ६, २] इति दानकर्मा वा विभागकर्मा वा। दुर्वर्त्तु भीमो दयते वनानि" [ऋ०सं० १, ६, ८, ५] इति दहातिकर्मा। 'दुर्वर्त्तुः' दुर्वारः। "विदद्वसुर्दयमानो विशत्रून्" [ऋ०सं०३,२,१५,१] इति हिंसाकर्मा।

" इमे सुता इन्दवः प्रातरित्वना सजोषसा पिबतमश्विना तान्। अहं हि वामूतये वन्दनाय मां वायसो दोषा दयमानो अबूबुधत् "॥ 'दयमान' इति।

'नूचित्' (३०) इति निपातः पुराणनवयोः।

---

१ "यएक इद् विदयते वसु" इति राहुगणस्य गोतमस्यार्षम्। ऐन्द्री। उष्णिक्।

'नूच' (३१) इतिच ।

"अद्याचिन्नूचित्तदपोनदीनाम्" [ऋ० सं० ४, ७, २, ३,]

(भा०) अद्यच पुराच तदेव कर्म नदीनाम् ।

"नूच पुराच सदनं रयीणाम्" [ऋ०सं०१,७,४,२]

भा०-) अद्यच पुराच सदनं रयीणाम् । 'रयिः'-इति धननाम । रातेर्दानकर्मणः ॥ १ (१७) ॥

अनुवादः ।

निरुक्तार्थः-'सुविते' (२८) इस के 'सुइते' (सुन्दर गए हुए में) सूते (जनता है) इस प्रकार दो समानरूप शब्द हैं । जिससे सुन्दर गमन और प्रजा या जनने अर्थ में होता है । "सुविते माधाः" अर्थात् हे तानूनप्त्र! तू 'मा' मुझे 'सुविते' नाम 'सुगते' सुगत स्थान में (जहां गमन सुगमन हो,) 'धाः' धारण कर, अथवा 'सुविते' नाम 'सूते' प्रजा या सन्तान में धारण कर जिससे कि—मैं बहु-सन्तान होऊं यह भी निगम होता है । [निगम और भी बहुत हैं, यह 'भी' से सूचित होता है ।]

'दयतिः' (२६) शब्द अनेकार्थ है । उदाहरण—

"नवेन पूर्वं दयमानाः स्याम" [य०वा०२८,१६]अर्थात् " 'नवेन' नए धान्य से 'पूर्वम्' पुराणे धान्य की 'दयमानाः' रक्षा करते हुए 'स्याम' हम होवें ।"

यह उपदया या रक्षा अर्थ में है।

"यएक इद् विदयते वसु" [ऋ० सं० १, ६, ६, २] अर्थात् " 'यः' जो 'एकः-इत्' एक ही (इन्द्र) 'वि' नाना प्रकारसे 'वसु' धन को 'दयते' देता है या बांटता है।" इस प्रकार अथवा दान अर्थ में है, अथवा विभाग (बांटने) अर्थ में है।

"दुर्वर्त्तुर्भीमो दयते वनानि" [ऋ० सं० ४, ६, ८, ५]। अर्थात् " 'दुर्वर्त्तुः' नहीं हटनेवाला 'भीमः' सब प्राणियों को भय देने वाला अग्नि 'वनानि' वनों को 'दयते' जलाता है" इस मन्त्र में दाह अर्थ में है।

"विदद्वसु दयमानो विशत्रून्" [ऋ० सं० ३, २, १५, १] अर्थात् " 'विदद्वसुः' जिसे सब धन प्राप्त हैं, वह इन्द्र 'वि' अनेक प्रकार 'शत्रून्' शत्रुओं को 'दयमानः' मारता हुआ" इस मन्त्र में हिंसा अर्थ में है।

" इमे सुता इन्दवः दयमानो अबूबुधत् " अर्थात् हे अश्विना! अश्विनो! 'इमे' ये 'सुताः' निचोड़े हुए 'इन्दवः' सोम हैं तुम दोनों 'सजोषसा' प्रीतियुक्त 'मातरिश्वना' प्रातःकाल ही गमन करने वाले इन्द्र के साथ 'तान्' उन सोमरसों को 'पिबतम्' पीओ। 'हि' क्योंकि 'अहम्' मैं 'कतवे' वाञ्छित सिद्धि के लिये 'वाम्' तुम दोनोंको 'वन्दनाय'

वन्दना करता हूं, या वन्दना के लिये उद्यत हूं। 'दयमानः' आकाश देश से नीचे की ओर उड़ते हुए 'वायसः' काक ने 'दोषा' रात्रिके समय 'माम्' मुझे 'अबूबुधत्' नींद से उठाया। इस मन्त्र में 'दय' धातु का गति अर्थ है। [इस मन्त्र में काक के स्पर्श की अशुभ सूचकता और उस की शान्ति के लिये अश्विनीकुमारों की स्तुति है। यह भी एक शकुन शास्त्र का मूल है ॥ 'नूचित्' (३०) यह निपात पुराणे और नवीन अर्थ में है। और 'नूच' (३१) यह भी इन्ही दोनों अर्थों में है [उदाहरण] "अद्याचित्"००[ऋ०सं० ४, ७, २, ३] अर्थात् 'अद्याचित्' अब 'नूचित्' पहिले 'तत्' वही 'नदीनाम' नदियों का 'अपः' कर्म है।

"नूच पुराच सदनं रयीणाम्।" [ऋ० सं० १, ७, ४, २] 'नूच' अब 'पराच' और पहिले 'रयीणाम्' धनों का 'सदनम्' स्थान है। 'रयि' यह धन का नाम है। दानार्थक 'रा' (अदा० प०) धातु से है। १ (१७) ॥

(२ खं०)

[निरु०] "विद्याम[1] तस्यतेवय मकूपारस्य (३२) दावने (३३)।" [ऋ० सं० ४, २, १०, २]

(भा०) विद्याम तस्य ते वयम्-अकुपरणस्य दानस्य। आदित्योऽपि 'अकूपारः' उच्यते। अकूपारो भवति दूरपारः। समुद्रोऽपि 'अकूपारः'

---

१ "विद्याम तस्य" इति अत्र भौमस्य इयमार्षम्। अच्छावाकस्य तार्तीयसवनिके आवापे नियुक्ता।

उच्यते । अकूपारो भवति महापारः । कच्छपोऽपि 'अकूपारः' उच्यते । 'अकूपारः' 'न कूपम्-ऋच्छति' इति । 'कच्छपः' कच्छंपाति । कच्छेन पाति-इतिवा । 'कच्छः' खच्छः, खच्छदः । अयमपि-इतरो नदी-कच्छ एतस्मादेव । कम्-उदकं तेन छाद्यते ।

(३४)

"शिशीते शृङ्गे रक्षसे विनिक्षे" [ऋ० सं० ३, ८, १५, ३]

(भा०) निश्यति शृङ्गे रक्षसो विनिक्षणाय । 'रक्षः' रक्षितव्यम्-अस्माद् रहसि । क्षणोति-इतिवा रात्रौ नक्षते-इतिवा ।

(३५)

"अग्निः सुतुकः सुतुकेभिरश्वैः" [ऋ०७,५,२१,७]

(भा०) सुतुकनः, सुतुकनैः-इतिवा । सुप्रजाः, सुप्रजोभिः-इतिवा ।

(३६)

"सुप्रायणा अस्मिन् यज्ञे विश्रयन्ताम् ।" [य० का सं० वा सं० २८, ५] ।

(भा०) सुप्रगमनाः २ (१८) ॥

अनुवादः ।

'दावने' (३२) (दानस्य) और 'अकूपारस्य' (३३) (अकुपरणस्य) इन दो अनवगत पदों का निगम—

"विद्याम"०७ [ऋ० सं० ४, २, १०, २] अर्थात् हम 'तस्य' उस 'ते' तेरे 'अकूपारस्य' अकुपरण (जिस की पूर्त्ति निन्दित नहीं है) 'दावने' दान की 'विद्याम' जानते हैं। निरुक्तार्थ—हम उस तेरे उत्तम दान को जानते हैं। आदित्य भी 'अकूपार' कहा जाता है। 'अकूपार' क्यों? दूर पार (जिस का पार या किनारा दूर है)। है। समुद्र भी 'अकूपार' कहा जाता है। क्यों कि अकूपार नाम महापार या विस्तृत पार वाला होता है। कछुआ भी 'अकूपार' कहा जाता है। क्यों कि वह कूप को (अल्प जल के कारण) नहीं जाता है (किन्तु बहुत फैले हुए जल को ही जाता है।)

'कच्छप' क्यों? 'कच्छ' नाम मुखसम्पुट को 'प' नाम रक्षा करता है। [क्योंकि वह किसी वस्तु को भी देख कर अपने शरीर में ही मुख को छिपा लेता है। 'कच्छ' नाम मुख-संपुट अर्थ में प्रसिद्ध है।] अथवा कच्छ नाम कटाह (कड़ाही) से और अङ्गों को 'प' नाम रक्षा करता है। [क्यों कि वह कुछ भी देख कर अपने सब अङ्गों को कटाह (कड़ाही जैसे अङ्ग) में प्रवेश करके कूर्म के रूप में अवस्थित हो जाता है। अथवा 'कच्छ' नाम मुखसम्पुट से 'प' नाम पीता है।]

'कच्छ' क्यों? जिससे कि—'खच्छ' है। 'खच्छ' क्या? खच्छद खच्छद अर्थात् ख नाम आकाश को छादन करता है। [क्योंकि—वह मध्यमें स्थिर होता है। यह भी दूसरा नदी-कच्छ इसी निर्वचन से है। 'क' जल उस से छादन होता है।

'शिशीते' (३४) का निगम—

"शिशीते शृङ्गे रक्षसे विनिक्षे" [ऋ०सं०३,८,१५, ३]. अर्थात्—अग्नि देव 'रक्षसे' राक्षस के 'विनिक्षे' विनाश के अर्थ

'शृङ्गे' सींगों को 'शिशीते' पैनाता है। [जिस प्रकार वृष (बैल) तटोंको फोड़ता हुआ अपने सींगों को पैनाता (तीक्ष्ण करता) है, उसी प्रकार अग्नि काष्ठों को जलाता हुआ अपनी ज्वालाओं को तीक्ष्ण करता है।]

निरुक्तार्थ—राक्षस के विनाश के लिये सींगों को तीक्ष्ण करता है। 'रक्षस्' क्यों ? इस से एकान्त देश में रक्षा करना योग्य होता है। अथवा रात्रिकाल में वह 'नक्षते' विचरता है।

'सुतुके' (३५) अनवगत शब्द का निगम—

"अग्निः सुतुकः सुतुकेभिरश्वैः" [ऋ०सं०७,५३१, ७] अर्थात्–'अग्निः' हे अग्ने ! (प्रथमान्त पद सम्बोधन में बदला जाता है। क्योंकि–मन्त्रमें 'आवर्त्ते' मध्यम पुरुष की क्रिया है।) तू 'सुतुकेभिः' (सुतुकनैः) सुन्दर गमन करने वाले 'अश्वैः' घोड़ों से 'सुतुकः' (सुतुकनः) सुन्दर गमन करने वाला है।

'सुप्रायणा.' (३६) इस अनवगत पद का निगम—

"सुप्रायणा अस्मिन् यज्ञे विश्रयन्ताम्" [य० का० सं० वा० सं० २८, ५]। अर्थात् 'अस्मिन्' इस 'यज्ञे' यज्ञ में ('दुरः') द्वार 'सुप्रायणाः' 'सुप्रगमनाः' अच्छे प्रकार से गमन करने योग्य 'विश्रयन्ताम्' खुलें ॥ २ (१८) ॥

(३ खं०)

[निरु०] "देवानो[1] यथा सदमिद्वृधे असन्नप्रायुवो (३७) रक्षितारो दिवेदिवे" ॥ [ऋ०सं० १, ६, १५, १]

१–"देवानो यथा" इति गोतमस्य इयमार्षम्। अग्निष्टोमे महाव्रते तृतीयसवने वैश्वदेवे शस्त्रे शस्यते।

(भा०) देवा नो यथा सदावर्द्धनायस्युः, 'अप्रायुवः'(३७) अप्रमाद्यन्तः रक्षितारश्च अहनिअहनि ॥

'च्यवनः'(३८) ऋषिर्भवति । च्यावयिता स्तोमानाम् । 'च्यवानम्' इति । अप्यस्य निगमा भवन्ति ।

"युवं च्यवानं सनयं यथा रथं पुन र्युवानं चरथाय तक्षथुः ॥" [ऋ० सं० ७, ८, १५, ४]

(भा०-) युवां च्यवनं सनयं पुराणं यथा रथं पुन र्युवानं चरणाय ततक्षथुः । 'युवा' प्रयौति कर्माणि । 'तक्षतिः' करोतिकर्मा ॥

'रजः' (३९) रजतेः । ज्योतिः रजः उच्यते । उदकं रजः उच्यते । लोकाः रजांसि उच्यन्ते । असृगहनी रजसी उच्येते । ("रजांसि चित्रा विचरन्ति तान्यव" इत्यपि निगमो भवति) ॥

'हरः' (४०) हरतेः । ज्योति र्हरउच्यते । (उदकं हर उच्यते ।) लोकाः हरांसि उच्यन्ते । (असृगहनी हरसी) उच्येते । "प्रत्यग्ने हरसा हरः शृणीहि" [ ] इत्यपि निगमो भवति ।) ॥

" 'जुहुरे' (४१) विचितयन्तः" (ऋ०सं०४,१,११,२) ।

(भा०) जुह्विरे विचेतयमानाः ॥

'व्यन्तः' (४२) इति एषः अनेककर्मा । "पदं देवस्य नमसा व्यन्तः" [ऋ० सं०४,४,३५,४] इति पश्यतिकर्मा । "वीहि शूर पुरोडाशम्" (ऋ० सं० ३, ३, ३, ३) इति खादतिकर्मा । "वीतं पातं पयस उस्रियायाः ।" (ऋ० सं० २, २, २३, ४] । (भा० -) अश्नीतं पिबतं पयसः उस्रियायाः । 'उस्रिया'-इति गोनाम । उत्स्राविणोऽस्यां भोगाः । ('उस्रा'-इति च ।)

"त्वामिन्द्र मतिभिः सुते सुनीथासो वसूयवः । (४३)
गोभिः क्राणा अनूषत ।" [ ]
(भा० -) गोभिः कुर्वाणाः अस्तोषत ॥

(४४)
"आतूषिञ्च हरिमीं द्रोरुपस्थे वाशीभिस्तक्षताश्मन्मयीभिः ।" [ऋ०सं० ८, ५, १९, ४] (भा०) आसिञ्च हरिं द्रोरुपस्थे द्रुममयस्य । 'हरिः' सोमः, हरितवर्णः । अयमपि इतरो हरिः एतस्मादेव । 'वाशीभिः' तक्षताश्मन्मयीभिः । 'वाशीभिः' (४४) अश्ममयीभिः इतिवा । वाग्भिः-इतिवा ।

(४५)
"सशर्द्धदर्यो विषुणस्य जन्तोर्मा शिश्नदेवा

अपिगुर्क्ऋतंनः" [ऋ० सं० ५, ३, ३, ५] । (भा०) सः उत्सहतां, यो विषुणस्य जन्तोर्विषमस्य । मा शिश्नदेवाः अब्रह्मचर्य्याः । 'शिश्नं' श्नथतेः । "अपिगुर्क्ऋतंनः ।" (भा०) सत्यंवा यज्ञंवा ॥३[१९]॥

अनुवादः ।

'अप्रायुवः' (३७) अनवगत पद का निगम—

"देवानो यथा००" [ऋ०सं १, ६, १५, १] अर्थात् 'यथा' जिस प्रकार 'नः' हमारी 'वृधे' वृद्धि के लिये 'सदम्-इत्' सदा ही 'दिवे-दिवे' (अहनि अहनि) दिन दिन 'देवाः' देवता 'अप्रायुवः' (३७) (अप्रमाद्यन्तः) प्रमाद नहीं करते हुए 'रक्षितारः (च)' और रक्षा करते हुए 'असन्' (स्युः) होवें, [उसी प्रकार वे सोम यज्ञ या सगुण काम आवें ।]

'च्यवन' (३८) ऋषि होता है । क्यों कि-स्तोमों (मन्त्रों) का चुवाने वाला या देखने वाला है ।

'च्यवान' इस नाम से भी इस (भृगु के पुत्र ऋषि) के निगम हैं—

"युवं च्यवानं००" [ऋ० सं० ७, ८, १५, ४] अर्थात् हे 'अश्विनौ!' अश्विनी कुमारो ! 'युवम्' (युवाम्) तुम दोनों ने 'यथा' जैसे 'सनयम्' पुराणे 'रथम्' रथ को [कोई शिल्पी नवीन या चलने योग्य बनादे,] वैसे ही 'सनयम्' बूढ़े (चलने में असमर्थ) 'च्यवानम्' च्यवन ऋषि को 'चरणाय' चलने के अर्थ पुनः' फिर 'युवानम्' युवा (जवान) 'ततक्षुः' (ततक्षथुः) बना दिया (कर दिया) ॥ 'युवा' क्यों?

वह कर्मों को जैसा चाहिए युवाता (सम्पादन करता है ।) 'तक्ष' (भ्वा० प०) धातु 'करोति' करना अर्थ में है ।

रजस् (३९) 'रञ्ज' रागे (भ्वा० प०) धातु से है । ज्योति 'रजस्' कहा जाता है । जल 'रजस्' कहा जाता है । लोक 'रजस्' कहे जाते हैं । असृक् (रक्त) और अहन् (दिन) रजस् कहे जाते हैं । (" रजांसि चित्रा विचरान्ति तान्यव" यह भी निगम है ।) ॥

'हरस्' (४०) हरति 'हृञ्' हरणे (भ्वा० उ०) धातु से है । ज्योति 'हरस्' कही जाती है । [क्योंकि वह हर ली जाती है, या वह स्नेह (चिकनाई) को हर लेती है । अथवा तम (अंधेरे) को हर लेती है ।] जल 'हरस्' कहा जाता है (क्योंकि लोक उसे जीवन के अर्थ ले जाते हैं ।) लोक 'हरस्' कहलाते हैं । [क्योंकि जिन के पुण्य क्षीण हो जाते हैं, वे प्राणी वहां से हर लिये (हटा लिये) जाते हैं ।]

'जुहुरे' (४१) (जुह्विरे) इस अनवगत पद का निगम—

"जुहुरे विचितयन्तः" [ऋ० सं० ४, १, ११, २] अर्थात् 'जुहुरे' (जुह्विरे) अग्नि में होम करते हैं 'विचितयन्तः' (विचेतयमानाः) वेदान्त दर्शन से कर्त्ता, कर्म, और साधन रूप कारकों के यथार्थ रूप को जानते हुए ॥

'व्यन्तः' (४२) यह (वी० अदा० प० धा०) अनेकार्थ है । [निगम—]

"पदं देवस्य नमसा व्यन्तः" [ऋ० सं० ४, ४, ३५, ४] अर्थात् " 'देवस्य' अग्निदेव के 'नमसा' नमस्कार या मन्त्र से 'पदम्' यथार्थ (वास्तविक)

रूप को 'व्यन्तः' देखते हुए।" यहां दर्शन अर्थ में है।

"वीहि शूर पुरोडाशम्" [ऋ० सं० ३,३,३,३] अर्थात्—हे शूर ! इन्द्र ! 'पुरोडाशम्' पुरोडाश को 'वीहि' खा। इस मन्त्र में खाना (भोजन) अर्थ में है।

"वीतं पातं पयस उस्रियायाः" [ऋ० सं २, २, २३, ४] अर्थात्—हे मित्रावरुणो ! 'उस्रियायाः' उस्रिया के दूधसे बनी हुई 'पयसः' पयस्या के भाग को 'वीतम्' खाओ 'पातम्' पीओ। इस मन्त्र में भी भोजन अर्थ है। 'उस्रिया' यह गौका नाम है। क्योंकि– इस में भोग उत्पन्न होते हैं। (और 'उस्रा' यह भी गौका नाम है।)

'क्राणा.' (४३) (कुर्वाणाः) इस अनवगत पद का निगम—

"त्वामिन्द्र ० ० गोभिः क्राणा (४३) अनूषत" [ ] अर्थात्–'हे इन्द्र ! 'मतिभिः' बुद्धिमान् पुरुषों से 'सुते' सोमके निचुड़ जाने पर 'सुनीथासः' सुन्दर स्तुति करने में समर्थ 'वसूयवः' धन की कामना वाले पुरुष 'गोभिः' स्तुति की वाणियों से आभिमुख्य (सम्मुखता) 'क्राणाः' (कुर्वाणाः) करते हुए 'अनूषत' (अस्तोषत) स्तुति करते हैं।

'वाशी' (४४) अनवगत पक्षान्तर में अनेकार्थ है, उसका निगम—

"आतूषिञ्च ०० वाशीभिस्तक्षताश्मन्मयीभिः" [ऋ० सं० ८, ५, १६, ४] अर्थात्–हे अध्वर्यो ! 'हरिम्' इस हरे रंग के सोमको 'द्रोः' वृक्ष (काष्ठ) के 'उपस्थे' अधिषवण-फलक (पात्र) में 'आ-सिञ्च' डाल। ('ईम्' अनर्थक) हे होतारः ! होताओं ! तुम भी 'अश्मन्मयीभिः' (अश्ममयीभिः)

पत्थर की ' वाशीभिः ' ग्रावों (पात्रविशेषों) से ' तक्षत ' संस्कार करो (कूटो) ।

दूसरा अर्थ-हे उन्नेतः ! 'हरिम्' उस हरे सोमरस को इस कलश से 'द्रोः—उपस्थे' द्रोणकलशके ऊपर ' आसिञ्च ' भार । और तुम भी हे होताओ ! सींचेजाते हुए इस सोम को 'अश्मन्मयीभिः' व्यापन होती हुई 'वाशीभिः' स्तुतिओं से 'तक्षत' संस्कार करो ।

निरुक्तार्थ—द्रुम-मय या काठ के पात्र के ऊपर हरिको भली प्रकार सींच । 'हरि' नाम सोम हरे रँग का । यह दूसरा भी 'हरि' (वानरका नाम) इसी व्याख्यान से है । [क्योंकि-वह भी हरे रँग का होता है । रामायण में कहा है—

"शिरीषकुसुमप्रख्याःकेचित्पिङ्गलकप्रभाः, वानराः"

अर्थात् कोई सिरस के फूलके रँग के और कोई पीले वानर थे ।

"तक्षताश्मन्मयीभिः" इस मन्त्र में 'वाशीभिः' पदके पत्थर के पात्रों से अथवा वाणियों (स्तुतियों) से इस प्रकार दो अर्थ होते हैं ।

'विषुण' (४५) (विषम') इस अनवगत पद का निगम—

" स शर्द्धदर्य्यो विषुणस्य ०० " [ऋ०सं० ५, ३, ३,५] अर्थात्—हे इन्द्र ! 'सः' वह 'शर्द्धत्' (हमारे यज्ञ में) आसके, जो 'अर्य्यः' जितेन्द्रियहो,और 'विषुणस्य' (विषमस्य) यज्ञ के विध्वंस करने वाले ' जन्तोः ' मनुष्य के (दबाने में समर्थ हो ।) किन्तु-'शिश्नदेवाः' ब्रह्मचर्यसे रहित पुरुष 'नः' हमारे ' ऋतम् ' यज्ञ में या सत्य में 'मा' न 'अपिगुः'आवें ।

निरुक्तार्थ-वह उत्साह करे जो विषुण (विषम) यज्ञ के विध्वंस करने वाले का । न शिश्नदेव या ब्रह्मचर्य से

रहित। 'शिश्न' शब्द 'श्नथ' (भ्वा० प०) धातु से है। "अपि गुर्ऋतम्" यहां 'ऋत' नाम सत्य का है, अथवा यज्ञ का है॥ ३ (१९)॥

(४ खं०)

[निरु०-] "आघातागच्छानुत्तरा[1] युगानि यत्र (४६) जामयः कृणवन्नजामि। उपबर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्वसुभगे पतिं मत्।" [ऋ०सं०७,६,७,५]

(भा०-) आगमिष्यन्ति तानि उत्तराणि युगानि, यत्र जामयः करिष्यन्ति अजामिकर्माणि। 'जामि' (४६) अतिरेकनाम। बालिशस्य वा। असमानजातीयस्य वा। उपजनः (मिः)। उपधेहि वृषभाय बाहुम्, 'अन्यम्-इच्छस्व सुभगे! पतिं मत्'-इति व्याख्यातम्॥ ४ (२०)॥

अनुवादः।

'जामि' (४६) यह अनेकार्थ अर्थात् भगिनी, मूर्ख, और पुनरुक्त अर्थमें है। इस का निगम नीचे है, जिसमें यमका उसकी बहिन यमी के प्रति वचन है

"आघाता गच्छा ००" [ऋ० सं० ७, ६, ७, ५]

अर्थात्- ('घा' अनर्थक) 'ता' (तानि) वे 'उत्तरा' (उत्तराणि)

१-"आघाता" इति यम ऋषिः। यमी देवता। त्रिष्टुप्छन्दः।

पिछले 'युगानि' युग 'आ-गच्छान्' (आगमिष्यन्ति) आवेंगे। [वे भी काल अभी वर्त्तमान नहीं है।] 'यत्र' जिनमें 'जामयः' भाइयों की बहिनें 'अजामि' बहिनों के अयोग्य मैथुन आदि कर्मों को 'कृणवन्' (करिष्यन्ति) करेंगी। [क्योंकि—वैसा संकर कलियुग के अन्त में होता है, और यह कलियुग नहीं है। इस लिये अभी तक वर्णसंकर धर्म चला नहीं है। किन्तु सब प्रजा अपने सदाचार ही में हैं। इससे मैं कहता हूं—

"उपबर्बृहि००" अर्थात्—तू 'वृषभाय' अन्य कुलमें उत्पन्न हुए हुए योग्य वर के लिये 'बाहुम्' भुजाको 'उपबर्बृहि' फैला [सर्वथा मैथुनधर्म के लिये प्रार्थना करने पर भी मैं तेरा पति न हूंगा।] [इसी से कहता हूं—]

"अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्" अर्थात्-हे सुभगे! 'मत्' मुझसे 'अन्यम्' दूसरे 'पतिम्' पतिको 'इच्छस्व' इच्छा कर।

इस प्रकार इस सूक्त में संवाद के अधिकार के कारण 'जामि' शब्द से भगिनी ही कही जाती है।

निरुक्तार्थ—आवेंगे वे उत्तर युग, जिनमें बहिनें अजामि-कर्म जो उनके योग्य नहीं हैं, करेंगी।

'जामि' (४६) अतिरेक (पुनरुक्त) का नाम है। [इस अर्थ में निगम खोजना होगा।] अथवा बालिश या मूर्खका नाम है। अथवा असमानजातीय या भिन्न जातिके मनुष्य का नाम है, 'जामि' इस शब्द में 'मि' यह प्रत्यय है। [जो ही अर्थ 'जा' से होता है, वही 'जामि' से।] भुजा को वीर्य्य देने वाले के लिये धारण कर। "अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्" यह अपने आप ही व्याख्या किया हुआ [स्पष्ट] है ॥ ४(२०) ॥

(५ खं०)

[निरु०] "द्यौर्मे[1] पिता (४७) जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्। उत्तानयो श्चम्वो ३ र्योनिरन्तरत्रापितादुहितुर्गर्भमाधात् ॥" [ऋ० सं० २, ३, २०, ३]

(भा०) "द्यौर्मे पिता" (४७) माता (पाता) वा पालयिता वा। जनयिता। "नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी" महती "इयम्"। 'बन्धुः' सम्बन्धनात्। 'नाभिः' सन्नहनात्। "नाभ्या सन्नद्धा गर्भा जायन्ते" इत्याहुः। एतस्मादेव ज्ञातीन् 'सनाभयः' इत्याचक्षते। 'सम्बन्धवः' इतिच। 'ज्ञातिः' सञ्ज्ञानात्। "उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तः।" 'उत्तानः' उत्ततानः। ऊर्ध्वतानो वा। तत्र पिता दुहितुर्गर्भं दधातिपर्जन्यः पृथिव्याः। (शंयुः सुखंयुः।)

"अथानः शंयोररपो दधात" (४८) (ऋ० सं० ७, ६, १७, ४)।

१—"द्यौर्मेपिता" इति। इयम् अस्यवामीयं दीर्घतमसः आर्षम्। तृतीयसवने वैश्वदेवे शस्यते।

(भा०) 'रपो' 'रिप्रम्' इति पापनामनी भवतः। शमनं च रोगाणां, यावनं च भयानाम् अथापि 'शंयुः' (४८) बार्हस्पत्य उच्यते।

"तच्छंयोरावृणीमहे गातुं यज्ञाय गातुं यज्ञपतये" इत्यपि निगमोभवति (भा०) गमनं यज्ञाय, गमनं यज्ञपतये" ॥ ५ (२१) ॥

इति चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ४, ३ ॥

अनुवादः।

'पिता' (४७) अनवगत शब्द का निगम—

"द्यौर्मे पिता" [ऋ० सं० २, ३, २०, ३] अर्थात् 'द्यौः' ऊपर वाला द्यु लोक 'मे' मेरा 'जनिता' उत्पन्न करने वाला, 'नाभिः' वीर्य के द्वारा नाभि देश में बांधने वाला, 'पिता' बाप है। 'अत्र' इस द्यु लोक रूप पिता के जल दान से अनुग्रहीता होने पर, 'बन्धुः' अङ्ग के सबन्ध को करने वाली 'मही' पूजनीया 'इयम्' यह 'पृथिवी' पृथ्वी 'मे' मेरी 'माता' मा है। 'उत्तानयोः' ऊपर को उठे हुए 'चम्वोः' द्यु लोक और पृथिवी लोक के 'अन्तः' बीच में 'योनिः' अवकाश दान से मिलाने वाला अन्तरिक्ष (आकाश) लोक है। 'अत्र' इस में 'पिता' द्युलोक ने 'दुहितुः' पृथिवी के ऊपर 'गर्भम्' सब प्राणियों की उत्पत्ति का कारण रूप जल (गर्भ) धारण किया।

निरुक्तार्थ द्यु लोक मेरा 'पिता' पालने वाला है। अथवा

उत्पन्न करने वाला है। 'नाभि' नाभिदेश में बांधने वाला। इस द्यु लोक में अङ्ग सम्बन्ध को जोड़ने वाली यह बड़ी या पूजनीय पृथिवी माता है। 'बन्धु' क्यों? सन्बन्ध करने से। 'नाभिः' क्यों? सन्नहन या बांध लेने से। [क्योंकि-] "नाभि [सूंडी] बंधे हुए गर्भ उत्पन्न होते हैं" ऐसा विद्वान् कहते हैं। इसी कारण से ज्ञातियों को 'सनाभि' इस नाम से बोलते हैं। और 'सम्बन्धु' यह भी (कहते हैं) 'ज्ञाति' क्यों? संज्ञान अच्छे प्रकार से ज्ञान या जानकारी से। ऊपर को उठे हुए द्यु लोक-पृथिवी लोक के बीच में अन्तरिक्ष है। उत्तान क्यों? उत्ततान है। अथवा ऊद्ध्र्वंतान ऊपर को तना हुआ है। उस में पिता पर्जन्य दुहिता [द्यु लोक से जलको दोहने वाली] पृथिवी पर गर्भ धारण करता है।

'शयु.' (४८) अर्थात् सुखयु सुखी। निगम—

"अथानः शंयो ररपो दधात" [ऋ० सं० ७, ६, १७, ७]। अर्थात्-हे पितरो! 'अथ' और 'नः' हमारे अर्थ 'शम्' रोगों की निवृत्ति 'योः' भयों का नाश और 'अरपः' जो कुछ पाप विना हित हो 'दधात' करो।

निरुक्तार्थ—'रपः' 'रिप्रम्' यह दो पापके नाम हैं। शमन रोगों का, और यावन (भगाना) भयों (डरों) का।

और 'शंयु' वृहस्पति का पुत्र भी कहा जाता है। 'तत्' (तदा) तब (हम) 'शंयोः' वृहस्पति के पुत्र से 'आ-वृणीमहे' सम्मुखभाव से मांगते हैं- 'यज्ञाय' यज्ञ के अर्थ 'गातुम्' देवताओं के प्रति जाने को, और 'यज्ञपतये' यजमान के अर्थ 'गातुम्' देवताओं के प्रति जाने को।' यह भी निगम है।

निरुक्तार्थ—यज्ञ के लिये गमन। यज्ञपति (यजमान) के लिये गमन ॥ ५ (२१) ॥

इति चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ४, ३ ॥

चतुर्थेऽध्याये-

चतुर्थः पादः ।

(१ खं०)

[निरु०] 'अदिति' (४९) अदीना देवमाता ॥ १ (२२) ॥

अनुवादः ।

'अदिति' यह अनवगत पद है। १ (२२)

क्योंकि—इसमे प्रकृति और प्रत्यय तथा अर्थ की प्रतीति नहीं होती। 'अदीना' इसका अवगम और देवमाता इसका अर्थ है।

निरुक्तार्थ-अदिति (४९) क्यों? वह अदीना है, दीन नहीं है, वह क्या? देवमाता। [यह अर्थ ऐतिहासिक पक्ष से है]

नैरुक्तो के मत मे 'अदिति' शब्द के उतने ही अर्थ है, जितने कही जाने वाली ऋचा में दिखाए है। अर्थात्—द्यौ, द्युलोक अन्तरिक्ष, माता, पिता, पुत्र, विश्व सर्व देव, पञ्चजन [गन्धर्व आदि या ब्राह्मण आदि] जात, भूत अनित्व, [भविष्यत् ।]

(२ खं०)

[निरु०] अदितिर्द्यौरदिति रन्तरिक्ष मदितिर्माता-[1]

---

१ "अदितिर्द्यौः" इति राहूगणस्य गोतमस्य इयमार्षम्। तृतीयसवने सर्वस्तोमेष्वेव, वैश्वदेवस्य शस्त्रस्य परिधानीया एषा।

सपिता सपुत्रः । विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदिति र्जात मदितिर्जनित्वम्' ॥ [ऋ० सं०१०, ६, १६, ५]

(भा०) इति अदिते र्विभूतिमाचष्टे । एनानि अदीनानि-इतिवा ।

"यमेरिरे (५०) भृगवः" [ऋ०सं० २,२,२,४]

(भा०) एरिरे इति 'ईर्त्तिः' (अदा० आ०) उप सृष्टोऽभ्यस्तः २, (२३) ॥

अनुवादः ।

मन्त्रार्थः—'अदितिः' देवमाता ही 'द्यौः' द्युलोक है। 'अदितिः' देवमाता ही 'अन्तरिक्षम्' अन्तरिक्ष है। 'अदितिः' देवमाता ही 'माता' सब प्राणियों को उत्पन्न करने वाली है। 'सः' वही 'पिता' पालक है। 'सः' वही 'पुत्रः' पुत्र है। 'अदितिः' देवमाता ही 'विश्वे' सब 'देवाः' देवता हैं। 'अदितिः' देवमाता ही 'पञ्च' पांच 'जनाः' जन हैं। 'अदितिः' देवमाता ही 'जातम्' बहुत क्या ? सर्वथा ही जो कुछ जगत् में उत्पन्न हुआ हुआ है, सब है। 'अदितिः' देवमाता ही 'जनित्वम्' जो होनहार जगत् है, सब है ॥

इस मन्त्र में ऋषि (जिसे मन्त्र का साक्षात्कार हुआ) अदिति की विभूति को कहता है। [क्योंकि देवता महाभाग होता है, उसे सब सम्भव है। यह माहाभाग्य दैवत काण्ड में कहा जावेगा।]

अथवा 'ये सब अदीन हैं' यह अर्थ है ॥ [मन्त्रार्थ में ऐतिहासिक पक्ष से 'अदिति' शब्द का सर्वत्र 'देवमाता' और नैरुक्त पक्ष में 'अदीन' अर्थ लेना ।]

'एरिरे' (५०) (आईरिरे) का निगम—

"यमेरिरे भृगवः" [ऋ० सं० २, २, २, ४] अर्थात् 'भृगवः' भृगुओं ने 'यम्' जिस (अग्नि) को 'एरिरे' (आईरिरे) प्रेरणा या स्थापन किया । 'एरिरे' इस पद में 'ईर्' (अदा० आ०) धातु 'आ' उपसर्ग से युक्त और दोहराया हुआ है ॥ २ (२३)

(३ खंड)

[निरु०-] "उतस्मैनं[1] वस्त्रमाथिं न तायु मनुक्रोशन्ति (५१) क्षितयोभरेषु । नीचायमानं जसुरिंनश्येनंश्रवश्चाच्छा पशुमच्च यूथम् ॥ " [ऋ०सं० ३,७,११,५] ।

(भा०-) अपि "स्म-एनम्" "वस्त्रमाथिम्" इव वस्त्रमाथिनम् । 'वस्त्रं' वस्तेः । 'तायुः'-इति स्तेन-नाम । "संस्त्यानम् अस्मिन् पापकम्-"इति नैरुक्ताः। तस्यतेर्वास्यात् । "अनुक्रोशन्तिक्षितयः" संग्रामेषु । 'भरः' इति संग्रामनाम । भरतेर्वा । हरतेर्वा । "नीचायमानं" नीचैः-अयमानम् ।

---

१ "उतस्मैनम्" इति वामदेवस्य आर्षम् । त्रिष्टुपछन्दः । दधिक्राव्णो सूक्त ।

'नीचैः' निचितं भवति । 'उच्चैः' उच्चितं भवति । जस्तमिव "श्येनम्" । 'श्येनः' शंसनीयं गच्छति । "अवश्चाच्छा पशुमच्चयूथम्" । अवश्चापि पशुमच्च यूथम् = प्रशंसांच यूथंच । 'धनंच यूथंच' इतिवा । 'यूथं' यौतेः । समायुतं भवति ।

(५२)
"इन्धान एनं जरते स्वाधीः" [ऋ०सं० ७,८,२८,१]
(५३)
गृणाति मन्दी, मन्दतेः स्तुतिकर्मणः ।
" प्रमन्दिने पितुमदर्चतावचः । " [ऋ०सं०१, ७, १२, १] (भा०) प्रार्चत पितुमद्वचः ।
५४
गौः व्याख्यातः ॥ ३ (२४) ॥

अनुवादः ।

'जसुरिः' (५१) (जस्तम्) अनवगत का निगम—

" उतस्मैनम् " [ऋ० सं० ३, ९, ११, ५] अर्थात्- 'क्षितयः' मनुष्य 'उत-स्म-एनम्' इस (इन्द्र) को 'वस्त्रमथिम्' वस्त्रों को छीन ले जाने वाले 'तायुम्' लुटेरेके 'न' समान और 'जसुरिम्' तांत आदि के तन्तु से बंधे हुए, 'नीचायमानम्' मुस्से आदि जन्तुओं को मारनेके अर्थ नीचानीचा चलने वाले 'श्येनम्' बाज के 'न' समान 'भरेषु' संग्रामों में 'अनुक्रोशन्ति' पुकारते (बुलाते) हैं । [इस प्रयोजन से कि] अवः-च-अच्छ' कब हम सुने कि-इन्होंने जय लाभ किया इत्यादि कीर्त्ति 'च'

और 'पशुमत्' अनेक जाति के पशुओं वाला 'यूथम्' समूह [हमारे हो] ॥

निरुक्तार्थ– इसी को । वस्त्रमथि या वस्त्रमाथी (वस्त्रों के छीन लेजाने वाले) के 'समान । 'वस्त्र' शब्द 'वस्' (अदा० आ०) धातुसे है । [क्योंकि-वह ढांपा जाता है ।] 'तायु' यह स्तेन या लुटेरे का नाम है । [क्योंकि-] 'इसमें पापकर्म संस्त्यान या इकट्ठा रहता है ' ऐसा नैरुक्त मानते हैं। अथवा 'तस्' उपक्षयार्थक (दिवा० प०) धातु से है । क्योंकि–वह अधार्मिक होने से हीन होता है । या परलोक की परवाह न करके कर्मों को करता है ।] संग्रामों में मनुष्य पुकारते हैं । 'भर' यह संग्राम का नाम है । अथवा 'भृ' (भ्वा०उ०) धातु से है । अथवा 'हृ' (भ्वा० उ०) धातु से है । 'नीचायमान' नीचे नीचे अयमान चलने वाला । 'नीचैः' क्यों ? निचित (झुकाहुआ) होता है । बँधेहुए श्येन (बाज) के समान । 'श्येन' क्यों ? शंसनीय (प्रशंसनीय) चलता है । "अवश्चाच्छा पशुमच्चयूथम्" कीर्त्ति और पशुओं वाला झुन्ड । अथवा धन और यूथ (झुन्ड) । 'यूथ' क्यों ? 'यु' (अदा० प०) धातु से है । एक स्थान में स्त्री, पुरुष, बाल, और वृद्ध पशुओं से संयुक्त होता है ।

जरते·(५२) (स्तौति) अर्थानवगत पद का निगम—

"इन्धान एनं जरते (५२) स्वाधीः" [ऋ० सं० ७, ८, २८, १,] अर्थात् 'इन्धानः' दीपन करता हुआ 'स्वाधीः' सुन्दर बुद्धि वाला 'एनम्' इस अग्नि को 'जरते' स्तुति करता है ।

'मन्दिने' (५३) (मन्दनीयाय) की व्याख्या—

'मन्दी' जो मन्दन या गरण (स्तुति) करता है, या स्तुति किया जाता है। स्तुति अर्थ में 'मन्द' (भ्वा० आ०) धातु से है।

निगम—

"प्रमन्दिने पितुमदर्चता वचः" [ऋ० सं० १, ७, ११, १,] अर्थात्—'प्रमन्दिने' स्तुति के योग्य (इन्द्र) के लिये 'पितुमत्' अन्नसंयुक्त 'वचः' वचन 'प्र-अर्चत' उच्चारण करो।

निरुक्तार्थ—अन्नसंयुक्त वचन कहो।

गो (५४) शब्द का व्याख्यान [नि० २, २, १] हो चुका ॥ ३ (२४) ॥

(४ खं०)

[निरु०] अत्राह[1] गोरमन्वत नामत्वष्टुरपीच्यम्। इत्था चन्द्रमसोगृहे ॥ [१, ६, ७, १५]

(भा०)"अत्रह गोः" सममंसत आदित्यरश्मयः। स्वं "नाम" "अपीच्यम्" अपचितम्, अपगतम्, अपिहितम्, अन्तर्हितंवा। अमुत्र "चन्द्रमसोगृहे"

'गातुः' (५५) व्याख्यातः। ("गातुं कृणवन्नुषमोजनाय" इत्यपि निगमो भवति।) ॥

'दंसयः' (५६) कर्माणि। दंसयन्तएनानि।

१—"अत्राह" इति गोतमस्य राहुगणस्य इयमार्षम्। अग्निचयने इष्टकोपधाने विनियुक्ता।

"कुत्साय मन्मन्नह्यश्च दंसयः" (ऋ० सं० ८, ७, २६, १) इत्यपिनिगमो भवति ॥

"सतूताव (५७) नैनमश्नोत्यंहतिः ।" [ऋ० सं० १, ६, ३०, २]

(भा०) सतुताव न-एनम् अंहतिः अश्नोति । 'अंहति' श्च-अंहश्च, अंहुश्च, हन्ते र्निरूढोपधाद् विपरीतात् ॥

"बृहस्पते चयसे (५८) इत्पियारुम्" [ऋ० सं० २, ५, १२, ५]

(भा०-) बृहस्पते यश्चातयासि देवपीयुम् । पीयति हिंसाकर्मा ।

वियुते (५९) द्यावापृथिव्यौ । वियवनात् ।

"समान्या वियुते दूरे अन्ते ।" [ऋ० सं० ३, ३, २५, २,]

(भा०) 'समानं' सम्मानमात्रं भवति । 'मात्रा' मानात् । 'दूरं' व्याख्यातम् । 'अन्तः' अततेः ।

'ऋधक्' (६०)–इति पृथग् भावस्य प्रवचनं भवति । अथापि ऋध्नोत्यर्थे दृश्यते ।

"ऋधगया ऋधगुताशमिष्ठाः" [य०वा०सं० ८,२०]

(भा०-) ऋध्नुवन्नयाक्षीः, ऋध्नुवन्नशमिष्ठाः ।

'अस्याः' (६१) इतिच 'अस्य'-(६२) इतिच । उ-दात्तं प्रथमादेशे । अनुदात्तम् अन्वादेशे । तीव्रार्थ-तरम्-उदात्तम् । अल्पीयोऽर्थतरम्-अनुदात्तम् ।

"अस्या ऊ षु ण उपसातये भुवोऽहेलमानो ररि-वाँ अजाश्व" (श्रवस्यतामजाश्व) । [ऋ० सं० २, २, २, ४] ।

(भा०-) अस्यै नः सातये उपभव । "अहेलमानः" अक्रुध्यन् "ररिवान्" रातिः (अदा० प०) अभ्यस्तः "अजाश्व" इति पूषणमाह । अजनाश्व । 'अजाः' अजनाः । अथ-अनुदात्तम् ।—

"दीर्घायुरस्यायः पतिर्जीवाति शरदःशतम् ।" [ऋ० सं० ८, ३, २७, ४] ।

(भा०) दीर्घायुः अस्याः यः पतिर्जीवतु स शरदः शतम् । 'शरत्' शृता अस्याम्-ओषधयो भवन्ति । शीर्णा आप इति वा ॥

'अस्य' (६२) इति 'अस्याः' [६२] इत्येतेन व्या-ख्यातम् ॥ ४ [२५] ॥

अनुवादः

'गौ' यह अनेकार्थ होने से यहा नैगम काण्ड में समाम्नान हुआ है । एवम् जिस प्रकार यह अनेकार्थ है, सो पहिले (नै० का० अ० २ पा०२ ख० १) दिखाया जाचुका । किन्तु पहिले यह भी कहा गया था कि—

"अथाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रमस प्रति दीप्यते, ०—० सोऽपि 'गोः' इत्युच्यते-"अत्राह गोरमन्वत" इति तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः"

अर्थात् "और इस (आदित्य) का रश्मि (किरण) चन्द्रमा में लग कर चमकता है, ०—० सो भी 'गो' कहलाता है—इसका निगम है—

"अत्राह गोरमन्वत" इसकी व्याख्या आगे करेंगे। यही यह अब कहा जाता है—

[निरु०] [मन्त्रार्थ-] 'अत्र-ह' इसी 'चन्द्रमसः' चन्द्र के 'गृहे' मण्डल में अन्य 'त्वष्टुः' सूर्य्य की रश्मियों ने 'गोः' सुषुम्णा नामक रश्मि का 'नाम' अवस्थान 'अमन्वत' माना।

निरुक्तार्थ-आदित्य की रश्मियों ने इसी में गो (सुषुम्णा रश्मि) को माना। अपना अवस्थान, जो 'अपीच्य' (अपचित) सूर्यमण्डल से हटकर चन्द्रमण्डल में लगा हुआ, (अपगत) गया हुआ, (अपिहित) रखा हुआ, [अन्तर्हित] अथवा भीतर घसा हुआ। उस चन्द्रमा के गृह (मण्डल) में॥

'गातु' (५५) शब्द का [नि०अ०४,पा०३,खं०५,] व्याख्यान हो चुका। ("गातुं कृणवन्नुषसो जनाय" यह भी निगम है।)॥

'दंसयः' (५६) यह अनेक कर्मों का नाम है। [क्यों कि-कर्मों के करने वाले] इन्हें दंसन (ग्रहण) करते हैं। [निगम]

"कुत्साय"०—०[ऋ० सं० १, ६, ३०, २,] अर्थात्— " 'मन्मन् (मन्यमानाः) मानते हुए 'कुत्साय' कृषक के लिये 'अद्यः' जल (देने) 'च' और 'दंसयः' उस के कर्मों को सफल करने" यह भी निगम है।

'तूताव' (५७) (तुताव) इस अनवगत पद का निगम—

"स तूतताव"०—०[१, ६, ३०, २] अर्थात् 'सः' वह 'तूताव' (वर्द्धते) बढ़ता है। 'एनम्' इस को 'अंहतिः'

पाप 'न' नहीं 'अश्नोति' व्यापता है। अंहति, अंहस्, अंहु ये तीनों शब्द निरूढोपध 'हन्' (अदा० प०) धातुसे हैं। ['निरूढोपध' जिसका अन्तिम अक्षर से पहिला अक्षर आदि में किया जावे।] अर्थात्-'हन्' धातु के अकार को आदि में लाकर हकार नकार को उलटा कर 'अंह' रूपसे बनते हैं।

'चयसे' (५८) (चातयति) अनवगत पद का निगम—

"वृहस्पते चयसे" ०-० [ऋ० सं० २,५,१२,५]

अर्थात्-हे वृहस्पते! दान आदि गुणोंसे युक्त! तू 'पियारुम्' देवताओं के अपूजक को 'इत्' अवश्य 'चयसे' (नाशयसि) नाश करदेता है।

निरुक्तार्थ-हे वृहस्पति देव! जो तू देवताओं के अपूजक को नाश करता है। 'पीय' धातु का हिंसा अर्थ है।

'वियुते' (५६) मिलेहुए द्यावा-पृथिवी दोनों लोकों का नाम है। क्यों? वियवन या परस्पर दोनों को पृथक् होनेसे।

निगम—

"समान्या वियुते" ०-० [ऋ० सं० ३, ३, २५, २]

अर्थात्-'वियुते' द्युलोक और पृथिवी लोक दोनों 'समान्या' परिमाण में समान हैं, 'दूरे' दूरतक हैं, 'अन्ते' जगत् के अन्त तक हैं। [अर्थात्-इन दोनों का ही अन्त नहीं मिलता।] 'समान' क्यों? सम्मानमात्र या तुल्य परिमाण होता है। 'मात्रा' क्यों? मान से। 'दूर' शब्द की व्याख्या हो चुकी। 'अन्त' 'अत्' (भ्वा० प०) धातु से है।

'ऋधक्' (६०)-यह जुदे हुए हुए का नाम है। और 'ऋध्' (स्वा०प०) धातु के अर्थ में देखा जाता है।

निगम—

"ऋधगया" ०-० [य० वा० सं० ८, २०]

अर्थात्--हे अग्ने ! तू 'ऋधक्' समृद्ध होता हुआ 'अयाः' आया अथवा यज्ञको बढाते हुएने यजन किया। 'उत' और 'ऋधक्' बढते हुए ने 'अशमिष्ठाः' विघ्नों को शान्त किया।

'अस्याः' (६१) और 'अस्य' (६२) ये दोनों मुख्य अर्थ में उदात्त होते हैं, और विशेषण या गौण अर्थ में अनुदात्त होते हैं। क्यों ? जो उत्कृष्ट या अधिक गुणयुक्त होता है, वह उदात्त होता है और अल्प या हीन गुणयुक्त अनुदात्त होता है। (लोक में भी 'यह कुल उदात्त (समृद्ध) है' ऐसा प्रसिद्ध है।)

प्रधान वाचक 'अस्या' (६१) का निगम—

"अस्या ऊषुणः" ०-० [ऋ० सं० २, २, २, ४]

अर्थात्-हे 'अजाश्व' हे पूषन् ! 'अस्याः' (अस्यै) इस 'सातये' लब्धि के लिये (जिस प्रकार हम वाञ्छित अर्थ को प्राप्त हों) 'नः' हमारे 'उप' समीप 'भुवः' (भव) हो। (क्योंकि-आप के निकट होनेसे हम इस वाञ्छित अर्थ को प्राप्त हो सकते हैं।) (कैसे पास आओ ?) 'अहेलमानः' (अक्रुध्यन्) क्रोध न करते हुए। (क्योंकि-सभी याचना करने से क्रोध करता है।) (फिर कैसे आ ?) 'ररिवान्' दान के अभिप्राय से युक्त होकर 'अजाश्व' हे अजनाश्व ! (शीघ्र चलने वाले घोड़ों वाले ! अथवा छाग (बकरा) रूप घोड़े वाले ! ॥ ('अ वस्यताम्' धन की इच्छा करते हुओं के 'अजाश्व' हे छाग अश्व वाले ! ॥)

निरुक्तार्थ —इस लब्धिके लिए हमारे पास आ। 'अहेलमानः' नहीं क्रोध करता हुआ। 'ररिवान्' कैसे ? ('रा' अदा० प०) धातु 'अभ्यस्त' या दोहराया हुआ है। 'अजाश्व' यह पूषादेव को कहता है। (अर्थ क्या ?) अजनाश्व। 'अज' नाम अजन (चलने वाले)। अब अनुदात्त। —

"दीर्घायुरस्याः"०—० [ऋ० सं० ८, ३, २७, ४]
अर्थात्–'अस्याः' इस [पिता के द्वारा पहिले दी हुई और अग्नि के द्वारा फिर दी हुई कन्या] का 'यः' जो 'पतिः' पति है, सो 'दीर्घायुः' दीर्घायु (बड़ी आयु वाला) हो। 'शतम्' सौ (१००) 'शरदः' शरद् ऋतुओं तक 'जीवतु' जीवे ! [क्योंकि शरत् काल में बहुधा रोग उपजते हैं, इसी से शत शरद् जीवन की प्रार्थना है ।] ॥

निरुक्तार्थः—इस का दीर्घायु जो पति है, वह सौ वर्ष जीवे । 'शरत्' क्यों ? इस में ओषधिएँ 'शृत' पक कर गिर जाती हैं । अथवा जल फट जाते हैं ।

(६२)

'अस्य' यह पद 'अस्याः' इस से व्याख्यान किया गया [उसी के समान है ।] ॥ ४ (२५) ॥

१ (५ खं०)

[निरु०] "अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः । तृतीयो भ्राता घृत-पृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्" [२, ३, १४, १]

(भा०) "अस्य" "वामस्य" वननीयस्य "पलितस्य" पालयितुः "होतुः" ह्वातव्यस्य "तस्य भ्राता मध्यमः अस्ति" अशनः । 'भ्राता' भरते हरति

---

१ "अस्य वामस्य" इति अस्य वामीयमेवेदं सूक्तम् । दीर्घतमसः आर्षम् । तार्तीयसवने महाव्रते वैश्वदेवे शस्यते ।

कर्मणः । हरते भागम् । भर्त्तव्योभवति-इतिवा । "तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्य" अयम्-अग्निः, तत्र "अपश्यं" सर्वस्य पातारं वा पालयितारं वा विश्पतिं सप्तपुत्रं" सप्तमपुत्रं, सर्पणपुत्रम्-इति वा । 'सप्त' सृप्ता संख्या । सप्त आदित्यरश्मयः इतिवदान्ति ॥ ५ (२६) ॥

अनुवादः ।

अस्य (६२) प्रधान और अप्रधान का एक मन्त्र उदाहरण-

"अस्य वामस्य"०-०[ऋ० सं० २, ३, १४, १] अर्थात् 'वामस्य' (वननीयस्य) याचना करने योग्य 'पलितस्य' (पालयितुः) पालन करने वाले 'होतुः' आह्वान-योग्य 'तस्य' उस द्युलोक में रहने वाले 'अस्य' इस प्रत्यक्ष सूर्य्य का 'भ्राता' भाग हरने वाला अथवा भरण करने (जल से भरने) योग्य 'मध्यमः' अन्तरिक्ष लोक में रहने वाला वायु 'अस्ति' है। 'अस्य' इस मध्यस्थान वायु का 'तृतीयः' तीसरा 'भ्राता' भाई 'घृतपृष्ठ' घृत से संयुक्त पृथिवी स्थान वाला यह अग्नि है। 'अत्र' इस तीन भागों में बटे हुए ज्योति में 'विश्पतिम्' विश्व के पालन करने वाले 'सप्तपुत्रम्' सात रश्मियों वाले सूर्य्य को 'अपश्यम्' प्रधानता से देखता हूं ॥

निरुक्तार्थ-इस वाम या वननीय (प्रार्थनीय) पलित (पालन करने वाले) होता (आह्वान करने योग्य) उस सूर्य्य का भ्राता व्यापक वायु है। 'भ्रातृ' हरणार्थक 'भृ' (भ्वा० उ०) धातु से है। क्यों? भाग को हरण करता है। अथवा भर्त्तव्य

(जल से भरने योग्य) होता है । इस मध्य स्थान वायु का तीसरा भ्राता घृतसंयुक्त यह अग्नि है । तहां सब के पालन करने वाले विश्व के स्वामी सप्त (सात) या सप्तम (सातवें) पुत्र वाले अथवा सर्पण पुत्र ('सर्पण निरन्तर चलने वाले 'पुत्रों' रश्मिओं वाले) (सूर्य) को देखता हूं । 'सप्त' सृप्त या फैली हुई (छः की अपेक्षा से) संख्या है । सात आदित्य की रश्मिएं हैं, ऐसा कहते हैं ॥ ५ (२६) ॥

१ (६ खंड)

[निरु०] "सप्तयुञ्जन्ति रथमेकचक्रमेकोअश्वो वहति सप्तनामा । त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधितस्थुः ॥" [ऋ० सं० २, ३, १४, २]

(भा०) "सप्त युञ्जन्ति रथम्-एकचक्रम्" एक चारिणम् 'चक्रम्' चकतेर्वा । चरतेर्वा । क्रामतेर्वा । "एकः अश्वो वहति सप्तनामा" आदित्यः । सप्त अस्मै रश्मयः रसान् अभिसंनामयन्ति । सप्त एनम् ऋषयः स्तुवन्ति इतिवा । इदमपि इतरत् नाम एतस्मादेव अभिसंनामात् । संवत्सरप्रधानः उत्तरोऽर्द्धर्चः । "त्रिनाभिचक्रम्" त्र्यृतुः संवत्सरो-'ग्रीष्मो वर्षा हेमन्तः' इति । 'संवत्सरः' संवसन्ते अस्मिन् भूतानि । 'ग्रीष्मः' ग्रस्यन्ते अस्मिन् रसाः ।

---

१ "सप्त युञ्जन्ति" इति "अस्य वामस्य" इत्यनेन तुल्यो विनियोगः ।

'वर्षाः' वर्षति आसु पर्जन्यः। 'हेमन्तः' हिमवान्। 'हिमं' पुनः-हन्तेर्वा । हिनोतेर्वा । "अजरम्" अजरणधर्माणम्। "अनर्वम्" अप्रत्यृतम् अन्यस्मिन्। "यत्र" इमानि सर्वाणि भूतानि अभिसन्तिष्ठन्ते।

तं संवत्सरं सर्वमात्राभिः स्तौति—

"पञ्चारे चक्रे परिवर्त्तमाने-" [ऋ० सं० २, ३, १६, ३,—१, २२, ८, १३] । इति पञ्चर्तुतया। "पञ्चर्त्तवः संवत्सरस्य-" इति च ब्राह्मणम्,-हेमन्तशिशिरयोः समासेन ।

"षळर आहुरर्पितम्" [ऋ० सं० २, ३, १६, १] इति षड्तुतया 'अराः' । प्रत्यताः नाभौ । 'षट्' पुनः सहतेः ।

"द्वादशारं नहि तज्जराय" [ऋ०सं० २, ३, १६, १]

"द्वादशप्रधयश्चक्रमेकम्" (ऋ० सं० २, ३, २३, २) इति [द्वौपादौ] मासानाम् । 'मासाः' मानात् । 'प्रधिः' प्रहितो भवति ।

"तस्मिन् साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चला चलासः।" (ऋ० सं० २, ३, २३, २)

"षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतानि संवत्सरस्य अहोरात्रा-" इतिच ब्राह्मणं समासेन ।

"सप्तशतानि विंशतिश्च तस्थुः" (ऋ०सं० २,३,१६,१)
"सप्तच वैशतानि विंशतिश्च संवत्सरस्याहोरात्राः"
इतिच ब्राह्मणं विभागेन विभागेन ॥६ (२७) ॥
इति चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः, चतुर्थोऽध्यायश्च समाप्तः ।

अनुवादः ।

जिस प्रकार यह आदित्य सात या सर्पण (गमन) स्वभाव रश्मियों से युक्त होता है, वैसा ही इस ऋचा मे वर्णन है ।—

मन्त्रार्थः—'सप्त' सात (७) या सर्पण (गमन) करने वाले रश्मि 'एकचक्रम्' अकेले आकाश में चलने वाले एवम् अपने प्रकाश से अन्य ज्योतियोंको व्याप्त करते हुए 'रथम्' रंहण या निरन्तर चलने वाले सूर्य को 'युञ्जन्ति' आपे से जोड़ते हैं। 'एकः' एक (अकेला) 'सप्तनामा सप्तस्तुति, सप्तपुत्र, सप्ताश्व इत्यादि सप्त (७) संख्या वाली स्तुतियों वाला 'अश्वः' व्यापक (सूर्य्य) 'वहति' चलता है। [संवत्सरवर्णन-] 'त्रिनाभि' तीन ऋतु (ग्रीष्म-वर्षा-हेमन्त) रूप नाभियों वाला 'चक्रम्' चलन स्वभाव 'अजरम्' जरा (बुढापा) रहित 'अनर्वम्' दूसरे में नहीं आश्रित [ऐसा संवत्सर काल] है। 'अत्र' जिसमें 'इमा' (इमानि) ये 'विश्वा' (विश्वानि) सब 'भुवना' (भुवनानि) लोक 'अधि-तस्थुः' आश्रित या अधिष्ठित हैं ॥

निरुक्तार्थ—सात एक चक्र रथ को जोड़ते हैं। 'एकचक्र' क्या ? एक चारी या अकेला चलने वाला। 'चक्र' गत्यर्थक 'चक' (भ्वा० प) धातु से है। अथवा चर' (भ्वा० प०)

धातु से है। अथवा 'क्रम्' (भ्वा० प०) धातु से है। एक 'अश्व' आदित्य सप्तनामा विचरता है। 'सप्तनामा' क्या ? सात रश्मिएं इस के लिये रसों को संमुख भाव से संनामन या प्राप्त करती हैं। अथवा सात ऋषि इस की स्तुति करते हैं। यह भी दूसरा 'नाम' (मनुष्य नाम) इसी अभि-संनामन (झुकने से है। (क्योंकि- वह भी अपने अर्थ को या क्रिया पद के प्रति गौण भाव को प्रकट करने के लिए संमुख झुकता है।) पिछली आधी ऋचा 'संवत्सर' को प्राधान्य से कहती है। तीन नाभियों वाला चक्र, तीन ऋतुओं वाला संवत्सर है। (तीन ऋतु) ग्रीष्म, वर्षा, हेमन्त ये हैं। 'संवत्सर' क्या इस में सब भूत या प्राणी संवास (निवास) करते हैं। 'ग्रीष्म' इस में रस ग्रसे जाते हैं। 'वर्षा' इनमें पर्जन्य (मेघ) बरसता है। 'हेमन्त' हिम (पाला) वालाहै। और 'हिम' अथवा 'हन्' (अदा० प०) धातु से है। अथवा 'हि' (स्वा० प०) धातु से है। 'अजर' जिसमें जरण (बुढापा धर्म नहो। 'अनर्व' दूसरे में प्रत्यृत या आश्रित नहो। जिसमें ये भूत भले प्रकार स्थित रहते हैं। - उस संवत्सरको सब अंशों से स्तुति करता है।

- "पञ्चारे चक्रे परिवर्त्तमाने" [ऋ० सं० २, ३, १६, ३-१, २२,८, १३] ॥ अर्थात्-" 'परिवर्त्तमाने' जगत् को लेकर घूमते हुए 'पञ्चारे' पांच अरों वाले 'चक्रे' काल चक्र में "-इस मन्त्र में पांच ऋतुवाला संवत्सर वर्णन किया है। "संवत्सर के पांच ऋतु होते हैं।" यह ब्राह्मण है। इस में हेमन्त और शिशिर ऋतु का समास या एकीभाव कर दिया गया है।

"षलर आहु रर्पितम्" [ऋ० सं० २, ३, १६, १]

अर्थात्" 'षलरे' (षडरे) छः अरों वाले संवत्सरचक्र में आदित्य को 'अर्पितम्' आश्रित 'आहुः' कोई ब्राह्मण ग्रन्थ कहते हैं" इस में संवत्सर में छः ऋतु कहे हैं। 'अर' क्यों? नाभि या पहिए के मध्य काष्ठ में प्रत्यृत (आश्रित) हैं। और 'षष्' 'सह' (भ्वा० आ०) धातुसे है।

"द्वादशारं नहि तज्जराय" [ऋ०सं० २, ३, १६, १]
अर्थात् 'द्वादशारम्' बारह अरों वाला 'तत्' वह संवत्सर चक्र 'जराय' जीर्ण 'न' नहीं होता।

"द्वादश प्रधयश्चक्रमेकम्" [ऋ० सं० २, ३, २३, २]
अर्थात्–'द्वादश' बारह 'प्रधयः' प्रधि (गरुडपुच्छ) या मिलकर चक्रमें लगे हुए काष्ठ 'एकम्' एक 'चक्रम्' चक्र होता है। ये दोनों ऋचाओंके पाद संवत्सर के बारह मासोंका वर्णन करते हैं। 'मासाः' मास क्यों? कालका मान करते हैं। 'प्रधि' क्यों? प्रहित या मिलकर रहता है।

"तस्मिन् साकम्"०—० [ऋ० सं० २, ३, २३, २]
अर्थात् " 'तस्मिन्' उस संवत्सर रूप चक्रमें 'साकम्' मिलकर (रात्रि और दिन) 'त्रिशता' (त्रीणि शतानि) तीन सौ (३००) 'न' और 'षष्टिः' साठ (६०) अहोरात्र (दिन) 'शङ्कवः' कीले 'न' जैसे 'अर्पिताः' ठुके हुए हैं। 'चलाचलासः' (चलानि अचलानिच) जो निरन्तर चलने वाले होनेसे चल और अपने स्वरूप को न छोड़ने वाले होनेसे अचल हैं"। यह ऋचा और-

"षष्टिश्च"०—० [ब्रा०] अर्थात्–"साठ और तीन सौ संवत्सर के अहोरात्र (रात दिन) हैं।" यह ब्राह्मण रात्रि और दिनको एक करके संवत्सरके दिनोंको वर्णन करता है।

पञ्चम अध्याय के निघण्टुस्थ शब्दों की व्याख्या

संख्या	शब्द	अर्थ (तत्व) अवगम	निगमः
१	सस्निम्	संस्नातम् (मेघम्)	सस्निमविन्दच्चरणे नदीनाम् ।
२	वाहिष्ठः	वोढृतमः ह्वानानाम् । (स्तोमः)	वाहिष्ठो वां हवानां स्तोमोदूतो हुवन्नरा ।
३	दूतः	दूतइव । जवतेर्वा । द्रवतेर्वा । वारयतेर्वा ।	,,
४	वावशानः	शब्दंकुर्वाणः । वष्टेर्वा । वाश्यतेर्वा	सम स्वस रारुषी वावशानः ।
५	वार्य्यम्	वरयितव्यम् । वरतम् ।	तद्वार्यं वृणीमहे वरिष्ठं गोपयत्यम् ।
६	अन्धः	अन्ननाम । आध्यानीयं भवति । तमोऽपि । नास्मिन् ध्यानं भवति न दर्शनमन्धन्तम इत्यभिभाषन्ते । अयमपि इतरोऽन्ध एतस्मादेव । अनेकार्थम् ।	आमत्रेभिः सिंचतामद्यमन्धः । पश्यदक्षण्वान्न विचेतदन्धः ।
७	असश्चन्ती	असज्यमाने इतिवा । अव्युदस्यन्ती इतिवा ।	असश्चन्ती भूरिधारे पयस्वती ।

संख्या	शब्द	अर्थ [तत्व] अवगम	निगमः
८	वनुष्यति	वनुष्यति हन्तिकर्मा । अनवगतसंस्कारो भवति ।	वनुयाम वनुष्यतः । दीर्घप्रयुज्यु मतियो वनुष्यति ।
९	तरुष्यति	एवं–कर्मा । (हन्तिकर्मा)	इन्द्रेण युजा तरुषेमवृत्रम् ।
१०	भन्दनाः	भन्दतेः स्तुतिकर्मणः ।	पुरुप्रियो भन्दतु धामभिः कविः । सभन्दना उदयर्ति प्रजावतीः ।
११	आह नः	आहंसि इव । आहना इव भवति । सम्बोधनानवगतम् ।	अन्येन मदाहनो याहि तूयम् ।
१२	नदः	ऋषिर्नदो भवति । नदतेः स्तुतिकर्मणः ।	
१३	सोमोऽक्षाः	अश्नोतेः इत्येवमेके । क्षियति निगमः पूर्वः । क्षरति निगम उत्तरः, इत्येके । सर्वे क्षियति निगमा इति शाकपूणिः ।	न यस्य द्यावापृथिवी न धन्व......सोमो अक्षाः । अनूपे गोमान् गोभिरक्षाः सोमोदुग्धाभिरक्षाः ।
१४	श्वात्रम्	क्षिप्रनाम । आशुअतनं भवति ।	सपत्नीत्वरं स्थाजगद्यच्छ्वात्रमग्निरकृणो उजातवेदाः

१५	ऊतिः	अवनम् । अवनात् ।	आत्वा रथं यथोतये । (६, ४, ५)
१६	हासमाने	उपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः ।	"प्रपर्वतानामुशती उपस्थात्" । इत्यत्र ।
१७	पड्भिः	पानै रितिवा । स्पाशनैरितिवा	वम्रकः पड्भिरुपसर्पदिन्द्रम् ।
१८	ससम्	स्वपनम् । माध्यमिकं ज्योतिः ।	ससं न पक्व मविदच्छुचन्तम् ।
१९	द्विता	द्वैधम् ।	द्विता च सत्ता स्वधया च शम्भुः ।
२०	व्राः	व्रात्याः (प्रैषाः)	मृगं न व्रा मृगयन्ते ।
२१	वराहः	मेघो भवति । वराहारः । अय मपि इतरो वराह एतस्मादेव । बृहति मूलानि वरं मूलं बृहति इतिवा। अङ्गिरसोऽपि वराहा उच्यन्ते । अथाप्येते माध्यमिका देवगणा वराहव उच्यन्ते । "वरमाहार माहार्षीः" इति च ब्राह्मणम् ।	विध्यद्वराहं तिरो अद्रि मस्ता । वराह मिन्द्र एमुषम् । ब्रह्मणस्पतिर्वृषभिर्वराहैः । पश्यन् हिरण्यचक्रानयोदंष्ट्रान् विधावतो वराहून् ।
२२	स्वराणि	अहानि भवन्ति । स्वयं सारीणि । स्वरादित्यो भवति स एनानि सारयति ।	उत्वाद्य स्वराणि ।

संख्या	शब्द	अर्थ [तत्व] अवगम	निगमः
२३	शर्याः	अंगुलयो भवन्ति । [सृजन्ति कर्माणि] इषवः शरमय्यः ।	शर्य्याभि र्न भरमाणो गभस्त्योः ।
२४	अर्कः	देवो भवति । यदेनमर्चन्ति । मन्त्रो भवति । यदनेन अर्चन्ति अर्कं मन्नं भवति । अर्चति भूतानि । वृक्षो भवति । संवृत्तः कटुकिम्ना ।	गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः ।
२५	पविः	रथनेमिर्भवति । यद् विपुनाति भमिम् ।	उतपव्या रथाना मद्रिंभिन्दन्त्योजसा । तं मरुतः क्षुरपविना व्ययुः इत्यपि निगमो भवति ।
२६	वक्षः	व्याख्यातम् । (४ । २ । ८)	उपोऽअदर्शि शुन्ध्युवो नवक्षः
२७	धन्व	अन्तरिक्षम् । धन्वन्त्यस्मादापः ।	तिरो धन्वातिरोचते ।
२८	सिनम्	अन्नं भवति । सिनाति भूतानि ।	येन स्मासिनं भरथः सखिभ्यः ।

२९	इत्था	अमुथा इत्येतेन व्याख्यातम्	(३, ३, ४)
३०	सचा	सहेत्यर्थः	वसुभिः सचा भुवा ।
३१	चित्	निपातोऽनुदात्तः पुरस्तादेव व्याख्यातः । पशुनाम भवति ।	चिदसि मनासि धीरसि ।
३२	आ	उपसर्गः पुरस्तादेव व्याख्यातः । अथापि अध्यर्थे दृश्यते ।	अभ्र आँ अपः । (१, १, ५)
३३	द्युम्नम्	यशो वा । अन्नं वा । द्योततेः । अनेकार्थम् ।	अस्मे द्युम्न मधिरत्नं च धेहि ।
३४	पवित्रम्	मन्त्रः पवित्र मुच्यते । पुनातेः । रश्मयः पवित्र मुच्यन्ते आपः पवित्रमुच्यन्ते । अग्निः पवित्रमच्यते । वायुः पवित्रमुच्यते । सोमः पवित्र मुच्यते सूर्यः पवित्र मुच्यते । इन्द्रः पवित्र मुच्यते ।	येन देवा पवित्रेणात्मानं पुनते सदा । गभस्तिपूतः । गभस्ति पूतो नृभि रद्रिभिः सुतः । शत पवित्राः स्वधया मदन्तीः । अग्निः पवित्रं समा पुनातु वायुः सोमः सूर्य इन्द्रः पवित्रं ते मा पुनन्तु ।
३५	तोदः	भूमे विलं तोद उच्यते । तुन्नं भवति दीर्घत्वात् । कूप इत्येके । अनवगतम् ।	तोदस्येव शरण आमहस्य ।

संख्या	शब्द	अर्थ [तत्व] अवगम	निगमः
३६	स्वञ्चाः	सु अञ्चनः । अनवगतम्	आजुह्वानो घृतपृष्ठः स्वञ्चाः ।
३७	शिपिविष्टः	विष्णुनाम । कुत्सितार्थीय भवति इति उपमन्यवः ।	किमित्ते विष्णो परिचक्ष्यं भूत् प्रयद्ववक्षे शिपिविष्टो अस्मि इति ।
३८	विष्णुः	विष्णो नाम ।	प्रतत्ते अद्य शिपिविष्टनामार्यः शंसामि वयुनानि विद्वान् इत्यादि ।
३९	आघृणिः	आगत घृणिः ।	आघृणे संसचावहै ।
४०	पृथुज्रयाः	पृथुजवः ।	पृथुज्रया अमिनादापर्दस्योः ।
४१	अथर्युम्	अतनवन्तम् । (गमनवन्तम्) अनवगतम् ।	अग्निन्नरो दीधितिभिररण्योर्हस्तच्युती जनयन्त प्रशस्तम् । दूरेदृशं गृहपति मथर्युम् ।
४२	काणुका	कान्तकानि इतिवा । क्रान्तकानि इति वा । कृतकानि इति वा	एकया प्रतिधा पिवत् साकं सरांसि त्रिंशतम्, इन्द्रःसोमस्य काणुका ।
४३	अध्रिगुः	मन्त्रो भवति । गवि अधिकृतत्वात् । अपि वा अध्रिगु नाम कश्चिदस्ति दैव्य प्रशमिता वा ।	अध्रिगो शमीध्वं सुशमिशमीध्व मध्रिगो इति तुभ्यं श्चोतन्त्यध्रिगो शचीवः । अध्रिगव ओहमिन्द्राय ।

		अग्निं रयिं अग्निगरुच्यते । इन्द्रोऽपि अग्निगुरुच्यते ।	
४४	आंगूषः	स्तोमः । आघोषः । (शब्द-समाधिः)	येनाङ्गूषेण वयमिन्द्रवन्तः ।
४५	आपान्तमन्युः	आपातितमन्युः । (इन्द्रोवा सोमोवा) इन्द्रप्रधानेत्येके । नैघण्टुकं सोमकर्म । उभयप्रधानेत्यपरे ।	आपान्तमन्युस्तृपल प्रभर्मा ।
४६	श्मशा	श्वासिनी । कुल्या नदी वा । श्माशिनी नाडी । शु अश्नुते इतिवा । श्माश्नुते इतिवा ।	अवश्मशारुधद्वाः ।
४७	उर्वशी	अप्सराः । उरु अभ्यश्नुते उरुभ्यामश्नुते उरु र्वा वशोऽस्याः ।	उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधिजातः
४८	वयुनम्	कान्तिर्वा प्रज्ञावा । वेतेः ।	स इत्तमोवयुनन्ततन्वत् सूर्येण वयुनवच्चकार ।
४९	वाजपस्त्यम्	वाजपतनम् ।	सनेम वाजपस्त्यम् ।
५०	वाजगन्ध्यम्	गध्यत्युत्तरपदम् । (प्रतिविशिष्टाम्नसमानगन्धम्)	अश्यामवाजगन्ध्यम् ।

संख्या	शब्द	अर्थ [तत्व] अवगम	निगमः
५१	गध्यम्	ग्रहणीयम् । गृह्णातेः ।	रिजावाजं नगध्यं ययूषन् ।
५२	गधिता	गृहीता मिश्रिता च । गध्यति मिश्रीभावकर्मा ।	आगधिता परिगधिता ।
५३	कौरयाणः	कृतयाणः ।	पाकस्थामा कौरयाणः ।
५४	तौरयाणः	तूर्णयानः ।	स तौरयाण उपयाहि यज्ञं मरुद्भिरिन्द्र सखिभिः सजोषा ।
५५	अह्रयाणः	अह्रीतयानः ।	अनुष्ठुयाकृणुह्यह्रयाणः ।
५६	हरयाणः	हरमाणयानः	रजतं हरयाणे ।
५७	आरितः	अत्यृतः	य आरितः कर्मणि कर्मणि स्थिरः ।
५८	व्रन्दी	मृदुभावकर्त्ता । व्रन्दते मृदुभावकर्मणः । वीलयतिश्च व्रीलयतिश्च संस्तम्भकर्माणौ पूर्वेण संप्रयुज्येते ।	नियद् वृणक्षि श्वसनस्य मूर्द्धनि शुष्णस्य चिद्व्रन्दिनो रोरुवद्वना ! अव्रदन्त वीलिता ।
५९	निष्षपी	स्त्रीकामोभवति । विनिर्गत सयः ।	मानो अघेव निष्षपी परादाः ॥
६०	तूर्णाशम्	उदकं भवति । तूर्णमश्नुते ।	तूर्णाशं न गिरे रधि ।

६१	क्षुम्पम्	अहिच्छत्रकं भवति । यत् क्षुभ्यते ।	कदामर्तमराधसम्पदा क्षुम्पमिवास्फुरत् ।
६२	निचुम्पुणः	सोमः । निचान्तपृणः निचमनेन प्रीणाति । समुद्रोऽपि निचुम्पुण उच्यते । निचमनेन पूर्यते । अवभृथोऽपि निचम्पुण उच्यते । नीचैरस्मिन् कुणन्ति नीचैर्दधति इति वा ।	पत्नीवन्तः सुता इमउशन्तो यन्ति वीतये अपांजग्मि र्निचुम्पुणः । अवभृथ निचुम्पुण ।
६३	पदिम्	पदि गन्तु भवति । यत्पद्यते अनवगतम् ।	सुगुरसत् सुहिरण्यः स्वश्वो वृहदस्मै वय इन्द्रो दधाति । यस्त्वा...... ...... पदि मुत्सिनाति ।
६४	पादुः	पदनम् । पद्यतेः ।	आविः स्वःकृणुते गूहते बुसम् । स पादुरस्य निर्णिज इति ।
६५	वृकः	चन्द्रमा भवति । विवृत-ज्योतिष्को वा, विकृतज्योतिष्को वा, विक्रान्तज्योतिष्को वा । आदित्योऽपि वृक उच्यते । यदावृङ्क्ते श्वापि वृक उच्यते विकर्त्तनात् । वृद्धवाशिनी अपि वृकी उच्यते ।	अरुणो मासकृद् वृकः । अजोहवीदश्विना वर्त्तिका वामास्नो यत्सीम मुञ्चतंवृकस्य । वृकश्चिदस्य वारण उरामथि ॥ शतं मेषान् वृक्ये चक्षदानमृज्राश्वं तं पितान्धं चकार ।

संख्या	शब्द	अर्थ (तत्व) अवगम	निगमः
६६	जोषवाकम्	अविज्ञातनामधेयम् । जोषयितव्यं भवति ।	य इन्द्राग्नी सुतेषु वां स्तवत्तेष्वृतावृधा । जोषवाकं वदतः पज्रहोषिणा न देवाभसथश्च न ।
६७	कृत्तिः	यशो वा, अन्नं वा । कृन्ततेः । इयमपि इतरा कृत्तिः एतस्मादेव । सूत्रमयी उपमार्थे वा ।	महीव कृत्तिः शरणात इन्द्र । अवततधन्वा पिनाकहस्तः कृत्तिवासाः ।
६८	श्वघ्नी	कितवो भवति । स्वं हन्ति । स्वं पुनराश्रितं भवति ।	कृतं न श्वघ्नी विचिनोति देवने ।
६९	समस्य	सममिति परिग्रहार्थीयं सर्वनामानुदात्तम् । तत्कथ मनुदात्तप्रकृति नाम । दृष्टव्ययंतु भवति ।	मानः समस्य दूढ्यः परिद्वेषसो अंहतिः । उतो समस्मिन् इति । उरुष्याणो अघायतः समस्मात् । नभन्तामन्यके समे ।
७०	कुटस्य	कृतस्य ।	हविषा जारो अपां पिपर्त्ति पपुरिर्नरा ।
७१	चर्षणिः	चायिता ।	पिता कटस्यचर्षणिः ।
७२	शम्बः	वज्रनाम । शमयतेर्वा । शातयते र्वा ।	उग्रोयः शम्बः पुरुहूततेन ।
७३	केपयः	कपूया भवन्ति ।	पृथगप्रायन्..........न्यविपन्त केपयः ।

७४	त तमाकृषे	तूर्णं मुपाकुरुषे	एताविश्वासवनात्तूतुमाकृषे ।
७५	अंसत्रम्	अंहसस्त्राणम् । धनुर्वा कवचं वा।	मीणितास्वान् हितं जयाथ......तम भ्रस-वक्र मंसत्रकोशं सिंचता नृपाणाम् ।
७६	काकुदम्	तालु इत्याचक्षते । जिह्वा कोकुवा सा अस्मिन् धीयते ।	सुदेवो असि वरुणायस्यते......प्राणायानुक्ष-रन्तिकाकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव ।
७७	बीरिटे	अन्तरिक्षमाह तैटीकिः । पूर्वं वयतेः उत्तरम् हरतेः । गणः ।	प्रवावृजे सुप्रयाबर्हिरेषा..... बीरिटइयाते
७८	अच्छ	अभेः अर्थे भवति । आप्तु-मिति शाकपूणिः ।	
७९	परि	व्याख्यातम् । (१ । १ । ५)	
८०	ईम्	व्याख्यातम् । (१ । ३ । ८)	
८१	सीम्	व्याख्यातम् । (१ । ३ । ७)	
८२	रानैम्	अस्याः अस्य इत्येतेन व्या-ख्यातम् । (४ । ४ । ४)	
८३	रानाम्		
८४	सृणिः	अंकुशो भवति । सरणात्	नेदीय इत्सृण्यः पक्कमेयात् ।

श्रीः

प्रासंगिक शब्द

शब्द		अर्थ
		प्रथमः पादः
नराः	(१खं०)	मनुष्याः नृत्यन्ति कर्मसु।
गोपयत्यम्		गोपायितव्यम्।
मद्यम्		मदनीयम्।
अमत्रम्		पात्रम्। अमा अस्मिन् अदन्ति।
अमा		अनिर्मितं भवति।
पात्रम्		पानात्।
भूरिधारे	(२ खं)	बहुधारे।
पयस्वती		उदकवत्यौ।
दीर्घप्रयुज्युम्		दीर्घप्रततयज्ञम्।
दूढ्यम्		दुर्धियम्। पापधियम्।
पापः		पाताऽपेयानाम्। पापत्यमानोऽवाङेव पतति इति वा पापत्यतेर्वा।
शंभुः	(३ खं०)	सुखंभूः।
शरः	(५ खं०)	शृणातेः।
वंशः	(६ खं०)	वनशयो भवति। वननाच्छ्रूयत इतिवा

द्वितीयः पादः

शब्द		अर्थ
अरिः	(२ खं०)	अमित्रः। ऋच्छतेः। ईश्वरोऽप्यरिः एतस्मादेव।
महस्य		महतः
परिचक्ष्यम्	(३ खं०)	परिख्यापनीयम्
प्रववक्षे		प्रब्रूषे
वर्पम्		रूपनाम। वृणोतीति सतः

शब्द	अर्थ
समिथे	संग्रामे
अर्यः (४ खं०)	ईश्वरः
तवसम्	महान्तम्। (तवस इतिमहतोनामधेयम्)
क्षयन्तम्	निवसन्तम्
पराके	पराक्रान्ते
संसचावहै	संसेवावहै
अमिनात्	प्रामापयत्
दीधितयः (५ खं०)	अङ्गुलयो भवन्ति। धीयन्ते कर्मसु
दूरेदृशम्	दूरे दर्शनम्
प्रतिधा (६ खं०)	प्रतिधानेन
तृपलप्रभर्मा (८ खं०)	तृप्रप्रहारी। क्षिप्रप्रहारी (सिप्रप्रहारी)
धुनिः	धुनातेः
शिमीवान्	कर्मवान्
शिमी	कर्मनाम। शमयतेर्वा। शक्नोतेर्वा
ऋजीषी	सोमः
ऋजीषम्	यत्सोमस्य पूयमानस्य अतिरिच्यतेतदृजीषम्। अथापि ऐन्द्रो निगमो भवति। "ऋजीषीवज्री" इति। हर्योरस्य स भागो धाना इयेति।
धानाः	भ्राष्ट्रे हिता भवन्ति। फले हिता भवन्ति इति वा।
गभस्तिः	अस्तिकर्मा
वाः	वारि

तृतीयः पादः

शब्द	अर्थ
अप्सराः (१ खं०)	अप्सारिणी। अप्स इति रूपनाम भवति तद्राभवति। रूपवती। तदनया आत्त मितिवा। तदस्यै दत्त मिति वा।
अप्सः	रूपनाम। अप्सातेः। अप्सानीयंभवति आदर्शनीयं व्यापनीयंवा। स्पष्टं दर्शनाय इति शाकपूणिः।
द्रप्सः (२ खं०)	रेतः
पुष्करम्	अन्तरिक्षम्। पोषति भूतानि। उदकं पष्करम्। पूजाकरं पूजयितव्यम्। इदमपि पुष्करम्—एतस्मादेव। पुष्करंवपुष्करं वा
पुष्यम्	पुष्यतेः
श्वसनस्य (४ खं०)	शब्दकारिणः
शुष्णस्य	आदित्यस्य। शोषयितुः
रोरुवद्	रोरूयमाणः
वना	वनानि इतिवा। वधेन इतिवा।
सपः	(पुरुषचिन्हम्) सपतेः स्पृशतिकर्मणः
मघा	धनानि।
अराधसम् (५ खं०)	अनाराधयन्तम्
शुश्रवद्	शृणोति।
अक्षु	क्षिप्रनाम। अश्नुतमेव अक्षुतं भवति
उशन्त. (६ खं०)	कामयमानाः
वीतये	पानाय
मुञ्जीजा (७ खं०)	(पाश्या) मोचनाच्च। सयनाच्च। ततनाच्च।

शब्द	अर्थ
बुसम्।	उदकनाम। अवीतेः शब्दकर्मणः। भ्रंशतेर्वा।

चतुर्थः पादः

शब्द	अर्थ
अरुणः। (२ खं०)	आरोचनः
पृष्ट्यामयी।	पृष्ठरोगी।
अजोहवीत् (३ खं०)	आह्वयत्।
उरामथिः।	उरणमथिः।
उरणः।	ऊर्णावान्।
ऊर्णा।	वृणोतेर्वा। ऊर्णोते र्वा।
कितवः। (४ खं०)	किं तवास्तीति शब्दानुकृतिः। कृतवान्वा आशीर्नामकः।
ऊर्मिः। (५ खं०)	ऊर्णोतेः।
पृथक्। (७ खं०)	प्रथतेः।
अवस्यानि।	अवणीयानि।
दुष्टरा।	दुरनुकरणीयानि अन्यैः।
ईम।	इह ईर्म—इति बाहुनाम।
कवचम्।	कुअञ्चितं भवति। काञ्चितं भवति। कायेऽञ्चितं भवति इति वा।
द्रोणाहावम्। (८खं०)	रथम्।
द्रोणम्।	द्रुममयं भवति।
आहावः।	आह्वानात्
आवहः।	आवहनात्।
अवतः।	अवाततः। (महान्)
अश्मचक्रम्।	अशनचक्रम्। असनचक्रम्—इति वा।

शब्द	अर्थ
कोशः ।	कुष्णातेः । विकुषितो भवति ।
नृपाणाम् ।	नरपाणाम् । कूपकर्मणा संग्राममुपमिमीते
कोकुवा	जिह्वा । कोकूयमाना वर्णान् नुदति इति वा । कोकूयतेर्वा स्यात् शब्दकर्मणः ।
जिह्वा	जोहुवा ।
तालु	तरतेः । तीर्णतमम्—अङ्गम् । लततेर्वा स्याद् लम्बकर्मणो विपरीतात् । यथा तलम् । लता—इति अविपर्ययः ।
सिन्धुः (६ खं०)	स्रवणात् ।
नियुत्वान् (१० खं०)	अश्ववान् । नियुतोऽस्याश्वाः ।
नियुतः	नियमनाद् वा । नियोजनाद् वा ।

अथ पञ्चमाध्यायः ५.

प्रथमः पादः

खं० १

(अथ चतुरशीतिः (८४) पदानि)

[निघ०-] सस्निम् ॥ १ ॥

'सस्निम्' यह पद अर्थानवगत है। क्योंकि-इसमें अर्थकी प्रतीति नहीं होती। 'सस्नि' पद का प्रत्यक्ष वृत्ति शब्द 'संस्नात' है और इसका वाच्यार्थ मेघ होता है।

[निरु०-] ॐ "सस्निमविन्दच्चरणेनदीनाम्" [ऋ० सं० ८, ७, २७, ६] 'सस्निं' संस्नातं मेघम् ॥१॥

(इन्द्रः) इन्द्रने 'नदीनाम्' जलों के 'चरणे' विचरने के स्थान (अन्तरिक्ष) में 'सस्निम्' संस्नात या जलोंसे सब ओर से लिपटे हुये (धोये हुये) मेघ को 'अविन्दत्' पाया।

'सस्नि' क्या? संस्नात धोया हुआ या लिपटा हुआ। वह क्या? मेघ।

व्याख्या।

मन्त्र में 'सस्निम्' पदसे मेघ का ग्रहण किया गया उस का यह अभिप्राय है, कि—इन्द्र ने आकाश देश में 'सस्नि' को पाया, तो वहां मेघ के अतिरिक्त इन्द्र किस वस्तु को पाता? सुतराम् 'सस्नि' पद मेघ का ही बोधक हो सकता है; इसी रीति से मन्त्रों में अनिर्णीत पदार्थों का अनुमान कर लिया जाता है ॥ १ ॥

[निघ०] वाहिष्ठः ॥२॥ दूतः ॥३॥

इन दोनो में प्रथम गुणानवगत (विशेषणानवगत) और दूसरा सस्काराानवगत है।

[निरु०] "वाहिष्ठो वां हवानां स्तोमो दूतो हुवन्नरा ।" [ऋ० सं० ६, २, २९, १]

वोढृतमो ह्वानानां स्तोमो दूतो हुवन्नरौ ।

नरा मनुष्याः । नृत्यन्ति कर्मसु ।

दूतो जवतेर्वा द्रवतेर्वा वारयतेर्वा ।

("दूतो देवानामसि मर्त्यानाम्" इत्यपि निगमो भवति) ॥

'नरा' (हेनरौ) हे नरों ! अश्विनों ! 'हवानाम्' (ह्वानानाम्) आह्वान करने वालों में 'वाहिष्ठः' (वोढृतमः) अति आवाहन करने वाले 'दूतः' दूत समान 'स्तोमः' (इस) स्तोम (मन्त्र समूह) ने 'वाम्' तुम दोनों को 'हुवत्' (आह्वयत्) बुलाया ।

'नर' मनुष्य (भी) कहे जाते हैं । क्यों ? 'नृत्यन्ति कर्मसु' वे कर्मों में नाचते हैं ।

'दूत' गति अर्थ में 'जु' (भ्वा०प०) धातुसे है । अथवा गति अर्थ में 'द्रु' (भ्वा० प०) धातु से है । अथवा 'वारि' (वृञ्-णिच्) (चु० उ०) धातु से है ।

("दूतो देवाना०") ('तू देवताओं और मनुष्यों का दूत है' यह भी निगम है ।) ॥

[निघ०-] वावशानः ॥४॥

[निरु०-] वावशानो वष्टे र्वा । वाश्यते र्वा ।

'वावशान' (४) शब्द 'वश' कान्तौ (अ० प०) धातु से है। (क्योंकि—वह कान्ति (इच्छा) वाला है।) अथवा शब्दार्थक 'वाश' (दि०प०) धातुसे है। (क्योंकि—वह शब्द करता है।)

[निरु०-] "सप्त स्वसृरारुषी र्वावशानः" [ऋ०सं० ७,५,३३,५] इत्यपि निगमो भवति ॥

'वावशानः' कामना करते हुये अथवा शब्द करते हुये अग्निने 'सप्त' सात (७) 'स्वसृः' भगिनियों जैसी अथवा साथ सर्पण (गमन) करने वाली 'आरुषीः' दीप्त (प्रज्वलित) अपनी ज्वाला (जिह्वा) ओंको ('उज्जभार' ऊपर को उठाया) यह भी निगम है।

'उज्जभार' (उठाया) क्रियाके सम्बन्ध से 'वावशान' शब्द कामना अर्थ में या शब्द अर्थ में निश्चित होता है। क्योंकि—जो उठाता है, वह कामना से ही अथवा शब्द करके ही उठाता है ॥

[निघ०-] वार्यम् ॥५॥

(निरु०-) वार्यं वृणोतेः । अथापि वरतरम् ।

'वार्य' शब्द 'वृञ्' वरणे (स्वा०उ०) धातुसे है। (क्योंकि-वह वरने (स्वीकार करने) योग्य होता है।) और कदाचित् बहुत श्रेष्ठ भी 'वार्य' कहा जाता है। [निगम-]

(निरु०-) "तद्वार्य्यं वृणीमहेवरिष्ठं गोपयत्यम्" (ऋ० सं० ६, २, २३, २)

हम 'तत्' उस 'वार्यम्' वरने योग्य धनको ' वृणीमहे ' मांगते हैं, जो 'वरिष्ठम्' बहुत श्रेष्ठ और ' गोपयत्यम् ' रक्षा करने योग्य है ।

(निरु०-) तद् वार्यं वृणीमहे वर्षिष्ठं गोपायितव्यं गोपायितारो यूयं स्थ, युष्मभ्यमिति वा ॥

उस वरणीय धनको हम मांगते हैं, हे स्तोताओ ! जो अतिश्रेष्ठ और गोपनीय (रक्षणीय) या तुम जिसके रक्षक हो, अथवा तुम्हारे लिये जो हो ॥

रक्षा के सम्बन्ध से 'वार्यं' शब्द धन का विशेषण है, यह अवगम होता है ॥ ४ ॥

[निघ०-] अन्धः ॥ ६ ॥

[निरु०-] 'अन्धः' इति अन्ननाम । आध्यानीयं भवति " आमत्रेभिः सिञ्चतामद्यमन्धः " ॥ (ऋ० सं० २,६,१३,१) आसिञ्चत अमत्रैर्मदनीयम् अन्धः।

अर्थ-'अन्धस्' यह अन्न का नाम है । क्यों? आध्यानीय है, या वह सब का प्रार्थनीय है । 'आध्यानीय' यह शब्द-समाधि है ।

निगम निरुक्तार्थ-हे अध्वर्युओ ! तुम 'आमत्रेभिः' (अमत्रैः) (सोमचमसैः) सोमचमस पात्रों से 'मद्यम्' (मदनीयम्) मद देने वाले 'अन्धः' सोमरूप अन्न को 'आसिञ्चत' अग्नि में सींचो ॥

(निरु०-) अमत्रं पात्रम् । अमा अस्मिन् अदन्ति । अमा पुनः अनिर्मितं भवति । पात्रं पानात् ।

तमअपि अन्धः उच्यते । नास्मिन् ध्यानं भवति न दर्शनमन्धतम इत्यभिभाषन्ते ।

अयमपि इतरः अन्धः एतस्मादेव ।

"पश्यदक्षण्वान्न विचेतदन्धः" (ऋ० सं २, ३, १७, १) । इत्यपिनिगमो भवति ॥ १ ॥

अर्थ– 'अमत्र' पात्र होता है। क्योंकि– इसमें 'अमा' अपरिमित खाया जाता है। 'अमा' नाम अनिर्मित (जिसका मान नहीं) का है। 'पात्र' क्यों ? पान से । क्योंकि–उससे पान (पीना) होता है।

'तमस्' (अन्धकार) भी 'अन्धस्' कहाजाता है। क्यों कि–इसमें ध्यान (ज्ञान) नहीं होता । क्योंकि–उसमें नेत्रकी दृष्टि रुकजाती है। लौकिक लोग भी 'दर्शन नहीं होता, अन्धन्तम है, ऐसा कहते हैं।

यह भी दूसरा अन्ध (मनुष्य) इसी से है। क्योंकि–वह भी देखता नहीं है।

" 'अक्षण्वान् नेत्रवाला या दर्शनवान् या विज्ञानवान् पुरुष 'पश्यत्' देखता है, या नित्य ही जानता है। किन्तु 'अन्धः' दर्शनरहित या वेद, उपनिषद्, आदि सत् शास्त्रों को नहीं जानने वाला 'न' नहीं 'विचेतत्' (विजानाति) जानता है।" यह भी निगम है ॥

यहां 'अक्षण्वान् देखता है, और अन्ध नहीं देखता,–इस वाक्य सम्बन्धसे 'अन्धः' शब्द अन्धे को ही कहता है; यह युक्ति है ॥ (खं० २)

(निघ०-) असश्चन्ती ॥ ७ ॥

(निरु०-) "असश्चन्ती भूरिधारे पयस्वती ।" (ऋ० सं ५, १, १४, २) ।

अत्सज्यमाने इतिवा । अव्युदस्यन्त्यौ-इतिवा । बहुधारे उदकवत्यौ ॥

'असश्चन्ती' (७) पद अनवगत है । "असज्यमाने" अथवा "अव्युदस्यन्त्यौ" यह अर्थ की प्रतीति है ।

'असश्चन्ती' (असज्यमाने) आपस में नहीं मिलती हुईं, या (अव्युदस्यन्त्यौ) एक को एक नहीं छोड़ती हुईं, 'भूरिधारे' (बहुधारे) बहुत झरने वालीं 'पयस्वती' (उदकवत्यौ) जल वालीं (द्यावा पृथिवी हैं ।) ।

इस मन्त्र में 'भूरिधारे' इत्यादि पदों के साथ समान विभक्ति वाला होने से 'असश्चन्ती' पद द्यावा पृथिवी (द्यु-लोक-भूलोक) का विशेषण है, यह सिद्ध होता है ॥

(निघ०-) वनुष्यति ॥ ८ ॥

(निरु०-) वनुष्यतिर्हन्तिकर्मा अनवगतसंस्कारो भवति ।

"वनुयाम वनुष्यतः" इत्यपि निगमो भवति ।

"दीर्घप्रयज्युमति यो वनुष्यति वयं जयेम पृतनासु दूढ्यः ।"

दीर्घप्रततयज्ञम्-अभिजिघांसतियो, वयं तं जयेम पृतनासु 'दूढ्यं' दुर्धियं पापधियम् ।

पापः पाता अपेयानाम् । पापत्यमानः अवाङ्

एव पतति इतिवा । पापत्यते र्वा स्यात् ।

अर्थः—'वनुष्यति' (८) यह पद 'हन्ति' के (हिंसा) अर्थ में रहता हुआ अनवगत संस्कार है ।

"हम 'वनुष्यतः' अपने को मारते हुओं को 'वनुयाम' मारते हैं । " यह भी निगम है ।

'यः' जो 'दीर्घप्रयज्युम्' (दीर्घप्रततयज्ञम्) लम्बे (बहुत कालतक) फैले हुए यज्ञ को 'अतिवनुष्यति' (अभिजिघांसति) आभिमुख्य से नष्ट करता है, 'वयम्' हम (तम्) उस 'दूढ्यः' (दूढ्यं दुर्धियं पापधियम्) दूढ्य या दुष्ट धी (बुद्धि) वाले या पापबुद्धि वाले को 'पृतनासु' संग्रामों में 'जयेम' जीतें ।

'पाप' क्या? पीने वाला—अपेयों (न पानयोग्यों) का । अथवा जो फिर फिर गिरता हुआ नीचे को ही गिरता है । अथवा पतनार्थक 'पत' (यङन्त) धातुसे है । क्योंकि—वह बहुत या फिर २ गिरता ही है ॥

[निघ०-] तरुष्यति ॥९॥

[निरु०-] तरुष्यतिः अपि एवंकर्मा ।

"इन्द्रेण युजा तरुषेम वृत्रम्" (ऋ० सं० ५, ४, १५, २) इत्यपि निगमो भवति ।

अर्थः—'तरुष्यति' (९) पद भी 'हन्ति' के (हिंसा) अर्थ में है ।

"हम 'इन्द्रेण' इन्द्र के साथ 'युजा' युक्त हुये 'वृत्रम्' शत्रु को 'तरुषेम' मारें" यह भी निगम है ॥

[निघ०-] भन्दनाः ॥१०॥

[निरु०-] भन्दनाः, भन्दतेः स्तुतिकर्मणः ।
"पुरुप्रियो भन्दते धामभिः कविः" (ऋ० सं० २, ८, २०, ४) इत्यपि निगमो भवति ।
"सभन्दना उदियर्त्ति प्रजावतीः" (७,३, २०, १) इति च ।

अर्थः–'भन्दन' शब्द स्तुति अर्थ वाले 'भन्द' (भ्वा० प०) धातु से है ।

" 'पुरुप्रियः' बहुत कामनाओं वाला 'कविः' (क्रान्तदर्शनः) फैले हुए ज्ञान वाला स्तोता (अग्निम्) अग्निको 'धामभिः' अनेक नामों से 'भन्दते' (स्तौति) स्तुति करता है" यह भी निगम है ।

क्यों कि–स्तुति करने वाला अनेक नामों से स्तुति के अतिरिक्त क्या करेगा, इस लिये 'भन्दते' धातु का स्तुति ही अर्थ निश्चय होता है ।

" 'सः' वह यजमान, जो 'मेरे यहां यज्ञ कर्म हो, तो मैं सोम को निचोड़ूं' ऐसी नित्य कामना रखता है, 'प्रजावतीः' प्रजा के चिन्हों से युक्त (प्रजाओं को उचित) 'भन्दनाः' स्तुतियों को 'उदियर्त्ति' उदीरता या गाता है ॥" और यह निगम है ।

यहां 'भन्दनाओं को गाता है इस गाने के संबन्ध से 'भन्दना' शब्द स्तुति का वाचक ही हो सकता है । पहिला उदाहरण आख्यात और दूसरा यह नाम (प्रातिपदिक) के रूप में हुआ । दोनों ही प्रकार से प्रयोग आता है, इस से दोनों दिखाए हैं ॥

(निघ०-) आहनः ॥११॥

[निरु०-] "अन्येन मदाहनो याहि तूयम्"। (ऋ० सं० ७, ६, ७, ३) ॥

अन्येन मत् आहनो गच्छ क्षिप्रम्, आहंसि इव भाषमाण, इति असभ्यभाषणात् आहना इव भवति, एतस्मात् आहनः स्यात् ।

'आहनः' यह पद सम्बोधन अनवगत है। क्यों कि-इसमें अर्थ की प्रतीति नहीं होती। "आहसि" यह अर्थ की प्रतीति है।

" न तिष्ठन्ति न निमिषन्त्येते देवानां स्पश इहये चरन्ति । अन्येन मदाहनो याहि तूयं तेन विवह रथ्येवचक्रा ॥ (ऋ० सं० ७, ६, ७, ३)

यम और यमी का संवाद-सूक्त है, वहा यह यम का वाक्य है। वह मैथुन के लिये प्रार्थना करती हुई यमी को कहता है—

हे यमि ! तू मत समझ, इस समय एकान्त है, किन्तु 'न तिष्ठन्ति' [छिद्र देखनेवाले जन क्षणमात्र भी] नहीं रुकते, और 'न' निमिषन्ति' नहीं पलक झिंपाते, [बराबर फिरते और देखते रहते हैं।] कौन ? 'एते' ये 'देवानां स्पशाः' देवताओंके गुप्तचर, 'ये' जो 'इह' इस संसारमें 'चरन्ति', विचरते हैं। इससे कहता हूं-हे 'आहनः !' असभ्य भाषण से हनन करने वाली ! 'मत्' मुझसे 'अन्येन' दूसरे कुलमें उत्पन्न हुए पुरुष के साथ तू 'तूयम्' शीघ्र 'याहि' मैथुन को प्राप्त हो मैं तेरे इस असभ्य वचन को सुन भी नहीं सकता, करना तो दूर रहा। अतः तू दूसरे ही पुरुष के साथ मैथुन (रति) के

लिये विचर । 'तेन' उसी से 'विवह' विवाह कर । 'रथ्या इव चक्रा' जैसे एक रथमें दो चक्र (पहिये) जुड़े हुए होते हैं, उसी प्रकार एक मनकर, उसी प्रयोजन में तेरे साथ वह कामी और तू उसके साथ, दोनों जुड़ जाओ । किन्तु इस प्रयोजन से तू मुझे कम्पित नहीं कर सकती, यह अभिप्राय है ॥

गरुड़पुराण के देव दूतों की बात को अवैदिक समझने वाले तथा बहिन भाईके योनि संबन्धको वैदिक बनाने वाले इस मन्त्र की ओर घूरकर देखें !

निरुक्तार्थ-हे आहनः ! मुझसे दूसरे के संग शीघ्र जा । 'आहनः' क्यों ? मारती हुई जैसी है, बोलती हुई अर्थात्-असभ्य (गन्दे) भाषण (बोल चाल) से आहना (मारने वाली) जैसी होती है । पुरुष भी इसी से 'आहन' हो सकता है । [क्योंकि-जिसके समीप ऐसा असभ्य वचन होता है, उसका भी आहनन होता है] ॥

इस मन्त्र में मैथुन-समाचार अनिष्ट होने से 'आहनः' यह यमीके- लिये सम्बोधन है, ऐसा निश्चय हो जाता है ॥

[निघ०] नदः ॥१२॥

[निरु०] ऋषिर्नदो भवति, नदतेःस्तुतिकर्मणः ॥ " नदस्य मारुधतः काम आगन् ॥ " [ऋ०सं० २, ४, २२, ४] ॥

नदनस्य मा रुधतः काम आगमत् । संरुद्ध-प्रजननस्य ब्रह्मचारिणः,-इति ऋषिपुत्र्या विलपितं वेदयन्ते ॥ २ ॥

अर्थः— 'नद्' (१२) क्या ? ऋषि होता है, स्तुति अर्थ में 'नद्' (भ्वा० प०) धातु से है। अर्थात्—जब ऋषि देवताओं की स्तुति करता है,तब ऐसा प्रतीत होता है,मानों यह संसार के विषयोंको तिरस्कार करता हुआ नाद् (गर्जना) करता है, इसी से वह 'नद्' कहा जाता है। लोक में भी जब कोई किसी का बल पूर्वक तिरस्कार करता है, उस समय उसे नाद् करता है, धाड़ता है, गर्जता है, इत्यादि कहते हैं।

प्रयोजन यह है कि-'नदः' ऐसा कहने से व्याख्येय शब्द का ज्ञान होता है, कि-इसका व्याख्यान होगा। फिर 'ऋषि र्भवति' (ऋषि है) ऐसा पर्य्याय देने से ज्ञान होता है कि-अन्तमें ठीक इसी वस्तु (अर्थ) पर इस शब्द को रहना है। फिर 'नदतेः स्तुतिकर्मणः' (स्तुत्यर्थक 'नद' धातु से है।) इस से व्युत्पत्ति या उस शब्द के संस्कार (प्रकृति-प्रत्यय) का ज्ञान होता है-कैसे बना ? क्या व्याकरण से विरुद्ध नहीं ? तथा उसके तत्वके कुछ समीप पहुंचता है। फिर 'नदति-इव' (नाद् जैसा करता है) इससे उस अर्थ की प्रतीति होती है, जो उसमें घटता हो अर्थात्—व्युत्पत्ति 'नदति' (नाद् करता है) है, किन्तु विद्वान् ऋषि नाद् (अव्यक्त वाणी) नहीं करता, वह व्यक्त वाणी बोलता है' अतः अर्थ की प्रतीति अपेक्षित होती है—'नदति इव' (नाद् जैसा करता है) अर्थात्—नाद् नहीं करता, नाद् जैसा करता है। जब संसार के विषय उसके साह्मने आते हैं, उन्हें वेदार्थ-विज्ञान के बलसे बलपूर्वक तिरस्कार करता है। लोक में भी जो बलपूर्वक किसी का प्रत्याख्यान करता है, उसे 'गर्जता है' गर्जन करता है, इत्यादि कहते हैं यह प्रकार शब्द के अर्थ को घटाने बढाने

में उपयुक्त होता है, निर्वचन में इस की बड़ी आवश्यकता है

"नदस्य मा रुधतः काम आगन्नित आजातो अमुतः कुतश्चित् । लोपामुद्रावृषणं नीरिणाति धीरमधीरा धयति श्वसन्तम् ॥" (ऋ० सं० २, ४, २२, ४) ॥

अगस्त्य ब्रह्मचारी और लोपामुद्रा ऋषिपुत्री के संवाद सूक्त में यह लोपामुद्रा का वचन है । वह अगस्त्य को भर्त्ता समझ कर बोली—

'नदस्य' (नदनस्य) देवताओं की स्तुति करने वाले इस अगस्त्य को 'रुधतः' इन्द्रियों को रोके हुए होने से 'मा' मुझे 'कामः' काम 'आगन्' आया, जिससे मैं अब पीड़ित हो रही हूं । सो मैं नहीं जानती कि-वह 'इतः' (एव मच्छरीरात्) इस मेरे ही शरीर से 'आजातः' आया, अथवा 'अमुतः' उस अगस्त्य के शरीर से, क्योंकि-पुरुष के गुणों को स्मरण करनेसे स्त्री को काम हो जाता है (प्रकट होता है) और पुरुष को स्त्री के स्मरण से । इसी से काम को 'स्मर' कहा जाता है । इस से यह उपपन्न होता है,-इस मेरे शरीर से या उस नद के शरीर से आया । अथवा 'कुतश्चित्' कहीं से आया, यह भी वस्तुतः नहीं जानती । 'लोपामुद्रा' इस प्रकार विलाप करती हुई लोपामुद्रा 'वृषणम्' वीर्य के बरसाने वाले अगस्त्य को 'नीरिणाति' निश्चय अधिकता से या काम दोष से प्राप्त होती है 'रिणाति' धातु गत्यर्थों में पढ़ा है । अथवा 'निरिणाति' (चेतसा उपगच्छति) मनसे उसे प्राप्त होती है । क्योंकि-वाञ्छित पुरुष का अनुचिन्तन करना स्त्री का स्वभाव ही होता है । इससे ऐसा सिद्ध होता है । 'धीरम्' ब्रह्मचर्य में

स्थिर बुद्धि अगस्त्यको 'अधीरा' चञ्चल इन्द्रियों वाली 'धयति' मनसे पी जैसे रही है अथवा नेत्रों से देखती है। 'श्वसन्तम्' चित्त से उससे हटते हुए को भी (धयत्येव) पान कर ही रही है। "श्वसति, नदति" ऐसा गत्यर्थों में पढ़ा है। इस प्रकार लोपामुद्रा के वाक्य में "नदस्य रुधतो माम् आगमत् कामः" इस प्रकरण से 'नद' शब्द से ऋषि कहा जाता है, यह सिद्ध होता है "संरुद्ध प्रजननस्य ब्रह्म-चारिणः" अर्थात्–"रोक दिया है, गर्भ का आधान जिस ने ऐसे ब्रह्मचारी के," ये पद ऋषि पुत्री के विलाप को जना रहे हैं ॥ २ ॥ (खं० ३)

[निघ०-] सोमोअक्षाः ॥ १३ ॥

(निरु०) "न यस्य द्यावा पृथिवी न धन्व ना-न्तरिक्षं नाद्रयः सोमोअक्षाः।" (ऋ०सं० ८,४,१५,१)

अक्षोतेः इत्येवम्–एके।

अनूपे गोमान् गोभिरक्षाः सोमो दुग्धाभिरक्षाः। (७, ५, १३, ४)

"लोपाशः सिंहं प्रत्यञ्चमत्साः।"

क्षियति निगमः पूर्वः, क्षरति निगमःउत्तरः इत्येके।

अनूपे गोमान् गोभिर्यदा क्षियति, अथ सोमो दु-ग्धाभ्यः क्षरति।

सर्वे क्षियतिनिगमाः इति शाकपूणिः ॥

"सोमो अक्षाः" (१३) ये दो पद हैं। इन में "अक्षाः" यह पद अनवगत है। और पक्ष में अनेकार्थ भी है। अर्थात् कुछ आचार्य 'अश्नोति' (व्याप्ति) अर्थ, और कुछ आचार्य 'क्षियति' (गति) और 'क्षरति' (झरना) अर्थ मानते हैं। किन्तु शाकपूणि सब स्थानों मे क्षियति (गति) अर्थ ही मानते हैं। यही पक्ष में अनेकार्थता है। यहां पर 'सोम' शब्द 'अक्ष' शब्द के साथ इस लिये दिया है, कि—इस का उदाहरण "न यस्य द्यावा पृथिवी" यही मन्त्र बनें। क्योंकि-उस मन्त्र में "सोमो अक्षा" ऐसा ही विशिष्ट पाठ है। समाम्नाय के आचार्यों के ध्यान में 'अक्ष' शब्द 'अश्नोति' का ही होना अच्छा है और वह उक्त मन्त्र में भली प्रकार सगत होता है।

'यस्य' जिस इन्द्रकी महिमा को 'द्यावा पृथिवी' द्युलोक और पृथिवी लोक 'न' नहीं 'अक्षाः' (अश्नुवाते) व्यापन करते या पाते हैं। 'न-धन्व' न जल, 'न-अन्तरिक्षम्' न अन्तरिक्ष, और 'न-अद्रयः' न पर्वत पाते हैं। किन्तु 'सोमः-अक्षाः' सोम ही उसकी महिमा को व्यापन करता है। इस प्रकार कोई 'अश्नोति' पद का 'अक्षाः' शब्द मानते हैं।

"अनूपे गोमान्०" जब कोई 'गोमान्' गोओं वाला 'गोभिः' गोओं सहित 'अनूपे' सजल देशमें 'अक्षा' (क्षियति = निवसति) निवास करता है 'अथ' तो उस देशके सुन्दर तृण (घास युक्त होने से 'दुग्धाभिः' (पुनःपुनः 'दुग्धाभ्यः' अपि गोभ्यः) बारबार दोही हुई भी गोओंसे 'सोमः' सोम 'अक्षाः' ('क्षरति' एव) झरता ही है। जिस वनमें 'मत्साः' मदयुक्त 'लोपाशः' छेदन-समर्थ गोएँ 'सिंह' सिंह के 'प्रत्यञ्च' (प्रति अञ्चन्ति) साह्मने जाती हैं। [ऐसी गोओंकी महिमा जो सुनते रहे, उसे आज इस मन्त्र में भी देखते हैं।]

मन्त्र में पहिला 'अक्षाः' पद 'क्षियति' (निवास) का

निगम है, और दूसरा 'अक्षाः' पद 'क्षरति' (झरने) का निगम है। यह कोई आचार्य मानते हैं।

शाकपूणि आचार्य कहते हैं कि ये पूर्वोक्त सब निगम 'क्षियति' (निवास) अर्थ के ही हैं। प्रथम उदाहरण में जिस इन्द्र का द्यावापृथिवी निवास नहीं, न जल और न अन्तरिक्ष, अपितु सोम ही इन्द्र का निवास है। "अनूपे" मन्त्रमें जब गोमान् अनूप (सजल) देश में निवास करता है, तब दोही हुई गोओं में भी सोम निवास करता ही है किन्तु वे दूध के रूप में सोम से खाली नहीं होतीं इस प्रकार तीनों ही स्थानों में निवास अर्थ घट जाता है। यही शाकपूणि का मत है।

[निघ०-] श्वात्रम् ॥१४॥

[निरु०] 'श्वात्रम्' (१४) इति क्षिप्रनाम। आशु अतनं भवति। "स पतत्रीत्वरं स्था जगद्यच्छ्वात्रमग्निरकरोज्जातवेदाः।" (ऋ० सं० ८,४,१०,४) स पतत्रि च इत्वरं स्थावरं जङ्गमं च यत्, तत् क्षिप्रम् अग्निरकरोज्जातवेदाः॥

अर्थ–'श्वात्र' यह शीघ्र का नाम है। क्यों? वह 'आशु अतन' (जलदी जलदी चलता) है।

'सः' उस 'जातवेदाः' कार्य मात्रके जानने वाले अग्निने 'यत्' जो 'पतत्रि' इधर उधर उड़ने वाले 'इत्वरम्' पक्षी आदि, 'स्थाः' (स्थावरम्) और स्थावर वृक्ष आदि 'जगत्' (जङ्गमं च) और जङ्गम गो आदि (तत्) उस सब को प्रलय काल में 'श्वात्रम्' (क्षिप्रम्) शीघ्र 'अकरोत्' अपने में कर लिया था।

इस प्रकार इस मन्त्र में 'द्यवात्रम्' यह शीघ्र का नाम है। क्यों कि स्थावर जङ्गमों को झटपट जलानेके अतिरिक्त अग्नि क्या करता? इस से शीघ्र अर्थ का नाम निश्चित होता है। (इस मन्त्र में पौराणिक प्रलय कालीन अग्निलीला का वर्णन है)

[निघ०-] ऊतिः ॥१५॥

[निरु०] ऊतिः (१५) अवनात्।

"आ त्वा रथं यथोतये" (ऋ० सं० ६, ५, १, १,) इत्यपि निगमोभवति।

अर्थ-'ऊति' (१५) अवन (रक्षा) से है।

हे इन्द्र! 'त्वा' (त्वाम्) तुझे ('आवर्त्तयामसि' (आवर्त्तयामहे स्तुतिभिः) स्तुतियों द्वारा आवृत्ति (वार वार याद) करते हैं।) किस लिये? 'ऊतये' अपनी रक्षा के लिये। किस प्रकार? 'यथा-रथम्' जैसे कोई समर्थ पुरुष रथ को वार वार घुमाता है। इस प्रकार आवृत्ति के संबन्ध से 'ऊति' शब्द रक्षा अर्थ में है॥

[निघ०-] हासमाने ॥ १६ ॥

[निरु०] 'हासमाने' (१६) इति उपरिष्टाद्व्याख्यास्यामः ॥ ४ ॥

अर्थ-'हासमाने' (१६) यह पद आगे "प्रपर्वतानामुशती उपस्थात्" पर व्याख्यान करेंगे।

[निघ०] पड्भिः ॥१७॥

[निरु०] "वम्रकः पड्भिरुपसर्पदिन्द्रम्" ॥

पानैः-इतिवा । स्पाशनैः-इतिवा । (स्पशनैः इतिवा ।)

पड्भिः (१७) यह अनवगत है । "पानै." "स्पाशनै" ये शब्दसमाधि है ।

वम्र नाम वैखानस ऋषि बोले कि—

हे इन्द्र ! 'वम्रः' पूर्व कल्प के वम्र ने 'पड्भिः' सोम पानो (की भेंट) से (इन्द्रम्' पूर्व कल्पके इन्द्र को 'उपसर्पत्' शरण किया (इन्द्र की शरण ली) यहां शब्द की समानता और प्रकरण से 'पड्भिः' यह पान का नाम है ॥

[निघ०] ससम् ॥१८॥

(निरु०) "ससं न पक्वमविदच्छुचन्तम् ।" (ऋ० सं० ८, ३, १४, ३) स्वपनमेतत् माध्यमिकं ज्योतिः अनित्यदर्शनं तादिव अविदद् जाज्वल्यमानम् ॥

'ससम्' (१८) यह अनवगत पद है । 'स्वपनम्' यह अवगम (अर्थ बोधक पद) है ।

अर्थः—'ससम्' (स्वपनम् एतत् माध्यमिकं ज्योतिः अनित्यदर्शनम् तद्) स्वपन (सोने वाला) यह मध्यम (अन्तरिक्ष) लोक का ज्योति (बिजली) जो अनित्यदर्शन अर्थात्-आठ (८) मास तक दिखाई नहीं देता, किन्तु वर्षा ऋतु में ही दिखाई देता है, तथा 'पक्वम्' आकाश देशमें प्रकट होने वाला है, उसके 'न' (इव) समान किसी ऋषिने या और ने भूमिके सजल तृणयुक्त देशमें 'शुचन्तम्' (जाज्वल्यमानं) चमकते हुये इस अग्नि को 'अविदत्' पाया या जाना ।

यहा शब्द की समानता और अर्थ की योग्यता से 'सस'

शब्दसे स्वपन (सोनेवाले) का ग्रहण होता है, तथा वह मध्यम लोक की ज्योति बिजली ही है, उसी की उपमा मन्त्र में अग्नि को दीगई है ॥

(निघ०-) द्विता ॥१९॥

(निरु०-) "द्विताच सत्ता स्वधयाच शम्भुः।" (ऋ० सं० ३, १, १७, ५)। द्वैधं सत्ता मध्यमे च स्थाने उत्तमे च। शम्भूः सुखभूः ॥

'द्विता' (१९) यह अनवगत है। 'द्वैधम्' (दो प्रकार से) यह अवगम है।

अर्थ—हे अग्ने! तुझ से पूर्व होता वायु की 'द्विता' (द्वैधंसत्ता) दो प्रकार की विद्यमानता है। अर्थात्— (मध्यमे च स्थाने उत्तमे च।) मध्यम स्थान में विद्युत् (बिजली) के रूपमें और उत्तम स्थान द्युलोक में सूर्य के रूपमें है। 'स्वधया च' और वह अन्न के द्वारा सब प्राणियों को 'शम्भु' (सुखभूः) सुख देनेवाला है। यहां शब्द की समानता और अर्थ की योग्यता से 'द्विता' शब्द 'द्वैध' के अर्थ में है ॥

(निघ०) व्राः ॥ २० ॥

(निरु०-) "मृगं न व्रा मृगयन्ते ॥" [ऋ०सं०५, ७,१८,१] मृगमिवव्रात्याः प्रैषाः ॥३॥

'व्राः' (२०) यह अनवगत है। 'व्रात्याः' यह अवगम है ॥

अर्थ—हे भगवन्। इन्द्र! 'व्राः' (व्रात्याः—प्रैषाः) हमारे प्रैष मन्त्र ('व्राः' = व्रात्याः = व्याधाः) व्याध 'मृगं—न' (इव)' मृगको जैसे, तुझे 'मृगयन्ते' ढूँढते हैं ॥ यहां पर मृग के सम्बन्ध से 'व्रा' शब्द व्रात्य या लुब्धक (व्याध) का नाम है ॥ ३ ॥

(खं० ४)

(निघ०-) वराहः ॥२१॥

(निरु०-) वराहो मेघो भवति । वराहारः । "वरमाहारमाहार्षीः" इति च ब्राह्मणम् ।

"विध्यद्वराहं तिरो अद्रिमस्ता" (ऋ०सं० १, ४, २८, २) इत्यपि निगमो भवति ।

अयमपि इतरो वराहः एतस्मादेव । बृहति मूलानि । वरं वरं मूलं बृहति इति वा ॥

"वराह मिन्द्र एमुषम्" (ऋ० सं० ६,५,३०, ४) इत्यपि निगमो भवति ॥

'वराह' (२१) यह अनवगत और अनेकार्थ है।

अर्थः—'वराह' मेघ होताहै । क्योंकि-उसका वर (जल) आहार (भोजन) है । और "वर (जल) आहारको आहार [भोजन) किया । या हे पर्जन्य ! तैंने श्रेष्ठ (जलरूप) आहार को (हमारे लिये) आहरण (आनयन) किया । यह ब्राह्मण है

"वराहम्" (मेघम्) मेघको 'विध्यत्' ताडन करता हुआ 'तिरः' दूर ही अवस्थित (ठहरा हुआ हुआ) 'अद्रिम्' (वज्रम्) वज्र को 'अस्ता' फेंकने वाला इन्द्र । " यह भी निगम है ।

यह भी दूसरा 'वराह' (शूकर) इसी से है । क्योंकि-यह भी वर (मूल) को आहार करता ही है । [व्युत्पत्ति] 'बृहति मूलानि' काटता है मूलों को । अथवा 'वरंवरं मूलं बृहति' वर वर (अच्छे अच्छे) मूल को बर्हण करता (काटता) है ॥

"विश्वेत्ता विष्णुराभरदुरुक्रमस्त्वेषितः ।
शतं महिषान्क्षीरपाकमोदनं वराहमिन्द्र एमुषम्" (ऋ० सं० ६, ५, ३०, ४)

'उरुक्रमः' बहुत पराक्रम वाले 'त्वेषितः' इन्द्र वाक्य से उत्तेजित 'इन्द्रः' ऐश्वर्यवान् 'विष्णुः' विष्णुने 'ता' (तानि) 'विश्वा' (विश्वानि) 'इत्' एव उन सबी धनोंको 'आभरत्' आहरण किया किन धनोंको लाया? 'शतं-महिषान्' सौ (१००) भैंसोंको, 'क्षीरपाकम्' दूधपाक, 'ओदनम्' भात 'एमुषम्' मोह करने वाले 'वराहम्' सूकर को (लाया)। यह भी निगम है।

यहां धनोंके लाने के प्रसंगमें 'वराह' शब्द प्रसिद्ध वराह (सूकर) का ही नाम हो सकता है। इस मन्त्र में "त्वेषितः" पदमें 'त्वा-इषितः' ऐसा पद विभाग होसकता है, तो भी अर्थ के अनुरोध से एक पद करके ही निर्वचन किया है॥

(निरु०-] अङ्गिरसोऽपि वराहा उच्यन्ते ।
"ब्रह्मणस्पतिर्वृषभिर्वराहैः" (ऋ०सं०८,२,१६,१)।

अर्थः- अङ्गिरस् भी वराह कहे जाते हैं।

" 'वृषभिः' कामनाओं के बरसने वाले 'वराहैः' यज्ञ में बैठने वाले अङ्गिरसों से सहित 'ब्रह्मणस्पतिः' इन्द्र"

यद्यपि इस मन्त्र में 'वराह' शब्द के अङ्गिरस्-वाचक होने में कोई लिङ्ग नहीं है, तो भी इस मन्त्र वाले सूक्त में "विप्रं पदमङ्गिरसो दधानाः०" [ऋ० सं० ८, २, १५, २] ऋचा में 'अङ्गिरस्' पद का उपादान है॥

(निरु०-) अथापि माध्यमिका देवगणा वराहवः उच्यन्ते ।

"पश्यन्हिरण्यचक्रानयोदंष्ट्रान्विधावतोवराहून्"
(ऋ०सं० १, ६, १४, ५) ॥ ४ ॥

अर्थः—और भी मध्यम लोक के देव-गण 'वराहु' कहे जाते हैं।

"हे मरुत् देवगणों ! गौतम ऋषि तुम्हें 'हिरण्यचक्रान्' सोने के चक्रवालों, 'अयोदंष्ट्रान्' लोहे के रथ वालों, 'विधावतः' नाना प्रकार दौड़ते हुओं 'वराहू' वराहु नाम वालों को 'पश्यन्' (स्तौति) स्तुति करता है" ॥ ४ ॥

(खं० ५)

(निघ०-) स्वसराणि ॥ २२ ॥

(निरु०) स्वसराणि अहानि भवन्ति । स्वयं सारीणि । अपिवा स्व-आदित्यो भवति, सः एनानि सारयति ।

"उस्रा इव स्वसराणि" । (ऋ० सं० १, १, ६, २) इत्यपि निगमो भवति ।

'स्वसराणि' (२२) यह अनवगत है। 'स्वयंसारीणि' यह अवगम है। 'अहानि' (दिन) अर्थ कथन है।

अर्थः—'स्वसर' अहन् (दिन) होते हैं। क्योंकि—वे स्वयम् (आप) सरण (गमन) करते हैं,या आपसे आप चले जाते हैं।

अथवा 'स्वर' आदित्य होता है, वह इन को सारण करता (चलाता) है।

"उस्रा इव स्वसराणि" अर्थात्—"'इव' जिस प्रकार 'उस्राः' रश्मियें 'स्वसराणि' (अहानि) दिनों के प्रति (शीघ्र

अर्को मन्त्रो भवति यत्-अनेन अर्चन्ति।
अर्कम्-अन्नं भवति, अर्चति भूतानि।
अर्को वृक्षो भवति संवृत्तः कटुकिम्ना ॥५ (४) ॥

'अर्क' (२४) यह शब्द अनेकार्थ है।

अर्थ-'अर्क' देव होता है। क्योंकि-इसे सब पूजते हैं।

'अर्क' मन्त्र होता है। क्योंकि-इस से अर्चन (पूजन) करते हैं।

'अर्क' अन्न होता है। क्योंकि-वह भूतों (प्राणियों) को अर्चता (पूजता) है।

'अर्क' वृक्ष (आक) होता है, क्योंकि-वह कड़ुवे पन से व्याप्त होता है ॥ ५ (४) ॥

(खं० ६)

[निरु०] "गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः, ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे ॥" (ऋ० सं० १, १, १९, १,) गायन्ति त्वा गायत्रिणः, प्रार्चन्ति ते अर्कम्-अर्किणो ब्राह्मणाः। त्वा शत-क्रतो ! उद्येमिरे वंशमिव।
वंशः, वनशयो भवति। वननात् श्रूयते इतिवा ॥

'अर्क' शब्द के देव और मन्त्र अर्थ में निगम—

अर्थ-"गायन्ति त्वा०" अर्थात्-हे भगवन् ! इन्द्र ! 'गायत्रिणः' (सामगाः) साम-गान करने वाले स्तुतियों द्वारा 'गायन्ति' गाते हैं। 'अर्किणः' (ऋग्मिणो होतारः) मन्त्रों वाले होता लोग 'अर्कम्' तुझ अर्चनीय को 'अर्चन्ति' प्रार्चन्ति ऋचाओं द्वारा पूजते हैं। 'ब्रह्माणः' (ब्राह्मणाः) ये सब

ब्राह्मण यज्ञ कर्म में 'शतक्रतो' हे इन्द्र ! 'त्वा' तुझे 'वंशम्-इव' बांस को जैसे 'उद्येमिरे' उठाते हैं। अर्थात् स्तुतियों और हवियों से तेरी ही महिमा को बढ़ाते हैं। इस प्रकार यहां 'अर्क' शब्द से "अर्कम्" इस पदमेंदेवअर्थ और "आर्किणः" पद में मन्त्र अर्थ है।

'अर्क' शब्द का वृक्ष या आक अर्थ प्रसिद्ध ही है, इस से उस का निगम नहीं दिया।

[निघ०-] पविः ॥ २५ ॥

[निरु०] 'पविः' (२५) रथनेमिर्भवति। यद्विपुनाति भूमिम्।

"उत पव्या रथानामद्रिं भिन्दन्त्योजसा।" (ऋ० सं० ४, ३, ९, ४,)

"तं मरुतः क्षुरपविनाऽव्ययुः" इत्यपिनिगमौ भवतः ॥

अर्थ-'पवि' (२५) शब्द अनवगत है, और रथ की नेमि (पूठी या पृथ्वी में टिकने वाली पहिये की धार) का नाम है। क्योंकि-वह पृथ्वी को पवित्र करती या खोद देती है।

"हे मरुतो ! 'उत' और 'रथानाम्' रथों की 'पव्या' पूठी से 'अद्रिम्' (मेघम्) मेघ को तुम 'ओजसा' बल से 'भिन्दन्ति' भेदन कर देते हो। (पुरुष का व्यत्यय वैदिक है) ॥"

" 'मरुतः' मरुतों ने 'तम्' उस मेघ को 'क्षुरपविना' छुरे

के समान पैनी पूठी से 'व्ययुः' भेदन कर दिया।" ये भी निगम हैं। (यहां रथ और भेदन क्रिया के सम्बन्ध से 'पवि' शब्द का नेमि (पूठी) अर्थ है)।

(निघ०-) वक्षः ॥२६॥

[निरु०] 'वक्षो' व्याख्यातम्।

अर्थ-'वक्षः' (२६) इस शब्द का "उषो अदर्शि शुन्ध्यवः" (नि० अ० ४ पा० २ खं० ८) मन्त्र पर व्याख्यान किया जा चुका है॥

[निघ०-] धन्व ॥२७॥

[निरु०] 'धन्व' अन्तरिक्षम्। धन्वन्ति-अस्मात् आपः।

"तिरोधन्वातिरोचते" (ऋ० सं० ८,८,४५,२) इत्यपि निगमो भवति॥

धन्व (२७) शब्द अनवगत है।

'धन्व' (२७) क्या? अन्तरिक्ष। क्यों? इससे जल गिरते हैं। क्या निगम है! "तिरो धन्वातिरोचते" अर्थात्-जो आदित्यरूप अग्नि 'तिरः' अतिविस्तार युक्त 'धन्व' आकाश देशको 'अति' अतीत्य, लांघ करके 'रोचते' हमारे प्रति प्रकाश करता है। यह भी निगम है। (यहां आदित्य की स्तुति के संबन्ध से 'धन्व' अन्तरिक्ष (आकाश) का नाम है)॥

[निघ०-] सिनम् ॥ २८ ॥

(निरु०-) सिनम्-अन्नं भवति। सिनाति भूतानि।

"येन स्मा सिनं भरथःसखिभ्यः" (ऋ०सं०३,४,९,१) इत्यपि निगमो भवति ॥

'सिन' (२८) शब्द अनवगत है। 'सिनाति' (बांधता है) यह शब्दयुक्ति है। 'अन्न भवति' (अन्न है) यह अभिधेय (अर्थ) वचन है।

अर्थ– 'सिन' अन्न होता है। क्योंकि–वह सब भूतों (प्राणियों) को सींता (बांधता) है।

हे इन्द्रावरुण देवो! 'येन' जिस माहाभाग्य (बड़ी महिमा) के कारण (युवाम्) तुम दोनों 'सखिभ्यः' समान ज्ञान वाले यजमानों के लिये 'सिनम्' (अन्नम्) अन्न को 'भरथः' पूरते हो ('स्म' पाद पूरण है।) ॥ यह भी निगम है

अन्न को ही प्राय करके यजमान मांगते हैं, इस लिए यही 'सिन' शब्द अन्न का ही वाचक होता है।

'धन्व' और 'सिन' इत्यादि कई शब्द अपने २ अर्थ में नैघण्टुक प्रकरण में भी पढे गए हैं,तो भी यहां (नैगमकाण्ड में) कोई अनवगत संस्कार होनेके कारण और कोई अनेकार्थ होने के कारण पढ़ेगए हैं॥

[निघ०] इत्था ॥२६॥

(निरु०-) 'इत्था'अमुथा'-इत्येतेन व्याख्यातम्॥५॥

अर्थः–'इत्था' (२६) यह निपात है। इस की व्याख्या 'अमुथा' (३, १६) शब्द के समान है।

(निघ०-) सचा ॥ ३० ॥

[निरु०-] 'सचा' सह-इत्यर्थः।

"वसुभिः सचा भुवा" (ऋ० सं० ६, ३, १४, १)

वसुभिः सह भुवौ ॥

'सचा' यह निपात अप्रतीतार्थ (अर्थानवगत) है।

'सचा' सह (साथ) यह अर्थ है।

हे अश्विनौ ! अश्विनों ! ' वसुभिः ' वसु देवताओं से 'सचा' भुवा (सहभुवौ) सहित होकर (इस सोम को पीओ, और हमारे अभिप्रेत अर्थ को सिद्ध करो।) ॥

[निघ०-] चित् ॥ ३१ ॥

[निरु०-] ' चित् ' इति अनुदात्तः । पुरस्तादेव व्याख्यातः ।

अथापि पशुनाम इह भवति उदात्तः ।

" चिदसि मनासि धीरसि "

चितास्त्वयि भोगाः । चेतयसे इति वा ॥

अर्थः-'चित्' (३१) यह निपात अनुदात्त-स्वर है। पहिले (नि० अ० १ पा० २ खं० ३) व्याख्यान किया गया है। अनेकार्थ है।

और उदात्त (आदि-उदात्त) होकर यहां पर [राजक्रयणी गोकी स्तुति में-] पशु का नाम भी होता है।

हे गौः! ('त्वं') तू 'चित्' भोगसाधनी 'असि' है। 'मनासि' मान्य है। 'धीः-असि' ध्याई जाती (ध्यान की जाती) है।

'चित्' क्यों? तुझमें सब भोग संचित हैं। अथवा तू घृत, दूध आदि के दान से मनुष्यों को चेताती है।

(निघ०-) आ ॥ ३२ ॥

[निरु०-] 'आ' इति आकार उपसर्गः, पुरस्तात-

एव व्याख्यातः ।

अथापि अध्यर्थे दृश्यते ।

"अभ्र आँ अपः ।" (ऋ० सं० ४,३,२,१) ।

अभ्रे आ अपोऽपोऽभ्रेऽधीति ॥

अर्थः—'आ' (३१) यह उपसर्ग पहिले ही (नि० अ० १ पा० १ खं ५) व्याख्यान किया जा चुका है—। ('आ' इति अर्वागर्थे ।) ("अथापि उपमार्थे दृश्यते" "जार आ भगम् ।" इत्यादि ।

यही कदाचित् 'अधि' के अर्थ (उपरिभाव या ऐश्वर्य) में होता है। निगम—

" अभ्र आँ अपः " जो ही 'अभ्र आ अपः' वाक्य से कहा गया होता है, वही ' अपः अभ्रे अधि' से। अर्थात् 'अभ्र' मेघ के 'आ' (अधि) ऊपर 'अपः' जलों को (वितनोति) विस्तार करती है।

जल मेघ के ऊपर ही रहते हैं,इससे यहां 'आ' 'अधि'के अर्थ में निश्चित होता है ॥

(निघ०-) द्युम्नम् ॥३३॥

(निरु०-) 'द्युम्नं' द्योततेः । यशोवा । अन्नंवा ।

"अस्मे द्युम्नमधिरत्नं च धेहि" [ऋ०सं०५,३,९,३)

अस्मासु द्युम्नं च रत्नं च धेहि ॥ ६ (५) ॥

इति पञ्चमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ ५, १ ॥

'द्युम्न' (३३) शब्द अनेकार्थ है। 'द्योतते' (प्रकाशता है) यह शब्द-प्रतीति है। "यशो वा" अथवा यश "अन्नवा" अथवा अन्न यह अर्थ कथन है।

'द्युम्न' कैसे ? 'द्युत' (भ्वा० आ०) धातु से । यह क्या ? अथवा यश है, (क्यों? 'द्योतते' वह चमकता है ।) अथवा अन्न है । (क्यों ? 'द्योतते' उसे खाने वाला प्रकाशमान होता है ।)

"अस्मेद्युम्न०" हे इन्द्र ! 'अस्मे' (अस्मासु) हम में 'द्युम्नम्' यश या अन्न को 'च' और 'रत्नम्' रत्न को 'धेहि' धारण कर ॥

यहां आशीः (प्रार्थना) के सम्बन्ध से द्युम्न नाम अन्न या यश का होता है ॥ ६ (५) ॥

इति पञ्चमाध्याये प्रथमः पादः समाप्तः ॥ ५, १ ॥

द्वितीयः पादः ।

(खं० १)

[निघ०-] पवित्रम् ॥३४॥ तोदः ॥३५॥

(निरु०-) पवित्रं पुनातेः । मन्त्रः पवित्रमुच्यते ।

"येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते सदा ॥" (सा० सं० उ० आ० ५, २, ८, ५) इत्यपि निगमो भवति ।

रश्मयः पवित्रमुच्यन्ते ।

"गभस्तिपूतः" "गभस्तिपूतो नृभिरद्रिभिःसुतः" (ऋ० सं० ७, ३, १८, ४) इत्यपि निगमौ भवतः ।

आपः पवित्र मुच्यन्ते ।

"शतपवित्राः स्वधया मदन्तीः ॥" (ऋ०सं० ५, ४, १४, ३) । बहूदकाः ॥

अग्निः पवित्र मुच्यते । वायुः पवित्र मुच्यते । सोमः पवित्रमुच्यते । सूर्य्यः पवित्रमुच्यते । इन्द्रः पवित्रमुच्यते ।

"अग्निः पवित्रं स मा पुनातु वायुः सोमः सूर्य्य इन्द्रः पवित्रं ते मा पुनन्तु" इत्यपि निगमो भवति ।

तोदः, तुद्यतेः ॥१ (६) ॥

'पवित्र' (३४) अनेकार्थ है । "पुनाते." यह धातु का निर्देश निर्वचन के अभिप्राय से है । क्यों कि–वह पवित्र करता है । "मन्त्र पवित्रम्-उच्यते" (मन्त्र 'पवित्र' कहलाता है) इत्यादि अर्थ का कथन है ।

अर्थ–'पवित्र' (३४) शब्द 'पुनाति' ('पूञ्' पवने क्र्या० प०) धातु से है । मन्त्र 'पवित्र' कहा जाता है ।

" 'येन' जिस 'पवित्रेण' पावन मन्त्र से 'देवाः' ऋत्विज् और यजमान 'सदा' सदा 'आत्मानम्' अपनेको 'पुनते' पवित्र करते हैं" यह भी निगम होता है । इस मन्त्र में 'देव' शब्द स्तुत्यर्थक दिव् (दि० प०) धातु से ऋत्विज् और यजमान का वाचक है, क्योंकि मुख्य देवता निष्पाप होते हैं, उनका अपने को पवित्र करना संभव नहीं । "न च वै देवान् पापं गच्छति" 'देवताओं को पाप स्पर्श नहीं करता' यह ब्राह्मण वाक्य है ।

रश्मिएं (किरणें) पवित्र कहलाती हैं । क्योंकि–वे स्पर्श से ही पवित्र करती हैं ।

"गभस्तिपूतः" रश्मियों (किरणों) से पवित्र हुआ हुआ ।

"गभस्तिपूतः" किरणों से पवित्र हुआ हुआ "नृभिः"

मनुष्यों से "आद्रिभिः" पत्थरों के द्वारा "सुतः" कुटाहुआ हुआ" ये भी दो निगम होते हैं। इन मन्त्रों में किरणों की पावनता कही गई है, इससे किरण 'पवित्र' हैं।

अप् (जल) पवित्र कहे जाते हैं। क्योंकि–वे भी पवित्र करती हैं। "'शत पवित्राः' (बहूदकाः) बहुत जलवालीं 'स्वधया' अन्न के सहित हुईं हुईं 'मदन्ती' मद (हर्ष) देतीं हुईं"

इस मन्त्र में 'पवित्र' नाम जलका है।

अग्नि 'पवित्र' कहा जाता है। वायु 'पवित्र' कहाजाता है। सोम 'पवित्र' कहा जाता है। सूर्य्य 'पवित्र' कहा जाता है। इन्द्र 'पवित्र' कहाजाता है। क्योंकि–ये सभी पवित्र करते हैं।

"अग्नि पवित्र है, वह मुझे पवित्र करे। वायु, सोम सूर्य्य, इन्द्र ये पवित्र हैं, वे सब मुझे पवित्र करें॥" यह भी निगम होता है॥

'तोद' (३५) यह शब्द अनवगत है। 'तुद' यह अवगम है। 'तुद्यते' यह व्यथन (पीड़ा) अर्थ का वाचक 'तुद' (तु० उ०) धातुका निर्देश है। भूमिका बिल 'तोद' कहलाता है। क्योंकि—तुन्न (खुदाहुआ) होता है। कोई 'तोद' कूप (कूए) को कहते है।

'तुद' शब्द पीडार्थक 'तुद' (तु० उ०) धातु से है॥ १ (६)॥

(खं० २)

(निघ०-) स्वञ्चाः॥ ३६॥ शिपिविष्टः॥ ३७॥ विष्णुः॥ ३८॥

(निरु०-) "पुरु त्वा दाश्वान्वोचेऽरिरग्ने तवस्विदा । तोदस्येव शरण आमहस्य ॥" (ऋ०सं०२,२,१९,१) ॥ बहुदाश्वांस्त्वामेव अभिह्वयामि ॥

अरिः अमित्रः । ऋच्छतेः । ईश्वरोऽपि अरिः एतस्मादेव । यदन्यदेवत्या अग्नौ आहुतयो हूयन्ते इत्येतद् दृष्ट्वा एवम् अवक्ष्यत् ॥ "तोदस्येव शरण आमहस्य" तुदस्येव शरणे ऽधिमहतः ।

स्वश्वाः सु अश्वनः ।

" आजुह्वानो घृतपृष्ठः स्वश्वाः" । (ऋ० सं० ४, २, ८, १) इत्यपि निगमो भवति ।

शिपिविष्टो विष्णुः, इति विष्णोर्द्वे नामनी भवतः । कुत्सितार्थीयं पूर्वं भवति, इति-औपमन्यवः ॥ २ (७) ॥

अर्थः-" 'अग्ने' हे अग्नि देव ! 'पुरु' -'दाश्वान्' बहुल देने वाला (अहम्) मैं 'त्वा' तुझे 'वोचे' (आह्वयामि) बुलाता हूं । क्योंकि-' स्विन् आ ' बहुल काल तक विचार पूर्वक 'तोदस्य' (कूपस्य कूए के 'शरणे' (बिले) बिलके (अधि) ऊपर 'इव' जैसे, अपने में अन्य अन्य देवताओं की आहुतियों के ग्रहणमें 'महस्य' (महतः) महान् के 'तव' तेरे (स्तोमों के उच्चारणमें) ' अरिः ' (समर्थः) समर्थ हूँ ॥ "

बहु दाता (मैं) तुझे ही बुलाता हूं ।

'अरि' अमित्र (शत्रु) होता है । हिंसार्थक ' ऋच्छ '

(भ्वा०प०) धातु से है। ईश्वर (समर्थ) भी 'अरि' इसी से है। जिससे कि अग्नि में अन्य अन्य देवताओं की असंख्य आहुतियें होमी जाती हैं, (किन्तु अग्नि की गृहण (दाह) शक्ति क्षीण नहीं होती) यही देखकर ऋषिने कहा होगा, कि "तोदस्येव शरण आ महस्य" अर्थात्—जिस प्रकार किसी कूपके (शरण) छिद्रके (आ अधि) ऊपर डाले हुए पानी कहीं भी चले जाते हैं, उसी प्रकार हे अग्ने ! तुझ में मेरी हुई असंख्य आहुतियें लीन होजाती हैं, इसीसे तू (मह) महान् है, और इसीसे अन्य देवताओं को छोड़कर तुझे ही आवाहन करता हूं।

" स्वञ्चाः " (३६) क्या ? 'सु अञ्चनः' सुन्दर गमन करने वाला।

"आजुह्वानः" संमख भाव से बुलाया जाता हुआ, "घृतपृष्ठः" जिसकी पीठ पर घृत है, " स्वञ्चाः " शोभन गमन करने वाला अग्नि (" भानुना सूर्यस्य यतते " अपने तेजसे सूर्यके साथ मिलता है।) ॥ "यह भी निगम है। यहां सूर्य के साथ मिलने के कथन से 'स्वञ्चा' शब्द 'स्वञ्चन इस शब्द प्रतीति के द्वारा गत्यर्थक 'अञ्च' (भ्वा० प०) धातु से है, यह उपपन्न होता है॥

"शिपिविष्टः" (१७) "विष्णुः" (३८) ये दो विष्णु के ही नाम हैं। (इनमें 'शिपिविष्ट' शब्द गुण (विशेषण) नवगत है और मत से अनेकार्थ है। 'शिपिविष्ट' (शेप इव निर्वेष्टितः पुरुषचिन्ह के समान लिपटा हुआ है, यह अर्थ की प्रतीतिहै इसी शब्दके सम्बन्ध से 'विष्णु' शब्द समाम्नान किया (पढा) गया है। जैसे "अश्वाः" के सम्बन्ध से "तीव्र." "संमीश्वरा")

इन दोनों में जो पूर्व (पहिला) नाम (शिपिविष्ट) है, वह निन्दित अर्थ का वाचक है,-यह उपमन्यु का पुत्र आचार्य मानता है ॥ २ (७) ॥

(खं० ३)

"किमित्ते विष्णो परिचक्ष्यं भूत् प्रयद्ववक्षे शिपिविष्टो अस्मि । मा वर्पो अस्मदपगूह एतद्यदन्यरूपः समिथे बभूथ ॥" (ऋ० सं० ५, ६, २५, ६)

किंते विष्णो अप्रख्यातमेतद् भवति अप्रख्यापनीयम्, यन्नः प्रब्रूषे शेप इव निर्वेष्टितोऽस्मि इति। अप्रतिपन्नरश्मिः अपिवा प्रशंसा नामैव अभिप्रेतं स्यात् किंते विष्णो प्रख्यातमेतद् भवति प्रख्यापनीयं, यदुत प्रब्रूषे शिपिविष्टोऽस्मि-इति प्रतिपन्नरश्मिः । शिपयोऽत्र रश्मयः उच्यन्ते, तैः आविष्टो भवति ।

"मा वर्पो अस्मदपगूह एतत्"

वर्ण इति रूप नाम वृणोति-इति सतः । यदन्यरूपः समिथे संग्रामे भवसि संयतरश्मिः । तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥ ३ (८) ॥

'शिपिविष्ट' शब्द का निन्दा अर्थ मे उदाहरण—

"किमित्ते०" तेरा क्या रूप है ? इस प्रश्नके उत्तर मे 'मै शिपिविष्ट (पुरुष चिन्ह के समान) हूं ऐसा कहे जाने पर यह मन्त्र आरम्भ होता है ।

'विष्णो' हे विष्णुदेव ! 'किम्' क्या 'इत्' (एतत्एव) यही

'ते' तेरा 'परिचक्ष्यम्' (प्रख्यापनीयम्) बताने योग्य (रूप) भूत् (भवति) है, (किन्तु और नहीं ?) 'यत्' जिस से 'प्र-ववक्षे' कहता है—'शिपिविष्टः अस्मि' शिपिविष्ट हूं । (क्यों कि-उदयकाल में जब तक कि-किरणें नहीं फूटती हैं, तब तक सूर्य शेप या पुरुष के चिन्ह के समान होता है । इसी से वह अप्रख्यात या अप्रख्यापनीय या न बनाने योग्य है ।) इसी से हम कहते हैं-'मा' मत 'वर्पः' यह रूप (दिखाओ) अपितु 'अस्मत्' हमारे आगे से 'एतत्' यह रूप 'अपगूह' छिपाओ । और 'यत्' जो या जैसा कि-तू 'समिथे' (संग्रामे) संग्राम में 'अन्यरूपः' दूसरे प्रकार के रूप वाला अर्थात्-रश्मिजाल युक्त (प्रदीप्तरूप) 'बभूथ' होता है, वह रूप दिखा ।

निरुक्तार्थः-हे विष्णो ! क्या तेरा यह अप्रख्यात या अप्रख्यापनीय (नहीं प्रकट करने योग्य) ही रूप है, जो तू हमारे सामने कहता है-शेप (लिङ्ग) के समान लिपटा हुआ हूं, यह-अप्रतिपन्नरश्मि (किरणों को नहीं प्राप्त हुआ हुआ) अथवा प्रशंसा का नाम ही समझा जा सकता है-हे विष्णो ! क्या तेरा यही प्रख्यात या प्रख्यापनीय (बताने योग्य) रूप है, जो तू कहता है-मैं शिपिविष्ट (प्रतिपन्नरश्मि) या बाल किरणों वाला हूं । इस पक्ष में 'शिपि' नाम से किरणें क[illegible] जाती हैं, उनसे आविष्ट या प्रवेश किया हुआ है ।

"मत यह रूप दिखाओ, किन्तु हमसे यह छिपाओ ।"

* 'वर्ण' यह रूप का नाम 'वृणोति' (ढकलेता है) (वृञ् स्वा० उ०) कर्तृवाच्य धातु का है । जो अन्य रूपवाला तू

---

* यहां 'वर्ण' शब्द का निर्वचन 'रूप' के पर्याय होने से किया गया ।

संग्राम में संयतरश्मि (किरणों के जालों से युक्त) होता है। उसके (प्रशंसा पक्षमें) बहुत अधिक निर्वचन के लिये अगली ऋचा है ॥ ३ (८) ॥

(खं० ४)

[निघ०-] आघृणिः ॥ ३९ ॥ पृथुज्रयाः ॥ ४० ॥

(निरु०-) "प्रतत्ते अद्य शिपिविष्ट नामार्यः शंसामि वयुनानि विद्वान्। तन्त्वा गृणामि तवसमतव्या न्क्षयन्तमस्य रजसः पराके॥" (ऋ० सं० ५, ६, २५, ५)

तत्ते अद्य शिपिविष्ट ! नामार्यः प्रशंसामि, अर्योऽहमस्मि-ईश्वरः स्तोमानाम्। अर्यं त्वमसि-इति वा। तं त्वा स्तौमि तवसम्-अतव्यान्। तवस-इति महतो नामधेयम्। उदितो भवति। निवसन्तम्-अस्य रजसः पराके पराक्रान्ते ॥

'आघृणिः' आगतहृणिः।

"आघृणे संसचावहै।" (ऋ० सं० ४, ८, २१, १)

आगतहृणे संसेवावहै।

'पृथुज्रयाः' पृथुजवः।

"पृथुज्रया अमिनादायुर्दस्योः" (ऋ० सं० २, ३, १३, २]

प्रामापयदायुर्दस्योः ॥ ४ (९) ॥

अर्थः—'शिपिविष्ट' (हे विष्णो !) हे विष्णुदेव ! 'अद्य'

आज (मैं) 'ते' तेरे 'नाम' नामको 'प्रशंसामि' प्रशंसा करता हूं, अर्थात् मैं उसे प्रशंसा योग्य अर्थ वाला ही समझता हूं, जिसे और लोग बुरे अर्थवाला समझते हैं। (क्योंकि-) 'वयुनानि' तुम्हारे विषय के विज्ञानों को 'विद्वान्' जानने वाला हूं। और 'अर्यः' (अहमस्मि) मैं अर्य हूं-(ईश्वरः स्तोमानाम्) अर्थात्-मैं स्तुतियों के गाने में समर्थ हूं—तुम्हारे गुणों का जानकार हूं, इससे मैं प्रशंसा करता हूं। अथवा 'अर्यः' (त्वम्-असि) तू मेरे ऊपर अनुग्रह करने के लिये समर्थ है, इससे प्रशंसा करता हूं। [यहां मन्त्र में 'तत् ते नाम' 'वह तेरा नाम' ऐसी उक्ति नाम को प्रसिद्ध प्रशसा योग्य होने की सूचना के लिये है।] 'तम्' उस सर्वगुणसम्पन्न ईश्वर 'तवसम्' (महान्तम्) बड़े 'अस्य' इस 'रजसः' अन्तरिक्ष लोक के 'पराके' (पराक्रान्ते) दूरसे दूर स्थान में 'क्षयन्तम्' (निवसन्तम्) निवास करते हुये 'त्वा' तुझको 'अतव्यान्' लघु (छोटा सा) मैं 'गृणामि' स्तुति करता हूं।

इस मन्त्र में 'शिपिविष्ट' नाम से विष्णु का संबोधन करके उसके नाम की प्रशंसा की है, किन्तु प्रशंसनीय नाम को न बताकर उसे ' तत् ' परोक्ष वाचक पदके द्वारा देवता को स्मरण कराता है, स्यात् वह शिपिविष्ट ही हो। ऐसी प्रशंसासे देवता अधिक संतुष्ट होतेहैं। क्योंकि-" परोक्षप्रियाइवाहि देवाः " ' देवता परोक्ष-प्रिय जैसे होते हैं ' यह श्रुति है।

निरुक्तार्थः-हे शिपिविष्ट ! आज उस तेरे नाम की मैं अर्य प्रशंसा करता हूं। मैं अर्य नाम ईश्वर या स्तोमों के उच्चारण में समर्थ हूं। अथवा तू स्तोमों (मन्त्रों) का अर्य नाम ईश्वर (स्वामी) है। उस तुझ महान् को मैं छोटा सा

स्तुति करता हूं। 'तवस' यह महत् (बड़े) का नाम है। क्योंकि वह उदित (प्रकाशित) होता है। इस रजस् (अन्तरिक्ष) लोक के पराके या पराक्रान्त (दूर से बहुत दूर के) स्थान में निवास करते हुए को ॥ १ ॥

'आघृणि' (३६) क्या ? आगतहृणि। वह क्या ? जिस में 'हृणि' प्रकाश या क्रोध आया हुआ हो।

'आघृणे' (हे आगतहृणे) हे प्रकाश युक्त ! या क्रोध युक्त (आवाम्) हम दोनों 'संसचावहै' (संसेवावहै) आपस में सेवाकरें ॥२॥

'पृथुज्रयाः' (४०) क्या ? पृथुजव। वह क्या ? बड़े वेग वाला।

'पृथुज्रयाः' बड़े वेग वाले ने 'दस्योः' शत्रु या मेघ के 'आयुः' आयु को 'अमिनात्' (प्रामापयत्)। मिन लिया (मांप लिया) या नष्ट किया ॥ ३ ॥ ४ ॥ (६) ॥

(खं० ५)

(निघ०) अथर्युम् ॥४१॥

(निरु०) "अग्निनरो दीधितिभिररण्योर्हस्तच्युती जनयन्त प्रशस्तम्। दूरेदृशं गृहपतिमथर्युम् ॥" (ऋ० सं० ५, १, २३, १)

दीधितयः अंगुलयोभवन्ति। धीयन्ते कर्मसु। अरणी प्रत्यृतः एने। अग्निः समरणात्, जायते। इतिवा। हस्तच्युती हस्तप्रच्युत्या। जनयन्त प्रशस्तं दूरें दर्शनं गृहपति मतनवन्तम् ॥ ५ ॥

'अथर्युं' (६१) क्या ? अतनवान्। वह क्या ? निरन्तर गमन वाला।

अर्थः—'नराः' (मनुष्याः) मनुष्योंने 'दीधितिभिः' अङ्गुलियोंसे (योक्त्रम् उत्तरारणिं च परिगृह्य) योक्त्र (रस्सी) और ऊपर की अरणि को पकड़ कर 'हस्तच्युती' हाथों से बिलोते हुए 'अरण्योः' अरणियों से 'प्रशस्तम्' श्रेष्ठ 'दूरेदृशम्' दुर्लभ दर्शन 'गृहपतिम्' गार्हपत्य नाम 'अथर्युम्' गमनवान् 'अग्निम्' अग्निको 'जनयन्त' उत्पन्न किया।

इस प्रकार 'अथर्यु' शब्द 'अत' गत्यर्थक (भ्वा० प०) धातु से है। क्योंकि-इस से इसकी शब्द समाधि है और अग्नि का अधिकार है।

'दीधिति' अङ्गुलिएँ होती हैं। क्योंकि-ये कर्मों में धारण की जाती हैं। 'अरणी' क्यों? इनके प्रति अग्नि अरण (गमन) करता है। अथवा इनके 'समरण' (समागम) से अग्नि उत्पन्न होता है। 'हस्तच्युती' अर्थात् हाथों के चलाने से। प्रशस्त (श्रेष्ठ) को उत्पन्न किया। दूरमें दिखाई देने वाले गृहपति गृहके स्वामी अतनवान् (गमनवान्) को ॥५॥

(खं० ६)

[निघ०-] काणुका ॥ ४२ ॥

(निरु०-)"एकया प्रतिधा पिबत्साकं सरांसि त्रिंशतम् इन्द्रः सोमस्य काणुका।" (ऋ० सं० ६, ५, २९, ४)

एकेन प्रतिधानेन अपिबत् साकं सह-इत्यर्थः। इन्द्रः सोमस्य काणुका, कान्तकानि इति वा। क्रान्तकानि इति वा। कृतकानि इतिवा॥

इन्द्रः सोमस्य कान्त इतिवा। कणे घातइतिवा

कणेहतः । कान्तिहतः ।

तत्र एतद् याज्ञिका वेदयन्ते-त्रिंशत् उक्थपात्राणि माध्यन्दिने सवने एकदेवतानि, तानि एतस्मिन् काले एकेन प्रतिधानेन पिबन्ति, तानि अत्र सरांसि उच्यन्ते ।

त्रिंशत् अपरपक्षस्य अहोरात्राः, त्रिंशत् पूर्वपक्षस्य,-इति नैरुक्ताः । तद्या एता श्चान्द्रमस्यः आगामिन्यः आपोभवन्ति, रश्मयः ता अपरपक्षे पिबन्ति । तथापि निगमो भवति । —

"यमक्षितिमक्षितयः पिबन्ति" इति । तं पूर्वपक्षे आप्याययन्ति तथापि निगमो भवति । —

"यथादेवा अंशुमाप्याययन्ति" इति ॥ ६ ॥

'काणुका' (४२) यह अनवगत और अनेकार्थ है । "कान्तकानि" "क्रान्तकानि" "कृतकानि' इत्यादि शब्दसमाधिए है ।

अर्थ—'इन्द्रः' इन्द्रने 'एकया' (एकेन) एक ' प्रतिधा ' (प्रतिधानेन) चित्तके एक ही टिकाव से 'त्रिंशत्'तीस (३०) 'सोमस्य' सोम के 'सरांसि' सर या तडाग 'साकम्' (सह) एक साथ ' अपिबत् ' पानकिये । कैसे सर ? ' काणुका ' (कान्तकानि) प्यारे अथवा (क्रान्तकानि) सोम से ऊपर तक भरे हुये अथवा (कृतकानि) ऋत्विजों द्वारा संस्कार किये हुए ॥ अथवा 'काणुका' पद इन्द्रका ही विशेषण है, किन्तु सरों का नहीं । कैसे ?

"इन्द्रः सोमस्य काणुका" (इन्द्रः सोमस्य कान्तः) अर्थात् इन्द्र सोमका काणुका (कान्त) या प्यारा है, इसी से उसने उसके सरों को पान किया। इस (कान्त) अर्थ में 'काणुका' शब्द की शब्द प्रतीति कैसी है ? 'कणे घातः' काम, प्रार्थना, और कणे ये तीनों पद एक ही अर्थ के वाचक है। एवम्—कणेघात, कणेहत, और कान्तिहत ये तीनों समान अर्थ को ही कहते हैं। जो अर्थ 'कणेहतः' से होता है, वही अर्थ 'काणुका' पद से होता है, अर्थात् पीने की इच्छा के समाप्त होने तक इन्द्र सोम के सरों को पीता है। सोम के सरों को पान कर लेने पर पान की इच्छा से रहित या तृप्त इन्द्र 'काणुका' शब्द का अर्थ है।

इस मन्त्र में तीस (३०) सर कहे गये हैं, व क्या हैं, इसी को बताने के लिये आचार्य पहिले याज्ञिकों के मत को दिखाते हैं—

"तहां मन्त्र में इस 'त्रिंशत्' (तीस ३०) पद में याज्ञिक लोग यह अर्थ कहते हैं—माध्यन्दिन सवन (कर्म) में एक देवता के तीस उक्थ-पात्र होते हैं। अर्थात् उस माध्यन्दिन सवनमें उक्थ के तीन पर्य्याय होते हैं, और वे सभी इन्द्र देवता के होते हैं, उन तीनों ही में दश (१०) दश (१०) चमस (पात्र) होते हैं, वे मिलकर तीस पात्र होजाते हैं। उन्हे इन्द्र देवता एक काल में एक सड़ाके से पी जाता है। वे ही यहां सर कहे जाते हैं"।

दूसरा मत

"तीस अपर पक्ष (कृष्ण पक्ष) के दिन और रात्रि होती हैं, तीस पूर्व (शुक्ल) पक्ष के" यह नैरुक्त आचार्य कहते हैं। तब वहां जो ये चन्द्रमा में प्रतिपदा द्वितीया आदि तिथियों में आने वाले (आपः) जल हैं, उन्हें कृष्ण

पक्ष में सूर्य की किरणें पी जाती हैं। वैसा भी यह निगम है-
यमक्षितिमाक्षितयः पिबन्ति" अर्थात् जिस 'अक्षितिम्' (अक्षय) चन्द्रमा को 'अक्षितयः' (अक्षय) सूर्य की रश्मिएं पान करती हैं। बदीमें चन्द्रमाको पान करके वे सूर्यकी किरणें फिर शुक्ल पक्ष (सुदी) आने पर उसे पुष्ट कर देती हैं। वैसा भी यह निगम है।—"यथा देवा अंशुमाप्याय-यन्ति" अर्थात् जिस प्रकार ये सूर्य की किरणें 'अंशुम्' चन्द्रमा को 'आप्याययन्ति' पुष्ट करती हैं, हे यजमान! उसी प्रकार 'देवाः' देवता तुझे पुष्ट करें ॥ ६ ॥

(खं० ७)

[नि०] अध्रिगुः ॥४३॥ आङ्गूषः ॥४४॥
(निरु०) अध्रिगुर्मन्त्रोभवति। गवि अधिकृतत्वात् अपिवा प्रशासनमेव अभिप्रेतंस्यात्, तच्छब्दवत्त्वात् "अध्रिगो शमीध्वं सुशमि शमीध्वं शमीध्वमध्रिगो" इति ॥ अग्निरपिअध्रिगुः-उच्यते। "तुभ्यंश्चोतन्त्य-ध्रिगोशचीवः।"

अधृतगमनकर्मवन्।

इन्द्रोऽपि अध्रिगुः उच्यते ॥

"अध्रिगव ओहामिन्द्राय" (ऋ०सं०१, ४, २७, १)

इत्यपि निगमो भवति।

आङ्गूषः स्तोम आघोषः।

"एनाङ्गूषेण वयमिन्द्रवन्तः" (ऋ०सं०१,७,२३,४)
अनेन स्तोमेन वयम् इन्द्रवन्तः ॥ ७(११) ॥

'अध्रिगु' (४३) यह अनवगत और अनेकार्थ है।

'अध्रिगु' मन्त्र होता है। क्यों कि-वह गो (वाणी) में अधिकृत (स्थित) रहता है। अर्थात्-'अधिगु' शब्दसे 'अध्रिगु' होता है। अथवा प्रशासन माना जासकता है कि-'अध्रिगु' नाम वाला कोई देवताओं में शमन करने वाला देव विशेष है, क्यों कि मन्त्र में शमन करने वाले के लिये ही 'अध्रिगो' सम्बोधन आया है।-

"अध्रिगो शमीध्वम्" अर्थात्-हे अध्रिगो ! तुम सब शमन (पशु का संस्कार विशेष) करो। "सुशमि शमीध्वम्" सुन्दर शमन हो, वैसे ही शमन करो "शमीध्वमध्रिगो!" हे अध्रिगो ! तुम सब शमन करो।

यहां मन्त्र में 'अध्रिगु' पद से संबोधन करके पुनः पुनः शमन करने की प्रेरणा की गई है, इससे यही अवगम होता है कि-शमन कर्म करने वाले का ही यह नाम है॥

अग्नि भी 'अध्रिगु' कहा जाता है "हे अध्रिगो" (अधृतगमन !) नहीं जाने वाले "शचीवः" हे (कर्मवन्) कर्मवाले ! या कर्मवीर ! 'तुभ्यम्' तेरे लिये (स्तोकासः) घृत और मेदा की विन्दुएं "श्चोतन्ति" झरती हैं। इस प्रकार यहां 'अध्रिगो' सम्बोधन अग्नि को किया गया, इस से अग्नि 'अध्रिगु' है॥

इन्द्र भी 'अध्रिगु' कहलाता है। क्योंकि-इसके गमन को किसीने धारण नहीं किया है।

" 'अध्रिगवे' (अधृतगमनाय) दूसरेसे नहीं धारण किये हुए गमन वाले 'इन्द्राय' इन्द्र के लिये 'ओहम्' मैं (हविओं को देता हूं ।) इस प्रकार इन्द्रका विशेषण होनेसे 'अध्रिगु' इन्द्र का नाम है ॥

'आङ्गूषः'(४४) यह अनवगत है । स्तोम (मन्त्र समूह) अर्थ है। 'आघोषः' यह शब्दसमाधि है ।

'आंगूष' क्या ? स्तोम (मन्त्रसमूह) । वह क्यों ? आघोष (फैलकर गूंजने वाला) है ।

"एन" (अनेन) इस "आङ्गूषेण"(स्तोमेन) मन्त्र समूह से "वयम्" हम "इन्द्रवन्तः" इन्द्र वाले हैं ॥ इस प्रकार यहा मन्त्र में 'आङ्गूष' शब्दसे स्तोम कहा गया है ॥ (११) ॥

(निघ०-) आपान्तमन्युः ॥४५ ॥ श्मशा ॥४६॥

[निरु०-] "आपान्तमन्युस्तृपलप्रभर्मा धुनिः शिमीवाञ्छरुमाँ ऋजीषी । सोमो विश्वान्यतसा वनानि नार्वागिन्द्रंप्रतिमानानि देभुः ॥" (ऋ० सं० ८, ४, १४,, ५)

आपातितमन्युः तृप्रप्रहारी क्षिप्रप्रहारी (सिप्रप्रहारी) सोमोवा इन्द्रोवा ॥

'धुनि.' धुनातेः ।

'शिमी'-इति कर्मनाम । शमयतेर्वा। शक्नोतेर्वा ।

ऋजीषी सोमः, यत् सोमस्य पूयमानस्य अति-

रिच्यते तत् ऋजीषम्,-अपार्जितं भवति, तेन ऋ-जीषी सोमः ॥

अथापि ऐन्द्रो निगमो भवति-"ऋजीषी वज्री" (ऋ० सं० ४, २, ११, ४) इति । हर्य्योः अस्य स भागः, धानाश्च इति ॥

'धानाः' भ्राष्ट्रे हिता भवन्ति । फलेहिता भवन्ति इति वा ।

"बब्धां ते हरी धाना उप ऋजीषं जिघ्रताम् ॥" इत्यपि निगमो भवति ।

आदिना अभ्यासेन उपहितेनउपधामादत्ते ।

बभस्तिः अत्तिकर्मा । सोमः सर्वाणि अतसानि वनानि । न अर्वाक्-इन्द्रं प्रतिमानानि दभ्नुवन्ति यैः (ये) एनं प्रतिमिमते न-एनं तानि दभ्नुवन्ति, अर्वागेव एनमप्राप्य विनश्यन्ति-इति ॥

इन्द्रप्रधाना-इत्येके नैघण्टुकं सोमकर्म उभयप्रधाना इत्यपरम् ॥

'श्मशा' शु अश्नुते इतिवा । श्माश्नुते इतिवा ॥ "अवश्मशा रुधद्वाः ।" (ऋ० सं० ८, ५, २६, १)। अवारुधत् श्मशा वाः-इति ॥ ८ (१२) ॥

इति पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः॥ ५, २ ॥

'आपान्तमन्यु' (४५)यह अनवगत है और पद में अनेकार्थ है। 'आपातितमन्यु' यह अ.गम है।

अर्थः-'आपान्तमन्युः' संग्राम में शत्रुओं द्वारा उत्तेजित अथवा क्रोधित हुआ हुआ 'तृपलप्रभर्मा' (तृप्रप्रहारी = क्षिप्र-प्रहारी) शीघ्र प्रहार करनेवाला सोम अथवा इन्द्र-'धुनिः' (यदि सोम है।) पात्रों का कंपाने वाला (यदि इन्द्र) शत्रुओं का कंपाने वाला 'शिमीवान्' अपने अधिकार-युक्त कर्मवाला 'शरुमान्' हिंसावान् 'ऋजीषी' (सोम पक्षे-) खूखस-वाला (इन्द्र पक्षे-) जिस के घोड़ों का ऋजीष (खूखस) भाग होता है, (इस प्रकार आधी ऋचा सोम अथवा इन्द्र की है।) (केवल सोम पक्ष में ३रा पाद-) ऐसे गुणों से युक्त 'सोमः' सोम 'विश्वानि' सब 'अतसा' (अतसानि) कभी न घटने वाले 'वनानि' वनों को अथवा जलों को अपनी महिमा से व्यापन करता (व्याप लेता) है। क्यों कि वह उन का अधिपति है। इस प्रकार पहिले के साझे के दो पादों को ले कर तीन पाद सोम के होते हैं। (केवल इन्द्र पक्ष में ४था पाद-) 'इन्द्रम्' इन्द्र को 'न प्रतिमानानि' नहीं मान (स्तुति) करने वाले 'अर्वाक्' पहिले ही (इन्द्र के मिलने से) 'देभुः' दब जाते (तिरस्कृत हो जाते) हैं। इस प्रकार इस मन्त्र में तीन पाद सोम के और तीन पाद इन्द्र के हैं, तथा यह मन्त्र दो देवताओं का (उभय दैवत) है॥

निरुक्तार्थः-'आपातितमन्यु' आगिरा है क्रोध जिस को, तृप्रप्रहारी क्षिप्र (शीघ्र) प्रहार करने वाला अथवा सोम अथवा इन्द्र॥

'धुनि' कंपाने वाला। 'धुञ्' कम्पनार्थक (स्वा० उ०) धातु का है।

'शिमी' यह कर्म का नाम है। अथवा 'शमु' (चु० उ०) धातु से है। अथवा 'शक' (स्वा० उ०) धातु से है।

'ऋजीषी' सोम होता है। क्यों कि जो सोम के छानने से खूखस बच जाता है, वह ऋजीष कहलाता है, तथा अलग डाल दिया जाता है, उससे ऋजीषवाला होने से ऋजीषी सोम है। तो भी इन्द्र का निगम है—

"ऋजीषी वज्री" अर्थात् ऋजीषवाला वज्र वाला॥

इस के दो घोड़ों का ऋजीष और धान भाग होता है।

'धाना' क्यों? भाड़में धारण किये हुए होते हैं। अथवा फलक या तखते पर रखे हुए होते हैं॥

"हे इन्द्र! 'ते' तेरे 'हरी' घोड़े 'धानाः' धानों का 'बब्धाम्' खाएँ (और 'ऋजीषम्' सोमके खूखस को 'उप-जिघ्र-ताम्' सूंघें"-यह भी निगम है)।

'बब्धाम्' इस पद में भक्षणार्थक 'भस्' धातु है,वह आदि अक्षर दोहरा कर लगे हुए बकार से उपधा (अन्तिम अक्षर से पूर्व अक्षर) अकार को लेलेता (लोपकरदेता) है। ("घसिभसोर्हलि" (पा० ६, ४, १००) सूत्र से अकार का लोप, 'त' का 'ध' और 'भ' का 'ब' होता है) इस प्रकार 'बभस्' धातु और 'ताम्' विभक्ति से 'बब्धाम्' यह रूप बनता है।

सोम सब अक्षय वनों को (व्यापता है।) इन्द्र को न मानने वाले पहिले ही नष्ट हो जाते हैं। जो इन्द्र को नहीं मानते, वे इसे तिरस्कार नहीं कर सकते बलकि-पहिले ही इसे अप्राप्त होकर नष्ट हो जाते हैं।

कोई आचार्य कहते हैं-यह "आपान्तमन्युः

अथवा इन्द्र को ही प्रधानता से कहती है, सोम कर्म गौणता से है। (इस मतमें तीसरे पाद में सोम-कर्म उपमा होजाता है। जिस प्रकार सोम सब अन्नय वनों को व्यापता है, उसी प्रकार "आपान्तमन्यु" आदि सकल विशेषणों वाला इन्द्र सब जगत् को व्यापता है। इस प्रकार चारों ही पाद इन्द्र देवता के हो जाते हैं।) 'दोनों देवताओं की प्रधानता है' यह दूसरा मत है॥

'श्मशा' (४६) यह अनवगत है। 'श्वाशिनी' या 'श्माशिनी' यह अवगम है 'श्वाशिनी' शीघ्र खाने वाली या शीघ्र व्यापन करने वाली कुल्या अथवा नदी है। 'श्माशि' श्म (शरीर) को व्यापन करने वाली नाड़ी होती है। इस प्रकार इसके भिन्न २ प्रकार से विभाग करने से यह (श्मशा) शब्द अनेकार्थ भी होता है।

'श्मशा' अथवा 'शु—अश्नुते' जलदी व्यापन करती है। अथवा 'श्म—अश्नुते' शरीर को व्यापती है।

" अवश्मशा रुधद्वाः "

'वाः' जल या रस 'श्मशाः' नदियों को या नाड़ियों को 'अवरुधत्' आवरण करेगा॥ (इस प्रकार इस मन्त्रमें 'श्मशा' शब्द नदी या नाडी का नाम होता है)॥

इति हिन्दीनिरुक्ते पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयःपादः समाप्तः॥५,२॥

तृतीयः पादः।

(खं० १)

[निघं०-] उर्वशी॥ ४७॥

[निरु०-] उर्वशी अप्सराः। उरु-अभ्यश्नुते। उरु-भ्यामश्नुते। उरुर्वा वशोऽस्याः॥

अप्सराः, अप्सारिणी। अपिवा अप्स इति रूप नाम। अप्सातेः। अप्सानीयं भवति। आदर्शनीयम्। व्यापनीयंवा। स्पष्टं दर्शनाय-इति शाकपूणिः॥

यत्-अप्सैः-इति अभक्षस्य। "अप्सो नाम" इति व्यापिनः।

तद्रा भवति, रूपवती, तत् अनया आत्तम्-इतिवा तत्-अस्यै दत्तम्-इतिवा॥

तस्या दर्शनात् मित्रावरुणयो रेतश्चस्कन्द, तदभिवादिनी एषा ऋग् भवति॥ (१३)॥

'उर्वशी'(४७) शब्द अनवगत है। 'अप्सरा.' यह अर्थ-कथन है। 'उर्वभ्यश्नुते' (उरु (महत्) बड़े यश को व्यापन करती है।) यह व्युत्पत्ति है। अथवा 'उरुभ्याम्' 'अश्नुते' (जांघों से मैथुन धर्म में पुरुष को व्याप लेती है। अर्थात्—'ऊर्वाशिनी' होने से 'उर्वशी' कही जाती है। अथवा 'उरुः अस्याः वश.' क्यों कि—महान् काम (पयोजन) इस के वश (अधीन) है इससे यह 'उरुवशिनी' होने से 'उर्वशी' कही जाती है। ये शब्द-समाधिएं है॥

अर्थ—'उर्वशी' (४७) अप्सरा है। क्यों कि—'उरु' बहुत (यश) को अशन (व्यापन) करती है। (या-) उरुओं (जांघों) से पुरुष को अशन (व्यापन) करती है। अथवा उरु (महान्) काम इसके वश है॥

'अप्सराः' क्यों? अप्सारिणी या जल के प्रति नित्य ही सरण (गमन) करती है। (क्यों कि वह उससे उत्पन्न हुई है, इससे वही उस का प्रिय है।) इस से 'अप्सरा' है। अथवा

'अप्सः' यह रूप का नाम है। 'अ-प्सा' (निषेधार्थक 'अ'कार पूर्वक 'प्सा' भक्षणार्थक (अदा० प०) धातु) का है क्योंकि- वह अप्सानीय या अभक्षणीय (नहीं खाने योग्य) है। क्यों? आदर्शनीय है, अर्थात्-सामने से खड़ा होकर नेत्र से देखने योग्य ही है, किन्तु मुख से खाने योग्य नहीं। अथवा वह स्वयम् प्रकाश-स्वभाव होने से किरणों से व्यापने योग्य नहीं है। "देखने के लिये स्पष्ट (प्रकट) ही होता है"-यह शाकपूणि आचार्य मानते हैं।

जिससे कि-मन्त्रों में 'अप्सः' यह शब्द अभक्ष्य का वाचक देखा गया है, इससे ठीक कहा है कि-"अपिवा अप्स इति रूपनाम" क्योंकि-"अप्सोनाम" इस मन्त्र में यह व्यापी या व्यापक का नाम है॥ (न्याय शास्त्र में भी रूप को व्याप्यवृत्ति या अपने आधार में व्यापकर रहने वाला गुण माना है।)॥

इस प्रकार 'अप्सरा' शब्द के 'अप्स' भाग की व्याख्या हुई अब 'रा' भाग की व्याख्या करते हैं-

"तद्रा भवति रूपवती" 'र' का यहां मतुप्प्रत्यय के समान अर्थ है, अर्थात् 'वाला'। इससे 'तद्रा' उस (रूप) वाली या 'अप्स' वाली होनेसे 'अप्सरा' है। अर्थात् रूपवाली अथवा 'रा (अदा०प०) धातु है, उसके योगसे 'अप्सरा' शब्द होता है-अर्थात् 'अप्स' (रूप) को 'रा' ग्रहण करने वाली होने से 'अप्सरा' है। अथवा विधाताने इसे 'अप्स' (रूप) 'रा' दिया है. इससे यह 'अप्सरा' है।

उस के दर्शन से मित्रावरुण देवताओं का वीर्य झरगया था, उसको कहने वाली यह ऋचा है- ॥ १ (१३) ॥

(खं० २)

(निघ०-) वयुनम् ॥ ४८ ॥

[निरु०] " उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठो र्वश्या ब्रह्मन्मनसोऽधिजातः । द्रप्सं स्कन्नंब्रह्मणा दैव्येन विश्वेदेवाः पुष्करेत्वाददन्त ॥ " [ ]

अप्यासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन्!मनसोऽधिजातः, द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन ।

द्रप्सः संभृतः । प्सानीयोभवति । सर्वे देवाः पुष्करे त्वा अधारयन्त ॥

' पुष्करम् ' अन्तरिक्षम् । पोषति भूतानि । उदकं पुष्करम् । पूजाकरम् पूजयितव्यम् । इद मपि पुष्करम्-एतस्मादेव । 'पुष्करं' वपुष्करंवा । पुष्पं पुष्पतेः ॥

' वयुनं ' (४८) वेतेः । कान्तिर्वा । प्रज्ञा वा ॥ २ (१४) ॥

"उतासि" यह ऋचा पुत्रसहित वसिष्ठ की आर्ष है, और उसी की अथवा इन्द्र की स्तुति है।

अर्थः—हे ' वसिष्ठ ! ' 'उत' (अपिच) और भी (त्वम्) तू ' मैत्रावरुण ' मित्रावरुण देवताओं का पुत्र है । कैसे ? ' उर्वश्याः ' उर्वशी अप्सरासे । क्या संघर्ष या मैथुन से ? हे 'ब्रह्मन् ' 'मनसः 'अधिजातः' मनसे हुआ है । क्या निर्बीज ? 'द्रप्सं-स्कन्नम्' वीर्य (मित्रावरुणों का) गिरा, (उर्वशीके दर्शन

से ।) 'दैव्येन' देवताओं की निजकी वस्तु 'ब्रह्मणा' ऋक् यजुः, साम-रूप वेदसे स्तुति करते हुए 'विश्वे-देवाः' सब देवताओं ने (यह वीर्य पृथ्वी में न गिरे इस लिये) 'त्वा' तुझे (उस वीर्य के साथ) 'पुष्करे' (घड़े के ऊपर) जल या अन्तरिक्ष में 'अदद्न्त' धारणकिया ।

'द्रप्स' वीर्य क्यों ? 'द्रप्स' कहलाता है । 'द्रप्स' क्या ! 'रेतस्' संज्ञक रस पुरुष के सब अङ्गोंसे संभृत या इकट्ठा किया हुआ होता है । अथवा 'प्सानीय' या स्त्रीयोमिका भक्षणीय है । इस प्रकार 'द्रप्स' शब्द भरणार्थक भृञ् (भ्वा० उ०) धात से या भक्षणार्थक 'प्सा' (अदा० प०) धातु से है ।

'पुष्कर' अन्तरिक्ष होता है । क्यों कि–वह भूतों (प्राणिओं) को अवकाश दान से पोषण करता है । अथवा उदक (जल) पुष्कर होता है । क्योंकि–उससे पूजा की जाती है, इस से 'पूजाकर' होनें से 'पुष्कर' है । अथवा स्वयम् (आप ही) पूजनीय होने से पुष्कर हैं । यह पुष्कर (कमल) भी इसी से हैं । क्यों ? पुष्कर कहलाता है, वह भी पूजाकर (पूजा का साधन) या स्वयम् सुन्दर होने से पूजनीय है । अथवा 'वपुष्कर' होने से पुष्कर है । क्यों कि–व्यवहार में लाने पर भी वपुष् (शरीर) वान् हो रहता है ।

'पुष्प' शब्द 'पुष्प' फूलने अर्थ में (दि० प०) धातु से है । क्योंकि–वह फूलता है ।

'वयुन' (४८) शब्द अनेकार्थ और अनवगत है । 'वी' (अदा० प०) धातु से है । 'वेन' यह न्याय्य है । कान्ति अथवा प्रज्ञा (बुद्धि) अर्थ है ॥ २ (१४) ॥

व्याख्या।

"उतासि" ऋचामें वसिष्ठके जन्मके साथ 'उत' (भी) पद लगाया है, जिससे वसिष्ठ के नीचे वाली ऋचा में वर्णन किये हुए और दो जन्मों की सूचना होती है।

"विद्युतो ज्योतिः परिसंजिहानं मित्रावरुणा यदपश्यतां त्वा। तत्तेजन्मोतैकं वसिष्ठागस्त्यो यत् त्वा विश आजभार (ऋ० सं० ५, ३, २३, ५)

अर्थात् हे 'वसिष्ठ!' 'यत्' जो 'मित्रावरुणा' (मित्रावरुणौ) मित्रावरुण देवताओं ने 'विद्युतः' विशेष रूप से देदीप्यमान (चमकीली) उर्वशी से 'परि-संजिहानम्' चारों ओर फैलती या उत्पन्न होती हुई 'ज्योतिः' ज्योति को (ज्योति के रूप से) 'त्वा' तुझे 'अपश्यताम्' देखा, 'तत्' वह 'ते' तेरा 'एकम्' एक 'जन्म' जन्म है। 'उत' और 'अगस्त्यः' अगस्त्य 'यत्' जो 'त्वा' तुझे 'विशः' (मनुष्यान्) मनुष्यों के प्रति 'आजभार' (आहृतवान्) लाया, यह तेरा दूसरा जन्म है॥

इस प्रकार "उतासि" और "विद्युतः" इन दोनों मन्त्रों में वसिष्ठ जी के तीन जन्म बताए गए हैं। पहिला जन्म—उर्वशी से निकली हुई ज्योति मित्रावरुण देवताओं को दिखाई दी। दूसरा जन्म—अगस्त्य के द्वारा मनुष्य जाति में है, इसमें यह नहीं प्रतीत होता कि—यह मैथुनजन्म है या अमैथुन? और तीसरा जन्म—उर्वशी के दर्शन से मित्रावरुण देवताओं का वीर्य गिरता हुआ सब देवताओं ने देखा और उसे मन्त्रों के द्वारा स्तुति करके जल या अन्तरिक्ष में रखा।

यहा जो तीसरा जन्म है, उस से मन्त्र के आधिभौतिक

अर्थ के पक्ष में एक ऐसे विज्ञान की सूचना भी मिलती है, जिसमें गर्भाशय से अन्यत्र भी वीर्य रक्षित हो कर शरीर को उत्पन्न कर सकता है, अस्तु, अमैथुन सृष्टि पर अविश्वास करने वाले वैदिक इस पर ध्यान देवें। पुराणों में भी वसिष्ठ जी की उत्पत्ति उर्वशी से कही गई है, वह भी प्रष्टव्य है।

मन्त्रों का विषय अनेक प्रकार का होता है—यहीं पर "उतासि" मन्त्र का वसिष्ठ ही ऋषि (वक्ता) है, और उसी के लिये 'असि' यह मध्यम पुरुष या 'युष्मद्' (तू) शब्द है, यह परस्पर विरुद्ध है, कि—वही वक्ता और वही श्रोता? किन्तु मन्त्र नित्य हैं, इन में यह दोष नहीं है, वास्तव में कोई श्रोता और वक्ता हो तो यह दोष आसकता है। किसी बात को किसी तरह भी कहने में वेद स्वतन्त्र है अथवा स्वयम् पुरुष भी अपने आपे को कभी कुछ कहने लगता है, उसी प्रकार यह मन्त्र भी है॥ २ (१४)॥

(खं० ३)

(निघ०-) वाजपस्त्यम्॥४६॥ वाजगन्ध्यम्॥५०॥ गध्यम्॥ ५१॥ गधिता॥ ५२॥ कौरयाणः॥ ५३॥ तौरयाणः॥ ५४॥ अह्रयाणः॥ ५५॥ हरयाणः॥ ५६॥ आरितः॥ ५७॥ व्रन्दी॥ ५८॥

(निरु०-) "स इत्तमोऽवयुनं ततन्वत्सूर्येण वयुनवच्चकार। (ऋ० सं० ४, ६, ११, ३)

सतमः अज्ञानं ततन्वत् सतं सूर्येण प्रज्ञानवत् चकार ॥

'वाजपस्त्यं' वाजपतनम् ।

"सनेम वाजपस्त्यम्" (ऋ०सं०७, ४, २४, ६) इत्यपि निगमो भवति ॥

'वाजगन्ध्यम्' गध्यत्युत्तरपदम् ।

"अश्याम वाजगन्ध्यम्" (ऋ०सं० ७,४,२४,६) इत्यपि निगमो भवति ॥

'गध्यं' गृह्णातेः ।

"ऋज्रावाजं न गध्यंयुयूषन्" (ऋ०सं०३,५, १९, १) इत्यपि निगमो भवति ॥

गध्यति मिश्रीभावकर्मा ।

"आगधिता परिगधिता" (ऋ० सं० २, १, ११, ६) इत्यपि निगमो भवति ॥

'कौरयाणः' कृतयानः ।

"पाकस्थामा कौरयाण" (ऋ० सं०५,७,२९,१) इत्यपि निगमो भवति ॥

'तौरयाणः' तूर्णयानः ।

"सतौरयाण उपयाहि यज्ञं मरुद्भि रिन्द्र सखिभिः सजोषा" [ऋ० सं०]

इत्यपि निगमो भवति ॥

'अह्रयाणः' अह्रीतयानः ।

"अनुष्टुयाकृणुह्यह्रयाण" (ऋ०सं०३,४,२५,४)
इत्यपि निगमो भवति ॥

'हरयाणः' हरमाणयानः ।

"रजतं हरयाणे" (ऋ० सं० ६, २, २५,, २)
इत्यपि निगमो भवति ॥

"य आरितः कर्मणि कर्मणि स्थिरः" (ऋ०सं० १, ७, १२, ४) । प्रत्यृतः स्तोमान् ॥

'ब्रन्दी' ब्रन्दते मृदुभावकर्मणः- ॥ ३[१५] ॥

अर्थः—हे भगवन् ! इन्द्र! जैसा कि-हम तुझे वर्णन कर चुके हैं 'स.' सो तूने इत् (एतत्) इस 'अवयुनम्' अज्ञान रूप 'तमः' अँधेरे को 'ततन्वत्' फैलाया। 'सः' सो तूने ही 'तम्' उस (इस) लोक को 'सूर्येण' सूर्यरूप अपने प्रकाश से 'वयुनवत्' (प्रज्ञानवत्) ज्ञानयक्त 'चकार' किया। इस प्रकार इस मन्त्र में 'तम फैला कर सूर्य से वयुनवत् करता है, इस सम्बन्ध के द्वारा 'वयुन' शब्द प्रज्ञान (प्रकाश) का वाचक होता है ॥

'वाजपस्त्य' (४६) क्या ? वाजपतन । वह क्या ? जिस पर वाज (अन्न) समझ कर देवता पतन करें (गिरें) ।

'हम' वाजपस्त्यम् सोम को 'सनेम' भजें '-यह भी निगम है ।

'वाजपस्त्य'-देवता लोग सोम को अपना वाज (अन्न)

समझ कर उस पर पतन (गमन) करते हैं, इसी से सोम वाजपस्त्यं है। इस प्रकार शब्दकी समानता और अर्थ की उपपत्ति होने से यहां 'वाजपस्त्य' नाम सोम का है।

'वाजगन्ध्य' (५८) इसमें 'गध्' (दि०प०) धातु उत्तरपद है– 'वाज' शब्द और 'गध्' धातु के मेल से है।

यह शब्द भी पूर्वोक्त "सनेम वाजपस्त्यम्" निगम का ही है, केवल भेद यह है कि—मन्त्र मे समाम्नाय के क्रमकी अपेक्षा विपरीत क्रम से आता है। "वाजपस्त्यम्" (४६) "वाजगन्ध्यम्" (५०) यह समाम्नाय (निघण्टु) का क्रम है, और निगम में–"अश्याम वाजगन्ध्य, सनेम वाजपस्त्यम्" (ऋ०सं० ७, ४, २४, ६) अर्थात्–"हम 'वाजगन्ध्यम्' वाज (अन्न) की गन्ध वाले (सोम) को पावें, हम वाजपस्त्य (जिसे देवता अपना अन्न समझ कर पाते है,) को भजें" यह क्रम है। अत समाम्नाय और निरुक्त के आचार्य के भेद अभेद का यह भी विचार स्थल है। देखो चतुर्थाध्याय की भूमिका ॥

"अश्याम वाजगन्ध्यम्" (हम) 'वाजगन्ध्यम्' सोम को 'अश्याम' भजें। यह भी निगम है॥

'गध्य' (५१) यह शब्द अनवगत है। ग्रहणार्थक 'ग्रह' (क्र्या० उ०) धातु का है। (ग्रहणीय (ग्रहण करने योग्य) यह अर्थ की प्रतीति है।)

"हे इन्द्र ! युद्ध में शत्रुओंके समान अपनेको "युयूषन्" भिहन्ल करने की इच्छा करता हुआ "ऋञ्जा" सीधे राह से "वाजं-न" अन्न के समान 'गध्यम्' ग्रहण-योग्य वस्तु को सन्मुख भाव से भज" यह भी निगम है॥

'गधिता' (५२) शब्द में 'गध्' (दि०प० धातु अप्रतीतार्थ है। इस का अर्थ ज्ञान नहीं पड़ता। सो मिश्रीभाव अर्थ में है। मिश्रीभाव मिलान का नाम है।

'गध्यति' ('गध्' दि० प०) धातु मिश्रीभाव (मिलाने) अर्थ में है ।

"आगधिता" सम्मुखता से पकड़ी हुई "परिगधिता" (परिष्वक्ता) दोनों भुजाओं से मुझ से लिपटाई हुई । यह भी निगम है ॥

यहां मैथुन के संबन्ध से और शब्द की समानतासे 'गध्' धातु का मिश्रीभाव या मिलाना अर्थ है ।

'कौरयाण' (५३) क्या ? कृतयान वह क्या किया हुआ यान ।

"यं मेदुरिन्द्रो मरुतः पाकस्थामा कौरयाणः ।
विश्वेषां त्मना शोभिष्ठमुपेव दिवि धावमानम् ॥
(ऋ० सं० ५, ७, २९, १)

मेधातिथि कण्व ऋषि की यह ऋचा है । इससे आकाशयान की प्रशसा की है ।

'यम्' जो यान 'मे' मुझे 'इन्द्रः' इन्द्र ने और 'मरुतः' मरुतों ने 'दुः' दिया है, वह 'पाकस्थामा' बड़ा पक्का (दृढ) है, 'कौरयाणः' अनेक सुधारों से सस्कार किया हुआ है, अतएव 'विश्वेषाम्' सब यानों के मध्य में 'त्मना' अपने स्वरूप से 'शोभिष्ठम्' बहुत सुन्दर (अनेक रत्नों से चित्र विचित्र) और 'दिवि' आकाश में 'उपधावमानम्' दौड़ने वाला है ॥ यह भी निगम है ।

'तौरयाण (५४) क्या ? तूर्णयान वह क्या ? शीघ्र चलने वाले यान वाला

" हे इन्द्र ! 'सः' सो तू 'मरुद्भिः' 'सखिभिः' मरुत् सखा-

ओं सहित 'सजोषाः' प्रसन्न होता हुआ 'तौरयाणः' अपने यान (विमान) को दौड़ाता हुआ 'यज्ञम्' हमारे यज्ञ को 'उपयाहि' आ ॥ यह भी निगम है ॥

'अह्रयाण' (५५) क्या ? अह्रीतयान वह क्या ? अलज्जितयान=दूसरे यान से न लज्जित होने वाला यान ।

" हे अग्ने ! 'अनुष्ठुया' (अनुष्ठानेन) कर्मसे वह ' कृणुहि' कर,जो हम चाहते हैं । हे 'अह्रयाण' ! अलज्जित–यान (नहीं लज्जित होने वाले यान वाले !) " यह भी निगम है ॥

'हरयाण' (५६) क्या ? हरमाण–यान वह क्या ? जिस का यान सदा चलता ही रहे ।

" ऋज्र मुक्षण्यायने रजतं हरयाणे ।
रथं युक्त मसनाम सुषामणि" (ऋ० सं० ६,२,२५,२)

विश्वमना वैयश्व ऋषि की यह ऋचा है । उष्णिक् छन्द है । इससे यान की स्तुति की जाती है । वह कहता है—

" हमने 'हरयाणे' नित्य चलू यान वाले ' सुषामणि ' सुन्दर सामवेद वाले 'उक्षण्यायने' ' उक्षण्यायन ' नाम वाले यजमान में (से) 'ऋज्रम्' सीधा चलने वाला ' रजतम् ' चांदी का 'रथम्' रथ 'युक्तम्' घोड़ोंसे जुड़ाहुआ (असनाम) पाया । " यह भी निगम है ।

यहां शब्द की समानता और अर्थ की योग्यता से "हरयाण" शब्द "हरमाणयान" से प्रतीत होता है ।

भगवद् दुर्गाचार्य ने 'उक्षण्यायन' नाम किसी यजमान विशेष का बताया है । किन्तु 'उक्षन्' नाम बैल का है, और यान नाम सवारी का है, इन दोनों के योग से 'उक्षण्यान

"मानो मघेव निष्षपी परादाः ।" (ऋ० सं० १, ७, १८, ५)

स यथा धनानि विनाशयति मानस्त्वं तथा परादाः ॥

'तूर्णाशम्' उदकं भवति । तूर्णमश्नुते ।

"तूर्णाशं न गिरेरधि" [ऋ० सं० ६,३,१,४] इत्यपि निगमो भवति ॥

'क्षुम्पम्' अहिच्छत्रकं भवति । यत् क्षुभ्यते—४ [१६] ॥

'न्ययद्वृणक्षि' यह सव्य आंगिरस ऋषि की ऋचा है। जगती छन्द और इन्द्र देवता है। वह इन्द्र ही आंगिरस् का पुत्र होगया है।

अर्थ—हे भगवन् ! इन्द्र ! 'यत्' जो (तू) 'श्वसनस्य' (शब्दकारिणः) शब्द करने वाले वायु के 'च' और 'क्रन्दिनः' अपने तेज से फल आदि को कोमल बनाने वाले 'शुष्णस्य' (शोषयितुः) (आदित्यस्य) सूर्य के 'मूर्द्धनि' ऊपर 'रोरुवत्' (रोरूयमाणः) गर्जता हुआ 'वना' (वनानि) जलों को 'निवृणक्षि' (विहसि) फेंकता है। अर्थात् ऊपर और नीचे जलों को फेंकते हुए तेरी शक्ति कभी घटती नहीं। यहां जिस पक्ष में "वना" पद का 'मेघवधेन' (मेघ के वध से) ऐसा निर्वचन करते हैं, उस पक्ष में 'निवृणक्षि' क्रिया में जोड़ने के लिये 'उदकानि' (जलों को) यह पद ऊपर से ले लिया जाता है। इस प्रकार 'क्रन्दी' शब्द आदित्य का विशेषण हो कर मृदु (कोमल) भाव अर्थ के वाचक 'क्रन्द' (भ्वा० प०) धातु का ही ठीक होना है।

"अव्रन्दन्त वीलिता" अर्थात्-'वीलिता' (वीलितानि गर्वितानि) गर्ववाले असुर-कुल 'अव्रदन्त' मृदु या ढीले हो गए। यह भी निगम है।

यहां 'वीलयति' धातु और 'व्रीलः लि' धातु संस्तम्भ या गर्व (कठोर-भाव) के वाचक होते हुए पूर्व पठित 'व्रन्द' धातु से सम्बन्ध युक्त पढे गए हैं, इस से 'व्रन्द' धातु कोमल भाव अर्थ का वाचक ठहरता है। क्योंकि-कठोर असुर-कुलों का कोमल होने के अतिरिक्त क्या होता ?।

'निष्षपी' (५६) यह अनवगत है। 'विनिर्गतसप.' यह शब्दसमाधि है। स्त्री-काम (पुश्चल) या जार इसका अर्थ है।

'निष्षपी' (५६) स्त्री की कामना रखने वाला होता है। क्योंकि-वह विनिर्गत-सप (जिस का सप (पुरुष चिन्ह) निकला हुआ हो) ही रहता है।

'सप' शब्द स्पर्श अर्थके वाचक 'सप' (भ्वा०प०) धातु से है। क्योंकि-उससे स्त्री योनि सपी (छुही) जाती है।

" 'यः' जो 'निष्षपी' जार है, 'सः' वह 'मघा-इव' (यथा धनानि) जैसे धनों को (विनाशयति) नष्ट करदेता है, (तथा) उस प्रकार 'मा' मत 'नः' हमें 'परादाः' बरबाद कर ॥"

'तूर्णाश' (६०) यह अनवगत है। "उदकं भवति" यह अर्थ-कथन है।

'तूर्णाश' (६०) उदक (जल) होता है। क्योंकि-वह तूर्ण (शीघ्र) ही अशन (व्यापन) करता है।

"मेधार्थी जन 'गिरेः-अधि' मेघके ऊपर वर्त्तमान 'तूर्णाशम्' जलको 'इव' जैसे (आह्वयन्ति) बुलाते हैं।" यह भी निगम है। यहां गिरि (मेघ) के सम्बन्ध से 'तूर्णाश' नाम जलका ही हो सकता है।

'क्षुम्पम्' (६१) यह अनवगत है। 'अहिच्छत्र' यह अर्थ है।

'क्षुम्प' (६१) अहिच्छत्र (छत्राक) या सांपका छाता होता है। चौमासे में पृथ्वी में गली हुई लकड़ी फूलकर छाते के आकार से बाहर निकल आती है, उसे लोक में सांप का छाता कहते हैं। 'क्षुम्प' क्यों? वह छूने से क्षोभ को प्राप्त होता है, या बिगड़ जाता है॥ – ॥ ४ (१६)॥

(खं० ५)

(निघ०–) निचुम्पुणः ॥६२॥

[निरु०] "कदा मर्त्तमराधसम्पदाक्षुम्पमिव स्फुरत्।
कदा नः शुश्रवद्गिरइन्द्रो अङ्ग।" [ऋ०सं०१,६,६,३]

कदा मर्त्तम्–अनाराधयन्तं पादेन क्षुम्पमिव अवस्फुरिष्यति कदा नः शृणोति च गिरः इन्द्रो अङ्ग।

'अङ्ग' इति क्षिप्रनाम। अञ्चितमेव अङ्कितं भवति

'निचुम्पुणः' सोमः। निचान्तपृणः। निचमनेन प्रीणाति॥ ५ [१७]॥

"कदा मर्त्तम्" यह गोतम ऋषिकी ऋचा है। इन्द्र देवता है। उष्णिक छन्द और तृतीयसवन के उक्थपर्य्यायों में ब्राह्मणाच्छंसी के शस्त्र में विनियुक्त है।

'कदा' कब 'इन्द्रः' इन्द्र 'अनाराधसम्' (अनाराधयन्तम्) न आराधन करते हुये 'मर्त्तम्' मनुष्य को 'पदा' (पादेन) पैर से 'क्षुम्पम्' (अहिच्छत्रकम्) सांप के छाते के 'इव' समान 'स्फुरत्' (अवस्फुरिष्यति) कुचलेगा। 'कदा' कब 'नः' हमारी 'गिरः' वाणियों (स्तुतिओं) को 'इन्द्रः' इन्द्र 'अङ्ग' झट पट 'शुश्रवत्' (शृणोति = श्रोष्यति) सुनेगा।

'अक्तु' यह क्षिप्र या शीघ्र का नाम है। क्योंकि वह 'अञ्चित' ही अङ्कित होता है। अर्थात् अञ्चित से अङ्कित और उस से अक्तु बन जाता है। जो शीघ्र होता है, वह अञ्चित या गया हुआ ही होता है इसी से 'अक्तु' है।

त्रिचुरूपुणा (६२) यह अनवगत और अनेकार्थ है।

'त्रिचुरूपुणा' सोम होता है। क्योंकि वह 'त्रिचान्तपृण' होता है, अर्थात्-भक्षित (खाया हुआ) ही प्रीति करता है॥ ५ (१७)॥

व्याख्या।

भगवद्दुर्गाचार्य अपने समय में "कदा मर्त्तम्" इस मन्त्र के भाष्य को "पादेन क्षुम्पमिव अवस्फुरासि" और "कदा नः शृणोति गिरः" ऐसा पाते हैं, किन्तु इस पाठ को 'स्फुरसि' 'शृणोति' इन क्रियाओं के विरुद्ध पुरुषों के कारण छोड़ देते हैं, और अर्थ के अनुसार भाष्य का पाठ 'स्फुरसि' के स्थान में 'स्फुरिष्यति' ऐसी प्रथम पुरुष की क्रिया से बदल कर उस की व्याख्या करते हैं। क्योंकि "तू मारेगा" 'वह सुनेगा" ऐसे प्रत्यक्ष और परोक्ष दो वाक्य एक ही देवता के लिये संभव नहीं होते। वे कहते हैं कि-भाष्यका यह पाठ ठीक है? या बेठीक? मुझे इससे कुछ नहीं, किन्तु भाष्यका ठीक पाठ ढूंढना चाहिये, और मुझे ऐसा ही प्रतीत होता है, जैसा कि मैंने व्याख्यान किया॥ ५ (१७)॥

(खं० ६)

(निघ०) पदिम् ॥६३॥

(निरु०) "पदीवन्तः सुता इम उशन्तो यन्ति वीतये।

अपां जग्मिं निचुम्पुणः" [ ]

पत्नीवन्तः सुता इमे अद्भिः,सोमाः कामयमाना यन्ति वीतये पानाय अपां गन्ता निचुम्पुणः॥

समुद्रोऽपि निचुम्पुण उच्यते। निचमनेन पूर्यते॥

अवभृथोऽपि निचुम्पुण उच्यते। नीचैरस्मिन् क्वणन्ति। नीचैर्दधति-इतिवा॥

"अवभृथ निचुम्पुण"-(य० वा० सं० ३, ४८) इत्यपि निगमो भवति॥

निचुम्पुणं निचुङ्कुण इति च।

पदि गन्तु भवति। यत् पद्यते-॥ ६ [१८]॥

'पत्नीवन्तः' इसका कर्त्ता नाम आंगरस ऋषि है। गायत्री छन्द, इन्द्र देवता, और रात्रि पर्य्यायों में मध्यम पर्य्यायमें होताके शस्त्रमें विनियुक्त है।

अर्थः—(अद्भिः) 'पत्नीवन्तः' जलों से पत्नियों वाले 'सुताः' निचोड़े हुए 'इमे' ये (सोमाः) सोम 'उशन्तः' (कामयमानाः) 'इव' चाहते हुये जैसे, 'वीतये' पान के अर्थ 'यन्ति' देवताओं के प्रति जाते हैं, कि- कैसे हमें ये पान करें। क्या यही ? न, 'अपाम्' जलों के वीर्य से युक्त फिर फिर 'निचुम्पुणः' सोम 'जग्मिः' (गन्ता) जाने वाला होता है।

समुद्र भी 'निचुम्पुण' कहलाता है। क्योंकि वह निचमन (जल) से भरा हुआ रहता है। निचमन (भक्षण) किया जाता है, इसी से 'निचमन' जल है।

अवभृथ (यज्ञ के अन्त में स्नान विशेष) भी 'निचुम्पुण' कहलाता है। क्योंकि इस में धीरे धीरे बोला जाता है। अथवा

इस में यज्ञ-पात्रों को धीरे २ धरते हैं ॥

"अवभृथ निचुम्पुणः" अर्थात्–हे 'अवभृथ' देव ! हे 'निचुम्पुण' धीरे २ शब्द करने वाले ! या नीचे नीचे देश में चलने वाले ! वरुण ! ।

यहां 'अवभृथ' शब्द के समानाधिकरण में पढ़ा हुआ 'निचुम्पुण' शब्द अवभृथ का ही नाम होता है ।

'निचुङ्कुण' शब्द भी 'निचुम्पुण' के समान ही समझना चाहिए ।

'पदि' (६३) यह अनवगत है । 'गन्तु' यह अर्थ है ।

'पदि' (६३) गन्तु या चलने वाला होता है । क्योंकि वह पदन (गमन) करता है ॥ ६–(१८) ॥

(खं० ७)

[निघ०] पादुः ॥ ६४ ॥

(निरु०) "सुगुरसत् सुहिरण्यः स्वश्वो बृहदस्मै वयइन्द्रो दधाति । यस्त्वा यन्तं वसुना प्रातरित्वो मुक्षीजयेव पदिमुत्सिनाति" (ऋ०सं० २,१,१०,२) सुगुर्भवति सुहिरण्यः स्वश्वो महच्चास्मै वयइन्द्रो दधाति । यस्त्वा यन्त मन्नेन प्रातरागामिन्नातिथे ॥

'मुक्षीजयेव पदिमुत्सिनाति ।' कुमारः । मुक्षीजा मोचनाच्च सयनाच्च तननाच्च ॥

'पादुः' पद्यतेः ।

"आविः स्व-कृणुते गूहते बुसं स पादुरस्य

निर्णिजो न मुच्यते" (ऋ०सं० ७, ७, १९,४)

आविष्कुरुते भासमादित्यो गूहते बुसम् ।

'बुसम्'-इति उदक-नाम। ब्रवीतेः शब्दकर्मणः भ्रंशतेर्वा । यद्वर्षन् पातयति उदकम् रश्मिभिः तत् प्रत्यादत्ते ॥ ७ (१९) ॥

इति पञ्चमाध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ॥५,३॥

" सुगुरसत् " इसका कक्षीवान् ऋषि है ।

अर्थः—जो ही ' सुगुः ' (शोभनगुः) सुन्दर वाणी वाला होता है, वह 'सुहिरण्यः' सुन्दर सुवर्णवाला होता है, 'स्वश्व' सुन्दर अश्व (घोड़े) वाला होता है, 'च' और 'इन्द्रः' इन्द्र 'अस्मै' इसके लिये 'महत्' बड़ा 'वयः' आयु 'दधाति' देता है । 'यः-तु' किन्तु जो 'प्रातरित्वः' हे (प्रातरागामिन् अतिथे !) प्रात काल आने वाले ! अतिथि देव ! 'आयन्तम् ' आये हुये (भूख से विचलित हुए प्राण अभ्यागत) को 'वसुना' (अन्नेन) अन्नसे 'उत्सिनाति' बांधता है । कैसे ? (कुमारः) बालक या मूढ 'मुक्षीजया' (पाशया) जाल से 'पदिम्'-इव. पक्षी को जैसे ' उत्सिनाति ' बांधता है । अर्थात्- कोई बालक या मूढ जिस प्रकार उड़ते हुये पक्षी को जालसे बांध लेता है, उसी प्रकार जो गृहस्थ पुरुष आये हुये भूखे अभ्यागत के उड़ते हुए प्राणों को अन्न से बांध लेता है (उसके प्राणों को धारण करदेता है) उस सुन्दर वचन वाले को सुवर्ण, हाथी, घोड़े, और लम्बी आयु इन्द्र देवता देता है, किन्तु सूखी या रस-रहित सुन्दर वाणी वाले को नहीं ॥ इस प्रकार यहां 'पदि'

शब्द से पक्षी लिया जाता है, क्योंकि-वही उड़ता हुआ आंख से पकड़ा जाता है ॥

' मुक्षीजा ' क्यों ? मोचन से है। बाँधने से है। या फैलाने से है ॥

'पादु' [६४] येहँ अनवगत् है। 'पद्यते.' यह अर्थ की प्रतीति है।

'पादु' (६४) यह गत्यर्थक 'पद्' (दि० आ०) धातु से है।

" 'स्वः' (आदित्यः) सूर्य (भासम्) ज्योति को 'आविः कृणुते' (आविःकुरुते) प्रकट करता (फैलाता) है। ' बुसम् ' जलको 'गूहते' खींचता है। 'अस्य' इस ' निर्णिजः ' अन्धकार रूप कीचड़ से सने हुये सब जगत्के स्वरूपको अपने प्रकाश रूप जलसे धोने वाले सूर्य का 'सः' वह 'पादु' पदन (गमन तथा ताप, प्रकाश, वर्षा, उदय, अस्त, और रसका खींचना आदि) कर्म 'न' नहीं 'मुच्यते' छूटता है।"

'बुस' यह जल का नाम है। शब्दार्थक 'ब्रू' (अदा०उ०) धातु से है। क्योंकि वह शब्द वाला होता है। अथवा 'भ्रंश' पतनार्थक (दि०प०) धातु से है। क्योंकि वह मेघसे गिरता है।

'बरसता हुआ आदित्य जिस जल को गिराता है, उसे फिर अपनी किरणों से ले लेता है'। यह भाष्यकार ने "गूहते बुसम्" इस वाक्य का फिर स्पष्टीकरण किया है। इस प्रकार उक्त मन्त्र में ' पादु ' नाम पदन या गमन का है ॥ ७ (१९) ॥

इति हिन्दी निरुक्ते पञ्चमाध्यायस्य

तृतीयः पादः समाप्तः ॥ ५, ३॥

चतुर्थः पादः ।

(खं० १)

[निघ०] वृकः ॥६५॥

(निरु०) 'वृकः'चन्द्रमा भवति । विवृतज्योतिष्को वा । विकृतज्योतिष्कोवा । विक्रान्तज्योतिष्को-वा ॥ १ (२०) ॥

'वृक' (६५) यह अनवगत और अनेकार्थ है ।

'वृक' (६५) चन्द्रमा होता है । क्योंकि इस की ज्योति विवृत या फैली हुई होती है । अथवा वह विकृत या ठंडी ज्योति वाला होता है, और सब ज्योति उष्ण (गरम) होती हैं । अथवा वह विक्रान्त ज्योति वाला होता है, क्योंकि उसकी ज्योति अन्य ग्रह नक्षत्र और ताराओं से अधिक चमकीली होती है । (ये सब शब्द-समाधियें हैं) ॥१(२०)॥

(खं० २)

(निरु०)"अरुणो मासकृद्वृकः पथा यन्तं ददर्श हि। उज्जिहीते निचाय्या तष्टेव पृष्ठयामयी वित्तंमे अस्य रोदसी ॥" (ऋ० सं० १,७,२३,३) ॥

'अरुणः' आरोचनः । 'मासकृत्' मासानां च अर्द्धमासानांच कर्त्ता भवति । "चन्द्रमाः" 'वृकः' पथा यन्तं ददर्श नक्षत्रगणम् । अभिजिहीते निचाय्य, येन येन योक्ष्यमाणो भवति चन्द्रमाः, तक्ष्णुवन् इव पृष्ठरोगी । जानीतं मे अस्य द्यावा-

पृथिव्यौ-इति ॥

आदित्योऽपि 'वृक' उच्यते। यत्-आवृङ्क्ते॥२॥

अर्थः-"अरुणोमासकृत्" यह कूप में पड़े हुए आतथ्यत्रित ऋषि की ऋचा है। अथवा कुत्स की है। पङ्क्ति छन्द और विश्वेदेव देवता है॥

'अरुणः' (आरोचनः) अपनी चांदनी से सब जगत् को प्रकाशित करने वाला, 'मासकृत्' (मासानांच अर्द्धमासानांच कर्त्ता भवति) जो मासों और आधे मासों (पखवारों) का करने वाला है, वह 'वृकः' (चन्द्रमाः) चन्द्रमा (नक्षत्र-मण्डल से नीचे स्थित हुआ हुआ) पथा' अपने मार्ग या परिधि से 'यन्तम्' (नक्षत्रगणम्) जाते हुये नक्षत्र समूह को 'ददर्श' (पश्यति) देखता है। ('हि' पद पूरण है।) किन्तु मुझे अन्ध कूप में पड़े हुये को नहीं देखता। यदि कुछ भी देखता तो अवश्य इस विपद्द से मुझे छुड़ाता, यह अभिप्राय है। और 'इव' जैसे कोई 'पृष्ट्यामयी' (पृष्ठ रोगी) पीठ में राग वाला बढ़ई (खाती) 'तष्टा' (तक्षणवन्) किसी वृक्ष को काटता हुआ ऊँचा होकर देखता है कि मैं वाञ्छित शाखा के पास पहुंच सकता हूं या नहीं? उसी प्रकार चन्द्रमा भी 'निचाय्य' देख कर के 'उज्जिहीते' (अभिजिहीते) ऊँचा होता है (येन येन योक्ष्यमाणो भवति चन्द्रमाः) अर्थात् जिस जिस नक्षत्र के साथ उसे योग करना होता है कि-आज मुझे इस से योग करना है, उस उस नक्षत्र के साथ उदय होता है। इस प्रकार इसको जिस से प्रयोजन होता है, उसी को आदर से ऊँचा खड़ा होकर देखता है, किन्तु मुझ से इस का प्रयोजन नहीं है, इसी से मुझे नीचे पड़े हुये को नहीं देखता। इस कारण कहता हूं-हे 'रोदसी' (द्यावापृथिव्यौ!)

द्युलोकपृथ्वीलोको ! तुम दोनों 'अस्य' इस कूएँ में पड़े हुये 'मे' मुझ त्रित के 'वित्तम्' (जानीतम्) आर्त्त-विलाप के अभिप्राय को जानों और जानकर मुझे इस कूप से निकालो । इस प्रकार यहां पर 'अरुण' शब्द से और 'मासकृत्' शब्द से 'वृक' चन्द्रमा है । यहां पर 'चन्द्रमा' के योग से 'नक्षत्र गण' ऊपर से ले लिया जाता है, जिसके द्वारा 'पथा-यन्तम्' की आकाङ्क्षा पूरी होती है ।

आदित्य भी वृक कहलाता है । क्योंकि—वह अँधेरे को वर्जन करता है ॥२॥

व्याख्या ।

आत्मपवित्र ऋषि की ऐसी ही प्रार्थना पहिले भी (अ०४पा०१खं०६) "संमातपन्ति" मन्त्र में आई है ।

"अरुणो मासकृत्" मन्त्र में "सर्वः स्वार्थवशो लोकः" 'सब संसार स्वार्थ के वश चलता है' इस नीतिका स्वरूप दिखाया । तथा जैसे कालिदास के "मेघदूत" काव्य में मेघ को उद्देश्य करके यक्षने दूत योग्य बातों को कहा है, उसी प्रकार त्रित भी चन्द्रमा की ओर लक्ष्य करके द्यावापृथिवी से उसका उपालम्भ करता है ॥

इस मन्त्र में कोई शाखा वाले "मासकृत्" के 'मा' 'सकृत्' ऐसे दो पद करते हैं । उससे त्रित यह कहता है कि-चन्द्रमा ने मुझे एक वार ही देखा । यदि बार २ देखता तो अवश्य मुझे इस विपद्‌ से छुड़ाता ॥२॥

(खं० ३)

(निघ०-) जोषवाकम् ॥६६॥

[निरु०-] " अजोहवीदश्विना वर्त्तिका वामास्नो यत्सीममुञ्चतं वृकस्य ॥ " [ऋ०सं०१,८,१६,१] ॥

आह्वयत्-उषा अश्विनौ आदित्येन अभिग्रस्ता, ताम्-अश्विनौ प्रमुमुचतुः-इत्याख्यानम् ॥

श्वा अपि वृक उच्यते । विकर्त्तनात् ।

"वृकश्चिदस्य वारण उरामथिः ।" उरणमथिः ॥

' उरणः ' ऊर्णावान् भवति । ' ऊर्णा ' पुनः वृणोतेः । ऊर्णोतेर्वा ॥

'वृद्धवाशिनी' अपि ' वृकी '-उच्यते ।

"शतं मेषान्वृक्ये चक्षदानमृज्राश्वं तं पितान्धं चकार " [ऋ० सं०८,१८,११, १]इत्यपि निगमो भवति ।

' जोषवाकम् '-इति-अविज्ञातनामधेयम् । जोषयितव्यं भवति ॥ ३ [२१] ॥

अर्थः-'वर्त्तिका' वर्त्तने वाली (आदित्येन अभिग्रस्ता) आदित्य (सूर्य) से ग्रसी हुई हुई (उषाः) उषा ने 'यत्' जब 'अश्विना' (अश्विनौ) हे अश्विन देवो ! 'वाम्' तुम दोनों को 'अजोहवीत्' (आह्वयत्) बुलाया । तब ('सीम्' निपात पद पूरण) तुम ने 'वृकस्य' आदित्य के 'आस्नः' (मुखात्) मुख से (ताम्) उसे 'अमुञ्चतम्' (अमुञ्चयुः) छुड़ाया ।

आदित्य से ग्रसी हुई उषा ने अश्विनों को आवाहन किया और अश्विनों ने उसे छुड़ाया यह आख्यान है। क्यों-कि-उषा का मोक्ष आदित्य के ही उदय से होता है, इसी से 'वृक' नाम यहां आदित्य का ही हो सकता है।

कुत्ता भी 'वृक' कहलाता है। विकर्त्तन (काटने) से। कुत्ते के साम्हने जो नया आदमी या कोई प्राणी आता है, उसे वह विकर्त्तन करता (काटता) है, इससे वह 'वृक' है॥

" 'अस्य' (इन्द्रस्य) इस इन्द्र के यहां 'वारणः' शत्रुओं को हटाने वाला, 'उरामथिः' (उरणामथिः) मीढों (भेड़ों) को मन्थन करने (मारने) वाला 'वृकः चित्' कुत्ता भी है॥"

'उरण' क्या? ऊर्णावान् (ऊन वाला) होता है। 'ऊर्णा' शब्द ढांपने अर्थ वाले 'वृञ्' (स्वा० उ०) धातु से है। क्योंकि-जिसके वह होती है, उसे वह ढाप लेती है। अथवा आच्छादन अर्थ में 'ऊर्णुञ्' (अदा० उ०) धातु से उसी कारण से॥

वृद्धवाशिनी (जोर से शब्द करने वाली) गीदड़ी भी 'वृकी' कहलाती है। क्यों कि—वह भी विकर्त्तन (दशन) करती है।

"शतं मेषान्वृक्ये चक्षदानमृज्राश्वं तं पितान्धं चकार। तस्मा अक्षीनासत्या विचक्ष आधत्तं दस्रा भिषजावनर्वन्॥ (ऋ० सं० १, ८, ११, १)

यह ऋचा कक्षीवान ऋषि की है। अश्विन् देवता और त्रिष्टुप् छन्द है। प्रातरनुवाक और आश्विन में शस्त्र है।

कक्षीवान् कहते है, कि-ऋज्राश्व नाम राज पुत्र ने प्रसन्न होकर 'वृक्ये' गीदड़ी को उसके शब्द करने पर 'शतं' सौ (१००) 'मेषान्' भेड़ें 'दानम्' दान को 'चक्षत्' आज्ञा दी

कि-इसने हमारी यात्रा में शुभ शब्द किया है। 'तम्' ऐसी आज्ञा देनेवाले उस 'ऋज्राश्वम्' ऋज्राश्व को 'पिता' पिता ने शापसे 'अन्धम्' अन्ध 'चकार' कर दिया कि—यह बड़ा साहसी है। 'तस्मै' उस 'विचक्षे' चक्षुरहित (अन्धे) को 'नासत्या' (नासत्यौ) अश्विन् 'भिषजौ' देवताओं के वैद्यों ने वे 'अक्षी' नेत्र 'आधत्तम्' दिये जो 'अनर्वन्' (अन्यत्र अनाश्रिते) दूसरी जगह नहीं थे। इस प्रकार यहां मेष (मीढे) के सम्बन्ध से और व्याख्यान में अर्थ के घट जाने से 'वृकी' से गीदड़ी कही गई निश्चित होती है।

इस मन्त्र में यात्रा के समय गीदड़ी के शब्द को शुभ शकुन बताकर शकुन शास्त्र को प्रमाणित कर दिया है। और अनुचित उदारता की निन्दा की गई है। एवम् पुत्र पर पिता के शासन के अधिकार की सूचना भी मिलती है॥

'जोषवाकम्' (६६) यह अनवगत है। 'अविज्ञातनामधेय' (नहीं जाने हुए का नाम) यह अर्थ-कथन है।—

'जोषवाक' (६६) यह अविज्ञात का नाम है। क्योंकि वह सेवन योग्य या प्रकाशनयोग्य होता है। जो किसी से न जाने जावें, ऐसे विषय-सेवन में प्रिय होते हैं। अथवा जो अज्ञात (नहीं जाना हुआ) है, उसी का प्रकाश भी किया जाता है॥ ३ (२६)॥

(खं० ४)

[निघ०] कृत्तिः ॥६७॥ श्वघ्नी ॥६८॥ समस्य ॥६९॥

(निरु०) "य इन्द्राग्नी सुतेषु वां स्तवत्तेष्वृता वृधा।

जोषवाकं वदतः पज्रहोषिणा न देवा भसथश्चन ॥"
[ऋ० सं० ४, ८, २५, ४]

य इन्द्राग्नी सुतेषु वां सोमेषु स्तौति तस्य अश्नीथः । अथ यः अयं जोषवाकं वदति विजञ्जपः प्रार्जितहोषिणौ न देवौ तस्य अश्नीथः ॥

'कृत्तिः' कृन्ततेः । यशोवा । अन्नंवा ॥

"महीव कृत्तिः शरणात इन्द्र" (ऋ० सं० ६,६, १३, ६) ।

सुमहत्त इन्द्र शरणम् अन्तरिक्षे कृत्तिरिव-इति ॥

इयमपि इतरा कृत्तिः, एतस्मादेव सूत्रमयी । उपमार्थे वा ।

❋ "कृत्तिवासाः पिनाकहस्तोऽवततधन्वा" इत्यपि निगमो भवति ॥

'श्वघ्नी' कितवोभवति । स्वं हन्ति, स्वं पुनः आश्रितं भवति ॥

"कृतं न श्वघ्नी विचिनोति देवने ॥" (ऋ० सं० ७, ८, २४, ५)

कृतमिव श्वघ्नी विचिनोति देवने ॥

❋ "अवततधन्वा पिनाकहस्तः कृत्तिवासाः" इति पाठान्तरं तच्च संहितापाठसंमतम् ।

'कितवः' कितव अस्ति-इति शब्दानुकृतिः। कृतवान् वा आशीर्नामकः॥

'समम्' इति परिग्रहार्थीयं सर्वनाम अनुदात्तम्-॥ ४ (२२)॥

अर्थः—"यइन्द्राग्नी" यह ऋचा भरद्वाज ऋषि की है। बृहती छन्द है।

हे 'इन्द्राग्नी!' 'यः' जो यजमान 'सुतेषु' (सोमेष) सोमों के निचुड़ जाने पर 'तेषु' (कर्मसु) उन कर्मों में 'वाम्' (युवाम्) तुम दोनों को 'स्तवत्' (स्तौति) स्तुति करता है। हे 'ऋतावृधा!' सत्य के या जल के या यज्ञ के बढ़ाने वाले देवो! (तस्य) उस के यहां 'अश्नीथः' खाते हो। (अथ) और (योऽयं) जो यह 'जोषवाकम्' गुपचुप (वदति) बोलता है, अर्थात् (विजञ्जपः) केवल जल के कनारे या अन्य किसी गुप्त स्थान में बैठा हुआ जप ही करता है, किन्तु कर्म नहीं करता, 'तस्य जोषवाकं वदतः' उस थोथे बोलने वाले के यहां 'पज्रहोषिणा!' (प्राजितहोषिणौ) बहुत यज्ञों वाले 'देवा' (देवौ!) हे देवताओ! 'न' नहीं 'भसथश्चन' (अश्नीथः) खाते हो॥ इस प्रकार इस मन्त्र में 'जिस के यहां सोम निचोड़े जाते हैं, उसी के यहां तुम खाते हो, किन्तु जो जोषवाक बोलता है, उस के यहां नहीं' इस सम्बन्ध से 'जोषवाक' अविज्ञात या गुप चुप का नाम ही हो सकता है॥

व्याख्या।

"यइन्द्राग्नी" इस मन्त्र में यह बतलाया गया है कि-जप यज्ञ से कर्म यज्ञ उत्तम है, तथा अपनी शक्ति के अनु-

सार अन्न से इन्द्र की पूजा करने में कोई शठता नहीं करना चाहिए ॥

'कृत्ति' (६७) यह अनवगत और अनेकार्थ है। "कृन्तते." यह धातु का निर्देश है। "यशः अन्नम्" यह अर्थ का कथन है। 'कर्त्तन'—यह उचित है।

अर्थः—'कृत्ति' (६७) छेदन (काटना) अर्थ में 'कृत' (तु० प०) धातु से है। 'कृत्ति' नाम अथवा यश का अथवा अन्न का है। क्योंकि यश शत्रुओं के मर्मों को काटता है। और अन्न भी अधिक खाया हुआ आयु को नष्ट करता है ॥

हे 'इन्द्र!' मैंने 'महि' (सुमहत्) बड़े 'कृत्तिः—इव' यश या अन्न के समान 'ते' तेरा 'शरणा' (शरणम्) घर (अन्तरिक्षे) आकाश में (अश्रवम्) सुना है। यहां इन्द्र के घर को कृत्ति (यश या अन्न) से उपमा दी है। क्योंकि यश भी विस्तीर्ण (फैला हुआ) होता है और अन्न खाए हुये को भूख नहीं सताती, इसी प्रकार इन्द्रका घर बड़ा और उस में घुसने के पश्चात् भूख प्यास नहीं सताती इस प्रकार उपमा की उपपत्ति होने से कृत्ति के यश और अन्न दोनों अर्थ ठीक हैं।

यह दूसरी सूत्र (सूत) की बनी हुई 'कृत्ति' (कन्था) भी इसी कारण से है। क्योंकि—वह सूत के टुकड़ों से गूंथी (सीं हुई) जाती है अथवा उपमा अर्थ में चर्म (चमड़ा) भी 'कृत्ति' है।

"कृत्तिं वसान आचर पिनाकं बिभ्रदागहि"
[य० सं० १६, ५१]

हे रुद्र ! 'कृत्तिम्' कन्था को 'वसानः' ओढेहुए 'आचर' आ। 'पिनाकं' अपने पिनाक नाम धनुष को 'बिभ्रत्' धारण किये हुये 'आगहि' आ।

" अवततधन्वा पिनाकहस्तः कृत्तिवासाः "
(ऋ० सं० ६, ३, ४५, ५ य० वा० सं० ३, ६१)

"धनुष् को फैलाए हुए या उसकी कमान को झुकाए हुये पिनाक धनुष् को हाथमें लिये हुये चर्म का वस्त्र पहिने हुये " ये दो निगम हैं ।

व्याख्या ।

इन मन्त्रोंमें देवता अपने भक्तोंके यहां वस्त्र और शस्त्र धारण करके उनकी रक्षाके निमित्त आते हुए दिखाई देते हैं । नये वैदिकों को भी सगुण देवताओंकी उपासना से लाभ उठाना चाहिए ॥

'श्वघ्नी' (६८) यह अनवगत है । "कितवामवर्ति" यह अर्थका कथन है । "स्व हन्ति" यह शब्द की व्युत्पत्ति है, किन्तु स्वहा (धन या अपने का नाश करने वाला) यह युक्त है ।-

'श्वघ्नी' (६८) कितव (जुवारिया) होता है । क्योंकि-यह स्व (अपने का या धन) को हनन करता है । 'स्व' फिर क्या ? 'आश्रित' क्यों ? स्वामी को अभिमुखता से श्रयण (धारण) किये हुये होता है ।

"श्वघ्नी" (कितवः) जुवारिया 'न' (इव) जैसे 'देवने' जूवे के अड्डे में 'कृतम्' कृत को 'विचिनोति' ढूंढता है कि कैसे किया हुआ हो, जिससे मैं जीतूँ ।

'कितव' क्यों ? 'किंतवास्ति' (क्या तेरा है ?) इस शब्द का अनुकरण है । क्योंकि-वह नित्यकाल ही खेलने की इच्छा करता हुआ अपने सामने खेलने वाले जुवारियों से पूछता है कि "किंतवास्ति" इस शब्द के आधार पर यह 'कितव'

शब्द होगया। अथवा ज्वारिए के मित्रगण यह आशिष् मांगते रहते हैं कि-"किसी प्रकार यह "कृतवान्" (कृतकार्य) सफल हो" इस आशिष् के निमित्त (कारण) से 'कृतवान्' शब्द से 'कितव' नाम होगया॥

'समम्' (६६) यह परिग्रह (सम्पूर्ण) अर्थ में सर्वनाम और अनुदात्त है।

(खं० ५)

(निरु०) "मानः समस्य दूढ्यः१ परिद्वेषसो अंहतिः। ऊर्मिर्न नावमावधीत्॥" (ऋ० सं० ६, ५, २५, ४)

मानः सर्वस्य दुर्धियः पापधियः सर्वतोद्वेषसः अंहतिः ऊर्मिः इव नावम्-आवधीत।

'ऊर्मिः' ऊर्णोतेः। 'नौः' प्रणोत्तव्या भवति। नमतेर्वा।

तत् कथम्-अनुदात्तप्रकृति नाम स्यात्? दृष्टव्ययंतु भवति।

"उतोसमस्मिन्नाशिशीहि नो वसो" (ऋ० सं० ६, २, २, ३) इति सप्तम्याम्। शिशीतिर्दानकर्मा।

"उरुष्याणो अघायतः समस्मात्" (य० वा० सं० ३, २६)। इति पञ्चम्याम्। उरुष्यतिः-अकर्मकः।

अथापि प्रथमा बहुवचने—"नभन्तामन्यके समे" (ऋ० सं० ६, ३, २६, १)॥ ५ (२३)॥

अर्थः-"मानःसमस्य" यह ऋचा विरूप आङ्गिरस ऋषि की है। गायत्री छन्द और अग्नि देवता है। दशरात्र के तीसरे अहन् (दिन) में प्रातःसवन में आज्य सूक्त में विनियुक्त है॥

हे भगवन्! अग्ने! 'नः' हमको 'समस्य' (सर्वस्य) सब 'दूढ्यः' (दुर्धियः) दुष्ट बुद्धिवाले या (पापधियः) पाप बुद्धि-वाले 'परि-द्वेषसः' (सर्वतो द्वेषसः = सर्वात्मना द्वेष्टुः) सब प्रकार द्वेष करने वाले शत्रु का 'अंहतिः' पाप 'ऊर्मिः' झाल (लहर) नावम्' नाव को 'न' (इव) जैसे 'मा' मत 'अवधीत्' मारे॥ इस प्रकार सभी द्वेष्टाओं से वध अनिष्ट होनेके कारण 'सम' यह सर्व-नाम है।

'ऊर्मि' शब्द आच्छादन (ढांपने) अर्थमें'ऊर्णुञ्' (अदा० उ०) धातु से है। क्योंकि-वह तीर को अथवा जो और कुछ उसके भीतर रहता है, उसे ढँकलेती है।

'नौ' (नाव) क्यों ? वह पार जानेके अर्थ 'प्रणोतव्या' प्रेरणा करने योग्य होती है। अथवा झुकने अर्थमें 'नम्' (भ्वा०प०) धातु से है। क्योंकि वह पार जाने के लिये नत (झुकी हुई या नम्र) जैसी रहती है।

वह ('सम' शब्द, जिसका उल्लेख पूर्व खण्ड के अन्त में हो चुका है) कैसे अनुदात्त प्रकृति या अनुदात्त स्वभाव या अनुदात्तस्वरवाला (होकर) नाम हो या होसकता है ?

क्योंकि-दृष्टव्यय है = इस में विकार देखागया है (इससे वह नाम ही है, किन्तु निपात नहीं)।

"उतो समस्मिन्" अर्थात्-'उतो' और हे 'वसो!' धनवान् इन्द्र! 'समस्मिन्' (सर्वस्मिन्) सब (काल) में 'नः'

इमें 'आशिशीहि' वाञ्छित दे। यहां 'समस्मिन्' सप्तमी में है। 'शिशीति' धातु दानार्थक है।

"उरुष्याणो" अर्थात्-'नः' हमें 'उरुष्य' पास आकर 'समस्मात्' सब 'अघायतः' पाप चाहने वाले से रक्षा कर। यहां 'समस्मात्' यह पञ्चमी में है। 'उरुष्यति' धातु अकर्मक है।

और प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में भी है—

"नभन्तामन्यके समे" अर्थात्-और सब नष्ट हों यहां 'समे' यह प्रथमा के बहुवचन का रूप है। (निरु० अ० १० पा० १ खं० ५) ५ (२३) ॥

(खं० ६)

[निघ०-] कुटस्य॥७०॥ चर्षणिः॥७१॥ शंबः ॥ ७२ ॥ केपयः ॥ ७३ ॥

(निरु०-) "हविषा जारो अपां पिपर्त्ति पपुरिर्नरा ॥ पिता कुटस्य चर्षणिः ॥" (ऋ० सं०१,३,३३,४) हविषा अपां जरयिता ॥

'पिपर्त्ति' 'पपुरिः'-इति पृणातिनिगमौ वा प्रीणातिनिगमौ वा। पिताकृतस्य कर्मणः चायिता आदित्यः ॥

'शम्ब' इति वज्रनाम। शमयते र्वा। शातयते र्वा ॥

"उग्रोयः शम्बः पुरुहूततेन" (ऋ०सं०७,८,

२३, २) इत्यपि निगमो भवति ॥

'केपयः' कपूया भवन्ति । 'कपूयम्'-इति पुनातिकर्म कुत्सितम् । दुष्पूयं भवति॥६ (२४)॥

'कुटस्य' (७०) 'चर्षणिः' (७१) ये दो पद अनवगत हैं। 'कृतस्य' (किये हुएका) (७० 'चायिता' (द्रष्ट=देखने वाला) (७१) ये उनकी शब्द-समाधियें है। दोनों का एक ही निगम है।—

"हविषा जारो" यह ऋचा प्रस्कण्व ऋषि की है। अश्विन् देवता है। प्रातरनुवाक और आश्विन में शस्त्र है।

अर्थः-'नरा' (नरौ !) हे नरों ! अश्विनों ! यह आदित्य 'पिता' सब जगत् की रक्षा करने वाला है। 'कुटस्य' (कृतस्य) सब संसार के किये हुये अच्छे बुरे कर्मों का 'चर्षणिः' (चायिता) देखने वाला है। 'अपाम्' सब भूतों के भीतर विद्यमान जलों का प्राण रूप से अवस्थित हो कर 'जारः' (जरयिता) सुखाने वाला है। 'पपुरिः' समय आने पर पूरने वाला 'हविषा' (उदकेन) जल से 'पिपर्ति' पूरता है या तृप्त करता है। अर्थात् 'जो तुम दोनों ऐसे गुण वाले आदित्य देव से पूरे जाते हो या तृप्त किये जाते हो, सो तुम दोनों हमारी आशिषा (प्रार्थना) को बढाओ या पूरी करो' ऐसे यहां आशिषा जोड़ लेना होता है। इस प्रकार 'कुट' शब्द का कृत और 'चर्षणि' का चायिता (द्रष्टा) अर्थ उपपन्न होता है॥

'पिपर्ति' और 'पपुरिः' ये निगम के दोनों शब्द 'पूरयति' (पूरण करता है) अर्थ में हैं अथवा 'प्रीणयति' (तृप्त या प्रसन्न करता है) अर्थ में हैं।

'शम्ब' (७२) यह वज्र का नाम है। शमयति धातु का अथवा शातयति धातु का है। (क्यों कि वह जिस पर छोड़ा जाता है, उसका शमन कर देता है, या शातन (छेदन) कर देता है)।

'हे 'पुरुहूत' बहुतों से आवाहन किये जाने वाले! 'उग्रः' कठोर 'यः' जो 'शम्बः' वज्र है, 'तेन' उस से (शत्रुओं को मार) यह भी निगम है।

यहां मारने के सम्बन्ध से 'शम्ब' नाम वज्र का सिद्ध होता है। यह वज्र के नामों में पढ़ा हुआ नहीं है, इस से यह अप्रसिद्ध अर्थ वाला है, उस की इस प्रकार प्रकरण से अर्थ सिद्धि होती है।

'केपयः' (७३) यह अनवगत है। 'कपूय' (बुरे कर्म) होते हुए 'केपि' कहे जाते हैं। —

'केपि' कपूय होते हैं। 'कपूय' क्या ? इस में 'पुनाति' (क्र्या० उ०) धातु की क्रिया (पवित्र करना) है। वह क्या ? कुत्सित। क्यों ? वह दुष्पूय (धोना कठिन) होता है अथवा जो कोई पाप करने वाला प्रायश्चित्त करके कुत्सित (बुरे) कर्म को धोता है, वह कपूय होता है। वही केपि है। ॥ ६ (२४) ॥

(खं० ७)

(निघ०) तूतुमाकृषे॥७४॥ अंसत्रम्॥७५॥

(निरु०) "पृथक्प्रायन्प्रथमा देवहूतयोऽकृण्वत श्रवस्यानिदुष्टरा। नयेशेकुर्यज्ञियां नावमारुहमीर्मैव न्यविशन्तकेपयः॥" [ऋ० सं० ७,८,२७,१] ॥

पृथक् प्रायन् । 'पृथक्' प्रथतेः । प्रथमा देव-हूतयः ये देवान् आह्वयन्त, अकुर्वत श्रवणीयानि यशांसि दुरनुकराणि अन्यैः, येऽशक्नुवन् याज्ञियां नावम्-आरोढुम् । अथ ये न अशक्नुवन् यज्ञियां नावम्-आरोढुम्, "ईर्मैवैते न्यविशन्त" इहैव ते न्यविशन्त । ऋणेहैवते न्यविशन्त । अस्मिन्नेव लोके इतिवा ॥

'ईर्मं' इति बाहुनाम । समीरिततरो भवति ॥

"एता विश्वा सवना तूतुमाकृषे स्वयं सूनो सहसो यानि दधिषे ॥" [ऋ० सं० ८, १, ९, ६]

एतानि सर्वाणि स्थानानि तूर्णमुपाकुरुषे, स्वयं बलस्य पुत्र यानि धत्स्व ॥

'असत्रम्' अंहस्त्राणम् । धनुर्वा । कवचंवा । 'कवचं' कुअञ्चितं भवति । काञ्चितं भवति । काये अञ्चितं भवति, इतिवा ॥ ७ [२५] ॥

"पृथक्प्रायन्" इस ऋचा का कृष्ण आंगिरस ऋषि, जगती छन्द और माध्यन्दिन सवन में ब्राह्मणाच्छंसी के शस्त्र में विनियोग है ।

अर्थः– हे इन्द्र ! तेरे प्रसाद से 'प्रथमाः' पहिले वाले या मुख्य 'देवहूतयः' देवताओं को कर्मों में बुलाने वाले (यजमान) 'पृथक्' अलग (औरों से) देवयान या पितृयान (मार्ग) से 'प्रायन्' गए हैं । और वे 'श्रवस्यानि' (श्रवणीयानि) सुनने योग्य (यशांसि) यशों को जो 'दुष्टरा' (अन्यैः दुरनुकराणि)

औरों को कठिनता से अनुकरण करने योग्य हैं, 'अकृण्वत' (अकुर्वत) कर गये हैं। कौन? 'ये' जो 'यज्ञियाम्' यज्ञकी 'नावम्' नावको 'आरुहम्' (आरोढुम्) चढ़ने में 'शेकुः' (अशक्नुवन्) समर्थ हुये। (अथ) और 'ये' जो 'यज्ञियां नावम्-आरोढुम् न शेकुः (अशक्नुवन्)' यज्ञ की नाव पर (तेरे प्रसाद के बिना या विषयों में आसक्त होने के कारण) चढ न सके, "ईर्म-एव ते (केपयः) न्यविशन्त" (इह एव ते (कुयाः) न्यविशन्त) उन दुराचारियों ने इसी में वास (प्रवेश) किया है, अर्थात् 'ते' वे (ऋणे हैव न्यविशन्त) तेरे ऋण में (ऋणी) ही रहे। या (इहैवलोके) इसी लोक में रहे, किन्तु तेरे दिव्यलोक में न आ सके।

'ईर्म' यह बाहु का नाम है। क्यों कि-वह शरीरितर या अन्य अङ्गों की अपेक्षा कर्मों में बहुत अधिक प्रेरित होता है॥

यह शब्द की समानरूपता के कारण दूसरा अर्थ कहा गया है॥

ऊपरके मन्त्रमें दिखाया कि-दिव्य लोकोंकी प्राप्ति यज्ञ से होती है और यज्ञ न करने वाले इस लोक में कूकर शूकर होकर पड़े रहते हैं। इसी में लोकान्तर और उनकी उत्तम कर्म से प्राप्ति भी कही गई होती है।

'तूतुम्'-'आकृषे' (७८) ये दो अनवगत पद हैं। 'तूतुम्' की 'तूर्णम्' और 'आकृषे' की 'उपाकुरुषे' शब्द-समाधि है।

"एताविश्वा सवना तूतुमाकृषे स्वयं सूनो! सहसो यानि दधिषे। वराय ते पात्रं धर्मणे तना यज्ञो मन्त्रो ब्रह्मोद्यतं वचः। [ऋ० सं० ८, १, ९, ६]

"इन्द्रवैकुण्ठ ऋषि, इन्द्र देवता के सूक्त में निर्विज्ञानीय महाव्रत महदुक्थ शास्त्र में शस्त्र है।

'सहसः' (बलस्य) 'सूनो' हे बलकेपुत्र ! तू 'यानि' जिन को 'दधिषे' (धत्स्व = धत्से) धारण करता है, 'एता' (एतानि) इन 'विश्वा' (विश्वानि) सब 'सवना' (सवनानि = स्थानानि) स्थानों को 'स्वयम्' आप 'तूतुम्' (तूर्णम्) शीघ्र 'आकृषे' (उपाकुरुषे) उस २ रूप से वहां प्राप्त होकर बना लेताहै। इससे 'ते' तुझ 'वराय' श्रेष्ठ 'धर्मणे' धारण करनेवालेकेलिये 'पात्रम्' यह सोमरसका भराहुआ पात्र है। 'तना (धनम्) धन सब तेरा ही है। 'यज्ञः सब यज्ञ तेरा ही है। 'मन्त्रः' कर्म का साधन मन्त्र तेरा ही है। 'ब्रह्म' अन्न सब तेरा ही है। 'उद्यतम्' जो कुछ इस समय प्रस्तुत (तैयार) है, सब तेरा ही है। 'वचः' स्तुति रूप वाणी तेरी ही है। (इसका स्पष्ट रस " त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पितम् " इस पुराण वाक्य में बहुत सरलता से अनुभूत हो जाता है।)

यहा पर "तूतुम्" शब्द समान रूपताके कारण 'तूर्णम्' का ही सिद्ध होता है। और करनेके सम्बन्ध से भी। क्योंकि जो कर्त्तव्य होता है, उसका शीघ्र ही करना इष्ट होता है। "आकृषे" पद में भी जो किया जाता है, वह पास जाकर ही किया जाता है, इस लिये भाष्यकार ने 'उप' शब्द (समीपवाचक) अध्याहार किया है।

कोई आचार्य इस मन्त्र को अग्नि देवता का मानकर व्याख्यान करते हैं किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि-यह मन्त्र "प्रवोमहे" सूक्त का है, और वह सूक्त इन्द्र का ही है, इस लिये अग्नि का मानने से प्रकरण विरोध होगा।

'अंसत्रम्' (७५) यह अनवगत है। विकल्प से अनेकार्थ है। "अंहसः आणम्" (पाप से रक्षा करने वाला) यह शब्द समाधि है। "धनुर्वा कवचं वा" (धनुष अथवा कवच) यह अर्थ-कथन है। क्यों कि—उन दोनों से योद्धा साग्रामिक (सग्राम के) अहस् (कष्ट) में अपनी रक्षा करते हैं।

अंसत्र (७५) क्या ? अंहस् (कष्ट) से त्राण (रक्षा) करने का साधन। वह क्या ? अथवा धनुष् अथवा कवच।

'कवच' क्यों ? वह 'कु' (कुटिल) 'अञ्चित' (खिँचा हुआ) रहता है, अथवा कुछ कुटिल खिंचा हुआ रहता है। अथवा शरीर में अञ्चित पूजित या गया हुआ होता है ॥ ७ (२५) ॥

(खं० ८)

(निघ०-) काकुदम् ॥ ७६ ॥

(निरु०-) "प्रीणीताश्वान्हितं जयाथ स्वस्तिवाहं रथमित्कृणुध्वम्। द्रोणाहावमवत मश्मचक्र मंसत्र कोशंसिञ्चता नृपाणम् ॥" (ऋ० सं०८,५,१९,१]

प्रीणीत अश्वान् सुहितं जयथ, जयनं वो हितमस्तु, स्वस्तिवाहनं रथं कुरुध्वं, द्रोणाहावम्। 'द्रोणं' द्रुममयं भवति।

'आहावः' आह्वानात्। 'आवहः' आवहनात् 'अवतः' अवातितो महान् भवति। 'अश्मचक्रम्' अशनचक्रम्। असनचक्रमितिवा। 'अंसत्रकोशम्' "अंसत्राणि" वः कोशस्थानीयानि सन्तु। 'कोशः' कुष्णातेः। विकुषितो भवति ॥

अयमपि इतरः कोशः एतस्मादेव । संचयः । आचितमात्रो महान् भवति । सिञ्चत नृपाणम् । नरपाणं कूपकर्मणा संग्राममुपमिमीते ॥

'काकुदं' तालु इत्याचक्षते । जिह्वा 'कोकुवा' सा अस्मिन् धीयते । 'जिह्वा' कोकुवा । कोकूयमाना वर्णान्नुदति-इति वा । कोकूयते र्वा स्यात् शब्दकर्मणः ।

'जिह्वा' जोहुवा । 'तालु' तरतेः । तीर्णतमम् अङ्गम् । लनते र्वा स्यात् लम्बकर्मणो विपरीतात्, यथा 'तलं' । 'लता'-इति-अविपर्य्ययः ॥ ८ (२६) ॥

" प्रीणीताश्वान् " ऋचा का सोम का पुत्र बुध ऋषि है । विश्वेदेव देवता है ।—

अर्थः— (हे विश्वेदेवाः !) सब देवताओं ! 'अश्वान्' इन अपने घोड़ों को 'प्रीणीत' घास दाणा आदि से तृप्त करो प्रयोजन यह कि—'यह संग्राम उपस्थित है । इन अश्वों को पुष्ट तथा बलयुक्त करके इनसे 'हितम्' (सुहितम्) सुन्दर हित रूप 'जयाथ' (जयथ) जय प्राप्त करो । ' हित ' विशेषण से प्रयोजन यह है कि-कोई अहित जय भी होता है, जिसमें कि-सुहृदों (मित्रों) भाइयों और पुत्र आदिकों का वध हो जैसा कि-कौरव पाण्डवों का महाभारत में हुआ । अर्थात्-(जयनं वः हितम् अस्तु) तुम्हारा जय हित हो । 'स्वस्तिवाहम्' (स्वस्तिवाहनम्) बड़े उत्तम घोड़ों वाला ' रथम् ' रथको 'कृणुध्वम्'

(कुरुध्वम्) करो । 'द्रोणावहम्' (द्रोणं द्रुमयं भवति) द्रोण यं. काठके बने हुए इस रथको 'आवह' युद्ध के योग्य बनाकर 'अवतम्' इस संग्राम रूप कूएँ को 'अंसत्र कोशम्' अंसत्र नाम धनुषों का अथवा कवचों का कोश (खजाना) हो, ऐसे 'सिञ्चत' सींचो । जो संग्राम कूप 'नरपाणम्' नर-पाण है, या जिस में नर (मनुष्य) ही जलके समान भरे जाते हैं । जो 'अश्म चक्रम्' अश्मचक्र है, या जिसमें चक्र व्याप्त रहते हैं, अथवा फेंके जाते हैं ॥

'आवह' (युद्ध) आवाहनसे है । क्योंकि-उसमें एक योद्धा प्रतियोद्धा को आवाहन करता है । 'आवह' (वाहन) आवहन (ले चलने) से है, क्योंकि—वह अपने स्वामी को अपने ऊपर चढाकर स्थानान्तर में ले जाता है ।

'अवत' (कूप) क्यों ? वह 'अवातित' या खोदा जाता हुआ (अव) नीचे को ही (अतित) गया हुआ महान् होता है । 'अश्मचक्र (युद्ध) क्यों ? वह अशनचक्र होता है, या उस में फेंके हुए चक्र व्याप्त रहते हैं । अथवा वह असनचक्र होता है, या उसमें चक्र फेंके जाते हैं । प्रायः 'अश्मचक्र' यह अवत (कूप) का विशेषण भी हो सकता है । क्योंकि-वह अश्म (पत्थर) का चक्र (गोल) जैसा वना हुआ होता है । 'अंसत्र-कोशम्' अंसत्र (धनुष् या कवच) तुम्हारे कोश के स्थान में हों । 'कोश' (म्यान) कोषण (गोदने) अर्थ में 'कुष' (क्या० प०) धातुसे है । क्योंकि-वह अनेक प्रकार से गुदाहुआ होता है । चर्म का सिला हुआ होता है ॥

यह भी दूसरा कोश (द्रव्य का घर) इसी 'कुष्' धातु से है । वह 'संचय'-या महान् (बड़ा) 'आचित मात्र' (जिसमें

मात्राएँ आचित (भरी हुईं) हों) होता है।

ऋचाके उत्तरार्द्ध में कूप (कूएं) के कर्म से संग्राम को उपमा देता है ॥

'काकुद' (७६) यह अनवगत है।

'काकुद' को तालु (तालुवा) ऐसा कहते हैं। वह 'काकुद' क्यों है ? कोकुवा जिह्वा होती है, वह इसमें धारण की जाती है। जिह्वा 'कोकुवा' क्यों कहलाती है ? वह कोकूयमान (कूकती हुई) वर्णों (अक्षरों) को प्रेरित करती है। अथवा शब्द अर्थ में 'कु' (यङन्त) धातु से है।

'जिह्वा' क्यों ? वह जोहुवा है, या उससे प्राणी आत्मा में अन्न का होम करते हैं। अथवा उससे दूसरे को आवाहन करते हैं। इस से वह जिह्वा है।

'तालु' कैसे ? 'तॄ' (५२१० प०) धातु से है। क्यों कि— वह अन्य अङ्गोंसे विस्तृत होता है। अथवा लम्बन (लटकने) अर्थ में 'लत' (भ्वा० प०) धातुके विपरीत (उलटे) रूप से है। जैसे 'तल' शब्द। 'लता' शब्द उसी 'लत' धातु के सीधे रूप से होता है ॥ ८ (२६) ॥

(खं० ६)

[निघ०-] वीरिट ॥ ७७ ॥

(निरु०) "सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः। अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव ॥" (ऋ० सं० ६, ५, ७, २)

सुदेवः त्वं कल्याणदानः, यस्य तव देव सप्त सि-

न्धवः प्राणाय अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरा-मिव इत्यपि निगमो भवति ।

सुदेवस्त्वं कल्याणदेवः, कमनीयदेवो वा भवसि। वरुण, यस्य ते सप्त सिन्धवः ।

'सिन्धुः' स्रवणात् । यस्य ते सप्त स्रोतांसि, तानि ते काकुदम्-अनुक्षरन्ति ।

'सूर्मि' कल्याणोर्मि स्रोतः, सुषिरमनु यथा ।

'वीरिटं' "तैटीकिः" अन्तरिक्षमेवमाह-पूर्वं वयतेः, उत्तरम्-इरतेः । वयांसि इरन्ति-अस्मिन्, भांसि वा ।

तदेतस्याम् - ऋचि - उदाहरन्ति अपि निगमो भवति ॥ ९ (२७) ॥

"सुदेवोऽसि" यह ऋचा प्रियमेधा ऋषि की है । अनुष्टुप छन्द और मन्त्रोक्त (वरुण) देवता है ।

हे 'वरुण' देव ! 'त्वं' तू सुदेवः (कल्याणदानः) शुभ दान वाला अथवा 'सुदेवः' (कल्याणदेवः,कमनीयदेवो वा) शोभन देव या कल्याण करनेवाला देव या वाञ्छनीय देव 'असि' (भवसि) है । क्योंकि-'यस्य' जिसके 'ते' तेरे 'काकुदम्' तालु को 'प्राणाय' प्राण (जीवन) के 'सप्त' सात अर्थ 'सिन्धवः' (स्रोतांसि) आकाश की नदियें (बहुला (१) अश्वा (२) तितुआ (३) अभ्रपत्नी (४) मेघपत्नी (५) वर्षयन्ती (६) और अरुन्धा (७) अथवा सातों समुद्र 'अनुक्षरन्ति' सब ओर से गीला करते हैं

(झरते हैं), 'इव' (यथा) जैसे 'सूर्म्यम्' (सूर्मि = कल्याणोर्मि स्रोतः) अच्छो लहरों वाला ग्राम का जल सुषिराम्' (सुषिरम्-अनुक्षरति) उसके बाहरके प्रदेश (गोरवा) में सब ओर व्यापन करता है ॥ यह भी निगम होता है। इस प्रकार यहां पर सिन्धुओं के अनुक्षरण (बहने) के सम्बन्ध से 'काकुद' तालु है, यह सिद्ध होता है।

इस मन्त्र के पूरे पढ़ने का प्रयोजन मन्त्र के अर्थ की गम्भीरता है। क्योंकि-और ऋचाएं जो इस प्रकरण में पूरी पढ़ी गई हैं, उन में समाम्नाय के शब्दों के अतिरिक्त भी अनवगत संस्कार पद हैं, उनकी व्याख्या दिखाने के लिये पूरी पढ़ी गई हैं, किन्तु इस ऋचा में कोई अनवगत पद भी नहीं है, इस लिये अर्थगम्भीरता ही इस के पूरे पढ़ने का कारण है। अथवा 'काकुद' शब्द का ही अर्थ प्रयत्न से ढूंढा जा सकता है, इस लिये यह पूरी पढ़ी गई है ॥

'सिन्धु' क्यों ? स्रवण या बहने से या झरने से ॥

'बीरिट' (७७) यह अनवगत और पद्य से अनेकार्थ है। 'बीरिट' क्यों ? यह 'भीतनन' या इसमें भी (भय) तनन (फैला हुआ) है। क्यों कि-यह (आकाश) विना किसी आधार के ऊपर टिका हुआ है, इसी से इससे सब डरते है।

वीरिट को तैटीकि आचार्य अन्तरिक्ष इस रीति से कहता है पहिला भाग (वी) 'वी' (भ्वा० प०) धातु का और दूसरा भाग (ईरिट) 'ईर' (भ्वा०प०) धातु का है, अर्थात् 'वयांसि, पक्षी इसमें 'ईरन्ति' उड़ते हैं। 'वि'- ईर' को मिलकर वीरिट हुवा। अथवा 'भांसि' नक्षत्र इसमें 'ईरन्ति' फिरते हैं, इससे

'वीरिट' है। उसे इस ऋचामें उदाहरण करते हैं, निगम भी है-॥ ६ (२७)॥

(खं० १०)

[निघ०-] अच्छ ॥७८॥ परि ॥ ७९ ॥ ईम् ॥८०॥ सीम् ॥८१॥ एनम् ॥ ८२ ॥ एनाम् ॥८३॥ सृणिः ॥८४॥ इति चतुरशीतिः पदानि ॥

(निरु०-) "प्रवावृजे सुप्रया बर्हिरेषा मा विश्पतीव वीरिटइयाते। विशामक्तोरुषसः पूर्वहूतौ वायुः पूषा स्वस्तये नियुत्वान् ॥" (ऋ० सं० ५, ४, ६, २,)

प्रवृज्यते सुप्रायणं बर्हिः-एषाम्, एयाते सर्वस्य पातारौ वा पालयितारौ वा। 'वीरिटम्' अन्तरिक्षम्। भियो वा भासो वा ततिः। अपि वा उपमार्थे स्यात- सर्वपती इव राजानौ वीरिटे गणे मनुष्याणां। रात्र्या विवासे पूर्वस्यामभिहूतौ वायुश्च नियुत्वान्, पूषा च स्वस्त्ययनाय ॥

'नियुत्वान्' नियुतः अस्य अश्वाः। 'नियुतः' नियमनाद्वा। नियोजनाद् वा ॥

'अच्छ' अभेः। आप्तुम्-इति शाकपूणिः ॥

'परि' 'ईम्' 'सीम्'-इति व्याख्याताः ॥

'एनम्' 'एनाम्' "अस्याः-अस्य"-इत्येतेन व्याख्यातम् ॥

'सृणिः' अङ्कुशो भवति । सरणात् ॥

'अङ्कुशः' अञ्चतेः । आकुञ्चितो भवति-इति वा ॥

"नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात्" (य० वा० सं० १२, ६८,) । इत्यपि निगमो भवति ॥

'अन्तिकतमम्-अङ्कुशादायात् पक्वम्-औषधम् आगच्छतु'-इति आगच्छतु-इति ॥

इति पञ्चमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ५, ४ ॥

"प्रवावृजे" इस ऋचा का वसिष्ठ ऋषि और त्रिष्टुप् छन्द है।—

'सुप्रयाः' (सुप्रायणम्) जिसपर अच्छे प्रकार देवता आसकते हों, ऐसे भले प्रकार 'बर्हिः' कुशा (डाभ) 'प्रवावृजे' (प्रवृज्यते) बिछाई जाती है। 'विश्पती' सर्वस्य जगतःपती) सब जगत् के स्वामी 'आ-इयाते' (आगच्छतः) आते हैं। कहां फिर अवस्थित होकर आते हैं ? 'वीरिटे' (अन्तरिक्षे) आकाश में। 'इव' (पाद पूरण है।)। अथवा 'वीरिटे' (गणे मनुष्याणाम्) मनुष्योंके समूह में अवस्थित हुए हुए 'विश्पति' सब के पति राजाओं के 'इव' समान 'आ-इयाते' आते हैं। किसके यहां आते हैं ? किसकाल में आते हैं ? कौन आते हैं किस प्रयोजन से आते हैं ? 'एषाम्' इन 'विशाम्' (मनुष्या-

साम्) मनुष्यों के हरएक क्रियामें बुलाये हुये 'अक्तोः' (रात्र्याः) (विवासे अपगमे) रात्रिके बीत जाने पर 'उषसः' 'च' (आगमनकाले) और उषा के आगमन काल में 'पूर्वहूतौ' (पूर्वस्यामेव अभिहूतौ) पहिले ही बुलावे में 'नियुत्वान्' नियुत् घोड़ों वाला 'वायुः' वायु 'पूषा' (च) और पूषा दोनों 'स्वस्तये' यजमान के कल्याण के लिये 'एयाते' आते हैं॥

क्योंकि—देवता अन्तरिक्ष से ही आते हैं इस कारण 'वीरिट' नाम आकाश का ही हो सकता है। और जिस पक्ष में 'वीरिट' नाम गण (समूह) का है, उस पक्ष में भी राजा लोग गण के मध्य में हो कर ही चलते हैं, यह उपपन्न होता है।

निरुक्तार्थः—इन देवताओं के अच्छे आगमन योग्य कुशा बिछाई जाती है आते हैं, सबके पाता या पालयिता (पालन करने वाले)। (धातु दो हैं, और अर्थ एक है)। 'वीरिट' नाम अन्तरिक्ष का है। क्यों कि—उस में भय का विस्तार है, या ज्योति (ताराग्रह आदि) का विस्तार है। अथवा 'इव' उपमा अर्थ में है। सब के पतियों जैसे राजा, वीरिट नाम मनुष्यों के समूह में (अवस्थित)। रात्रि के चले जाने पर पहिली अभिहूति (बुलावे) में नियुत्वान् वायु और पूषा स्वस्त्ययन (कल्याण) के लिये॥

'नियुत्वान्' क्यों ? नियुत् इसके घोड़े हैं। 'नियुत्' क्यों? नियमन (शासन किये जाने) से। अथवा नियोजन (जोड़ने) से।

'अच्छ' (९८) शब्द 'अभि' (अव्यय) शब्द से है, या उस के अर्थमें है। शाकपूणि आचार्य कहते हैं कि-'आप्तुम्' (प्राप्त होने को) पद के अर्थ में है।

'परि' (७९) 'ईम्' (८०) 'सीम्' (८१) ये प्रथम अध्याय में निपात और उपसर्गों के प्रकरण में व्याख्यान किये जा चुके हैं। ('परि' १, १, ५, 'ईम्' १, ३, ५, 'सीम्' १, ३, २)

'एनम्' (८२) 'एनाम्' (८३) ये दोनों पद 'अस्याः' 'अस्य' इन दोनों पदों से चतुर्थ अध्याय में (४, ४, ४) व्याख्यान किये जा चुके हैं।

'सृणिः' (८४) यह अङ्कुश का नाम है। क्योंकि—वह हाथी के शिर पर सरण (गमन) करता है।

'अङ्कुश' शब्द कैसे? 'अञ्चु' (भ्वा०प०) धातु से है। अथवा आकुचित या मुड़ा हुआ होता है। अतः आकुचित होता हुआ 'अङ्कुश' होता है।

"नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात्" (य०वा०सं०१२,६८)

हे कर्षको! 'सृण्यः' सृणि (अङ्कुश) जितनी दूरी पर टिक कर सस्य को खेंच सकता है, उससे 'इत्' भी 'नेदीयः' (अन्तिकतमम्) बहुत निकट पक्व (पकी हुई) औषधि 'एयात्' हमारे प्रति आवे। ऐसा गहरा बोओ॥

कोई कहते हैं, हे कर्षको! ऐसे बीज बोओ, जैसे—दात्र (दरांत) के द्वारा खेंचने से पहिले हमारी मुट्ठी सस्य (धान्य) से भरजावे इस पक्ष में अङ्कुश नाम दात्र का ही है। उस से खेंचे हुए सस्य के 'अङ्कुशादायात्' दात्र से खेंचने से पहिले 'नेदीयः' (अन्तिकतमम्) बहुत निकट हुआ हुआ 'पक्वम्' पका हुआ 'औषधम्' औषध 'आगच्छतु' आवे 'आगच्छतु' आवे।

अध्याय की समाप्ति दिखाने के अर्थ 'आगच्छतु' पद को दो वार पढ़ा है॥ इस प्रकार यहां 'नेदीयः' शब्द के सम्बन्ध से 'सृणि' अङ्कुश अथवा दात्र (दरांत) है॥

इति हिन्दीनिरुक्ते पञ्चमाध्यायस्य चतुर्थः पादः

निरुक्त के पञ्चमाध्याय का खण्डसूत्र—

[प्र० पा०-] सस्निम् (१) असश्चन्ती (२) न यस्य (३) वराहो (स्वसराणि) (४) गायन्ति त्वा (५) [द्वि० पा०-] पवित्र ६) पुरुत्वा (७) किमित्ते (८) प्रतत्ते (९) अग्निश्चरः (१०) एकया (अध्रिगुः) (११; आपान्तमन्युः १२) [तृ० पा०-] सर्वाश्चप्सुराः (१३) उतासि (१४) सद्धत् (१५) नियत् (१६) कदामर्त्त (१७) पत्नीवन्तः (१८) सुपुरत्तत् (१९) [च० पा०-] वृक्षश्चन्द्रमाः (२०) अरुणो मा (अजद्वीत्) (२१) य इन्द्राग्नी (२२) मानः समस्य (२३) हविषाजरः (२४) पृथक्प्रायन् (२५) प्रीणीता (२६ सुदेवः (२७) प्रवातृजे (२८) अष्टाविंशतिः (२९) ॥

इति निरुक्ते पूर्व षट्के पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इति हिन्दीनिरुक्ते पूर्व षट्के पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ॥५॥

७	कल्पयम् ।	सुखपयसम् । सुखमस्यपयः ।	"त्वं चिद्धत्याकल्पयं यथानम् "
८	विस्रुहः ।	आपोभवन्ति । विस्रवणात् ।	वयाइवरूरुहुःसप्त विस्रुहः ।
९	वीरुधः ।	वीरुध ओषधयो भवन्ति । विरोहणात्	"वीरुधः पारयिष्णवः " ।
१०	नषद्दाभम् ।	अश्नुवानदाभम् । अभ्यशनेन दभ्नोतीति	"नषद्दाभं ततुरिं पर्वतेष्ठाम्"
११	अस्कृधोयुः ।	अकृष्वायुः । (दीर्घायुः)	"यो अस्कृधोयु रजरः स्ववान् "
१२	निश्रृम्भाः ।	निश्रथ्यहारिणः । (निश्लथयादृढ़या गत्याहरन्तः) ।	" आजासः पूषणंरथे निश्रृम्भास्तेजनश्रियम्"
१३	बृबदुक्थम् ।	महदुक्थः । वक्तव्यमस्मै उक्थम् इति बृबदुक्थोवा ।	"बृबदुक्थं हवामहे"
१४	ऋदूदरः ।	सोमः । मृदूदरः मृदुरुदरेष्विवतिवा ।	"ऋदूदरेण सख्या सचेय"
१५	ऋदूपे ।	इत्युपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः । (सूक्त १२८ व्याख्याने)	" ऋदूपेचिदृवृधा०" (पा० ६ सं० ५)
१६	पुलुकामः ।	पुरुकामः ।	" पुलुकामो हि मर्त्यः "
१७	असिन्वती	असंखादन्त्यौ ।	" असिन्वती बप्सती०"
१८	कपनाः	कम्पनाः । क्रिमयो भवन्ति	" सोषथा वृक्षं कपनेव"
१९	भाऋजीकः	प्रसिद्धभाः ।	" धूमकेतुःसमिधा भाऋजीकः"
२०	रुजानाः ।	नद्योभवन्ति । रुजन्ति कूलानि ।	"संरुजानाः पिपिषइन्द्रशत्रुः"
२१	जूर्णिः ।	(जूर्णिः) जवतेर्वा द्रवतेर्वा दूनोतेर्वा ।	"चिप्राजूर्णिर्नवक्षति"

संख्या	शब्द	अर्थ (तत्व) अवगम	निगम ।
२२	ओमना ।	(अवनाय)	"परिग्रंसमोमना वांवयोगात्"
२३	उ.लप्रक्षिणी ।	सक्तु कारिका । उपलेषु प्रक्षिणाति । उपलप्रक्षेपिणीवा	"कारुरहं ततोभिषगुपलप्रक्षिणीनना"
२४	उपमि ।	उपस्थे ।	"आसीनऊर्द्धामपसिक्षिणाति"
२५	प्रकलविन् ।	वणिग्भवति । कलाश्चवेद्प्रकलाश्च ।	"दुर्मित्रासःप्रकलविन् मिमानाः"
२६	अभ्यर्द्धयज्वा ।	अभ्यर्धयन्यजति ।	"सिषक्ति पूषा अभ्यर्द्धयज्वा"
२७	ईक्षे ।	ईशिषे ।	"ईक्षेहि वस्व उभयस्य राजन्"
२८	क्षोणस्य ।	क्षयणस्य ।	"महःक्षोणस्याश्विनाकण्वाय"
२९	अस्मे :	वयम् । अस्मान् । अस्माभिः । अस्मभ्यम् अस्मत् । अस्माकम् । अस्मासु ।	(१) "अस्मेतेबन्धुः" (२) "अस्मेयातंनासत्यासजोषाः" (३) "अस्मेसमानेभिर्वृषभपौंस्येभिः" (४) "अस्मेप्रयन्धि मघवन्नृजीषिन्" (५) "अस्मेआराचिद्द्वेषः सनुतर्युयोतु" (६) "ऊर्वद्वपप्रथेकामोअस्मे" (७) "अस्मेधत्तवसवोवसूनि" ।

३०	पाथः ।	अन्तरिक्षम् । पथाव्याख्यातम् । उदकमपि पाथ उच्यते पानात् । अन्नमपि पाथ उच्यते पानादेव।	"श्येनोनदीयन्नन्वेति पाथः" "आचष्टआसांपाथोनदीनाम्" "देवानांपाथउपवक्षिविद्वान्"
३१	सवीमनि ।	प्रसवे ।	"देवस्यवयंसवितुः सवीमनि"
३२	सप्रथाः ।	सर्वतः पृथुः ।	"त्वमग्नेसप्रथाअसि"
३३	विदथानि ।	वेदनानि ।	"विदथानिप्रचोदयन्"
३४	आयन्तः	समाश्रिताः ।	"आयन्तइवसूर्यंविश्वेदिन्द्रस्यभक्षत"
३५	आशीः ।	आशिरम् । (दधि) अथेयमितराआशीः आशास्ते	"इन्द्रायगावआशिरम्' "सामेसत्याशीर्देवेषु'
३६	अजीगः ।	अगारीः । जिगर्तिर्गिरतिकर्मा वा । गृणातिकर्मावा । गृह्णातिकर्मावा ।	यदालेमतो अनुभोगमानलादिद्ग्रसिष्ठ ओषधीरजीगः ।
३७	अमूरः ।	अमूढः ।	"मूराअमूरनवयंचिकित्वः"
३८	शशमानः ।	शंसमानः ।	योवांयज्ञैः शशमानो ह दाशति ।
३९	देवो देवाच्या कृपा	देवाच्या देवान्प्रति अञ्चितया । कृपा कल्पितया ।	"देवोदेवाच्याकृपा"
४०	विजामातुः ।	विजामातेति शश्वद्दाक्षिणाजाः क्रीता पतिमाचक्षते । असुसमाप्तइव वरोभिप्रेतः ।	'अश्रवं हि भूरिदावत्तरा वांविजामातुरुतवाघास्यालात्'

संख्या	शब्द	अर्थ (तत्व) अवगम	निगम ।
४१	ओमासः ।	ओमासश्चस्युपरिष्टाद्व्याख्यास्यामः ।	
४२	सोमानम् ।	सोतारम् ।	“सोमानंस्वरणंकृणुहिब्रह्मणस्पते”
४३	अनवायम् ।	अनवयवम्	“इन्द्रासोमा०- ०द्धं घोषममनवायं किमीदिने” ।
४४	किमीदिने ।	किमिदंकिमिदमित्येवंकारीपिशुनः ।	
४५	अमवान् ।	अमात्यवान् । अभ्यमनवान् । स्ववान्वा	“कृणुष्वपाजःप्रसितिं न पृथ्वीं याहि राजेवामवांइभेन” ।
४६	अमीवा ।	अभ्यमनेन व्याख्याता	“यस्तेगर्भममीवा दुर्णामायोनिमाशये”
४७	दुरितम् ।	दुर्गतिगमनम् ।	“अतिक्रामन्तो दुरितानिविश्वा” ।
४८	अप्वे ।	अप्वा— यदेनया विद्धोऽपवीयते । व्याधिर्वा भयंवा ।	‘अप्वे परेहि’ ।
४९	अमतिः ।	अमामयी । मतिः । आत्ममयी ।	“ऊर्ध्वायस्या मतिर्भा अदिद्युतत्सवीमनि”
५०	श्रुष्टी ।	क्षिप्रनाम आशुअष्टीति ।	“ तां अध्वर उशतो यदयग्ने श्रुष्टिभगं नासत्या पुरन्धिम् ।
५१	पुरन्धिः ।	पुरन्धिर्बहुधीः तत्कः— १— पुरन्धिर्भगः, पुरस्तात्तस्यान्वा-	

		देवः—इत्येकम् । २—इन्द्र इत्यपरम् । सबहुकर्मतमः पुरां च दारयितृतमः । ३—वरुण इत्यपरम् । तं प्रज्ञया-स्तौति ।	" इमामू नु कवितमस्य मायाम् "
५२	रुशत् ।	इतिवर्णनाम रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः ।	" समिद्धस्य रुशददर्शिपाजः " ।
५३	रिशादसः ।	रेशयदारिणः (देवाः) ।	"अस्ति हि वः सजात्यं रिशादसोदेवा-सो अस्त्याप्यम् ।
५४	सुदत्रः ।	कल्याणदानः ।	"त्वष्टासुदत्रो विदधातुरायः" ।
५५	सुविदत्रः ।	कल्याणविद्यः ।	"आग्नेयाहि सुविदत्रेभिरर्वाङ् " ।
५६	आनुषक् ।	आनुषगितिनाम—अनुपूर्वस्य । अनुषक्तं भवति ।	"स्तृणन्ति बर्हिरानुषक्" ।
५७	तुर्वणिः ।	तूर्णवनिः ।	"सतुर्वणिर्महां अरेणु पौंस्ये" ।
५८	गिर्वणाः ।	देवो भवति । गीर्भिरेनंवनयन्ति ।	"जुष्टं गिर्वणसे बृहत्"
५९	असूर्ते सूर्ते	असुसमीरिता, सुसमीरिते । (अन्तरिक्षे)	"असूर्ते सूर्तेरजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि । "
६०	अम्यक् ।	अमात्क्तेति वाऽभ्यक्तेतिवा ।	"अम्यक्सात इन्द्रऋष्टिः" ।
६१	यादृश्मिन् ।	यादृशे ।	"यादृश्मिन्धायि तम॰स्ययाविदत्" ।

संख्या	शब्द	अर्थ (तत्व) अवगम	निगम
६२	आरयायि ।	उस्त्रइवगोपिता जायियज्ञैः ।	" उस्त्रःपितेव आरयायि यज्ञैः " ।
६३	अयिया ।	अग्रगमनेनेति वा ऽग्रगरणेनेतिवाऽगुस्र-रूपादिम इतिवा ।	" प्रवोऽच्छा जुजुषाणासो अस्थुरभूत विश्वे अग्रियोत वाजाः" ।
६४	घनः ।	इत्यन्ननाम ।	"अद्धीदिन्द्र प्रस्थिते माहवींषिचना दधिष्वपचतोतसोमम्"
६५	पचता ॥	पक्वानि । पचतिर्नामीभूतः । (आ-ख्यातस्वरूपं चैतन्नाम) ।	
६६	शुरुधः ॥	शुरुध आपो भवन्ति शुचं संरुन्धन्ति ।	" ऋतस्यहि शुरुध सन्ति पूर्वीः" ।
६७	अमिनः ।	अमितमात्रो महान् भवति । अभ्य-मितो वा ।	" अमिनः सहोभिः "
६८	जज्झतीः ।	आपो भवन्ति । शब्दकारिण्यः	" मरुतो जज्झतीरिव"
६९	अप्रतिष्कुतः ।	अप्रतिष्कृतः । अप्रतिस्खलितो वा ।	" अस्मभ्यमप्रतिष्कुतः "
७०	शाशदानः ।	शाशाद्यमानः ।	" प्रतिस्वां मति मतिरच्छाशदानः "
७१	सृप्रः ।	सर्पणात् । इदमपि इतरत्सृप्रमेतस्मा-देव । सर्पिर्वा । तैलंवा ।	" सृप्रकरस्नमूतये "

७२	सुशिप्रः	सुशिप्रमेतेन व्याख्यातम् । शिप्रे हनू । नासिके वा ।	" वाजे सुशिप्रगोमति "
७३	रंसु ।	रंसु रमणीयेषु रमणात् ।	" सचित्रेणचिकिते रंसुभासा "
७४	द्विबर्हाः ।	द्वयोः स्थानयोः परिवृढो मध्यमे च स्थाने उत्तमे च ।	" उतद्विबर्हा अमिनः सहोभिः "
७५	अक्रः ।	आक्रमणात् ।	"अक्रो न बभ्रिः समिथे महीनाम् "
७६	उराणः ।	उरु कुर्वाणः ।	"दूत ईयसे प्रदिव उराणः"
७७	स्तियानाम्	स्तिया आपो भवन्ति । स्त्यायनात् ।	" वृषा सिन्धूनां वृषभः स्तियानाम् "
७८	स्तिपाः ।	(कूपः) स्तियापालनः । उपस्थितान् पालयति इति वा ।	"स न स्तिपा उतभवातनूपाः "
७९	जबारु ।	जवमानरोहि । जरमाणरोहि । गरमाणरोहि इति वा ।	"अग्रं रूप आरुपितं जबारु"
८०	जरूथम् ।	गरूथं । गृणातेः ।	"जरूथं हन्यक्षिरायै पुरन्धिम् "
८१	कुलिशः ।	इति वज्रनाम । कूलशातनो भवति ।	" स्कन्धांसीवकुलिशेनाविवृक्णाहिः शयत उपपृक् पृथिव्याः "
८२	तुञ्जः ।	तुञ्जते र्दानकर्मणः ।	" तुञ्जे तुञ्जे य उत्तरे "
८३	बर्हणा ।	परिबर्हणा ।	" बृहच्छ्रवा असुरो बर्हणाकृतः"
८४	ततनुष्टिः ।	(तितनिषुः)	"यो अस्मैघ्रंस०—०अपापशक्रस्ततनुष्टि-

संख्या	शब्द	अर्थ (तत्व) अवगम	निगम ।
			मूहति तनूशुभ्रं मघवा कवा सखः ।"
८५	द्दलीबिशः	द्दलाबिलशयः (मेघः)	"न्याविध्यद्दिलीबिशस्य दृह्ला"
८६	क्रियेधाः	कियद्धा इतिवा । क्रममाणधा इतिवा । (मेघः)	"अस्मादिदु ०००वृत्राय वज्रमीशानः क्रियेधाः"
८७	भृमिः	भ्राम्यतेः । (अग्निः)	"भृमिरस्यृषिकृन्मर्त्यानाम्"
८८	विष्पितः	विप्राप्तः । (सर्वतो यः प्राप्तः)	"पारं नो अस्य विष्पितस्य पर्षन्"
८९	तुरीपम्	तूर्णापि । (उदकम्)	"तन्नस्तुरीपमद्भुतम्"
९०	रास्पिनः	रास्पी रपतेर्वा । रसतेर्वा ।	"रास्पिनस्यायोः"
९१	ऋञ्जतिः	प्रसाधनकर्मा ।	"आ ऋञ्जसे ऊर्जां व्युष्टिषु"
९२	ऋजुनीती	(ऋजुनयनोवा । ऋजुप्रज्ञो वा) (वरुणः) 'ऋजुः' इत्यपि अस्य (ऋञ्जतेः) भवति	"ऋजुनीती नो वरुणः
९३	प्रतद्वसू	प्राप्तवसू ।	"हरी इन्द्र प्रतद्वसू अभिस्वर"
९४	हिनोत	प्रहिणुत	"हिनोता नो अध्वरं देवयज्या हिनोत ब्रह्मसनये धनानाम्"
९५	चोष्कूयमाणः	ददत्-इत्यर्थः ।	"चोष्कूयमाण इन्द्र भूरि वामम्"

९६	चोष्कूयते	व्युदस्यति इत्यर्थः ।	"एधमानद्विलुभयस्य राजा चोष्कूयते विशइन्द्रो मनुष्यान्"
९७	सुमत्	स्वयमित्यर्थः ।	"उपप्रागात्सुमन्मेधायि मन्म"
९८	दिविष्टिषु	दिव एषणेषु ।	"स्थूरं राधः शताश्वं कुरुङ्गस्य दिविष्टिषु"
९९	दूतः	व्याख्यातः ।	
१००	जिन्वति	जिन्वतिः प्रीतिकर्मा ।	"भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः"
१०१	अमत्रः	अमात्रोमहान् भवति अभ्यमितो वा ।	"महा अमत्रो वृजने विरप्शि"
१०२	ऋचीषमः	ऋचासमः	"स्तवे वज्र्यृचीषमः"
१०३	अनर्शरातिम्	अनश्लीलदानम्	"अनर्शरातिं वसुदामुपस्तुहि"
१०४	अनर्वा	अप्रत्यृतोऽन्यस्मिन्	"अनर्वाणं वृषभं मन्द्रजिह्वम्"
१०५	असामि	'असामि' सामिप्रतिषिद्धम् । अपरिसमाप्तम् (अनन्तम्)	"असाम्योजो बिभृथा सुदानवः"
१०६	गल्दया	गल्दा धमनयो भवन्ति गलनमासु धीयते (नाड़ी)	"आत्वाविशन्त्विन्दव आगल्दा धमनीनाम्"
१०७	जल्हवः ।	खलमहीनाः ।	"न पापासोमनामहे नारायासो न जल्हवः"

संख्या	शब्द	अर्थ (तत्व) अवगम	निगम
१०८	बकुरः ।	भास्करः । भयंकरः । भासमानो द्रवतीति वा । ज्योतिर्वा उदकं वो ।	" यवंवृकेणाश्विना ···· अभिदस्यु बकुरेणा धमन्तोरु ज्योतिश्चक्रथुरार्याय ।
१०९	बेकनाटान् ।	बेकनाटाः खलुकुसीदिनोभवन्ति । द्विगुणकारिणो वा द्विगुणदायिनोवा । द्विगुणं कामयन्ते इतिवा ।	" इन्द्रो विश्वान्बेकनाटाँ अहर्दृशः "
११०	अभिधेतन ।	अभिधावत ।	" जीवान्नो अभिधेतनादित्यासः पुरा हथात् "
१११	अंहुरः ।	अंहस्वान् । अंहूरणम्— इत्यप्यस्य भवति ।	"कृण्वन्नंहूरणा दुरु" " सप्तमर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरोगात्"
११२	बतः ।	इति निपातः खेदानुकम्पयोः ।	" बतोबतासि यमनैव ते मनोहृदयं चाविदाम:"
११३	वाताप्यम् ।	उदकं भवति । वात एतदाप्याययति ।	" पनानो वाताप्यं विश्वश्चन्द्रम् "
११४	चाकन् ।	चायन्-इतिवा । कामयमानइतिवा ।	"वनेनवायोन्यधायि चाकन् "
११५	रथर्यति ।	रथर्यतीति सिद्धस्तत्प्रेप्सुः,रथंयो काम-	"एषदेवो रथर्यति"

		यते इतिवा ।	
११६	असक्राम् ।	असंक्रमणीम्	"धेनुं नष्टं पिन्वतमसक्राम्"
११७	आधवः ।	आधवनात् ।	"मतीनां च साधनं । विप्राणांचाधवम्"
११८	अनवब्रवः ।	अनवक्षिप्तवचनः ।	"विजेषकृदिन्द्र इवानवब्रवः"
११९	सदान्वे ।	सदानोनुवे । शब्दकारिके । (दुर्भिक्षे)	" अरायि काणे विकटे गिरिंगच्छ सदान्वे"
१२०	शिरिम्बिठः ।	मेघः । शीर्यते विठे ।	" शिरिम्बिठस्य सत्वभिः "
१२१	पराशरः ।	पराशरः—पराशीर्णस्यवसिष्ठस्य स्थविरस्यजज्ञे ।	" पराशरः शतयातुर्वसिष्ठः । "
१२२	क्रिविर्दती ।	विकर्त्तनदती ।	"यत्रा वोदिद्युद्रदति क्रिविर्दती "
१२३	करूलती ।	कृत्तदती । अपिवादेवं कश्चित्कृत्तदन्तं दृष्ट्वाएवमवदयत् । अदन्तकः पूषा-इति ब्राह्मणम् ।	" वामं वामं त आदुरे .... वामं देवः करूलती"
१२४	दनः ।	दानमनसः ।	" दनोविशइन्द्रमृध्रवाचः । "
१२५	शरारुः ।	संशिशरिषुः ।	"अवीरा मिवमामयं शरारुरभिमन्यते"
१२६	इदंयुः ।	इदंकामयमानः । अथापि तद्वदर्थे भाष्यते । वसूयुरिन्द्रः । वसुमान्—इत्यर्थः ।	" अश्वयुर्गव्यूरथयुर्वसूयुः "

संख्या	शब्द	अर्थ (तत्व) अवगम	निगम ।
१२७	कीकटेषु	कीकटा नामदेशोऽनार्यनिवासः कीकटाः किं कृताः, किं क्रियाभिरिति प्रेप्सा वा ।	"किंते कृण्वन्ति कीकटेषु गावः"
१२८	बुन्दः	इषुर्भवति । बुन्दो वा, भिन्दो वा, भयदो वा, भासमानो द्रवतीति वा ।	"तु विद्मं ते सुकृतं सुमयं धनुः साधुबुन्दो हिरण्ययः"
१२९	वृन्दम्	बुन्देन व्याख्यातम् । वृन्दारकश्च !	
१३०	किः	कर्त्ता ।	"अयं होता किरुसयस्य"
१३१	उल्बम्	(जरायुः) ऊर्णोतेः । वृणोतेर्वा ।	"महत्तदुल्बं स्थविरं तदासीत्"
१३२	ऋबीसमृबीसम् इति निघण्टौ चतुर्थोऽध्यायः	अपगतभासम् । (पृथ्वी)	"हिमेनाग्निं घ्रंसमवारयेथां पितुमतीमूर्जमस्मा अधत्तम् । ऋबीसे अत्रिमश्विनावनीत मुन्निन्यथु. सर्वगणंस्वस्ति"

—>:o:<—

षष्ठाध्याय के निघण्टुस्थ कुछ प्रासङ्गिक शब्द ।

शब्द	अर्थ
	प्रथमः पादः ।
शुचिः	शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः । अयमपि इतरः शुचिःएत-स्मादेव निष्षिक्तमस्मात्पापमिति नैरुक्ताः।(खं०१)
मुष्टिः	मोचनाद्वा मोषणाद्वा मोहनाद्वा । (ख० २)
रोदसी	द्यावापृथिव्यौ । विरोधनात् ।
रोधः	कूलम् । निरुणद्धि स्रोतः ।
कूलम्	रुजते विपरीतात् । लोष्टः अविपर्ययेण ।
अपारे	दूरपारे ।
बलः	वृणोतेः । (खं० ३)
व्रजः	व्रजति अन्तरिक्षे ।
गोः	माध्यमिकाया वाचः ।
सुगान्	सुगमनान्पथः
निरजे	निरजनाय । (निर्गमनाय) ।
वाणीः	आपोवावहनाद्वाचोवावदनात् ।
पुरुहुतम्	बहुभिः आहूतम् ।
धनन्तीः	धनतिर्गतिकर्मा ।
उद्वृह	उद्धर ।
मूलम्	मोचनाद्वा मोषणाद्वामोहनाद्वा । (खं०४)
अग्रम्	आगतं भवति आकियलोदेशात् ।
सललूकम्	संलुब्धं भवति पापकमितिनैरुक्ताः सररूकं वा-स्यात् । सरतेरभ्यस्तात् ।
तपुषिः	तपतेः ।

शब्द	अर्थ
हेतिः	हन्तेः ।
ऋधुः	इतिह्रस्वनाम । निवृत्तं भवति । (खं०४ (३))
जनश्रियम्	जातश्रियम् । (खं०५)
घ्रंसम्	अहः । (खं०५) (४)

द्वितीयः पादः ।

शब्द	अर्थ
कारुः	कर्ता स्तोमानाम् । (खं० २)
ततः	इति सन्ताननाम । पितुर्वा पुत्रस्यवा ।
नना	नमतेः । मातावादुहितावा ।
नानाधियः	नानाकर्माणः ।
वसूयवः	वसुकामाः ।
अनमाने	अनिष्यमाणे (खं०५)
ग्रसिष्ठः	ग्रसितृतमः (खं०५)
चिकित्वः	विदुषः
भूरिदावत्तरा(रौ)	बहुदातृतरौ (खं० ६)
जामाता	जाअपत्यंतन्निर्माता (खं०६)
स्यालः	आसन्नः संयोगेन इति नैदानाः । स्याल्लाजानाः वपतीतिवा ।
लाजाः	लाजतेः
स्यम्	शूर्पम् स्यतेः
शूर्पम्	अशनपवनम् शृणातेर्वा (खं० ६)

तृतीयः पादः ।

शब्द	अर्थ
औशिजः	उशिजः पुत्रः (कक्षीवान्) (खं० १)
कक्षीवान्	कक्ष्यावान्
उशिक	वष्टेः कान्तिकर्मणः । (खं० १)

शब्द	अर्थ
अघशंसम्	अघस्यशंसितारम् । (खं० २)
अघम्	हन्तेः । निर्ह्रसितोपसर्गः आहन्तीति ।
तप्तुः	तपतेः ।
चरुः	मृच्चयोभवति । चरतेर्वा । समुच्चरन्त्यस्मादापः ।
ब्रह्मद्विषे	ब्राह्मणद्वेष्ट्रे ।
क्रव्यादे	क्रव्यमदते ।
घोरचक्षसे	घोरख्यानाय ।
क्रव्यम्	विकृत्ताज्जायते इतिनैरुक्ताः ।
अनवायम्	अनवयवम् । यदन्येनव्यवेयुः । अद्वेषम् इतिवा ।
पिशुनः	पिंशतेः विपिंशतीति । (खं० २)
कृणुष्व	कुरुष्व । (खं० ३)
पाजः	पालनात् ।
प्रसितिम्	पृथ्वीम् । प्रसितिः प्रसयनात् तन्तुर्वा जालंवा ।
तृष्वी	इतिक्षिप्रनाम । त्वरतेर्वा ।
तपिष्ठैः	तप्ततमैः । तृप्ततमैः । प्रपिष्टतमैरितिवा ।
दुर्णामा	क्रिमिर्भवति । पापनामा ।
कृमिः	क्रव्येमेद्यति । क्रमतेर्वास्यात्सरणकर्मणः । क्रामतेर्वा । (खं० ३)
अध्वरे	यज्ञे । (खं० ४)
उशतः	कामयमानान् ।
नासत्यौ	अश्विनौ । सत्यावेवनासत्यावितिऔर्णवाभः । सत्यस्यप्रणेतारौ इतिआग्रायणः । नासिकाप्रभवौबभूवतुरितिवा । (खं० ४)

शब्द	अर्थ
आप्यम्	आप्नोतेः । (खं० ५)

चतुर्थः पादः ।

शब्द	अर्थ
करस्नौ	बाहू । कर्मणां प्रस्नातारौ । (खं०१)
हनुः	हन्तेः ।
नासिका	नसतेः ।
धेना	दधातेः । (खं० १०)
स्कन्धः	वृक्षस्य समास्कन्नोभवति । अयमपीतरःस्कन्धः एतस्मादेव । आस्कन्नं काये । (खं० २)
अंसः	इति अहर्नाम । ग्रस्यन्तेऽस्मिन्रसाः । (खं०४)
ऊधः (गोः)	उद्धततरंभवति । उपोन्नद्धमितिवा । स्नेहानुप्रदानसामान्याद्रात्रिरपिऊध उच्यते ।
धमान्	द्योतनवान् ।
तनूशुभ्रम्	तनूशोभयितारम् ।
कवासखः	यस्यःकपूयाःसखायः ।
दृढा	दृढानि । (खं० ४)
प्रभरा	प्रहर । (खं० ५)
तूतुजानः	तूर्णत्वरमाणः । (खं० ५)
अस्मयुः	अस्मान् कामयमानः । (खं० ६)
देवयज्या	देवयज्यायै । (खं० ७)
सनये	लब्धये ।
शकटम्	शकृदितंभवति । शनकैस्तकतीतिवा । शब्देन तकतीतिवा ।
एधमानद्विट्	एधमानान् असुन्वतोद्वेष्टि ।
अधायि	अध्यायि ।

शब्द	अर्थ
मन्म	मनः। (मननीयमर्थजातम्) (खं० ७)
स्थूरः	समाश्रितमात्रो महान्भवति। (खं० ८)
अणुः	अनुस्थवीयांसम्। उपसर्गो लुप्तनामकरणो यथा सम्प्रति।
कुरुङ्गः	राजाबभूव। कुरुगमनाद्वाकुलगमनाद्वा।
कुरुः	कृन्ततेः।
क्रूरम्	इत्यप्यस्य भवति।
कुलम्	कुष्णातेः। विपुषितम्भवति।

पञ्चमः पादः।

स्तवे	स्तूयते। (खं० १)
मन्द्रजिह्वम्	मन्दनजिह्वम्। मोदनजिह्वमितिवा।
अर्कैः	अर्चनीयैः। (स्तोमैः)
सामि	स्यतेः। (समाप्तम्)
सुदानवः	कल्याणदानाः। (खं० १)
भूर्णिम्	भ्रमणशीलम्। (खं० २)
याचिषत्	याचिष्यते। (खं० २)
मनामहे	मन्यामहे। (खं० ३)
अरायासः	अधनाः। (खं० ३)
वृकः	लाङ्गलं भवति। विकर्तनात्। (खं० ४)
लाङ्गलम्	लङ्गतेः। लाङ्गूलवद्वा।
लाङ्गूलम्	लगतेर्लङ्गतेर्लम्बतेर्वा।
आर्यः	ईश्वरपुत्रः।
अहर्दृशः	सूर्यदृशः। ये इमानि अहानि पश्यन्ति न पराणि (नास्तिका) (खं० ४)

शब्द	अर्थ
पणीन्	वणिजः । (खं० ४)
हयात्	हननात् । (खं०५)
हवनश्रुतः	ये आर्तानां आह्वानं शृण्वन्ति ते ।
मत्स्याः	मधौ उदकेस्यन्दन्ते । माद्यन्ते अन्योन्यं भक्षणाय इतिवा । (खं० ५)
जालम्	जलचरं भवति । जले भवंवा । जलेशयंवा ।
सप्तमर्यादाः	स्तेयं । तल्पारोहणम् । ब्रह्महत्या । भ्रूणहत्या । सुरापानम् । दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवा । पातके अनृतोद्यम् । इति (खं०५)।
लिबुजा	व्रततिर्भवति । लीयते विभजन्तीति। (खं०६)
व्रततिः	वरणाच्च । संयनाच्च । ततनाच्च ।
वायः	वेः पुत्रः । वेति च य इति च चकार शाकल्यः उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यत् । असुसमाप्तश्चार्थः ।

षष्ठः पादः

शब्द	अर्थ
काणः	अविक्रान्तदर्शनः इति औपमन्यवः । कणतेर्वास्यादणुभावकर्मणः। कणतिः शब्दाणूभावे भाष्यते। अनुकणतीति। मात्राणूभावात्कणः। दर्शनाणूभावात्काणः। (खं० २)
विकटः	विक्रान्तगतिः इति औपमन्यवः कुटतेर्वा स्यात् । विपरीतस्य, विकुटितो भवति ।
बिठम्	अन्तरिक्षम् । वीरिटेन व्याख्यातम् ।
कालकर्णी	अलक्ष्मीः । (खं० २)
आदुरिः	आदरणात् (खं० ३)

शब्द	अर्थ
मृध्रवाचः	मृदुवाच । (ख० ३)
मगन्दः	कुसीदी (खं० ४)
मागन्दः	माम् आगमिष्यतीति च ददाति ।
प्रमगन्दः	मगन्दस्य मागन्दस्य वा अपत्यम् । अत्यन्त-कुसीदिकुलीनः । प्रमदको वा । योऽयमेवा-स्ति लोकोनपर इति प्रेप्सुः । पण्डको वा ।
पण्डकः	पण्डगः । प्रार्दकोवा । प्रार्दयत्याण्डौ ।
आण्डौ	आणीइव ।
नैचाशाखम्	नीचाशाखः । नीचैः शाखः ।
शाखाः	शक्नोतेः ।
आणिः	अरणात् । (खं० ४)
अद्रूपे	अर्दनपातिनौ । गमनपातिनौ । शब्दपा-तिनौ । दूरपातिनौ वा । (खं० ५)
अद्रूवृधा	मर्माणि अर्दनवेधिनौ । गमनवेधिनौ । शब्द-वेधिनौ । दूरवेधिनौ वा ।
रण्यौ	रमणीयौ ; संग्राम्यौ वा । (खं० ५)
ओदनम्	उदकदानम् । (मेघम्) (खं० ६)
सर्वगणम्	सर्वनामानम् । (खं० ८)
गणः	गणनाद् । गुणश्च । (खं० ८)

अथ षष्ठाध्यायः ॥ ६ ॥

प्रथमः पादः ।

(खं० १)

(द्वात्रिंशच्छतं (१३२) पदानि)

[निघ०] आशुशुक्षणिः ॥१॥

(निरु०) "त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्व-मद्भ्यस्त्वमश्मनस्परि । त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्य-स्त्वं नृणां नृपते जायसे शुचिः ॥" (ऋ० सं० २, ५, १७, १) ॥

त्वम्-अग्ने ! द्युभिः = अहोभिः त्वम्-आशुशुक्षणिः । आशु-इति च शु-इति च क्षिप्रनामनी भवतः ।

क्षणिः-उत्तरः । क्षणोतेः ।

'आशु शुचा क्षणोति' इतिवा । सनोति-इतिवा ।

'शुक्' शोचतेः ॥

पञ्चम्यर्थे प्रथमा तथाहि वाक्यसंयोगः ।

'आ-'इति आकार उपसर्गःपुरस्तात्, चिकी-र्षितजःउत्तरः । 'आ-शुशोचयिषुः-' इति ।

'शुचिः' शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः । अयमपि

इतरः शुचिः एतस्मादेव । निषिक्तं पापकम्- अस्मात्-इति नैरुक्ताः ॥ १ ॥

'आशुशुक्षणिः' (१) यह अनवगत है ।-

"त्वमग्ने" यह ऋचा गृत्समद ऋषि की है । जगती छन्द और अग्नि देवता है । प्रातरनुवाक और आश्विनं शस्त्र में विनियोग है ।

हे भगवन् ! अग्ने ! अग्निदेव ! 'त्वम्' तू 'द्युभिः' (अहोभिः) पौर्णमासी आदि दिनोंसे 'जायसे' इन मनुष्यों के द्वारा मथा जाता हुआ उत्पन्न होता है । क्योंकि- "**पौर्णमास्याम् अमावस्यायांवा आदधीत**" 'पूर्णिमा अथवा अमावस्या को अग्नि का आधान करे' यह विधि है । और 'त्वम्' तू "**आशुशुक्षणिः**" आशुशुक्षणि है । सो क्या ? 'आशु' शीघ्र 'शुचा' दीप्ति या प्रकाश से अंधेरे को 'क्षणोति' नाश करने वाला ।

अर्थात्-इस मतमें 'आशुशुक्षणि' इन पांच अक्षरों में पहिले के दो अक्षर "**आशु**" यह शीघ्र का नाम है "**शु**" इस तीसरे अक्षर को उलांघ कर "**क्षणि**" ये पिछले अक्षर हिंसार्थक 'क्षण' (तन० उ०) धातुके हैं । अथवा भजनार्थक 'सन' (तना० उ०) धातु के हैं । और बीच का "**शु**" (शुक्) यह अक्षर प्रकाश अर्थ वाले 'शुच' (भ्वा० प०) धातु का है । इस प्रकार 'आशुशुक्षणि' अग्नि है ।

अथवा 'आशुशुक्षणिः' यह प्रथमा पञ्चमी (आशुशुक्षणेः) के अर्थ में है । क्योंकि-ऐसा होने से वाक्य का संयोग या योजना हो जाती है । इस पक्ष में 'आशुशुक्षणि' यजमान है । अर्थात् हे अग्निदेव तू 'आ' अभिमुखता (संमुखता) से 'शुशुक्षणि'

दीप्सन (जलाने) की इच्छा वाले यजमान से (अरणि आदि के द्वारा) 'जायसे' उत्पन्न होता है। पहिले 'आ' यह आकार उपसर्ग है, और चिकीर्षित या सन्नन्त से उत्पन्न हुआ उत्तर भाग (शुशुक्षणि) है, इस प्रकार 'आशुशुक्षणि' शब्द सिद्ध होता है। क्या इतना ही ? नहीं, हे अग्निदेव ! 'त्वम्' तू 'अद्भ्यः' (जायसे) बिजली के रूप में जलसे उत्पन्न होता है। 'त्वम्' तू 'अश्मनः' परस्पर की रगड़ से 'परि' सब ओर से पत्थर से जन्मता है। 'त्वम्' तू 'वनेवनेभ्यः' काठ से, 'त्वम्' तू 'ओषधीभ्यः' (शरादिभ्यः) शर आदि ओषधियों से हे 'नृ-णां-नृपते !' नरोंके नरपति ! (जायसे) उत्पन्न होता है। और 'शुचिः' तू 'शुचि' प्रकाशमान है ॥

'शुचि' शब्द ज्वलन (जलने) अर्थ वाले 'शुच्' (भ्वा० प०) धातु से है। यह भी दूसरा शुचि (पवित्र) लौकिक शब्द इसी से होता है, यह वैयाकरण मानते हैं, किन्तु नैरुक्त आचार्य— ' 'निष्षिक्तम्' निकला हुआ है 'पापकम्' पाप 'अस्मात्' इससे' इस प्रकार "निर् (उपसर्ग) 'सिच्' (तु० प०) धातु से मानते हैं ॥ १ ॥

(खं० २)

[निघ०-] आशाभ्यः ॥२॥ काशिः ॥३॥ कुणारुम् ॥४॥

(निरु०-) "इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत्।" (ऋ० सं० २, ८, ९, २)

'आशा' दिशो भवन्ति। आसदनात्।

'आशा' उपदिशो भवन्ति । अभ्यशनात् ।
'काशिः' मुष्टिः । प्रकाशनात् ।
'मुष्टिः' मोचनाद्वा । मोषणाद्वा । मोहनाद्वा ।
"इमेचिदिन्द्र रोदसी अपारे यत्संगृभ्णा मघवन्काशिरित्ते ।" (ऋ० सं० ३, २, १, ५)
इमेचिदिन्द्र रोदसी रोधसी द्यावापृथिव्यौ विरोधनात् ।
'रोधः' कूलम् । निरुणद्धि स्रोतः ।
'कूलं' रुजतेर्विपरीतात् । 'लोष्टः' अविपर्ययेण ।
'अपारे' दूरपारे ।
यत्संगृभ्णासि मघवन् काशिस्ते महान् ॥
"अहस्तमिन्द्र सम्पिणक्कुणारुम् ।" (ऋ० सं० ३, ३, २, ३)
अहस्तमिन्द्र कृत्वा सम्पिण्ढि परिक्वणनं मेघम् ॥ २ (१) ॥

'आशाभ्यः' (२) यह अनवगत और अनेकार्थ है । 'आसदन' यह अवगम है ।—

अर्थ—'इन्द्रः' इन्द्र 'सर्वाभ्यः' सब 'आशाभ्यः' दिशाओं से ('परि' पाद पूरण) 'अभयम्' अभय 'करत्' (करोतु) करे ।

'आशा' दिशा होती हैं । क्यों ? आसदन या सब स्थानों में स्थित जैसी रहने से ।

'आशा' उपदिशा (कोण) होती हैं। क्यों ? अभ्य-शन या आपस में एक दूसरी को व्यापन करने से॥

'काशि' (३) मुष्टि (मुट्ठी) होती है। क्यों ? प्रकाशन से। अर्थात् वह प्रकाश की जाती है; 'मुष्टि' क्यों ? अथवा मोचन से। [क्योंकि-वह मोचन की जाती या खोली जाती है।] अथवा मोषणसे। [क्योंकि-मोषण या चोरी की जाती है।] अथवा मोहन से। [क्योंकि-उसके बँधजाने से दूसरा मोहित हो जाता है।]

हे इन्द्र ! 'इमे-चित्' इन 'अपारे' दूर पार वालों 'रोदसी' (रोधसी = द्यावापृथिव्यौ) द्यु (लोक) और पृथिवी लोकों को भी तू 'संगृभ्णा' (संगृभ्णासि) संग्रह करलेता या पकड़लेता है। हे 'मघवन्' ! इन्द्र 'ते' तेरी 'इत्' ही 'काशिः' मुट्ठी आश्चर्य है॥

'रोदसी'क्यों ? विरोधनसे। क्योंकि—ये द्युलोक और पृथिवी लोक सब जगत् को अपने में रोधन करलेते (रोकलेते हैं।]

'रोधस्' कूल (जलका कनारा) भी कहलाता है। क्योंकि वह स्रोत (प्रवाह) को रोकता है।

'कूल' शब्द उलटे हुए 'रुज' (तु०) धातु से है। 'लोष्ट' शब्द इसी धातु से विना उलटे हो जाता है।

'अपारे क्या ? दूर पारे जिनका पार दूर हो।

हे मघवन् जिससे कि-तू द्यावा पृथिवी को पकड़ लेता है, इस से तेरी मुष्टि (मुट्ठी) महान् (बड़ी) है॥

'कुणारुम्' (४) यह अनवगत है। मेघका नाम है।

हे 'इन्द्र !' 'कुणारुम्' (परिक्वणनम्) शब्द करने वाले मेघ को 'अहस्तम्' विना हाथ (कृत्वा) करके 'सपिणक्' सम्पिष्ट चूर्ण करदे॥

[इस प्रकार यहां वध के अधिकार से 'कुवारु' कुत्सन शील का नाम हो सकता है ॥ २ (१) ॥

(खं० ३)

निघ०-अलातृणाः ॥ ५ ॥

निरु०-"अलातृणो बल इन्द्र व्रजो गोः पुरा हन्तोर्भयमानो व्यार । सुगान्पथो अकृणोन्निरजे गाः प्रावन्वाणीः पुरुहूतं धमन्तीः ॥" (ऋ० सं० ३, २, २, ५) ॥

'अलातृणः' अलमातर्दनो मेघः । 'बलः' वृणोतेः । 'व्रजः' व्रजति अन्तरिक्षे । 'गोः' एतस्या माध्यमिकाया वाचः पुरा हननाद् भयमानो व्यार ॥

"सुगान् पथो अकृणोन्निरजे गाः"
सुगमनान् पथः अकरोत् निरजनाय गवाम् ॥
"प्रावन्वाणीः पुरुहूतं धमन्तीः ॥"
आपो वा वहनात् । वाचो वा वदनात् ।
बहुभिः-आहूतम्-उदकं भवति । धमति गतिकर्मा ॥ ३ (२) ॥

'अलातृणः' (५) यह अनवगत है । 'अलमातर्दन' यह अवगम है ।

"अलातृण" इस ऋचा का विश्वामित्र ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द, इन्द्र देवता, पृष्ठ्य अभिप्लव के द्वितीय और पञ्चम दिन में मरुत्वान सूक्त है, तथा यह माध्यन्दिन सवन में अच्छावाक के द्वारा शंस्य की जाती है ।—

अर्थः—हे 'इन्द्र !' यह 'अलातृणः' (अलमातर्दनः) भिगोने को समर्थ (जलसे भराहुआ) 'वलः' मेघ (क्यों ? 'वृणोति' आवरण करता है) 'व्रजः' (अन्तरिक्षे व्रजति) अन्तरिक्षमें चलने वाला 'गोः' (एतस्याः माध्यमिकाया वाचः) इस आपकी मध्यम लोक की वाणी गर्जना से 'हन्तोः' (हननात्) मारने से 'पुरा' पहिले ही 'भयमानः' डरता हुआ 'व्यार' (विश्लथी भवति) ढीला हो जाता है, यो होगया।

तथा उस (मेघ) ने 'गाः' (गवाम्) (अपाम्) जलों के 'निरजे' (निरजनाय = निर्गमनाय) निकलने के लिये 'पथः' (मार्गान्) मार्गों को 'सुगान्' (सुगमनान्) सुन्दरगमनयोग्य 'अकृणोत्' (अकरोत्) किया। और निकले हुए 'वाणीः' (आपः) जल (क्यों ? वहन (बहने) से) 'पुरुहूतम्' (जलोशयम्) जल के स्थान कूप तडाग नदी आदि को 'धमन्तीः' जाते हुए 'प्रावन्' रक्षा करते हैं॥

'पुरुहूत' क्यों ? वह 'पुरुभिः' (बहुभिः) बहुतों से 'हूतम्' (आहूतम्) बुलाया हुआ होता है। 'धम' (ध्मा) (भ्वा० प०) धातु का गमन अर्थ है॥ ३ (२)॥

(खं० ४)

(निघ०-) सलल्लूकम् ॥६॥ कत्पयम् ॥७॥ विस्रुहः ॥८॥ वीरुधः ॥९॥ नक्षद्दाभम् ॥१०॥ अस्कृधोयुः ॥११॥ निशृम्भाः ॥१२॥

(निरु०-) "उद्वृह रक्षः सहमूलमिन्द्र वृश्चा मध्यं प्रत्यग्रं शृणीहि। आ कीवतः सललूकम् चकर्थ ब्रह्मद्विषे तपुषिं हेतिमस्य।" (ऋ० सं० ३, २, ४, २)

उद्धर रक्षः सहमूल मिन्द्र । 'मूलं' मोचनाद्वा । मोषणाद्वा । मोहनाद्वा । वृश्च मध्यं प्रति शृणीहि अग्रम् । 'अग्रम्'-आगतं भवति आकियतो देशात् । 'सलल्रूकम्' संलुब्धं भवति पापकम् इति नैरुक्ताः । सररूकं वा स्यात् सर्त्तेः अभ्यस्तात् ।

'तपुषिः' तपतेः । 'हेतिः' हन्तेः ।

"त्यं चिदित्था कत्पयं शयानम्" (ऋ०सं०४,१,३२,६)

सुखपयसम् । सुखमस्य पयः ।

'विस्रुहः' आपो भवन्ति । विस्रवणात् ।

"वयाइव रुरुहुः सप्त विस्रुहः" (ऋ०सं०४,५,९,६) इत्यपि निगमो भवति ।

'वीरुधः' ओषधयो भवन्ति । विरोहणात् ।

"वीरुधः पारयिष्णवः" [ऋ० सं० ८, ५, ८, ३] इत्यपि निगमो भवति ॥४॥

'नक्षद्दाभम्' अश्नुवानदाभम् । अभ्यशनेन दभ्नोति-इति ।

"नक्षद्दाभं ततुरिं पर्वतेष्ठाम्" (ऋ० सं० ४,६,१३,२) इत्यपि निगमो भवति ।

'अस्कृधोयुः' अकृध्वायुः । 'कृधु' इति ह्रस्वनाम । निकृत्तं भवति ।

" यो अस्कृधोयुरजरः स्ववान् " (ऋ०सं० ४, ६, १३, ३) इत्यपि निगमो भवति ॥

' निशृम्भाः ' निश्रथ्यहारिणः- ॥ ४ (३) ॥

'सललूकम्' (६) यह अनवगत है। 'संलुब्धम्' अथवा 'सरूकम्' शब्द- समाधि है।

'उद्वृहरक्षः' का "अलातृण" के समान विनियोग है। (नि० ६,१,३)

हे ' इन्द्र ! ' ' सहमूलम्' जड़-समेत 'रक्षः' राक्षस को 'उद्वृह' (उद्धर) उखाड़दे। इसके 'मध्यम्' बीच को 'वृश्च' (वृश्च) छेददे। 'अग्रम्' इसके आगेको 'प्रति-शृणीहि' काटदे ' आकीवतः ' (आ कियतो देशात्) किसी स्थान से भी (इसे उखाड़दे) [जिससे वितर्क करने वालों को भी यह पता न चलसके कि- कहां से इसे नष्ट किया। या इस का कुछ भी शेष न रहे ऐसा खोदे।] तथा इसे उखाड़ कर 'सललकम्' सहाय रहित (पक्षरहित) 'चकर्थ' (कुरु) करदे। 'ब्रह्मद्विषे' इसब्राह्मणके द्वेषी (शत्रु)के लिये 'तपुषिम्' ताप देनेवाली 'हेतिम्' (हन्त्रीम्)हनन करनेवाली आयुध जातिको 'अस्य' (क्षिप) फेंक॥ 'मूल' कैसे? मोचन (छोड़ने) से। [क्योंकि-वह छोड़ा जाताहै।] अथवा मोषण (चोरी से। [क्योंकि-वह लुकाया हुआ होता है।] अथवा मोहन से। [क्योंकि-उसके ढूंढने में ' कहां है ' ऐसा मोह होता है।]

' अग्र' क्यों? वह आगत (आया हुआ) होता है।

'सललूक' संलुब्ध (विज्ञान या गति-शून्य) होता है।

पापतर (अधिक पाप) यह नैरुक्त [कहते हैं।] अथवा 'सरूक' का 'सललूक' है। (सरूक) गति अर्थ में अभ्यस्त (दोहराएहुए) 'सृ (जु० प०) धातु से है। 'तपुषि' शब्द

संताप अर्थ में 'तप' (भ्वा०प०) धातु से है। [क्यों कि–वह ताप देने वाली होती है।]

'हेति' हिंसार्थक 'हन' (अदा० प०) धातु से है। क्यों कि–उससे हनन किया जाता है।]

'कल्पयम्' (७) यह अनवगत है। 'कपयम्' यह अवगम है।—

" 'त्यम्' (तम्) उस (मेघ) को 'चित्' (अनर्थक) 'कल्पयम्' (सुखपयसम्) सुखकारी जल वाला बनाकर 'शयानम्' (असूर्यम्) प्रकाश रहित करके (जघान) मारा"। ['यहां इन्द्र ने मारा' इस संबन्ध से 'कल्पयः' सुखपयः (सुखजल) सिद्ध होता है।]

'विस्रुह्' (८) जल होते हैं। [क्यों कि-] विशेष कर स्रुत होते (झरते) हैं।

" 'वयाः' (शाखाः) शाखाओं के 'इव' समान [पृथिवी के ऊपर] 'सप्त' फैलने वाले सात 'विस्रुहः' जल (समुद्र) 'रुरुहुः' नदी आदि के रूप से फैले हुए हैं।" यह भी निगम है।

'वीरुध्' (९) (अनवगत) ओषधिएं होती हैं। क्यों ? विरोहण (पृथ्वी को भेदकर उगने) से।

" 'वीरुधः' ओषधिएं 'पारयिष्ण्वः' (तारयित्र्यः) रोगों से पार करने वाली हों" यह भी निगम होता है। [इस मन्त्र में 'पुष्पवती' आदि विशेषणों के सम्बन्ध से 'वीरुध्' नाम ओषधियों का सिद्ध होता है।]

'नक्षद्दाभम्' (१०) यह अनवगत है।—

'नक्षद्दाभ' अश्नुवानदाभ होता है। क्यों कि–यह अभ्यशन (अपने व्यापन) से मारता है।

"नक्षद्दाभं ततुरिं पर्वतेष्ठाम्" अर्थात्– 'नक्षद्दाभम्' अपने व्यापने से मारने वाले 'ततुरिं' त्वरा (शीघ्र) स्वभाव

वाले 'पर्वतेष्ठाम्' पर्वत (मेघ) पर रहने वाले (इन्द्रम्) इन्द्र को। यह भी निगम होता है (

'अस्कृधोयुः' (११) अनवगत अकृध्वायु (दीर्घायु) का नाम है।-

'अस्कृधोयु' क्या? अकृध्वायु। सो क्या? 'कृधु' यह ह्रस्व का नाम है। (उस का निषेध 'अकृधु' (दीर्घ) आयु जिस का हो।)

" 'यः' जो (पुत्र) 'अस्कृधोयुः' दीर्घ आयु वाला 'अजरः' दृढ शरीर 'स्ववान्' शत्रुओं का भगाने वाला हो" यह भी निगम है।

'निशृम्भाः' (१२) यह अनवगत है। 'निश्रथ्यहारिणः' यह अवगम है।-

'निशृम्भ' (१२) निश्रथ्यहारी न थक कर हरने वाले होते हैं॥ ४ (३)॥

(खं० ५)

[निघ०-]बृबदुकथम्॥१३॥ ऋदूदरः॥१४॥ ऋदूपे॥१५॥ पुलुकामः॥१६॥ असिन्वती ॥१७॥ कपनाः॥१८॥ माकर्जीकः॥१९॥ रुजानाः॥२०॥ जूर्णिः॥२१॥ ओमना ॥२२॥

(निरु०-) "आजासः पूषणं रथे निशृम्भास्ते जनश्रियम्। देवं वहन्तु बिभ्रथः।" (ऋ०सं०४,८,२१,६)

आवहन्तु अजाः पूषणं रथे निश्रथ्यहारिणस्ते। 'जनश्रियं' जातश्रियम्।

'बृबदुक्थः' महदुक्थः । वक्तव्यम्–अस्मै–उक्थम् इति बृबदुक्थो वा ।

"बृबदुक्थं हवामहे" (ऋ० सं० ६, ३, २, ५) इत्यपि निगमो भवति ।

'ऋदूदरः' सोमः । मृदूदरः । मृदुः–उदरेषु इतिवा ।

"ऋदूदरेण सख्या सचेय" (ऋ० सं० ६, ४, १२, ५) इत्यपि निगमो भवति ।

'ऋदूप' इति- उपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः ।

'पुलुकामः' पुरुकामः ।

"पुलुकामो हि मर्त्यः" (ऋ० सं० २, ४, २२, ५) इत्यपि निगमो भवति ।

'असिन्वती' असंखादन्त्यौ ।

"असिन्वती बप्सती भूर्यत्तः" (ऋ० सं० ८, ३, १४, १) इत्यपि निगमो भवति ।

'कपनाः' कम्पनाः क्रिमयो भवन्ति ।

"मोषथा वृक्षं कपनेव वेधसः" (ऋ० सं० ४, ३, १५, १) इत्यपि निगमो भवति ।

'भाऋजीकः' प्रसिद्धमाः ।

"धूमकेतुः समिधा भाऋजीकः" (ऋ० सं० ७, ६, ११, २) इत्यपि निगमो भवति ।

'रुजानाः' नद्यो भवन्ति । रुजन्ति कूलानि ।

"संरुजानाः पिपिष इन्द्रशत्रुः" (ऋ० सं० १, २, ३७, १) इत्यपि निगमो भवति ॥

'जूर्णिः' जवते र्वा । द्रवते र्वा । दूनोते र्वा ।

"क्षिप्रा जूर्णिर्न वक्षति" (ऋ०सं० २,१,१७,३) इत्यपि निगमो भवति ।

"परिंसमोमना वां वयोऽगात्" ॥ (ऋ० सं० ५, ५, १६, ४) पर्यगाद् वां प्रंसमहः– अवनाय अन्नम् ॥ ५ (४) ॥

इति षष्ठाध्यायस्य प्रथम. पादः समाप्तः ॥६, १॥

"आजासः" यह ऋचा भरद्वाज ऋषि की है ।–

अर्थः–'ते' वे 'आजासः' (अजाः) नहीं जन्म लेने वाले (नित्य) 'निघृम्भाः' (निश्चयहारिणः) हठ गति से हरने वाले (चलने वाले) घोड़े 'जनश्रियम्' जातश्रियम् प्रकट हुई श्री वाले 'रथे' रथमें बैठे हुए 'पूषणम्' पूषा 'देवम्' देव को 'बिभ्रतः' धारण करते हुए 'आवहन्तु' लावें ।

'बृबदुक्थ' (१३) (अनवगत) 'महदुक्थ' (जिसका बड़ा उक्थ या शस्त्र हो) होता है । अथवा वक्तव्य (कहने योग्य) इसके अर्थ उक्थ है, इस से 'बृबदुक्थ' है ।

"बृबदुक्थं हवामहे" अर्थात्– 'बड़े उक्थ (शस्त्र) वाले अथवा जिसके लिये उक्थ (शस्त्र) वक्तव्य (कहनेयोग्य) है, उस (इन्द्र) को 'हवामहे' हम बुलाते हैं ।' यह भी निगम है ॥

'मृदूदर' (अनवगत) सोम होता है। क्यों ? वह मृदूदर होता है, अर्थात् उसका उदर मृदु होता है, या ' वह पीया हुआ उदर (पेट) में मृदु (कोमल) रहे ऐसे वचन की आशङ्का से प्रार्थना की जाती है, इससे वह मृदुदर होता हुआ 'मृदूदर' होता है।

" ऋदूदरेण सख्या सचेय" अर्थात्-' सख्या ' किसी मित्र पुरुषके साथ जैसे, ' ऋदूदरेण ' (सोमेन) सोमके साथ 'सचेय' संयुक्त होऊँ, [जिस प्रकार से कि-मैं इस सोमसे हिंसित न हूं ।] यह भी निगम होता है।

'ऋदूपे' (१५) इसकी व्याख्या आगे करेंगे। (पा०६खं.५)

'पुलुकाम' (१६) (अनवगत) पुरुकाम (बहुत कामना वाला) होता है।

" पुलुकामोहि मर्त्यः " अर्थात्-'हि' क्योंकि-'मर्त्यः' मनुष्य ' पुलुकामः ' बहु कामनाओं वाला होता है, यह भी निगम होता है॥

'असिन्वती' (१७) (अनवगत) 'असंखादन्त्यौ (नहीं खाने वालीं) के अर्थ में है।

"असिन्वती बप्सती भूर्यत्तः" अर्थात्-ये अग्नि देव की दो ज्वालाएँ 'असिन्वती' नहीं खाती हुईं जैसी 'बप्सती' (इस प्रकार शीघ्र) भक्षण करती हुईं 'भूरि' बहु काष्ठमात्रको या हविः-मात्र को 'अत्तः' (फिर भी) खाती हैं, । यह भी निगम है।

'कपनाः' (१८) (अनवगत) 'कम्पना.' (कँपाने वाले) के अर्थ में है। वे कौन ? क्रिमि (कीड़े) होते हैं। (क्योंकि-वे वृक्षको कम्पित करदेते हैं।)

"मोषथा वृक्षं कपनेव वेधसः" अर्थात्–हे मरुतो ! तुम 'कपनाः' कँपाने वाले 'वेधसः' वेधने वाले कीड़े 'वृक्षम्-इव' वृक्षको जैसे 'मोषथा' (मोषथ) (मेघको) भेदन करो, । यह भी निगम है ।

'भाऋजीकः (१६) (अनवगत) 'प्रसिद्धभाः' (प्रसिद्ध कान्तिवाले) के अर्थ में है ।

" धूमकेतुः समिधा भाऋजीकः" अर्थात्–हे अग्नि देव ! तू ' धूमकेतुः ' धूम से जाना जाता या धूमरूप केतु (ध्वजा) वाला है, 'समिधा' धमाने से 'भा ऋजीकः' चमकने वाला है । यह भी निगम होता है ।

'रुजानाः' (२०) (अनवगत) है । 'रुजान, क्या ? नदी होती हैं । क्यों ? वे कूलों (तटों) को रुजन (भंग) करती हैं ।

"संरुजानाः पिपिष इन्द्रशत्रुः" अर्थात्-' इन्द्रशत्रुः ' इन्द्र का शातयितव्य (वध्य) मेघ ' संरुजानाः ' नदियों के प्रति 'पिपिषे' चूर्ण होगया, । यह भी निगम होता है ॥

' जूर्णिः ' (२१) (अनवगत) अथवा हिंसार्थक ' ज ' (भ्वा०प०) धातुसे है । अथवा गत्यर्थक 'द्रु' (भ्वा० प०) धातुसे है । अथवा हिंसार्थक 'दू' (स्वा० प०) धातु से है ।

"क्षिप्ता जूर्णि र्न वक्षति" अर्थात्–'क्षिप्ता' राक्षसों की फेंकी हुई 'जूर्णिः' शक्ति (अस्त्रविशेष) ' न-वक्षति' हमारे ऊपर न आवेगी, । यह भी निगम होता है ॥

' ओमना ' (२२ (अनवगत) ('अवनाय') रक्षा या तृप्ति के लिये के अर्थ में) है ।

" परिंश्रमोमना वां-वयो ऽगात् " अर्थात्–हे

अश्विनौ ! 'घ्रंसम्' (अहः) प्रतिदिन 'वाम्' तुम दोनों के प्रति 'श्रोमना' (अवनाय) तृप्ति के अर्थ 'वयः' (अन्नम्) (घृत आदि) 'परि-अगात्' सब दिशाओं से जाता है ॥ ५ (४) ॥

इति हिन्दी निरुक्ते षष्ठाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥६, १॥

द्वितीयः पादः ।

(खं० १)

निघ०- उपल प्रक्षिणी ॥ २३ ॥

निरु०- 'उपलप्रक्षिणी' उपलेषु प्रक्षिणाति। उपलप्रक्षेपिणी वा। इन्द्र ऋषीन् पप्रच्छ-'दुर्भिक्षे केन जीवति' इति। तेषामेकः प्रत्युवाच—

"शकटं शाकिनी गावो जालमस्यन्दनं वनमुदधिः पर्वतो राजा दुर्भिक्षे नव वृत्तय" इति सा निगदव्याख्याता) ॥ १ (५) ॥

अर्थः—'उपलप्रक्षिणी' (२३) (अनवगत) [सत्तू बनाने वाली स्त्री का नाम है।] क्यों ? वह यवों (जवों) को उपलों (पत्थरों) पर प्रक्षीण करती (कूटती या पीसती) है। अथवा वह तपाए हुए उपलों पर भूंजने के लिये यवों को प्रक्षेपण करती या डालती है। [सो वह 'उपलप्रक्षेपिणी' को 'उपलप्रक्षिणी' (भड़भूजी) कही जाती है।)

[इन्द्र ने ऋषियों से पूछा-दुर्भिक्ष (अकाल) में किस उपाय से मनुष्य जी सकता है ? उनमें एक ने उत्तर दिया कि- "शकट (गाड़ी, शाकिनी (शाककी भूमि) गोएँ, जाल (जलसे मछली आदि को पकड़ना), अस्यन्दन (दहर),

वन, समुद्र, पर्वत, और राजा दुर्भिक्ष में नव (६) वर्तिए होती हैं" सो यह पाठमात्र से ही व्याख्यान की गई है।] ॥ १ (५) ॥

(खं० २)

निघ०- उपासि ॥२४॥ प्रकलवित् ॥२५॥ अभ्यर्द्धयज्वा ॥ २६ ॥ ईक्षे ॥ २७ क्षोणस्य ॥ २८ ॥

निरु०- " कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना नाना धियोवसूयवोऽनु गा इव तस्थिमेन्द्रा येन्दो परिस्रव ॥ " (ऋ० सं० ७, ५, २५, ३) ॥

' कारुः-अहम्-आस्मि ' । कर्त्ता स्तोमानाम् । ततो भिषक् । ' तत ' इति सन्ताननाम, पितुर्वा पुत्रस्य वा । 'उपलप्रक्षिणी' सक्तुकारिका । 'नना' नमतेः । माता वा । दुहिता वा । ' नानाधियो ' नानाकर्माणः । 'वसूयवो' वसुकामाः । अन्वास्थिताः स्मो गाव इव लोकम् । 'इन्द्रायेन्दो परिस्रव' इति-अध्येषणा ॥

"आसीन ऊर्ध्वामुपसि क्षिणाति।" [ऋ० मं० ७, ७, १७, ३] उपस्थे ॥

' प्रकलविद् ' वणिग् भवति । कलाश्च वेद प्रकलाश्च ।

" दुर्मित्रासः प्रकलविन्मिमानाः " (ऋ० सं० ५, २, २६, ५,) इत्यपि निगमो भवति ॥

'अभ्यर्द्धयज्वा' अभ्यर्द्धयन् यजति ।

"सिषक्ति पूषा अभ्यर्द्धयज्वा" (ऋ० सं ४, ८, ८, ५) इत्यपि निगमो भवति ॥

'ईक्षे' ईशिषे ।

"ईक्षेहि वस्व उभयस्य राजन्" (ऋ०सं० ४,६, ८, ५) इत्यपि निगमो भवति ॥

'क्षोणस्य' क्षयणस्य ।

"महः क्षोणस्याश्विना कण्वाय" [ऋ० सं० १, ८, १४, ३] इत्यपि निगमो भवति ॥ २ (६) ॥

"कारुरहम्" यह ऋचा शिशु आंगिरस ऋषि की है। पङ्क्ति छन्द और इन्द्र देवता है। ऐसा स्मरण होता आया है कि–सोम के निचोड़ने पर जब वह न झरा (छना) तो ऋषि को आशंका हुई कि–यह मेरे दुष्कृत या पाप के कारण से नहीं झरता है और अपने पाप को अपने मुख से कहने से आत्मा की शुद्धि होती है, इस कारण ऋषि इस मन्त्र में अपना ही निर्देश करता हुआ कहता है—

अर्थः–हे' इन्दो ! सोम ! ' अहम् ' मैं ' कारुः ' (कर्त्ता स्तोमानाम्) किसी अनादि कालमें दूसरोंके यज्ञ कर्ममें होता के रूप में कारु या स्तुतिओंका करने वाला (अस्मि) हूं या था, अथवा यज्ञसे अलग अपनी जीविका के अर्थ लौकिक बनावटी बातोंसे औरों के लिये मिठ बोला था। 'ततः' मेरा पिता अथवा पुत्र (क्योंकि–'तत' इति सन्तान-नाम, पिंतुर्वा

निरुक्तार्थ—मैं कारु हूं या था। 'कारु' क्या? स्तोमों (स्तुतिओं) का करने वाला। (मेरा) 'तत' भिषक् (वैद्य या ब्रह्मा) था। 'तत' यह सन्तान का नाम है। अथवा पिताका अथवा पुत्र का। 'उपलप्रक्षिणी' सत्तुओं को बनाने वाली। 'नना' 'नम' (भ्वा० पं०) धातु से है। अथवा माता। अथवा पुत्री। 'नानाधी' क्या? नाना (अनेक) कर्मों के करने वाले। 'वसूयु' क्या? वसुओं धनों की कामना वाले। हम लोक के प्रति गौओं के समान अनुचर रूप से स्थित थे। हे इन्दो! (सोम!) तू इन्द्र के लिये झर। यह अध्येषणा (सत्कार-पर्वक किसी पूज्य या प्रतिष्ठित को प्रेरणा) है [इस मन्त्र में अपने दोषों को अपने मुख से कहने की महानुभावता और एक जीव के अनेक जन्मों का निदर्शन मिलता है तथा जन्म-कृत जाति की पुष्टि होती है, या जन्म का आत्मा पर बहुत काल तक पूरा प्रभाव रहता है, इत्यादि बातों का स्पष्ट वर्णन है।]

'उपसि' (२४) अनवगत 'उपस्थे' (ऊपर के स्थान में) के अर्थ में है।

"आसीन ऊर्ध्वामुपसिक्षिणाति" अर्थात्-'आसीनः' मध्यस्थान में बैठा हुआ इन्द्र 'ऊर्ध्वाम्' ऊपर स्थित हुई द्युलोक रूप गौ को 'उपसि (उपस्थे) अपने ऊपर (अन्तरिक्ष लोक में) 'क्षिणाति' (क्षारयति) झारता है॥ 'उपस्थि' ऊपर के स्थान में॥

'प्रकलवित्' (२५) (अनवगत) वणिक् (वाणिज्य करने वाला) होता है। क्यों? वह कलाओं को और प्रकलाओं को जानता है। ['कला' उपयोगी चतुराई के कामों को कहते हैं,

और उन्हीं के भीतरी भेदों को 'प्रकला' कहते हैं ।]

"दुर्मित्रासः प्रकलविन्मिमानाः" अर्थात्–'दुर्मित्राः' दुमित्र होकर भी अधिक सोच विचार रखने वाले (कंजूस) 'प्रकलविदः' (वणिजः) वाणिए', वे जिस प्रकार 'मिमानाः' मांप कर देते हुए [अल्प (कम) देते हैं] यह भी निगम है ।

'अभ्यर्द्धयज्वा' (२६) (अनवगत) 'अभ्यर्द्धयन्यजति' (जो बढ़ाता हुआ यजन (दान) करता है) के अर्थ में है ।–

"मिषक्ति पूषा अभ्यर्द्धयज्वा" अर्थात्– 'पूषा सूर्य अपनी रश्मियों (किरणों) से 'अभ्यर्द्धयज्वा' बड़े दान वाला 'सिषक्ति' सेचन करता (बरसता) है । यह भी निगम है ।

'ईक्षे' (२७) (अनवगत) 'ईशिषे' (तू प्रभु होता है) के अर्थ में है ।–

"ईक्ष हि वस्व उभयस्य राजन्" अर्थात् हे राजन् ! राजमान देव ! हि' क्यों कि– (त्वम्) तू 'उभयस्य' धुलोक और पृथिवी लोक के 'वस्वः' (वसुनः) धन का 'ईक्षे' (ईशिषे) स्वामी है । यह भी निगम है । यहां धन के सम्बन्ध से 'ईक्षे' 'ईशिषे' के अर्थ में सिद्ध होता है ।

'क्षोणस्य (२८) (अनवगत) 'क्षयणस्य' (घर के) के अर्थ में है ।–

"महः क्षोणस्याश्विना कण्वाय" अर्थात् 'अश्विना' हे (अश्विनौ !) अश्विनो ! 'कण्वाय' कण्व ऋषि के लिये 'महः' (महतः) बड़े 'क्षोणस्य' (क्षयणस्य) घर के (दातारौ) देने वाले हो । यह भी निगम है ॥ यहां दानके सम्बन्ध से 'क्षोण' नाम घरका है ॥ २ (६) ॥

(खं० ३)

[निघ०-] अस्मे ॥२९॥ पाथः ॥३०॥ सवीमानि ॥३१॥ सप्रथाः ॥३२॥ विदथानि ॥३३॥

(निरु-) "अस्मे ते बन्धुः" वयम्-इत्यर्थः ।

"अस्मे यातं नासत्या सजोषाः" (ऋ०सं० १,८, १९, ६) अस्मान्-इत्यर्थः ।

"अस्मे समानेभिर्वृषभ पौंस्येभिः" (ऋ०सं०२,३, २५, २,) अस्माभिः-इत्यर्थः ॥

"अस्मे प्रयन्धि मघवन्नृजीषिन्" (ऋ०सं०३,२, २०, ५) अस्मभ्यम्-इत्यर्थः ।

"अस्मे आराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु" (ऋ०सं० ४, ७, ३२, ३) अस्मत् इत्यर्थः ।

"ऊर्व इव पप्रथे कामो अस्मे" (ऋ० सं० ३,२,४,४) अस्माकम्-इत्यर्थः ।

"अस्मे धत्त वसवो वसूनि" अस्मासु-इत्यर्थः ।

'पाथः' अन्तरिक्षम् । पथा व्याख्यातम् ।

"श्येनो न दीयन्नन्वेति पाथः" (ऋ० सं० ५, ५, ५, ५) इत्यपि निगमो भवति ।

उदकम् अपि 'पाथः' उच्यते । पानात् ।

"आचष्ट आसां पाथो नदीनाम् ।" (ऋ० सं० ५, ३, २५, ९-१०) इत्यपि निगमो भवति ॥

अन्नम्-अपि 'पाथः' उच्यते । पानादेव ।

"देवानां पाथ उपवक्षि विद्वान् ।" (ऋ० सं० ८, २, २२, ५) इत्यपि निगमो भवति ॥

'सवीमनि' प्रसवे ।

"देवस्य वयं सवितुः सवीमनि ।" (ऋ० सं० ५, १, १५, २) इत्यपि निगमो भवति ॥

'सप्रथाः' सर्वतः पृथुः ।

"त्वमग्ने सप्रथा असि ।" (ऋ० सं० ४, १, ५, ४) इत्यपि निगमो भवति ॥

'विदथानि' वेदनानि ।

"विदथानि प्रचोदयन् ।" (ऋ० सं० ३, १, १९, २) इत्यपि निगमो भवति ॥ ३ (७) ॥

'अस्मे (२६) यह पद सर्वविभक्त्यन्त है, इसीसे अनेकार्थ है । अर्थात् एक ही 'अस्मे' यह शब्दरूप सातों विभक्तिओं के अर्थ में रहता है, प्रकरण के अनुसार उसका नियम होता है, जैसे कि—पहिले प्रथमा विभक्ति में उदाहरण है—

"अस्मे ते बन्धुः" 'अस्मे' (वयम्) हम 'ते' तेरे (बन्धुः) बन्धु हैं । यह अर्थ है ।

(२ या-) "अस्मे यातं नासत्या सजोषाः"

'नासत्या' (नासत्यौ) हे अश्विनो ! (युवाम्) तुम दोनों स-जोषाः' मेरे साथ प्रीति करते हुए या आपस में प्रीति करते हुए 'अस्मे' (अस्मान्) (प्रति) मेरे पास 'आ-यातम्' आओ। यहां 'अस्मे' का 'अस्मान्' द्वितीयान्त का अर्थ है।

(३ या-) "अस्मे समानेभिर्वृषभ पौंस्येभिः"

'वृषभ' हे कामों के बरसने वाले इन्द्र देव ! 'समानेभिः' (समानैः) समान 'पौंस्येभिः' बल वालों 'अस्मे' (अस्माभिः) हम मरुतों के साथ ही [तुमने बहुत कर्म किये हैं।] [यहां 'समानेभिः' 'पौंस्येभिः' इन पदों के साथ सम्बन्ध होने के कारण 'अस्मे' यह 'अस्माभिः' (हमसे) तृतीया के अर्थ में है।]

(४ वीं) "अस्मे प्रयन्धि मघवन्नृजीषिन्"

'मघवन्' हे इन्द्र ! 'ऋजीषिन्' ऋजीष (सोम के खुखस) वाले ! 'अस्मे' (अस्मभ्यम्) हमारे अर्थ 'प्रयन्धि' (देहि) धन दे। यहां दान के सम्बन्ध से 'अस्मे' यह 'अस्मभ्यम्' (हमारे लिये) के अर्थ में है॥

(५ मी-) "अस्मे आराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु"

(इन्द्रः) इन्द्रदेव 'अस्मे' (अस्मत्) हम से 'आराच्चित्' दूर कहीं ले जा कर 'सनुतः' हमसे परोक्ष 'द्वेषः' पाप को 'युयोतु' (नाशयतु) नाश करे। यहां 'आरात्' (दूर) पद के योग से 'अस्मे' (अस्मत्) यह पञ्चमी के अर्थ में है।

(६ ठी-) "ऊर्व इव पप्रथे कामो अस्मे" हे इन्द्र ! 'अस्मे' (अस्माकम्) हमारा 'कामः' काम या मनोरथ 'ऊर्वः-इव' बडवानल अग्नि के समान 'पप्रथे' (प्रथते) बढ़ता है, या बढ़े। यहां 'कामः' पद के साथ सम्बन्ध होने के कारण 'अस्मे' यह 'अस्माकम्' (हमारा) के अर्थ में षष्ठी का रूप है।

(७ वीं) "अस्मे धत्त वसवो वसूनि" हे 'वसवः' वसुओ ! 'अस्मे' (अस्मासु) हम में 'वसूनि' (धनानि) धनों को 'धत्त' तुम धारण करो ॥ यहां धारण क्रिया के संबन्ध से 'अस्मे' यह (अस्मासु) हममें इसके अर्थ में अधिकरण कारक में सप्तमी है ॥

'पाथः' (अनवगत और अनेकार्थ) अन्तरिक्ष (आकाश) होता है। इसकी 'पथिन्' (पन्थाः) के समान व्याख्या है।

"श्येनो न दीयन्नन्वेति पाथः" अर्थात्—सूर्यदेव 'श्येनः-इव' बाज के समान 'दीयन्' (गच्छन्) गमन करता हुआ 'पाथः' अन्तरिक्ष (आकाश) में 'अन्वेति' देवनिर्मित मार्ग से जाता है। यह भी निगम है। यहां सूर्य के वर्णन के सम्बन्ध से 'पाथः' अन्तरिक्ष है।

उदक (जल) भी 'पाथस्' (पाथः) कहा जाता है। क्यों? पान से। अर्थात् वह पीया जाता है, इससे 'पाथस्' है।

"आचष्ट आसां पाथो नदीनाम्" अर्थात्-(वरुणः) वरुण देव 'आसाम्' इन 'नदीनाम्' नदियों के 'पाथः' जलको 'आचष्टे' (कथयति-इव) कहता जैसा है। यह भी निगम है॥ यहां नदियों के संबन्ध से 'पाथः' जल है।

अन्न भी 'पाथः' कहा जाता है। क्यों? पानसे। अर्थात् वह भी प्राणधारण के लिये पीया जाता है।

"देवानां पाथ उपवक्षि विद्वान्" अर्थात्—हे (वनस्पते!) वनस्पति देव! 'विद्वान्' अपने अधिकार को जानने वाला (त्वम्) तू 'देवानाम्' देवताओं को 'पाथः' हविः-रूप अन्न 'उपवक्षि' पहुंचाता है। यह भी निगम है। यहां देव-

ताओं के पास पहुंचाने के संबन्ध से 'पाथः' अन्न है ॥

'सवीमनि' (३१) शब्द 'प्रसवे' (आज्ञा में) के अर्थ में है।

"देवस्य वयं सवितुः सवीमनि" अर्थात्- 'वयम्' हम 'सवितुः' सूर्य 'देवस्य' देव के 'सवीमनि (प्रसवे) आज्ञा में (रहते हैं)। यह भी निगम है। यहां सूर्य देवके सबन्ध से 'सवीमनि' 'प्रसवे' (आज्ञामें) के अर्थ में है ॥

'सप्रथाः' (३२) क्या ? 'सर्वतः पृथुः' सब ओर मोटा।

"त्वमग्ने सप्रथा असि" 'अग्ने' हे अग्निदेव ! (त्वम्) तू 'सप्रथाः' सब ओर से मोटा 'असि' है ॥ यहां शब्द की सामानता और अर्थ के घटनेसे 'सप्रथाः' 'सर्वतःपृथुः' के अर्थ में है ॥

'विदथानि' (३३) पद 'वेदनानि' (विज्ञान) के अर्थ में है।

"विदथानि प्रचोदयन्" विज्ञानों को अनुग्रह करता हुआ'। यह भी निगम है। क्योंकि-अग्नि देव के प्रकाश से ही सब विज्ञान (प्रत्यक्षज्ञान) अनुगृहीत होते हैं,इससे यहां 'विदथ' नाम विज्ञान का है ॥ ३ (७) ॥

(खं० ४)

निघ०-आयन्तः ॥३४॥ आशीः ॥३५॥

निरु०-"आयन्त इव सूर्य्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत। वसूनि जाते जनमान ओजसा प्रतिभागं न दीधिम ॥" (ऋ० सं० ६, ७, ३, ३]

समाश्रिताः सूर्यं मुपतिष्ठन्ते ।

अपिवा उपमार्थे स्यात्। सूर्यमिवइन्द्रम्-उपतिष्ठन्ते-इति । सर्वाणि इन्द्रस्य धनानि विभक्षमाणाः । सयथा धनानि विभजति, जाते च जनिष्यमाणे च । तं वयं भागम्- अनुध्यायाम ओजसा बलेन ।

'ओजः' ओजते र्वा । उब्जते र्वा ॥

'आशीः' आश्रयणाद् वा । आश्रपणाद् वा ॥

अथ-इयम्-इतरा 'आशीः' आशास्तेः ॥

" इन्द्राय गाव आशिरम् " (ऋ० सं० ६, ५, ६, १) इत्यपि निगमो भवति ॥

"सामे सत्याशीर्देवेषु" इति च ॥ ४ ॥

'आयन्तः' ३४) अन्तर्गत 'समाश्रिताः' (किसी में रहे हुए) के अर्थ में है ।

अर्थः—"आयन्तइव" इस ऋचाका बृहती छन्द है नृमेध आङ्गिरस ऋषि है । महाव्रतमें बृहती सहस्रमें विनियोग है ।

प्रथम पक्षमें—'इव' (अनर्थक है) (रश्मयः) रश्मिएं 'आयन्तः' (समाश्रिताः) सब प्रकार आश्रित हुये हुये 'सूर्य्यम्' सूर्य को (उपतिष्ठन्ते) उपस्थान करते हैं । (अपिवा) दूसरे पक्ष में 'इव' उपमा अर्थ में है । अर्थात्—'सूर्यम्-इव' सूर्य को जैसे, (इन्द्रम् उपतिष्ठन्ते) इन्द्र को उपस्थान करते हैं । कैसे ? "विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत" 'इत्' (अनर्थक) सूर्य के 'विश्वा' (विश्वानि) सब 'वसूनि' धनों को ' इन्द्रस्य ' इन्द्र की 'भक्षत'

(विभक्ष्यमाणाः) बांटने की इच्छा करते हुये। [रश्मियें जिस प्रकार प्रति दिन सूर्य को उपस्थान करते हैं, उसी प्रकार मध्य लोक में रहने वाले जल के स्वामी इन्द्र को भी उपस्थान करते हैं।] और (सः–यथा) सो आदित्य अथवा इन्द्र जिस प्रकार 'जाते' उत्पन्न हुये प्राणिमात्र में 'जनमाने' (जनिष्यमाणे) (च) और उत्पन्न होने वाले प्राणिमात्र में 'वसूनि' (धनानि) धनों को 'ओजसा' (बलेन) अपने ऐश्वर्य बलसे (विभजति) बांटता है, उसी प्रकार बांटे हुये (तं) उस 'भागम्' 'प्रति' भागको हम 'न' (अनर्थक) दीधिम' (अनुध्यायाम) अनुचिन्तन करते (चाहते) रहते हैं। [अर्थात्–हम इन्द्र देव के दिये हुए धनादि को भोगना चाहते हैं, किन्तु अन्याय से मिले हुये को नहीं।] यहां पर 'आयन्त इव सूर्यम्' (सूर्य को आश्रित होते हुये) इस प्रकार सूर्य के संबन्ध से पहिले रश्मियों का अध्याहार होता है, और फिर रश्मि के संबन्ध से 'आयन्तः' यह पद 'समाश्रिताः' के अर्थ में प्रतीत होता है।

'ओजः' (बल) वृद्धि अर्थ में 'उज' (चु० अ० पं०) धातु से अथवा न्यग्भाव (नीचा करना) अर्थ में 'उब्ज' (तु०प०) धातुसे है। [क्योंकि–वह बढ़ाया जाता है,या उससे शत्रु नीचा किया जाता है।]

'आशीः' (३५) यह अनवगत और अनेकार्थ है। 'आशिर' (दही) यह अर्थ की प्रतीति है।—

'आशीः' (३५) (आशिर = दधि) क्यों ? 'आश्रयणाद्वा' अथवा आश्रयण से। क्योंकि–वह यजमान की वृतधुक् नाम गोसे दोहा जाता है, और फिर सोम में आश्रित किया (रखा) जाता है। इसीसे यह आश्रित होता हुआ 'आशीः' कहा जाता है। 'आश्रपणाद् वा' अथवा आश्रपण (पकाया जाने) से।

क्योंकि-वह दही बनाने के अर्थ कुछ पकाया जाता है।

और यह दूसरी (लौकिक) 'आशीः' (प्रार्थना = आशीर्वाद) आ (ङ्) उपसर्ग 'शास्' (अदा०प०) धातुसे है।

"इन्द्राय गाव आशिरं (दुदुह्रे)" अर्थात्-'इन्द्राय इन्द्रके अर्थ 'गावः' गोओंने 'आशिरम्' आशिर नामक (प्रयोजन वाला) दूध दुहा। यह भी निगम है। और-

" सामे सत्याशीर्देवेषु " अर्थात्-' 'सा' वह 'मे' मेरी 'सत्या' सच्ची 'आशीः' प्रार्थना 'देवान्' (गम्यात्) देवताओं के प्रति जावे।' यह भी है। यहां पर आशिषा (प्रार्थना) ही 'आशीः' शब्द से कही जाती है, क्योंकि-उसका देवताओं के प्रति जाना अभीष्ट है ॥ ४ ॥

(खं० ५)

निघ०- अर्जीगः ॥ ३६॥ अमूरः ॥३७॥ शशमानः ॥ ३८ देवोदेवाच्या कृपा ॥३९

निरु०- " यदा ते मर्त्तो अनुभोगमानलादिद्ग्रसिष्ठ ओषधीरजीगः " (ऋ० सं० २,३, १२, २)

यदा ते मर्त्तो भोगमन्वापद्-अथ ग्रसितृतम ओषधीरगारीः।

'जिगार्त्तिः' गिरतिकर्मा वा गृणातिकर्मा वा। गृह्णातिकर्मा वा ॥

" मूरा अमूर न वयञ्चिकित्वो महित्वमग्ने त्वमङ्ग

चित्से ।" (ऋ० सं० ७, ५,३२, ४) ।

मूढा वयं स्मः, अमूढस्त्वमसि, न वयं विद्मो महत्त्वमग्ने त्वं तु वेत्थ ॥

'शशमानः' शंसमानः ।

"यो वां यज्ञैः शशमानो ह दाशति" (ऋ०सं० २, २, २१, २) । इत्यपि निगमो भवति ।

'देवो देवाच्या कृपा' । देवो देवान् प्रति-अक्तया कृपा कृप् कृपतेर्वा । कल्पते र्वा ॥ ५ (८) ॥

'अजीगः' (३६ (अनवगत) 'अगारि' (निगलता है) के अर्थ में है ।-

" यदाते ०-० " अर्थात्- हे अश्व ! ' यदा ' जब ' मर्त्तः' (मनुष्यः) मनुष्य 'ते' तेरे 'भोगम्' भोगको ' अनु-आनट् ' (अन्वापत्) प्राप्त होता है (तुझे चढ़कर वाहता है) 'आदित्' (अथ) फिर तू थका हुआ भी (ग्रसितृतमः) बहु-भोजन-शील ' ओषधीः ' 'अगारीः : ' ओषधियों (घास) को ग्रहण करता अथवा खाता ही है । अर्थात्-और पशु थके हुए चर नहीं सकते और तू बहुत अच्छे प्रकार ओषधियों को खाता है, यह तेरा अधिक सामर्थ्य है । इस प्रकार यहाँ ओषधि और अश्वके संबन्धसे 'जिगर्त्ति' धातु 'गिरति' धातु के अर्थ (निगलने) में अथवा 'गृह्णाति' धातुके अर्थ (ग्रहण) में है, यह सिद्ध होता है ।

'अमूर' (३७) शब्द (अनवगत) 'अमूढ' (नहीं मूढ) के अर्थ में है ।-

"मूरा वयम्० ०" अर्थात्- हे भगवन् अग्निदेव !

'अमूर !' अमूढ ! 'वयम्' हम 'मूराः' (मूढाः-स्म) मूढ हैं। 'महित्वम्' (महत्वम्) तेरी महिमा को 'न-चिकित्वः' (न-विजानीमः) नहीं जानते हैं। हे 'अग्ने !' 'त्वम्-अङ्ग' (त्वं) किन्तु तू 'वित्से' (वेत्थ) जानता है॥ यहां पर 'मूढाः' पद से अपनी निन्दा के द्वारा 'अमूढः' पद से अग्नि की स्तुति की गई है, इससे 'अमूर' शब्दका 'अमूढ' शब्द ही बदला हो सकता है।

'शशमानः' (३८) शब्द (अनवगत) 'शंसमानः' (स्तुति करता हुआ) के अर्थ में है।—

"यो वां यज्ञैः शशमानो ह दाशति" अर्थात्—' 'यः' जो यजमान 'वाम्' (युवाम्) तुम दोनों को 'यज्ञैः' यज्ञों से 'शशमानः' (शंसमानः') स्तुति करता हुआ 'दाशति' (ददाति) हवियों कोदेता है।' यह भी निगम होता है। इस प्रकार यहां यज्ञ के सम्बन्ध और शब्द की समानता से 'शशमानः' यह पद 'शंसमानः' के अर्थ में है यह सिद्ध होता है।

'देवो देवाच्या कृपा' (३६) ये दो शब्द अनवगत है। 'देव' शब्द इन्ही दोनों शब्दों के मन्त्रविशेष में पहिचान कराने के अर्थ है। देवः, देवाच्या, कृपा, ये तीन पद है। 'देवाच्या' पद की 'देवान्प्रति-अञ्चितया' (देवताओं के प्रति गई हुई से) यह अर्थ-प्रतीति है। 'कृपा' इसकी भी 'कल्पितया' (कल्पित की हुई से) अर्थ-प्रतीत है—

"देवो देवाच्या कृपा" अर्थात्—' 'देवः' देव 'देवाच्या' (देवान्प्रति-अक्तया) देवताओं के प्रति गई हुई, 'कृपा' कल्पित की हुई से'। 'कृप्' शब्द कृपार्थक 'कृप्' (तु० प०) धातु से है। अथवा सामर्थ्य अर्थ में कृप् (भ्वा० आ०) धातु से है॥ ५ (८)॥

(खं० ६)

[निघ०-] विजामातुः ॥४०॥ ओमासः ॥४१॥

(निरु०-) अश्रवं हि भूरिदावत्तरा वां विजामातुरुत वा घा स्यालात्। अथा सोमस्य प्रयती युवभ्या मिन्द्राग्नी स्तोमं जनयामि नव्यम् ॥ (ऋ०सं० १, ७, २८, २)

अश्रौषं हि बहुदातृतरौ वां विजामातुः = असुसमाप्तात्-जामातुः ॥

'विजामाता'-इति शश्वत्-दाक्षिणाजाः क्रीतापतिमाचक्षते।

असुसमाप्तइव वरोऽभिप्रेतः।

'जामाता' जा अपत्यं तन्निर्माता।

'उत वा घा स्यालात्' अपिच स्यालात्।

'स्यालः' आसन्नः संयोगेन-इति नैदानाः। स्यात् लाजान् आवपति-इति वा।

'लाजाः' लाजतेः।

'स्यं' शूर्पम्। स्यतेः।

'शूर्पम्' अशनपवनम्। शृणातेर्वा।

अथ सोमस्य प्रदानेन

"युवाभ्या मिन्द्राग्नी स्तोमं जनयामि नव्यम्" नवतरम् ।

'ओमास.' इति उपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः ॥ ६ (१) ॥

इति षष्ठाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ ६, २ ॥

'अश्रवंहि' यह ऋचा कुत्स ऋषि की है। इसका त्रिष्टुप् छन्द है।

अर्थ–'इन्द्राग्नी !' हे इन्द्र अग्नि देवो ! (अहम्) मैंने 'वाम्' तुम दोनों को 'विजामातुः' (असुसमाप्तात्जामातुः) अधूरे जामाता या जँवाई से 'वा' अथवा 'घा' (अनर्थक) 'स्यालात्' साले से 'भूरिदावत्तरा' (बहुदातृतरौ) अधिक धनके देने वाले 'अश्रौषम्' सुना है। 'अथा' इस से 'सोमस्य' सोम के 'प्रयती' (प्रदानेन) प्रदान (दान) से 'युवाभ्याम्' तुम दोनों के लिये 'नव्यम्' (नवतरम्) बहुत नया 'स्तोमम्' स्तोत्र 'जनयामि' (उच्चारयामि) उच्चारण करता हूं। इस प्रकार यहां पर 'विजामातृ' शब्द से अधूरा जमाई कहा जाता है, क्यों कि–वह जामाता के गुणों से हीन होने के कारण कन्या के पिता आदि को बहुत धन देकर उन्हें अपने अनुकूल करता है, इसी से वह बहुदाता है, और उसकी अपेक्षा इन्द्राग्नी देवता अधिक देने वाले कहे जाने से उनकी स्तुति होती है।

यह बात प्रसिद्ध है कि–दक्षिणी लोग क्रीतापति (खरीदी हुई स्त्री) के पति को 'विजामाता' कहते हैं। क्यों कि–वह विगुण होनेसे अपनी भार्या बनाने के अर्थ कन्या को खरीदता है। इसीसे वह असुसमाप्त (अधूरा) जैसा वर माना गया है।

'जामाता' क्यों ? 'जा' अपत्य या सन्तान का नाम है,

उसका निर्माता होता है, अर्थात् वह मैथुनधर्म के द्वारा उस (कन्या) में स्त्रीत्व (भार्यापन) को बनाता है, इसी से दुहिता का पति 'जामाता' कहलाता है।

'स्याल' क्यों ? संयोग से आसन्न (समीप-वर्त्ती) है। यह शब्द के निदान के जानने वाले विद्वान् मानते हैं। अथवा 'स्य' (छाज) से लाजों (धानकी खीलों) को कन्या की अञ्जुलि में होम के अर्थ आवाप करता (घालता) है।

'लाज' कैसे ? 'लाज्' (भ्वा० प०) धातु से है।

'स्य' क्या? शूर्प (छाज) कैसे ? फेंकने अर्थ वाले 'स्य' (सो) (दि० प०) धातु से है। क्योंकि–उससे तुष (अन्नके छिलके) फेंके जाते हैं।

'शूर्प' क्यों ? वह अशन–पवन है, अर्थात्–उससे अशन (खाने योग्य अन्न) पवन (पवित्र) किया जाता है। अथवा हिंसार्थक 'शृ' (क्र्या० प०) धातु से है। क्यों कि–वह शरों (सींखों) से बना हुआ होता है।

'ओमासः' (४१) शब्दकी व्याख्या बारहवें अध्याय में "ओमासश्चर्षणी धृतः" इस मन्त्र में होगी ॥६,२॥

इति हिन्दीनिरुक्ते षष्ठाध्याये द्वितीयः पादः समाप्तः ॥

तृतीयः पादः।

(खं० १)

[निघ०-] सोमानम् ॥४२॥

(निरु०) "सोमानं स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते। कक्षीवन्तं य औशिजः।" [य० सं० ३, २८]

सोमानां सोतारं प्रकाशनवन्तं कुरु ब्रह्मणस्पते कक्षीवन्तमिव य औशिजः ।

'कक्षीवान्' कक्ष्यावान् ।

'औशिजः' उशिजः पुत्रः ।

'उशिक्' वष्टेः कान्तिकर्मणः ।

अपितु अयं मनुष्यकक्षएव अभिप्रेतः स्यात् । तं सोमानां सोतारं मां प्रकाशनवन्तं कुरु ब्रह्मणस्पते ॥ १ (१०) ॥

अर्थः–'सोमानम्' (४२) यह (अनवगत) 'सोतारम्' (उत्पन्न करने वाले) के अर्थ में है—

"सोमानं०—०" यह ऋचा काण्व मेधातिथि ऋषि की है। अग्नि के उपस्थान में विनियुक्त है।

'सोमानम्' (सोमानाम्) अनेक सोमों के (सोतारम्) उत्पन्न करने वाले 'स्वरणम्' (शब्दयितारम्) स्तुति करने वाले (माम्) मुझ को 'ब्रह्मणस्पते' हे ब्रह्मणस्पति देव ! 'यः' जो 'औशिजः' (उशिजः पुत्रः) उशिक् का पुत्र (कक्षीवान्) कक्षीवान् (कक्ष्यावान्) है, 'कक्षीवन्तम्' (इव) उस कक्षीवान् के समान (प्रकाशनवन्तम्) प्रकाश वाला 'कृणुहि' (कुरु) कर। इस प्रकार यहां शब्द की समानता से 'सोमानम्' का 'सोमानाम्' (सोमों का) परिवर्त्तन हो सकता है।

'कक्षीवान्' क्या ? कक्ष्यावान् अर्थात्–कक्ष्या (बगल या कांख) वाला होता है। अथवा यह 'कक्ष' मनुष्य का कक्ष ही माना जा सकता है। क्योंकि–वह कक्ष में उत्पन्न है, इस से

(कक्ष (काख) में उत्पत्ति के संयोग से) वह 'कक्षीवान्' है। पहिली व्याख्या में वह स्वयम् काख वाला है, और दूसरी व्याख्या में वह काख से उत्पन्न हुआ है, यह भेद है।

'औशिज' क्या? उशिज् का पुत्र।

'उशिज्' कैसे ? कान्ति अर्थ वाले 'वश्' (अदा० प०) धातु से है।

'कक्षीवन्तम्' यह लुप्त उपमा है, उपमा का वाचक 'इव' पद ऊपर से लिया जाता है।

'प्रकाशनवन्तम्' (प्रकाश वाला) पद भाष्यकारने ऊपरसे ले लिया है। क्यों कि-अर्थ की पूर्त्ति ऐसा करने से ही होती है ॥ १ (१०)॥

(खं० २)

निघ०-अनवायम्॥४३॥किमीदिने॥४४॥

निरु०- "इन्द्रासोमा समघशंस मभ्य १ घं तपुर्ययस्तु चरुरग्निवां इव। ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे द्वेषोधत्तमनवायं किमीदिने॥" (ऋ० सं० ५,७, ५, २)।

इन्द्रासोमौ अघस्य शंसितारम्।

'अघं' हन्तेः। निर्ह्रसितोपसर्ग आहन्ति-इति।

'तपुः' तपतेः।

'चरुः' मृच्चयो भवति। चरतेर्वा। समुच्चरन्ति अस्मात् आपः।

'ब्रह्मद्विषे' ब्राह्मणद्वेष्ट्रे।
'क्रव्यादे' क्रव्यमदते।
'घोरचक्षसे' घोरख्यानाय।
'क्रव्यं, 'विकृत्तात् जायते'-इति नैरुक्ताः।
द्वेषो धत्तम्।
'अनवायम्' अनवयवम्। यत् अन्ये न व्यवेयुः, अद्वेषसः-इति वा।
'किमीदिने' किमिदानीम्-इतिचरते। 'किमिदं किमिदम्'-इति वा पिशुनाय चरते।
'पिशुनः' पिंशतेः। विपिंशति-इति ॥२(११)॥

'अनवायम्' (४३) 'किमीदिने' (४४) ये दो पद अनवगत हैं। 'अनवाय' शब्द अनवयव (अवयव (भाग) रहित) के अर्थमें और 'किमीदिन्' शब्द 'किमिद किमिदम्' (यह क्या ? यह क्या ?) ऐसा करने वाला (धूर्त) के अर्थ में है।

"इन्द्रासोमा" यह वसिष्ठ ऋषि की है।

अर्थः—'इन्द्रासोमा' (इन्द्रासोमौ) हे इन्द्र सोम देवो ! (युवाम्) तुम दोनों 'अघशंसम्' (अघस्य शंसितारम्) पाप की प्रशंसा करने वाले 'अभ्यघम्' पाप को ही करने को सदा संमुख रहने वाले को 'स (तापयतम्) सताओ। वह पापी 'तपुः' तुम दोनों से सताया हुआ 'अग्निवान्' अग्नि से संयुक्त 'चरुः-इव' होम- द्रव्य के समान 'ययस्तु' (क्षयं यातु) नष्ट हो जाय। 'ब्रह्मद्विषे' (ब्राह्मणद्वेष्ट्रे) ब्राह्मणों से द्वेष (वैर) करने वाले 'क्रव्यादे' (क्रव्यम्-अदते) मांस के खाने वाले 'घोरचक्षसे'

घोर दर्शन वाले 'किमीदिने' (पिशुनाय) धूर्त के लिये 'अनवायम्' पूरा (अखण्ड) 'द्वेषः' द्वेष (वैर) 'धत्तम्' धारण करो ।

'अघ' कैसे ? हिंसार्थक 'हन्' (अदा० प०) धातु से है। [क्यों कि-वह हनन (नाश) किया जाता है ।] 'हन्' धातु से किस प्रकार ? ह्रस्व किया हुआ उपसर्ग 'आहन्ति' इससे । ['आ' का 'अ' और 'ह' का 'घ' हो जाता है ।]

'तपुः' कैसे ? संताप अर्थमें 'तप' (भ्वा०प०) धातु से है ।

'चरुः' क्या ? 'मृच्चय' (मिट्टी से संचित) होता है। अथवा 'चर' (भ्वा० प०) धातु से है । क्योंकि–इस से जल समुच्चरण करते (उछलते) हैं ।

'क्रव्य' (मांस) क्यों ? 'विकृत्त (कटे हुए) से उत्पन्न होता है ।' यह नैरुक्त लोग मानते हैं ।

'अनवाय' क्या ? अनवयव या अवयवरहित । अथवा जिसे अन्य (धूर्त के मित्र) हटाते हुए भी व्यवाय न कर सकें (हटा न सकें) ।

'किमीदिन्' क्या ? 'किमिदानीम्' (अब क्या होरहा है) ऐसे करते रहने वाला । अथवा 'किमिदम्' 'किमिदम्' यह क्या ? यह क्या ? करने वाला पिशुन धूर्त है ।

'पिशुन' कैसे ? 'पिंश' (तु० प०) धातु से है । क्योंकि-वह थोड़े पाप को भी बढ़ाता रहता है ॥ २ (११) ॥

(खं० ३)

निघ०– अम्नवान् ॥४५॥ अमीवा ॥४६॥ दुरितम्॥४७॥ अप्वे ॥४८॥ अमतिः॥४९॥ श्रुष्टी ॥५०॥ पुरन्धिः ॥५१॥

निरु०-"कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीं याहि राजेवामवाँ इभेन। तृष्वीमनु प्रसितिं द्रूणानोऽस्तासि विध्य रक्षसस्तपिष्ठैः ॥" (ऋ०सं० ३,४,२३,१)

कुरुष्व पाजः। 'पाजः' पालनात्।

प्रसितिमिव पृथ्वीम्। 'प्रसितिः' प्रसयनात्। तन्तुर्वा। जालंवा ॥

याहि राजा-इव अमात्यवान्, अभ्यमनवान्, स्ववान् वा, इराभृता गणेन, गतभयेन, हस्तिना इति वा।

तृष्व्या नु प्रसित्या द्रूणाननः।

'तृष्वी' इति क्षिप्रनाम। तरतेर्वा। त्वरतेर्वा।

असितासि विध्य रक्षसः तपिष्ठैः = तप्ततमै, तृप्ततमैः, प्रपिष्टतमैः-इति वा।

"यस्ते गर्भममीवा दुर्णामा योनि माशये।" (ऋ० सं० ८, ८, २०, २)

'अमीवा' अभ्यमनेन व्याख्यातः।

'दुर्णामा' क्रिमिर्भवति पापनामा।

'क्रिमिः' क्रव्ये मेद्यति। क्रमते र्वा स्यात् सरणकर्मणः क्रामते र्वा।

"अतिक्रामन्तो दुरितानि विश्वा।" [ ]

अतिक्रममाणा दुर्गगमनानि सर्वाणि ॥

'अप्वा' यदनया विद्धः अपवीयते । व्याधिर्वा। भयं वा ।

"अप्वे परेहि" (ऋ०सं० ८, ५, २३, ६) इत्यपि निगमो भवति ।

'अमतिः' अमामयी मतिः आत्ममयी ।

"ऊर्ध्वा यस्या मतिर्भा अदिद्युतत्सवीमनि ।" [सा० छ० आ० ५,२,३,८] इत्यपि निगमो भवति ।

'श्रुष्टी' इति क्षिप्रनाम । आशु अष्टीति ॥३(१२)॥

'अमवान्' (४५) यह अनवगत और अनेकार्थ है ।

"कृणुष्वपाजः" यह ऋचा वामदेव ऋषि की है, अग्निचयन में पुरुष-व्याख्या में विनियुक्त है ।

राजा को अपने शत्रु के जीतने के अर्थ किन २ सामानों से जाना चाहिए, सो वामदेव ऋषि की अग्निदेव के प्रति प्रार्थना से जानना चाहिए—

अर्थः—हे भगवन् ! अग्निदेव ! तू 'पाजः' अपने बल या सैन्य को 'पृथ्वीम्' फैली हुई 'प्रसितिं-न' व्याध की जेवड़ी या जाल के समान 'कृणुष्व' कर । [प्रथम सेना का पूरा विस्तार करना चाहिए ।] फिर 'याहि' विजय के अर्थ राक्षसों के प्रति जा । कैसे ? 'अमवान्' (अमात्यवान्) मन्त्रिसमूह से युक्त अथवा नीति-युक्त अथवा (अभ्यमनवान) रोगरूप होकर शत्रुओंको भय देने वाला अथवा (स्ववान्) अपने धनसे युक्त पुष्ट-भृत्य समूह 'राजा-इव' राजा जैसे 'इभेन' (इराभूता गणेन) अन्न से पुष्ट या

निर्भय सेना के साथ अथवा 'इभेन' हाथी सेना के साथ अपने शत्रुओं को जीतने जाता है, वैसे ही तू जा। (अपना धन चाहिए किन्तु ऋणका नहीं। मन्त्रिमण्डल युक्त होना चाहिए किन्तु केवल अपने ही विचार पर निर्भर नहीं। नीति युक्त होना चाहिए, किन्तु नीति रहित नहीं। अन्न सम्पत्ति आवश्यकतासे भी अधिक होनी चाहिए, किन्तु अल्प नहीं। सेना पुष्ट रहनी चाहिए किन्तु भूखी नहीं। सेना निर्भय होनी चाहिये किन्तु सभय नहीं। इसी प्रकार हाथी भी बहुत उपयुक्त होते हैं, उनका भी सम्पादन करना चाहिये।) और कैसे ? 'तृष्वीम्—अनु' (तृष्व्यानु) शीघ्र या निरन्तर 'प्रसितिम्' (प्रसित्या) गतिसे 'द्रूणानः' (रक्षांसि हिंसन्) राक्षसों को मारता हुआ। (चढाईफलपर्यन्त निरन्तर रहना चाहिए।) जिससे कि-तू 'अस्ता' राक्षसों के प्रति अपनी कान्ति का फेंकनेवाला 'असि' है, इससे तू इस प्रकार से आकर 'तपिष्ठैः' (तप्ततमैः, तृप्ततमैः, प्रपिष्टतमैः इतिवा) बहुत गरम या अति तृप्त हुई या बहुत सूक्ष्म अपनी किरणों से 'रक्षसः' हमारे शत्रु राक्षसोंको 'विध्य' मार। इस प्रकार यहां राजा की उपमा के सम्बन्ध से 'अमवान्' पद का 'अमात्यवान्' इत्यादि अर्थ सिद्ध होता है।

'पाज' यह बलका नाम कैसे ? पालन से। क्योंकि—उस से पालन किया जाता है।

'प्रसिति' (मछली पकड़ने की डोरी या जाल) क्यों? प्रसयन (बन्धन) से। क्योंकि-उन दोनों से ही मृग और मत्स्य पकड़े जाते हैं।

'असीवा' (४६) अनवगत 'अस्यमनवान्' (खेद पहुंचाने वाला) के अर्थ में है—

"यस्ते गर्भममीवा दुर्णामायोनिमाशये"

अर्थात्—हे स्त्रि! 'यः' जो 'ते' तेरे 'गर्भम्' गर्भके प्रति 'अमीवा' रोग-रूप 'दुर्णामा' पापनामा क्रिमि (कीड़ा) 'योनिम्' योनिको 'आशये' आकर सोता है, (उसे अग्निदेव ब्रह्मा के सहित नाश करें)। इस प्रकार यहां 'अमीवा' क्रिमिका नाम होता है। क्योंकि-क्रिमि से उपहत (घुसी हुई) योनि में गर्भ नहीं होसकता है। (वैद्योंके ध्यान योग्य बात है।)।

'अमीवा' कैसे? अभ्यमन से ("कृणुष्वपाजः" मन्त्र के 'अमवान्' शब्द से) व्याख्यान किया गया। अर्थात्-उसी प्रकार इसे भी समझना चाहिए।

'दुर्णामा' क्रिमि होता है। क्योंकि—वह पाप के स्थान में परिणत या उत्पन्न होता है।

'कृमिः' क्यों? क्रव्य (मांस) में स्नेह करता है। अथवा गत्यर्थक 'क्रम' (भ्वा० प०) धातु से है। क्योंकि-वह क्रमण (संक्रमण) या सरकता है अथवा 'क्रामति' (भ्वा० प०) धातु से है। (वही धातु दूसरे रूपमें है।)

'दुरित' (४७) अनवगत 'दुर्गति-गमन' के अर्थ में है—

"अति क्रामन्तो दुरितानि विश्वा" अर्थात्—हम 'विश्वा' (विश्वानि) सब 'दुरितानि' (दुर्गतिगमनानि) दुर्गति के देने वाले कर्मों को 'अतिक्रामन्तः' (अतिक्रममाणाः) उलांघते हुए (शतंहिमाः सर्ववीरा मदेम) सौ (१००) मन्त ऋतुओं तक सब वीरों सहित आनन्द करें। यहां अति-क्रमण (उल्लंघन) के संबन्ध से 'दुरित' नाम 'दुष्कृत' (दुरे कर्मों) का है।

'अप्वा' (४८) यह अनवगत व्याधि का नाम है, अथवा

भय का नाम है। क्योंकि-इस से विद्ध हुआ पुरुष प्राणों से अपवीत या रहित होता है।

" अप्वे परेहि " अर्थात्-हे अप्वे ! रोग ! या भय ! तू 'परेहि' दूर हो, यह भी निगम है। यहां दूर होने की प्रार्थना के संबन्ध से 'अप्वा' रोग या भय ही हो सकता है।

' अमति ' (४६) अनवगत अंमामयी मति या आत्म मयी या अपने को प्रकाश करने वाली आदित्य की बुद्धि के अर्थ में है। क्योंकि- स्वयम् वह प्रकाश पदार्थ ही है, उसमें कोई दूसरा पदार्थ मिश्रित नही इस लिये वह अपने प्रकाश के अर्थ किसी दूसरे प्रकाश की अपेक्षा नहीं करता। -

" ऊर्ध्वा यस्यामति र्भा अदिद्युतत्सवीमनि "

अर्थात् ' यस्य ' जिस आदित्य की ' ऊर्ध्वा ' सब से ऊँची 'अमतिः' आत्म- प्रकाशमयी बुद्धि है। जिसने ' भाः ' अपनी ज्योतियों को ' अदिद्युतत् ' फैलाया (प्रकाशकिया) है। ' सवीमनि ' (प्रसवे) जिसकी आज्ञा में सब जगत् है। यह भी निगम है।

'श्रुष्टी' (५०) अनवगत ' क्षिप्र (शीघ्र) का नाम है। क्योंकि--वह 'आशु-अष्टि शीघ्र अशन (व्यापन) करता है ॥ ३ (१२)॥

(खं० ४)

निघ०- उशत् ॥ ५२ ॥

निरु०- " ताँ अध्वर उशतो यक्ष्यग्ने श्रुष्टी भगं नासत्या पुरन्धिम्। " (ऋ० सं० ५, ४, ६, ४)।

" तान् 'अध्वरे' यज्ञे, 'उशतः' कामयमानान्,

यज अग्ने श्रुष्टि, भगं, नासत्यौ च अश्विनौ ।

'सत्यौ-एव नासत्यौ'-इति और्णवाभः । 'सत्यस्य प्रणेतारौ' इति आग्रायणः । 'नासिका-प्रभवौ बभूवतुः'-इति वा ।

'पुरन्धिः' बहुधीः । तत्कः ? पुरन्धि भगः, पुरस्तात् तस्यान्वादेशः-इत्येकम् । इन्द्रः-इत्यपरम् । स बहुकर्मतमः, पुरां च दारयितृतमः । वरुणः-इत्यपरम् । तं प्रज्ञया स्तौति-

"इमामूनु कवितमस्य मायाम् ।" (ऋ०सं० ४, ४, ३१, १) । इत्यपि निगमो भवति ।

'रुशत्'-इति वर्णनाम । रोचते र्ज्वलातिकर्मणः ।

"समिद्धस्य रुशददर्शि पाजः" (ऋ० सं० ३, ८, १२, २) इत्यपि निगमो भवति ॥ ४ (१३) ॥

अर्थः-'अग्ने' हे अग्निदेव ! 'तान्' उन 'उशतः' (कामयमानान्) कामना करते हुए देवताओं को 'अध्वरे' (यज्ञे) हमारे यज्ञ में 'श्रुष्टि' शीघ्र 'यक्षि' (यज यजन करो । वे कौन ? 'भगम्' भग 'नासत्या' (नासत्यौ अश्विनौ) नासत्य या अश्विनी कुमार 'पुरन्धिम्' और पुरन्धि (इन्द्र) । इस प्रकार यहां याग की विघ्न भयसे शीघ्रता इष्ट है इससे 'श्रुष्टि' यह शीघ्र का नाम होना युक्त है ।

'नासत्य' क्या ? 'सत्य ही नासत्य होते हैं, यह और्णवाभ आचार्य मानते हैं । क्योंकि-जो सत्य नहीं, सो 'असत्य

कहलाता है, और जो असत्य नहीं, सो 'नासत्य' कहलाता है। दो वार निषेध करने से प्रकृत वस्तु ही हो जाती है।

'सत्य के प्रणेता (प्रवृत्त करने वाले) 'नासत्य' कहलाते हैं, यह आग्रायण आचार्य मानते हैं।

अथवा—नासिका (नाक) से उत्पन्न हुये थे इस से वे नासत्य हैं।

'पुरन्धि' (५१) अनवगत अनेकार्थ है।

'पुरन्धि' क्या ? 'पुरु' (बहुत) 'धी' (बुद्धि) वाला। सो कौन मन्त्र में पहिले 'भग' देवता कहा गया है, उसी का यह पुनः कथन अर्थात्-विशेषण है। यह एक मत हुआ। दूसरा मत है कि-'पुरन्धि' इन्द्र का नाम है। क्योंकि-वह बहुत २ कर्म वाला है, और पुरों (मेघों) का विदारण करने (फाड़ने) वाला है। 'पुरन्धि' वरुण का नाम है, यह और मत है। उसी की यह विशेषण द्वारा स्तुति है कि-वह 'पुरन्धि' या बहु बुद्धि वाला है। —

"इमामू नु कवितमस्य मायाम्" अर्थात् 'इमाम्' इस 'कवितमस्य' (मेधावितमस्य) बड़े बुद्धिमान् वरुणदेव की 'मायाम्' प्रज्ञा को (न किरादधर्ष) कोई नहीं दबा सकता है, यह भी निगम है। इस प्रकार यहां वरुण देव प्रज्ञा के द्वारा स्तुति किये जाते हैं, और 'धी' यह नाम बुद्धि का है, सो जिसके 'पुरु' बहुत हो, उसे 'पुरन्धि' कहते हैं, इस से वरुण पुरन्धि है, युक्त होता है।

'रुशत्' (५२) यह अनवगत वर्ण का नाम है। ज्वलन (जलना) अर्थ में 'रुच' (भ्वा० आ०) धातु का है।

"समिद्धस्य रुशददर्शि पाजः" अर्थात्-'समि-

द्धस्य ' जलते हुए अग्नि देव का ' रुशत् ' सुन्दर वर्ण और ' पाजः ' बल ' अदर्शि ' दिखाई दिया । यह भी निगम है ॥ ४ (१३) ॥

(खं० ५)

निघ०-रिशादसः ॥ ५३ ॥ सुदत्रः ॥५४॥ सुविदत्रः ॥५५॥ आनुषक् ॥५६॥ तुर्वशाः ॥ ५७ ॥ गिर्वणाः ॥ ५८ ॥

निरु०-" अस्ति हि वः सजात्यं रिशादसो देवासो अस्त्याप्यम् । " (ऋ० सं० ६, २, ३२, ५)

अस्ति हि वः समानजातिता रेशयदारिणो देवाः । अस्त्याप्यम् ।

'आप्यम्' आप्नोतेः ।

'सुदत्रः' कल्याणदानः ।

" त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायः । " (ऋ०सं० ५, ३, २७, २) । इत्यपि निगमो भवति ।

'सुविदत्रः' कल्याणविद्यः ।

" आग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ् " । (७,६, १८, ४) । इत्यपि निगमो भवति ।

' आनुषक् '-इति नाम अनुपूर्वस्य अनुषक्तं भवति ।

" स्तृणन्ति बर्हिरानुषक् । " (ऋ०सं० ६,३,

४२, १) इत्यपि निगमो भवति ।

'तुर्वणिः' तूर्णवनिः ।

"सतुर्वणि र्महाँ अरेणु पौंस्ये" । [ऋ० सं० १, ४, २१, ३,] । इत्यपि निगमो भवति ।

गिर्वणा देवो भवति । गीर्भिरेनं वनयन्ति ।

"जुष्टं गिर्वणसे बृहत्" । (ऋ० सं० ६, ६, १२, ७) ॥ ५ (१४) ॥

अर्थः—हे 'रिशादसः' (रेशयदासिनः वा रेशयदारिणः) हिंसकों को विदारण करने वाले ! 'देवासः' (देवाः) देवो ! 'वः' (युष्माकम्) तुम्हारी 'सजात्यम्' (समानजातिता) एक जातीयता 'अस्ति' है, और वह 'आप्यम्' मनुष्यों को प्राप्त करने योग्य है। अर्थात्—तुम्हारा आश्रयण करने से वे रक्षा पा सकते हैं। इस प्रकार यहा पर शब्द की समानता और अर्थ की योग्यता से 'रिशादसः' 'रेशयदारिणः' (हिंसक के मारने वाले) के अर्थ में है, यह उपपन्न होता है।

'आप्य' व्याप्ति अर्थमें 'आप्' (स्वा० प०) धातु से है।

'सुदत्र' (५४) अनवगत 'कल्याणदानः' (पवित्र दान वाला) के अर्थ में है।

"त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायः" अर्थात्— 'सुदत्रः' सुन्दर दान करने वाला 'त्वष्टा' त्वष्टा देव हमारे अर्थ 'रायः' (धनानि) धनों को 'विदधातु' देवे। इस प्रकार यहां धन के सम्बन्ध से 'सुदत्र' शब्द 'कल्याण दान' के अर्थ में उपपन्न होता है।

'सुविदत्र' (५५) शब्द अनवगत 'कल्याणविद्य' या उत्तम विद्या वाला के अर्थ में है—

"आग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ्" अर्थात्—'अग्ने !' हे अग्नि देव ! 'सुविदत्रेभिः' उत्तम विद्या वाले पितरों के सहित 'अर्वाङ्' हमारे अभिमुख 'आ—याहि' आ। यह भी निगम है। यहां शब्द की समानता से 'सुविदत्र' शब्द 'कल्याणविद्य' के अर्थ में है।

'आनुषक्' (५६) यह नाम (अनवगत) 'अनु' (उपसर्ग) पूर्वक संगार्थक 'सञ्ज्' (भ्वा० प०) धातु का है। 'आनुषक' क्या ? अनुषक्त या पीछे लगा हुआ होता है।

"स्तृणन्ति बर्हिरानुषक्" अर्थात्—'जो यज्ञों में 'आनुषक्' अनन्तर अनन्तर (एकसे एक) लगी हुई 'बर्हिः' कुशाओं को 'स्तृणन्ति' बिछाते है।' यह भी निगम है।

'तुर्वणि' (५७) क्या ? तूर्णवनि, अर्थात्—जो शीघ्र वनन (सेवन) करता है।

"स तुर्वणिर्महाँ अरेणु पौंस्ये" ("गिरे र्भृष्टि र्न भ्राजते") अर्थात्—'तुर्वणिः' शीघ्र अपने स्तुति करने वाले को भजने वाला 'महान्' प्रभाव से बड़ा 'सः' वह इन्द्र 'अरेणु पौंस्ये' अन्तरिक्ष (आकाश) में (पर्वतके शिखर के समान चमकता है)। यह भी निगम है।

'गिर्वणस्' (५८) देव होता है। क्यों कि—इसे गिराओं (स्तुतियों) से वनन या याचन करते हैं।

"जुष्टं गिर्वणसे बृहत्" अर्थात्— हे स्तोताओ ! तुम 'गिर्वणसे' स्तुतियों की गिराओं (वाणियों) से भजन योग्य

इन्द्र के लिये 'जुष्टम्' प्यारे 'बृहत्' (साम) बृहत् साम को (उच्चारयत) उच्चारण करो। यह भी निगम है। इस प्रकार यहां अर्थ की उपपत्ति के अनुरोध से 'गिर्वणस्' शब्द देव का वाचक होता है॥ ५ (१४)॥

(खं० ६)

निघ०-असूर्त्ते सूर्त्ते ॥५९॥ अम्यक् ॥६०॥ यादृश्मिन् ॥६१॥ जारयायि ॥६२॥

निरु०-असूर्त्ते सूर्त्ते रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि ॥" [ऋ० सं० ८, ३, १७, ४]

असुसमीरिताः सुसमीरिते वातसमीरिता माध्यमका देवगणास्ते रसेन पृथिवीं तर्पयन्तो भूतानि च कुर्वन्ति। "त आयजन्त" (ऋ० सं० ८, ३, १७, ४) इति-अतिक्रान्तं प्रतिवचनम्।

"अम्यक्सा त इन्द्र ऋष्टिः।" [ऋ० सं० २, ६, ८, ३] अमात्का-इतिवा अभ्यक्ता-इतिवा।

"यादृश्मिन्धायि तमपस्यया विदत्।" [ऋ० सं० ४, २, २४, ३)।

यादृशे अधायितम् अपस्यया अविदत्।

" उस्रः पितेव जारयायि यज्ञैः " [ऋ०सं० ४, ५, १४, ४]।

उस्र इव गोपिता अजायि यज्ञैः ॥ ६ (१५) ॥

अर्थः—'असूर्त्त' 'सूर्त्त', ये दो पद अनवगत हैं। पहिले का अर्थ 'असुसमीरिता' (प्राण वायु से प्रेरित) और दूसरे का 'सुसमीरिते' (विस्तृत) अर्थ है।—

" असूर्त्तं०-न्निमानि " अर्थात्-'ये' (माध्यमकाः देवगणाः) जो मध्यम लोक के देवता गण 'असूर्त्ते' (असुसमीरिताः = वातसमीरिताः) वायुसे प्रेरित हुए 'सूर्त्ते' (सुसमीरिते = विस्तीर्णे) विस्तृत 'निषत्ते' (निषण्णे) डटेहुए 'रजसि' (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष लोकमें स्थित हैं, (ते) वे (रसेन पृथिवीं तर्पयन्तः) जलसे पृथ्वी को तृप्त करते हुए ' इमानि ' इन 'भूतानि' प्राणिओं को ' समकृण्वन् ' करते हैं। इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध में " ते आयजन्त "इत्यादि पाठ है। उसमें 'ते' (वे) पद आगया है, और इस उत्तरार्द्ध में "ये भूतानि " यहां 'ये' (जो) पद आया है, किन्तु शब्दस्वभावकी मर्य्यादा से पहिले 'ये'और पीछे 'ते' आना चाहिए। क्योंकि- जब कोई कहता है, 'वे जाते हैं, तो प्रश्न होगा-कौन ? और जब कहेंगे-'जो लाठी वाले हैं, वे जाते हैं,तो 'वे' को सुनकर पूर्वोक्त प्रश्न नहीं उठ सकता। इससे सिद्ध हुआ कि-'ते' पद सदा ही अपने उच्चारण से पहिले ' ये ' पदके उच्चारण की अपेक्षा रखता है। सुतराम् मन्त्र में शब्द-स्वभाव के विपरीत 'ते' पदका पहिले और 'ये' पदका पीछे प्रयोग किया है, इसे 'अतिक्रान्त प्रतिवचन' कहते हैं। वक्ता की इच्छानुसार कभी २ ऐसा भी होता है। जैसा कि-'वेजाते हैं, जो लाठी वाले हैं' यही प्रकार स्वतन्त्र-प्रकृति मन्त्र ने भी यहां किया है।

'अम्यक्' (६०) यह अनवगत है। 'अम्यक्' क्या ? 'अमाक्ता' वह

क्या ? संग्राम में शत्रु की ओर फेंकी हुई अथवा 'अभ्यक्ता' वह क्या ? नित्य-काल ही शत्रुओं के प्रति गई हुई ।

" अभ्यक्सा त इन्द्र ऋष्टिः " अर्थात्-'इन्द्र !' हे इन्द्र देव ! 'सा' वह 'ते' तेरी 'ऋष्टिः' ऋष्टि (शस्त्र विशेष) 'अभ्यक्' मेघके प्रति गई हुई होती है । यहां वृष्टि और ऋष्टि के संबन्धसे 'अभ्यक्' शब्द 'अभि' (अव्यय) और गत्यर्थक 'अञ्चु' (भ्वा० प०) धातुसे है, यह उपपन्न होता है ।

'यादृश्मिन्' (६१) यह अनवगत 'यादृशे' (जैसमें) के अर्थ में है ।

" यादृश्मिन् धायि तमपस्यया विदत् " अर्थात्- हे भगवन् ! अग्निदेव ! तेरे भक्त ने 'यादृश्मिन्' जैसे काममें मनको 'अधायि' धारण किया 'तम्' उसको 'अपस्यया' हविः के दान और स्तुति आदिसे 'अविदत्' पाया । यहां 'यादृश्मिन्' पदका शब्द की समानतासे 'यादृशे' परिवर्तन युक्त होता है ।

'जारयायि' (६२) यह अनवगत 'अजायि' के अर्थ में है ।

"उस्रः पितेव जारयायि यज्ञैः " अर्थात्-अग्नि देव 'यज्ञैः' (यज्ञेषु) यज्ञों में विहरण किया जाता हुआ 'उस्रः-पिता-इव' गौओं के पति सावड (सांड) के समान 'जारयायि' (अजायि) अनेकरूप होता है । अर्थात्-सांड जिस प्रकार पुत्र पौत्र आदिकोंसे अनेक हो जाता है, उसी प्रकार अग्नि देव भी बहुधा हो जाता है यहां 'जारयायि' पद का 'अजायि' अर्थ युक्त प्रतीत होता है ॥ ६ (१५) ॥

(खं० ७)

निघ०- अग्रिया ॥ ६३ ॥ चनः ॥६४॥ पन्नता ॥ ६५ ॥ शुरुधः ॥६६॥ अमिनः

॥ ६७ ॥ जज्झतीः ॥ ६८ ॥ अप्रतिष्कुतः ॥ ६९ ॥ शाशदानः ॥ ७० ॥

निरु०-"प्रवोऽच्छा जुजुषाणासो अस्थुरभूत विश्वे अग्रियोत वाजाः।" [ऋ० सं० ३, ७, ३, ३]

प्रास्थुर्वो जोषयमाणा अभवत सर्वे, अग्रगमनेन-इति वा, अग्रसरणेन-इति वा, अग्रसम्पादिन-इति वा।

अपिवा 'अग्रम्' इत्येतत् अनर्थकम्-उपबन्धम्-आददीत ॥

"अद्धीदिन्द्र प्रस्थितेमा हवींषि चनो दधिष्व पचतोत सोमम्।" (ऋ० सं० ८, ६, २१, ३)।

अद्धि इन्द्र प्रस्थितानि इमानि हवींषि चनो दधिष्व।

'चन' इति अन्ननाम।

(पचता-) पचति नामीभूतः।

"तं मेदस्तः प्रति पचताग्रभीष्टाम्।" ( ) । इत्यपि निगमो भवति।

अपि वा मेदसश्च पशोश्च सात्त्वं द्विवचनं स्यात्' यत्रहि एक-वचनार्थः प्रसिद्धं तद्भवति ॥

"पुरोला अग्ने पचतः।" [ऋ०सं० ३, १, ३१,

२] । इति यथा ॥

'शुरुधः' आपो भवन्ति । शुचं संरुन्धन्ति ।

"ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीः" । (ऋ०सं० ३, ६, १०, ३) ।

'अमिनः' अमितमात्रो महान् भवति । अभ्यमितो वा ।

" अमिनः सहोभिः " । [ऋ० सं० ४, ६, ७, १) । इत्यपि निगमो भवति ॥

'जज्झतीः' आपो भवन्ति । शब्दकारिण्यः ।

" मरुतो जज्झतीरिव " । (ऋ० सं० ४, ३, ९, ६) । इत्यपि निगमो भवति ॥

'अप्रतिष्कुतः' अप्रतिष्कृतः । अप्रतिस्खलितो वा ।

" अस्मभ्यमप्रतिष्कुतः " । (ऋ० सं० १, १, १४, १) । इत्यपि निगमो भवति ॥

'शाशदानः' शाशद्यमानः ।

"प्रस्वां मतिमतिरच्छाशदानः " । [ऋ० सं० १,३,३,३] । इत्यपि निगमो भवति ॥७ (१६) ॥

इति षष्ठाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ६, ३ ॥

'अग्रिया' (६३) अनवगत सेना के आगे चलने वाल का अथवा अपने को आगे करने वाले का अथवा आग्रही का नाम है ।—

"प्रवोऽच्छा जुजुषाणासो अस्थुरभूत विश्वे अ-ग्रियोत वाजाः।" अर्थात्-हे ऋभु देवो! 'वः' तुम सब से (प्र ब्रवीमि)' कहता हूं, 'प्र-अस्थुः' जो हविः भेजे हुए हैं उन्हें 'अच्छा' भले प्रकार 'जुजुषाणासः' (जोषयमाणाः) सेवन करते हुए तुम 'विश्वे' (सर्वे) सब 'अग्रिया' देव सेना के आगे चलने वाले 'अभूत' (अभवत) हुए या होते हो। 'उत' और हे 'वाजाः!' हविओ! तुम सब भी ऐसे ही हो। इस प्रकार यहां अर्थ के अनुसार और शब्द की समानता से 'अग्रिया' पद 'अग्रगामिनः' (आगे चलने वाले) के अर्थ में है।

'अग्रिया' कैसे? अथवा अग्र-गमन से, अथवा अग्र-सरण (चलने) से, अथवा अपने को अग्र सम्पादन करने से (बनाने से) है।

अथवा 'अग्र'-यह पद अनर्थक उपबन्ध ('या' प्रत्यय) को लेता है, अर्थात्-'अग्र' शब्द और 'या' प्रत्यय के योग से 'अग्रिया' शब्द बना है, किन्तु जो अर्थ 'अग्र' शब्द का है, वही अर्थ 'अग्रिया' का है, क्योंकि 'या' प्रत्यय यहां किसी अर्थ में न होकर शब्दमात्र के निर्माण में सहायक होता है।

'चनः' (६४) (चना) अनवगत अन्नका नाम है। [लोग कहते हैं कि-चने का नाम वेद शास्त्र में नहीं है, किन्तु यह ख्याल उनका ठीक नही है, वेद के मन्त्रों में यह शब्द बहु-तायत से आता है, निघण्टु में यहां प्राधान्य से इस नाम का पाठ है, और यास्काचार्य भी इस (चन) शब्द को अन्न का नाम अपने मुख से कहते हैं।]-

"अद्धीदिन्द्र प्रस्थितेमा हवींषि चनो दधिष्व

पचतोत सोमम् " अर्थात्–'इन्द्र !' हे इन्द्र देव ! 'पचता' पके हुए 'इमा' (इमानि) इन 'प्रस्थिता' (प्रस्थितानि) भेजे हुए या दिये हुए ' हवींषि ' हविओं को ' अद्धि ' तू खा 'चनः' (चने) अन्न को 'दधिष्व' पेटमें धारण कर 'उत' और 'सोमम्' सोम को धारण कर ।

'चन' यह अन्न का नाम है ।

'पचता' (६५) यह अनवगत एक वचन, द्विवचन और बहुवचन होता है। सो प्रकरण विशेष से निर्णय होता है।—

(पचता-) कैसे ? 'पचतिर्नामीभूतः' अर्थात् 'पचति' इस आख्यात पद का ही यह नाम बन गया है ।

"तं मेदस्तः प्रति पचताग्रभीष्टाम्" अर्थात्–इन्द्राग्नि देवता 'मेदस्तः' मेदा के स्थान में 'पचता' (पक्वम्) पके हुए 'तम्' उस पशु को 'प्रति-ग्रभीष्टाम्' ग्रहण करें । यहां 'तम्' का विशेषण होने से 'पचता' यह एकवचनान्त है, ऐसा निश्चय होता है ।

अथवा 'पचता' यह मेदा और पशु दोनों का सात्व (द्रव्य सम्बन्धी) द्विवचन हो सकता है । अर्थात्–इन दोनों द्रव्यों के अभिप्राय से द्विवचन है, किन्तु एक वचन नहीं । क्यों कि- जहां एकवचन का अर्थ होता है, वहां वह (एक वचन) प्रसिद्ध होता है । जैसे—

"पुरोला अग्ने पचतः" अर्थात्–'अग्ने' हे अग्नि देव ! 'पुरोला' (पुरोडाशः) पुरोडाश 'पचतः' (पक्वः) पक गया । यहां 'पुरोला' और 'परिष्कृतः' पदोंके सम्बन्ध से तथा शब्द के सारूप्य से 'पचतः' यह एकवचनान्त है । बहुवचन का उदाहरण ' चन ' (६४) के उदाहरण "अद्धीदिन्द्र" में

'पचता' आया है। वहां 'हवींषि' बहुवचन पद के सम्बन्ध से वह बहुवचनान्त निश्चित होता है।

'शुरुधः' (६६) जल होते हैं। क्योंकि-वे 'शुच्' मलके शोक का रोधन करते (रोकते) हैं। ('शुग्रुधः' यह शब्द-समाधि उचित है। भग० दु०।)

"ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीः" अर्थात्-क्योंकि-'ऋतस्य' ऋत की सम्बन्धिनी 'पूर्वीः' पहिली 'शुरुधः' अप् (जल) हैं। यह भी निगम है।

'अमिनः' (६७) यह अनवगत 'अमितमात्रः' (जिसके मन्त्रों का मान (संख्या) न हो) महान् के अर्थ मे है। अथवा 'अभ्यमितः' (जो किसी से हिंसित न हो) के अर्थ में है।

"अमिनः सहोभिः" अर्थात्-इन्द्र देव मध्यम और उत्तम लोक में 'सहोभिः' (बलैः) अपने बलों से 'अमिनः' (अमितमात्रः) अमितबल है, या अहिंसित बल है। अर्थात्-उसके बलका किसी ने परिमाण (मांप) अथवा तिरस्कार नहीं किया है। यह भी निगम है। यहां शब्द की समानता और अर्थ की योग्यता से 'अमिन' शब्द 'अमितमात्र' अथवा 'अहिंसितमात्र' के अर्थ में है।

'जझ्झतीः' (६८) यह अनवगत, शब्द के अनुकरण पर 'आपः' (जल) प्रतीत होती हैं अर्थात्-'जझ्झती' क्यों? शब्द करती हैं।

"मरुतो जज्झती रिव" अर्थात्-'मरुतः' हे मरुतों! 'जझ्झतीः-इव' शब्द करती हुई नदियों के समान तुम्हारी ऋष्टिओं (अस्त्रों) के प्रहारों से हत हुए मेघों से बिजली

॥७३॥ द्विबर्हाः ॥ ७४ ॥ अक्रः ॥७५॥
उराणः ॥७६॥

निरु०-'सृप्रः' सर्पणात् । इदमपि इतरत् 'सृप्रम्' एतस्मादेव । सर्पिर्वा । तैलंवा ।

"सृप्रकरस्नमूतये" (ऋ० सं० ६, ३, २, ५) इत्यपि निगमो भवति ।

'करस्नौ' बाहू । कर्मणां प्रस्नातारौ ।

'सुशिप्रम्' एतेन व्याख्यातम् ।

"वाजे सुशिप्र गोमति" (ऋ० सं० ६, २, २, ३) इत्यपि निगमो भवति ।

'शिप्रे' हनू । नासिके वा ।

'हनुः' हन्तेः ।

'नासिका' नसतेः ।

"विष्यस्व शिप्रे विसृजस्व धेने" (ऋ० सं० १, ७, १३, ७) इत्यपि निगमो भवति ।

'धेना' दधातेः ।

'रंसु' रमणीयेषु रमणात् ।

"स चित्रेण चिकिते रंसु भासा" [ऋ० सं० २, ५, २४, ५) इत्यपि निगमो भवति ।

'द्विबर्हाः' द्वयोः स्थानयोः परिवृढः,-मध्यमे च

स्थाने उत्तमे च ।

"उत द्विबर्हा अमिनः सहोभिः" (ऋ० सं० ४, ६, ७, १) इत्यपि निगमो भवति ।

'अक्रः' आक्रमणात् ।

"अक्रो न बभ्रिः समिथे महीनाम्" [ऋ० सं० २, ८, १५, २] इत्यपि निगमो भवति ॥

'उराणः' उरु कुर्वाणः ।

"दूत ईयसे प्रदिव उराणः" (ऋ० सं० ३, ५, ७, ३) इत्यपि निगमो भवति ॥ १ ॥

अर्थः—'सृप्र' (७१) (सर्प) क्यों ? सर्पण (सरकने) से । यह दूसरा भी 'सृप्र' जो सर्पि या घृत अथवा तैल का नाम है इसी (सर्पण क्रिया के सम्बन्ध) से है । क्यों कि—वह भी सरकता है ।

"सृप्रकरस्नमूतये" अर्थात्—'सृप्रकरस्नम्' (दीर्घबाहुम्) लम्बी भुजा वाले (इन्द्र) को 'ऊतये' अपनी रक्षा के लिये (बुलाते हैं) । यह भी निगम है ।

'करस्न' बाहु (भुज) होते हैं । क्यों ? कर्मोंके प्रस्नाता (करने वाले) होते हैं ।

'सुशिप्र' (७२) शब्द अनवगत इसी 'सृप्र' (७०) शब्द से व्याख्यान किया गया । अर्थात् यह भी 'सर्पति' या 'सृप' (भ्वा० प०) धातु से है ।

वाजे सुशिप्र गोमति" अर्थात्—'सुशिप्र !' हे सुन्दर ठोडी वाले ! या हे सुन्दर नाक वाले ! 'गोमति' गोओं वाले 'वाजे' अन्न में । यह भी निगम है ।

'शिप्र' हनू (ठोडी) या नासिकाएँ ।

'हनु' कैसे ? हिंसार्थक 'हन्' (अदा०प०) धातु से है ।

'नासिका' कैसे ? प्राप्ति या नमस्कार (झुकना) अर्थ में 'नस' (भ्वा०प०) धातु से है ।

" विष्यस्व शिप्रे विसृजस्व धेने " अर्थात्- हे इन्द्र देव ! तू 'शिप्रे' अपनी ठोडियों को हविः के खाने के अर्थ 'विष्यस्व' चला अथवा अपनी नासिकाओं को गन्ध के सूंघने के अर्थ चला । और 'धेने' (आधस्त्ये दंष्ट्रे) नीचेकी डाढें अथवा (जिह्वोपजिह्विके) जीभ और जीभके पासके स्थान (कागली) को 'विसृजस्व' हविः भक्षण के अर्थ छोड़ (चला) यह भी निगम है । यहा हविः के भक्षणके संबन्ध से ' शिप्रे ' यह हनु या नासिकाओं का नाम है । क्योंकि-भक्षण में ठोडी तो चलती ही है किन्तु गन्धभक्षण नासिका से ही होता है, इस लिये दोनों ही अर्थों का संभव है ।

'धेना' (डाढ़) धारणार्थक ' धा ' (जु०उ०) धातु से है । क्योंकि-वह भी भक्षण के समय अन्न को पीसने के अर्थ अन्न को धारण करती है ।

'रंसु' (७३) (सप्तमी का बहुवचन) अनवगत 'रमणी-येषु' (रमण करने योग्यों में) के अर्थ में है । ' रंसु ' कैसे ? रमणसे । अर्थात्-क्रीडार्थक 'रम्' (भ्वा० आ०) धातु और सप्तमी विभक्ति के बहुवचन 'सु' के योगसे बनता है ।

" सचित्रेण चिकिते रंसु भासा " अर्थात्-'सः' वह अग्निदेव 'चित्रेण' चित्र विचित्र 'भासा' अपनी ज्योति से युक्त 'रंसु' रमणीय द्युलोक आदि स्थानों में 'चिकिते' प्रकाशता है । यह भी निगम है । यहां शब्द की समानता और अर्थ के

अविरोध से 'रंसु' का 'रमणीयेषु' (रमणीयोंमें) अर्थ होता है।

'द्विबर्हाः' (७४) अनवगत 'द्विपरिवृढः' (द्वयोःस्थानयोः परिवृढः) (दो स्थानों में अर्थात् मध्यम स्थान में विद्युत् (विजली) के रूपसे और उत्तम (द्यु) लोकमें सूर्य के रूपसे बढाहुआ) के अर्थ में है।

" उत द्विबर्हाः अमिनः सहोभिः "अर्थात्- 'उत' और इन्द्रदेव ' द्विबर्हाः ' दोनों लोकों में बढा हुआ और ' सहोभिः ' बलों से ' अमिनः ' (अमितमात्रः) विना परिमाण (अथाह) है। यह भी निगम है॥

' अक्रः ' (७५) यह अनवगत 'आक्रमणः' (कोट) के अर्थ में है। क्यों ? वह शत्रुके आक्रमण (चढाई) से बचाता है। [अथवा अक्रमण से यह 'अक्र' है। क्योंकि वह दुर्गम होने से क्रमण (लांघा) नहीं जाता।]

" अक्रो न बभ्रिः समिथे महीनाम् "अर्थात्- सो अग्निदेव 'समिथे' (संग्रामे) संग्राम में 'महीनाम्' शत्रु-सेनाओं का 'अक्रो-न ' दुर्ग के कोट के समान 'बभ्रिः' धारण करने वाला है। यह भी निगम है। यहां शब्द की समानता और अर्थ के अविरोधसे 'अक्र' नाम कोट का होता है॥

' उराणः ' (७६) अनवगत 'उरु-कुर्वाणः' (बहुत करते हुए) के अर्थ में है।

" दूत ईयसे प्रदिव उराणः " अर्थात्- हे अग्नि देव! तू 'उराणः' थोड़े दिए हुए हविः को भी देवताओं की तृप्ति में समर्थ बहुत करता हुआ 'प्रदिवः' सब यजमानों का पराना 'दूतः' दूत 'ईयसे' (याच्यसे) याचना किया जाता है

यह भी निगम है। यहां शब्द की समानता और अर्थ की उपपत्ति के कारण 'उराणः' पद का 'उरु-कुर्वाणः' (बहुत करता हुआ) विपरिणाम होता है॥ १॥

(खं २)

निघ०– स्तियानाम् ॥ ७७ ॥ स्तिपाः ॥ ७८ ॥ जबारु ॥७९॥ जरूथम् ॥८०॥ कुलिशः ॥ ८१ ॥ तुञ्जः ॥ ८२ ॥

निरु०-'स्तियाः आपो भवन्ति। स्त्यायनात्।

"वृषा सिन्धूनां वृषभः स्तियानाम्।" (ऋ० सं० ४, ७, २०, १) इत्यपि निगमो भवति॥

'स्तिपाः' स्तियापालनः। उपस्थितान् पालयति इति वा।

"स नःस्तिपा उत भवा तनूपाः"। (ऋ० सं० ८, २, १९, ४)। इत्यपि निगमो भवति॥

'जबारु' जवमानरोहि। जरमाणरोहि। गरमाणरोहि इति वा।

"अग्रे रुप आरुपितं जबारु"। (ऋ० सं० ३, ५, २, २]। इत्यपि निगमो भवति॥

'जरूथं' गरूथम्। गृणातेः।

'जरूथं' हन्यक्षिराये पुरन्धिम्"। (ऋ० सं० ५, २, १२, ६)। इत्यपि निगमो भवति॥

'कुलिश' इति वज्रनाम । कूलशातनो भवति ।

"स्कन्धांसीव कुलिशेनाविवृक्णाहिः शयत उपपृक्पृथिव्याः" [ऋ०सं० १,२,३६,५] ।

'स्कन्धः' वृक्षस्य समास्कन्नो भवति ।

अयमपि इतरः 'स्कन्धः' एतस्मादेव । आस्कन्नंकाये ।

अहिः शयते उपपर्चनः पृथिव्याः ।

'तुञ्जः' तुञ्जतेर्दानकर्मणः ॥ २ (१७) ॥

अर्थः—'स्तियाः' (७७) (अनवगत) क्या ? जल होते हैं। क्यों ? स्त्यायन (संहनन) जोड़ने या जुड़ जानेसे क्योंकि जल ही पृथिवी के कणों को जोड़ते हैं, अथवा हिम (शीत) के प्रभावसे स्वयम् जुड़जाते हैं (पाला या बर्फ हो जाता है।)

"वृषा सिन्धूनां वृषभः स्तियानाम्" अर्थात्—हे इन्द्र ! 'सिन्धूनाम्' बहने वाले जलोंका तूही 'वृषा' बरसने वाला है। तूही 'स्तियानाम्' जमे हुए जलों (बरफों का 'वृषभः' बरसने वाला है। यह भी निगम है। यहां शब्द की समानता से 'स्तियाः' शब्द 'संहन्त्री' (जमाने वालों या स्वयम् 'संहताः' (जमी हुई') अपों (जलों) के अर्थ में है। शब्द और संघात (इकट्ठा करना या होना) अर्थ में 'स्त्यै' (भ्वा०प०) धातु का है॥

'स्तिपाः' (७८) (कूप) 'स्तियापालन' (जलसे पालने वाला) के अर्थ में है। अथवा 'उपस्थितों (आये हुए प्यासों) को जलके दानसे पालन करता है,इससे 'स्तिपा' हैं।

"स नःस्तिपा उत भवा तनूपाः" अर्थात्- हे अग्नि देव! 'उत' और 'सः' सो तू 'नः' हमारा 'स्तिपाः' कूए के समान 'तनूपाः' शरीरों को पालने वाला 'भव' हो। यह भी निगम है। यहां अर्थ के अविरोध और शब्दकी समानता से 'स्तिपा' कूप का नाम है॥

'जबारु' (७९) (सूर्य-मण्डल) क्यों? वह 'जवमान-रोहि' वेग से चलता हुआ आकाश में रोहण करता (चढ जाता) है। या 'जरमाणरोहि' भूतों को जराता हुआ आ-काश में रोहण करता है। या 'गरमाण-रोहि' पृथिवीके रसों (जलकणों) को निगलता हुआ आकाश में चढजाता है।

"अग्रेरुप आरुपितं जबारु" अर्थात्-हे यजमान त उस वैश्वानर सूर्य देव को भज, जिसके 'जबारु' मण्डल को 'अग्रे' पहिली सृष्टि के आदिमें देवताओंने 'रुपः' (पृथिव्याः) पृथिवी के ऊपर 'आरुपितम्' चढाया या स्थापन किया है। यहां इस प्रकार 'जबारु' सूर्य-मण्डल का नाम है॥

'जरूथ' (८०) क्या? 'गरूथ' (स्तोत्र)। सो क्यों? गरण किया जाता या बोलाजाता है। कैसे? 'गृणाति' = गर-णार्थक 'गृ' (क्र्या० प०) धातु से है।

"जरूथं हन्याक्षि राये पुरन्धिम्" अर्थात्- हे भगवन्! अग्नि देव! वसिष्ठ ने पूर्व कल्प में तेरे प्रति 'जरूथम्' (स्तोत्रम्) स्तोत्र को 'हन्' (गमयन्) भेजते हुए 'पुरन्धिम्' बहु कर्म वाले अथवा बहु धनके देने वाले तुझको 'राये' धनके अर्थ 'यक्षि' यजन किया है, वैसे ही मैं भी तेरा यजन करता हूं। यह भी निगम है। यहां शब्द की समानता और अर्थ की उपपत्ति से 'जरूथ' यह स्तोत्र का नाम और स्तुत्यर्थक (ज)

(भ्वा० प०) धातु का रूप है ॥

'कुलिश' (८१) अनवगत वज्र का नाम है। क्यों ? यह 'कूलशातन' कनारों का तोड़ने वाला है।

"स्कन्धांसीव कुलिशेनाविवृक्णाहिः शयत उपपृक् पृथिव्याः"। अर्थात्-'कुलिशेन' (वज्रेण) वज्र से 'विवृक्णा (विवृक्णानि = छिन्नानि) कटेहुए 'स्कन्धांसि-इव' स्कन्धों (वृक्षकी शाखाओं) के समान इन्द्र के वज्र से छिन्न हुआ 'अहिः' (मेघः) मेघ 'पृथिव्याः' पृथिवी के 'उपपृक्' ऊपर लगा हुआ 'शयते' सोता है। यहां मेघ का अवस्थान ही सोना माना गया है। इस मन्त्रमें बधके संबन्धसे 'कुलिश' नाम वज्रका है, यह निर्णीत होता है।

'स्कन्ध' क्यों ? वृक्ष के समास्कन्न या लगा हुआ होता है।

यह दूसरा (मनुष्य का) स्कन्ध भी इसी से होता है। क्योंकि-वह काय (देह) में आस्कन्न चपका हुआ होता है।

'अहिः शयते उपपर्वतः पृथिव्याः' मेघ सोता है, पृथिवी पर लगा हुआ ॥

'तुञ्ज' (८२) (दान) दानार्थक 'तुञ्ज' (भ्वा० प०) धातु का है ॥ २ ॥ १७ ॥

(खं० ३)

निघ०-बर्हणा ॥८३॥

निरु०-"तुञ्जे तुञ्जे य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः न विन्धे अस्य सुष्टुतिम् ।" (ऋ० सं० १, १, १४, २)

दाने दाने य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणो

नास्य तैर्विन्दामि समाप्तिं स्तुतेः ॥

'बर्हणा' परिबर्हणा ।

"बृहच्छ्रवा असुरो बर्हणा कृतः ।" (ऋ०सं० १, ४, १७, ३) । इत्यपि निगमो भवति ॥३(१८)

अर्थः—"तुञ्जे तुञ्जे" इस ऋचा का मधुच्छन्दा ऋषि, इन्द्र देवता, गायत्री छन्द और प्रात सवन में ब्राह्मणाच्छसी के आवाप मे विनियोग है।

'तुञ्जे तुञ्जे' (दाने दाने) दान दान में दान से संतुष्ट हुए हुए मुझ से 'ये' जो 'उत्तरे' (उत्तरोत्तरे) आगे आगे वाले 'वज्रिणः' वज्रधारी 'इन्द्रस्य' इन्द्र के 'स्तोमाः' स्तोत्र साधे जाते हैं, (तैः) उन से (अस्य) इस की 'सुष्टुतिम्' (स्तुतेः समाप्तिम्) स्तुति की समाप्ति 'न' नहीं 'विन्धे' (विन्दामि) प्राप्त होता हूं अर्थात् जितनी ही स्तुतियें उठाई जाती हैं, वे सब इन्द्र को प्राप्त हो कर न्यून ही हो जाती हैं। इस प्रकार यहां 'स्तोम' के सम्बन्ध से 'तुञ्ज' शब्द दान का पर्याय है। क्यों कि 'तुञ्ज्' धातु का दान अर्थ देखा जाता है।

'बर्हणा' (८३) यह अनवगत ' परिबर्हणा ' (वृद्धि अथवा हिंसा) के अर्थ में है। 'बर्हणा' के आदि में 'परि' उपसर्ग जोड़ने से उस के अर्थ की प्रसिद्धि हो जाती है।

"बृहच्छ्रवा असुरो बर्हणा कृतः" अर्थात् इन्द्र ने 'बर्हणा' अपनी वृद्धि से 'असुरः' (मेघः) मेघ 'बृहच्छ्रवाः' (बृहद्घोषः) बड़े शब्द से युक्त 'कृतः' कर दिया। अर्थात् जब इन्द्र ने मेघ पर वज्र मारा तो मेघ ने शब्द किया। यह भी निगम है। इस प्रकार यहां शब्द की समानता और असुर के सम्बन्ध से 'बर्हणा' शब्द 'परिबर्हणा' के अर्थ में है॥ ३ (१८)॥

(खं० ४)

निघ०—ततनुष्टिः ॥८४॥ इलीबिशः ॥ ८५ ॥

निरु०—"यो अस्मै घ्रंस उत वा य ऊधनि सोमं सुनोति भवति द्युमाँ अह । अपाप शक्रस्ततनुष्टि-मूहति तनूशुभ्रं मघवा यः कवासखः ॥" (ऋ० सं० ४, २, ३, ३) ॥

'घ्रंसः' इति अहर्नाम । ग्रस्यन्तेऽस्मिन्रसाः । गोः-'ऊध' उद्धततरं भवति । उपोन्नद्धम्-इतिवा । स्नेहानुप्रदानसामान्यात् रात्रिः-अपि 'ऊधः' उच्यते ।

स योऽस्मै अहनि अपिवा रात्रौ सोमं सुनोति भवति-अह द्योतनवान् । अपोहति अपोहति शक्रः ततिनिषुं धर्मसन्तानात्अपेतम् अलंकारिष्णुम् अयज्वानं तनूशुभ्रं तनुशोभयितारं मघवा, "यः कवासखः" यस्य कपूयाः सखायः ॥

"न्याविध्यदिलीबिशस्य दृढा विशृङ्गिणमभि-नच्छुष्णमिन्द्रः ।" (ऋ०सं० १,३,३,२) ।

निरविध्यत् इलाबिलशयस्य दृढानिव्यभिनत् शृङ्गिणं शुष्णम्-इन्द्रः ॥४ (१९)॥

'ततनुष्टिः' (८४) यह अनवगत 'तितनिषु' (फैलाने की इच्छावाला) के अर्थ में है।

"यो अस्मै०—०कवासखः" इस ऋचा का प्राजापत्य (प्रजापति का पुत्र) संवरण ऋषि, इन्द्र देवता, जगती छन्द है।

अर्थः 'यः' जो 'अस्मै' (इन्द्राय) इस इन्द्र के लिये 'अंसे' (अहनि) दिन में 'उत-वा' (अपिवा) 'यः' जो अथवा 'ऊधनि' (रात्रौ) रात्रि में 'सोमम्' सोम को 'सुनोति' निचोड़ता है, (सः) वह (अह) निश्चय 'द्युमान्' (द्योतनवान्) प्रकाशवान् 'भवति' होता है । और फिर जो इस से विपरीत पुरुष है, उस (अपसन्ततनात्-अपेतम्) पूर्वजों के आचरित धर्म मार्ग से अलग हुये वा कर्मों से रहित हुयेको अर्थात्—'कर्म मत करो' ऐसा कहने वाले को 'ततनुष्टिम्' 'तितनिषुम्' अपने धन को अनेक वाणिज्य आदि के प्रकारों से बढ़ाने वाले किन्तु इन्द्र देव की सेवा न करने वाले को 'तनूशुभ्रम्' (तनूशोभयिता-रम्=अलंकरिष्णुम्) अपने शरीर को ही सजाने वाले, किन्तु (अयज्वानम्) देव का यजन न करने वाले को, और 'यः' जो 'कवासखः' दुराचारियों से मित्रता रखने वाला है, उसे 'शक्रः' समर्थ 'मघवा' इन्द्र देव 'अप-अप-ऊहति' (अपोहति-अपोहति) वार वार नाश करता है। कोई व्याख्याकार 'य कवासखः' को 'तनूशुभ्रम्' का विशेषण बताते हैं। उन... अभिप्राय है, कि—जो शौकीन शरीर के ही पोषण में ... धन का व्यय करते हैं, वे कदाचित् सत्पुरुषों का संग क... वाले हों, तो सुमार्ग में आ सकते हैं, किन्तु ऐसे आदमी यदि 'कवासख' दुर्जनों के संगी होवें, तो उन के सुमार्ग में आने ... कोई आशा नहीं है, इस लिये इन्द्र देव उनका नाश ही कर

देता है। इस प्रकार यहाँ पर 'ततनुष्टि' शब्द शब्द और अर्थ के अविरोध से 'विषय के उपभोग मात्र में तत्पर' पुरुष को कहता है।

इस मन्त्र का अक्षरार्थ ही इस बात को कह रहा है कि जो पुरुष अपनी सम्पत्ति के धन भागको यज्ञोंके द्वारा लगाते हैं वे ईश्वर के प्रिय होते हैं और वह उन्हें उज्ज्वल या कीर्त्तिमान् बनाता है। और जो स्वार्थ के लिये ही संसार के धन को वाणिज्य आदि के द्वारा बटोर कर घरमें धर लेते हैं, वे उसके चोर हैं, उसे वे प्रिय नहीं लगते इसीसे अधोगति के भागी बनते हैं, जैसा कि भगवद्गीता में भी कहा है—

"इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तै र्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥"
"यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥"
[गी० अ० ३ श्लो० १२, १३]।

अर्थात्–यज्ञ के द्वारा पूजे हुये देवता तुम्हारे लिये वाञ्छित भोगोंको देंगे। उनके दिये हुये पदार्थों को उनके अर्पण न करके जो भोगता है, वह चोर ही है॥

अच्छे लोग ईश्वर के यज्ञसे बचे हुये को खाते हुये सब पापों से (जो धनार्जन में किये गये होते हैं) छूट जाते हैं॥ इसमें दो बातें स्पष्ट रूपसे निकलती हैं- (१) कमाये हुए धन को साधारण के साथ उनके समान ही भोगना चाहिए। (२) जिनसे वह धन जिन चालाकियों से कमाया गया था और उस में जितने पाप हुये थे, उनके साथ खाने में या उसे ईश्वरा-

पेण करके सबके साथ पवित्र भाव से फिर मिले हुये को खाने में उसे पाप लगने का कोई अवसर नहीं आता। क्योंकि-उस ने किसी तरह भी धन इकट्ठा किया, वह अपने लिये नहीं, किन्तु जिनसे (लोकसे) लिया उन्हींके लिये किया गया था॥

'इलीविशः' (८५) यह एक पद अनवगत मेघ का नाम है। इसकी शब्दसमाधि 'इलाबिलशयः' (इला या शब्द का कारण जो जल उस के निकलने के बिलों को रोक कर शयन करने वाला) है।

"न्याविध्यदिलीबिशस्य दृढा विशृङ्गिण मभिनच्छुष्णमिन्द्रः" अर्थात् 'इन्द्रः' इन्द्र देवने 'इलीबिशस्य' (इलाबिलशयस्य) मेघ के ' दृढा ' (दृढानि) दुर्भेद्य या दृढ स्थानों को 'न्याविध्यत्' (निरविध्यत्) भेदन किया। इतना ही नहीं किन्तु ' विशृङ्गिणम् ' (शिखरवन्तम्) शिखर वाले अथवा (दीप्तिमन्तम्) बिजली से प्रकाशयुक्त मेघ को 'अभिनत्' भेदन किया। यहां शब्द की समानता और अर्थके अविरोध से 'इलीविश' मेघ है॥ ४ (१६)॥

(खं० ५)

निघ०-कियेधाः ॥ ८६॥ भृमिः ॥ ८७॥ विष्पितः ॥८८॥

निरु०-"अस्मा इदु प्रभरा तूतुजानो वृत्राय वज्रमीशानः कियेधाः। गोर्न पर्व विरदा तिरश्चेष्यन्नर्णांस्यपां चरध्यै॥" (ऋ० सं० १, ४, २९, २)।

अस्मै प्रहर तूर्णं त्वरमाणो वृत्राय वज्रमीशानः।

'किये धाः' कियद्धा इतिवा । क्रममाणधा इति वा ।

गोरिव पर्वाणि विरद मेघस्य,इष्यनू-अर्णांसि, अपांचरणाय ॥

'भूमिः' भ्राम्यतेः ।

"भूमिरस्यृषिकृन्मर्त्यानाम् ।" (ऋ०सं१,२,३५,२) इत्यपि निगमो भवति ।

'विष्पितः' विप्राप्तः ।

"पारं नो अस्य विष्पितस्य पर्षन्" । (ऋ०सं० ५, ५, २, १) इत्यपि निगमो भवति ॥५ (२०)॥

'कियेधाः' (८६) अनवगत 'कियद्धाः' (कितने भी अपरिमाण जलको धारण करने वाला) के अर्थमें, अथवा 'क्रममाणधा.' (क्रमण करता (चलता) हुये को धारण करने वाला) के अर्थ में है, और मेघ का नाम है ।

"अस्मा इदु "इस ऋचा का नोधानाम गौतम ऋषि है, त्रिष्टुप् छन्द, इन्द्र देवता और आहीनिक अहनों में अहीन सूक्त में विनियुक्त है ।

हे इन्द्र ! (एषः वृत्रः) यह वृत्र या मेघ 'कियेधाः' (कियद्धाः) कितने ही अपरिमाण जलको धारण किये हुये है, 'अस्मै' इस 'वृत्राय' मेघ के लिये तू 'तूतुजानः' (त्वरमाणः) वेगसे युक्त हुआ हुआ 'वज्रम्' वज्र को 'प्रभर' मार । क्योंकि—तुम हमारे 'ईशानः' ईश्वर हो, इस कारण आपसे ऐसे कहा जाता है । और वज्र का प्रहार करके वज्र के प्रहार से व्याकुल हुये इस मेघ के 'तिरश्चा' तिरछे चलने वाले वज्र से 'गोः' गौके 'न' समान 'पर्व' (पर्वाणि) पर्वों या 'सन्धिओं को

'विरद्' विदारण कर' अर्थात्-कोई गौका विकर्त्तन (छेदन) करने वाला उसके पर्वों को काटता है,उसी प्रकार तू भी इस मेघ के अवयवों को काट । किस अर्थ ? 'अर्णांसि' (जलानि) जलों को 'इष्यन्' इच्छा करता हुआ 'अपां' जलों के 'चरध्यै' (चरणाय) प्रजाओं के अर्थ देने के लिये ॥

'भूर्मिः' (८७) यह अनवगत (भ्रमणम्) घूमने वाला के अर्थ में है । अनवस्थान (एक स्थान में नहीं टिकना) अर्थ में 'भ्रम' (दिवा०प०) धातु से है,तथा अग्नि का नाम है।

" भूर्मिरस्यृषिकृन्मर्त्यानाम् "हे भगवन् ! अग्ने ! 'त्वम्' तू 'मर्त्यानाम्' मनुष्यों का 'भूर्मिः' नाना योनिओं में जन्म व मरण के द्वारा घुमाने वाला और 'ऋषिकृत्' दर्शन या विज्ञान का करने वाला 'असि' है । अर्थात् संसार और उससे मोक्ष होना तुम्हारे ही अधीन है, इससे हमें सर्व विज्ञानके प्रदान से अनुग्रह करके इस संसार से आप छुड़ाओ । प्रयोजन यह कि- देवयान से ही हमें ले चल किन्तु पितृ-यान से नहीं। इस प्रकार यहां 'भूर्मि' अग्नि है । क्योंकि ऐसे ही अर्थ का अविरोध होता है ॥

' विष्पितः ' (८८) यह अनवगत ' विप्राप्तः ' (जहां तहां फैला हुआ या सब जगह प्राप्त) के अर्थ में है ॥

" इमे दिवो अनिमिषा पृथिव्याश्चिकित्वांसो अचेतसं नयन्ति । प्रव्राजे चिन्नद्यो गाधमस्ति पारं नो अस्य विष्पितस्य पर्षन् ॥ " [ऋ०सं० ५, ५, २, १] ॥

" यदद्यसूर्य ब्रवोऽनागाः " इस सूक्त की "इमे-

दिवः " यह ऋचा है। इस सूक्त पर शौनक ने अपने प्रतिज्ञा सूत्र में कहा है—कि-इस सूक्त की पहिली ऋचा सूर्य देवता की है, और सब मित्रावरुण देवताओं की हैं। इसके अनुसार " इमेदिवः " यह ऋचा मित्रावरुण इन दोनों ही की है इस मतमें 'इमे' यह बहुवचन पूजा में है। क्योंकि-देवसंख्या द्वित्व या दो (२) है, जिसके अनुसार द्विवचन ही चाहिये था। भगवद्दुर्गाचार्य कहते हैं कि-इस सूक्त में तीसरा अर्यमा देवता भी प्रत्यक्ष होता है, इस कारण 'इमे' इत्यादि बहुवचन मित्र वरुण और अर्यमा इन तीनों की बहुत्व संख्या के कारण है, किन्तु पूजा के कारण नहीं, अतः शौनक का मत विचारणीय है।

'इमे' ये मित्र और वरुण देवता अथवा मित्र, वरुण और अर्यमा देवता 'दिवः' (एत्य) द्युलोक से आकर 'अनिमिषाः' आलस्य रहित तथा 'चिकित्वांसः' प्राणियों के सुकृत और दुष्कृतों (पापों) को जानते हुए 'अचेतसम्' मरे हुए (प्रेत) प्राणी को 'पृथिव्याः' पृथिवी से (अनु लोकम्) कर्म के अनुसार उस लोक को 'नयन्ति' ले जाते हैं। जिस से कि ऐसा है, इस लिए उन से मैं कहता हूं—'प्रव्राजे' (प्रकृष्ट व्रजने मरणाख्ये काले) बड़े गमन या मरण-काल के आजाने पर यदि 'गाधम्' संसार के पार करने में समर्थ हमारा कोई कर्म या विज्ञान 'अस्ति' है, तो वे 'नद्यः (नद्याः) नदी के 'चित्' समान 'विष्पितस्य' लम्बे या सब संसार में व्यापक 'अस्य' इस संसार रूप मार्ग के 'पारम्' पार 'पर्षन्' (नयन्तु) ले जावें। यह भी निगम है। इस प्रकार यहां शब्द की समानता और अर्थ के अविरोध से 'विष्पितः' शब्द 'विप्रासः'

के अर्थ में है।

जो लोग " गरुड पुराण " के प्रेतकल्प की समूलता और मरे हुए प्राणियों के देवताओं के प्रबन्धसे परलोक गमन को वेद में देखना चाहते हैं, वे इस मन्त्र को ध्यान से पढ़ें। इस मन्त्र में-"देवताओंका मरे हुए को इस लोक से परलोक में लेजाना और उनको उनके कर्मों के अनुसार सुख दु:ख मिलने का बहुत उत्तम प्रबन्ध किया हुआ" बतायागया है। प्रबन्ध की उज्ज्वलता जानने के लिये देवताओंके दो विशेषण ध्यान से देखने योग्य हैं।

(१) "अनिमिषाः" जो देवता इस पृथिवी से प्राणियों को उस लोक में ले जाते हैं, उनकी पलक कभी नहीं झिंपती वे सदा ही अपने कर्त्तव्य में जागते रहते हैं, इस से कोई यह न समझे कि-उनके सोजाने के समय हमारा मृत्यु का समय आजावेगा, तो फिर हम न मरेंगे और न अपने कर्मों के फल को ही भोगेंगे।

(२) "चिकित्वांस." वे देवता प्राणिओं के पाप पुण्यों को भले प्रकार जानते हैं, विना मीमांसा या नियम विरुद्ध अथवा अन्याय पूर्वक किसी के साथ वर्त्ताव नहीं कर सकते ॥ ५ (२०) ॥

(खं० ६)

निघ०- तुरीपम् ॥ ८९ ॥ रास्पिनः ॥ ९० ॥ ऋञ्जतिः ॥ ९१ ॥ ऋजुनीती ॥ ९२ ॥ प्रतद्वसू ॥ ९३ ॥

निरु०-" तन्नस्तुरीपमद्भुतं पुरुवारं पुरुत्मना ।
त्वष्टा पोषाय विष्यतु राये नाभानो अस्मयुः ॥ "
[ऋ०सं० २, २, ११, ४] ॥

तत् नः तूर्णापि महत् सम्भृतम् आत्मना त्वष्टा धनस्य पोषाय विष्यतु-इति ।

'अस्मयुः' अस्मान् कामयमानः ॥

'रास्पिनः' रास्पी रपते र्वा । रसते र्वा ।

" रास्पिनस्यायोः " ॥ [ऋ० सं०२, १, १, ४] ।
इत्यपि निगमो भवति ॥

'ऋञ्जतिः' प्रसाधनकर्मा ।

("आ व ऋञ्जसे ऊर्जां व्युष्टिषु ।" (ऋ०सं० ८, ३, १०, १) इत्यपि निगमो भवति ॥)

'ऋजुः'-इत्यपि अस्य भवति ।

"ऋजुनीती नो वरुणः" । (ऋ०सं०१, ६, १७, १) इत्यपि निगमो भवति ।

'प्रतद्वसू' प्राप्तवसू ।

"हरी इन्द्र प्रतद्वसू अभिस्वर" । (ऋ०सं० ६, १, १२, २,) । इत्यपि निगमो भवति ॥ ६ (२१) ॥

'तुरीपम्' (८६) यह अन्तर्गत 'तूर्णापि' (झटपट व्यापन होने वाला) के अर्थ में है । जल का नाम है । क्यों कि-वह तूर्ण (शीघ्र) व्याप जाता है ।

अर्थः- "तन्नस्तुरीपम्" इस ऋचाका दीर्घतमा ऋषि,

त्वष्टा देवता, अनुष्टुप् छन्द, है, और यह ऋचा आप्री सूक्त में है, अर्थात्– उसी के विनियोग में इस का विनियोग है, स्वतन्त्र नहीं।

'नाभानः' (न-अभानः = सदा दीप्यमानः) सदा चमकने वाला 'अस्मयुः' हमारे ऊपर अनुग्रह करने की कामना करता हुआ 'त्वष्टा' त्वष्टा देव 'राये' (रायः = धनस्य) धन के 'पोषाय' पोषण के लिये 'तत्' वह 'तुरीपम्' (तूर्णापि) जल 'विष्यतु' बरसे या बरसावे (यत्) जो 'अद्भुतम्' (महत् संभृतम्) बहुत ही उत्तम 'पुरुत्मना' (आत्मना) (बह्वात्मना) अनेकरूपसे 'पुरुवारम्' देशान्तर में आवरण करने (छाजाने) वाला हो। यहां 'त्वष्टा' मध्यम लोकके देवता और 'विष्यतु' (वर्षतु) के सम्बन्धसे 'तुरीप' जल है, यह उपपन्न होता है।

इस मन्त्र में उत्तम जलकी अपेक्षा दिखलाई है। जितना ही उत्तम जल बरसेगा उतना ही आरोग्य और आयुः–वृद्धि आदि का कारण होगा। क्योंकि–जलसे ही ओषधि वनस्पति आदि सब जीवन साधन होते हैं, उनमें जलके ही अनुसार बल नीरोगता आदि गुण होते हैं, तथा स्वयम् जल पान में उपयुक्त होकर उदर में अपनी उत्तमता के अनुसार लाभ देता है।

'अस्मयुः' क्या ' 'अस्मान् कामयमानः' हमें चाहने वाला॥

'राश्पिन' (६७) क्या ? 'रास्पी' शब्द करने वाला (जल) अथवा स्तुति करने वाला (पुत्र)। कैसे ? शब्दार्थक 'रप' (भ्वा० प०) धातु से अथवा शब्दार्थक ही 'रस' (भ्वा०प०) धातु से।

"रास्पिनस्यायोः" अर्थात् 'रास्पिनस्य' शब्द करने वाले या स्तुति करने वाले 'आयोः' जल की या पुत्र की प्राप्ति के अर्थ (हे ऋत्विजो ! ऐसा करो ।) यह भी निगम होता है। इस प्रकार यहां 'रास्पिन' शब्द से जल अथवा स्तोता कहा गया है।

'ऋञ्जति' (६१) यह धातु प्रसाधन या किसी को अपने अनुकूल बनाने अर्थ में है।

भगवद्दुर्गाचार्य कहते हैं कि इस शब्द को 'भाऋजीक' शब्द के समान समझ कर भाष्यकार ने इस का निगम नहीं पढ़ा। इस से जान पड़ता है—मुद्रित पुस्तकों में यहां पर "आवऋञ्जसे ऊर्जां व्युष्टिषु" यह जो निगम दिया हुआ है, वह पीछे से निविष्ट किया हुआ है, या उक्त आचार्य के समीपस्थ पुस्तकों में न था। इस उद्धृत खण्ड का अब तक पता भी नहीं चला है कि यह कहां का है।

'ऋजु' (६२) यह भी इस 'ऋञ्ज' (भ्वा० प०) धातु का ही है।

"ऋजुनीती नो वरुणः (मित्रो नयतु विद्वान्। अर्यमा देवैः सजोषाः॥") (ऋ० सं० १, ६, १७, १,)॥

अर्थात्—'ऋजुनीती' सरलनीति वाला या सरलबुद्धि वाला 'वरुणः' वरुणदेव 'विद्वान्' विद्वान् 'मित्रः' मित्रदेव और 'अर्यमा' अर्यमा देव 'देवैः' देवताओं के साथ 'सजोषाः' प्रसन्न होता हुआ 'नः' हम को 'नयतु' इस लोक से परलोक में ले जावे। यहां ऋजु शब्द शब्द की समानता से 'ऋञ्ज' धातु से ही है, अर्थ इस का प्रसिद्ध अथवा सरल हो सकता है।

'प्रतद्वसू' (६३) यह अनवगत 'प्राप्तवसू' (जिन्हों ने धन को प्राप्त कर लिया हो ऐसे दो) के अर्थ में है। 'अश्वौ' (दो घोड़े) अर्थ है।

"हरी इन्द्र प्रतद्वसू अभिस्वर" अर्थात्-'इन्द्र' हे इन्द्र ! देव ! तेरे 'हरी' दोनों घोड़े 'प्रतद्वसू' अपने अभीष्ट (सोम के खूखस या धान रूप धन को यज्ञ में प्राप्त हो गये हैं, इस से तू 'अभि स्वर' हमारी ओर आ। यह भी निगम है। इस प्रकार यहां 'हरी' इस पद के संबन्ध से 'प्रतद्वसू' यह शब्द 'प्राप्तवसू' (प्राप्त धन) के अर्थ में उपपन्न होता है ॥ ५ (२१) ॥

(खं० ७)

निघ०-हिनोत ॥९४॥ चोष्कूयमाणः ॥ ९५॥ चोष्कूयते ॥ ९६ ॥ सुमत् ॥ ९७ ॥ दिविष्टिषु ॥ ९८ ॥

निरु०-"हिनोता नो अध्वरं देवयज्या हिनोत ब्रह्म सनये धनानाम्। ऋतस्य योगे विष्यध्वमूधः श्रुष्टीवरी र्भूतनास्मभ्यमापः ॥" (ऋ० सं० ७, ७, २६, १) ॥

प्रहिणुत नोऽध्वरं देवयज्यायै।
प्रहिणुत ब्रह्म धनस्य सवनाय।
ऋतस्य योगे यज्ञस्य योगे याज्ञे शकटे इतिवा।
'शकटं' शकृदितं भवति। शनकैस्तकति-इतिवा।

शब्देन तकति इति वा ।

"श्रुष्टीवरी भूतनास्मभ्य मापः ।"

सुखवत्यो भवता मस्मभ्यमापः ॥

" चोष्कूयमाण इन्द्र भूरिवामम् ।" (ऋ०सं० १, ३, १, ३) ।

ददत् इन्द्र बहु वननीयम् ।

"एधमान द्विळुभयस्य राजा चोष्कूयते विश इन्द्रो मनुष्यान्" ॥ (ऋ०सं० ४, ७, ३३, १) ॥

व्युदस्यति एधमानान् असुन्वतः, सुन्वतः-अभ्यादधाति । " उभयस्य राजा " दिव्यस्य च पार्थिवस्य च ।

' चोष्कूयमाणः '-इति चोष्कूयतेः-चर्करीत-वृत्तम् ॥

' सुमत् ' स्वयम्-इत्यर्थः ।

" उप प्रागात्सुमन्मेधायि मन्म ।" (ऋ०सं० २, ३, ८, २) ।

उपप्रैतुमां स्वयं यन्मे मनोऽध्यायि यज्ञेन-इति आश्वमेधिको मन्त्रः ॥

' दिविष्टिषु ' दिव एषणेषु ॥ ७ ॥

'हिनोत' (६४) यह अनवगत 'प्रहिणुत' (प्रेरित करो) के अर्थमें है ।

"हिनोतानो" यह ऋचा कवष ऋषि की है। अपनप्त्रीय ऋचाओं में शस्त्र है।

अर्थः— हे (ऋत्विजः !) ऋत्विजो ! 'देवयज्या' (देवयज्यायै) देवताओंके यजनके अर्थ 'अध्वरम्' यज्ञ को 'हिनोत' (प्रहिणुत) प्रेरितकरो (भले प्रकार चलाओ)। और हमें 'धनानाम्' धनोंकी 'सनये' (सननाय = लब्धये) प्राप्ति के लिये (यूयम्) तुम सब 'ब्रह्म' स्तुतिरूप वेद को 'हिनोत' (प्रहिणुत) प्रेरित करो (उच्चारण करो)। 'ऋतस्य योगे' (यज्ञस्य योगे अथवा याज्ञे शकटे) और यज्ञ के संयोग में अथवा यज्ञ-सम्बन्धि शकट में जो 'ऊधः' औंधी के समान अधिपवण-चर्म (सोमरस घालने के लिये ग्रह चमस, और स्थाली आदि पात्रोंके नीचे बिछाया जाने वाला चर्म) को 'विष्यध्वम्' छोड़ दो। इस प्रकार ऋत्विजों से कहकर सोमसे मिले हुए जलों से कहता है—

'आपः !' हे जलो ! (जलसमूह !) तुम 'अस्मभ्यम्' हमारे लिए 'श्रुष्टीवरीः' (सुखवत्यः) सुख देने वाली 'भूतन' (भवत) होओ।

'शकट' क्यों ? शकृदित या गोबर से सना हुआ जैसा होता है। क्योंकि—जब उसमें जुताहुआ बैल गोबर करता है, तब उस गोबर से वह शकट या गाड़ा भी लिप्त हो जाता है। अथवा- 'शनकैः-तकति' बोझसे दबा हुआ धीरे धीरे चलता है। अथवा-'शब्देन तकति' शब्द करता हुआ चलता है, इससे 'शकट' है।

'चोष्कूयमाणः'(६५) और 'चोष्कूयते' (९६) ये दो अनवगत हैं। इनमें धातु ही अप्रतीत है। इन दोनों में पहिला सुबन्त (नाम) और दूसरा तिङन्त (आख्यात) है। पहिले का अर्थ देता हुआ, और दूसरे का अर्थ देता

है,-यह है। दोनों में 'कु' (अदा० प०) मूल धातु है, और वही 'यङ्' प्रत्यय के योग से 'चोष्कूय' के रूप में संयुक्त धातु हो गया है, उसी के ये नाम और आख्यात नाम वाले दो रूप बने है। प्रथम का उदाहरण—

"चोष्कूयमाण इन्द्र भूरि वामम्" अर्थात्- 'इन्द्र!' हे इन्द्र! 'भूरि' (बहु) बहुत 'वामम्' (वननीयम्) वाञ्छनीय जल को 'चोष्कूयमाणः' (ददत्) देता हुआ ("मा पणिर्भूः") बनिये के समान कृपण (मूंजी) मत हो। इस प्रकार यहां 'वणिक् के समान मत हो' 'बहुत वाञ्छनीय' इन पदों के सम्बन्ध से 'चोष्कूयमाण' पद 'ददत्' (देताहुआ) के अर्थ में है। दूसरे अर्थ का उदाहरण—

"एधमान द्विळुभयस्य राजा चोष्कूयते विश इन्द्रो मनुष्यान्" अर्थात्-'इन्द्रः' इन्द्रदेव 'एधमान द्विट्' (एधमानान् अपि असुन्वतः द्वेष्टि) बढते हुओं (सम्पत्तिमानों) को भी जो सोम का सवन नहीं करते-उसकी आज्ञा में नहीं चलते, द्वेष करता है। और (सुन्वतः अभ्यादधाति) सवन करने वालों या आज्ञामें चलने वालों को ऊँचा करता है,या अभ्युदयसे संयुक्त करता है। 'उभयस्य राजा' (दिव्यस्य च पार्थिवस्य च राजा) द्युलोक के धनका और पृथिवी के धन का राजा (स्वामी) है। और 'विशः' बढते हुए नहीं यजन करनेवाले मनुष्यों को 'चोष्कूयते' (व्युदस्यति) अभ्युदयसे हटाता है, एवम् 'मनुष्यान्' अपने को पूजने वाले मनुष्यों को उन्नत करता है। इस प्रकार यहां 'चोष्कूयते' पद 'व्युदस्यति' (हटाता है-गिराता है- दण्डित करता है) के अर्थ में है। क्योंकि-'एधमानद्विद्' (बढते हुओं से द्वेष करने वा) शब्द से

यही बात आती है।

इस मन्त्र का यह अभिप्राय है कि जो इन्द्र के पूजक या उस की आज्ञा में चलने वाले हैं, वे उस के इष्ट या प्यारे हैं, और जो उस की पूजा या आज्ञा स्वीकार नहीं करते, वे उस के द्वेष्य या अप्रिय हैं, चाहे वे बड़ी सम्पत्ति वाले क्यों न हों। इन्द्र देव पर किसी की सम्पत्ति या वैभव का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, उस के न्यायालय में "दूध का दूध और पानी का पानी" ही होता है। इसी से दरिद्र हो या धनवान् सब को सिर झुकाकर उसकी आज्ञा में रहना चाहिए।

'चोष्कूयमाण' यह चोष्कूयति का चर्करीत वृत्त या यङन्त-वृत्ति का प्रयोग है।

'सुमत्' (९७) यह अनवगत 'स्वयम्' (आप) के अर्थ में है।

"उप प्रागात्सुमन्मेधायि मन्म" (उपैतु मां स्वयं यन्मे मनः अध्यायि यज्ञेन) मुझे वह आप से आप प्राप्त हो, जो यज्ञ से मेरे मन में आया है। यह अश्वमेध यज्ञ का मन्त्र है।

'दिविष्टिषु' (९८) अनवगत 'दिवः एषणेषु' (द्यु लोक को प्राप्त कराने वाली क्रियाओं में) के अर्थ में है ॥७॥

(खं० ८)

निघ०—दूतः ॥९९॥ जिन्वति ॥१००॥

निरु०—"स्थूरं राधः शताश्वं कुरुङ्गस्य दिविष्टिषु।" (ऋ० सं० ५, ७, ३३, ४)।

'स्थूरः' समाश्रितमात्रो महान् भवति।

'अणुः' अनु स्थवीयांसम् । उपसर्गः लुप्तनामकरणः, यथा–'सम्प्रति' ।

'कुरुङ्गो' राजा बभूव । कुरु-गमनाद्वा । कुल गमनाद् वा ।

'कुरुः' कृन्ततेः ।

'क्रूरम्'–इत्यपि अस्य भवति ।

'कुलम्' कुष्णातेः । विकुषितं भवति ।

'दूतः' व्याख्यातः ।

'जिन्वतिः' प्रीतिकर्मा ।

"भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः" [ऋ० सं० २, ३, २३, ५] इत्यपि निगमो भवति ८॥ (२२) ॥

इति षष्ठाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।' ६, ४ ॥

"स्थूरं राधः शताश्वं कुरुङ्गस्य दिविष्टिषु । राज्ञस्त्वेषस्य सुभगस्य रातिषु तुर्वशेष्वमन्महि ।" (ऋ० सं० ५, ७, ३३, ४) ।

यह ऋचा मेधातिथि ऋषि की है । बृहती छन्द है । और इसमे दान की प्रशंसा की गई है ।

अर्थः–(वयम्) हम ' तुर्वशेषु ' (मनुष्येषु) मनुष्यों में 'रातिषु' (दानेषु) दानों के मध्य में 'सुभगस्य' सुभग या सुन्दर ऐश्वर्य वाले या सुहावने 'त्वेषस्य' बड़े 'कुरुङ्गस्य' ' राज्ञः'

कुरुङ्ग राजा के 'दिविष्टिषु' (क्रियासु) यज्ञादि क्रियाओं में 'शताश्वम्' सैंकड़ों घोड़ों वाले 'राधः' दक्षिणारूप धन को 'स्थूरम्' (स्थूलम्) मोटा या बहुत 'अमन्महि' (मन्यामहे) मानते हैं। इस प्रकार यहां 'दिविष्टि' शब्द से क्रियाओं का बोध होता है। क्यों कि-यज्ञादि क्रियाओं में ही दान होता है।

मेधातिथि इस मन्त्र में कहते हैं कि हम कुरुङ्ग राजा के घोड़ों वाले दान को मनुष्यों में बड़ा दान मानते हैं। घोड़े के दान की विधि दक्षिणा के रूप में पारस्करगृह्य सूत्र में भी वैश्यको विवाह कर्ममें 'वैश्यश्चेदश्वम्' वाक्य से बताई गई है।

'स्थूर' क्या ? समाश्रितमात्र या उस में बहुत मात्रा या परिमाण होता है। अर्थ क्या ? महान् = बड़ा।

'अणु' क्या ? अनु। अर्थात् स्थवीयान् या मोटे को अनुवर्त्तन करने वाला 'अणु' होता है। प्रयोजन-मोटे का विपरीत 'अणु' होता है। कैसे ? 'अनु' यह उपसर्गमात्र है, इस में इसे नाम बनाने वाला प्रत्यय लुप्त (लोप हुआ हुआ) है, इस से उस का श्रवण नहीं होता है। क्या और भी कोई शब्द ऐसा है, जो केवल उपसर्ग से ही नाम बन गया हो ? है। जैसे- 'सम्प्रति'। यह नाम वर्त्तमान काल का बोधक और 'सम्' 'प्रति' इन दो उपसर्गों से बना हुआ है। इस में कोई प्रत्यय नहीं है।

'कुरुङ्ग' राजा हुआ है। वह कैसे ? वह कुरु देशमें गमन करने से 'कुरुङ्ग' है। क्यों कि वह कुरुओं के प्रति जीतने को गया था। अथवा कुल गमन से 'कुरुङ्ग' है। क्योंकि वह नित्य ही शत्रु कुलों के प्रति जीतने जाता है।

'कुरु' क्यों ? वह शत्रुओं को कृन्तन (छेदन) करता है। 'कृत्' (तु० प०) धातु का है।

'क्रूर' यह भी इसी 'कृत' (तु० प०) धातु का है।

'कुल' 'कुष' (क्र्या० प०) धातु से है। क्योंकि वह विस्तृत होने से 'विकुषित' खुला हुआ या बिखरा हुआ जैसा होता है।

'दूत' (९९) अनवगत (अ० ५ खं० १ में) व्याख्यान किया जा चुका है।

'जिन्वति' (१००) धातु प्रीति अर्थ में है। यहां अप्रतीतार्थ होने से पढ़ा गया है।

"भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः।"

अर्थात् पर्जन्य (मेघ) पृथिवी को तृप्त करते हैं और अग्नि दिव् (द्युलोक) को तृप्त करते हैं। यह भी निगम है। इस की व्याख्या अ० ७ खं० २३ में भी होगी ॥६, ४॥

इति हिन्दीनिरुक्ते षष्ठाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ॥६,४॥

पञ्चमः पादः।

(खं० १)

निघ०—अमत्रः ॥ १०१ ॥ ऋचीषमः ॥१०२॥ अनर्शरातिम् ॥१०३॥ अनर्वा ॥१०४॥ असामि ॥१०५॥

निरु०—'अमत्रः' अमात्रः। महान् भवति। अभ्यमितो वा।

"महा अमत्रो वृजने विरप्शी"। (ऋ० सं० ३, २, १९, ४)। इत्यपि निगमो भवति।

"स्तवे वज्र्यृचीषमः" [ऋ० सं० ७, ७, ६, २]। स्तूयते वज्री ऋचा समः ॥

'अनर्शरातिम्' अनश्लीलदानम्। अश्लीलं पापकम्। अश्रिमत् विषमम्।

"अनर्शरातिं वसुदामुपस्तुहि" [ऋ० सं० ६, ७, ३, ४] इत्यपि निगमो भवति।

'अनर्वा' अप्रत्यृतः अन्यस्मिन्।

"अनर्वाणं वृषभं मन्द्रजिह्वं बृहस्पतिं वर्द्धया नव्यमर्कैः।" (ऋ०सं० २, ५, १२, १]।

'अनर्वम्' अप्रत्यृतम् अन्यस्मिन्। वृषभं 'मन्द्रजिह्वं' मन्दनजिह्वं, मोदनजिह्वम्-इति वा। बृहस्पतिं वर्द्धय नव्यम्। 'अर्कैः' अर्चनीयैः स्तोमैः।

'असामि' सामिप्रतिषिद्धम्।

'सामि' स्यतेः।

"असाम्योजो बिभृथा सुदानवः"। [ऋ० सं० १, ३, १९, ५]।

असुसमाप्तं बलं बिभृत कल्याणदानाः॥ १ (२३)॥

अर्थः-'अमत्र' (१०१) क्या ? अमात्र-जिसकी मात्रा या परिमाण नहो। सो क्या ? महान्-बड़ा होता है। अथवा अनभ्यमित-जो किसी से हिंसित न होसके, 'अमत्र' होता है।

"महाँ अमत्रो वृजिने विरप्शी" अर्थात्-महान्

बड़ा 'अमत्रः' अपरिमित इन्द्र देव 'वृजिने' संग्राममें 'विरप्शी' शत्रुओंको रुलाने वाला है। यह भी निगम है।

'ऋचीषम' (१०२) यह अनवगत है। यहा 'ई' कार का प्रयोजन प्रतीत नहीं होता अथवा इसी के व्यवधान से सारा शब्द अनवगत हो जाता है। 'ऋचासम' (ऋचा के समान) अर्थ में होता है।

"स्तवे वज्यृचीषमः" अर्थात्–'ऋचीषमः' स्तुति में कही हुई ऋचामें जैसी प्रशंसा है, वैसाही होजाने वाला 'वज्री' इन्द्रदेव 'स्तवे' (स्तूयते) हमसे स्तुति किया जाता है।

'अनर्शरोति' (१०३) अनवगत अनश्लीलदान—जो पापरूप दान नहीं, अपितु शुद्धदान वाला है, के अर्थ में है। अश्लील नाम पाप या अपवित्र का है। अर्थात्- अश्लील-पापरहित राति-दान जिसका है, सो 'अनश्लीलराति' है।

'अश्लील' कैसे ? अश्रिमत् (विषम) शब्द से।

"अनर्शरातिं वसुदा मुपस्तुहि" हे स्तुति करने वाले ! ऋत्विज् ! तू 'अनर्शरातिम्' पापरहित दान वाले, 'वसुदाम्' धनके देनेवाले इन्द्रको 'उपस्तुहि' मनसे सोच सोचकर स्तुतिकर। यह भी निगम है। यहां शब्दकी समानता और अर्थ के अविरोध से 'अनर्शराति' शब्द 'अनश्लीलदान' के अर्थ में है।

'अनर्वा' (१०४) अनवगत 'अप्रत्यृतः' -जो दूसरे में आश्रित नहीं, के अर्थ में है।

" अनर्वाणं वृषभं मन्द्रजिह्वं बृहस्पतिं वर्द्धया नव्यमर्कैः" अर्थात्- हे स्तुति करने वाले ! ऋत्विज् ! तू 'अनर्वाणम्' दूसरे में आश्रित नहीं, या अपनी महिमा से युक्त

'वृषभम्' कामनाओं के बरसने वाले 'मन्द्रजिह्वम् (मन्दनजिह्वम्) (मोदनजिह्वम्) हर्ष देनेवाली जिह्वा (शब्द) वाले 'नव्यम्' स्तुति करने योग्य 'बृहस्पतिम्' बृहस्पति देव को 'अर्कैः' (अर्चनीयैःस्तोमैः) मन्त्रों से 'वर्द्धय' बढा। इस प्रकार मन्त्रार्थ के अविरोध से 'अनर्वा' शब्द 'अप्रत्यृत' शब्द के अर्थ में है।

'असामि' (१०५) अनवगत 'असमाप्त' के अर्थ में है। क्योंकि- 'सामि' समाप्त का नाम है, और उसी का निषेध 'असामि' शब्द है।

'सामि' कैसे ? स्यति ('सो' दि० प०) धातु का है।

'असाम्योजो बिभृथा सुदानवः" अर्थात् 'सुदानवः!' हे कल्याण दान वाले! मरुतो! तुम सब 'असामि' (असुसमाप्तम्) नहीं समाप्त होने वाले 'ओजः' (बलम्) बल को 'बिभृथ' (बिभृत) धारण करो। इस प्रकार यहां अर्थ के अविरोध से 'असामि' शब्द 'असुसमाप्त' शब्द के अर्थ में है ॥ १ (२३) ॥

(खं० २)

निघ०-गल्दया ॥१०६॥

निरु०—"मात्वा सोमस्य गल्दया सदा याचन्नहंगिरा। भूर्णिं मृगं न सवनेषु चुक्रुधं कईशानं न याचिषत् ॥" [ऋ० सं० ५,७,१३,५]।

मा चुक्रुधं त्वां सोमस्य गालनेन सदा याचन्नहं गिरा गीत्या स्तुत्या, भूर्णिमिव मृगं न सवनेषु

चुक्रुधं, क ईशानं न याचिष्यते-इति ।

'गल्दा' धमनयो भवन्ति । गलन मासुधीयते ।

" आत्वा विशन्त्विन्दव आगल्दा धमनी-नाम् । "

नानाविभक्ती त्वेते भवतः । आगलना धमनी-नाम्-इत्यत्रार्थः ॥ २ (२४ (॥

'गल्दया' (१ ६) यह अनवगत है । 'गल्दा' क्या ? 'गलितधानी'—जिसमें गलित या गला हुआ (अन्न आदि) धारण किया जाता है । वह क्या ? नाड़ी ।

"मात्वा सोमस्य" इस ऋचा का मेधातिथि ऋषि, इन्द्र देवता, बृहती छन्द और महाव्रत में बृहती सहस्र में विनियोग है ।

अर्थः—हे इन्द्र ! 'अहम्' मैं 'सवनेषु' यज्ञोंमें 'गिरा' (गीत्या-स्तुत्या) स्तुतिसे 'सदा' सब काल में 'याचन्' याचता हुआ 'सोमस्य' सोमके ' गल्दया ' (गालनेन-धमनेन-पूरणेन) भरने से 'त्वा' (त्वाम्) तुझे 'मा' 'चुक्रुधम्' (मा क्रोधयेयम्) क्रोध न दिलाऊँ । और किस प्रकार क्रोधित न करूं ? 'भूर्णिं मृगं न ' भ्रमण-शील-घूमते हुए मृग-व्याघ्र-सिंह को जैसे । अर्थात् गीदड़ आदि छोटे वनचर जिस प्रकार पूंछ हिलाकर सिंह को फुसलाते हुए उसे क्रोधित नहीं करते, उसी प्रकार सोमके दान सहित स्तुतिसे तुम्हारे पास आता हुआ मैं तुम्हें क्रोध नहीं दिलाता । यदि मेरे क्रोध से तू डरता है, तो मुझसे याचना मतकर ! " कईशानं न याचिष्यते " कौन ऐसा संसार में है, जो ईश्वर से याचना न करेगा । क्योंकि-जो मांगते नहीं, उनकी वृत्ति—जीविका सिद्ध नहीं होती । इस प्रकार

यहां इन्द्र की जो गले की नाड़ी है, जिससे कि–सोम निगला जाता है, वह नाडी आगलन–निगलने से उपलक्षित होती हुई 'गल्दा' कही जाती है। क्योंकि–ऐसे ही अर्थ की उपपत्ति होती है।

'गल्दा' धमनी या नाडी होती हैं। क्योंकि–इनमें गलन निगलना धारण किया जाता है। "मात्वा" इस पूर्वोक्त मन्त्र में 'गल्दा' शब्द के धमनि–नाडी वाचक होने में कोई विशेष लिङ्ग नहीं है, इसी से भाष्यकार दूसरा उदाहरण देते हैं–

"आ त्वा विशान्त्विन्दव आगल्दा धमनीनाम्"

अर्थात्–हे इन्द्र! 'इन्दवः' (सोमाः) सोम 'त्वा' (त्वाम्) तुझे 'आविशन्तु' प्रवेश करें। और किस प्रकार? 'आगल्दा-धमनीनाम्' जिन अधोवाहिनी–नीचे को लेजाने वाली नाडियों से निगले हुए सोम नए मद को उत्पन्न करते हैं, उन धमनियों नाड़ियों से प्रवेश करें। इस प्रकार यहां 'धमनी' शब्द के साथ लगा हुआ 'गल्दा' शब्द है, इससे 'आगल्दा' धमनी है, यह सिद्ध होता है।

'गल्दया' और 'गल्दाः' ये दोनों पद भिन्न विभक्तिवाले ही हैं, जैसे कि पहिले में तृतीया विभक्ति का एक वचन है, और दूसरे पद में प्रथमा का बहुवचन, किन्तु इनके अर्थ में भेद नहीं है। पूर्व मन्त्र में 'गल्दा' शब्द के साथ 'धमनी' शब्द नहीं था, और दूसरे मन्त्र में है, यही दोनों उदाहरणों में परस्पर भेद है॥ २ (२४)॥

(खं० ३)

निघ०—जल्हवः ॥१०७॥

निरु०–"न पापासो मनामहे नारायासो न

जल्हवः ।" (ऋ०सं०६,४,३७,६)

न पापा मन्यामहे, नाधनाः, नज्वलनेन हीनाः। अस्ति अस्मासु ब्रह्मचर्यम्-अध्ययनं-तपः-दानकर्म, इति ऋषिः-अवोचत् ॥३ (२५)॥

'जल्हवः' (१०७) यह अनवगत 'ज्वलन-हीनाः' (अग्नि से रहित) के अर्थ में है।

अर्थः- " न पापासो मनामहे नारायासो न जल्हवः " अर्थात्-हे इन्द्र ! 'न पापासो (पापाः) मनामहे' (मन्यामहे) हम अपने को पापी नहीं मानते हैं। क्योंकि= हम 'न-अरायासः' (न अधनाः) निर्धन नहीं हैं, 'न जल्हवः' (न ज्वलनेन हीनाः) और अग्नि से रहित नहीं हैं। किन्तु जो निष्पापता के कारण हैं, वे सब ब्रह्मचर्य अध्ययन-वेद का पढना, तप-क्लेश सहने का सामर्थ्य, दान-कर्म, हम में हैं,- यह ऋषिने कहा। यहां ' जल्हवः ' शब्द शब्द की समानता और अर्थ के अविरोध से 'ज्वलनहीनाः' (अग्नि से रहित) के अर्थ में है ॥ ३ (२५) ॥

(खं० ४)

निघ०—बकुरः॥१०८॥ बेकनाटान्॥१०९॥

निरु०—'बकुरः' भास्करः। भयङ्करः। भासमानो द्रवति-इतिवा ॥

"यवं वृकेणाश्विना वपन्तेषं दुहन्ता मनुषाय दस्रा। अभिदस्युं बकुरेणाधमन्तोरुज्योतिश्चक्रथु-

रार्याय ॥" (ऋ० सं० १,८,१७,१) ॥

यवमिव वृकेण अश्विनौ निवपन्तौ ।

'वृको' लाङ्गलं भवति । विकर्त्तनात् ।

'लाङ्गलं' लङ्गतेः । लांगूलवद्वा ।

'लांगूलं' लगतेः । लङ्गतेः । लम्बतेर्वा ।

अन्नं दुहन्तौ मनुष्याय दर्शनीयौ अभिधमन्तौ ।

'बकुरेण' ज्योतिषा वा । उदकेन वा ।

'आर्यः' ईश्वरपुत्रः ॥

'बेकनाटाः' खलु कुसीदिनो भवन्ति । द्विगुणकारिणो वा । द्विगुणदायिनो वा । द्विगुणं कामयन्तः-इतिवा ।

"इन्द्रो विश्वान्बेकनाटाँ अहर्दृश उत क्रत्वा पर्णीं रभि ।" (ऋ०सं०६,४,४९,५) ।

इन्द्रो यः सर्वान् बेकनाटान् अहर्दृशः सूर्यदृशः । ये इमानि अहानि पश्यन्ति न पराणि-इतिवा । अभिभवति कर्मणा, पर्णींश्च वाणिजः ॥४(२६)॥

अर्थः-'बकुरः' (१०८) यह अनवगत है । भास्करः (प्रकाश करने वाला) 'भयङ्करः' (भय देनेवाला) अथवा 'भास्वद्दु द्रवणः' (चमकता हुआ चलने वाला) ये शब्दसमाधियें हैं ।

यवं वृकेण।०—० चक्रथुरार्याय ।" अर्थात्-

'अश्विना ! ' (अश्विनौ !) हे अश्विन् देवो ! 'वृकेण (लाङ्गलेन) हलसे 'यवम्' यव (जव) आदि धान्य को ' वपन्ता ' (वपन्तौ-इव) बोते हुए जैसे [जब अश्विन् देवता वर्षा करने का बड़ा अनुग्रह करते हैं,तभी हलके कर्म की फलसिद्धि होती है, इसी से उनको हलसे बीज बोने का विशेषण दिया गया है, वास्तव में सब प्रकार हल कर्म उनके अधीन है, यह यहां स्तुति है ।] 'इषम्' (अन्नम्) अन्न को'मनुषाय' मनुष्यके लिये 'दुहन्ता' (दुहन्तौ दोहते हुये-पूरते हुये 'दस्रा' (दस्रौ-दासयितारौ) शत्रुओं के नाश करने वाले ' अभिदस्युम् ' (दुर्भिक्षम्) दुर्भिक्ष-अकाल को ' बकुरेण ' (ज्योतिषा वा उदकेन वा) ज्योति से अथवा जलसे ' धमन्ता ' (धमन्तौ) नाश करते हुये 'आर्याय' (ईश्वरपुत्राय-ऋज्राश्वाय) ऋज्राश्व के लिये (युवाम्) तुम दोनों ने 'उरु' ' ज्योतिः ' बहुल प्रकाश 'चक्रथुः' किया था । (क्योंकि जब वह अन्धा होगया था, तब तुम दोनों ने उसे नेत्रवान् बनाया था ।) इस प्रकार यहां अर्थ के अनुरोध से 'बकुर' शब्द उदक (जल) समूह या ज्योति के समूह का वाचक होता है ।

'वृक' क्या ? लाङ्गल हल होता है । क्यों ? विकर्त्तन-छेदन करने से ।

' लाङ्गल ' शब्द 'लङ्ग' (भ्वा०प०) धातुसे है । क्योंकि-वह पृथ्वी में लगता है । अथवा लाङ्गूलवत्—पूंछवाला होने से लाङ्गल है ।

'लाङ्गूल' शब्द संगार्थक 'लग' (भ्वा०प०) धातु से है । अथवा उसी अर्थ में 'लङ्ग' (भ्वा० प०) धातुसे है । लटकना अर्थ में 'लम्ब' (भ्वा० आ०) धातु से है ।

'दस्त्र' क्या ? दर्शनीय अथवा शत्रुओंके नाशकरने वाले।

'आर्य' क्या ? ईश्वर–राजा का पुत्र–ऋजाश्व।

'बेकनाटाः' (१०६) यह अनवगत है ' बेकनाट कौन होते हैं ? 'कुसीदिनः' वृद्धिजीवी–व्याज से जीने वाले–जो दूसरों को अपना रुपया देकर समय के परिमाण पर मूल से कुछ अधिक लेना ठहरा लेते हैं,और फिर व्याजका व्याजलगा कर मूल से उस द्रव्य को द्विगुण कर लेते हैं। अथवा द्विगुणदा-यी –धन की वृद्धि के लोभ से अपने मूल धन को जो दूसरों में ही रखतेहैं,उन्हें धन आताही दिखाई देताहै किन्तु वास्तव में वे अपने धन को कभी दे बैठते भी हैं, अथवा द्विगुण–दुगुने धन की कामना वाले होते हैं।

" इन्द्रो विश्वान्बेकनाटाँ अहर्दृश उतक्रत्वा पर्णी रभि। " अर्थात्–(यः) 'इन्द्रः' जो इन्द्र देव 'विश्वान्' सब 'बेकनाटान्' (कुसीदिनः) व्याज खाने वालों अतएव 'अहर्दृशः' इसी जन्म में सूर्य को देख लेने वाले,किन्तु पाप के प्रभाव से जन्मान्तरों में अन्धकारमय नरक में जाने वाले व्यव-हारी जनों को अथवा जो अज्ञान के कारण विषय भोग में डूबे हुये इन्हीं दिनों को देखते हैं किन्तु आगे आने वाले दिनों को नहीं, ऐसे नास्तिक जनोंको तथा 'पणीन्' (वणिजः) वाणिज्य करने वालों को 'अभि–भवति' नाशकरता–दण्डित करता है। इस प्रकार यहां 'बेकनाट' शब्द अर्थ के अविरोध के कारण कुसीदी–व्याज खाने वाले का नाम है॥

इस मन्त्र से यह उपदेश मिलता है कि राजा को अपने राष्ट्र की आर्थिक दशा को सुरक्षित रखने के लिए वृद्धिजी-वी या व्यापारी लोगों पर तीव्र दृष्टि रखनी चाहिये ॥४(२६)॥

(खं० ५)

निघ०—अभिधेतन ॥ ११० ॥ अंहुरः ॥ १११ ॥ बतः ॥ ११२ ॥

निरु०-"जीवान्नो अभिधेतनादित्यासः पुराहथात् । कद्धस्थ हवनश्रुतः ॥" [ऋ० सं० ६, ४, ५१, ५] ॥

जीवतः नः अभिधावत आदित्याः । पुराहननात्, क्व नु स्थ ह्वानश्रुतः ।-इति ॥

मत्स्यानां जालमापन्नानाम्-एतत आर्षवेदयन्ते ।

'मत्स्याः' मधौ उदके स्यन्दन्ते । माद्यन्ते अन्योऽन्यं भक्षणाय-इतिवा ।

'जालं' जलचरं भवति । जले भवं वा । जले शयं वा ।

'अंहुरः' अंहस्वान् ।

'अंहूरणम्' इत्यपि अस्य भवति ।

"कृण्वन्नं हूरणादुरु ।" (ऋ०सं०१,७,२३,२) । इत्यपि निगमो भवति ।

"सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षु स्तासामेकामिदभ्यंहुरोगात् ।" (ऋ०सं०१,७,२३,२) ।

सप्त एव मर्यादाः कवयः चक्रुः, तासामएकामपि

अभिगच्छन्-अंहस्वान् भवति। स्तेयं, तल्पारोहणं, ब्रह्महत्यां, भ्रूणहत्यां, सुरापानं, दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवां, पातके अनृतोद्यम्-इति।

'बत(:)'-इति निपातः खेदानुकम्पयोः॥५(२७)॥

'अभिधेतन'(११०) यह अनवगत 'अभिधावत' (सह्मालो) के अर्थमें है।

"जीवान्नो"मन्त्र के जाल में फसे हुये मत्स्य ऋषि है, गायत्री छन्द और आदित्य दवता है।

अर्थः—'आदित्यासः' हे आदित्य देवो! तुम 'जीवान् नः' (जीवत. नः) जीते हुये हम को 'हथात्' (हननात्) मरने से 'पुरा' पहिले 'अभिधेतन' (अभि-धावत) सम्हालो। 'हवनश्रुतः!' (ह्वानश्रुतः!) हे आह्वान-बुलावे के सुनने वालो! 'क्व-ह-स्थ' (क्व नु स्थ) तुम कहां हो-जिस से कि न सुनते ही हो और न आते ही हो। इस प्रकार यहां 'पुराहथात्'-(मारने मरने से पहले) के सम्बन्ध से 'अभिधेतन' शब्द 'अभिधावत'-आओ-दौड़ो के अर्थ में है!

इस मन्त्रको जालमें पकड़े हुए मत्स्यों (मछलियों) का आर्ष बताते हैं। क्योंकि मन्त्रमें जो आवेदन-प्रार्थना करनेवाला होता है, वही ऋषि होता है, इस नियम के अनुसार इस मन्त्र में आदित्यों से आर्त्त मत्स्य पुकार करते हैं, इसी से उन का ऋषि होना सिद्ध होता है।

इस उदाहरण से वेद की नित्यता भी प्रतीत होती है क्यों कि—वेद मन्त्र नित्य शब्दों से नित्य अर्थ को ले कर प्रवृत्त होते हैं। यदि किसी समय—विशेष में वेद का निर्माण होता तो मत्स्य ऋषियों को पुकार की क्या अपेक्षा होती, जब कि—पुरुष ऋषिओं का ही

यथेष्ट लाभ होता। अतः मत्स्य ऋषि के समान वसिष्ठ आदि ऋषि भी मन्त्रों में नित्य शब्द के रूप ही में हैं, किन्तु किसी समय विशेष में होने वाले ऋषि नहीं। मन्त्र स्वतन्त्र हैं वे जिस प्रकार चाहते हैं, उपादेय अर्थ को प्रकाश कर देते हैं- कहीं मत्स्य, कहीं सर्प, कहीं ओषधि और कहीं वसिष्ठ आदि से।

'मत्स्य' क्यों? मधु-जलमें स्यन्दन-करते बहते हैं। अथवा आपस को खाने को मद-प्रमाद करते हैं।

'जाल' क्या? जलचर-जलमें विचरने वाला होता है। अथवा जलमें होने वाला। अथवा जलमें सोने वाला।

'अंहुर' अंहस्-वान्-पापवान्पापी होता है।

'अंहूरण' शब्द भी इसी 'अंहस्-वान्' का होता है।

"कृण्वन्नंहूरणादुरु" अर्थात्- 'अंहूरणात्' पापरूप कूप में पड़ने से उद्धार करके 'उरु' बहुत कल्याण 'कृण्वन्' करते हुये [बृहस्पति देवने त्रितकी पुकार को सुना]। यह भी निगम होता है। यहां अर्थ के अनुरोध से 'अंहूरण' नाम पापयुक्त का है।

'अंहुर' का उदाहरण-

"सप्त मर्यादाः कवय स्ततक्षुस्तासामेकामि-दभ्यंहुरोगात्" अर्थात्- 'कवयः' (मेधाविनः-हिरण्यगर्भ मनुप्रभृतयः) कवियों-मेधावियों-ब्रह्मा, मनु आदिकों ने 'सप्त मर्यादाः' सात मर्यादाएं 'ततक्षुः' (चक्रुः) की हैं। 'तासाम्' उन में 'एकाम्-इत्' (एकाम्-अपि) एक मर्यादा को भी 'अभि' 'अगात्' (अभिगच्छन्) उल्लंघन करता लांघता हुआ

'अंहुरः' पापी हो जाता है। सात मर्यादाएं—

(१) स्तेय–चोरी (२) तल्पारोहण–जारी (३) ब्रह्महत्या ब्राह्मण को मारना (४) भ्रूण हत्या–गर्भ-हत्या (५) सुरापान–मदिरा पीना (६) दुष्कृत–पाप-कर्म को वार वार करना (७) और किसी बुरे काम के निमित्त झूठ बोलना।

'बत' (११२) यह अनवगत निपात पद है और खेद (दुःख) और अनुकम्पा (दया) अर्थ का वाचक है ॥५(२७)॥

(खं० ६)

निघ०—वाताप्यम् ॥ ११३ ॥ चाकन् ॥११४॥ रथर्यति ॥११५॥ असक्राम ॥११६॥

निरु०—"बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदय-ञ्चाविदाम। अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तं परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम् ॥" (ऋ०सं०७,६,८,३)

'बतः' बलात्-अतीतो भवति। दुर्बलो बतासि यम नैव ते मनो हृदयं च विजानीमः। अन्या किल त्वां परिष्वङ्क्ष्यते कक्ष्येव युक्तं लिबुजेव वृक्षम्।

'लिबुजा' व्रतति भवति। लीयते विभजन्ती इति।

'व्रततिः' वरणात् च। शयनात् च। ततनात् च।

'वाताप्यम्' उदकं भवति। वातः एतत् आप्याययति।

"पुनानो वाताप्यं विश्वश्चन्द्रम्।" [ऋ० सं०

७, ४, ३, ५] । इत्यपि निगमो भवति ॥

"वने न वायो न्यधायि चाकन् ।" [ऋ० सं० ७, ७, २२, १] । वने इव वायः—वेः पुत्रः ।

[चाकन्-]चायन्-इति वा । कामयमानः-इति वा

(वायः-) 'वा' इति च 'यः'-इति च चकार शाकल्यः । उदात्तं तु एवम्-आख्यातम्-अभविष्यत् । असुसमासश्च अर्थः ।

'रथर्यति' इति सिद्धः तत्प्रेप्सुः । रथं कामयते इति वा ।

"एष देवो रथर्यति" । (ऋ० सं० ६,७,२०,५) । इत्यपि निगमो भवति ॥ (२८) ॥

"धेनुं न इषं पिन्वतमसक्राम् ।" (ऋ० सं० ५, १, ४, ३) । असंक्रमणीम् ॥६॥

इति षष्ठाध्यायस्य पंचमः पादः ॥६,५॥

अर्थः—" वतो वतासि " इस मन्त्र में यमी यमसे कहती है । —

'यम ! ' हे यम ! तू 'बतः' (दुर्बलः) दुर्बल 'असि' है-तू अधर्म से डरने वाला मोह में डूबा हुआ है, मेरे बार २ प्रार्थना करने पर भी तू दुःखित-खिन्न होता है-मुझसे संभोग करना नहीं चाहता है, इससे तू सर्वथा दया-योग्य और शोचनीय है । 'बत' खेद है । अथवा 'नैव ते मनो हृदयं च अविदाम-विजानीमः' तेरे मन-संकल्प और हृदय के निश्चय

को हम नहीं जानते। अथवा-मैंने तेरा अभिप्राय पा लिया।
" अन्या किल त्वां परिष्वजाते-परिष्वङ्क्ष्यते "
दूसरी ही मुझसे उत्तम स्त्री तुझे आलिङ्गन करेगी-उससे मोहित हुआ ही तू मुझे आलिङ्गन करना नहीं चाहता। कैसे तुझे वह आलिङ्गन करेगी ? " कक्ष्येव युक्तं लिबुजेव वृक्षम् " कक्ष-बगल में उपजी हुई अच्छी बढ़ी बेल जैसे अपने पास वाले वृक्ष को चारों ओरसे लपेट लेवे। इस प्रकार 'बतः' यह निपात खेद और अनुकम्पा-दया अर्थमें है। ऐसे ही प्रकरण संगत होता है।

'बत' क्या ? बलसे अतीत-अलग-दूर गया हुआ-दुर्बल होता है।

'लिबुजा' व्रतति-लता-बेल होती है। क्यों ? लय हो जाती है विभक्त-न्यारी होती हुई भी।

'व्रतति' क्यों ? वरण-स्वीकार- कर लेने ढांपलेने से। और शयन-सोजाने से। और ततन-फैलजाने से।

'वाताप्य' (११३) (अनवगत) उदक-जल होता है। क्योंकि-वह वात-पवन से आप्यायन होता-बढ़ाया-लाया जाता है।

" पुनानो वाताप्यंविश्वश्चन्द्रम् " हे सोम ! तू 'विश्वः' सब का सब 'चन्द्रम्' चमकीले-स्वच्छ 'वाताप्यम्' जलको प्राप्त होकर चलता हुआहुआ [नृचक्ष-] 'पुनान' पुत्र पौत्र सहित यजमान को पवित्र करता हुआ। यह भी निगम है। इस प्रकार यहां अर्थ और शब्द के सादृश्य से 'वाताप्य' जलका नाम है।

'चाकन्' (११४) यह अनवगत 'चायन्'-'पश्यन्' देखता-हुआ) के अर्थ में अथवा 'कामयमानः' (इच्छा करता हुआ) के अर्थ में है।

"वने न वायो न्यधायि चाकन्" हे इन्द्र! 'वने' 'न' (वृक्षे इव) वृक्षमें जैसे पक्षी शिशु-जिसके पांख नहीं जामी हों, 'वायः' अपने बच्चे को 'न्यधायि' (निदधाति) रख देता है। सो जैसे वहां-घुंसलेमें रखा हुआ 'चाकन्' (पश्यन्) भयसे चारों ओर दिशाओं को देखता हुआ रहता है,। अथवा रक्षक की कामना करता हुआ रहता है। इस प्रकार यहां 'चाकन्' शब्द 'चायन्' (देखता हुआ) या 'कामयमानः' (कामना करता हुआ) के अर्थ में है।

'वायः क्या ?' 'वेः पुत्रः' वि-पक्षी का पुत्र। शाकल्य मन्त्रोंके पदकार ने 'वायः' शब्द के 'वा' और 'यः' ये दो पद किये हैं। किन्तु यदि ऐसा होता तो 'न्यधायि' यह तिङन्त-आख्यात पद उदात्त स्वर वाला होता, क्योंकि—"यद्वृत्तान्नित्यम्" (पा० सू० ८, १, ६६) अर्थात्— 'यद्' शब्द के के प्रयोग के अनन्तर तिङन्त पद कभी निघात-अनुदात्त नहीं होता। इस नियम के अनुसार शाकल्य के मतमें 'यद्' शब्दके 'यः' रूपसे पर 'न्यधायि' आख्यात पद होता है, इस से यह अनुदात्त न होकर उदात्त होना चाहिए था परन्तु यह उदात्त नहीं बलकि- अनुदात्त है। दूसरा कारण भाष्यकार यह भी बताते हैं कि- "असुसमाप्तश्च अर्थः" अर्थ भी अधूरा रहता है।

'रथर्यति' (११५) यह अनवगत 'रथ हर्यति' (रथ या रक्षण या गमन की इच्छा करता है) के अर्थ मे है। अथवा रथ की कामना वाले के अर्थ में है।

'रथर्यति'। सिद्धः-बनाहुआ (सोम) 'रथर्यति' (तत्प्रेप्सुर्भवति) उस-रथ रंहण - गमन की इच्छावाला होता है। या रथकी कामना करता है। (यह नामधातु की क्रिया है।)

"एष देवो रथर्यति" 'एषः' यह 'देवः' सोम देव 'रथर्यति' रथ की या गमन की इच्छा करता है- यह भी निगम है।

'असक्राम्' (११६) यह अनवगत 'असंक्रमणीम्' (नहीं संक्रमण करने वाली) के अर्थ में है।

"धेनुं न इषं पिन्वतमसक्राम्" हे अश्विन् देवो! 'नः' हमारे लिये 'असक्राम्' हम से कभी अलग न होने वाली 'धेनुम्' गो को और 'इषम्' अन्न को 'पिन्वतम्' तुम दोनों झराओ या बढ़ाओ। इस प्रकार यहां शब्द के सारूप्य और अर्थ के अविरोध से 'असक्राम्' यह 'असंक्रमणीम्' (अलग न होने वाली) के अर्थ में है॥ ६ ॥

इति हिन्दीनिरुक्ते षष्ठाध्यायस्य पञ्चमः पादः ॥६,५॥

षष्ठः पादः।

(खं० १)

निघ०—आधवः ॥११७॥ अनवब्रवः ॥ ११८ ॥

निरु०—'आधवः' आधवनात्।

"मतीनां च साधनं विप्राणां चाधवम्।" (७,

७, १३, ४) इत्यपि निगमो भवति ।

'अनवब्रवः' अनवाक्षिप्तवचनः ।

"विजेषकृदिन्द्र इवानवब्रवः ।" [ऋ० सं० ८, ३, १९, ५] । इत्यपि निगमो भवति ॥१(२९)॥

अर्थः–'आघव' (११७) कैसे ? 'आघवन'-आकम्पन–सब ओरसे कँपाने से ।

" मतीनां च साधनं विप्राणां चाघवम् "

हे देव ! पूषन् ! आदित्य ! हम तुझे मतिओं-प्रज्ञाओं-बुद्धिओं का साधन–देने-वाला मानते हैं । क्योंकि–सूर्य के उदय होने से ही सब प्राणियों की बुद्धिएं प्रकट होती हैं । और मेधावी ब्राह्मणों का कँपाने वाला है । अर्थात् तू ऐसे अपनी गुण शालिता–अपने गुणों को दिखाता है, जिस प्रकार हृदय कांपते हुये वे तुझे स्तुति करते हैं । यह भी निगम होता है । इस प्रकार यहां शब्द की समानता और अर्थ की अनुकूलता से 'आघव' नाम 'आकम्पयिता' (कँपाने वाला) के अर्थ में है ।

'अनवब्रव' (११८) यह अनवगत 'अनवक्षिप्तवचन' (जिसके वचन का कोई खण्डन न कर सके) – अखण्डनीय वचन के अर्थ में है।

" विजेषकृदिन्द्र इवानवब्रवः । " हे मन्यु देव तू 'इन्द्रः–इव' इन्द्र के समान 'अनवब्रवः' अखण्डनीय वचन और 'विजेषकृत्' विजय का करने वाला है । यह भी निगम है । इस प्रकार यहां 'अनवब्रव' शब्द 'अनवक्षिप्त-वचन के अर्थ में है ॥ १ (२९) ॥

(खं० २)

निघ०—सदान्वे ॥११९॥ शिरिंबिठः ॥१२०॥ पराशरः॥१२१॥ क्रिविर्दती॥१२२॥ करूलती ॥१२३॥

निरु०—"अरायि काणे विकटे गिरिं गच्छ सदान्वे । शिरिम्बिठस्य सत्वभिस्तेभिष्ट्वा चातयामसि ॥" (ऋ० सं० ८, ८, १३, १) ॥

अदायिनि काणे विकटे ।

'काणो' ऽविक्रान्तदर्शनः-इति औपमन्यवः ।

कणते र्वा स्यात अणूभावकर्मणः ।

'कणतिः'शब्दाणूभावे भाष्यते-अनुकणति,इति।

मात्राणूभावात् 'कणः'

दर्शनाणूभावात् 'काणः' ।

'विकटः' विक्रान्तगतिः, इति औपमन्यवः ।

कुटते र्वा स्याद् विपरीतस्य। विकुटितो भवति।

गिरिं गच्छ सदानोनुवे ! शब्दकारिके ! ।

"शिरिम्बिठस्य सत्वभिः ।" (ऋ०सं०८,८,१३,१)

'शिरिम्बिठः' मेघः । शीर्यते बिठे ।

'बिठम्' अन्तरिक्षम् । 'बिठम्' वीरिटेन व्याख्यातम् ।

तस्य सत्वैः उदकैः इति स्यात् तैः त्वा चातयामः
अपि वा 'शिरिम्बिठः' भारद्वाजः ।

कालकर्णोपेतः अलक्ष्मी निणाशयांचकार, तस्य सत्त्वैः कर्मभिः इति स्यात् तैः त्वा चातयामः ।

'चातयतिः' नाशने ॥

'पराशरः'पराशीर्णस्य वसिष्ठस्य स्थविरस्य जज्ञे

"पराशरः शतयातु वसिष्ठः ।" [ऋ०सं० ५, २, २८, १] इत्यपि निगमो भवति ॥

'इन्द्रः' अपि पराशरः उच्यते । पराशातयिता यातूनाम् ।

"इन्द्रो यातूनामभवत्पराशरः ।" [ऋ० सं० ५, ७, ९, १] । इत्यपि निगमो भवति ॥

'करूलती' कृत्तदती । अपि वा देवं कश्चित् कृत्तदन्तं दृष्ट्वा एवम्-अवक्ष्यत्-॥२(३०)॥

'सदान्वे' (११९) अनवगत 'सदानोनुवे'—शब्दकारिके—हे शब्द कराने वाली ! के अर्थ मे है । दुर्भिक्ष की अधिदेवता अथवा अलक्ष्मी — दरिद्रा वाच्य है ।

"अरायि काणे" यह ऋचा शिरिम्बिठ भारद्वाज ऋषि की है, अनुष्टुप् छन्द और दुर्भिक्ष-अकाल की अधिदेवता के प्रति कही जाती है ।

अर्थः— हे 'अरायि !' अदायिनि ! न दान करने या कराने वाली । दुर्भिक्ष की अधिकारिणी देवता ! अथवा हे अलक्ष्मि ! दरिद्रे ! (क्योंकि दुर्भिक्ष और दारिद्र्य से पीड़ित जनों की दान में मति नहीं होती) इसी से उस देवता को

'अरायि !' सम्बोधन दियागया है।) हे 'काणे!' मन्द नेत्र वाली ! [क्योंकि-दुर्भिक्षसे पीडित जनों की दृष्टि मन्द हो जाती है।] (अलक्ष्मी के पक्षमें भी काणी अलक्ष्मी प्रतीत होती है। क्योंकि= लोकमें भी विरूप स्त्री को अलक्ष्मी कहते हैं।) हे 'विकटे!' विकट गति वाली! [क्योंकि-दुर्भिक्ष से दुर्बल हुए प्राणियों की गति विकट होजाती है।] [अलक्ष्मी पक्षमें वह विकट-रूपा प्रतीत होती है।] 'सदान्वे ?'-सदा नोनुवे ! -सदा प्राणिओं को रुलाने वाली ! (क्योंकि-दुर्भिक्ष में भूख के मारे पीडित प्राणी हैंकते हुए सदा शब्द करते हैं। तू 'गिरिंगच्छ' पहाड़ पर चली जा। " शिरिम्बिठस्य (मेघस्य) तैः सत्वभिः (उदकैः) त्वा चातयामसि (नाशयामः) मेघ के उन जलों से तुझे हम नाश करते हैं। अथवा " शिरिम्बिठस्य (भारद्वाजस्य) सत्वभिः नामभिः तेभिः त्वा चातयामसि " भारद्वाज ऋषि के देखे हुए स्तुतियुक्त नामों से हम तुझे नाश करते हैं। इस प्रकार यहां 'सदान्वे' पद 'सदानोनुवे' (शब्द कराने वाली !) के अर्थ में है।

इस मन्त्र में 'अरायि' (१) 'काणे' (२) 'विकटे' (३) 'सदान्वे' (४) स्त्री लिङ्ग सम्बोधन पद हैं। उनमें पहिला 'अरायि'पद दानार्थक 'रा' (अदा०प०) धातुका 'णिन्' प्रत्यय के संयोगसे 'रायि' होता है। जैसे दानार्थक 'दा' (जु०उ०) धातु का 'दायि' होता है। उसी का निषेध 'अरायि' है, जिसका लोक में स्त्रीलिङ्ग रूप 'अरायिनी' और सम्बोधन में उसी का 'अरायिनि' तथा 'दा' धातु का उसी प्रकार

'अदायिनि' होता है,जैसा कि–भाष्यकार ने कहा है । २ रा 'काणा' और ३ रा 'विकटा' शब्द लोक–प्रसिद्ध हैं । ४ थं 'सदान्वे' अनवगत मूल शब्द है ही, जिस का यह प्रकरण और निगम है ।

इस मन्त्र में शिरिम्बिठ ऋषि इन चारों सम्बोधनों से दुर्भिक्ष की पूर्णरूप से मूर्त्ति और उससे प्राणियों पर जैसी जैसी विपत्तियें आती हैं, उन सबका यथार्थ रूप से अनुभव कर रहा है। तथा उसके निवारण का उपाय प्राधान्य से जल सम्पत्तिको देख रहा है ।

• 'काणा' क्या ? विक्रान्तदर्शन या उसका दर्शन–देखना विक्रान्त-विकट-तीव्र होता है । क्योंकि-दोनों नेत्रों की ज्योति एक स्थानमें इकट्ठी हो जाती है । अथवा सन्धिके भेदसे 'अवि-क्रान्तदर्शन है । क्योंकि-उसकी दृष्टि मन्द होजाती है । यह औप-मन्यव आचार्य मानते हैं (ये दोनों अर्थ एक ही वाक्य से निकलते हैं और वह औपमन्यव का ही मत है । भाष्य के पाठ में सन्धि दोनों प्रकार की निकलती है—विक्रान्त और अविक्रान्त । दोनों ही निर्वचन अपने अपने ढङ्ग से अर्थ में घट जाते हैं ।)

अथवा अणुभाव—छोटा होना अर्थ में 'कण' (भ्वा० प०) धातु से है । अर्थात् सूक्ष्म–बारीक श्यामाक–सामक आदि अन्न 'कण' कहलाता है और उस की समानता से अल्प दर्शन या दृष्टि की मन्दता के कारण पुरुष 'काणा' कहलाता है ।

अथवा 'कण' धातु शब्द के अणुभाव–अल्पता में बोला जाता है, जैसे अनुकणति (कुणारता है), और मात्रा के अ...र या थोड़े पन से 'काणा' बोला जाता है । पहिले मत

में कश धातु अपने मुख्य अर्थ को और दूसरे मत में गौण अर्थ को लेकर 'काश' शब्द में उपयुक्त होता है।

'विकट' क्या ? विक्रान्त गति-जिस की गति विकृत बिगड़ी हुई हो, यह औपमन्यव आचार्य मानते हैं।

अथवा 'वि' (उप०) सहित 'कुट' (तु० प०) धातु का है। क्यों ? वह 'विकुटित' कुबड़ा होता है।

'शिरिम्बिठ' क्या ? मेघ।

'बिठ' क्या ? अन्तरिक्ष-आकाश। 'बिठ' की व्याख्या 'बीरिट' (अ० ५ पा० ४ खं० ९) से की गई जानना।

अथवा 'शिरिम्बिठ भारद्वाज ऋषि है। उस ने इस काल कर्ण सूक्त से युक्त हो-अनुष्ठान कर अलक्ष्मी-दरिद्रा को नाश किया था। अब भी दारिद्र्य से दबा हुआ पुरुष टोडी समान जलमें घुसकर इस सूक्त का जप करके दारिद्र्य से मुक्त हो सकता है।

'चातयति' नाश करना अर्थ में है।

'पराशर क्यों ? पराशीर्ण-स्थविर-बुड्ढे वसिष्ठ ऋषि के यहां जन्म लिया था।

"पराशरः शतयातुर्वसिष्ठः" हे इन्द्र! 'पराशरः' पराशर 'शतयातुः' बहुत राक्षसों का घातन करने वाला- मारने वाला और 'वसिष्ठः' वसिष्ठ (किसी से भी नष्ट नहीं होने)। यह भी निगम है। इस प्रकार यहां ऋषि 'पराशर' है, क्योंकि- वसिष्ठका सम्बन्ध है।

इन्द्र भी 'पराशर' कहलाता है। क्यों ? वह यातुओं का यातयितव्यों का-असुर आदियों का 'परा' सब प्रकार शात- यिता नाश करने वाला है।

"इन्द्रो यातूना मभवत्पराशरः" 'इन्द्रः' इन्द्र देव 'यातूनाम्' राक्षसों का 'पराशरः' बड़ा नाश करने वाला 'अभवत्' हुआ। यह भी निगम है॥

'क्रिविर्दती' (१२२) अनवगत शब्द 'विकर्तन-दन्ती' (काटने वाले दांतों वाली) के अर्थ में है।

" यत्रा वो दिद्युद्रदति क्रिविर्दती " अर्थात्-'यत्र' जिस मेघमें 'क्रिविर्दती' काटने में समर्थ दांतों वाली 'दिद्युत्' (आयुध-विशेष) 'रदति' काटती है। यह भी निगम है। यहां अर्थ के अनुसार 'क्रिविर्दती' शब्द आयुध का नाम है॥

'करूलती' (१२३) अनवगत) शब्द 'कृत्तदती' (कटे हुये दांतों वाली) के अर्थ में है।

अथवा किसी कटे हुये दांतों वाले देवता को देखकर ऋषि ने ऐसा कहा है-॥ २ (३०)॥

(खं० ३)

निघ०—दनः ॥१२४॥ शरारुः ॥१२५॥ इदंयुः ॥१२६॥

निरु०-" वामं वामं त आदुरे देवो ददात्वर्यमा।
वामं पूषा वामं भगो वामं देवः करूलती॥"
(ऋ० सं० ३, ६, २३, ४)

'वामं' वननीयं भवति।

'आदुरिः' आदरणात्।

तत्कः ? 'करूलती' ? भगः । पुरस्तात् तस्य अन्वादेशः-इत्येकम् ।

पूषा-इत्यपरम् । सोऽदन्तकः ।

"अदन्तकः पूषा"-इति च ब्राह्मणम् ॥

"दनो विश इन्द्र मृध्र वाचः" (ऋ० सं० २, ४, १६, २) ।

दानमनसो नो मनुष्यान् इन्द्र ! मृदुवाचः कुरु ॥

"अवीरामिव मामयं शरारुरभिमन्यते ॥" (ऋ० सं० ८, ४, २, ४) ।

अबलामिव मामयं बालोऽभिमन्यते संशिशरिषुः

'इदंयुः' इदं कामयमानः ।

अथापि तद्वदर्थे भाष्यते ।

'वसूयुः' इन्द्रो वसुमान्-इत्यत्रार्थः ।

"अश्वयुर्गव्यूरथयुर्वसूयुः" (ऋ० सं० १,४,११, ४) । इत्यपि निगमो भवति ॥३[३१]॥

"वामं वामम्" यह ऋचा वामदेव ऋषि की है। अनुष्टुप् छन्द और रात्रिपर्याय में प्रशास्ता के शस्त्र में विनियुक्त है।

'वामम्', पद का दो वार पाठ भूयस्त्व=आधिक्य के लिये है। क्यों कि-आगे आचार्य कहेगा-"अभ्यास भूयांसमर्थं मन्यते" अभ्यास-दोहराने में बहु अर्थ को मानता है।

अर्थ- 'आदुरे ! ' हे आदरवाले ' यजमान ' जो जो 'ते' तेरा 'वामम्' (वननीयम्) वाञ्छनीय-चाहने योग्य धन है,

सो भी 'अर्यमा-देवः' अर्यमा देव तुझे 'ददातु' देवे। अथवा अर्यमा देव अपने प्यारे धन को हे यजमान! तुझे दे। 'पूषा वामं ददातु' पूषा देव तुझे वाञ्छनीय धन दे। 'भगः वामं ददातु' भग देव तुझे वाञ्छनीय धन दे। 'करूलती देवः वामं ददातु' करूलती कटे दांत वाली देवता तुझे वाञ्छनीय धन दे।

यहां 'करूलती' यह पद कटे हुए दांत रूप गुण को बोधन करता है, अतः विशेषण शब्द है, किसी देवता का नाम नहीं, और इसी मन्त्र में इससे पूर्व 'भग' 'पूषा' ये भिन्न भिन्न देवताओं के नाम आये हैं, इस से यह सन्देह का स्थान होने से विचार किया जाता है कि "तत्कः करूलती" सो कौन 'करूलती' है, भग या पूषा? एकमत है-"भग"। क्योंकि-'करूलती पदसे पूर्व समीप में 'भग' ही पढाहुआ है इससे प्रतीत होता है कि-'करूलती' 'भग' को ही कहा गया है 'करूलती' पदसे उसी को अन्वादेश-फिर स्मरण किया गया है।

दूसरा मत है कि-'करूलती' पूषा देवता को कहा गया है। क्योंकि-वह अदन्त-विना दांत का है। यह कहां से जाना गया कि-पूषा अदन्त है?

"अदन्तकः पूषा" पूषा अदन्त है, यह ब्राह्मण ग्रन्थ है।

प्राशित्र भाग के ब्राह्मण में इसका पूरा इतिहास ऐसा सुनाजाता है-

"तत् पूष्णे पर्याजह्रुः, तत् पूषा प्राश्नात्, तस्य

दतो निर्जघान, तस्मादाहुः- अदन्तकः पूषा"

वह हविः पूषाको दिया गया, पूषाने उसे खालिया, उस के दांत तोड़ दिये गए, इस कारण पूषा अदन्त है, ऐसा कहते हैं। इससे जिन्होंने समीपता मात्रके कारण भग को 'करूलती' कहा, सो ठीक नहीं है। क्योंकि–कहा भी है–

"यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थमपि तस्य तत्।
अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम्॥"

अर्थात्– जिस पदका जिस पदके साथ अर्थ-सम्बन्ध है- अर्थ जुड़ता है,वह दूर पड़ाहुआ भी पद उसीका है। क्योंकि- अर्थ से असमर्थ सम्बन्ध न रखने वाले पदों का आनन्तर्य– निकट होना कारण नहीं-सम्बन्ध का हेतु नहीं॥

'दनः' (१२४) यह अनवगत 'दानमनस' (दान में मन रखने वाले) के अर्थ में है।

"दनो विश इन्द्र मृध्रवाचः"

'इन्द्र' हे इन्द्र! देव! हमारे लिये 'विशः' (मनुष्यान्), मनुष्यों को 'दनः' (दानमनसः) देनेके मन वाले और 'मृध्र- वाचः' (मृदुवाचः) मीठी वाणी वाले (कुरु) कर।

'शरारुः' (१२५) यह अनवगत 'सीशशरिषु.'—'मुमूर्षु.' (मरने की इच्छा वाला) के अर्थ में है—

"अवीरामिव मामयं शरारुरभिमन्यते।
उताहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा विश्वस्मा- दिन्द्र उत्तरः॥"

इस ऋचा का इन्द्र देवता, इन्द्रपत्नी ऋषि, और पङ्क्ति छन्द है। इन्द्रपत्नी कहती है–'अयं शरारुः'–(बालः–मूर्खः–

संशिशरिषुः—मुमूर्षुः) यह बालक-अज्ञान-मरने की इच्छा वाला-मूढ 'माम् अवीराम्-इव मन्यते' मुझे अवीरा—विना वीर की अबला जैसी मानता है। यह इसकी अत्यन्त ही क्षुद्र मति है। किन्तु 'उत' वास्तव में 'अहम् वीरिणी अस्मि' मैं वीरिणी—वीर वाली इन्द्रपत्नी हूं। 'इन्द्रः मरुत्सखा विश्वस्मात् उत्तरः' इन्द्र मरुतों का मित्र और संसार में सबसे बड़ा' बलवान् या प्रभुके गुणोंसे ऊंचा है। इस प्रकार यहां 'शरारु' शब्द 'संशिशरिषुः' (शरीर को छोड़ने की इच्छा वाला) के अर्थ में है।

इस मन्त्र में जिस अत्याचारी पर इन्द्राणी क्रोधाग्नि उगल रही है, वह नहुष राजा या और कोई हो सकता है। क्योंकि-नहुष ने भी किसी समय इन्द्राणी पर आक्रमण करना चाहा था, यह आख्यान पुराणों में भी मिलता है। यह मन्त्र इन्द्राणी के द्वारा पतिव्रता के दृढ भावों को सूचित करता है, इस लिये स्त्रियों को यह बड़ा आदरणीय तथा हृदय में रखने योग्य है। जिस प्रकार हिन्दुस्थान में हिन्दुओं के इतिहासों में पुराणों में और प्राचीनतम कालसे अद्य पर्यन्त हिन्दू स्त्रियों में सतीपना देखागया और देखा जाता है, वैसा ही वेद मन्त्रों में भी अधिकता से मिलता है। इस से ऐसा समझने का किसी को अवसर न होगा कि- स्त्रियों का पातिव्रत्य धर्म किसी समय विशेष में गढ लिया गया होगा। सुतराम् हिन्दू स्त्रियों का यह पातिव्रत्य धर्म वैदिक और अनादि है।

'इदंयुः' (१२६) यह अनवगत पद अनेकार्थ है—इसके अनेक अर्थ हैं।

'इदंयुः' क्या? 'इदं कामयमानः' (इस की कामना करने वाला) होता है। यहां 'इदम्' यह पद वाञ्छित वस्तु

मात्र के लिये है, अर्थात्—कामना या प्रार्थना करने वाले को 'इदंयु' कहाजाता है। 'यु' शब्द कामना अर्थ में प्रसिद्ध नहीं इसका बोल चालमें बहुत प्रयोग नहीं होता है, इस कारण 'इदंयु' शब्द अनवगत है।

और भी 'तद्वत्' (उस वाले) के अर्थ में बोला जाता है-हिन्दी में जहां 'वाला' शब्द जोड़ा जाता है—जिस अर्थ के लिये कहा जाता है, संस्कृत में उसी प्रयोजन के अर्थ 'यु' शब्द दिया जाता है। जैसे " वसूयुरिन्द्रः " यहां ' इन्द्र वसूयु अर्थात् वसुमान् = वसुवाला = धनवाला है ऐसा अर्थ होना है। क्योंकि परिपूर्ण इन्द्र में वसुकी कामना का संभव नहीं इस से यहां 'यु' तद्वत् अर्थ में है।

"अश्वयु र्गव्यू रथयुर्वसूयुः "

'इन्द्रः' इन्द्र 'अश्वयुः' घोड़े वाला 'गव्युः' गोवाला 'रथयुः रथवाला और 'वसूयुः' धनवाला है। यह भी निगम है। इस प्रकार इस निगम में 'अश्वयु' (अश्ववाला) आदि शब्दों में अनेक वार 'तद्वत्' के अर्थ में 'यु' शब्द का प्रयोग आया है। यहां ये सब इन्द्र के विशेषण हैं, अतः कामना का संभव न होने से 'तद्वत्' का अर्थ ही लिया जासकता है। ३ (३१)॥

(खं० ४)

निघ०—कीकटेषु ॥१२७॥ बुन्दः ॥१२८॥

निरु०-"किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो नाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम्। आनो भर प्रमगन्दस्य वेदो नैचाशाखं मघवन्नन्धया नः ॥" (ऋ० सं० ३,३, २१, ४) ॥

किं ते कुर्वन्ति कीकटेषु गावः ।

'कीकटाः' नाम देशः, अनार्यनिवासः ।

'कीकटाः' किंकृताः । किं क्रियाभिः-इति प्रेप्सा वा ।

नैव च आशिरं[1] दुह्रे, न तपन्ति घर्मम्[2], हर्म्यम् आहर नः प्रमगन्दस्य धनानि ।

'मगन्दः' कुसीदी ।

'मागन्दः' माम् आगमिष्यति इति च ददाति, तदपत्यं 'प्रमगन्दः' अत्यन्तकुसीदिकुलीनः ।

प्रमदको वा । यः-'अयमेवास्ति लोको नपरः' इति प्रेप्सुः ।

पण्डको वा । पण्डकः पण्डगः, प्रार्दको वा । प्रार्दयति-आण्डौ । 'आण्डो' आणी इव व्रीडयाति तस्मे ॥

'नैचाशाखम्' नीचाशाखः = नीचैः शाखः ।

'शाखाः' शक्नोतेः ।

---

१ सोमसमिश्रणयोग्य पयः (सा० भा०)

२ घर्मं घरणम् । इति सायणभाष्यस्थनिरुक्तपाठः । प्रवर्ग्याख्य कर्मोपयुक्तं महावीरपात्रं स्वपयः प्रदानद्वारेण न तपन्ति (सा० भा०)

'आणिः' अरणात् ।

तन्नो मघवन्रन्धय इति । रध्यति वशगमने ॥

'बुन्दः' इषुर्भवति । बुन्दो वा । भिन्दो वा ।
भयदो वा । भासमानो द्रवतिइति वा ॥४(३२)॥

अर्थः-'कीकटाः' (१२७) यह अनवगत है । 'किंकृताः' अथवा 'किं-क्रियाभिः' ये इसकी शब्द समाधियें हैं । इस का वाच्य अर्थ अनार्यों का म्लेच्छों का निवास देश है ।

"किं ते कृण्वन्ति" इस ऋचा का विश्वामित्र ऋषि, इन्द्र देवता और त्रिष्टुप् छन्द है ।

हे इन्द्रदेव ! (याः) जो 'कीकटेषु' (अनार्यदेशनिवासिषु मनुष्येषु) म्लेच्छ देश के रहने वाले मनुष्यों में या म्लेच्छों के देश में 'गावः' गौयें हैं, (ताः) वे 'ते' तेरा 'किम्' क्या 'कृण्वन्ति' (कुर्वन्ति) करती हैं ? [कुछ नहीं] क्यों? "न आशिरं दुह्रे" न आशिर [सोममें मिलाने योग्य दूध] देती हैं, और "न तपन्ति घर्मम्" न घर्म [महावीर पात्र] को अपने दूध से तपाती हैं। [प्रयोजन यह कि-और भी अग्निहोत्रादि कर्मों में वे उपयुक्त नहीं होतीं ।] इस से हम कहते हैं— "आभर (हर) नः (ताः गाः)" लेआ उन गौओंको हमारे पास [क्योंकि-हमउन गौओंसे आशिर आदि हविः तैयार करके तुम्हारा उपकार करेंगे ।] और "प्रमगन्दस्य वेदः" जो यह प्रमगन्द-अत्यन्त ही व्याज खोने वाले पुरुष का धन है, सो भी 'आभर' लेआ । [क्योंकि-वह भी तेरे यजन में नहीं लगता ।] और "नैचाशाखं मघवन् ! रन्धय नः"

हे मघवन् ! इन्द्र ! नीचाशाख-नीचकुलप्रसूत-नीच कुल में जन्मे हुये दीनतुल्य जनके धनको भी हमारे अधीन करदे। [क्योंकि नीचस्वभाव जनों का धन भी तेरे यज्ञमें नहीं लगता।] इस प्रकार यहां 'कीकट' शब्द शब्द की समानता और अर्थ की योग्यता से अनार्य देशवासी मनुष्यों को कहता है।

इस मन्त्रसे यह भले प्रकार प्रकट होता है, कि-कहीं भी किसी पुरुषके पास साधारण के उपयोग में या महाकार्य में न आने वाला धन रुका हुआ पड़ा हो, उसे राजशासन के द्वारा लेकर देवकार्य-महाकार्य में उपयुक्त करना चाहिये।

'कीकट' क्या ? देश। कौनसा ? जो अनार्यों या म्लेच्छों का निवास हो।

'कीकटाः' कैसे ? 'किंकृताः' (ये क्यों किये गए हैं, इनसे कोई अर्थ नहीं है, ऐसा जिन्हें कहा जावे।) शब्द से है। अर्थात्-ये देवताओं, पितरों तथा मनुष्यों का कोई उपकार नहीं करते इससे ये 'किंकृत' हैं, और 'किंकृत' कहे जाते हुये 'कीकट' कहे जाने लगे।

अथवा-जिनकी ऐसी प्रेप्सा-अभिप्राय है, कि- " किं क्रियाभिः " क्या क्रियाओं से (कर्मों से) है, [किन्तु कोई फल जन्मान्तर में नहीं है।] वे मनुष्य (नास्तिक जन) 'किं-क्रिय' कहे जाते हुये 'कीकट' कहे जाने लगे।

'घर्म' क्या ? हर्म्य उन धनाढ्यों के स्थान, जो वैदिक अग्नि वाले मनुष्य हैं, जिनके घर अग्निहोत्रादि कर्मोंसे नित्य ही गरम रहते हैं। अथवा घर्म क्या ? महावीरपात्र। क्यों ? घरण होनेसे। क्योंकि-उसमें दूध झरता है। 'घृ' क्षरणदीप्त्योः (जु० प०) धातु से है।

'प्रमगन्द' क्या ? 'मगन्द' कुसीदी—व्याज लेने वाला वाणियाँ। 'मगन्द' क्या ? 'मागन्द'। 'मागन्द' ही क्या ? "माम्-आगामिष्यति" मेरे पास आवेगा, इस हेतु वह अपना धन दूसरे को दे देता है। उस*(मगन्द) का अपत्य-पुत्र 'प्रमगन्द' होता है। वह कौन 'अत्यन्तकुसीदिकुलीन' बहुत ही बहुत व्याज खाने वाले के कुल में जन्मने वाला। प्रयोजन यह कि—'माम्-आ-गम्-दा' इन चार शब्दों का संक्षेपरूप 'मागन्द' शब्द हुआ। (१) 'माम्' या 'मा' (मुझको) 'अस्मद्' शब्दके द्वितीया के एक वचन का रूप है। (२) 'आ' (आङ्) उपसर्ग (आ अर्थमें) है। (३) 'गम्' (भ्वा०प०) (जाना अर्थ में) धातु है। और (४) 'दा' (दान अर्थ में) (जु०उ०) धातु है। 'मागन्द' का संक्षेप-छोटा रूप 'मगन्द' हुआ। और 'मगन्द' तथा 'प्र' इन दोनों के योग से 'प्रमगन्द' हुआ। 'मगन्द' का अर्थ कुसीदी (व्याजडिया) है, और 'प्र' का अर्थ अपत्य या पुत्र है। मिलकर 'कुसीदी का पुत्र' अर्थ होता है। जैसे—'प्रस्कण्व' शब्दमें 'कण्व का पुत्र' अर्थ होता है।

अथवा 'प्रमदक' शब्द से 'प्रमगन्द' हुआ। प्रमदक' क्या? जो 'यही लोक है, किन्तु परलोक नहीं' ऐसे अभिप्राय वाला मनुष्य वह 'प्रमाद करने वाला' होने से 'प्रमदक' है। इस पक्षमें 'प्र' (उप०) और 'मद्' (दि० प०) धातु के योग से 'प्रमद' शब्द और उस के विकार से 'प्रमगन्द' शब्द हुआ।

अथवा 'पण्डक'-हीजड़ा 'प्रमगन्द' होता है। इसमें शब्द की समानता बहुत थोड़ी, और अर्थ की समानता बहुत है।

'पण्डक' क्या ! 'पण्डग' पण्ड हीजड़े को गमन करने वाला। [क्योंकि हीजड़ा हीजड़े के पास ही रहता है, अन्यत्र उसका निर्वाह नहीं होता।]

अथवा 'प्रार्दक' होने से 'पण्डक' है। क्योंकि -वह अज्ञानों के साथ स्त्री के रूपमें मैथुन कर्म में प्रवृत्त हुआ आण्डों (आंडों) को अर्दन—पीडन करता है।

'आण्ड' क्यों ? आंणिओं (कीलों या डहियों) के समान होने से। उनको (हीजड़ा (क्रीडन करता है, (पपोलता है) या स्तम्भन करता है (थामता है) इस रीति से आण्डक्रीडन से या आण्डस्तम्भन से पण्डक है।

'नैचाशाख' क्या ? नीचाशाख = नीचैःशाख = जिसकी शाखा झुकी हुई हो, अर्थात्—नीचकुलमें उत्पन्न होने वाला।

'शाखा' कैसे ? शक्ति अर्थमें 'शक' (स्वा०उ०) धातुसे है।

'आणि' कैसे ? अरण = गमन से। 'ऋ०' (भ्वा० प०) धातु से।

'रन्धय' यह वशगमन—वशमें होना अर्थ में 'रध' (दि० प०) धातु है। (णिच्का रूप है।)

'बुन्द' (१२८) इषु—बाण होता है। 'बुन्द' क्यों ? अथवा 'भिन्द' होता है। अथवा 'भयद' भयका देनेवाला है। अथवा भासमान (चमकता हुआ) चलता है॥ ४ (३२)॥

(खं० ५)

निरु०—"तुविक्षंते सुकृतं सूमयं धनुः साधुबुन्दो हिरण्ययः। उभा ते बाहू रण्या सुसंस्कृत ऋदूपे चिदृदूवृधा॥" (ऋ० सं० ६, ५, ३०, ६)॥

'तुविक्षं' बहुविक्षेपम्। महाविक्षेपम् वा।

ते, 'सुकृतं' 'सूमयं' सुसुखं धनुः साधयिता।

ते, बुन्दो हिरण्ययः। उभौ ते बाहू रण्यौ

रमणीयौ सांग्राम्यौ वा ।

ऋदूपे अर्दनपातिनौ गमनपातिनौ शब्दपातिनौ दूरपातिनौ वा ।

मर्माणि वेधिनौ गमनवेधिनौ शब्दवेधिनौ दूरवेधिनौ वा ॥ ५ (३३) ॥

"तुविक्षंते सुकृतम्" इस ऋचा का और "निराविध्यत्" इस ऋचा का कुरुस्तुति ऋषि, इन्द्र देवता, पहिली का सतोबृहती छन्द और दूसरी का गायत्री छन्द है।

अर्थः—हे इन्द्र ! 'ते' तेरा 'धनुः' धनुष् 'तुविक्षम्' (बहुविक्षेपम् महाविक्षेपं वा) अनेक प्रकार बाणोंको फेंकनेवाला या दूर फेंकनेवाला है, 'सुकृतम्' उससे शोभन कर्म किये जाते हैं, अथवा अच्छा कियागया—बनाया हुआ है। 'सूमयम्' सुखमय-सुखरूप है, (ते) तेरा 'बुन्दः' बाण 'साधुः' स्तुतिओंका साधने वाला अथवा शत्रुओंका साधनेवाला और 'हिरण्ययः' सोनेका है। 'ते' तेरे 'उभा' (उभौ, दोनों 'बाहू' भुज 'रण्यौ' रमणीय-सुन्दर अथवा रण के योग्य हैं, 'सुसंस्कृता' (सुसंस्कृतौ) सुन्दर शिक्षा प्राप्त हैं। 'ऋदूपे' अर्दनपाती—दुःखदायिओं पर गिरने वाले अथवा गमनपाती—शत्रुओं पर जाकर गिरनेवाले, किन्तु कायरों के समान खटिया पर गिरने वाले नहीं, अथवा शब्दपाती—शत्रु की ललकार के साथ गिरने वाले, अथवा दूरपाती दूर तक जाने वाले हैं, 'ऋदूवृधा' (ऋदूवृधौ) 'ऋदू' यह मर्म स्थान का नाम है, उसमें वेधने वाले, अथवा अर्दनवेधी-पीडा करने वालों पर बिंधने वाले, अथवा गमनवेधी—जाकर बेधने वाले अथवा शब्दवेधी अथवा दूरवेधी हैं। इस प्रकार यहां धनुष् के सम्बन्ध से 'बुन्द' नाम बाणका है ॥ भगवद्दुर्गाचार्य

कहते हैं कि-इस मन्त्रमें "ऋदूपे" और "ऋदूवृधा" इन दो पदों का भाष्य ठीक जैसा प्रतीत नहीं होता, उसका ठीक पाठ ढूंढकर फिर व्याख्या करना चाहिए। किन्तु उन्होंने जो भाष्य की व्याख्या की उससे वे पद ठीक लग जाते हैं। दोनों शब्दों में धातुओं के साथ लगे हुए 'ऋदू' शब्द के अर्थों का ही भाष्यकार विकल्प करते हैं। वे-अर्दन (१) गमन (२) शब्द (३) दूर (४) ये चार हैं। पहिले शब्द (ऋदूप) में 'प' शब्द से पतनार्थक 'पत' (भ्वा० प०) धातु और दूसरे शब्द (ऋदूवृधा) में 'वृध्' से वेधार्थक 'वृध' (भ्वा० आ०) धातु लिया गया है। यदि "ऋदूपे" पदमें 'ऋदूपा' 'ई' ऐसे दो पद रखे जावें तो और भी उस की द्विवचनान्तता तथा "बाहू" की विशेषणता सुप्रकट हो जाती है। इसी मन्त्र में इसी बाहू के विशेषण और भी "रण्या" "सुसंस्कृता" "ऋदूवृधा" इसी ढंग के हैं ॥ ५ (३३) ॥

(खं० ६)

निघ०-वृन्दम् ॥१२९॥

निरु०-"निराविध्यद्गिरिभ्य आधारयत्पक्वमोदनम्। इन्द्रो बुन्दं स्वाततम् ॥" (ऋ० सं० ६, ५, ३०, १)

निरविध्यद् गिरिभ्यः, आधारयत् पक्वम्-ओदनम्-उदकदानं मेघम्। इन्द्रो बुन्दं स्वाततम्।

'वृन्दं' बुन्देन व्याख्यातम् ॥ वृन्दारकश्च ॥ ६ (३४) ॥

अर्थः—'इन्द्रः' इन्द्र देव ने 'स्वाततम्' कान तक खिंचे हुये 'बुन्दम्' बाणको (से) 'पक्वम्' बहुत मेघों में पके हुये-जल से परिपूर्ण 'ओदनम्' जलके दान में समर्थ मेघ को 'निराविध्यत्' वेधा, और 'गिरिभ्यः' मेघों से 'आधारयत्' उनके खाली होने तक जल गिराया। यहां कानतक खिंचने के सम्बन्ध से 'बुन्द' बाण का नाम है। यह उदाहरण पूर्व उदाहरण से अधिक स्पष्ट है।

'ओदन' क्या? उदकदान-जलका देने वाला ॥

'वृन्द' (१२९) यह अनवगत 'बुन्द' के समान ही समझना चाहिए-इसकी व्याख्या उसीसे की गई ॥

'वृन्दारक' शब्द भी 'बुन्द' के व्याख्यान से ही समझना चाहिए ॥ ६ (३४) ॥

(खं० ७)

निघ०—किः ॥१३०॥ उल्बम् ॥१३१॥ ऋबीसम्-ऋबीसम् ॥१३२॥

इति द्वात्रिंशच्छतं (१३२) पदानि ॥ ३ ॥

निघ०खं०सू०-"जहा सस्निम्-आशुशुक्षणिः त्रीणि"

इति निघण्टौ चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

निरु०-"अयं यो होता किरु सयमस्य कमप्यूहे यत्समञ्जन्ति देवाः। अहरहर्जायते मासि मास्यथा देवादधिरे हव्यवाहम् ॥" [ऋ० सं० ८, १, १२, ३]

अयं यो होता कर्त्ता सः यमस्य, कम्-अपि अन्नम्-अभिवहति, यत् समश्नुवन्ति देवाः। अहर-

हर्जायते, मासे मासे अर्द्धमासे अर्द्धमासे वा। अथ देवा निदधिरे हव्यवाहम्।

'उल्बम्' ऊर्णोतेः। वृणोते र्वा।

"महत्तदुल्बं स्थविरं तदासीत्" (ऋ० सं० ८, १, १०, १) इत्यपि निगमो भवति।

'ऋबीसम्' अपगतभासम्। अपहृतभासम्। अन्तर्हितभासम्। गतभासं वा॥ ७ (३५)॥

'किः' (१३०) यह अनवगत 'कर्त्ता' पद के अर्थ में है।

"अयं होता" इस ऋचा के विश्वेदेव ऋषि और अग्नि देवता है। सौचीक अग्नि और विश्वदेवों के संवाद सूक्त की यह ऋचा है। वहां यह विश्वदेव ऋषियों का वाक्य है।

अर्थः— यः अयम् (अग्निः) जो यह अग्नि 'होता' (आह्वाता देवानाम्) देवताओं को बुलाने वाला (पृथिवीस्थानः) पृथ्वी में रहने वाला है, 'सः' वह 'यमस्य' (भगवतः आदित्यस्य) भगवान् सूर्य देव का 'किः' (कर्त्ता) करने वाला है। [क्योंकि—अग्नि से ही प्रात काल सूर्य उत्पन्न होता है। सो कहा है—"एषः प्रातः प्रसुवाति तस्मात् प्रातर्नोपतिष्ठन्ते" अर्थात् यह प्रातःकाल जन्मता है, इस कारण इसे प्रातःकाल उपस्थान नहीं करते। आदित्य का 'यम' नाम है, यह "यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे" (ऋ० सं० ८, ७, २३, १) इस ऋचा में कहा जावेगा।] 'कम्-अपि-ऊहे' (अन्नम्-अपि-अभिवहति) उस अन्न को भी लेजाता है, 'यत्—देवाः—समञ्जन्ति' (समश्नुवन्ति) जिसे देवता खाते हैं। 'अहः-अहः जायते'

यही अग्नि देव अग्निहोत्रिओं के घरों में जगाया जाता हुआ नित्य नित्य महान्—बड़ा होता है। 'मासि-मासि' (मासे-मासे) महीने महीने पितृयज्ञों में होता है। अथवा (अर्द्ध-मासे-अर्द्धमासे) आधे मास आधे मास में दर्श-पूर्णमास कर्मों में होता है। जिससे कि-यह अग्नि देव ऐसे गुणों वाला है, 'अथ' इस कारण इस 'हव्यवाहम्' हव्यों-हविओं के पहुंचाने वाले अग्नि को ' देवाः ' देवताओं ने ' दधिरे ' (निदधिरे) स्थापन किया था। इस प्रकार यहां ' यमस्य ' इस षष्ठी के योगसे और शब्द की समानता से ' किः ' यह ' कर्त्ता ' के अर्थ में है॥

' उल्ब ' (१३१) यह अनवगत जरायु-जेर का नाम है। आच्छादन (ढांपना) अर्थ में 'ऊर्णु' (अदा०उ०) धातु से है। अथवा उसी अर्थ में 'वृ' (स्वा०उ०) धातुसे है। क्योंकि-उससे गर्भ चारों ओर ढाप लिया जाता है।

" महत्तदुल्बं स्थविरं तदासीद्येनाविष्टितः प्रविवेशिथापः। विश्वा अपश्यद्बहुधा ते अग्ने जातवेदस्तन्वो देव एकः॥ "

इस ऋचा के विश्वेदेव ऋषि और अग्नि देवता है।

' अग्ने ! ' हे भगवन् ! अग्निदेव ' तत् ' वह ' महत् ' परिमाण से बड़ा और 'स्थविरम्' (चिरंतनम्) पुराना 'उल्बम्' (जरायु) जेर ' आसीत् ' था, ' येन ' जिससे ' आविष्टितः ' (आवेष्टित.) लिपटे हुए (त्वम्) तैनें पहिले आदि सृष्टि में 'अपः' प्रविवेशिथ' जलमें प्रवेश किया था। और 'जात-वेदः' हे जातवेदस् ! -जाये जाये को जानने वाले ! 'ते'तेरे 'बहुधा' अनेक प्रकार के 'विश्वाः' सब ' तन्वः ' शरीरों को ' एकः ' एक 'देवः' प्रजापतिदेव ने 'अपश्यत्' देखा है, अर्थात् और

कौन तेरे शरीरों के अन्त को जान सकता है। यह भी निगम है। इस प्रकार यहांपर आवेष्टन या लपेटनेके सम्बन्धसे 'उल्ब' शब्द से जरायु या जेर लिया जाना उपपन्न होता है।

'ऋबीस' (१३२) यह अनवगत पृथिवी का नाम है। इसकी शब्द समाधिएँ, अपगतभास् ,-जिससे चमक हटीहुई है, 'अपहृतभास्'- जिससे चमक हर ली गई है, 'अन्तर्हितभास्' चमक जिसके भीतर घुस गई है, और 'गतभास्' जिसकी चमक गत होगई है, ये हैं॥ ७ (३५)॥

(खं० ८)

निरु०-"हिमेनाग्निं घ्रंसमवारयेथां पितुमती मूर्ज मस्माअधत्तम्। ऋबीसे अत्रिमश्विनावनीत मुन्नि-न्यथुः सर्वगणं स्वस्ति॥" (ऋ० सं० १, ८, ९, ३)

हिमेन = उदकेन ग्रीष्मान्ते अग्निं घ्रंसम् = अह्नः अवारयेथाम्, अन्नवतीं च अस्मै ऊर्जम्-अधत्तम्, यः अयम् ऋबीसे = पृथिव्याम् अग्निः अन्तः ओषधिवनस्पतिषु अप्सु तम्-उन्निन्यथुः सर्वगणं = सर्वनामानम्॥

'गणः' गणनात्। गुणश्च।

यद्वृष्ट ओषधयः उद्यान्ति, प्राणिनश्च पृथिव्यां, तत्-अश्विनोः रूपम्, तेन एतौ स्तौति स्तौति॥ ८ (३६)॥

इति षष्ठाध्यायस्य षष्ठः पादः॥ ६, ६,॥

"हिमेनाग्निम्" इस ऋचाका कक्षीवान् ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और अश्विनी कुमार देवता हैं। प्रातरनुवाक और आश्विन में शस्त्र है।

अर्थः—'अश्विनौ !' हे अश्विनो! (युवाम्) तुम दोनों ने (ग्रीष्मान्ते) ग्रीष्म ऋतुके अन्त में 'अग्निम्' अग्नि के समान गरम 'घ्रंसम्' (अहः) दिनको 'हिमेन' (उदकेन) जलसे 'अवारयेथाम्' निवारण किया है। और निवारण कर के 'अस्मै' (हविर्भोजे अग्नये) इस हविके भजने वाले–भोगने वाले–खाने वाले अग्निदेव के लिये 'पितुमतीम्' (अन्नवतीम्) 'ऊर्जम्' (आज्यलक्षणाम्) 'अधत्तम्' पुरोडाश आदि रूप अन्नके सहित घृत रूप ऊर्ज्-बलको धारण कियो है। 'ऋबीसे' (पृथिव्याम्) जो यह पृथिवी में या ओषधि–वनस्पतिओं में भीतर प्रविष्ट हुआ अग्नि है, जिससे पृथ्वी के गर्भमें रखे हुए कन्द मूलादि पकते हैं, उस 'अत्रिम्' अग्नि को (अप्सु) 'अनीतम्' जल में पहुंचाया है, जो कि विजली के रूपम बादलों में चमकता है, और जिसको न्यायशास्त्र में अब्रिन्धन = जलको जलाने वाला कहते हैं। हे अश्विनो! तुम दोनों ने 'स्वस्ति' सब जगत् के कल्याण के लिये 'सर्वगणम्' (सर्वनामानम्) सब नामों वाले अग्निको 'उन्निन्यथुः' उन्नयन किया है–आविष्कार किया है, या और तत्वोंमें से छान कर निकाला है।

संक्षिप्त अर्थ यह हुआ कि–अश्विन् देवता ही ग्रीष्म ऋतु के अन्तमें वर्षा लाकर दिनों को ठंडा करते हैं। वर्षा के द्वारा सब ओषधियों को उत्पन्न करते हैं, और उनसे उत्पन्न पुरोडाश तथा घृत अग्निको देते हैं। वेही अश्विन् देवता पृथिवी के गर्भ से अग्नि को ऊपर आकाश में ले आते हैं, जो बिजली के रूप में प्रत्यक्ष होता है, और उन्हीं अश्विन् देवों ने सब

जगत् के कल्याण के अर्थ अग्निका आविष्कार किया है। इस प्रकार इस मन्त्रमें 'ऋबीस' पृथिवी का नाम होता है ॥

इस मन्त्र में 'अनीतम्' पद की व्याख्या विशिष्ट रूप से भाष्यमें और उसकी टीका में नहीं दिखाई देती, तो भी मन्त्र के स्वभाव की सहायता से उस का अर्थ लिख दिया गया है। इस मन्त्रमें ऋषि ऋचा के चारों पादों को अलग २ क्रियाओं से अलंकृत करता है, विशेष कर पूर्व दो पादोंको क्रिया पदसे ही पूर्ण करता आ रहा है, उसी अभ्यास से तृतीय पाद को कर सकता है, जैसे—

(१) "हिमेनाग्निं घ्रंसमवारयेथाम्" (अवारयेथाम्)
(लङ्०म०द्वि०)

(२) "पितुमती मूर्जमस्मा अधत्तम्" (अधत्तम्)
(लङ्०म०द्वि०)

(३) "ऋबीसे अत्रिमश्विनावनीतम्" (अनीतम्)
(लङ्०म०द्वि०)

(४) "उन्निन्यथुः सर्वगणं स्वस्ति" (उन्निन्यथुः)
(लिट्०म०द्वि०)

इस कल्पना में और पादों के समान तृतीय पाद भी अन्वय में स्वतन्त्र हो जाता है, किन्तु दूसरे पूर्व या पर पाद की क्रिया की अपेक्षा नहीं करता. और इस पाद की क्रिया अन्य पादोंके समान मध्यम पुरुष के द्विवचन की हो जाती है, ऐसी २ समानताएं इस तृतीय पाद को क्रियान्त समझने में बल देती हैं।

'गण' कैसे ? गणना से । क्योंकि-वह बहुत द्रव्यों का संयोगरूप होने से गिना जाता है।

'गुण' क्यों ? यह भी गणना से ही है। क्योंकि—वह भी गिना जाता है। जैसे—द्विगुण, त्रिगुण इत्यादि। यह 'गण' शब्द के सादृश्य से निर्वचन किया गया है।

भाष्यकार दूसरा मन्त्रका संक्षिप्त अर्थ करते हैं—

"यद्वृष्ट"०० इत्यादि। अर्थात्—जिसके बरसने पर पृथिवी में ओषधिएं और प्राणी उपजते हैं, यह अश्विनों का रूप है, इसीसे इन दोनोंको ऋषि स्तुति करता है, स्तुति करता है।

पदकी आवृत्ति काण्ड (प्रकरण) की समाप्ति की सूचनाके लिये है॥ उपर्युक्त काण्ड के अन्तिम निगम के भी अन्त में 'स्वस्ति' पद है, वह भी समाप्ति के मङ्गल के अर्थ है। यह भाष्यकार के अन्वेषण का महत्व है—"सोना और सुगंध"॥

निरुक्त-षष्ठाध्याय का खण्ड सूत्र—

[प्र०पा०] "त्वमग्ने (इन्द्र आशाभ्यस्परि) (१) अलातृणः (२) उद्वृह (३) आजासः (४) [द्वि०पा०] उपलप्रक्षिणी (५) कारुरहम् (६) अस्मेते (७) आयन्त इव यदाते (८) अग्रवंहि (९) [तृ०पा०] सोमानम् (१०) इन्द्रासोमा (११) कृणुष्व (१२) तां अध्वरे (१३) अस्ति हि वः (१४) असूर्त्ते (१५) प्रवोच्छा (१६) [च०पा०] सृप्रः (स्तिपा आपः) (१७) तुञ्जे तुञ्जे (१८) यो अस्मै (१९) अस्मै इदु (२०) तन्नस्तुरीयं (२१) हिनोता (स्थूलं राधः) (२२) [पं०पा०] अमत्रः (२३) मात्वा (२४) न पापासो (२५) यवं वृकेण (२६) जीवान्नो (२७) अतो (२८)

धेनुं नः (आधवः) (२६) [ब०पा] अरायि काणे (३०) वामं वामं (३१) किं ते (३२) तुविक्षन्ते (३३) निराविध्यत् (३४) अयं होता (३५) हिमेनाग्निं (३६) षट्त्रिंशत् (३६) ॥”

इति निरुक्ते पूर्वषट्के षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इति नैरुक्तः पूर्वार्द्धः समाप्तः ॥

इति हिन्दीनिरुक्ते पूर्वषट्के षष्ठोध्यायः
पूर्वार्द्धश्च समाप्तः ॥ ६, ६ ॥

श्रीः

उत्तरषट्कम्

दैवतं काण्डम्

अथ सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

(उपोद्घातः)

प्रथमः पादः

(खं० १)

नैगम काण्ड की व्याख्या के अनन्तर दैवतकाण्ड की व्याख्या के आरम्भ की प्रतिज्ञा—

(निरु०) अथातो दैवतम् ।

'अथ' नैगम की व्याख्या के अनन्तर 'अतः' यहां से दैवत प्रकरण की व्याख्या होगी अथवा 'अतः' जिस से कि—अखिल पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) का हेतु देवता है इस से "दैवत" प्रकरण की व्याख्या होगी ॥

"दैवत" पद की व्याख्या—

(निरु०) तद् यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद् "दैवतम्" इति आचक्षते ।

'तद्' सो । क्या ? 'प्राधान्यस्तुतीनाम्' प्राधान्य या मुख्यता से स्तुति वाले 'देवतानाम्' देवताओं के 'यानि नामानि' जो नाम हैं, 'तद्' "दैवतम्" वह "दैवत" प्रकरण

है। यह आचार्य कहते हैं–इस प्रकरण की (दैवत) संज्ञा है।

अब पहिले (१, ६, ६) प्रतिज्ञा की हुई "दैवत" की व्याख्या को स्मरण कराता है—

[निरु०-] सा एषा देवतोपपरीक्षा ।

जो पहिले (प्रथमाध्याय के छठे पाद छठे खण्ड में) प्रतिज्ञा की थी कि—"तद् उपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः" (उसको आगे व्याख्यान) करेंगे वही यह देवता पदार्थ की विचार पूर्वक परीक्षा होगी ।

प्रकरण में प्रतिपादन करने योग्य देवता (मन्त्रदेवता) का लक्षण–

[निरु०-] यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायाम् आर्थपत्यम् इच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति ॥

जिस किसी अर्थ की कामना से ऋषि जिस देवता में आर्थपत्य या अर्थ के स्वामित्व की इच्छा करता हुआ–यह देवता इस वस्तु का स्वामी है, इसी से मुझे यह वस्तु प्राप्त होगी, ऐसा जानता हुआ, स्तुति करता है, वह मन्त्र उस देवता का होता है–उस मन्त्र में वह देवता होता है (जिस किसी मन्त्र में देवता जानना हो उस मन्त्र में इस लक्षण से देवता जानना होगा) ।

देवता की स्तुति के स्थानभूत ऋचा के भेद–

[निरु०-] तास्त्रिविधा ऋचः ।

जिन में कहा हुआ देवता का लक्षण भले प्रकार घट जाता है, वे ऋचाएं तीन प्रकार की होती हैं ।

देवता मन्त्रों में स्तुति किये गये हैं, उन्हीं के नाम ये 'अग्नि' आदि 'देवपत्नी' पर्यन्त हैं। अन्य शब्द जो मन्त्रों में आते हैं, वे सब इनके विशेषण हैं, उनके आधिक्य के कारण वे सब पहिले ही 'निघण्टु' शास्त्र में चार अध्यायों में पढ़े गए और तदनुसार ही निरुक्त में भी षष्ठ अध्याय तक उन्हीं की व्याख्या की गई है। यदि विशेष्य पद जो देवताओं के नाम हैं, उनकी व्याख्या न की जावे, तो विशेषण शब्दों के अर्थ-ज्ञान होने पर भी नहीं जाना जा सकता,—ये किसके विशेषण हैं, या किसकी प्रशंसा है, सुतराम् विना विशेष्य पदार्थ के जाने और सब शब्दों के अर्थ का जानना तथा न जानना बराबर है, अर्थात्—व्यर्थ है, इस लिये मन्त्रार्थपरिज्ञान के लिये देवता पदों की व्याख्या परमावश्यक है।

जैसा कि- कहा है—

"यो हवा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्त्तंवा पतति प्रवामीयते पापीयान् भवति, यातयामान्यस्य छन्दांसि भवन्ति" (सा०बे०आ०ब्रा० १ अ० १ खं०)

जो ब्राह्मण मन्त्र के ऋषि छन्द देवता तथा ब्राह्मण के जाने विना उससे यज्ञ कराता है, या अध्यापन करता है, वह जड़ता को प्राप्त होता है, गड्ढे (नरक) में गिरता है, मर जाता है, या अति पापी हो जाता है, और उस के मन्त्र बासी हो जाते हैं।

दैवतकाण्ड की भूमिका का उद्देश्य।

भाष्यकार यास्क मुनि दैवत काण्ड जो अग्नि आदि देवपत्नी पर्यन्त (१५१) शब्दों के रूप में है, उसकी व्याख्या करने की चिन्ता में हैं, किन्तु वह देखते हैं कि–देवता तत्व मन्त्रों का एक ऐसा मुख्य पदार्थ है, जिसके सम्बन्ध में अनेक ऐसी २ बातें जानना आवश्यक हैं, जिनके जाने बिना यदि देवता वाचक शब्दोंके अर्थों का ज्ञान होभी जावे, तो भी मनुष्य के लिये अनेक स्थल ऐसे उपस्थित हो सकते हैं, जहां वह जाकर मोह को प्राप्त हो सकता है। जैसे–देवता क्या वस्तु है? देवता कितने हैं? देवताओं के कैसे आकार हैं? देवताओं का परिवार कैसा है? उनके कौन २ स्थान हैं? कौन २ सी वस्तुएँ उनकी निजकी हैं, एवम् जहां उनकी स्तुति होती है, उन मन्त्रों के कितने भेद हैं और जहां मन्त्रों में देवता का निश्चय नहीं होता, वहां उसका कैसे निर्णय किया जावेगा इत्यादि २ बातों के निर्णय के अर्थ पहिले तीन पादों में एक विस्तृत भूमिका लिखते हैं, जिसके पढने से उक्त प्रकार के सब सन्देह निवृत्त हो जाते हैं। दैवत काण्ड की भूमिका के लिखने में यही उद्देश्य है।

मन्त्र का स्वभाव। प्रत्येक मन्त्र में दो बातें अवश्य होती हैं। एक यह कि–ऋषि के द्वारा देवता की स्तुति हो, और दूसरी यह है कि–ऋषि उस स्तवनीय देवता से किसी को मांगे।

ऋषि। मन्त्र में किसी देवताको सम्बोधन करके स्तुति करने वाला ऋषि होता है, या जिसको उस मन्त्र का दर्शन हुआ हो, वह ऋषि होता है। ऋषि स्त्रीप्रकृति या पुरुष-

प्रकृति दोनों ही प्रकार का होता है, किन्तु अधिकांश पुरुष-प्रकृति। एवम् देवता भी ऋषि होता है, तथा अन्य दिव्य पुरुष भी। ऋषि मन्त्र का कर्त्ता या आद्य वक्ता नहीं होता किन्तु उसका उस मन्त्र में ऋषित्व यही होता है, कि उसे उस मन्त्र का तपोबल से दर्शन हुआ है। मन्त्र स्वतः अनादि तथा नित्य है। " द्रष्टार ऋषयः " (का० सर्वा० कं० १)

अर्थात्—मन्त्रके द्रष्टा या साक्षात्कार करने वाले ऋषि होते हैं।

देवता। प्रत्येक मन्त्र या सूक्त आदिमें वही देवता होता है, जिसकी वहां स्तुति हो, तथा प्रार्थित अर्थ का प्रभु कहा गया हो।

फलका सम्बन्ध।

मन्त्र में जिस फल की प्रार्थना की गई होती है, वह प्रार्थना यद्यपि ऋषि की ओर से होती है, तथापि ऋषि का सम्बन्ध नित्य मन्त्र में दर्शन मात्र से होता है, इस से उसका फल प्रयोग करने वाले अधिकारी को होता है! क्योंकि-नित्य मन्त्रका दर्शन तपोबल से कल्पान्तर में दूसरे ऋषि को भी हो सकता है, इसी से उसका फल ऋषि में आबद्ध नहीं ॥१॥

(खं० २)

प्रथमा विभक्ति में परोक्षकृता ऋचाका उदाहरण—

[निरु०—] " इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्याः"

[ऋ० सं० ८, ४, १५, ५] ॥

इस ऋचा का वैश्वामित्र (विश्वामित्र का पुत्र) रेर ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और सूर्यस्तुत्येकाह निष्केवल्यमें विनियोग है।

'इन्द्रः' माध्यमिक देव (पर्जन्य) ' दिवः ' द्युलोक को 'ईशे' (ईष्टे) ईशन करता है· शासन करता है, 'इन्द्र. (एव) इन्द्र ही ' पृथिव्याः ' पृथिवी को 'ईशे' ईशन करता है या शासन करता है ॥

द्वितीया में उदाहरण–

[निरु०-] " इन्द्रमिद् गाथिनो बृहत् "

[ऋ० सं० १, १, १३, १] ॥

इस ऋचाका मधुच्छन्दस् ऋषि और महाव्रत में महदुक्थ शिरस् में शस्त्र (शस्त्रावयव) है ।

' गाथिन. ! ' (सामगाः) हे सामके गान करने वालो ' 'इन्द्रमृइत्' (इन्द्रम्–एव) इन्द्र को ही ' बृहत् ' (बृहता साम्ना) बृहत् नाम से (अभिष्टुत) आभिमुख्यसे स्तुति करो ।

तृतीया में उदाहरण--

(निरु०) " इन्द्रेणैते तृत्सवो वेविषाणाः"

(ऋ० सं० ५, २, २७, ५)।

इस ऋचा का वसिष्ठ ऋषि, इन्द्र देवता महाव्रत मे निष्केवल्य दक्षिण पक्ष में शस्त्र है ।

'एते' (मेघाः) ये मेघ 'इन्द्रेण' इन्द्रसे 'तृत्सवः' (दारयितव्याः) विदारण करने योग्य ' वेविषाणाः ' और व्याप्यमान होते हुए (आप इव) जलों के समान (केनचित् सृष्टाः) किसी से प्रेरित हुये (नीचीः) नीचे २ (अगच्छन्) चले गए ।

चतुर्थी में उदाहरण–

[निरु०-] "इन्द्राय साम गायत " (ऋ०सं० ६, ७, १, १) ।

इस ऋचाका नृमेधस् ऋषि सात्रिकअहनों में स्तोत्रियानु-रूपवर्ग में तृतीय सवन में ब्राह्मणाच्छंसी के शस्त्र में विनि-योग है।

हे (उद्गातारः !) साम के गाने वालो ! 'इन्द्राय' इन्द्रके लिये 'साम' साम को 'गायत' गाओ॥

पञ्चमी में उदाहरण—

(निरु०-) " नेन्द्रादृते पवते धाम किञ्चन "

[ऋ० सं० ७, २, २२, १]।

"सूर्यस्येव ०—० किञ्चन" वैश्वामित्र रेणु ऋषि, जगती छन्द और पवमान सोम देवता है।

(सोमः) सोम इन्द्रात्-ऋते इन्द्रंवर्जयित्वा) इन्द्रकोछोड़ कर " न किञ्चन धाम (देवतान्तरम्) पवते (गच्छति") किसी दूसरे देवता को नहीं जाता है।

षष्ठी में उदाहरण—

(निरु०—) " इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम् "

[ऋ०सं० १, २, २६, १]।

"इन्द्रस्य नु०—०पर्वतानाम्" इस ऋचाका हिरण्य-स्तूप ऋषि है, और यह निष्केवल्य में शस्त्र है।

(अहम्) मैं 'इन्द्रस्य' इन्द्र के 'वीर्याणि' (वीरकर्माणि) वीर कर्मों को 'प्रवोचम्' (ब्रवीमि) कहता हूं।

सप्तमी में उदाहरण-

(निरु०-)"इन्द्रे कामा अयंसत" इति ( )

हे (स्तोतारः !) स्तुति करने वालो ! ऋत्विजो ! 'कामाः'

(दिव्याः पार्थिवाश्च) द्युलोक में होने वाले और पृथिवी में होने वाले सब काम "इन्द्र अयंमत" इन्द्र में उपनिबद्ध या आश्रित हैं-वही सब कामों का देने वाला है।

प्रत्यक्षकृत ऋचा का लक्षण—

(निरु०-) अथ प्रत्यक्षकृता मध्यमपुरुषयोगाः, 'त्वम्' इति च एतेन सर्वनाम्ना ॥८॥

'अथ अनन्तर जो मन्त्र (ऋचाएं) मध्यम पुरुष की (जायसे, जहि, आगच्छ आदि) क्रिया से युक्त हों और 'त्वम्' (युवाम् यूयम्) इस सर्वनाम से देवता कहा गया हो, वे प्रत्यक्षकृत हैं।

प्रत्यक्षकृत ऋचा का उदाहरण—

(निरु०-) "त्वमिन्द्रबलादधि (सहसोजात ओजसः। त्वं वृष वृषेदसि)" (ऋ० सं० ८,८,११,२)।

इस सूक्त के देवजामि ऋषि हैं और महारात्रिक पर्याय में प्रशास्ता के स्तोत्र में विनियोग है।

'इन्द्र!' हे इन्द्र 'त्वम्' तू 'बलात्' बल से 'अधिजायसे' अधिक होता है। इस मन्त्र में 'त्वम्' यह पद और 'अधिजायसे' यह मध्यम पुरुष की क्रिया दोनों देवता के लिये हैं, इस से यह प्रत्यक्षकृत है।

दूसरी प्रत्यक्षकृत ऋचा—

[निरु०] "विनइन्द्र मृधो जहि" (ऋ० सं० ८,८,१०,४) इति

इन्द्र ! ' हे इन्द्र 'नः' हमारे (एतान्) इन 'मृधः' युद्ध करने वाले शत्रुओं को 'विजहि' नाश कर।

जहाँ स्तुति करने वाले (ऋत्विज्) प्रत्यक्ष हैं और देवता परोक्ष, ऐसी ऋचाओं की सम्भावना—

(निरु०) अथापि प्रत्यक्षकृताः स्तोतारो भवन्ति परोक्षकृतानि स्तोतव्यानि।

और भी स्तोता (स्तुति करने वाले) 'त्वम्' आदि पद से कहे जाने के कारण प्रत्यक्ष होते हैं और स्तोतव्य देवता परोक्ष।

उदाहरण—

[निरु०] "माचिदन्यद्विशंसत" [ऋ० सं० ५, ७, १०, १)

इस ऋचा का प्रगाथ ऋषि, बृहती छन्द और तृच अशीतिओं में विनियोग है।

हे (स्तोतारः !) स्तुति करने वालो ! (यूयम्) तुम 'अन्यद्' दूसरे किसी देवता को 'मा' मत 'विशंसत' विविध स्तुतिओं से स्तुति करो। यहाँ स्तोता "यूयम्" और "विशंसत" इस क्रिया पद से उक्त हैं, इस से प्रत्यक्ष हैं, और देवता परोक्ष पद का वाच्य है।

दूसरा उदाहरण—

[निरु०] "कण्वा अभिप्रगायत" [ऋ०सं० १,३, १२, १]

इस ऋचा का कण्व ऋषि है। कीलीन हविष् की याज्या

है। हे 'कण्वाः !' मेधावी ऋत्विजो ' (यूयम्) तुम सब (देवम्) देवको 'अभिप्रगायत' (अभिष्टुत') स्तुति करो। यह भी पहिली के समान परोक्ष है।

तीसरा उदाहरण-

(निरु०-) "उपप्रेत कुशिकाश्चेतयध्वम्" इति।

(ऋ०सं०३,३, २१, २)

इस ऋचा का विश्वामित्र ऋषि है।

'कुशिकाः !' हे स्तुतिओं के पुकारने वाले ऋत्विजो! 'उप-प्र-इत' (गच्छत) जानो ' चेतयध्वम्' और चेतो। यह भी उसी प्रकार परोक्ष है।

आध्यात्मिकी का लक्षण-

-(निरु०-) अथाध्यात्मिक्य उत्तमपुरुषयोगा 'अहम्' इति च एतेन सर्वनाम्ना।

जिन ऋचाओं में देवता के लिये उत्तम पुरुष की क्रिया और 'अहम्' (आवाम्, वयम्) यह सर्वनाम पद हो, वे आध्यात्मिकी ऋचाएं होती हैं। ऐसी ऋचाओं में 'अहम्' पदसे उत्तम पुरुष का और उत्तम पुरुषसे 'अहम्' पदका अध्याहार करना, यदि न हो।

(खं० ३)

उदाहरणार्थ कहता है-

(निरु०-) यथा-एतत्। अर्थात्-जैसे यह-।

आध्यात्मिकी का उदाहरण-

(निरु०-) (क) इन्द्रो वैकुण्ठः ॥

"इन्द्रो वैकुण्ठः" इस वाक्य से इन्द्र वैकुण्ठ देवता की ऋचा "अहंभुवम्" से प्रयोजन है।

"अहंभुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि संजयामि शाश्वतः" इत्यादि। (ऋ०सं० ८, १, ५, १)

इस ऋचा का इन्द्र ऋषि, इन्द्र ही देवता, जगती छन्द और अतिरात्र में द्वितीय पर्याय में होता के शस्त्रमें विनियोग है। (सायणभा०)

विकुण्ठा नाम एक आसुरी (राक्षसी) थी उसके तप के प्रभाव से इन्द्र पुत्र हुआ, और वह वैकुण्ठ नाम से प्रसिद्ध हुआ उसको आत्मस्तुति (अपनी प्रशंसा) से युक्त (ब्रह्म) मन्त्र प्रकट हुआ, वह यह है—

"अहंभुवम्०"। 'अहम्' मैं ही 'वसुनः' (धनस्य) धन का 'पूर्व्यः' पहिला 'पतिः' पति 'भुवम्' (अभवम्) हुआ हूं।

(निरु०–) (ख) लवसूक्तम्। लवका सूक्त।

"इति वा इति मे मनो गामश्वं सनुयाम्–इति"

ऋ० सं० ८,६,२६,१)

"इति वा इति०" यह तेरह (१३) ऋचाओं का सातवां सूक्त है। गायत्री छन्द, लवरूपको प्राप्त इन्द्र ऋषि और वही देवता है।

लव कहता है—'इति वा इति' ऐसा ऐसा 'मे' मेरा 'मनः' मन होता है। कैसे ? " गाम् अश्वम् सनुयाम् " इन यजमानों को गो और घोड़े दूं या उपभोग कराऊं।

(निरु०-) (ग) वागाम्भृणीयम् इति ॥

"वागाम्भृणाय" नाम का सूक्त है, उसमें वाणी ही कहती है--

"अहंरुद्रेभिर्वसुमिश्चरामि" (ऋ०सं०८,७,११,१)।

"अहम्०" यह आठ (८) ऋचाओं का तेरहवां सूक्त है। अम्भृण महर्षि की पुत्री 'वाक्' नाम वाली ब्रह्म को जानने वाली विदुषी ने अपने आपे की स्तुति की है, इससे वही ऋषि है। सत् चित् सुखरूप सर्वान्तर्यामी परमात्मा देवता है इसी से यह वाक् उसके अभेद को अनुभव करती हुई सब जगत् के रूप से सब के अधिष्ठान के रूपसे " मैं ही सब कुछ हूं " इस प्रकार अपनी स्तुति करती है। त्रिष्टुप् छन्द है। विनियोग पहिले के समान है। (सा० भा०)।

'अहम्' मैं ही 'रुद्रेभिः' (रुद्रैः) रुद्रों के साथ 'वसुभिः' (आदित्यैः विश्वदेवैः) आदित्यों या सब देवताओं के साथ 'चरामि' विचरती हूं। यहां 'अहम्' और उत्तम पुरुष 'चरामि' दोनों वाग् रूप प्रधान देवता के लिये हैं, इससे यह आध्यात्मिकी है।

तीनों प्रकार के मन्त्रों में कोई बहुत हैं और कोई कम हैं, यह कहते हैं-

(निरु०-) परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताश्च मन्त्रा भूयिष्ठा अल्पश आध्यात्मिकाः॥

परोक्षकृत और प्रत्यक्षकृत मन्त्र बहुत ही हैं, और आध्यात्मिक थोड़े; तीन लक्षण मन्त्रों के भेद-

(निरु०-) अथापि स्तुतिरेव भवति न आशीर्वादः ।

और कोई मन्त्रों में स्तुति ही है, किन्तु आशीर्वाद या किसी अर्थ की कामना नहीं ।

उदाहरण-

[निरु०-] " इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम् " इति यथा एतस्मिन् सूक्ते (ऋ०सं० १,७,२,१) ॥

"इन्द्रस्य नु वीर्याणि०" यह पन्द्रह (१५) ऋचाओं का दूसरा सूक्त है। आङ्गिरस हिरण्यस्तूप ऋषि त्रिष्टुप् छन्द, इन्द्र देवता और अग्निष्टोम में माध्यन्दिन सवनमें निष्केवल्य शस्त्र में विनियोग है।

(अहम्) मैं 'इन्द्रस्य' इन्द्रके ' वीर्याणि ' पराक्रम-युक्त कर्मों को 'नु' शीघ्र 'प्रवोचम्' (ब्रवीमि) कहता हूं ।

दूसरा विशेष—

[निरु०-] अथापि आशीरेव न स्तुतिः ।

कुछ मन्त्रों में कामना ही है किन्तु स्तुति नहीं ।

उदाहरण-

(निरु०-) "सुचक्षा अहमक्षीभ्यां भूयासम्, सुवर्चा मुखेन सुश्रुत्कर्णाभ्यां भूयासम्" इति ।

प्रजापति ऋषि, यजुः, सविता देवता, और नेत्र के अभिमन्त्रण में विनियोग है । (पा०गृ०जयराम भा०)

हे सवितृदेव ! 'अहम्' मैं 'अक्षीभ्याम्' (नेत्राभ्याम्) नेत्रों से 'सुचक्षाः' सुन्दर दर्शन शक्ति वाला 'भूयासम्' हो जाऊं ।

'मुखेन' मुख से 'सुवर्चाः' सुन्दर तेज वाला, 'कर्णाभ्याम्' और कानों से 'सुश्रुत्' सुन्दर श्रवण शक्ति वाला 'भूयासम्' हो जाऊं। मन्त्रों में स्तुति के अभाव में स्तुति और कामना के अभाव में कामना जोड़ लेना चाहिये, ऐसा करने से मन्त्र पूर्ण होजाता है।

इस प्रकार स्तुति आदि से रहित मन्त्र आधिक्य से कहां है?

[निरु०-] तदेतद् बहुलम्-आध्वर्यवे याज्ञेषु च मन्त्रेषु।

सो यह बहुत करके आध्वर्यव (यजुर्वेद) में और यज्ञ सम्बन्धी मन्त्रों में है।

तीसरा और चौथा विशेष-

[निरु०-] अथापि शपथाभिशापौ।

और भी शपथ (सौं या क़सम) और शाप (कोसना)। कुछ मन्त्र ऐसे हैं जिन में न स्तुति है, और न कामना ही, किन्तु वया तो किसी के मिथ्या आक्षेप को झूठा ठहराने के लिये ईश्वर से दण्ड स्वरूप अपने ऊपर अनिष्ट की झोंकी को मांगना, या किसी से पीडित होकर उसके लिये बुराई को चाहना ही कहा गया है।

शपथ का उदाहरण-

[निरु०-] "अद्यामुरीय यदि यातुधानो अस्मि" ऋ०सं०५,७,७,५,]

वसिष्ठ ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द, रक्षोहन् (राक्षसों को मारने वाले) इन्द्रा सोम देवते, राक्षसोंकी निवृत्तिके अर्थ "इन्द्रा

सोम" यह पचीस (२५) ऋचाओं का सूक्त जपा जाता है, उसकी पन्द्रहवीं ऋचा है (सा०भा०)

"यदि यातुधानः अस्मि" यदि मैं वशिष्ठ राक्षस हूं "अद्यामुरीय" तो आज ही मरजाऊं।

शाप का उदाहरण–

[निरु०–] " अधा स वीरैर्दशभि र्वियूयाः" इति ॥ (ऋ० सं० ५, ७, ७, ५) ॥

'अध' यदि ऐसा होकि–' मैं वसिष्ठ और तू राक्षस' तो सो तू आज ही दश पुत्रों से वियुक्त होजा।

पांचवां विशेष–

[निरु०-] कथापि कस्यचिद् भावस्य आचिख्यासा ॥

और भी मन्त्रोंमें किसी भावके कहने की इच्छा होती है।

उदाहरण–

[निरु०-] [क] "न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि"
(ऋ० सं० ८, ७, १७, १)

त्रिष्टुप् छन्द, परमेष्ठी नाम प्रजापति ऋषि, आकाश आदि पदार्थों की सृष्टि स्थिति और प्रलय आदि यहां प्रतिपादन किये जाते हैं, इससे उनका कर्त्ता परमात्मा देवता और विनियोग पूर्वके तुल्य। (सा० भा०)

'तर्हि' इस जगत् की जब उत्पत्ति न हुई थी, तब मृत्यु नहीं था, क्योंकि- उस समय मरने वाला मनुष्य आदि कोई नहीं था। और ' अमृत ' अमरपना भी नहीं था, क्योंकि- मृत्यु नहीं था।

(निरु०-) (ख) " तम आसीत्तमसागूल्हमग्रे "

(ऋ०सं० ८, ७, १७, ३)

' तमः ' अंधेरा ही था, अति अंधेरे से (सब) ढंका हुआ था ।

छठा विशेष-

(निरु०-) अथापि परिदेवना कस्माच्चिद् भावात् ॥

और भी किसी कारण से विलाप भी मन्त्रोंमें होता है ।

उदाहरण-

(निरु०-) " सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत् " ॥

(ऋ० सं० ८, ५, ३, ५)

पुरूरवा ऋषि, त्रिष्टुप् छन्दः, परिदेवना ।

'सुदेवः' वह शोभन (अच्छा) देव है, जो इस प्रिया उर्वशी से वियुक्त होकर 'अद्य' आज ही 'प्रपतेत्' गिरे,-ऐसा गिरे कि-'अनावृत्' फिर संसारमें न लौटे । यहां ऋषि विषय लम्पटता के दुःखरूप परिणाम की स्थिति को दिखाता है, कि लोक इसे भले प्रकार जानकर इस में न फंसे ।

और विलाप का उदाहरण-

(निरु०-) "न विजानामि यदि वेदमस्मि" इति ॥

दीर्घतमा ऋषि और अस्यवामीय सूक्त ।

"न विजानामि" मैं यह अच्छी तरह नहीं जानता, "यदि वा इदम् अस्मि" मैं यह कारण ब्रह्म हूं, या उसका कार्य रूप द्वैत जगत् । यहां पर संशय ही विलाप है ।

सातवां और आठवां विशेष-

(निरु०-) अथापि निन्दाप्रशंसे ॥

और भी मन्त्रोंमें कहीं निन्दा ही है, और कहीं प्रशंसा ही।

निन्दा में उदाहरण-

(निरु०-)" (मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताःसत्यं ब्रवीमि बधइत् स तस्य । नार्यमणं पुष्यति नो सखायम्-) केवलाघो भवति केवलादी ॥"

(ऋ० सं० ८, ६, २३, १)

भिक्षु नाम आङ्गिरस (अङ्गिरस् का पुत्र) इस का ऋषि। त्रिष्टुप् छन्द। दान न करने वाले की निन्दा।

वृथा ही अन्न को प्राप्त होता है, वह उत्तम बुद्धि वाला नहीं है, मैं सच कहता हूं, उसका वह वध (मरना) ही है, जो आदित्य का, (तथा) सखा (मनुष्य) का पोषण नहीं करता है, केवल पाप का भागी होता है,-जो अकेला ही खाता है ॥

गीता में भी कहा है-

" भुञ्जते ते ह्यघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्"

अर्थात्- वे पाप को ही भोगते हैं, जो अपने लिये पकाते हैं।

प्रशंसा में उदाहरण-

(निरु०-) " भोजस्येदं पुष्करिणीव वेश्म "

(ऋ० सं० ८, ६, ४, ५)

दक्षिणा नाम प्रजापति की पुत्री ने अपनी स्तुति से

संयुक्त इस सूक्त को देखा था, वही इसकी ऋषिका है। उस सूक्त में यह त्रिष्टुप् छन्द है। दाता की प्रशंसा है।

भोज या दानशील राजा का यह घर पुष्करिणी (कमलों से सजी हुई तलाई या विमान) के समान (सुन्दर) है।

ऐसे ही और २ मन्त्रों में भी निन्दा और प्रशंसाः-

(निरु०) एवम् अक्षसूक्ते द्यूतनिन्दा च कृषि-प्रशंसा च ॥

इसी प्रकार अक्षसूक्त में द्यूत (जूवा) की निन्दा और कृषि की प्रशंसा है। जैसे- "अक्षैर्मा दीव्यः" पासों से मत खेल। "कृषिमित्कृषस्व" कृषिका ही कर्षण कर (खेती ही कर) (ऋ० सं० ७, ८, ५, ३)॥

ऋषि किसी कारण से मन्त्रों के देखने वाले ही होते हैं किन्तु कर्त्ता नहीं होते—

(निरु०- एवम्--उच्चावचैः अभिप्रायैः ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति ॥

इस (पूर्वोक्त) प्रकार से ऊँचे नीचे अभिप्रायों से ऋषिओं को मन्त्रों के दर्शन होते हैं॥

(खं० ४)

जिन मन्त्रों में "यत्काम ऋषिः०" (७,१,१) इत्यादि पूर्वोक्त मन्त्रदेवतात्मा लक्षण नहीं घटता, उनमें देवता निर्णय करने की प्रतिज्ञा—

(निरु०-) तद् ये अनादिष्टदेवता मन्त्राः तेषु देवतोपपरीक्षा ॥

सो,जो मन्त्र अनादिष्ट देवत हैं-जिनमें देवता का आदेश (कथन या लिङ्ग) नहीं उनमें देवता की उपपरीक्षा (प्रश्न पूर्वक विचार) होगी, अथवा उपपत्ति (युक्ति) पूर्वक परीक्षा होगी-यहां से आगे परीक्षा की जावेगी।

यज्ञ में और यज्ञाङ्ग (यज्ञके भाग) में जो अनादिष्ट देवता मन्त्र हैं, उनमें देवता का निर्णय—

(निरु०-) यद्देवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्ति ॥

अथवा जिस देवता का वह यज्ञ हो,अथवा जिस देवता का वह यज्ञाङ्ग हो, उस देवता के वे मन्त्र होते हैं। अर्थात्-मन्त्र में जब कोई देवता विशेष का बोधक लिङ्ग न हो, तो, उसके विनियोग को देखना,-वह किस देवता के यज्ञ में या यज्ञाङ्ग में विनियुक्त है, जिस देवता का वह यज्ञ हो या यज्ञाङ्ग, उसी देवता का वह मन्त्र भी जानना। प्रयोजन यह कि मन्त्रों का कर्म से नित्य संबन्ध है, कोई मन्त्र भी कर्म सम्बन्ध से रहित नहीं है, और जिस प्रकार मन्त्र देवता के विना नहीं होता, उसी प्रकार कर्म भी देवता के विना नहीं होता। क्योंकि-मन्त्र जिस प्रकार देवता की स्तुति के लिये होता है, उसी प्रकार कर्म भी देवतो के ही आराधन के लिये होता है, सुतराम् मन्त्र और कर्म दोनों एक देवता में समानाधिकरण होते हैं, इसीसे जब मन्त्र में देवता का पता न चले, तो उसके सम्बन्धी कर्म में देखना चाहिये,कर्म में देवता का अधिकार अवश्य बताया हुआ होता है। जैसे-जिसका

बांयां हाथ उसीका दांहिना, जिसका कर्म उसी का मन्त्र ।

जो अनादिष्ट दैवत मन्त्र यज्ञ के सम्बन्धसे रहित हैं, उनमें देवता का निर्णय—

(निरु०-) अथान्यत्र यज्ञात् प्राजापत्या इति याज्ञिकाः ॥

यज्ञसे अन्यत्र वैसे मन्त्र प्रजापति देवता के होते हैं, यह याज्ञिक लोग मानते हैं ।

उन्हीं के लिये नैरुक्त आचार्यों का मत—

(निरु०-) नाराशंसा इति नैरुक्ताः ॥

वैसे मन्त्रों का ' नराशंस ' देवता होता है, यह नैरुक्त मानते हैं ।

[कात्थक्य आचार्य के मत में 'नराशंस' नाम यज्ञ का है, और शाकपूणि आचार्य के मतमें अग्नि का ।]

उसी में दूसरा मत-

(निरु०-) अपि वासा कामदेवता स्यात् ॥

अथवा वह इच्छित देवता हो— अनादिष्ट देवत मन्त्रोंमें पुरुष का जो कोई भी इष्ट देवता हो, वही देवता मानना । क्योंकि-विशेष्य (मुख्य) पद से रहित, केवल विशेषण पदों वाले मन्त्रों का सर्वत्र अधिकार है । जैसे 'नील' 'पीत' आदि शब्द घट पट आदि द्रव्यों के सामान्य से विशेषण हो जाते हैं, ऐसे ही विना देवताके मन्त्र प्रत्येक देवतामें चले जाते हैं ।

और मत-

(निरु०-) प्रायोदेवता वा ॥

(क) 'प्रायः' यह शब्द अधिकार का बोधक है । जिस

देवता के अधिकार में अध्ययन पाठ (संहिता पाठ) में देवता के लिङ्ग से रहित मन्त्र पढा गया हो, उसी देवता का वह मन्त्र होता है।

(ख) अथवा 'प्रायः' यह बाहुल्य का नाम है। इस से अनादिष्ट देवत मन्त्र बहुत देवताओं का होता है– जितने देवता हैं, सभी उसके देवता हैं और वे 'विश्व देवता' इस नामसे कहे जाते हैं।

लोकाचार का दृष्टान्त—

(निरु०-) अस्ति हि आचारो बहुलं लोके देवदेवत्यम्, अतिथिदेवत्यम्, पितृदेवत्यम् ॥

क्योंकि-लोकमें बहुत आचार (रीति) है,- देवदेवत्य, अतिथिदेवत्य, पितृदेवत्य—विशेष विशेष नामों से बढे हुये द्रव्य से जो बच जाता है, वह साधारण (सब का या साझे का) हो जाता है। जैसे कोई यजमान कहता है- 'यह मेरा द्रव्य देवदेवताओं के लिये है' 'यह मेरा अतिथिदेवताओं के लिये है, 'यह मेरा पितृदेवताओं के लिये है' ऐसा विभाग करदेने पर जो द्रव्य उस दानार्थ नियत की हुई राशि से बच जाता है, वह देव पितर और मनुष्य सब के साझे का हो जाता है, वैसे ही जिन मन्त्रों के देवताओं का निर्देश (लिङ्ग आदि से सूचना) किया हुआ है, उनसे अलग रहे हुये जो मन्त्र हैं, वे सब देवताओं के होते हैं।

इस विचार में यास्क आचार्य का क्या निश्चय है ?

(निरु०) याज्ञदैवतो मन्त्रः-इति ॥

जो अप्रकट देवतालिङ्ग वाला मन्त्र है, वह यज्ञ देवता का है, अथवा दैवत = अग्नि देवता का है।

यज्ञ क्या? विष्णु। 'विष्णु' क्या? आदित्य (नैरुक्त मतमें) 'देवता' अग्नि कैसे? "अग्निर्वै सर्वा देवताः" अग्नि ही सब देवता हैं। यह श्रुति है।

प्रथम पक्ष में-'यज्ञश्चासौ देवता यज्ञदेवता, तस्या अयं याज्ञदैवतः' ऐसी व्युत्पत्ति होती है। इस व्युत्पत्ति में 'देवदत्त ब्राह्मण' इस वाक्यके समान पहिला यज्ञ पद विशेष (विष्णु) को बोधक है और दूसरा देवता पद देवता सामान्य का। और दूसरे पक्षमें-'यज्ञे भवं याज्ञम्' याज्ञं दैवतं यस्य स याज्ञदैवतो मन्त्रः ऐसी व्युत्पत्ति होती है। इस व्युत्पत्ति में यज्ञ शब्द कर्म का बोधक है, और देवता शब्द श्रुति बल से अग्नि देवता का बोधक हो जाता है। यही बात यहां ध्यान में देने योग्य है।

कहीं मन्त्रों में अदेवता वस्तुएं भी देवता के समान स्तुति की जाती है, वहां देवता बुद्धि कैसे होगी? यह प्रश्न—

(निरु०-) अपि हि अदेवता देवतावत् स्तूयन्ते, यथा अश्वप्रभृतीनि ओषधिपर्यन्तानि।

अदेवता = जो देवता नहीं, वे भी देवताओं के समान स्तुति किये जाते हैं, जैसे घोड़े आदि औषधियों तक ॥४॥

(खं० ५)

अश्व आदि के समान और भी अदेवता वस्तुएं देवता के समान स्तुति की जाती हैं—

(निरु०-) अथापि अष्टौ द्वन्द्वानि।

और भी आठ (८) द्वन्द्व (जोड़े) है-अश्व आदि चेतन तो हैं और ये आठ द्वन्द्व तो सब के सब जड हैं, इनकी स्तुति किसी प्रकार संगत नही हो सकती।

[आठ द्वन्द्व-(१) उलूखलमुसले (२) हविर्धाने (३) द्यावापृथिवी (४) विपाट् छुतुद्री (५) आर्त्नी (६) शुनासीरौ (७) देवी जोष्ट्री (८) देवी ऊर्जाहुती ।]

पूर्वोक्त दो वाक्यों में ऐसी वस्तुओं के समूह दिखाये हैं, जिन में कुछ प्राणी या चेतन हैं, और कुछ अप्राणी या अचेतन हैं । जैसे अश्व आदि चेतन प्राणी, और अक्ष (पासे) आदि अचेतन (जड = अप्राणी) । उनमें जो जड हैं, वे सर्वथा स्तुति के अयोग्य हैं ही, किन्तु जो अश्व आदि चेतन हैं, वे भी वर्त्तमान समीप वस्तु को ही कुछ समझ सकते हैं, परन्तु भूत (बीती हुई) भविष्यत् (आगे आने वाली) बालको बिलकुल नहीं समझते और न उन्हें हित अहित का ही बोध है, इस से उनकी स्तुति की भी जावे, तो वे स्तुति के अभिप्राय को नहीं समझ सकते तथा उन में कोई वर देने का सामर्थ्य नहीं है, अतः वे स्तुति के योग्य नहीं हैं, ऐसी शिष्य की संभावना को दिखाते हैं—

(निरु०-) सन मन्येत आगन्तून्-इव अर्थान् देवतानाम् ।

वह (शिष्य) न मानेगा, आगन्तु = अनित्य मनुष्यों के अश्व आदिकों के समान देवताओं के अर्थों को = घोड़े आदि साधनों को, कि-इन में पूर्वोक्त देवता का लक्षण अविरुद्ध है, या घटेगा । अर्थात्-शिष्य यह नहीं मान सकता, कि ये देवताओं के अश्व आदि देवता के रूप में स्तुति किये जाने योग्य हैं, या इनमें देवताओं का लक्षण घटता है ।

क्योंकि ?-

(निरु०-) प्रत्यक्षदृश्यम् एतद् भवति ।

यह प्रत्यक्ष से देखने योग्य है-प्रत्यक्ष ही देखा जाता है-जैसे कि- मनुष्यों के घोड़े आदि साधन अनित्य (असमर्थ) हैं वैसे ही देवताओं के भी होंगे ।

"यत्काम ऋषिः" इस देवता के लक्षण की अश्व आदि प्राणिओं में तथा अक्ष आदि द्रव्यमात्रों में जो अव्याप्ति (अगति) दिखाई है, उसका परिहार-

(निरु०-) माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते ।

देवता के माहाभाग्य- अलौकिक सामर्थ्य से एक आत्मा बहुत प्रकार से स्तुति किया जाता है- देवता में बड़ा ऐश्वर्य रहता है, वह अपने ऐश्वर्य (चमत्कारशक्ति) से अपने संकल्प के अनुसार जड रूप से तथा चेतन रूप से अनेक प्रकार से हो जाता है, कोई ऐसी बात नहीं है, जिसे देवता न कर सके, सुतराम् देवता अश्वरूप हो या अक्षरूप हो, जड रूप हो, या चेतन रूप हो, सब रूपों में उसकी शक्ति वैसी ही बनी रहती है, उसके सब वे इच्छामय रूप है, वास्तव में वह पशु या जड नहीं है, इस से सब अवस्थाओं में वह स्तोता की स्तुति को सुन सकता है, समझता है और उसके वाञ्छित को पूरा कर सकता है, किसी प्रकार भी देवतालक्षण की उस में असंगति नहीं है ।

पूर्व वाक्य में देवता लक्षण में व्याप्ति दोष का परिहार किया है, किन्तु वेदान्तों के मत में एक आत्मा (देवता) और नैरुक्तों के मत में तीन आत्मा या अग्नि, इन्द्र और सूर्य तीन

देवता हैं। इन दोनों मतों में आत्म संख्या के विरोध का परिहार–

(निरु०–) एकस्य आत्मनः अन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।

एक आत्मा के और देव (आत्मा) प्रत्यङ्ग (भाग) होते हैं। अर्थात्–जो जिसका अङ्ग होता है, वह उससे भिन्न नहीं होता है। क्यों कि- अङ्ग अङ्गी को छोड़ नहीं सकते और न उससे वे अलग देखे ही जाते हैं, ऐसे ही अङ्गों से प्रत्यङ्ग (उनके भाग) अलग नहीं होते इससे—

नैरुक्त मत में अग्नि के जातवेदस् आदि, इन्द्र के वायु आदि और सूर्य के भग आदि अङ्ग तथा शकुनि और अश्व आदि प्रत्यङ्ग हैं। इनमें अङ्गी से अङ्गों और अङ्गों से प्रत्यङ्गों का अभेद है। अतः उस मत में तीन से अधिक संख्या नहीं बढ़ती। और–

वेदान्ती (आत्मवित्) के मत में वही एक महान् आत्मा अग्नि इन्द्र और सूर्य आदि अङ्गों और अश्व शकुनि आदि प्रत्यङ्गों के रूपों को धारण या अनुभव करता है, तथा वैसी अवस्था में वह अनेक रूप से स्तुति किया जाता है, इस रीति पर दोनों मतों की आत्म संख्याओं में किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

आत्मवित् के मत में एक आत्मा, नैरुक्तों के मत में तीन और याज्ञिकों के मत में असंख्य हैं। इन में याजक लोगों के मत में एक आत्मा का अनेक होना संभव नहीं और न आवश्यक ही है। इससे उन के मत में पूर्व समाधान नहीं

बल्कि-अन्य दो मतों में ही है। अब उन्हीं दो मतों में उसी बातको फिर दूसरे प्रकार से कहते हैं-

(निरु०-) अपि च सत्वानां प्रकृतिभूमभिर्ऋषयः स्तुवन्ति-इत्याहुः ॥

और भी, सत्वों (नाना द्रव्यों) की जो प्रकृति है, उस के बहुत्वों से ऋषि स्तुति करते है ऐसा आचार्य कहते हैं। अर्थात्-आत्मवित् के मत से सब पदार्थों के मूल कारण पर-ब्रह्म महान् आत्मा के बहुत्व को लेकर ऋषि स्तुति करते हैं, जिस किसी वस्तु की भी स्तुति करते हैं, उसे ब्रह्म समझ कर या उसका कार्य समझ कर या उससे अभिन्न समझ कर करते हैं, उन्हें नाना नामों तथा नाना रूपों में वही एक आत्मा प्रतीत होता है। एवम् नैरुक्तमत में तीन आत्मा या तीन प्रकृतिएं हैं, उन के ही अन्य सब पदार्थ विकार हैं, वे एक२ लोक में एक २ देवता में ही वहां के सब पदार्थों को अन्तर्गत समझते हैं, नाना नामों से उन्हीं तीन देवों की स्तुति होती है। इस मत में "प्रकृतीनां भूमभिः प्रकृतिभूमभिः" ऐसी व्युत्पत्ति करते हैं।

(निरु०-) प्रकृतिसार्वनाम्न्याच्च ।

और प्रकृति या प्रकृतियों की सर्वनामता से।

आत्मवित् के मत में प्रकृति = महान् आत्मा के ही सब नाम हैं, क्योंकि उसी से सब जगत् उत्पन्न हुआ है। अतः सब नामों से उसी की स्तुतिएं हैं। नैरुक्तों के मत में अग्नि इन्द्र और आदित्य इन तीन ही प्रकृतियों के सब नाम हैं, क्योंकि-उन्हीं से सब जगत् उत्पन्न होता है। इस से सब

नामों से इन्हीं तीन देवों की स्तुति है । पहिले मत में "प्रकृतेः सार्वनाम्न्यं प्रकृतिसार्वनाम्न्यम्" प्रकृति का सार्वनाम्न्य = प्रकृतिसार्वनाम्न्य, और दूसरे मत में "प्रकृतीनां सार्वनाम्न्यम्, प्रकृतिसार्वनाम्न्यम्" प्रकृतियों का सार्वनाम्न्य = प्रकृतिसर्वनाम्न्य होता है ।

मनुष्यों से देवताओं की विलक्षणता—

(निरु०-) इतरेतरजन्मानो भवन्ति, इतरेतरप्रकृतयः ।

देवता इतरेतरजन्मा होते हैं,—परस्पर से उन का जन्म होता है और इतरेतरप्रकृति होते हैं—आपस में एक का एक कारण हो जाता है ।

जैसे—अग्नि का कारण सूर्य और सूर्य का कारण अग्नि । इससे देवता मनुष्यों से विपरीत धर्म वाले हैं, उनके अश्व आदि मनुष्यों के अश्व आदि के समान असमर्थ नहीं हैं ।

देवता ईश्वर होकर भी क्यों जन्म लेते हैं—

(निरु०-) कर्मजन्मानः ।

देवता कर्मजन्मा हैं—कर्म के लिये उनका जन्म है—लोकों के कर्मफल की सिद्धि के लिये इनका जन्म है । क्योंकि-इनके विना लोक का कोई कर्म सफल नहीं हो सकता ।

किस वस्तु से देवता जन्मते हैं ?

(निरु०-) आत्मजन्मानः ।

देवता आत्मजन्मा हैं—अपने से ही आप उत्पन्न होते हैं,—इन्हें दूसरे पदार्थ की अपने जन्म में अपेक्षा नहीं है ।

जिस से कि-देवता ईश्वर हैं (समर्थ हैं) इसी से उनका जन्म उनके संकल्प के अनुसार होता है। यह कहते हैं-

(निरु०) आत्मैव एषां रथो भवति आत्मा अश्वः आत्मा आयुधम् आत्मा इषवः आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य ।

आत्मा ही इनका रथ है, आत्मा घोड़ा, आत्मा आयुध, आत्मा बाण, आत्मा सब कुछ देवका है-देवका है ॥५॥

इति हिन्दीनिरुक्ते सप्तमाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

द्वितीयः पादः ।

(खं० १)

(निरु०-) तिस्रएव देवता इति नैरुक्ताः ।

अग्निः पृथिवीस्थानः ।

वायुर्वा इन्द्रो वा अन्तरिक्षस्थानः ।

सूर्यो द्युस्थानः ।

तासां माहाभाग्याद् एकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति ।

अपि वा कर्मपृथक्त्वाद्, यथा होता, अध्वर्युः, ब्रह्मा, उद्गाता-इति, अपि-एकस्य सतः ।

अपिवा पृथगेव स्युः । पृथग् हि स्तुतयो भवन्ति । तथा अभिधानानि ।

यथो एतत्, कर्मपृथक्त्वाद्-इति । बहवोऽपि विभज्य कर्माणि कुर्युः ।

तत्र संस्थानैकत्वं संभोगैकत्वं च उपेक्षितव्यम् । यथा पृथिव्यां मनुष्याः पशवो देवा इति स्थानैकत्वं च संभोगैकत्वं च दृश्यते । यथा पृथिव्याः पर्जन्येन च वाय्वादित्याभ्यां च संभोगः, अग्निना च इतरस्य लोकस्य ॥

तत्र एतत्-नरराष्ट्रमिव ॥ (१) (५) ॥

अर्थः-तीन ही देवता हैं, यह नैरुक्त (आचार्य मानते हैं)

(क) अग्नि पृथिवीस्थान या पृथिवी में रहने वाला (पहला देवता) है।

(ख) वायु अथवा इन्द्र अन्तरिक्षस्थान या अन्तरिक्ष (आकाश) में रहने वाला (दूसरा देवता) है ।

(ग) सूर्य द्युस्थान या द्युलोकनिवासी (तीसरा देवता) है ।

"तासां०" उन (देवताओं) के माहाभाग्य (महत् ऐश्वर्य) से एक २ के भी बहुत नाम हैं ।

"अथवा कर्म०" अथवा कर्म (क्रिया) के भेद से (एक २ के बहुत नाम हैं) । जैसे होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा, उद्गाता, ये (नाम) एक होते हुए के भी (अनेक नाम हैं) ।

(याज्ञिक मत)

"अपिवा पृथ०" अथवा पृथक् ही हों-मन्त्रों में जितने

देवताओं के नाम आते हैं, उतने ही अलग २ देवता हो सकते हैं, न एक और न तीन। क्योंकि स्तुतिएँ अलग २ हैं। वैसे ही नाम (भी अलग २ हैं)।

"यथो एतत्०" जो कि यह (कहा है-) 'कर्म के भेद से (नामों का भेद है, किन्तु वस्तु (देवता के भेद से नहीं !) यह। (वह ठीक नहीं, क्योंकि-) बहुत (मनुष्य) भी विभाग करके (अलग २ होकर या बांटकर) कर्मों को (अलग २ क्रियाओं को) कर सकते हैं।

"तत्र०" उस (भेद पक्ष देवतानानात्वपक्ष) में संस्थान की एकता और संभोग की एकता देखना चाहिये-दूसरे (याज्ञिक या आत्मवित्) जो एकता मानते हैं, वह गौण बुद्धि से है, किन्तु वास्तवमें नहीं, और वह (गौण एकता) स्थान की एकता से तथा भोग की एकता से लेना चाहिए। जैसे-पृथिवी (स्थान) में मनुष्य, पशु, और देवता हैं, इनका एक स्थान और एक संभोग है-खान पान निद्रा मैथुन आदि सब समान है, ऐसा देखा जाता है, (इस से 'पृथिवी' के कहने से ये सब समझ लिये जाते हैं,-पृथिवी ऐसा करती है, पृथिवी ऐसा मानती है)। जैसे पृथिवी को पर्जन्य (मध्यम देव इन्द्र) से और वायु आदित्य दोनों से संभोग है, और दूसरे (अन्तरिक्ष या द्यु) लोक को अग्नि से (संभोग है)।

(दोनों पक्षों को समान दृष्टान्त)

"तत्र एतत् नरराष्ट्रमिव" उन (एक के अनेक नाम मानने वालों और अनेकों के अनेक नाम मानने वालों) में "नर-राष्ट्र के समान" यह है अर्थात्-एक ही नर

समूह के स्थल में दो बुद्धिएं हैं,-एक "नराः" 'बहुत नर' और दूसरी "राष्ट्रम्" 'नर समूह'। यहां जो नरसमूह को वास्तविक (यथार्थ) समझते हैं, उनको एकत्व मुख्य और अनेकत्व गौण हैं और जो बहुत नरों को ही ठीक समझते हैं, उनके मतमें अनेकत्व यथार्थ और एकत्व अयथार्थ या गौण या कल्पनामात्र है। प्रयोजन यह निकला कि आत्मा या देवतातत्व के एकत्व अनेकत्व का विचार इसी दृष्टान्त के सदृश है, जहां अनेकत्व है, वहां एकत्व बन जाता है, और जहां एकत्व तहां अनेकत्व। युक्ति से उभयथा संभव है, इस से ऐसे स्थलों में ऐसे विकल्पों से सन्देह मत्त न होना चाहिए ॥ १ (५) ॥

व्याख्या ।

इस खण्ड में नैरुक्तों और याजकों के मतसे देवताओं की संख्या का निर्णय किया है। नैरुक्तों के मतमें केवल तीन देवता हैं- अग्नि, इन्द्र और आदित्य। ये तीनों देवता क्रमसे पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युस्थान में रहते हैं या इनका तहां२ आधिपत्य है। इसी प्रकार याजकों के मत में उतने ही देवता हैं, जितने देवताओं के नाम मन्त्रों में मिलते हैं, उन की कोई संख्या नियत नहीं। यही नानात्व पक्ष कहलाता है।

"निघण्टु" शास्त्र के पञ्चमाध्याय (दैवतकाण्ड) में १५१ देवताओं के नाम हैं, उन में अग्नि आदि ५२ नाम पृथिवी स्थान देवताओं के वायु आदि अड़सठ (६८) नाम मध्यम देवताओं के और अश्विनी आदि ३१ नाम उत्तम-स्थान देवताओं के हैं। इस मूलग्रन्थ पर ध्यान देनेसे

नैरुक्तों के मत पर सन्देह होता है कि-ये एक२ स्थान में एक२ ही देवता को स्वीकार करके कुल तीन देवता मानते हैं किन्तु निघण्टु शास्त्रमें उक्तरीति से बहुत२ नाम पढे हुये हैं इससे नैरुक्तों का मत निघण्टु के विरुद्ध पड़ता है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि-ये सब नाम यथास्थान एक२ देवता के ही हैं, एक देवता ही नाना कर्म के लिये नाना रूप धारण करता है और उन्हीं नाना रूपोंके ये नाना नाम हैं अथवा एक ही रूप से वह देवता अनेक कर्म करता है, तथा उन कर्मों के कारण उस एक ही स्वरूप के अनेक नाम हो जाते हैं अतः नामों के आधिक्य से नैरुक्तों के मत में देवता संख्या में कोई दोष नहीं आता।

याजक लोग कहते हैं कि-जिस स्थानमें जितने देवताओं के नाम कहे हैं वे सब अलग २ देवताओं के ही हैं। क्योंकि-पृथक् २ नामों से पृथक् २ स्तुतिऐं आती हैं, अनेक नामों से एकसी स्तुति नहीं और जिस नाम से जिस देवता का यज्ञ आरम्भ होता है, उसी नाम से उस देवता का वह पूर्ण होता है। यदि वैश्वानर नाम से हविः का ग्रहण हुआ, तो वह वैश्वानर नाम से ही दिया जाता है, या होम किया जाता है, किन्तु उसी स्थान के दूसरे अग्नि आदि नाम से नहीं। यदि अभेद होता तो कभी भिन्न नाम से लिया हुआ हविः भिन्न नाम से होम भी किया जाता है। सर्वथा सब नाम भिन्न २ देवताओं के हैं और देवता नाना हैं, न तीन हैं और न एक।

नैरुक्तों के मत में जिस प्रकार कर्म के भेदसे एकके अनेक नाम हो सकते हैं, उसी प्रकार बहुतों के भी भिन्न २ कर्म

और उन से उनके भिन्न २ नाम हो सकते हैं। इस से उन की युक्ति व्यभिचारिणी है। हां यदि वे एकत्व का आग्रह करें ही तो स्थान की या संभोग की एकता से सब देवताओं की एक २ स्थान में एकता हो सकती है, इस गौण एकता से वे संतुष्ट हो सकते है।

संस्थान की एकता से प्रयोजन-शरीर की बनावट या रूप रंग तथा देशकी समानता से भी है। जैसे-हिन्दुस्थानी, जापानी, अंग्रेज आदि अपने २ देशों में अनेक होने पर भी एक २ नाम से बोले जाते हैं। यही प्रकार पृथिवी आदि लोकों के देवताओं की एकता का भी है।

एवम्—संभोग की एकता से प्रयोजन— खान पान और वेष आदि की तुल्यता से है। इस के लिये भी पूर्वोक्त उदाहरण ही उपयुक्त हो सकते हैं। इस तुल्यता में भिन्न लोकों के देवताओं की भी परस्पर में एकता आजाती है, इतना अधिकस्वारस्य है। क्योंकि- अग्नि के द्वारा पार्थिव हविः के रूप में पृथिवी के संभोग मध्यमलोक और उत्तम लोक में पहुंच जाते हैं। और पर्जन्य, वायु और आदित्य देवताओं से उनके लोक के वृष्टि, वायु तथा आतप आदि का संभोग पृथिवी में आजाता है। जिस से ओषधि आदि की उत्पत्ति होती है यही इनका परस्पर का उपकार, समान संभोग है, और इसी से ये तीनों भी एक समझे जा सकते हैं।

ये दोनों प्रकार की एकताएं गौण ही हैं, किन्तु तात्विक नहीं यह याज्ञिकों के मत का अभिप्राय है।

आचार्य के मत से दोनों पक्ष समान हैं।

आचार्य इन दोनों मतों पर अपनी सम्मति "नरराष्ट्र"

के दृष्टान्त से यह देते हैं कि- नर बुद्धि करने से वेही बहुत हैं, और राष्ट्र बुद्धि करने से वेही एक हैं, केवल विचारक की दृष्टि का भेद ही विशेष है, वास्तव में दोनों मत एक जैसे हैं तथा ठीक हैं। यही दृष्टान्त तीसरे एकात्मवाद में भी अनुकूल है।

भाष्यकार के इस अन्तिम वाक्य से उनकी अद्वैतनिष्ठा का भी पता चलता है जहां कहीं भी पर्यवसान करते हैं अनुगत अर्थ पर ही करते हैं, किन्तु किसी विशेष पक्ष पर नहीं। इसी भाव का परिचय इससे अग्रिम देवताकार चिन्तन खण्ड में भी देंगे। "अपिवा उभयविधाःस्युः" (७,२,३)

"वायुर्वा इन्द्रोवा" यद्यपि वायु और इन्द्र एक ही देवता है, इस से इस स्थान में एक ही नाम रखना उचित था, तथापि वायुरूप से वह सदा प्रत्यक्ष है, इससे 'वायु' शब्द रखा है और मध्यम ज्योति के सब नामोंमें अधिक प्रसिद्ध होने के कारण 'इन्द्र' नाम भी दिया है। प्रयोजन यह कि-पहिले नाम का अर्थ प्रसिद्ध है और दूसरा स्वयम् प्रसिद्ध है इससे दोनों नामों का यहां स्वारस्य देख कर दोनों का ही उपादान किया है। ऐसा कारण अन्य दो ज्योतियों में नहीं था, इसी से वहां एक २ नाम ही दिया है॥ १ (५)॥

(खं० २)

(निरु०) अथ आकारचिन्तनं देवतानाम्।
पुरुषविधाः स्युः-इति एकम्।
(क) चेतनावद्वद् हि स्तुतयो भवन्ति।
(ख) तथा अभिधानानि।

(ग) अथापि पौरुषविधिकैः अङ्गैः संस्तूयन्ते ।

[1] " ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू " [ऋ०सं०४, ७, ३१, ३]।

[2] "यत्संगृभ्णा मघवन् काशिरित्ते " [ऋ० सं० ३, २, १, ५] ।

(घ) अथापि पौरुषविधिकैर्द्रव्यसंयोगैः ।

[3] " आद्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याहि " [ऋ०सं०२, ६, २१, ४] ।

[4] "कल्याणी जाया सुरणं गृहे ते " [ऋ० सं० ३, ३, २०, १] ।

(ङ) अथापि पौरुषविधिकैः कर्मभिः ।

[5] " अद्धीन्द्र पिब च प्रस्थितस्य । " [ऋ० सं० ८, ६, २१, २] ।

[6] " आ श्रुत्कर्ण श्रुधीहवम् । " ऋ०सं० १, १, २० ३] । २ (६) ॥

(खं० ३)

(निरु०-) अपुरुषविधाः स्युः- इति-अपरम् ।

अपि तु यद् दृश्यते अपुरुषविधं तत् । यथा अग्निः, वायुः, आदित्यः चन्द्रमा—इति ।

(क) यथो एतत्-"चेतनावद्वद् हि स्तुतयो भवन्ति" इति, अचेतनानि अपि एवं स्तूयन्ते । यथो-अक्ष-प्रभृतीनि ओषधिपर्यन्तानि ॥

(ख) यथो एतत्-"पौरुषविधिकैः अङ्गैः संस्तूयन्ते" इति, अचेतनेषु अपि एतद् भवति ।

[७]"अभिक्रन्दन्ति हरितेभि रासभिः ।" [ऋ०सं० ८, ४, २९, २] । इति ग्रावस्तुतिः ॥

(ग) यथो एतत्-" पौरुषविधिकैः द्रव्यसंयोगैः" इति एतदपि तादृशमेव ।

[८]"सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनम् " । [ऋ० सं० ८, ३, ७, ४] ।

(घ) यथो एतत्-"पौरुषविधिकैः कर्मभिः" इति, एतदपि तादृशमेव ।

[९]" होतुश्चित्पूर्वे हविरद्यमाशत " [ऋ०सं० ८, ४, २९, २] ।

इति ग्रावस्तुतिरेव ॥

अपि वा उभयविधाः स्युः ॥

अपि वा पुरुषविधानामेव सतां कर्मात्मानः एते स्युः, यथा यज्ञो यजमानस्य ॥

एष च आख्यानसमयः ॥ ३ [७] ॥

इति सप्तमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ ७, २ ॥

(खं० २)

(देवताओं के आकार की चिन्ता ।)

अर्थः– " अथ० " यहां से देवताओं के आकार का चिन्तन होता है।

" पुरुषविधाः० " पुरुष सरीखे (देवता) हैं–देवताओं का आकार पुरुषों जैसा है। यह एक (मत है)।

(इस मत की युक्तिएं)

(क) " चेतनावद्वद्० " क्योंकि-चेतनावानों की जैसी स्तुतिएँ होती हैं।

(ख) " तथा० " वैसे ही अभिधान या संवाद हैं–संवाद सूक्तों में मनुष्यों के समान प्रश्न उत्तर देखे जाते हैं।

(ग) " अथापि० " और भी पुरुषों के जैसे अङ्गों से स्तुति किये जाते हैं (जैसे-) " ऋष्वात० " हे इन्द्र ! तुझ महान् के शत्रुओं के नाश करने वाले दोनों भुजाओं की हम उपासना करते रहें।

" यत्संगृभ्णा० " हे मघवन् ! इन्द्र ! जो तू (अपार द्यावापृथिवीओं को) पकड़लेता है, तेरी मुष्टि (मुट्ठी) बड़ी है। [अ० ६, पा० १ खं० २]

(घ) "अथापि०" और भी पुरुषों के द्रव्यों जैसे द्रव्यों के सयोगों से (देवताओं की स्तुतिएं है)। जैसे–

"आद्वाभ्याम्०" हे इन्द्र! दो ही घोड़ों से आ-यदि तेरे पास दो ही घोड़े हों तो उन्हीं को रथ में जोड़ कर हमारे यज्ञ में आ।

"कल्याणीर्जाया०" तेरे घर में कल्याणी (शुभगुणवती) सुन्दर भार्या है।

(ङ) "अथापि०" और भी पुरुष सरीखे कर्मों से (देवताओं की स्तुतिएं है)। (जैसे–)

"अद्धीन्द्र०" हे इन्द्र! तू प्रस्तुत (सोम) को खा और पी।

"आश्रुत्कर्ण!०" हे सुन्दर कान वाले! (हमारे) आवाहन को सुन।

(खं० ३)

(दूसरा मत)

"अपुरुषविधाः०" पुरुषों से भिन्न प्रकार (आकार) के देवता हैं। यह और (मत) है।

(इस मतकी युक्ति)

"अपितु यद्०" क्योंकि- जो कुछ (देवताओं का) देखा जाता है, वह अपुरुष सरीखा (पुरुषों से भिन्न प्रकार का) है। जैसे अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमाः।

(प्रथम मत का खण्डन)

(क) "यथो एतत्०" जो कि यह (कहा)– "चेतना-

वानों की स्तुतिएं होती हैं," यह, अचेतन भी वैसे ही स्तुति किये जाते हैं। जैसे अक्ष (पासे) आदि ओषधि-पर्यन्त।

(ख ग) "यथो एतत्०" जोकि यह (कहा)- "पुरुष सरीखे अङ्गों से स्तुति किये जाते हैं" यह, अचेतनों में भी यह है। (जैसे-)

"अभिक्रन्दन्ति०" (पाषाण = लोढे) हरे २ मुखों से बुलाते हैं। यह ग्राव (पाषाण) स्तुति है।

(घ) "यथो एतत्" जो कि-यह (कहा-) "पुरुष सरीखे द्रव्यसंयोगों से" यह, यह भी वैसा ही है।

"सुखं रथं०" सिन्धु (नदी) ने सुखदायी घोड़ों वाले रथ को जोड़ा।

(ङ) "यथो एतत्०" जोकि- यह (कहा-) "पुरुषों सरीखे कर्मों से (देवताओं की स्तुतिएं हैं)"। यह भी वैसा ही है। (जैसे-)

"होतुश्चित्०" होता (अग्नि) से पहिले ही (ये पाषाण) अद्य (भक्षणीय सोमरस) हविः को अशन (भोजन) कर लेते हैं। यह ग्रावों (पाषाणों) की स्तुति ही है।

(तीसरा मत)

"अपिवा उभयविधाः स्युः" अथवा दोनों प्रकार के (देवता) हैं-पुरुषाकार और अपुरुषाकार [क्यों कि- दोनों ही प्रकार के प्रमाण प्राप्त हैं।]

रूप में सदा पुरुषाकार रहता है, और अग्नि, वायु आदि कर्म रूपों से सदा ही अपुरुषाकार रहता है। इनमें तीसरा यास्कमत और चौथा आख्यानमत है ही।

इति हिन्दीनिरुक्ते सप्तमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥७ (२)॥

(खं०२)

१-"ऋष्वात इन्द्र०"। शंयु ऋषि। त्रिष्टुप् छन्दः। इन्द्र देवता। एकादशिनी में इन्द्र के पशु की याज्या।

२-"यत्संगृभ्णा।०" की व्याख्या हो चुकी (अ०६ पा० १ खं० २)।

३-"आद्राभ्यां०" गृत्समद ऋषि। इन्द्र देवता त्रिष्टप् छन्दः।

४-"अपाःसोम ०"०-० कल्याणीर्जाया" विश्वामित्र ऋषि। त्रिष्टुप् छन्दः। हारियोजन की अनुवाक्या।

५-"इदं हविर्मघवन्०-०"अद्धीन्द्र पिब च"। अग्नियुत् नाम स्थूरपुत्र ऋषि। त्रिष्टुप् छन्दः। इन्द्र देवता।

६-"आश्रुत्कर्ण"मधुच्छन्दस् ऋषि। अनुष्टुप् छन्दः। इन्द्र देवता।

(खं० ३)

७-"एते वदन्ति०—०अभिक्रन्दन्ति०" अर्बुद ऋषि। जगती छन्दः। ग्रावस्तुति।

८-"सुखं रथं युयुजे"। सिन्धुक्षित् नाम प्रियमेधस् का पुत्र ऋषि। जगती छन्दः। नदी की स्तुति।

९-"एते वदन्ति०—०"होतुश्चित्०"। वही ऋषि। (अ० ७, पा० १, खं० ३)

तृतीयः पादः ।

(खं० १)

(निरु०-) तिस्र एव देवता इत्युक्तं पुरस्तात् । तासां भक्तिसाहचर्यं व्याख्यास्यामः ॥

अथ एतानि अग्निभक्तीनि-अयं लोकः, प्रातः सवनं, वसन्तो, गायत्री, त्रिवृत्स्तोमो, रथन्तरं साम, ये च देवगणाः समाम्नाताः प्रथमे स्थाने, अग्नायी, पृथिवी, इला,-इति स्त्रियः । अथ अस्य कर्म-वहनं च हविषाम्, आवाहनं च देवतानां, यच्च किंचिद् दार्ष्टिविषयिकम् अग्नि कर्मैव तत् । अथ अस्य संस्तविका देवाः- इन्द्रः, सोमो, वरुणः, पर्जन्यः, ऋतवः । आग्नावैष्णवं च हविः, नतु-ऋक् संस्तविकी दशतयीषु विद्यते । अथापि आ-ग्नापौष्णं हविः, नतु संस्तवः, तत्र एतां विभक्ति-स्तुतिम् ऋचम् उदाहरन्ति- ॥ १ (८) ॥

अर्थ :—तीन ही देवता हैं, यह पहिले कहा गया है । उन देवताओं के भक्ति साहचर्य (जो २ उनका भाग है, और उनके साथ रहता है) को व्याख्यान करेंगे ;

"अथ०" यहां से ये अग्नि के भाग हैं,-अग्नि की निज की वस्तुएं हैं- इन से अग्नि का नित्य संबन्ध है- जहां ये

वस्तुएं हैं, वहां अग्नि का संबन्ध रहता है- अग्नि का प्रत्यक्ष नाम न रहने पर भी, वहां अग्नि समझा जाता है,- यही प्रयोजन भी इनके कहने का है कि- इनका और अग्नि का संबन्ध उजाल होजावे या प्रकट हो जावे। [वे कौन ?-]

"अयं लोक०"। यह लोक-पृथिवी लोक। प्रातःसवन। वसन्त ऋतु। गायत्री छन्द। त्रिवृत् स्तोम। रथन्तर साम। और जो देवगण प्रथम स्थान (नि० अ० ५ खं० १-२-३) में गिनाए हैं। अग्नायी, पृथिवी, इला, ये स्त्रियें। अब इसका कर्म-हविओं का वहन–देवताओं के पास पहुंचाना। और देवताओं का आवाहन = बुलाना। और जो कुछ दृष्टि सम्बन्धि विषय है, वह अग्नि का ही कर्म है। अब इस के संस्तविक देवता हैं–जिन के साथ इस (अग्नि) की स्तुति होती है।—इन्द्र, सोम, वरुण, पर्जन्य और ऋतुएं। और आग्नावैष्णव हवि है, किन्तु दश मंडल ऋग्वेद में साथ स्तुति की ऋचा नहीं है—अग्नि देव विष्णु के साथ हविः का भोजन तो करते हैं, पर किसी ऋचा में एक साथ स्तुति नहीं सुनते। देवताओं में सन्मान के ये दो अधिकार हैं- सहभोजन और सहस्तवन, इन में से कोई एक अधिकार पा जाता है और कोई दोनों को भी,-इसी प्रकार पृथिवी लोक के ईश्वर अग्नि देव के यहां विष्णु देवता सहभोज का अधिकार पाए हुये हैं, किन्तु एक साथ एक ऋचा में स्तुति का नहीं। और भी आग्नापौष्ण–अग्नि और पूषाका हविः है, किन्तु संस्तव नहीं। तहां एक अलग स्तुति की ऋचा उदाहरण देते हैं–जिस एक ही ऋचा में अलग २ वाक्यों से दोनों की स्तुति है-ऋचा तो एक ही है पर स्तुति क्रम से अलग २ होती है-॥१(८)॥

(खं० २)

(निरु०) "पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्रविद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः। स त्वैतेभ्यः परिददत् पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः ॥" [ऋ०सं०७,३,२३,३]

पूषा त्वा इतः प्रच्यावयतु, विद्वान् अनष्टपशुः भुवनस्य गोपाः इति एष हि सर्वेषां भूतानाम् गोपायिता आदित्यः "स त्वैतेभ्यः परिददत् पितृभ्यः"-इति सांशयिकस्तृतीयः पादः।

'पूषा' पुरस्तात्, तस्य अन्वादेशः-इति एकम्।
'अग्निः' उपरिष्टात्, तस्य प्रकीर्त्तना-इति अपरम्

"अग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः"। सुविदत्रं' धनं भवति। विन्दतेर्वा एकोपसर्गात्। दयतेर्वास्याद् द्व्युपसर्गात् ॥ २ (९) ॥

अर्थः-"पूषात्वेतः" इस ऋचा का देवश्रवस् यामायन (यम का पुत्र) ऋषि, त्रिष्टुप् छन्दः, और शव (मुर्दे) के कान में प्रमीत (प्रेत) के अनुमन्त्रण में विनियोग है।

उस प्रेत से कहा जाता है-

'पूषा' भगवान् आदित्य (मार्गों का अधिपति) 'त्वा' तुझे 'इतः' (मनुष्यलोकात्) इस मनुष्य लोक से (विशेष मार्ग के द्वारा) 'प्रच्यावयतु' हटावे या ले जावे, 'विद्वान्' जो आदित्य देव विद्वान् है-उसका ज्ञान किसी विषय में रुकता नहीं है-

कोई ऐसा विषय नहीं जिसे वह अच्छी तरह न समझ सके इसी से उस के प्रबन्ध में तुझे जाने से लाभ ही हो सकता है, हानि नहीं, 'अनष्टपशुः' इसी से उसका पशु नष्ट नहीं होता उसकी पूजा बन्ध नहीं होती (जो अपने काम को भले प्रकार जानने वाला होता है, और अपने कर्तव्य को ठीक पालन करता रहता है, उसका काम कभी बन्ध नहीं होता ।) 'भुवनस्य गोपाः' और प्राणिमात्रका गोपायिता = रक्षक है, 'सः' वह ऐसा पूषा देव 'त्वा' तुझे (यहां से लेजाकर) 'एतेभ्यः' (चन्द्रमण्डलोपान्तवासिभ्यः) इन चन्द्रमण्डल के पास रहने वाले 'पितृभ्यः' पितरों के लिये 'परिददत्' (परिददातु) देदेवे । [सो कहा भी है-"दक्षिणायनात् पितृलोकम्" सूर्य के दक्षिणायन कालमें पितृ लोक को जाता है ।] 'अग्निः' और अग्नि देव भी 'सुविदत्रियेभ्यः' धनवाले 'देवेभ्यः' देवताओं के लिये,-पितृलोक से हटाकर तुझे देव लोक में पहुचा देवे ॥

"सत्वैतेभ्यः परिददत् पितृभ्यः" यह तीसरा पाद संशय युक्त है। क्यों? "पूषा पुरस्तात्" पूषा पहिले (पूर्वार्द्ध में) कहा गया है, उसीका 'सः' पदसे यहां अनुस्मरण है । यह एक मत है । इसके अनुसार मन्त्र में व्याख्या दिखाई जा चुकी है ।

"अग्निरुपरिष्टात्०" अग्नि आगे (चतुर्थपाद में) कहा गया है, उसी का 'सः' पदसे कथन है । इस मत में तीसरे और चौथे पाद का यों अर्थ होता है-'सः' वह 'अग्निः'

अग्नि 'एतेभ्यः पितृभ्यः' इन पितरों से "सुविदत्रियेभ्यः देवेभ्यः परिददत्" धनवान् देवताओं के लिये देदेवे, किन्तु पितरों (प्रेतों) के लिये नहीं ॥

आदित्य 'गोपा' क्यों ? "एष हि सर्वेषां भूतानां गोपायिता" जिससे कि-वह सब भूतों का गोपायिता (रक्षक) है।

'सुविदत्र' क्या ? धन होता है। कैसे ? प्राप्ति अर्थ में एक उपसर्ग (सु) सहित 'विद्' (तु० उ०) से। अथवा दो उपसर्ग (सु-वि) सहित दान अर्थ में 'दा' (जु० उ०) धातु से है। क्योंकि-वह सुन्दर प्रकार से विशेष करके दिया जाता है। [यह 'सुविदत्र' (धन) जिनके होता है, वे 'सुविदत्रिय' कहाते हैं।] ॥ २ (६) ॥

व्याख्या ।

इस पाद के प्रथम और द्वितीय खण्ड में अग्नि का भक्ति साहचर्य दिखाया गया है, कि-उसके सम्बन्धी कौन २ पदार्थ हैं, जो अग्नि की स्तुतिमें मन्त्रों में प्रायः आते हैं। लोक, सवन, ऋतु, छन्द, स्तोम, साम, देवगण, स्त्रियें और कर्म ये सब स्पष्ट हैं। संस्तव से प्रयोजन ऐसी ऋचासे है, जिस में किसी दूसरे देवता के साथ अग्नि की स्तुति हो, जब कि- वह ऋचा हविःमें विनियोग न कीगई हो। यदि हविः में विनियुक्त हो, तो वह साथ स्तुति (संस्तव) वाली भी क्यों नहो, हविः की ही समझी जावेगी। जैसे अग्नि के इन्द्र, सोम आदि देव संस्तविक बताए हैं, इन में "अग्न इन्द्रश्च दाशुषो

दुरोणे० " [ऋ० सं० ३, १,२५, ४] यह ऋचा इन्द्र के साथ अग्नि के संस्तव की है। "अग्नीषोमाविमं सुमे०" [ऋ० सं० १,६, २८, १] यह ऋचा सोमके साथ अग्नि की स्तुति की है।

" आग्नावैष्णवं हविः "। यह भी देवता का एक स्वभाव है। अग्नि देव विष्णुदेव के साथ हविः के भागी होते हैं-"अग्नाविष्णू सजोषसा वर्द्धन्तु वां गिरः" इस ऋचा का वामदेव ऋषि, गायत्री छन्दः, और आग्ना वैष्णव (अग्नि विष्णु के) हविः में विनियोग है, इस ऋचा में यद्यपि विष्णु के साथ अग्नि की स्तुति है, किन्तु इस का हविः में विनियोग है, इस से यह संस्तविकी नहीं है, हविः की ही है।

" आग्नापौष्णं हवि ! ० " पूषा के साथ भी अग्नि का हविः ही है, संस्तव नहीं। वह ऋचा "पूषात्वेतश्च्यावयतु० " (ऋ०सं० ७, ६, २३, ३) यह है। इस एक ही ऋचामें अग्नि और पूषा दोनों की स्तुति है, परन्तु भिन्न२ वाक्यों में है और उनका कार्य भी भिन्न २ ही है। अर्थात् - पूषा मृत को इस लोक से अलग करता है, और अग्नि उसे देव लोक में पहुंचाता है यही पूर्व हविः से इस हविः में विलक्षणता है। वहां अग्नि और विष्णु दोनों का एक संबोधन और वाणी की वृद्धि रूप एक कार्य है॥ २ (६)॥

(खं० ३)

(निरु०-) अथैतानि इन्द्रभक्तीनि- अन्तरिक्ष-

लोको, माध्यन्दिनं सवनं, ग्रीष्मः, त्रिष्टुप्, पञ्चदश-स्तोमः, बृहत्साम, ये च देवगणाः समाम्नाता मध्यमे स्थाने, याश्च स्त्रियः, अथास्य कर्म-रसानुप्रदानं, वृत्र-वधः, याच काच बलकृतिः,-इन्द्रकर्म एवतत्। अथा-स्य संस्तविका देवाः अग्निः, सोमः, वरुणः, पूषा, बृहस्पतिः, ब्रह्मणस्पति, पर्वतः, कुत्सः विष्णुः, वायुः।

अथापि मित्रो वरुणेन संस्तूयते, पूष्णा रुद्रेण च सोमः, अग्निना च पूषा, वातेन च पर्जन्यः ॥३(१०)॥

अर्थ :-अब ये इन्द्र की भक्ति (भाग) हैं- अन्तरिक्ष लोक, माध्यन्दिन सवन, ग्रीष्म ऋतु, त्रिष्टुप् छन्दः, पञ्चदश स्तोम, बृहत् साम, और जो देवगण मध्यम स्थान में समाम्नान (परिगणन) किये हैं, और जो स्त्रियें। अब इसका कर्म- जल बरसना, वृत्रका वध, और जो कोई बलकृति (बलकर्म) वह इन्द्रका ही कर्म है। अब इसके संस्तविक देव-अग्नि, सोम, वरुण, पूषा, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, पर्वत, कुत्स, विष्णु, वायु, हैं।

और भी मित्र वरुण के साथ स्तुति किया जाता है, पूषा और रुद्र के साथ सोम, और अग्नि के साथ पूषा और वात के साथ पर्जन्य स्तुति किया जाता है ॥३ (१०) ॥

व्याख्या

यह इन्द्र भक्ति का खण्ड है। इस में और देवता का प्रसंग न आना चाहिये, तथापि मित्र आदि देवताओं के संस्तविक देवता बताये हैं, यह याज्ञक मत के अनुसार दिखाये हैं,। नैरुक्तों के मत में तीन देवताओं के अतिरिक्त अन्य देवता नहीं है और न किसी का संस्तविक देवता ही है सुतराम् व्युत्पत्ति के लिये मतान्तर दिखाया गया है ॥ ३ (१०)॥

(खं० ४)

(निरु०-) अथैतानि आदित्यभक्तीनि-असौ लोकः, तृतीयसवनं, वर्षा, जगती, सप्तदशस्तोमः, वैरूपंसाम,

येच देवगणाः समाम्नाताः उत्तमे स्थाने, याश्च स्त्रियः। अथास्य कर्म- रसादानं रश्मिभिश्च रसधारणं, यच्च किञ्चित्प्रवह्लितम्,- आदित्यकर्मैव तत्। चन्द्रमसा, वायुना संवत्सरेण इति संस्तवः ॥ ४ ॥

अर्थः- अब ये आदित्य के भक्ति (भाग) हैं— वोह (तीसरा) लोक, तीसरा सवन, वर्षा ऋतु, जगती छन्दः, सप्तदशस्तोम, वैरूप साम, और जो देवगण उत्तम स्थान में समाम्नात किये है, और जो स्त्रियें। अब इसका कर्म है— रस का आदान (लेना) रश्मिओं (किरणों) से धारण करना, और जो कुछ *प्रवह्लित (गुप्त अर्थ) वह सब आदित्य का ही कर्म है। चन्द्रमा से, वायु से, संवत्सर से संस्तव है ॥ ४॥

(खं० ५)

(निरु०-) एतेष्वेव स्थानव्यूहेषु ऋतुच्छन्दः स्तोम-पृष्ठस्य भक्तिशेषम् अनुकल्पयीत-शरद् अनुष्टुब्, एकविंशस्तोमः, वैराजं साम,-इतिपृथिव्यायतनानि। हेमन्तः, पङ्क्तिः, त्रिणवस्तोमः, शाक्करं साम,-इति अन्तरिक्षायतनानि। शिशिरः, अतिच्छन्दाः त्रयस्त्रिंशस्तोमः, रैवतं साम-इति द्युभक्तीनि।५(११)।

अर्थ :- इन्हीं (पृथिवी आदि) स्थानों के वर्गों में (शेष-) ऋतु, छन्दः, स्तोम और पृष्ठ (साम) का भक्ति शेष (भागशेष) समझना या मानना। (जैसे-) शरद् ऋतु अनुष्टुप् छन्द, एकविंशस्तोम, वैराजसाम, ये पृथिवी स्थान के या अग्नि के भक्ति हैं। हेमन्त ऋतु, पङ्क्ति छन्दः, त्रिणवस्तोम, और शाक्कर साम, ये अन्तरिक्ष स्थान के या इन्द्र के भक्ति हैं। शिशिर ऋतु, अतिच्छन्द, त्रयस्त्रिंश स्तोम, और रैवत साम, ये द्युलोक की भक्ति हैं॥ ५ (११) ॥

---

*'अनभिव्यक्तिविशिष्टो वाक्यार्थः प्रवह्लितम्' (भग०)

(खं० ६)

[निरु०] 'मन्त्राः' मननात् ।
'छन्दांसि' छादनात् ।
'यजुः' यजतेः ।
'साम' संमितम्-ऋचा, अस्यतेर्वा (स्यतेर्वा ऋचा समं मेने इति नैदानाः ।
'गायत्री' गायतेः स्तुतिकर्मणः, त्रिगमना, विपरीता, गायतो मुखाद्—उदपतत्-इति च ब्राह्मणम् ।

अर्थ :- 'मन्त्र' क्यों ? मनन से । [क्योंकि-उनसे अध्यात्म, अधिदैव, अधियज्ञ आदि अर्थ को मनन (ध्यान) किया जाता है ।]

'छन्दस्' (छन्द) क्यों ? छादन (ढांपने) से । [क्योंकि-मृत्यु से डरते हुये देवताओं ने इन से अपने को ढांपा था, यही इन छन्दों का छन्दपना है, यह ब्राह्मणश्रुति से जाना जाता है ।]

'यजुः' क्यों ? पूजा अर्थ में 'यज' (भ्वा०उ०) धातु से है। [क्यों कि उससे विशेष करके यजन किया जाता है ।]

'साम' क्यों? 'सम्मितम् ऋचा' ऋचा के समान है-जितनी ऋचा होती है-उतना ही परिमाण से होता है। अथवा क्षेपण (फेंकना) अर्थ में 'अस्' (दि०प०) धातु से है । [क्यों कि-वह ऋचा में फेंका हुआ (डाला हुआ) जैसा होता है-ऋचा ही गान की हुई साम हो जाता है ।] अथवा 'सो'

अन्तकर्मणि (दि०प०) धातु से है। [क्योंकि–वह अन्न का कर्म होता है, पहिले संहिता (पाठ) फिर पद (पाठ) फिर साम (पाठ)।] अथवा "ऋचा समं मेने" ऋचाके समान माना गया, इस से 'साम' है। ऐसा "निदान" ग्रन्थ के जानने वाले मानते हैं।

'गायत्री' कैसे ? स्तुति अर्थ में 'गै' (भ्वा० प०) धातु से है। [क्योंकि–उससे देवता स्तुति किये जाते हैं।] अथवा 'त्रिगमना' तीन प्रकार की गति वाली होने से 'गायत्री' है। "गाते हुये ब्रह्मा के मुख से उड़ी" यह ब्राह्मण है॥६॥

(खं० ७)

(निरु०–) 'उष्णिक्' उत्स्नाता भवति। स्निह्यते र्वास्यात् कान्तिकर्मणः। उष्णीषिर्णीवा-इति औपमिकम्।

'उष्णीषम्' स्नायतेः।

'ककुप्' ककुभिनी भवति।

'ककुप्' च कुब्जश्च कुजतेर्वा, उब्जतेर्वा।

'अनुष्टुप्' अनुष्टोभनात्। "गायत्रीमेव त्रिपदां सतीं चतुर्थेन पादेन अनुष्टोभति-इति च ब्राह्मणम्॥ ७॥

अर्थः–'उष्णिक्' क्यों ? वह उत्स्नाता होती है–गायत्री से चार अक्षरोंसे अधिक लिपटी हुई होती है। अथवा कान्ति अर्थ में 'स्निह' (दि०प०) धातु से है। (क्योंकि–यह देवता-

ओं को (स्निग्ध प्यारा) छन्द है) अथवा यह उष्णीषिणी (पगड़ी वाली) जैसी होती है, इससे 'उष्णिक्' है । यह औपमिक (उपमा के साथ) नाम है ।

'उष्णीष' (पगड़ी) कैसे ? शुद्धि अर्थ में 'स्नै' (भ्वा० प०) धातु से है । (क्योंकि- वह शुद्ध (धोई हुई = सुपेद होती है) ।

'ककुप्' (छन्द) क्यों ? 'ककुभिनी इव भवति' थूही वाली जैसी होती है-पूर्वोक्त सप्ताक्षर पाद वाली उष्णिक् के मध्य में जगती छन्द का बारह (१२) अक्षरों का पाद बीच में गिरा हुआ रहता है, इससे वह बीच में मोटी हो जाने से थूही वाली जैसी प्रतीत होती है । (यह नाम भी ककुभ (थूही) की उपमा से बना है) ।

'ककुभ्' और 'कुब्ज' शब्द दोनों कौटिल्य अर्थ में 'कुज' (तु० प०) धातुसे हैं । (क्योंकि-वे (थूही और कुबड़ा) टेढे होते हैं ।) अथवा न्यग्भाव या झुकना अर्थ में 'उब्ज' (भ्वा०प०) धातु से हैं । (क्योंकि-वे झुके हुये जैसे होते हैं ।)

'अनुष्टुभ्' (अनुष्टुप् छन्द) क्यों ? अनुष्टोभन (थांभने) से । (क्योंकि) गायत्री को ही त्रिपदा (तीन पाद वाली) होती हुई को चौथे पाद से थांभलेती है = ठहरालेती है-गायत्री छन्द चौबीस (२४) अक्षरों का होता है, उसमें अनुष्टुप् के आठ (८) अक्षरों के तीन ही पाद बनते हैं, उसी में आठ (८) अक्षरों का एक पाद बढ़ने से बत्तीस अक्षरों का अनुष्टुप् छन्द होता है । इस गणना से तीसरे पाद पर गायत्री छन्द गिरजाता है और अनुष्टुप् छन्द उसमें चौथा

पाद पूरा करके मानों उसे थांभलेता है। इसी से यह अनुष्टुप् है, यह ब्राह्मण है ॥ ७ ॥

(खं० ८)

(निरु०-) 'बृहती' परिबर्हणात् ।
'पङ्क्तिः' पञ्चपदा ।
'त्रिष्टुप्' स्तोभत्युत्तरपदा । का तु त्रिता स्यात्? तीर्णतमं छन्दः । त्रिवृद् वज्रः, तस्य स्तोभाति इति वा । "यत् त्रिरस्तोभत् तत् त्रिष्टुभ स्त्रिष्टुप्त्वम्-" इति विज्ञायते ॥ ८ (१२) ॥

अर्थः- 'बृहती' क्यों? परिबर्हण (वृद्धि) से । (क्योंकि वह अनुष्टुप् छन्द की अपेक्षा से चार अक्षरों से बढ़ी हुई होती है।)

'पङ्क्ति' (छन्द) क्यों? 'पञ्चपदा'। वह पांचपाद वाली होती है-क्योंकि-उसके चारों पाद दश २ अक्षरों के होते हैं-कुल चालीस (४०) अक्षर होते हैं, उनमें अष्टाक्षरपाद अनुष्टुप् के पांच पाद बनजाते हैं, इसी से वह पञ्चपदा हो कर 'पङ्क्ति' होगई !

'त्रिष्टुप्' कैसे? " स्तोभत्युत्तरा " इसका 'स्तुभ्' (भ्वा० प०) उत्तर पद है-पहिला पद 'त्रि' और दूसरा 'स्तुभ्' धातु । किन्तु त्रिता (त्रित्व) क्या। " तीर्णतमं छन्दः " बहुत ही प्रशंसा किया गया छन्द । क्योंकि-यह तीर्णतम = स्तुततम है और गायत्री छन्द को स्तोभन करता

है (ठहराता है) इस से 'त्रिष्टुप्' है । अथवा 'त्रिवृद्' तीन धारवाला वज्र होता है, उसको स्तोभन (स्तुति) करता है, इससे 'त्रिष्टुप्' है । "यत् त्रिः०" 'जिससे कि-इसने तीन वार स्तुति की है, वह त्रिष्टुभ् का त्रिष्टुभ् पना है' यह ब्राह्मण श्रुति में जाना जाता है ॥ ८ (११) ॥

(खं० ९)

(निरु०-) 'जगती' गततमं छन्दः । जलचरगति र्वा । "जलगल्यमानोऽसृजत्" इति च ब्राह्मणम् ।

'विराट्' विराजनाद् वा । विराधनाद् वा । विप्रापणाद् वा । विराजनात् सम्पूर्णाक्षरा । विराधनाद् ऊनाक्षरा । विप्रापणाद् अधिकाक्षरा ।

'पिपीलिकमध्या'-इति औपमिकम् ।

'पिपीलिका' पेलतेर्गतिकर्मणः ॥ ९ ॥

अर्थः-'जगती' क्या ? गततम (बिलकुल गया हुआ) छन्द । [क्यों ? वह सब छन्दों से अन्त का छन्द है, इससे पर छन्द नहीं, किन्तु अतिच्छन्द हैं ।) अथवा जलचरगति होने से 'जगती' है । (क्योंकि-उसका प्रस्तार जलकी लहरिओं जैसा होता है ।] "जलगल्यमानो०" प्रजापति ने इसे जलगल्यमान (क्षीण हर्ष) होते हुए रचा है या देखा है (क्योंकि-छन्द नित्य हैं, उनकी रचना का संभव नहीं इससे 'सृज' का दर्शन अर्थ ही संभव होता है ।) यह ब्राह्मण है :

'विराट्' क्यों ? विराजन (विशेष शोभन) होने से, अथवा विराधन (विकल) होनेसे । अथवा विप्रापणा (बढने-से) । सम्पूर्ण अक्षर वाली होने से विराजमान है । अल्प अक्षर वाली होनेसे विकल है । अधिकाक्षर होने से विप्लुता उभली हुई जैसी ।

'पिपीलिकमध्या' यह नाम उपमासे है । पिपीलिका (चींटी) के समान आकार वाली होती है ।

'पिपीलिका' कैसे ? गति अर्थ में पेल, (भ्वा. प० (धातुसे है । [क्योंकि- वह चलती ही रहती है ।]॥ ९ ॥

(खं०१०)

(निरु०-) इति- इमा देवता अनुक्रान्ताः-सूक्तभाजः, हविर्भाजः, ऋग्भाजश्च भूयिष्ठाः । काश्चिन्निपातभाजः ।

अथोत अभिधानैः संयुज्य हविश्चोदयति-इन्द्राय वृत्रघ्ने, इन्द्राय वृत्रतुरे, इन्द्राय अंहोमुचे-इति । तान्यपि एके समामनन्ति । भूयांसि तु समाम्नानात् ।

यत्तु संविज्ञानभूतं स्यात् प्राधान्यस्तुति तत् समामने ।

अथोत कर्मभिर्ऋषिर्देवताः स्तौति-वृत्रहा, पुरन्दर इति, तान्यपि एके समामनन्ति । भूयांसि तु समाम्नानात् । व्यञ्जनमात्रं तु तत् तस्या-

भिधानस्य भवति । यथा-ब्राह्मणाय बुभुक्षिताय ओदनं देहि, स्नाताय अनुलेपनं, पिपासते पानी-यम्- इति ॥ १० (१३) ॥

इति सप्तमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ७, ३॥

अर्थः- " इति इमा० " । इस प्रकार ये देवता अनुक्रम से कहे गए-जिनमें कोई सूक्तभाक् = सूक्तों को भजने वाले-सूक्तों में जिनकी प्राधान्य से स्तुति होती है, परन्तु हविः उनको नहीं दी जाती, कोई हविर्भाक् = हविः को भजने वाले = जिनको हविः दी जाती है, या देना विहित है, "ऋग्भाजश्च भूयिष्ठाः" और बहुत से ऋचाओं के भजने वाले हैं—जिनकी एक २ ऋचायें (या आधी २ ऋचा में या चौथाई २ ऋचामें) स्तुति होती है, किन्तु सूक्तों में नहीं ऐसे बहुत ही देवता हैं । (सूक्त अनेक मन्त्रों का समूह होता है ।) । और कुछ देवता निपात के भजन करने वाले हैं— उनकी कहीं सूक्त, मन्त्र, या आधी ऋचा में प्राधान्य से स्तुति नहीं वे सदा दूसरे प्रधान देवताओं की स्तुति में गौण रूप से आते हैं, या उनके मन्त्रों में उनके साथ स्तुति किये जाते हैं ॥

समाम्नाय के समाम्नान (संग्रह) के विषयमें "अथोत अभिधानैः" और भी अभिधानों के साथ विशेषण शब्दों को संयुक्त करके विधिशास्त्र) हविः का विधान करता है- "इन्द्राय वृत्रघ्ने" (एकादशकपालं निर्वपेत्) वृत्र के हनन करने वाले इन्द्र के लिये ग्यारह कपालों में पकाये हुए पुरोडाश को देवे । इन्द्राय वृत्रतुरे"

वृत्रतुर् (वृत्र को भगाने वाले) इन्द्र के लिये "इन्द्राय—अंहोमुचे" पाप को छुड़ाने वाले इन्द्र के लिये (एकादश-कपालं निर्वपेत्) ग्यारह कपालों के पुरोडाश को देवे।

"तान्यपि०" उनको भी कोई (आचार्य) समाम्नान करते हैं- निघण्टु शास्त्र में पढ़ते हैं- देवताओं के इन्द्र आदि प्रधान नामों के समान उनके विशेषण 'वृत्रहन्' 'वृत्रतुर्' और 'अंहोमुच्', आदि शब्दों को भी निघण्टु में संग्रह करते हैं !

"भूयांसि तु समाम्नानात्" किन्तु (उनके) समाम्नान करने से बहुत नाम हो जावेंगे।

"यत्तुसंविज्ञानभूतं" मैं तो जो संविज्ञानभूत = प्रकृति, प्रत्यय आदि संस्कारों से बनाहुआ और प्राधान्य से स्तुति वाला नाम है, उसे समाम्नान करता हूं।

"अथोत०" और भी ऋषि कर्मों से देवताओं की स्तुति करता है–'वृत्रहा' वृत्र को मारने वाला, 'पुरन्दर' पुर दैत्य को मारने वाला, (इत्यादि।) उनको भी (कर्मनामों = गौण नामों को भी) कोई आचार्य समाम्नान करते हैं।

"भूयांसि तु समाम्नानात्" किन्तु (उनके) समाम्नान से बहुत हो जावेंगे।

"व्यञ्जनमात्रन्तु०" वह तो विशेषणमात्र है-उस (प्रधान) नाम का। जैसे बुभुक्षित (भूखे) ब्राह्मण के लिये भात दे, नहाए के लिये अनुलेपन (चन्दन) प्यासे के लिये पानी, यह, (यहां 'ब्राह्मण' इस प्रधान नाम के साथ 'बुभुक्षित' आदि नाम विशेषण हैं।) ॥ १० (१३) ॥

व्याख्या ।

सप्तमाध्याय के आरम्भ से देवतातत्व के ही सम्बन्धमें विशेष २ अर्थों का निर्णय होता आया है। जैसे पहिले देवता का लक्षण कि किस पहिचान से मन्त्र में देवता समझा जावेगा। फिर जिन मन्त्रों में देवता ज्ञातव्य है उन मन्त्रों के परोक्ष, प्रत्यक्ष और आध्यात्मिक भेद बताए गए हैं, उन का भी प्रयोजन देवता का परिज्ञान ही है। क्योंकि-भिन्न २ स्वभाव वाली ऋचाओं में भिन्न २ प्रकार से देवता रहता है, इससे उनके स्वभाव जाने विना देवता परिज्ञानमें संकट उपस्थित हो सकता है। इसी प्रसंग में हीन लक्षण मन्त्र भी दिखाए, जिनमें कोई स्तुतिहीन है, कोई कामनाहीन है, कोई शापरूप है, और कोई शपथरूप है, इत्यादि। फिर अनादिष्ट मन्त्र अनेक मत भेदोंसे अनेक प्रकार के दिखाए हैं-जिनमें कोई देवता के चिन्ह से रहित होकर यज्ञ में सम्बन्ध करता है, कोई यज्ञाङ्ग में सम्बन्ध करता है, कोई दोनों में सम्बन्ध नहीं करता, उनमें यज्ञ देवता, यज्ञाङ्ग देवता, यज्ञ से अन्यत्र याज्ञिकों के मत में 'प्रजापति' देवता, नैरुक्तों के मत में 'नराशंस' देवता अथवा इच्छित देवता, अथवा अधिकृत देवता, अथव' विश्वदेवता ,अथवा यज्ञ देवता (आदित्य देवता) अथवा अग्नि देवता इत्यादि रूप से निर्णय किया है फिर अदेवताओं को देवताओं के समान स्तुति का आक्षेप और उसका देवता के माहाभाग्य आदि हेतुओं से प्रतिसमाधान, फिर देवताओं की संख्या के सम्बन्ध में नैरुक्तों के मत में त्रित्व और याजकों के मत प्रतिनाम देवता का भेद (और आत्मवित् के मत में एक आत्मा देवता) स्थापन

किया, तथा " एतन्नरराष्ट्रमिव" इस दृष्टान्त से सब पदों की गौण मुख्य भाव से एकवाक्यता सिद्ध की है। फिर देवताओं के आकार का प्रश्न, जिसमें पुरुषाकारता, अपुरुषाकारता, कर्मार्थ आत्मा की उभयविधता, और नित्य उभयविधता रूपसे चार प्रकार के आकारों की मन्त्रप्रामाण्य से व्यवस्था दी है। फिर देवताओं का नैरुक्तों के मतसे भक्तिसाहचर्य विस्तारसे निरूपण किया है। फिर 'मन्त्र' 'छन्दस्' 'यजुः' 'साम और 'गायत्री' आदि शब्दोंके निर्वचनसे मन्त्रों के सामान्य विशेष स्वभाव दिखाये हैं फिर अब इस खण्डमें इस दैवतकाण्ड के उपोद्घात को पूरा करते हैं और जो कुछ देवता सम्बन्ध में अवशिष्ट है, संक्षेप से कहदेते हैं, इसी बात की सूचना के लिये खण्ड के आरम्भ में "इति इमाः" 'इति' शब्द दिया है। अथवा पूर्वोक्त प्रकार की सूचना के लिये यह 'इति शब्द दिया है—जिस लक्षण जिस से, संख्या से, जिस आकार से ये देवता कहे गए हैं, वे सब देवता संक्षेपसे फिर चार प्रकार के हैं--सूक्तभाक्, हवि र्भाक्, ऋग्भाक्, और निपातभाक्। अर्थात्—इनस्वभावों को लेकर भी देवताओंका विभाग करना, ये स्वभाव भी सब के समान नहीं हैं। जो सूक्तभाक्-सूक्तों से स्तुति किये जाते हैं, उनका समूह अलग है, जो हविर्भाक् हैं, जिनको हविः दिया जाता है, वे अलग हैं, जो ऋग्भाक् (अर्द्धर्चभाग्, ऋक्पादभाक्) हैं, वे अलग हैं, किन्तु ये औरों की अपेक्षा से संख्या में बहुत अधिक हैं (जैसे धनाढ्य कम और अल्पधन अधिक होते हैं) और ऐसे ही कोई देवता ऐसे हैं, जो निपातभाक् हैं— दूसरों के स्तोत्र में गौण रूप से आते हैं। यह चौथा देवताओं का विभाग अलग

है। जब देवता पदार्थ का विचार करना हो, तो और देव धर्मों के साथ में इन पर भी ध्यान रखा जावे

निघण्टु की रचना

यास्कआचार्य इसी उपोद्घात में समाम्नाय या निघण्टु की अपने से पूर्वस्थिति को बता कर अपने स्वीकृत या परिष्कृत निघण्टु को भी देना आवश्यक समझते हैं। जिससे यह भी सूचित हो कि उन्हों ने समाम्नाय पर भाष्य लिखकर ही इस शास्त्र का उपकार नहीं किया है, बलकि- इस के मूल शरीर को उपयुक्त और लघु भी बना दिया है। जिस के कारण अध्येताओं को इस शास्त्र का अध्ययन सुगम और अल्पकालसाध्य होगया है।

भाष्यकार कहते हैं- " अथोत अभिधानैः० तान्यपि एके समामनन्ति, भूयांसि तु समाम्नानात्" जहां तहां विधिवाक्यों में देवताओं के प्रधान नामोंके साथ जो विशेषण शब्द दिये हैं, उन का भी कोई आचार्य समाम्नान करते हैं, किन्तु वैसे शब्दों के लेने से बहुत अधिक शब्द हो जाते हैं। और भी फिर कहते हैं- "अथोत कर्मभिः०- तान्यपि एके समामनन्ति, भूयांसितु समाम्नानात्" कहीं २ मन्त्रों में ऋषि कर्मों से देवता की स्तुति करता है, जैसे 'वृत्रहा' 'पुरन्दर' इत्यादि, इन शब्दोंका भी कोई आचार्य अपने समाम्नाय में संग्रह करते हैं, किन्तु ऐसा करने से शब्द बहुत अधिक हो जावेंगे। सुतराम् यास्क अपने निघण्टु से पहिले दो प्रकार के निघण्टुओं को देख रहे हैं, उन दोनों

में अनावश्यक शब्दों के संग्रह से बड़ा गौरव होगया था अतः उन शब्दों को निकाल कर पञ्चाध्यायी के रूप में प्रधान देवता नामों और आवश्यक नैघण्टुक तथा ऐकपदिक शब्दों का उन्होंने संग्रह किया और उसी पर यह "निरुक्त" नाम भाष्य निर्माण किया है।

इस स्थल के निरुक्त को देखने से यह बात स्पष्ट होजाती है कि-जिस प्रकार व्याकरण शास्त्र को अनादि परम्परागत होने पर भी उस के ग्रन्थों की रचना समय २ पर बदलती आई है, उसी प्रकार "निघण्टु" शास्त्र की भी परम्परा है इस की भी समय २ में आचार्यों के द्वारा नई २ रचना हुई है और अब हम जिस निघण्टु को पढ रहे हैं, वह यास्क मुनिका ही किया हुआ परिष्कृत संग्रह है। जिस का प्रमाण यह प्रकरण ही है-

"यत्तु संविज्ञानभूतं स्यात् प्राधान्यस्तुति तत् समामने" अर्थात्-जो संविज्ञानभूत प्राधान्य से स्तुति युक्त नाम हो उसी को मैं समाम्नान करता हूं।

इस के अतिरिक्त आरम्भ की प्रतिज्ञा भी यही बात कह रही है, कि आचार्य अपने ही समाम्नान किये हुए समाम्नाय की व्याख्या करते हैं-

"समाम्नायः समाम्नातः, स व्याख्यातव्यः" अर्थात् समाम्नाय का समाम्नान हो चुका, उसकी व्याख्या करना चाहिये।

यदि समाम्नाय पहिले से प्रस्तुत होता, तो "समाम्नायो व्याख्यातव्यः" समाम्नाय की व्याख्या करना

चाहिए, इतना ही पर्याप्त था। जैसे "अथातो धर्मजिज्ञासा" आदि अन्य आर्ष ग्रन्थों में प्रतिज्ञा वाक्य हैं किन्तु "समाम्नायः समाम्नातः" 'समाम्नाय का समाम्नान किया गया'—इस अनुवाद की क्या अपेक्षा थी? सुतराम् समाम्नाय का समाम्नान स्वयम् यास्काचार्य ने ही किया है इसी से उनको ऐसा कहना उचित था। इसी की पुष्टि "यत्तु संविज्ञानभूतं०" यह उपरिलिखित वाक्य स्पष्ट शब्दों में कर ही रहा है। अतः यह असन्दिग्ध सिद्ध होगया कि- यह संग्रह यास्काचार्य का ही है, और का नहीं॥ १० (१३)॥

इति हिन्दीनिरुक्ते सप्तमाध्यायस्य तृतीयः पादः॥ ७, ३॥

(समाप्त उपोद्घातः)

चतुर्थः पादः ।

(खं० १)

अथ निघण्टुपञ्चमोऽध्यायः । ५ ।

(अथ त्रीणि पदानि)

ॐ ॥ अग्निः ॥ १ ॥

(निरु०-) अथातोनुक्रमिष्यामः । अग्निः पृथिवीस्थानः तं प्रथमं व्याख्यास्यामः ।

'अग्निः' कस्मात् ? अग्रणीर्भवति । अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते । अङ्गं नयति सन्नममानः । अक्नोपनो भवति इति स्थौलाष्ठीविः । न क्नोपयति न स्नेहयति ।

त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायते-इति शाकपूणिः । इताद्, अक्ताद्, दग्धाद् वा नीतात् । स खलु एतेः अकारम् आदत्त, गकारम्- अनक्तेर्वा, दहतेर्वा नीः परः ।

तस्य एषा भवति ॥ १ (१४) ॥

अर्थः- "अथातो०" अब यहां से अनुक्रमण करेंगे- सामान्यरूप से 'अग्नि' आदि देवपत्नी पर्यन्त सब देवताओं की व्याख्या होचुकी, अब विशेष रूप से 'अग्नि' आदि (१५१) शब्दों की प्रतिपद व्याख्या होगी ।

'अग्नि' (देवता) पृथिवी स्थान है-इस का पृथिवी

ही स्थान है, किन्तु अन्तरिक्ष या द्युलोक नहीं है। [क्यों कि–उसको कर्म का अधिकार पृथिवी लोक ही में है, जो कुछ वह करता है, पृथ्वी में ही करता है।] "तं प्रथमं०" उस (अग्नि) को पहिले व्याख्यान करेंगे–क्यों कि–इस का पृथिवी स्थान है और वह हमारे निकट तथा वही लोकों की गणना में पहिले आती है, इससे प्रथम पृथिवी स्थान अग्नि की ही व्याख्या करेंगे। [कारण के विना प्रथम का लङ्घन नहीं किया जाता।

'अग्नि' क्यों है ? वह अग्रणी होता है–सब कामों में अपने को आगे लेजाता है–वह सब जगह ऐसा उपकार करता है, जिस से अग्र (आगा) बन जावे। अथवा यज्ञों में आगे (आहवनीय आदि स्थानों में) पहुंचाया जाता है, इस से 'अग्रणी' होता हुआ 'अग्नि' हो जाता है। "अङ्गं नयति संनममानः" झुकता हुआ ही अङ्ग को लेजाता है– जिस किसी लौकिक वैदिक कर्म में जाता है, अङ्ग को झोंक देता है–अपनी तत्परता से आप वहां प्रधान बन जाता है, और और सबको अपना अङ्ग (पिछलग्गू) बना लेता है।

'अक्नोपन' है (इसी से अग्नि है) यह स्थौलाष्ठीवी आचार्य मानता है। (अक्नोपन क्या ?) "न क्नोपयति = न स्नेहयति" चिकनाता नहीं = सचिक्कण नहीं करता– जहां तृण काष्ठ आदि में जाता है सबको रूखा बना देता है।

"त्रिभ्य आख्यातेभ्यः" तीन आख्यातों से (अग्नि) होता है,– तीन आख्यातों की क्रियाएं इसमें प्रतीत होती

हैं,—यह शाकपूणि आचार्य मानता है। [जैसे—] 'इतात्' गति अर्थ में 'इ' (अदा० प०) धातु से 'अक्तात्' प्रकाशन अर्थ में 'अञ्जु' (रु० प०) धातु से 'दग्धाद्वा' अथवा भस्मीकरण (जलाना) अर्थ में 'दह' (भ्वा०प०) धातु से 'नीतात्' प्रापण (प्राप्त करना) अर्थ में 'नी' (भ्वा० उ०) धातु से है। वह शाकपूणि 'इ, (अ०प०) से अकार को लेता है, 'ग' कार को 'अञ्जु (रु०प०) से अथवा 'दह' (भ्वा०प०) से (लेता है) 'नी' (भ्वा०उ०) धातु पर है- तीसरे स्थान में है।

"तस्य एषा०" उस अग्नि की यह ऋचा है—॥१(१४)॥

(खं० २)

(निरु०) "अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देव-मृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्"॥ (ऋ०सं०१,१,१)

"अग्निम्-ईळे" अग्निं याचामि। 'ईळिः' अध्येषणाकर्मा, पूजाकर्मा वा।

'पुरोहितो' व्याख्यातः [२,३,२]

'यज्ञ'श्च [३, ४, २]

'देवो' दानाद् वा। दीपनाद् वा। द्योतनाद् वा। द्युस्थानो भवति-इति वा।

योदेवः सा देवता।

'होतारं' ह्वातारम्।

जुहोतेर्होता-इति-और्णवाभः।

'रत्नधातमम्' रमणीयानां धनानां दातृतमम्।

तस्य एषा अपरा भवति॥ २ (१५)॥

अर्थ :– "अग्निमीळे०" इस ऋचा का मधुच्छन्दस् ऋषि, गायत्री छन्द और आश्विन शस्त्र में विनियोग है।

(अहम्) मैं 'अग्निम्' 'देवम्' अग्नि देवको 'ईळे' (याचामि) याचना करता हूं–उस से प्रार्थना करता हूं, जो 'पुरोहितम्' देवताओं का पुरोहित, "यज्ञस्य ऋत्विजम्" यज्ञ में ऋत्विज् (कर्म करने वाला), 'होतारम्' देवताओं का बुलाने वाला 'रत्नधातमम्' और रमणीय (सुन्दर) धनों का बहुत करके देने वाला है, उसको [बुलाता हूं या याचना करता हूं]।

[एक पद निरुक्त-] 'ईड' (अदा०आ०) धातु का सत्कार पूर्वक बरताव करना या पूजा अर्थ है।

'पुरोहित' शब्द की व्याख्या हो चुकी (२,३,३)।

'यज्ञ' शब्द की भी व्याख्या हो चुकी (३,४,२)।

'देव' क्यों ? दान करने से। अथवा दीपन (जलाने) से। अथवा द्योतन (प्रकाशन) से। अथवा द्युस्थान है- द्युलोक में रहता है इससे [देव है]।

"यो देवः" जो देव है, वही 'देवता' है–'देव' शब्द और 'देवता' शब्द दोनों समान अर्थ में हैं।

'होता' क्या ह्वाता (बुलाने वाला)।

(हु) (जु० प०) धातु से 'होतृ' शब्द है, यह और्णवाभ [आचार्य मानता है]।

'रत्नधातम' रमणीय धनोंका अति दान करने वाला। "रत्नानि दधाति इति रत्नधा।" रत्नों का धारण करने

वाला 'रत्नधा' (सायणः) अति 'रत्नधः' 'रत्नधातम' होता है।

"तस्य एषा०" उस (अग्नि) की यह और ऋचा है २ (१५)"

(खं० ३)

(निरु०-) "अग्निः पूर्वेभि ऋर्षिभिरीड्यो नूतनैरुत। स देवान् एह वक्षति" ॥[ऋ० सं० १, १, २]॥

अग्निर्यः पूर्वैः ऋषिभिः इडितव्यो वन्दितव्योऽस्माभिश्च नवतरैः। स देवान् इह आवहतु-इति॥ स न मन्येत- अयमेव अग्निः इति। अपि एते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते। ततो नु मध्यमः॥ ३ (१६)॥

अर्थ.- "अग्निः पूर्वेभिः०" इस ऋचा का पूर्व ऋचा के समान ही ऋषि छंद और विनियोग है।

'तद्' (उस) शब्द की अपेक्षाबल से भाष्यकार ने 'यद्' (जिस या जो) शब्द का अध्याहार किया है- (यः) जो (अग्निः) अग्नि देव 'पूर्वेभिः' (पूर्वैः) पूर्व 'ऋषिभिः' ऋषिओं से 'ईड्यः' (ईडितव्यः = वन्दितव्यः) स्तुति करने योग्य है, 'नूतनैः' (उत) (अस्माभिश्चनवतरैः) और हम बहुत नए ऋषिओं से जो स्तुति करने योग्य है, 'सः' वह (अग्नि देव) 'इह' हमारे इस यज्ञ में 'देवान्' देवताओं को,

'आ-वक्षति' (आवहतु) बुलावे या लावे। 'इति' ऐसे उदाहरण इस पार्थिव अग्नि के होंगे, यह आचार्य दिखाते हैं॥

जिस प्रकार 'अग्नि' शब्द पार्थिव ज्योति में मिलता है उसी प्रकार मध्यम और उत्तम ज्योतिओंमें भी उपलब्ध होता है, इन कारण यह संकीर्ण (सांकर्ययुक्त = साधारण) शब्द है, इसीसे यहां इस विषय का विचार आरम्भ होता है-

"स न मन्येत०" इत्यादि। वह (शिष्य) न मानेगा-यही (पार्थिव) अग्नि है-इस 'अग्नि' शब्द का मुख्य अर्थ यही पृथिवी का प्रसिद्ध अग्नि है, यह न मानेगा, [क्योंकि-और भी ये दूसरी ज्योतिएं = मध्यम उत्तम ज्योतिएं 'अग्नि' कहलाती हैं।

"ततो नु मध्यमः" 'नु' शब्द वितर्क अर्थ में है। देखो! तिस वक्ष्यमाण या दिखाई जाने वाली ऋचा के प्रामाण्य से अग्नि शब्द का वाच्य मध्यम ज्योति होता है-॥ ३ (१६)॥

(खं० ४)

(निरु०-)"अभिप्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निम्। घृतस्य धाराः समिधो नसन्त ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः॥" [ऋ० सं० ३, ८, ११, ३]

अभिनमन्त समनस इव योषाः। समनं समननाद् वा। सम्माननाद् वा। कल्याण्यः स्मयमानासः।

'अग्निम्'-इति औपमिकम् ।
"घृतस्य धारा." उदकस्य धाराः ।
"समिधो नसन्त" 'नसतिः' आप्नोतिकर्मा वा । नमतिकर्मा वा ॥
"ता जुषाणो हर्य्यति जातवेदाः" 'हर्य्यतिः' प्रेप्साकर्मा-'विहर्य्यति' इति ॥
"समुद्रादूर्मिमधुमाँ उदारत्" (ऋ०सं०३,८,, १०१ इति आदित्यमुक्त मन्यन्ते ।
"समुद्राद्ध्येषोऽद्भ्य उदेति" इति च ब्राह्मणम् । अथापि ब्राह्मणं भवति—"अग्निः सर्वा देवताः" इति ।
तस्य उत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥ ४ (१७) ॥

अर्थः—"अभिप्रवन्त०" इस ऋचा का वामदेव ऋषि, सप्तम अहन् में दशरात्र के आज्य शस्त्र में विनियोग है ।

'इव' (यथा) जिस प्रकार 'समनाः' (समनसः = एकस्मिन् भर्त्तरि समानमनसः) एक भर्त्ता में समान मन वालीं (स्मयमानासः) मन्दहसन वालीं 'कल्याण्यः' रूप यौवन आदि गुणों वालीं 'योषाः' स्त्रिएं 'अभिप्रवन्त' (अभिनमन्त) संमुख भाव से नम्र होती हैं । (तथा) वैसे ही 'घृतस्य' (उदकस्य) 'धाराः' जलकी धाराएं 'समिधः' (समिधयन्त्यः) दीपन करती हुईं 'अग्निम्' मध्यम स्थान की ज्योति को 'नसन्त' (प्राप्नुवन्ति) प्राप्त होती हैं, या उसको नमस्कार करती हैं । 'नस'

(भ्वा० प०) धातु आप्नोति के अर्थ (प्राप्ति) में है, या 'नम' नमस्कार करना = झुकना) (भ्वा० प०) धातु के अर्थ-में है। 'ताः' उन जल धाराओं को जुषाणः, सेवन करता हुवा या प्यार करता हुआ 'जातवेदाः' (वैद्युतोऽग्निः) मध्यम-स्थान का वैद्युत अग्नि 'हर्य्यति' (विहर्य्यति) विहार करता है या कामना करता है। 'हर्य्य' (भ्वा० प०) धातु प्रेप्सा या अति इच्छा अर्थ में है॥

व्याख्या

"अभिप्रवन्त०" मन्त्र में घृतधारा उदक धारा ही हैं। क्योंकि एक पति के संमुख अनेक योषाओं के समान मध्यम ज्योति के प्रति अनेक जलधाराओं के ही जानेका संभव है। घृत की हवनाहुतिएं अग्नि में मन्त्र के साथ एक २ करके क्रमसे दीजाती हैं, इस से घृतधाराओं के स्वीकार में उपमान उपमेय भाव नहीं बन सकता। इसीसे यहां अग्नि पद्से मध्यम ज्योति (वैद्युतअग्नि) ही उक्त होता है इसी सामर्थ्य को लेकर जलके नामों में "घृत" नाम पढ़ा है॥

'समन' कैसे ? समनन से—'सम्' (उप०) 'अन' प्राणने (अदा० प०) धातु से है। अथवा संमानन से—'सम्' (उप०) 'मन' अवबोधने (त०आ०) धातु से है॥

'अग्नि' शब्द से उत्तम ज्योति के ग्रहण में निगम-

अर्थः-"समुद्रादूर्मिः०" अर्थात्—समुद्र या जल के समूह से ऊर्मि या अपने प्रकाश से सब जगत् को ढांपने वाला मधुमान् (जलवाला) आदित्य 'उदारत्' नित्य २ उदय होता है।

[यद्यपि इस मन्त्र में 'अग्नि' शब्द नहीं, तथापि कोई शाखावालों के सूक्त में "इमं स्तनम्०" इस ऋचा में "अपा प्रपीनमग्ने०" यह 'अग्नि' शब्द है, इस से यह निगम साधु है ।] यहां आदित्य का उक्त (कहा गया) मानते हैं ॥

"समुद्राद्ध्येषोद्भवः" यह आदित्य अग्नि समुद्र के जलों से उदय होता है । यह ब्राह्मण है । [समुद्र से पार्थिव अग्नि के उदय होने का संभव नहीं इसी से यहां अग्नि आदित्य ही है ।]

"अथापि०" और भी ब्राह्मण है- " अग्निः सर्वा देवताः" अर्थात्-अग्नि सब देवता हैं ॥

"तस्य०" उस (ब्राह्मण वाक्य) के अगली ऋचा बहुत निर्वचन के लिये है-उसका अर्थ अगली ऋचा में स्पष्टरूप से वर्णन किया हुआ है ॥ ४ (१७) ॥

(खं० ५)

(निरु०) "इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः ससुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥" [ऋ०सं०२.३,२२,६]

इममेव अग्निं महान्तम् आत्मानम् एकम् आत्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्ति—इन्द्रं मित्रं वरुणम् अग्निं दिव्यं च गरुत्मन्तम् ।

'दिव्यः' दिविजः ।

'गरुत्मान्' गरणवान् । गुर्वात्मा । महात्मा-इतिवा ।

यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरुप्यते अयमेव सोऽग्निः । निपातमेव एते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते ॥ ५ (१८) ॥

इति सप्तमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥७,४॥

अर्थ :-"इन्द्रं मित्रम्०" इस ऋचा का अस्यवाम ऋषि है।

(इममेव) 'अग्निम्' इसी अग्नि को 'इन्द्रम्' इन्द्र 'मित्रम्' मित्र 'वरुणम्' वरुण 'आहुः' कहते हैं- [तत्वविन् पुरुष]-इन्द्र, मित्र और वरुण आदि नामों से इस अग्नि को ही कहते हैं-उन नामों से अग्नि के अतिरिक्त कोई दूसरा अर्थ नही है। 'अथो' (अपि च) और भी (यः अयम्) जो यह 'दिव्यः' (दिविजः) द्युलोक में होने वाला = रहने वाला 'सुपर्णः' (सुपतनः) सुन्दर पतन (गमन) करने वाला 'गरुत्मान्' (गरणवान्) स्तुतिओं वाला अथवा रसों को निगलने वाला (गुर्वात्मा = महात्मा) अथवा गुरु आत्मा वाला या महान् आत्मा आदित्य है यह भी 'सः वह अग्नि ही है। [बहुत क्या ?] (इममेव अग्निं महान्तम् आत्मानम्) इसी महान् अग्नि आत्मा को 'एकम्' 'सत्' (आत्मानम्) एक होते हुये आत्मा को 'विप्राः' (मेधाविनः) अभेद भाव से देखते हुए मेधावी ब्राह्मण 'बहुधा' बहुत प्रकार से 'वदन्ति' कहते हैं-'अग्निम्' अग्नि, 'यमम्' यम, 'मातरिश्वानम्' मातरिश्वा, (वायु) 'आहुः' कहते हैं मेधावी ब्राह्मण इसी अग्नि महान् आत्मा को एक होते हुये को भी इन्द्र, मित्र, वरुण, आदित्य, यम, और मातरिश्वा कहते है ॥

"यस्तु०" किन्तु जो सूक्त को भजता है-सूक्तों में जिस की प्राधान्य से स्तुति होती है और जिसके लिये हविः का निर्वाप होता है, वह यही (पार्थिव अग्नि है, और ये दूसरे (मध्यम उत्तम) ज्योति इस अग्नि नाम से निपात को ही भजते हैं-उन में यह (अग्नि) नाम गौण रूपसे ही आता है ॥ ५ (१८) ॥

व्याख्या

अष्टधा व्याख्या। (१) अभिधान (देवता का नाम)। (२) अभिधेय (उस नामका मुख्य या प्रसिद्ध अर्थ)। (३) अभिधानव्युत्पत्ति (उसी नाम की व्युत्पत्ति)। (४) प्राधान्यस्तुति का उदाहरण (उस नाम से उस देवता की ऋचा) (५) तन्निर्वचन (उस ऋचा की व्याख्या)। (६) विचार (प्रश्नोत्तर)। (७) उपपत्ति (युक्ति)। (८) अवधारण (एक पक्ष की स्थिति)।

'अग्नि' शब्द में अष्टधा व्याख्या का प्रदर्शन (१) 'अग्नि' यह अभिधान। (२) यह पार्थिव अग्नि मुख्य अर्थ। (३) "अग्रणीर्भवति" यह 'अग्नि' नाम की व्युत्पत्ति। (४) "अग्निमीळे०" यह ऋचा उदाहरण। (५) 'अग्निं याचामि' यह मन्त्र की व्याख्या। (६) "स न मन्येत अयमेव अग्निः" (वह शिष्य न मानेगा यही अग्नि है) यह विचार। (७) यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरुप्यते (जो सूक्त को भजता हो, जिसके लिये हविः का निर्वाप हो) यह उपपत्ति। (८) "अयमेव अग्निः" (यही अग्नि 'अग्नि' शब्द का मुख्य अर्थ है) यह अवधारण।

'अग्नि' पद के अर्थ में मतभेद ।

१-आत्मवित् के मत में 'अग्नि' आत्मा है । "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" [ऋ०सं० २,३,२२.६] 'एक होते हुए आत्म वस्तु को मेधावी ब्राह्मण बहुत प्रकार से कहते हैं' यह मन्त्र दर्शन उनके मत में प्रमाण है ।

२-याज्ञिकों के मत में-जिसका कोई स्थान विशेष माना हुआ नहीं, जिनका 'अग्नि' यह नाम ही जाना हुआ है, ऐसा देवताविशेष लोक और वेद में प्रसिद्ध, कर्म का अङ्ग 'अग्नि' शब्द का अर्थ है ।

३--नैरुक्त मत में—जिसका यह पृथिवी लोक स्थान नियत है, जिस का हविर्वहन आदि विशेष कर्म नियत है, जो मध्यम उत्तम ज्योतिओं से अन्य है, ऐसा यह पार्थिव अग्नि 'अग्नि' शब्द का अर्थ है ॥

नैरुक्त मत से प्रकरण का आरम्भ ।

क्योंकि नैरुक्त आचार्य तीन ही देवता मानते हैं इससे आचार्य अपने मत के अनुसार ही इस प्रकरण का आरम्भ करते हैं- "अग्निः पृथिवीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः" अग्नि पृथिवी स्थान का है, इससे पहिले उसी को व्याख्यान करेंगे ।

निर्वचन का प्रयोजन ।

प्रायः देवताओं के जितने नाम हैं वे सब परोक्षवृत्ति हैं । मन्त्रों में जिन नामों से उनकी स्तुतिएं आती है, उनमें स्तोता ऋषि छिपाए हुये जैसे देवतातत्व को देखते हैं - जैसे कूट

शब्दों में वक्ता का अभिप्राय गुप्तजैसा रहताहै, और उसे उस छिपे हुये अर्थ को देखते हुये प्रीति होती है-वैसे ही देवताओं को अपने ऐसे कूट नामों से बहुत प्रीति है, और जो प्रत्यक्षवृत्ति शब्द हैं, उनसे वे अप्रसन्न रहते हैं, "परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः" 'परोक्षप्रिय जैसे, प्रत्यक्षस्तुति के द्वेषी देवता होते हैं' यह श्रुति है। क्योंकि-देवतानाम सब परोक्षवृत्ति हैं, उनके निर्वचन से पुरुष को आगम प्रमाणित देवता का सारूप्य मिलता है, इसी से आचार्य "अग्निः कस्मात्" इस प्रश्न के द्वारा निर्वचन को आरम्भ करते हैं। इसी प्रकार सब देवता पदों में उपोद्घात (प्रश्न) और उस के उत्तर की स्थापना देखना चाहिये।

किन्तु आत्मवित् पक्षमें सब नाम आत्मा के लिये ही हैं इससे सब अवस्थाओं में अवस्थित आत्मा को सब नामों की व्युत्पत्ति से निर्वचन करके यथार्थ रूपसे जानकर सर्वात्मा आत्मा की सब अवस्थाओं की विभूतिओं को अनुभव करता है यह सब पदों की व्युत्पत्ति का प्रयोजन है। जैसे-कि-स्मृति है-

"शब्दब्रह्मणि निष्णातः परब्रह्माधिगच्छति।"

अर्थात् शब्द ब्रह्ममें निष्णात (पारंगत) होकर परब्रह्म को प्राप्त होता है। इति ॥

"अग्निमीळे"

देवताकाण्ड में तीनों लोकोंके देवताओं में पहिले पृथिवी स्थान देवताहैं, और उनमें 'अग्नि' देवता प्रथमहै, उधर सबवेदों में प्रथम ऋग्वेद है, और ऋग्वेद में भी सबसे पहिले अग्नि देवताका

ही "अग्निमीळे" यह सूक्त है, यह देवता और उदाहरण दोनोंकी योग्यताओ बोधन करने के लिये आचार्यने "अग्निमीळे" यही उदाहरण दिया है, सम्पूर्ण निघण्टु और सम्पूर्ण ऋग्वेद पर ध्यान देनेसे यहभी प्रतीत होता है कि-निघण्टु की रचना का घनिष्ठ सम्बन्ध ऋग्वेदसे ही है ॥

विचार की आवश्यकता

यद्यपि शब्द का मुख्य अर्थ एक ही होता है, तथापि गौण अर्थों की संख्या नहीं है। शब्द के गौण अर्थों को भी अल्प बुद्धि पुरुष मुख्य अर्थ मान बैठते हैं, इससे विचार की आवश्यकता हुई। और इसीसे अग्नि शब्दके मुख्य और गौण अर्थों का विवेचन किया गया है ॥ ५ (१८) ॥

इति हिन्दी निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य
चतुर्थः पादः समाप्तः॥७ ४॥

अथ पञ्चमः पादः।

(खं० १)

(निघ०) जातवेदाः ॥ २ ॥

(निरु०) जातवेदाः कस्मात्।
जातानि वेद।
जातानि वा एनं विदुः।
जाते जाते विद्यत इतिवा।
जातवित्तो वा जातधनः।
जातविद्योवा जातप्रज्ञानः।

"यत्तज्जातः पशूनविन्दत इति तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वम्"-इति ब्राह्मणम् । "तस्मात्सर्वानृतून् पशवोऽग्निमभिसर्पन्ति"-इति च ।

तस्य एषा भवति—॥ १ (१९) ॥

अर्थ :-'जातवेदाः' (२) [नैरुक्त मत में सौहाभाग्य से अथवा कर्म के भेद से यह अग्नि ही है । याजक मत में नाम के भेदसे और स्तुति के भेदसे दूसरा कोई देवता है ।] क्यों?

"जातानि वेद" वह जातों (उत्पत्ति वालों) को जानता है संसार में कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे वह न न जानता हो,-अर्थात् सर्वज्ञ है ।

"जातानि वा" अथवा जात = जो हैं, वे सब इसे जानते हैं । (इन दोनों व्युत्पत्तिओं में 'जात' शब्द पूर्व पद और ज्ञानार्थ 'विद्' (अदा० प०) धातु उत्तर पद है । पहिली व्युत्पत्ति पे सबका ज्ञाता और दूसरी में सबका ज्ञेय है ।)

"जाते जाते" अथवा जात जात में विद्यमान है, इस से 'जातवेदस्' है । [इस में 'जात' शब्द पूर्व और सत्तार्थक 'विद्' (दि०आ०) धातु उत्तर पद है ।]

"जातविद्यो वा०" अथवा इसको विद्या हुई हुई है इसे सब वस्तुओं का प्रज्ञान होगया है । [इस पक्ष में 'जात' शब्द पूर्व और ज्ञानार्थ 'विद्' (अदा० प०) धातुसे उत्तर पद है ।]

"यत्तज्जात.०" 'जो कि- वोह उत्पन्न होता हुआ

प्रहिणुत जातवेदसं कर्मभिः समश्नुवानम्, अपि वा उपमार्थे स्यात्–अश्वमिव जातवेदसम्-इति। इदं नो बर्हिः आसीदतु–इति।

तदेतद् एकमेव जातवेदसं गायत्रं तृचं दशतयीषु विद्यते यत्तु किञ्चिद् आग्नेयं तद् जातवेदसानां स्थाने युज्यते।

स न मन्येत अयमेवाग्निः-इति, अपि-एते उत्तरे ज्योतिषी जातवेदसी उच्येते। ततो नु मध्यमः।

"अभिप्रवन्त समनेव योषाः०" इति तत् पुरस्ताद् व्याख्यातम् [७, ४, ४]

अथासौ आदित्यः-

"उदुत्यं जातवेदसम्०,, इति तद् उपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः [१२, २, ४]

यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरुप्यते अयमेव सोऽग्निर्जातवेदाः, निपातमेव उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते॥ ३ (२०)॥

इति सप्तमाध्यायस्य पञ्चमः पादः॥ ७,५॥

अर्थ :–"जातवेदसे०,,।

(वयं) "जातवेदसे सोमंसुनवाम" हम जातवेदस (अग्नि) के लिये सोम का सवन करते हैं –सोम को निचो-

करते हैं। "वेदः अरातीयतः निदहाति" ज्ञानवान् (जातवेदाः) हमसे शत्रुता करने वालों को भस्म करता है; "सः नः दुर्गाणि पर्षदति" वह (जातवेदाः) हमें दुर्गम स्थानों से लंघावे "अग्निः नावा सिन्धुमिव विश्वा (विश्वानि) दुरिता (दुरितानि) अतितारयति" अग्नि देव (हमें) नौकासे नदी के समान सब पापों से उतारे। यहां भाष्य अस्पष्ट है। भगवद्दुर्गाचार्य की टीका में यह मन्त्र और इसका भाष्य दोनों नहीं हैं॥ "तस्य०" उस (जातवेदस्) की यह और ऋचा है—॥२॥

(खं० ३)

अर्थः—प्रनूनं जातवेदसम्०" इस ऋचा का श्येन अग्निपुत्र ऋषि। गायत्री छंदः।

(हे स्तोतारः) यूयम् उच्यध्वे) हे स्तुति करने वालो तुम से कहा जाता है-- 'नूनम्' निश्चयही तुम सब 'अश्वम्' (कर्मभिः समश्नुवानम्) कर्मों के द्वारा सब जगत् को व्यापन करने वाले (अपिवा उपमार्थे स्यात्) अथवा उपमा अर्थ में हो-- अश्वमिव अश्व के समान 'वाजिनम्' (अन्नवन्तम्) अन्नवाले 'जातवेदसम्' जातवेदा (अग्नि) को 'प्रहिनोत' (प्रहिणुत) प्रेरणा करो। "इदम् नः बर्हिः आसदे" (आसीदतु) इस हमारी बिछाई हुई कुशा पर (वह जातवेदा) बैठे॥

'तदेतद्०" सो यह एक ही जातवेदस् देवका गायत्री छन्द में तृच (तीनऋचाओं का सूक्त) दश मण्डल के ऋग्वेद में है।

किन्तु जो कुछ मन्त्रजात अग्नि देवता का है, वह सब जातवेदस् देवके मन्त्रों के स्थानमें प्रयोग किया जाता है पढ़ा जाता है॥

आक्षेप। "सनमन्येत०" वह (शिष्य) न मानेगा कि-यही (पार्थिव) अग्नि जातवेदाः है। क्यों कि-ये और भी दूसरे (मध्यम उत्तम) दोनो ज्योतिएं जातवेदस् कही जाती हैं।

"ततोनुमध्यमः" तिस कारण पहिले "मध्यम है" इस के अनुसार ऋचा है—

"अभिप्रवन्त समनेव योषाः" यह ऋचा पहिले व्याख्यान की जा चुकी है (७,४,४)। इस ऋचामें जातवेदा को जलधाराओं का सेवन करने वाला कहा गया है, और वह मध्यम ही होसकता है किन्तु यह पार्थिव अग्नि नहीं ॥

अब "वोह आदित्य है" इसके अनुसार ऋचा— "उदुत्यं जातवेदसम्० यह है। इस की व्याख्या आगे होगी [१२, २, ४] इस मन्त्र में "जातवेदसम्" यह पद "सूर्यम्" पदका विशेषण है, इससे जातवेदस् उत्तम ज्योति है; यह सिद्ध होता है ॥

उत्तर "यस्तु सूक्तं भजते"० किन्तु जो सूक्त को भजता है, और जिस के लिए हविः का निर्वाप होता है, वह यही पार्थिव अग्नि जातवेदाः है। दूसरे (मध्यम उत्तम) ज्योतिएं इस नामसे निपात का ही भजन करती हैं— उनका यह (जातवेदस्) गौण नाम है, किन्तु मुख्य नहीं ॥ ३ (२०) ॥

इति हिन्दी निरुक्ते सप्तमाध्यायस्य पञ्चमः पादः ॥ ७, ५ ॥

षष्ठः पादः ।

(खं० १)

(निघ०-) वैश्वानरः ॥३॥

(निरु०-) 'वैश्वानरः' कस्मात् । विश्वान् नरान् नयति । विश्व एनं नरा नयन्ति-इतिवा । अपि वा विश्वानर एव स्यात्-प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि, तस्य वैश्वानरः ।

तस्य एषा भवति ॥ १ (२१) ॥

अर्थ :-'वैश्वानर' क्यों ? विश्व (सब) नरों को नयन करता है, इस लोक से उस लोक को लेजाता है। अथवा सब प्रवृत्तियों में यही सब नरों को प्रवृत्त करता है, (प्रयोजक कर्त्ता) अथवा विश्व (सब) नर इसे ले जाते हैं- तिन २ कर्मों में अङ्गभूत करते हैं, (कर्मकारक) अथवा 'विश्वानर ही हो । क्या ? 'प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि' सब प्राणियों में अन्तर्गत । उसका वैश्वानर है-विश्वानर का अपत्य (पुत्र) वैश्वानर है ।

"तस्य०" उस वैश्वानर की यह ऋचा है- ॥१(२१)॥

(खं० २)

(निरु०-) "वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हिकं भुवनानामभिश्रीः । इतो जातो विश्वमिदं विचष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण (ऋ०सं० १,७,६,१)

इतो जातः सर्वमिदम् अभिविपश्यति, वैश्वानरः

संयतते सूर्येण, राजा यः सर्वेषां भूतानाम् अभि-श्रयणीयः, तस्य वयं कल्याण्या मतौ स्याम-इति।

तत् को वैश्वानरः ? 'मध्यमः'-इति आचार्याः। वर्षकर्मणा हि एनं स्तौति ॥ २(२२) ॥

अर्थ :-"वैश्वानरस्य०" इस ऋचा का कुत्स ऋषि, पृष्ठ्य और अभिप्लव अहनों में आग्निमारुत की प्रतिपत् है।

'इतः' (पृथिवीलोकात्) इस पृथिवी लोक से-औषधि वनस्पतिओं से 'जातः' उत्पन्न हुआ हुआ 'इदम्' इस 'विश्वम्' (सर्वम्) सबको 'विचष्टे' (अभिविपश्यति) अच्छी तरह देखता है, अथवा प्रकाशक होने से दिखाता है। (यश्च) 'वैश्वानरः' और जो वैश्वानर 'सूर्येण' सूर्य के साथ 'यतते' (संयतते) अपने प्रकाश के द्वारा मिलता है। (यश्च) और जो 'भुवनानां' लोकों का 'राजा' राजा 'अभिश्रीः' (अभि-श्रयणीयः) और आश्रयणीय है, (तस्य) 'वैश्वानरस्य' उस वैश्वानर की 'सुमतौ' (कल्याण्यां मतौ) शुभ मति में 'स्याम' हम होवें-हम ऐसा शुभ आचरण करें कि-उस निखिल भुवन पतिकी हमारे ऊपर शुभ मति वनी रहे (यह प्रार्थना है)।

"तत्को वैश्वानरः" सो कौन वैश्वानर है ? 'मध्यम' ज्योति वैश्वानर है, यह कोई नैरुक्त आचार्य मानते हैं। क्योंकि-वर्ष (वृष्टि) कर्म से ऋषि इसकी स्तुति करता है ॥ २ (२२) ॥

व्याख्या

प्रथम पाद की पीछे व्याख्या। क्योंकि- लोक में भी

पहिले स्तुति की जाती है और पीछे मांगा जाता है, इससे यही न्याय वेद में भी लेना चाहिये, यह दिखाने के लिये पहिले पाद की व्याख्या अन्य पादों की व्याख्या के पीछे की है। पहिले पाद में प्रार्थना और अन्य पादों में देवता की स्तुति है ॥ २ (२२) ॥

(खं० ३)

(निरु०) "प्रनू महित्वं वृषभस्य वोचं यं पूरवो वृत्रहणं सचन्ते। वैश्वानरो दस्युमग्निर्जघन्वान् अधूनोत् काष्ठा अवशम्बरं भेत् ॥" [ऋ० सं० १, ४, २५, ६] ॥

प्रब्रवीमि तन्महित्वं माहाभाग्यं वृषभस्य वर्षितुः अपां, यं पूरवः पूरयितव्याः मनुष्या वृत्रहणं मेघहनं सचन्ते सेवन्ते वर्षकामाः।

'दस्युः' दस्यतेः क्षयार्थात्। उपदस्यन्ति अस्मिन् रसाः। उपदासयति कर्माणि, तम्–अग्निर्वैश्वानरः घ्नन् अवाधूनोत् अपः काष्ठाः, अभिनत् शम्बरं मेघम्।'

अथासौ आदित्यः–इति पूर्वे याज्ञिकाः ॥३॥

अर्थ :–"प्रनू महित्वं वृषभस्य०" इस ऋचा का नोधस ऋषि, त्रिष्टुप् छंदः, वैश्वानर अग्नि देवता।

(अहम्) मैं (तस्य) उस 'वृषभस्य' वर्षितुः (अपाम्) जलके बरसाने वाले देवके (तत्) महित्वं (माहाभाग्यम्)

(उस) महिमाको 'प्रवोचम्' (प्रब्रवीमि) बखानताहूं, 'यम्' जिस 'वृत्रहणम्' (मेघहनम्) मेघके हनन करने वाले को 'पूरवः' [पूरयितव्या मनुष्याः) मनुष्य 'सचन्ते' (सेवन्ते) सेवन करते हैं। "वैश्वानरः अग्निः" वैश्वानर अग्नि ने 'दस्युम्' रसों के नष्टकरने वाले (अनावृष्टि के द्वारा) 'शम्बरम्' (मेघम्) मेघको 'अघन्वान्' (घ्नन्) मारते हुये 'भेत्' अभिनत् विदारण किया और 'काष्ठाः' (अपः) 'अवअधूनोत्' जलोंको कँपाया या बरसाया ॥

पूरु क्या? पूरयितव्य = पूरण करने योग्य। कौन! मनुष्य। दस्यु क्यों? इसके न बरसने से रस (धान) आदि उपदस्त = क्षीण हो जाते हैं। अथवा यह कर्मों को अनावृष्टि के द्वारा क्षीण कर देता है, इस से यह दस्यु है।

अब 'वोह आदित्य है' ऐसा पुराने याज्ञिक मानते हैं ॥३॥

(खं०४)

[निरु०] एषां लोकानां रोहेण सवनानां रोह आम्नातः, रोहात् प्रत्यवरोहश्चिकीर्षितः, ताम् अनुकृतिं होता आग्निमारुते शस्त्रेवैश्वानरीयेण सूक्तेन प्रतिपद्यतेसोऽपि न स्तोत्रियम् आद्रियेत आग्नेयोहि भवति, तत आगच्छति मध्यस्थाना देवता रुद्रं च मरुतश्चततोऽग्निम् इहस्थानम् अत्रैव स्तोत्रियं शंसति ॥ ४ ॥

अर्थः- "एषां लोकानाम्०" इन लोकों के रोहण के क्रमसे सवनों का रोहण आम्नान (विधान) किया है - जो ही

लोकों के आरोहण (चढने) का क्रम है,-पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ, वही सवनों का भी क्रम है-प्रातः सवन- माध्यन्दिन सवन तृतीय सवन। (इससे क्या?) "रोहात् प्रत्यवरोहः०" रोहणसे प्रत्यवरोहण करना (उतरना) दृष्ट है- आरोहण के विपरीत क्रमसे उतरना भी किसी कर्म में अभीष्ट है। "ताम् अनुकृतिम्" उस अनुकृति (नकल) को होता (एक ऋत्विज्) आग्निमारुत (अग्निमरुत् देवोंके) शस्त्र में वैश्वानरीय (वैश्वानर के) सूक्तसे आरम्भ करता है। "सोऽपि०" वह (होता) भी स्तोत्रिय (वैश्वानरीयसूक्त) को आदर न करेगा। क्योंकि- वह (स्तोत्रिय) अग्निका है सिद्धान्ती के मत में वैश्वानर अग्नि ही है, और उसका सूक्त आग्नेय ही हुआ, अतः द्युलोक में पृथिवी स्थान अग्नि के सूक्त को न पढेगा। क्यों कि पढता है, इससे सिद्ध होता है कि- वैश्वानर आदित्य भी है।) आगेका क्रमभी इसी पक्ष में है-) "तत आगच्छति०" वहांसे (द्युलोकसे) आता है मध्यस्थान देवताओं को— रुद्र को और मरुतों को (स्तुति करता है। "ततोऽग्निम्०" उससे(मध्य स्थानसे उतर कर) यहां के रहने वाले स्तोत्रिय (स्तवनीय) अग्नि को यहीं शंसन करता है स्तुति करता है॥ ४॥

व्याख्या।

निरुक्त शास्त्र के सिद्धान्त में "वैश्वानर" पार्थिव अग्नि ही है। उस पर "तत्को वैश्वानर." इत्यादि ग्रन्थ से विचार आरम्भ हुआ है, तहां पहिले कोई नैरुक्तों के मतसे

"प्रनू "महित्वम्" इस निगम में वर्ष कर्म के लिङ्ग से यह आक्षेप किया गया है कि— "वैश्वानर" मध्यम ज्योति है। अब इस खण्डमें "वैश्वानर" आदित्य है यह पूर्व याज्ञिकों के मतसे उपपादन किया है। पूर्व याज्ञिक वे हैं, जिन्होंने विधि मन्त्र और अर्थवाद वेद के सब भागोंसे यज्ञ वस्तु को समीचीन रीति से समझा और उसका प्रयोग भी किया था अनुष्ठान भी किया था। वेही ऐसा कहते हैं कि- "वैश्वानर" आदित्य है। सुतराम् इस प्रत्यय को गौण न समझना चाहिये। वे लोग किस युक्ति से ऐसा कहते हैं, वही (विधि में अनुकरण की प्रसिद्धि) इस खण्ड में दिखाई गई है।

अनुकरण। तृतीय पाद में नैरुक्तों के मतसे तीन देवताओं के साथ सब ससार बांट दिया है। उस बटवारे में पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक भी बट गये हैं। वैसे ही पृथिवी के साथ प्रातःसवन (कर्म) अन्तरिक्ष के साथ माध्यन्दिन सवन और द्युलोक के साथ तृतीय सवन विभक्त किया गया है।

किसी कर्म में लोकों का आरोहण या चढ़ना और प्रत्यवरोहण या उतरना विधान किया है। किन्तु उसका साक्षात् अनुष्ठान करना असंभव है। अतः पूर्वोक्त सवनों के अनुष्ठान द्वारा आरोहण प्रत्यवरोहणों का अनुकरण किया जाता है।

इस अनुकरण को होता करता है जिसका यह प्रकार है- होता पृथिवी लोक में स्थित है, अतः पहिले वह पृथिवी के भाग प्रातःसवन के शस्त्र (मन्त्र) को पढता है। उसको पढता हुआ वह पृथिवी पर आरूढ होता है। फिर वह माध्यन्दिन सवन जो अन्तरिक्ष लोक का भाग है, उसके शस्त्र को पढता है। क्योंकि उसी का क्रम है। उस शस्त्र को पढता हुआ वह

अन्तरिक्ष में आरूढ होता है। फिर तीसरा सवन जो द्युलोक का भाग है, उसके शस्त्र को पढता है, और उसको पढता हुआ तीसरे लोक में आरूढ होता है। वही होता जो द्युलोक में आरूढ है, यज्ञायज्ञिय अग्निष्टोम साम में जो आग्निमारुत शस्त्र है, उसको उन सवनों के लोकों के प्रत्यवरोहण को करता हुआ वैश्वानर के सूक्त से आरम्भ करता है। अर्थात्–अब होता द्युलोक में है, वहां प्रत्यवरोहण का आरम्भ करता है, यह प्रत्यवरोहण आरोहण के उलटे क्रम से होगा, अतः उसे वह सूक्त पढना चाहिये, जो उस लोक के देवता (आदित्य) का हो। उसके अर्थ यह वैश्वानर के "वैश्वानराय पृथु पाजसे०" (ऋ० स० ३,१,३,) सूक्त को पढता है। यदि "वैश्वानर" आदित्य न होता, तो उसके सूक्त को आदित्य लोक में क्यों पढता, तथा ऐसा न करने से प्रत्यवरोहण का अनुकरण भी कैसे हो सकता है। अतः "वैश्वानर" आदित्य ही है, यह पूर्व याज्ञिकों का अभिप्राय है। उसी क्रम की पुष्टि के लिये अन्तरिक्ष और पृथिवी लोक के प्रत्यवरोहण में उस उस के देवताओं के शस्त्र पाठ के अनुष्ठान को दिखाता है। शेष सुगम है ॥४॥

(खं० ५)

(निरु०-) अथापि वैश्वानरीयो द्वादशकपालो भवति। एतस्य हि द्वादशविधं कर्म।

अथापि ब्राह्मणं भवति–"असौ वा आदित्योऽग्निर्वैश्वानरः–इति।

अथापि निवित् सौर्यवैश्वानरी भवति-"आयो-द्यां भात्या पृथिवीम्"-इति। एषहि द्यावापृथिव्यौ आभासयति।

अथापि छान्दोमिकं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवति, "दिवि पृष्टो अरोचत"-इति

अथापि हविष्पान्तीयं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवति ॥ ५ ॥

अर्थ :- "अथापि वैश्वान०" और वैश्वानर का द्वादश कपाल (बारह कपालों पर बनाया हुआ पुरोडाश) होता है। क्योंकि-इस (आदित्य) का बारह (१२) मासों का विभाग करना कर्म है।

और भी- ब्राह्मण है-वोह आदित्य अग्नि वैश्वानर है।

और भी- सूर्य वैश्वानर की निविद् [किसी आकृति का शस्त्र के मध्य में गिरने वाला मन्त्र] है- 'जो द्युलोक को और पृथिवी लोक को प्रकाशित करता है। क्योंकि- यही (आदित्य) द्युलोक और पृथिवी लोक को भासन करता है।

और भी छान्दोमिक सूक्त सूर्य वैश्वानर का है।-'द्युलोक में लगा हुआ प्रकाशता है।

और भी हविष्पान्तीय सूक्त सूर्य वैश्वानर का है-॥५॥

व्याख्या

जिस प्रकार "वैश्वानर" के आदित्य होने में वैश्वा-नरीय सूक्त से प्रत्यवरोहण विधि का अनुकरण प्रमाण है इसी

प्रकार वैश्वानर के द्वादश कपाल पुरोडाश की विधि का अनुकरण भी प्रमाण है। क्योंकि देवताओं के गुणों की समानता को लेकर ही यज्ञ में गुणों की विधि कल्पित होती है इष्ट देवता में जैसे गुण होते हैं, उसके यज्ञ में वैसे ही गुणों की विधिएं की जाती हैं। जिससे कि वैश्वानर आदित्य है और आदित्य चैत्र आदि बारह मासों का विभाग करता है अथवा चैत्र आदि बारह मासों में भिन्न २ स्वरूपों से बारह प्रकार का होता है, इसी से उसका पुरोडाश बारह कपालों पर संस्कार किया जाता है = पकाया जाता है। सुतराम् वैश्वानर के लिये द्वादशकपाल की विधि का अनुकरण उसके आदित्य होने को सिद्ध करता है। ब्राह्मण निविद और सूक्त अपने शब्दों से ही "वैश्वानर" को आदित्य कह रहे हैं॥६॥

(खं० ६)

[निरु०] अयमेव अग्निर्वैश्वानरः-इति शाकपूणिः। विश्वानरौ एते उत्तरे ज्योतिषी, वैश्वानरोऽयम्। यत् ताभ्यां जायते।

कथं नु अयम्-एताभ्यां जायते, इति? यत्र वैद्युतः शरणम् अभिहन्ति, यावद् अनुपात्तो भवति मध्यमधर्मैवतावद् भवति- उदकेन्धनः शरीरोपशमनः, उपादीयमान एव अयं सम्पद्यते उदकोपशमनः शरीरदीप्तिः॥६॥

अर्थ.- "अयमेव०" यही (पार्थिव) अग्नि वैश्वानर

है,—यह शाकपूणि आचार्य मानता है। 'विश्वानर' ये दूसरे (मध्यम उत्तम) ज्योति हैं, और 'वैश्वानर' यह पार्थिव अग्नि है। क्योंकि उन (ज्योतिओं) से उत्पन्न होता है !

कैसे यह (पार्थिव अग्नि) उन (विद्युत् और आदित्य) से उत्पन्न होता है ? जहां वैद्युत (बिजली की) अग्नि किसी आश्रय (काष्ठ या जल) में आती है, जब तक मनुष्यों से ग्रहण नहीं की जाती है, मध्यमधर्मा ही रहती है—उस में विद्युत् का स्वभाव ही रहता है। [स्वभाव कौनसा ?] जल से जलना और पार्थिव वस्तु तृण काष्ठ आदि से बुझना। जैसे ही मनुष्य उसे लेलेते हैं, उदक (जल) से बुझने और कठोर (काष्ठ आदि) से जलने लगती है॥ ६॥

व्याख्या

अब भाष्यकार कुछ नैरुक्तों और पूर्व याज्ञिकों के उन मतों को खण्डन करते हैं, जिनमें "वैश्वानर" विद्युत् अथवा आदित्य ठहरता है। इसके लिये आप अपने सहमत शाकपूणि आचार्य के मतको उद्धृत करते हैं, जिस में कि—पहिले "वैश्वानर" के पार्थिव अग्नि होने में छः प्रमाण दिये हुये हैं और फिर उक्त दोनों विपक्षों के सब हेतुओं का खण्डन भले प्रकार से किया है। तथा और २ भी आवश्यक प्रमाण दिये हैं। भाष्यकार शाकपूणि के मत को इस विषय में बड़ा युक्तिसम्पन्न और पर्याप्त समझते हैं, इस लिये उसके मतके दिखा देने के साथ ही इस विषय और अध्याय को समाप्त कर देंगे।

शाकपूणि का मत और स्वपक्ष मण्डन।

शाकपूणि आचार्य कहते हैं कि-"वैश्वानर" शब्द ही इस बात में साक्ष्य देता है कि-यह पार्थिव अग्नि ही वैश्वानर है। क्योंकि-'विश्वानर' नाम और 'अण्' तद्धित (प्रत्यय) के योग से 'वैश्वानर' शब्द बनता है। 'विश्वानर' नाम विद्युत् तथा आदित्य का है उनका पुत्र होने से पार्थिव अग्नि 'वैश्वानर' कहलाता है। व्याकरण की रीति से यह अर्थ युक्तिसंगत है।

विद्युत् का अपत्य पार्थिव अग्नि।

विद्युत् (बिजली) अन्तरिक्ष लोक का तेज है। जब वह ओषधि वनस्पतियों पर गिर जाता है, तो उसी का पार्थिव अग्नि बन जाता है। जब तक वह आकाश में रहता है, पानी से जलता है और काष्ठ आदि पार्थिव कठोर वस्तु- से बुझता है, और जब पृथिवी में आकर पार्थिव अग्नि बन जाता है, तब पानी से बुझने लगता है और काष्ठ से जलने लगता है। इससे ये दोनों आपस में भिन्न २ हैं और पिता पुत्र हैं ॥६॥

(खं० ७)

(निरु०-) अथ आदित्यात्। उदीचि प्रथमसमावृत्ते आदित्ये कंसं वा मणिं वा परिमृज्य प्रतिस्वरे यत्र शुष्कगोमयम् असंस्पर्शयन् धारयति तत् प्रदीप्यते, सोऽयमेव सम्पद्यते।

अथाऽपि आह-"वैश्वानरो यतते सूर्येण-" इति। नच पुनः आत्मना आत्मा संयतते, अन्येनैव अन्यः संयतते।

इतः इमम् आदधाति ।

अमुतः अमुष्य रश्मयः प्रादुर्भवन्ति, इतः अस्य अर्चिषः, तयोर्भासोः संसङ्गं दृष्ट्वा एवम्-अवक्ष्यत् ॥ ७ ॥

अर्थ :-"अथ आदित्यात्" अब आदित्य से (पार्थिव अग्नि का जन्म कहते हैं-) । उत्तर दिशा में 'पहिले पहिल आए हुये आदित्य में (आदित्य के सामने) कंस (कांसी) को और मणि (तैजस = आतिशी कांच आदि) को साफ करके धूप में जहां सूखा गोबर हो उससे न छुआता हुआ (जैसे कि-उस पर उसकी छाया पड़े) आदमी धारण करता है, तो वह जलने लगता है-उस कांसी या कांच के द्वारा सूर्य से उस गोबर में तेज उतर आता है, यह यही (पार्थिव अग्नि) बन जाता है ।

और भी मन्त्रदृष्टा = ऋषि कहता है- "वैश्वानरो०" वैश्वानर सूर्य के साथ मिलता है । और फिर अपने से आप (कोई) मिलता नहीं, (किन्तु) दूसरे से ही दूसरा मिलता है ।

"इतः इमम्०" इस सूखे गोबर से उत्पन्न अग्नि को (काष्ठ आदि से) रख लेते हैं । (यह प्रकार आदित्य से पार्थिव अग्नि की उत्पत्ति का है ।)

"अमुतः" उस (आदित्य मण्डल) से उस (आदित्य) की रश्मियें (किरणें) प्रकट होती हैं, इस (पार्थिव अग्नि) से इसकी अर्चिएं (ज्वालाएं) निकलती हैं; उन दोनों प्रकाशों का संयोग देख कर (ऋषि ने) ऐसा कहा होगा-

["वैश्वानरो यतते सूर्येण०" इससे "वैश्वानर" का सूर्य से पृथक् होना सिद्ध होता है। जैसी पृथकता दिखाई गई है, उससे वह पार्थिव अग्नि ही होता है, किन्तु मध्यम नहीं।] ॥ ७ ॥

(खं०८)

(निरु०-) अथ यानि एतानि औत्तमिकानि सूक्तानि भागानि वा, सावित्राणि वा सौर्याणि वा, पौष्णानि वा, वैष्णवानि वा, वैश्वदेवानि वा, तेषु वैश्वानरीयाः प्रवादा अभविष्यन्, आदित्यकर्मणा च एनम्- अस्तोष्यन्- इति- "उदेषि" इति, "अस्तमेषि" इति, विपर्येषि" इति।

आग्नेयेष्वेव हि सूक्तेषु वैश्वानरीयाः प्रवादा भवन्ति, अग्निकर्मणा स्तौति-इति,- "दहसि"- इति, "वहसि" इति, "पचसि" इति।

यथो एतद्-वर्षकर्मणा हि एनं स्तौति-इति, अस्मिन्नपि एतदुपपद्यते ॥८॥

अर्थः- "अथ०" दूसरी बात- [यदि सूर्य्य वैश्वानर होता, तो जो ये उत्तम लोक के देवता विशेषों की स्तुति के अर्थ सूक्त हैं, जैसे अथवा भग के, अथवा सविता के, अथवा सूर्य के, अथवा पूषा के, अथवा विष्णु के, अथवा विश्व देवों के, उन में वैश्वानर के प्रवाद

होते– भग आदिकों का विशेषण "वैश्वानर" शब्द होता–हे भग!, वैश्वानर! हे सवितः! वैश्वानर! इत्यादि, और आदित्य कर्म से इस (वैश्वानर) की स्तुति करते– "उदेषि" तू उदय होता है, "अस्तमएषि" तू अस्त होता है, "विपर्येषि" तू उलटा फिरता है इत्यादि। [किन्तु ये दोनो बातें नहीं हैं, क्या कि न उत्तम लोक के देवताओं के सूक्तों में वैश्वानर के प्रवाद हैं, और न आदित्य कर्म से वैश्वानर की स्तुति ही है। इससे सूर्य वैश्वानर नहीं है।]

[और पार्थिव अग्नि ही वैश्वानर शब्द का वाच्य है, इस में यह विशेष हेतु भी है कि-]अग्नि के सूक्तों में ही वैश्वानर के प्रवाद आते हैं– अग्नि का विशेषण 'वैश्वानर'-शब्द आता है– ["वैश्वानर मृत आजातमग्निम्]" [ऋ० सं० ४, ५, ६, १] इत्यादि]। और अग्नि के कर्म से (ऋषि,) (वैश्वानर को) स्तुति करता है–"वहासि"–हे वैश्वानर! तू हविओं को पहुंचाता है, "पचासि"-पकाने योग्य द्रव्यों को तू पकाता है, "दहासि"- जलाने योग्य तृण काष्ठ आदि को तू जलाता है॥ इससे अग्नि ही वैश्वानर है, यह स्थिर हो गया॥

[कश्चितमतका खण्डन]

"अथो एतद्०" जो कि यह (आक्षेपकिया–) क्यों कि वर्ष कर्म से इसकी स्तुति करता है, (इससे मध्यम है)।

इस (पार्थिव अग्नि) में भी यह उपपन्न होता है– चंदता है- ॥ ८ ॥

(खं० ९)

(निरु०) "समानमेतदुदकमुच्चैत्यवचाहभिः ।
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः ॥"
[ऋ० सं० २, ३, २३, ५] इति सा निगद-व्याख्याता ॥९ (२३)

इति सप्तमाध्यायस्य षष्ठः पादः ॥ ७,६ ॥

अर्थः- "समानमेतत्०" । 'समानम्' (एकमेव) एक ही 'एतत्' यह 'उदकम्' जल 'अहभिः' (अहोभिः निमित्त-भूतैः) विशेष दिनों से "उद् एति च" ऊपर को जाता है अव एति च" और फिर विशेष दिनों से ही नीचे को आता है - दक्षिणायन और उत्तरायण के भेद से यहां दिन समझे गये हैं, सो ही यहां एक ही जल क्रम से उत्तरायण और दक्षिणायन में जगत् के निर्वाह के अर्थ वृष्टि के रूप से ऊपर को जाता है और नीचे को आता है, नीचे को किस प्रकार आता है, यह पहिले कहते हैं- "भूमिं पर्जन्याः" पर्जन्याः, (प्रार्जयितारो रसानाम्) रसों के बढ़ाने वाले मध्यम लोक के देवगण (उस लोक से वर्षा को छोड़ते हुए) 'भूमिम्' पृथिवी को 'जिन्वन्ति' तृप्त करते हैं (ओषधिओं की उत्पत्तिके लिये)। अब ऊपर को कैसे जाता है, यह कहते हैं- "दिवं जिन्व-न्त्यग्नयः" [जिस प्रकार उस लोक से वर्षा के द्वारा पर्जन्य इस पृथ्वी की तृप्ति करते हैं, वैसे ही-] 'अग्नयः' अग्निएं (आहुतिओं से उत्पन्न हुई वृष्टि के द्वारा 'दिवम्' द्युलोक को

'ऊ-'ग्निं' तृप्त करती हैं- अग्नि में आहुतिएं छोड़ी जाती हैं, वे अग्नि से दग्ध होकर अग्नि की ज्वालाओं से जल के स्वरूप को प्राप्त करके बहुत सूक्ष्म देवताओं के उपभोग के योग्य बनाकर द्युलोक में पहुंचाई जाती हैं- वहाँ के निवासियों की तृप्ति के अर्थ वृष्टि के रूप में पहुंचाई जाती हैं, फिर वे द्युलोकनिवासी यहां के अर्थ वृष्टि करते हैं। सो कहा भी है कि—

"अमुष्य लोकस्य का गतिः- इति, अयं लोक इति होवाच" इति। अर्थात्-'उस (द्यु) लोक की क्या गति है उसका निर्वाह कहां से होता है, (उत्तर०) यह लोक- इस लोक की आहुतिओं से, यह कहा'। इस प्रकार सर्वथा यह पार्थिव अग्नि भी वर्ष कर्म वाला है। क्यों कि सब वृष्टि का मूल आहुतिएं हैं। जैसे कि स्मृति है-

"अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टि र्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥"

(मनुः अ० ३श्लो० ७६) अर्थात्—'अग्नि में विधिसे छोड़ी हुई आहुति आदित्य को प्राप्त होती है, और आदित्यसे वृष्टि वृष्टि से अन्न और अन्न से प्रजा होती हैं।' इस लिये जो कि, यह कहा है कि- वृष्टि कर्म के योग से "वैश्वानर" मध्यम ज्योति है, यह लक्षण अग्नि और आदित्य में भी साधारण है, अतः वर्ष कर्म के लिङ्ग से यह मध्यम नहीं होसकता।]

"इति सा०" यह (समानमेतत्०) ऋचा अपने पाठ से ही व्याख्या की हुई है॥ १ (२३)॥

इतिहिन्दीनिरुक्ते सप्तमाध्यायस्य षष्ठः पादः॥ ७,६॥

सप्तमः पादः

(खं० १)

(निरु०-) कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति । त आववृत्रन् सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥" (ऋ० सं० २, ३, २३, १)

कृष्णं निरयणं रात्रिः आदित्यस्य हरयः सुपर्णा हरणा आदित्यस्य रश्मयः ते यदा अमुतः अर्वाञ्चः पर्यावर्त्तन्ते महस्थानाद् उदकस्य आदित्याद् अथ घृतेन उदकेन पृथिवी व्युद्यते । 'घृतम्' इति उदकनाम । जिघर्त्तेः सिञ्चातिकर्मणः ।

अथापि ब्राह्मणं भवति "अग्निर्वा इतो वृष्टिं समीरयति धामच्छद् दिवि भूत्वा वर्षति मरुतः सृष्टां वृष्टिं नयन्ति"

"यदा सावादित्योऽग्निं रश्मिभिः पर्य्यावर्त्तते अथ वर्षति" इति ।

यथो एतद् "रोहात् प्रत्यवरोहश्चिकीर्षितः" इति, आम्नायवचनाद् एतद् भवति ।

यथो एतद्—॥ १ ॥

अर्थः—"कृष्णं नियानम्" इस ऋचा का दीर्घतमा

ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द, वृष्टिकाम की कारीरी (इष्टि) में अग्नि धामच्छद् के लिये अष्टाकपाल (पुरोडाश) होता है, उसकी पुरोऽनुवाक्या है, तहां मैत्रायणीयक में यह (पार्थिव) अग्नि आदित्य करके स्तुति किया जाता है।

'कृष्णम्' काले 'नियानं' (निरयणम्) मार्ग से 'सुपर्णाः' सुन्दर दौड़ने वाले 'हरयः' (हरणाः आदित्यस्य = आदित्य-रश्मयः) हरणशील आदित्य के हरि (रश्मिएं) "अपो-वसानाः" जलको धारण करते हुए 'दिवम्' द्युलोक को 'उत्पतन्ति' उड़ जाते हैं = चले जाते हैं– सूर्य भगवान् जब जगत् के अनुग्रह के लिये जल का गर्भ अपने में धारण करने की इच्छा से उत्तरायण में आते हैं, तब ये रश्मि इस सब लोक से जलको अपने में धारण करते हुए आदित्य मण्डल के प्रति उड़ते हैं, और उस जलको आदित्य मण्डल में धर देते हैं, फिर सूर्यदेव उत्तरायण के छः मास तक जलके गर्भ को धारण किये हुये रहते हैं, और दक्षिणायन में आकर आषाढ़ मास से प्रसव करते हैं–जलको बरसते हैं,–सो यह कहा जाता है–"ते आ ववृत्रन्०" 'ते' (रश्मयः) वे रश्मिएं (यदा) जब (अमुतः) उस 'ऋतस्यसदनात्' (उदकस्य सद्मस्थानाद् आदित्यात्) जल के स्थान आदित्य मण्डल से 'आववृत्रन्' (अर्वाञ्चः पर्यावर्त्तन्ते) नीचे की ओर लौटते हैं, 'आत्' (अथ) उस समय 'घृतेन' (उदकेन) जलसे 'पृथिवी' पृथ्वी 'व्युद्यते' भीग जाती है ॥

'घृत' यह जलका नाम है। 'सिच' (तु० प०) धातु के सेचन अर्थ में 'घृ' (जु० प०) धातु से है।

[इस प्रकार इस मन्त्र में वर्षकर्म का करने वाला मन्त्र के पदार्थ से आदित्य और प्रकरण से अग्नि है, दोनों ही प्रकार से वृष्टि का करने वाला मध्यम से अन्य है, अतः वर्षकर्म के योग से "वैश्वानर" मध्यम है, यह कहना अयुक्त है।]

"अथापि ब्राह्मणम्०" और भी (इस मन्त्र के अर्थ को पुष्ट करने वाला) ब्राह्मण है-"अग्निर्वा०" 'अग्नि इस लोक से वृष्टि को प्रेरणा करता है- अग्नि की ऊष्मा के साथ ओषधि वनस्पतिओं से धूम के रूप में जल आकाश की ओर उड़ते हैं फिर द्युलोक में मेघरूप होकर (आदित्य) बरसता है- (आकाश में) उसी आदित्य की रची हुई वृष्टि को मरुत् (मध्यम लोक के देवगण) यहां पहुंचाते हैं'।

[और भी ब्राह्मण-] "यदासौ" जब वह आदित्य रश्मियों से अग्नि के प्रति लौटता है, तब बरसता है।

[इस प्रकार वृष्टिकर्म सब देवताओं का समान है, अतः यह "वैश्वानर" के मध्यम होने में हेतु नहीं होसकता]।

(पूर्व याज्ञिक मत का खण्डन)

"यथो एतत्०" और जोकि-यह कहा "रोहात् प्रत्यवरोहः" 'रोहण के अनुसार प्रत्यवरोहण करना इष्ट है,- इत्यादि। यह आम्नाय (वेद) के वचन के प्रामाण्य से होता है। अर्थात्-तृतीय सवन में जो 'वैश्वानर के सूक्त से शस्त्र का आरम्भ होता है, वह विधिवाक्य के अधीन किया जाता है। लोकों को आरोहण तथा प्रत्यवरोहण अर्थवाद मात्र = फलस्तुति मात्र है, उसका कोई विरोध नहीं है।

अतः "वैश्वानर" कहने से आदित्य नहीं हो सकता।
"यथो एतत्०" और भी जो कहा है- ॥१॥

(खं० २)

(निरु०-) "वैश्वानरीयो द्वादशकपालोभवति" इति। अनिर्वचनं कपालानि भवन्ति। अस्ति हि सौर्य एककपालः पञ्चकपालश्च।

यथो एतद् "ब्राह्मणं भवति०" इति। बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति- पृथिवी वैश्वानरः, संवत्सरो वैश्वानरः, ब्राह्मणो वैश्वानरः इति।

यथो एतद् "निवित् सौर्यवैश्वानरी भवति-" इतिअस्यैव सा भवति 'यो विड्भ्यो मानुषीभ्यो दीदेद्-" इति, एषहि विड्भ्यो मानुषीभ्यो दीप्यते।

यथो एतत् "छान्दोमिकं सूक्त सौर्यवैश्वानरं भवति"इति, अस्यैव तद् भवति- जमदग्निभिराहुतः" इति। जमदग्नयः प्रजमिताग्नयो वा प्रज्वलिताग्नयो वा। तैः अभिहुतो भवति।

यथो एतद् "हविष्पान्तीयं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवति "इति, अस्यैव तद् भवति ॥ २ (२४)॥

अर्थः- "वैश्वानरीयो०" वैश्वानर का बारह कपालों का (पुरोडाश) होता है, यह भी सूर्य के वैश्वानर होने में

कारण नहीं)। क्यों कि- कपाल निर्वचन के साधक नहीं होते, व्यभिचारी है- यदि इनकी संख्या बारह (१२) ही नियत होती, तो ऐसी कल्पना होती किन्तु स्वयम् सूर्य के एककपाल और पञ्चकपाल भी पुरोडाश होते है,

"यथो एतद्०" और यह कहा कि- ब्राह्मण (आदित्य को वैश्वानर कहने वाला) है, (वह भी ठीक नहीं)। क्यों कि- ब्राह्मण बहुभक्ति के कहने वाले है- और भी बहुत अर्थों को वैश्वानर कहते है। (जैसे-) 'पृथिवी वैश्वानर है' सवत्सर वैश्वानर है, ब्राह्मण वैश्वानर है,।

"यथो एतत्०" और जोयह कहा कि-सूर्य वैश्वानर की निविद् है (यह भी ठीक नहीं। क्यों कि-) इसी (पार्थिव अग्नि) की वह (निविद्) है [ऐसा उसके आद्यन्त पर्यालोचन से प्रतीत होता है]। [जैसे–]

"यो विड्भ्यो मानुषीभ्यो दीदेत" जो मनुष्यों की जातियों के अर्थ प्रकाशित होता है। यही पार्थिव अग्नि मानुषी विटों (जातियों) के अर्थ जलता है।

"यथो एतत्०" और यह कहा कि- सूर्यवैश्वानर का छन्दोमिक (छन्दोम यज्ञ = दाशरात्रिकों में) सूक्त है। वह इसी पार्थिव अग्नि) का है। [जैसे–) "जमदग्निभिराहुतः" अर्थात्— बहुत अग्नि वालों से या प्रज्वलित अग्नि वालों से होम किया गया है ([क्यों कि जमदग्नि इसी अग्नि में आहुतियों को देते हैं, किन्तु आदित्य में नहीं। यह विधि से और संभवसे सिद्ध है। अतः यह सूक्त भी इसी अग्नि का है।]

'जमदग्नि' क्या ? प्रजमिताग्नि (बहुत अग्नि वाले) अथवा प्रज्वलिताग्नि (जिनका अग्नि प्रज्वलित रहता है) ॥

"यथो एतद् हविष्पान्तीयम्" और जैसा कि यह कहा- सूर्य वैश्वानर का हविष्पान्तीय सूक्त है, वह भी इसी (पार्थिव अग्नि) का है । [जैसा कि-] ॥२(२४)॥

(खं० ३)

(निरु०-) "हविष्पान्तमजरं स्वर्विदि दिविस्पृश्याहुतं जुष्टमग्नौ । तस्य भर्मणे भुवनाय देवा धर्मणे कं स्वधयापप्रथन्त ॥" (ऋ०सं० ८,४,१०,१-१०,७,४,१)

हविः यत् पानीयम् अजरम् सूर्यविदि दिविस्पृशि अभिहुतं जुष्टम् अग्नौ, तस्य भरणाय च भावनाय च धारणाय च एतेभ्यः सर्वेभ्यः कर्मभ्यः इमम् अग्निम् अन्नेन अपप्रथन्त- इति ।

अथापि आह ॥३(२५)॥

अर्थ :- "हविष्पान्तम्" इस सूक्त का मूर्द्धन्वान् आङ्गिरस (अङ्गिरा का पुत्र) अथवा वामदेव ऋषि त्र्यूढ दशरात्र के पञ्चम अहन् में आग्निमारुत (शस्त्र) की प्रतिपद् (पहिली ऋचा) है ।

(यत्) जो 'हविः' हवि 'पान्तम्' (पानीयम्) देवताओं के पान योग्य है, 'अजरम्' जिस से अधिक जरा या पाक न हो, अर्थात्-पूर्णरूप से पका हुआ है, 'स्वर्विदि' (सूर्यविदि)

सूर्य के जानने वाले 'दिविस्पृशि' द्यु या आदित्य को छूने वाले नित्य २ हविः को पहुंचाने के अर्थ आदित्य को स्पर्श करने वाले 'अग्नौ' अग्नि में 'आहुतम्' (अभिहुतम्) भले प्रकार होम किया हुआ या होम करने योग्य है, 'जुष्टम्' देवताओं का प्रिय है, 'तस्य' उस (हविः) के 'भर्मणे' (भरणाय) सम्भरणाय बढ़ाने के अर्थ, 'भुवनाय' (भावनाय च) पर्याप्ति या देवताओं की तृप्ति के उपयुक्त बनाने के लिये 'धर्मणे' (धारणाय च) और धारण के लिये सदा देवताओं के अर्थ प्रस्तुत रखने के लिये (एतेभ्य सर्वेभ्यः कर्मभ्यः) इन सब कर्मों के लिये (इमम् अग्निम्) इस पृथिवी स्थान अग्नि को 'देवाः' देवताओं ने 'स्वधया' (अन्नेन) अन्न से (घृत, पुरोडाश आदि से) 'अप्रथयन्त' (अवर्द्धयन्त) बढ़ाया ॥

"अथापि आह" और भी कहता है—किसी दूसरे सूक्त से और ऐसा मन्त्र पढ़ता है, जिस में मध्यम और उत्तम दोनों ज्योतियों से अन्य ज्योति को वैश्वानर कहा गया है ॥३(२५)॥

(खं० ४)

(निरु०-) "अपामुपस्थे महिषा अगृभ्णत विशो राजानमुपतस्थुर्ऋग्मियम् । आदूतो अग्निमभरद्विवस्वतो वैश्वानरं मातरिश्वा परावतः ॥" (ऋ० सं० ४,५,१०,४) ॥

अपाम् उपस्थे उपस्थाने महति अन्तरिक्षलोके आसीना महान्तः इति वा, अगृह्णत माध्यमिका देवगणाः विश इव राजानम् उपतस्थुः ऋग्मियम्

ऋग्मन्तम्-इति वा, अर्चनीयम्-इति वा, पूजनीयम् इति वा अहरद्, यं दूतो देवानां विवस्वतः आदित्यात्। 'विवस्वान् विवासनवान्। प्रेरितवतः परागताद् वा। अस्य अग्नेर्वैश्वानरस्य मातरिश्वानम् आहर्तारम्-आह।

'मातरिश्वा' वायुः मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति मातरि आश्वनिति इति वा।

अथ एनम् एनाभ्याम् सर्वाणि स्थानानि अभ्यापादं स्तौति ॥ ४ (२६) ॥

अर्थः—"अपामुपस्थे" इस ऋचा का भरद्वाज ऋषि और प्रातरनुवाक तथा आश्विन शस्त्र में शस्त्र है।

"अपाम्-उपस्थे" (उपस्थाने = महति अन्तरिक्षलोके) जलों के रहने के स्थान बड़े आकाश देश में 'महिषाः' (आसीनाः) बैठे हुए (महान्तः इति वा) अथवा बड़े (माध्यमिकाः देवगणाः) मध्यम लोक के देवताओं ने (तम्) उस को 'अगृभ्णत' (अगृह्णत) ग्रहण किया, 'ऋग्मियम्' (ऋग्मन्तम् इतिवा) ऋचाओं से स्तुति वाले (अर्चनीयम्-इतिवा—पूजनीयम्-इतिवा) अथवा अर्चनीय अथवा पूज्य (उस) को "विशः राजानम्"—(इव) जैसे मनुष्य राजा को (उपस्थान करें) 'उपतस्थुः' उपस्थान किया (सत्कृत किया) [किस को ?] (यम्) जिस 'वैश्वानरम्' वैश्वानर 'अग्निम्' अग्नि को 'दूतः' (देवानाम्) देवताओं का दूत 'मातरिश्वा' वायु 'परावतः' (प्रेरितवतः = प्रेरिततरात्) बहुत प्रेरित हुये

(परागतोद्दु वा) अथवा दूर गए हुये 'विवस्वतः' (आदित्यात्) विवस्वान् = आदित्य से 'आ अभरत्' (आहरत्) लाया था।

"अस्य अग्नेः०" इस (पार्थिव) अग्नि वैश्वानर को लाने वाले मातरिश्वा (वायु) को कहता है—इस प्रकार इस मन्त्र में, जहां से लाया गया, जो लाया गया, और जो लाया तीनों अलग २ दिखाये हैं, अर्थात्—विवस्वान् से मातरिश्वा वैश्वानर को लाया। इस से इन दोनों विवस्वान् और मातरिश्वा के समीप में तीसरा 'वैश्वानर' शब्द से साक्षात् ही पार्थिव अग्नि कहा गया, इस लिये पार्थिव अग्नि वैश्वानर है, यह व्यवस्थित होता है।

'विवस्वान्' क्या ? विवासनवान् (अन्धकार को हटाने वाला)।

'मातरिश्वा' क्या ? वायु। क्यों ? माता = अन्तरिक्ष में श्वसन करता है = चलता है। [इस व्याख्या में 'मातृ' शब्द और 'श्वस' (अदा०प०) धातु से 'मातरिश्वा' शब्द है।] अथवा माता अन्तरिक्ष में शीघ्र चलता है। [इस व्याख्या में 'मातृ' शब्द 'आशु' (अव्यय) 'अन' (अदा०प०) धातु से है।]

अब इस (अग्नि) को इन दो ऋचाओं से सब स्थानों को लेलेकर स्तुति करता है (ऋषि)—॥ ४ (२६) ॥

(खं० ५)

(निरु०—) "मूर्द्धा भुवो भवति नक्तमग्निस्ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन्। मायामूतु यज्ञियानाः

मेतामपोयच्चूर्णिश्चरति प्रजानन् ॥" [ऋ० सं० ८, ४, ११, १]

'मूर्द्धा' मूर्त्तम् अस्मिन् धीयते। मूर्द्धा यः सर्वेषां भूतानाम् भवति नक्तम् अग्निः, ततः सूर्य्यो जायते प्रातरुद्यन्, स एव, प्रज्ञां तु एतां मन्यन्ते यज्ञियानां देवानां यज्ञसम्पादिनाम्, अपो यत् कर्म चरति प्रजानन्- सर्वाणि स्थानानि अनुसंचरते त्वरमाणः।

तस्य उत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥५[२७]॥

अर्थ :- "मूर्द्धा भुवः" । 'अग्निः' अग्निदेव 'भुवः' पृथिवी का (सर्वेषां भूतानाम्) सब प्राणियों का 'मूर्द्धा' शिर 'भवति' है, 'नक्तम्' (विशेष कर) रात्रि में, जिस प्रकार शिर के विना प्राणी का जीवन नहीं हो सकता उसी प्रकार अग्नि के विना भी कोई प्राणी जी नहीं सकता, क्यों कि- उसी के अधीन अन्न का पकाना (रांधना) आदि है, इसी से यह अग्नि सब भूतों का मूर्द्धा (प्रधानतम) है। 'ततः' फिर (रात्रि के बीत जाने पर) "प्रातः उद्यन्" प्रातःकाल उदय होता हुआ (सः एव) वही अग्नि 'सूर्यः' सूर्य 'जायते' हो जाता है। अर्थात्- जो अग्नि रात्रि के समय अग्नि के रूप से जगत् का उपकार करता है, वही अग्नि सवेरे ही दिन के उपकारों के करने के अर्थ सूर्य हो जाता है, [यह उसकी माया है।] (तत्वविदः) देवता तत्व के जानने वाले पुरुष 'एताम्' इसे 'यज्ञियानाम्' (यज्ञसम्पादिनां देवानाम्)

यज्ञ के सम्पादन (सिद्ध) करने वाले देवताओं की 'मायाम्' (प्रज्ञाम्) माया या प्रज्ञान (विद्या) मानते हैं। 'यत्' जोकि-'अपः' (कर्म) अपने अधिकार के कर्म को 'जानन्' जानता हुआ 'तूर्णिः' (त्वरमाणः) वेग से युक्त 'चरति, (सर्वाणि स्थानानि अनुसंचरते) सब स्थानों (तीनों लोकों) को अनुसचरण करता है- पर्यटन करता है-देवताओं में किसी कार्य की असंभावना नही करना। वे अपनी माया से अनेक२ वैसे २ ही रूप कर सकते हैं, जैसे २ की आवश्यकता हो। [मन्त्र में यहा "माया" शब्द साक्षात् है, जो पुराणो में बाहुल्य से आता है। यह शब्द देवकार्यों में असंभावना से दबे हुए मनुष्यो को ध्यान से देखना चाहिये।]

"तस्य उत्तरा०" उसी अर्थ को [जो पूर्व ऋचा का है] बाहुल्य से कहने वाली अगली ऋचा है-पहिली ऋचा से दो स्थानों के सम्बन्ध से अग्नि की स्तुति की गई है, कि-रात्रि के समय भूलोक का मस्तक होता है, और प्रातःकाल सूर्य के रूप से उदय होता है, और इस अगली ऋचा से तीनों लोकों के सम्बन्ध से स्पष्टतया स्तुति किया जाता है-यही अगली ऋचा का पूर्व ऋचा से आधिक्य है-॥५(२७)॥

(खं० ६)

[निरु०] "स्तोमेन हि दिवि देवासो अग्निमजीजनञ्छक्तिभी रोदसिप्राम् । तमू अकृण्वन् त्रेधाभुवे कं स ओषधीः पचति विश्वरूपाः ॥" [ऋ०म० ८,४,११,५]

स्तोमेन हि यं दिवि देवा अग्निम् अजनयन्

शक्तिभिः कर्मभिः द्यावापृथिव्योः पूरणं तम् अकुर्वन्, त्रेधा भावाय । 'पृथिव्याम्, अन्तरिक्ष, दिवि',—इति शाकपूणिः ।
"यदस्य दिवि तृतीयं तदसावादित्यः" इति हि ब्राह्मणम् ।

तद् अग्नीकृत्य स्तौति ।

अथ एनम् एतया आदित्यीकृत्य स्तौति—॥६:२८)॥

अर्थः— "स्तोमेन हि०" । 'देवासः (देवाः देवताओं ने 'स्तोमेन' स्तुतिभिः) स्तुतिओं से 'दिवि' द्युलोक में 'अग्निम्, अग्नि को 'अजीजनत्' (अजनयन्) उत्पन्न किया । 'शक्तिभिः' (कर्मभिः) और कर्मों से 'रोदसिप्राम्' (द्यावापृथिव्योः पूरणम्) द्युलोक और पृथिवी लोक में पूर्ण (करदिया) । 'तम्' (एव) उसी (अग्नि) को "त्रेधा भुवे" (भावाय) तीन भागों में बांटने के अर्थ 'अकृण्वन्' (अकुर्वन्) किया । (पृथिव्याम्, अन्तरिक्षे, दिवि, इति शाकपूणिः) पृथिवी में (अग्नि के रूपमें) अन्तरिक्ष में (विद्युत् के रूप में) द्युलोक में (आदित्य के रूप में) [कर दिया] — यह शाकपूणि आचार्य मानते हैं ।

"यदस्य०" 'जो इसका तीसरा (भाग) है, सो वोह आदित्य है'- यह ब्राह्मण है ।

"तद् अग्नी०" सो यह [उक्त ब्राह्मण] अग्नि मान कर स्तुति करता है— इस ऋचा में देवताओं ने इस पार्थिव अग्नि को ही द्युलोक में स्थापन किया और उसी को अन्य दो

लोकों में भी पूर्ण किया, सुतराम् यह अग्नि, विद्युत्; और आदित्य सब अग्नि ही है, यह अग्नि की ही महिमा कही गई है। [पूर्व प्रकरण से इसकी यह संगति है कि- जब अन्य दोनों ज्योतिएं भी अग्नि ही हैं, तो वे "वैश्वानर" हैं, ऐसा जानना भ्रम है, और अग्नि का ही "वैश्वानर" मुख्य नाम है, यह सिद्ध हुआ।]

"अथएनम्" अब इस [अग्नि] को आदित्य करके स्तुति करता है-॥३[२८]॥

(खं० ७)

(निरु०) " यद्देदेनमदधुर्यज्ञियासो दिवि देवाः सूर्यमादितेयम्। यदा चरिष्णू मिथुनावभूतामादित्प्रापश्यन् भुवनानिविश्वा ॥ " ऋ० सं० ८, ४, १२, १]॥

यदा एनम् अदधुः यज्ञियाः सर्वे दिवि देवाः सूर्यम् 'आदितेयम्' अदितेः पुत्रम् यदा चरिष्णू मिथुनौ प्रादुरभूता सर्वदा सहचारिणौ उषाश्च आदित्यश्च। 'मिथुनौ' कस्मात्? मिनोतिः श्रयतिकर्मा 'थु' इति नामकरणः थकारो वा, नयतिः परः, वनिर्वा। समाश्रितौ अन्योन्यं नयतो, वनुतो वा मनुष्यमिथुनौ- अपि एतस्मादेव,मेथन्तौ अन्योन्यम् वनुतः इति वा।

अथ एनम् एतया अग्नीकृत्य स्तौति-॥७(२९)॥

अर्थः- "यदेदेनम्०"। 'यदा' जब 'एनम्' इस 'आदितेयम्' (अदितेः पुत्रम्) अदितिके पुत्र 'सूर्यम्' सूर्यको 'यज्ञियासः' (यज्ञियाः) यज्ञ के करने वाले 'सर्वे सब 'देवाः' देवताओं ने 'दिवि' द्यु लोक में 'अदधुः' स्थापन किया, 'यदा' और जब 'चरिष्णू' [सर्वदा सहचारिणौ सब काल में एक साथ विचरने वाले 'मिथुनौ' दोनों मिथुन 'अभूताम्' हुये (उषाश्च आदित्यश्च)- उषा और आदित्य दोनों स्त्री पुरुष जुड़े हुये हुये 'आत्- इत्' [अथ तदा] उसी समय 'भुवनानि' लोकों ने 'प्रापश्यन्' (इन्हें) देखा ॥ इस मन्त्र में देवताओं ने द्युलोक में सूर्य को स्थापन कियो है ॥

'मिथुन' कैसे! सेवा अर्थ में 'मि' [स्वा० उ०] धातु 'थु' यह प्रत्यय अथवा 'थ' प्रत्यय और 'नी' (भ्वा० उ०) धातु पर है, अथवा 'वन' (त० आ०) धातु है। [क्या अर्थ ?] "समाश्रितौ अन्योन्यं नयतः" भली भांति आश्रित हुये हुये परस्पर को लेचलते हैं; अथवा 'वनुतः' चाहते हैं।

मनुष्यों का मिथुन (स्त्री पुरुष का जोड़ा) भी इसी व्याख्यान से है। "मेथन्तौ अन्योन्यं वनुतः इति वा" आपस में लगे हुये परस्पर को लेचलते हैं या चाहते हैं। पूर्व पक्ष में 'मि- थु- नी' का अथवा 'मि- नी- थु' का 'मिथुन' शब्द बना, और दूसरे पक्षमें 'मि- थ- वन' का 'मिथुन'। यहां 'वन' (धा०) का 'व' 'उ' से बदल जाता है ॥

"अथ एनम्०" अब इसको इस (अगली ऋचा) से अग्नि करके स्तुति करता है (ऋषि)--॥ ७ (२९)॥

(खं० ८)

(निरु०) "यत्रा वदेते अवरः परश्च यज्ञन्योः कतरो नौ विवेद। आशेकुरित्सधमादं सखायो नक्षन्त यज्ञं क इदं विवोचत्॥" [ऋ० सं० ८, ४, १३, २,] ॥

यत्र विवदेते दैव्यौ होतारौ—अयं च अग्निः, असौ च मध्यमः,-कतरो नौ यज्ञे भूयो वेद-इति। आशक्नुवन्ति सत्महमदनं समानख्याना ऋत्विजः तेषां यज्ञं समश्नुवानानां, को न इदं विवक्ष्यति इति।

तस्य उत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥८ ३०)॥

अर्थः-"यत्रा वदेते०" 'यत्र' जहां 'अवरः' (अयं च अग्निः) इधर वाला यह अग्नि 'परः च' (असौ च मध्यमः) और वोह मध्यम (दैव्यौ होतारौ) देवताओं के होता दोनों 'आ-वदते' (विवदेते) विवाद करते हैं-'यज्ञन्यो' (यज्ञनेत्रोः) यज्ञ के नेताओं 'नौ' (आवयोः) हम दोनों में (यज्ञे) यज्ञ के विषय में 'कतरः' कौनसा 'विवेद' (भूयोवेद) अधिक जानता है। 'सखायः' (समानख्याना ऋत्विजः) समान ज्ञान वाले ऋत्विज् 'यज्ञम्' यज्ञ को 'नक्षन्त' (समश्नुवते) व्यापन कर रहे हैं-उस में बैठे हैं (ते) वे 'सधमादम्' (सत् सहमदनम्) हर्ष सहित 'आशेकुः' (आशक्नुवन्ति) कह सकते हैं-"को नः इदं विवक्ष्यति" हम में से कौन यह कह

सकता है- (कि-कौन इनमें अधिक विद्वान है; अर्थात् दोनों ही बहुविज्ञानवान् हैं । यहाँ होतृकर्म के वर्णन से यह अग्नि-प्रधानमन्त्र है, किन्तु सूर्यप्रधान नहीं ।

"तस्य उत्तरा०" उस अर्थ के अधिक निर्वचन के लिये अगली ऋचा है-॥८(३०)॥

(खं० ६)

(निरु०-) "यावन्मात्रमुषसो न प्रतीकं सुपर्ण्यो३ वसते मातरिश्वः । तावद्दधात्युपयज्ञमायन् ब्राह्मणो होतुरवरो निषीदन् ॥" (ऋ०सं०८,४,१२,३) यावन्मात्रम् उषसः प्रत्यक्तं भवति, प्रतिदर्शनम्-इति वा । अस्ति उपमानस्य सम्प्रत्यर्थे प्रयोगः- 'इहेव निधेहि'-इति यथा सुपर्ण्यः सुपतना एता रात्रयः वसते मातरिश्वन् ? ज्योति र्वर्णस्य, तावद् उपदधाति यज्ञम् आगच्छन् ब्राह्मणो होता अस्य अग्नेर्होतुः अवरो निषीदन् ।

होतृजपस्तु अनग्निर्वैश्वानरीयो भवति-"देव-सवितरेतं त्वा वृणतेऽग्निं होत्राय सह पित्रा वैश्वानरेण" इति इममेव अग्निं सवितारमाह सर्वस्य प्रसवितारं, मध्यमं वा उत्तमं वा पितरम् ।

यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरुप्यते अयमेव सोऽग्निर्वैश्वानरः, निपातमेव एते उत्तरे ज्योतिषी

एतेन नामधेयेन भजेते भजेते ॥१(३१)॥

इति सप्तमाध्यायस्य सप्तमः पादः ॥७,७॥

अर्थः- "यावन्मात्रम्०" । इस मन्त्र में 'न' कार 'सम्प्रति' (अव्यय) के अर्थ (इस समय) में है। क्योंकि- उपमान अर्थ का यहां असंभव है। (लोक में भी) उपमान वाचक का सम्प्रति के अर्थ में प्रयोग होता है। जैसे-"इहेन्न निधेहि" 'अब यहां रखदे'।

[मातरिश्वा ने किसी से पूछा कि- दिव्य होता अग्निका जो विज्ञान है, उसको क्या यह ब्राह्मण मनुष्य होता यज्ञ में आया हुआ धारण करता है? वह उसके प्रति कहता है।]

'मातरिश्वः' (हे मातरिश्वन) हे मातरिश्व देव! 'सुपर्ण्यः' (सुपतना. एताः रात्रयः) सुन्दर पतन (गमन) करने वाली ये रात्रिएं 'उषसः' (ज्योतिर्वर्णस्य) उषा के प्रकाश के 'यावन्मात्रम्' जितने अंश 'प्रतीकम्' (प्रत्यक्तं = प्रविष्टम्) प्रविष्ट हुएको 'न' (सम्प्रति) इस समय या सच-मुच 'वसते' (छादयन्ति) ओढती है या धारण करती है, 'तावत्' उतना विज्ञान 'यज्ञम्' यज्ञ में 'आयन्' आया हुआ ब्राह्मण (अस्य) इस (अग्ने.) अग्नि 'होतु.' होता का 'अवर.' (हीन) छोटा होता 'निषीदन्' (होतृषदने) होता के स्थान में बैठा हुआ 'उप-दधाति' धारण करता है- दिव्य अग्नि होता की अपेक्षा रात्रि में जितना प्रकाश का अंश होता है, वैसा ही बिलकुल थोड़ासा मनुष्य होता यज्ञ संबन्धि वि-ज्ञान को धारण करता है, अतः ऐसी अवस्था में जो कुछ वह करता है दिव्य होता अग्नि के अनुग्रह से ही करता है,

स्वयम् अपने बल से नहीं। इस प्रकार होतृकर्म के प्रतिपादन से यहां विशेष रूप से अग्नि की ही स्तुति है॥ [इस प्रकार यह सूक्त अग्नि के कर्म की प्रधानता के कारण वैश्वानर का है। जो इस सूक्त में "वैश्वानर" शब्द हैं, वे सब पार्थिव अग्नि के ही विशेषण हैं।]

"होतृजपस्तु०" किन्तु होता का जप (मन्त्र) अग्नि से भिन्न वैश्वानर का है- ,"देव सवितरेतं०" अर्थात्- हे 'देव' 'सवितः' सब के जानने वाले! "एतं त्वा अग्निम्" इस तुझ अग्नि को "वैश्वानरेण पित्रा सह" वैश्वानर पिता के साथ 'होत्राय' होम के अर्थ 'वृणते' [यजन करने वाले] ग्रहण करते हैं।

"इममेव अग्निं सवितारम् आह" (इस मन्त्र में) इस (पार्थिव) अग्नि को ही (ऋषि) सविता (सब लोक का जनने वाला) कहता है। "मध्यमं वा उत्तमं वा पितरम्" मध्यम ज्योति को अथवा उत्तम ज्योति को (इस अग्नि का) पिता कहता है- बताया जाता है।

"यस्तु सूक्तं०" किन्तु जो सूक्त को भजता है और जिसके लिये हविः का निर्वाप होता है, वह यही (पार्थिव) अग्नि वैश्वानर है। और दूसरे ज्योति (मध्यम उत्तम इस नाम (वैश्वानर) से निपात को ही भजते हैं- इस नाम को विशेषण रूप से भजते हैं॥ ९ (३१)॥

व्याख्या।

स्मरण रहे कि- यह दैवत काण्ड है, इस सप्तम अध्या-

(ख) "विश्वे एनं नरा नयन्ति" इति वा
सब मनुष्य इसे ले जाते हैं।

(ग) "विश्वानर एव स्यात् ०-० तस्य
वैश्वानरः ! विश्वानर कोई है, उसका
अपत्य वैश्वानर है।

(४) प्राधान्यस्तुति- "वैश्वानरस्य सुमतौस्याम० "
(ऋ० सं० १, ७, ६, १)

(५) उसकी व्याख्या- "इतो जातः सर्वम् इदम् अभि-
विपश्यति०" इस पृथिवी या ओषधि
वनस्पतिओं से उत्पन्न होकर इस सब
जगत् को देखता है।

(६) विचार- "तत् को वैश्वानरः" इत्यादि । सो कौन
वैश्वानर है इत्यादि।

(७) उपपत्ति- "यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरु-
प्यते" जो प्रधान्य से सूक्त को भजता है, जिस
के लिये हवि का निर्वाप होता है।

(८) अवधारण- "अयमेव सोऽग्निर्वैश्वानरः" "निपात-
मेव एते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नाम-
धेयेन भजेते भजेते" यही वह अग्नि
वैश्वानर है, और दूसरे ज्योति इस नामधेय
से निपात को ही भजते हैं।

विचार (६) का स्पष्टीकरण।

प्रश्नः—"तत्को वैश्वानरः?" प्राधान्य से "वैश्वानर" यह किसका नाम है।

कुछ नैरुक्तों का मत- "मध्यम इति आचार्याः।" मध्यम ज्योति "वैश्वानर" है। यह कुछ आचार्य मानते हैं। क्यों कि- "प्रनूमहित्वम्" [ऋ० सं० १,४,२५] इस ऋचामें वैश्वानर की वृष कर्म से स्तुति है।

पूर्व याज्ञिकों का मत- "अथ असौ आदित्यः इति पूर्वे याज्ञिकाः" वोह आदित्य वैश्वानर है, यह पूर्व याज्ञिक मानते हैं। क्यों कि- (१) एषांलोकानाम्०-० रताऽत्र्यंशमति" विधि के अनुकरण में तृतीय सवन में द्युलोक में आरूढ हुआ प्रत्यवरोहण काल में आग्निमारुत शास्त्र को वैश्वानर के सूक्त से आरम्भ करता है। (२) "अथापि वैश्वानरीयो द्वादशकपालो भवति" वैश्वानर का १२ कपालों का पुरोडाश होता है। (३) "अथापि ब्राह्मणं० असौ वा आदित्योऽग्निर्वैश्वानरः" आदित्य वैश्वानर है। (४) "अथापि निवित् सौर्यवैश्वानरीभवति-आयोद्यांभातिआपृथिवीम्" और भी सूर्य वैश्वानर की निविद् है- जो द्युलोक तक पृथिवी तक प्रकाश करता है। (५) "अथापि छान्दोमिकं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवति" और भी सूर्य वैश्वानर का छान्दोमिक सूक्त है। "दिविपृष्ठो अरोचत" द्युलोक में सदा

हुआ प्रकाश करता है। (६) "अथापि हविष्पान्तीयं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवति" और भी सूर्य वैश्वानर का हविष्पान्तीय सूक्त है।

शाकपूणि आचार्य के मतसे पार्थिव अग्नि ही वैश्वानर है, इस अर्थ की स्थापना—

"अयमेव अग्नि वैश्वानरः इति शाकपूणिः" यही अग्नि वैश्वानर है, यह शाकपूणि मानते हैं। क्यों कि-[१] विश्वानरौ एते०-० वैश्वानरोऽयम्" विश्वानर मध्यम उत्तम ज्योति हैं, यह अग्नि "वैश्वानर" है। क्यों कि यह उनसे उत्पन्न होता है।

[२] "वैश्वानरो यतते सूर्येण" वैश्वानर सूर्य से मिलता है।

(३) "अथ यानि एतानि औत्तमिकानि०-०तेषु वैश्वानरीयाः प्रवादा अभविष्यन्" और जो ये उत्तम लोक के देवता भग आदि हैं, उनके सूक्तों में "वैश्वानर" शब्द विशेषण आता, किन्तु आया नहीं।

(४) "आदित्य कर्मणा च०" और आदित्य के कर्म [उदय आदि] से इस "वैश्वानर" की स्तुति करता, किन्तु नहीं की है।

[५] "आग्नयेष्वेवहि सूक्तेषु" अग्नि के ही सूक्तों में "वैश्वानर" विशेषण आता है।

(६) "अग्निकर्मणा च" और अग्नि के दाह आदि कर्म से इस "वैश्वानर" की स्तुति करता है।

कोई निरुक्तकारों के मतका खण्डन।

कोई निरुक्तकार "वैश्वानर" को "प्रनूमहित्वं०" ऋचा में उसकी वर्षकर्म से स्तुति देख कर मध्यम समझते हैं, किन्तु उनका यह मत ठीक नहीं है। क्योंकि—

(१) "अस्मिन्नपि एतदुपपद्यते" इस पार्थिव अग्नि में भी यह वर्षकर्म उपपन्न होता है। जैसे कि- "समानमेतत्० [ऋ०सं० २,३,२६,१] यह ऋचा कहती है।

(२) "कृष्णं नियानम्" [ऋ० सं० २,३,२३,१] इस मन्त्र में मन्त्र के स्वरूप से आदित्य और प्रकरण से अग्नि की वर्षकर्म से स्तुति है। सर्वथा वर्षकर्म का कर्त्ता इस में मध्यम से भिन्न है।

याज्ञिकों के मतका खण्डन।

(१) "रोहात्प्रत्यवरोहश्चिकीर्षितः" का उत्तर "आम्नायवचनात्" (२) "वैश्वानरीयो द्वादशकपालो भवति" का उत्तर "अस्तिहि सौर्य एककपालः पञ्चकपालश्च" (३) "एतद् ब्राह्मणम्०" का उत्तर "बहुभक्तिवादीनि०" (४) सौर्यवैश्वानरी निविद्०" का उत्तर "अस्यैव सा भवति" (५) "छान्दोमिकं सूक्तम्०" का उत्तर "अस्यैव तद्०"

(६) "हविष्पान्तीयं सूक्तम्०" का उत्तर "अस्यैव तद्०" है ॥

इसके अनन्तर "अपामुपस्थे०" [ऋ० सं० ४, ५, १०, ४] इस ऋचा में मन्त्र के अक्षरार्थ से मध्यम ज्योति और उत्तम ज्योति से वैश्वानर का भेद दिखाया गया है।

फिर इस पाद व अध्याय की समाप्ति तक हविष्पान्तीय सूक्त की ही ६ ठी १० वीं ११ वीं तथा १६ वीं ऋचाओं से अग्नि की ही महिमा दिखाई है, जिसके जानने से अग्नि के "वैश्वानर" होने में सब सन्देह निवृत्त होजाते हैं।

अन्तिम प्रश्न और उत्तर।

प्रश्नः-"होतृजपस्त्वनग्निर्वैश्वानरीयो भवति"- "देव सवितरेतन्त्वा वृणतेऽग्निं होत्राय सह पित्रा वैश्वानरेण"।

हे सवितृ देव! ऋत्विज् लोग वैश्वानर पिता के सहित तुझ अग्नि का होम के लिये स्वीकार करते हैं।

इस मन्त्र में सविता और अग्नि एक ही को कहा गया है, इससे यहां सविता नाम भी अग्नि का ही रहेगा, और "वैश्वानर" पिता तथा उसका पुत्र अग्नि है, यह भी इसी मन्त्र से उक्त होता है। इन दोनों बातों की पर्यालोचना से यह निश्चय सहज में होजाता है कि-"वैश्वानर" देवता अग्नि से पृथक् है, क्योंकि-पिता पुत्रभाव दोनों में परस्पर भेद के बिना नहीं आता। जब कि- "वैश्वानर" अग्नि

नहीं, तो उससे भिन्न मध्यम ज्योति या उत्तम ज्योति ही "वैश्वानर" है, यह सिद्ध होता है ?

(उ०) भाष्यकार कहते हैं कि- यह आपत्ति ठीक है, किन्तु हमने भी "आदुता अग्निमभरत्" (७,७,४) इस मन्त्र से यह स्पष्ट रीति से सिद्ध कर दिया है कि- मध्यम व उत्तम ज्योति से भिन्न देवता अर्थात् अग्नि का ही नाम "वैश्वानर" है।

इस रीति से हम और तुम दोनों समान बल हैं, किन्तु "वैश्वानर" के पार्थिव अग्नि होने में हमारे पूर्वोक्त [७,६,६–७-८–६] छः हेतु अधिक हैं, इससे हमारा ही जय होता है ॥

भगवद्दुर्गाचार्य कहते हैं कि- हमारी समझ में इस "वैश्वानर" पद के विचार प्रसंग में हविष्पान्तीय सूक्त को बीच में [७,७,३-४-५-६-७ ८-९] डाल कर "सूर्य वैश्वानर है" "अग्नि वैश्वानर है" इत्यादि रीति से एक ही ज्योति तीन रूपों से स्थित है, यह बात मन्त्रों के भाव जानने के लिए दिखाई है, कि- ऐसे २ शब्दों के अर्थ व उनके न्याय तथा युक्तियों में जब संकट उपस्थित हो, तब यहां बुद्धिमानों की बुद्धि खिन्न या व्याकुल न हो। प्रयोजन यह है कि- मन्त्रों में ऐसे शब्दों के अर्थ निर्णय स्थल में 'वैश्वानर' शब्द पर दिखाई हुई युक्तियों से लाभ उठाना चाहिये। यह इस विषय का एक उदाहरणमात्र दिया गया है ॥७(९)॥

इति हिन्दीनिरुक्ते सप्तमाध्यायस्य सप्तमः पादः ॥ ७,७॥

निरुक्त के सप्तम अध्याय का खण्ड सूत्र-—

[१ म पा०-] अथातः (१) इन्द्रोदिवः (२) (यथैतदिन्द्रः) परोक्षकृताः (३) तथैन (अथाप्यष्टौ) (४) [२ य पा०-] तिस्र एव देवताः (५) अथाकारचिन्तनम् (६) अपुरुषविधाः (७) [३ य पा०-] तिस्रएव (८) पृथात्वेतः (९) अथैतानि (१०) अथैतानि (एतेष्वेव) (११) मन्त्राः (उष्णिक्) (बृहती) (१२) जगती (इतीमा) (१३) [४र्थ पा०- अथातः (१४) अग्निमीले (१५) अग्निः पूर्वेभिः (१६) अभिप्रवन्त (१७) इन्द्रंमित्रम् (१८) [५म पा०-] जातवेदाः (१९) (जातवेदसे) प्रनूनम् (२०) [६ष्ठ पा०-] वैश्वानरः (२१) वैश्वानरस्य (२२) प्रनूमहित्वम् (एषांलोकानाम्) (अथापि) (अयमेवाग्निः) (अथादित्यात्) (अथयानि) (समानमेतत्) (२३) [७म पा०-] कृष्णं नियानम् (वैश्वानरीयः) (२४) हविष्पान्तम् (२५) अपामुपस्थे (२६) मूर्द्धा भुवः (२७) स्तोमेन (२८) यदेदेनम् [२९] यत्रावदेते (३०) यावन्मात्रम् (३१) एकत्रिंशत् ॥

इति निरुक्ते (उत्तरषट्के) सप्तमोऽध्यायः ॥७,७॥

इति हिन्दी निरुक्ते (उत्तरषट्के) सप्तमोऽध्यायः समाप्तः ॥७,७॥

अथ अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

प्रथमः पादः ।

(खं० १)

(अथ त्रयोदश पदानि)

(निघ०-) द्रविणोदाः ॥१॥

(निरु०-) द्रविणोदाः कस्मात् ? धनं 'द्रविणम्'-उच्यते,-यद्-एनद्-अभिद्रवन्ति। बलं वा 'द्रविणम्'-यद्-एनेन अभिद्रवन्ति। तस्य दाता द्रविणोदाः। तस्य एषा भवति—॥१॥

अर्थः-द्रविणोदाः (१) यह देवता-पद कैसे ? धन 'द्रविण' कहलाता है। क्योंकि-उसे उसके अर्थी-चाहने वाले अभिद्रवण करते हैं-सामने दौड़ते हैं, इससे वह 'द्रविण' (कर्मवाच्य) है। अथवा बल 'द्रविण' (करणवाच्य) है! क्योंकि-इससे संयुक्त होकर शत्रुओं के अभिमुख द्रवण करते हैं-दौड़ते हैं। उस (द्रविण) का दाता-बल का दाता-अथवा धनका दाता "द्रविणोदस्" (द्रविणोदाः) होता है। उस (द्रविणोदस्) नाम की प्रधानता से स्तुति वाली यह ऋचा है-जहां 'द्रविणोदस्' नाम प्रधान=विशेष्य है, और अन्य पद उसके विशेषण रहते हैं ऐसी यह ऋचा है [जिसे देख कर ऋषि ने इस पद को देवता पदों के समाम्नाय में समाम्नात किया=पढ़ा है]-॥१॥

(खं० २)

[निरु०] "द्रविणोदा द्रविणसो ग्रावहस्तासो अध्वरे । यज्ञेषु देवमीलते ॥" [ऋ०सं०१,१,२९,१]

द्रविणोदा यः, तम् ।

'द्रविणसः' इति-द्रविणसादिनः इति वा । द्रविणसानिनः इति वा ।

'द्रविणसः' तस्मात् पिबतु-इति वा ।

"यज्ञेषु देवमीलते" ।

याचन्ति । स्तुवन्ति । वर्द्धयन्ति । पूजयन्ति-इति वा ॥

तत् को द्रविणोदाः ? इन्द्रः-इति क्रौष्टुकिः । स बलधनयोर्दातृतमः, तस्य च सर्वा बलकृतिः ।

"ओजसो जातमुतमन्य एनम् ।" (ऋ०सं० ८ ३, ४,५) । इति च आह ॥

अथापि अग्निं 'द्राविणोदसम्' आह । एष पुनः एतस्माज्जायते ।

"यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान" । (ऋ०सं०२,६, ७,३) । इत्यपि निगमो भवति ॥

अथापि ऋतुयाजेषु द्राविणोदसाः प्रवादा भवन्ति । तेषां पुनः पात्रस्य 'इन्द्रपानम्'-इति भवति ।

अथापि एनं सोमपानेन स्तौति ॥
अथापि आह- "द्राविणोदाः पिबतु द्राविणोदसः" [ऋ०सं० २,८,१,४] इति ॥२॥

अर्थः- "द्रविणोदाः" यह ऋचा मेधातिथि ऋषिकी है।

(क) 'द्रविणसः' [द्रविणसानिनः] द्रव्य के लोभ से कर्म में बैठने वाले अथवा (द्रविणसानिनः) गो आदि रूप धन के भजने वाले या देवता के हविः के भजने वाले 'ग्रावहस्तासः' सोमके कूटने के अर्थ पत्थरों को हाथ में लिए हुए ऋत्विज् 'अध्वरे' अग्निष्टोम आदि यज्ञ में 'यज्ञेषु' हविः के दानों में अथवा यज्ञ के स्थानों में [यः] जो 'द्रविणोदाः' धन या बल का देने वाला है, (तम् उस 'देवम्' देवको 'ईलते' (याचन्ति) जाचते हैं (स्तुवन्ति) स्तुति करते हैं (वर्द्धयन्ति) बढाते हैं अथवा (पूजयन्ति) पूजते हैं [वह द्रविणोदस् (धन बल का देने वाला) देव हमें धन बल देवे, यह हम चाहते है।] (ऐसी आशिषा जोड़ कर मन्त्र का अर्थ पूरा किया जाता है) ॥

(ख) (यं) 'देवं' (द्रविणोदसम्) 'अध्वरे' 'यज्ञेषु' 'ग्रावहस्तासः' (ऋत्विजः) 'ईलते' (सः देवः) 'द्रविणोदाः' 'द्रविणसः' (अस्मात् सोमात् द्रविणसंभक्तुः आदाय स्वमंशं पिबतु एतद् आशास्महे)

जिस द्रविणोदस् देवको अध्वर = यज्ञ में यज्ञ के स्थानों में पत्थरों को हाथ में लिये हुए ऋत्विज् स्तुति करते हैं; वह द्रविणोदस् = धन और बल का दाता देव 'द्रविणसः' इस सोमसे उसके भजने वाले ऋत्विज् से लेकर अपने अंश को पान करे। यह हम चाहते हैं।

भाष्यकार ने "द्रविणोदाः" इस मन्त्र की उक्त रीति से दो व्याख्याएं की हैं। पहिली में 'द्रविणोदाः' इस प्रथमान्त को द्वितीयान्त और 'द्रविणसः' यह प्रथमाबहुवचनान्त 'ग्रावहस्तासः' इसको समानाधिकरण ऋत्विजों का विशेषण किया है। पहिला पद 'ईलते' इस क्रिया पद में कर्म कारक और दूसरा कर्त्तृ कारक होता है 'ऋत्विज्' द्रविणोदा को स्तुति करते हैं। एवम् दूसरी व्याख्या में 'द्रविणोदाः' यह पहिला पद यथास्थित प्रथमान्त ही रहता है, और दूसरा 'द्रविणसः' पद पञ्चमी का एक वचन है। पहिला पद अध्याहार की हुई 'पिवतु' क्रिया में कर्त्तृ कारक और दूसरा अपादान कारक होता है- "द्रविणोदाः देवता द्रविणस् सोमसे अपना अंश पीवे"

ऐसा करने में भाष्यकार को ये दो बातें बाध्य करती हैं, कि मन्त्र में दो प्रथमान्त पद कर्त्ता होने के योग्य प्रतीत होते हैं- 'द्रविणोदाः' और 'ग्रावहस्तासः,। पहिला पद प्रथमा का एक वचन है, और दूसरा प्रथमा का बहुवचन है, इसी से ये आपस में विशेषण तथा विशेष्य नहीं होसकते। पहिला पद देवता का नाम है, और दूसरा ऋत्विजों का, इस कारण भी ये आपस में विशेष्य विशेषण नहीं होसकते। दूसरे मन्त्र में 'ईलते' (स्तुति करते हैं) यह एक ही क्रिया पद है, तथा बहुवचनान्त है, इसका कर्त्ता भी बहुवचन होता है, इस कारण 'द्रविणोदाः' यह एक वचन इसका कर्त्ता नहीं होसकता और देवता स्तुति किया जाता है; किन्तु करता नहीं इस लिये भी वह 'ईलते' का कर्त्ता नहीं होसकता। सुतराम् बिना

किसी उपाय के 'द्रविणोदाः' यह प्रथमा का एकवचन मन्त्र में उपयुक्त नहीं हो सकता इस कारण भाष्यकार ने ये दो प्रकार की व्याख्यायें की हैं, दोनों ही प्रकार से मन्त्र का अर्थ ठीक हो जाता है, और यह देवता का नाम 'द्रविणाः' पद भी उपयुक्त हो जाता है।

पहिली व्याख्या में प्रथमान्त से द्वितीयान्त का काम लेने में 'यद्' शब्द और 'तद्' शब्द का अध्याहार उपाय किया है, इस उपाय से किसी पद को किसी विभक्ति में भी लिया जा सकता है। इसे व्याख्या में 'यद्वृत्त' कहते हैं। जैसे- 'यः द्रविणोदाः तम् ईलते' अर्थात्- जो द्रविणोदस् है, उसको स्तुति करते हैं। यहां 'यद्' 'तद्' शब्दों के सहारे से प्रथमान्त पदने ही द्वितीयान्त का कार्य दे दिया। ऐसे ही प्रयोजन के अनुसार अन्यत्र भी किया जा सकता है।

दूसरी व्याख्या में 'पिबतु' क्रिया के अध्याहार करने से और 'द्रविणसः' को पञ्चमी मानने से (जैसा कि- व्याकरण में हो सकता है) 'द्रविणोदाः' यह प्रथमान्त ही रह जाता है। क्योंकि- अब यह 'पिबतु' क्रिया का कर्त्ता हो जाता है, किन्तु 'ईलते' का कर्म नहीं। उक्त कर्ता में प्रथमा विभक्ति ही होती है।

सो कौन द्रविणोदस् (द्रविणोदा) है ?

क्रौष्टुकि आचार्य मानते हैं कि–इन्द्र है क्योंकि- वह बल और धनका अति दान करने वाला है, और सब बल का कार्य उसी इन्द्र का है, इससे इन्द्र ही 'द्रविणोदा' है। और कहता है।

"ओजसो जातमुत मन्य एनम्" अर्थात्- (अहम्)

में 'एनम्' इस इन्द्र देवको 'ओजसः' किसी अतिमहान् बल से 'जातम्' उत्पन्न हुआ 'मन्ये' मानता हूं। [क्योंकि-यह अतिबलवान् देखा जाता है।] जो बलवान् होता है, वही बलका दाता हो सकता है, इस लिये इन्द्र ही द्रविणोदाः है।

और भी यह दूसरा हेतु इन्द्र के द्रविणोदस् होने में है-मन्त्र का द्रष्टा = देखने वाला ऋषि अग्नि को द्राविणोदस कहता है। ["द्रविणोदाः पिबतु द्राविणोदसः" जिसका पुत्र द्राविणोदस अग्नि है, वही द्रविणोदस् है॥] और यह अग्नि इसी इन्द्र से उत्पन्न होता है, प्रयोजन यह कि- इन्द्र का ही पुत्र है। क्योंकि-

"यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान" अर्थात् जिस इन्द्र ने दो पत्थरों के भीतर अग्नि को उत्पन्न किया था। यह भी निगम है।

"अथापि०" और भी यह दूसरा हेतु इन्द्र के द्रविणोदस् होने में है। क्या? ऋतुयाज मन्त्रों में- जिन से ऋतुओं का यजन होता है, उन मन्त्रों में द्राविणोदस = द्रविणोदस् शब्द वाले वचन हैं। उससे क्या? उन मन्त्रों का जो पात्र होता है,-जिससे उनका सम्बन्धी होम होता है, उस पात्र को "इन्द्रपान" यह समाख्या = संज्ञा स्वयम् मन्त्र में आई हुई है। जैसे—

"होता यक्षद्देवं द्रविणोदसम्—अपाद्धोत्रादपाः पोत्रादपान्नेष्ट्रात्तुरीयं पात्रममृक्तममर्त्यमिन्द्रपानं देवो द्रविणोदा द्रविणसः स्वयमायुयात् स्वयमभि-

गूर्यात् स्वयमभिगूर्त्तया होत्रयर्त्तुभिः सोमस्य पिवत्वच्छावाक यज"।

"होता यक्षद्देवम्" यह मन्त्र अच्छावाक ऋत्विज् के प्रति प्रैष = प्रेरणा है। मैत्रावरुण बोलता है।

अर्थः—'होता' नाम ऋत्विज् ऋतुदेवताओं के मन्त्रों से प्रैष्यकर्म में अध्वर्यु (ऋत्विज्) के द्वारा अति प्रेषित = प्रेरित हुआ 'द्रविणोदसं देवम्' द्रविणोदस् देवको 'यक्षत्' यजन करे। वह द्रविणोदस् देव 'होत्रात् अपात्' होता (ऋत्विज्) के सम्प्रदान से = विधि से किये हुए दान से सोम को पी चुका है। 'अपात् पोत्रात्' पोता (ऋत्विज्) के सम्प्रदान से सोम को पी चुका है। 'अपात् नेष्ट्रात्' नेष्टा (ऋत्विज्) के सम्प्रदान से सोमको पी चुका है। अब फिर यह 'तुरीयम्' चौथा 'पात्रम्' सम्प्रदान पात्र है, जो 'अमृक्तम्' अशुद्ध या अपूर्ण है, 'अमर्त्यम्' जिसे पीकर नहीं मरता अथवा जो मनुष्य योग्य है- जिसे मनुष्य से अन्य (देव) पान कर सकते हैं, उस 'इन्द्रपानम्' इन्द्र के पीने योग्य 'द्रविणसः' सोम के पात्र को 'द्रविणोदाः स्वयम् आयूयात्' आप द्रविणोदस् देव भले प्रकार मिलावे 'स्वयम् अभिगूर्यात्' आप उठावे फिर 'अभिगूर्त्तया होत्रया' अपनी चाही हुई स्तुति से दिया हुआ जो 'सोमस्य' सोम का अंश, उसे 'स्वयम् ऋतुभि' पिबतु' आप द्रविणोदस् देव ऋतु देवताओं के साथ पीवे 'अच्छावाक! यज' हे अच्छावाक! (ऋत्विज्!) तू यजन कर, तू भी ऐसा जान कर यजन कर।

इस प्रकार इस इन्द्र के द्रविणोदस् नाम युक्त प्रैष मन्त्र

में 'इन्द्रपान' यह पात्र की समाख्या या नाम है, इससे जाना जाता है कि- उस से इन्द्र ही पीता है। यदि ऐसा है, तो इन्द्र द्रविणोदस् है, यह प्राप्त होता है।

"अथापि०" और भी यह अन्य हेतु इन्द्र के द्रविणोदस् होने में है। क्या ? उन्हीं ऋतुयाज मन्त्रों में इसे सोमपान से ऋषि स्तुति करता है।

"होत्रात् सोमं द्रविणोदः०——०पिब ऋतुभिः"

[ऋ० सं० २, ७, २६, १] अर्थात्- हे द्रविणोदः ! तू होत्र से ऋतुओं के साथ सोम पी।

प्रयोजन यह कि- जहां जहां सोमपान की स्तुति है, वहां वहां इन्द्र देवता है, और जो हविः जिस देवता के लिये संस्कार किया जाता है, वह उसी को दिया जाता है, इस कारण सोमपान से इन्द्र के अतिरिक्त अन्य देवता की स्तुति नहीं है, सोम का संस्कार उसी के लिये किया जाता है, अतः वहां आया हुआ 'द्रविणोदस्' नाम इन्द्र देवता के लिये ही हो सकता है।

"अथापि०" और भी यह अन्य हेतु इन्द्र के द्रविणोदस् होने में है। क्या ?

"द्रविणोदाः पिबतु द्राविणोदसः"

अर्थात्- 'द्राविणोदसः' जिस द्रविणोदस् का पुत्र अग्नि है, वह 'द्रविणोदाः' द्रविणोदस् इन्द्रदेव 'पिबतु' पीवे। "अपाच्छोत्रात्"। [उसी अच्छावाक के प्रैष की यह याज्या है।]

[क्रौष्टुकि आचार्य के अभिमत पूर्व पक्ष [प्रश्न] के

हेतु समाप्त होगए हैं। अब शाकपूणि आचार्य के अभिमत उत्तर पक्ष [द्रविणोदा इन्द्र नहीं, अग्नि है] के हेतु कहे जाते हैं- ।] ॥ २ ॥

(खं० ३)

(निरु०) अयमेव अग्निः द्रविणोदाः इतिशाकपूणिः ।

आग्नेयेष्वेवहि सूक्तेषु द्राविणोदसाः प्रवादा भवन्ति

",देवा अग्निं धारयन्द्राविणोदाम्" [ऋ० सं० १, ७,३, १] । इत्यपि निगमो भवति ॥

यथो एतत्- स बलधनयोर्दातृतमः- इति । सर्वासु देवतासु ऐश्वर्यं विद्यते ॥

यथो एतत्-

"ओजसो जातमुत मन्य एनम्" [ऋ०सं०८,३, ४, ५] । इति चाह" इति ।

अयमपि अग्निः ओजसा बलेन मथ्यमानो जायते, तस्मात् एनम्- आह— सहसस्पुत्रं, सहसः सूनुं, सहसो यहुम्

यथो एतत्- अग्निं द्राविणोदसम्- आह इति । ऋत्विजोऽत्र द्रविणोदसः उच्यन्ते । हविषो दातारस्तेच एनं जनयन्ति ।

"ऋषीणां पुत्रो आधिराजएषः" (य०वा०सं०५,४)। इत्यपि निगमो भवति ॥

यथो एतत - तेषा पुनः पात्रस्य 'इन्द्रपानम्' इति भवति इति ।

भक्तिमात्रं तद् भवति । यथा 'वायव्यानि' इति सर्वेषां सोमपात्राणाम् ॥

यथो एतत्- सोमपानेनएनं स्तौति इति ।

अस्मिन्नपि एतद्- उपपद्यते-

"सोमं पिब मन्दसानो गणश्रिभिः (ऋ०सं०४,३, २५, ८) । इत्यपि निगमो भवति ॥

यथो एतत्-

"द्रविणोदाः पिबतु द्राविणोदसः" (ऋ०सं०२, ८,१,४) । इति ।

अस्यैव तद् भवति ॥३ (२) ॥

अर्थः- "अयमेव" यही अग्नि द्रविणोदाः है, यह शाकपूणि आचार्य मानते हैं। क्यों कि- अग्नि के ही सूक्तों में 'द्रविणोदस' शब्द युक्त प्रवाद = स्तुतिएं होती हैं।

"देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम्" अर्थात् देवताओं ने पहिले द्रविणोदा = देवताओं के अर्थ हवीरूप द्रव्यों के देने वाले अग्नि को धारण किया है। यह भी निगम है।

इस प्रकार यहां यही अग्नि 'द्रविणोदा' है, यह पक्ष स्थिर है।

सो यह पर पक्ष = क्रौष्टुकि- पक्ष के हेतुओं को बिना हटाए नहीं टिका हुआ जैसा ही है, इस कारण उनके निराकरण = हटाने के अर्थ "यथो एतत्" इत्यादि रूप से कहा जाता है।

"यथो एतत्" जो कि- फिर यह कहा गया है, 'वह बल और धन का बड़ा दाता है,' यह इन्द्र के 'द्रविणोदस्' होने में कारण नहीं है। क्यों कि- सभी देवताओं में ऐश्वर्य है। [इससे सभी देवता बल और धन के देनेवाले हैं। अतः यह हेतु इन्द्र के 'द्रविणोदस्' होने में विशेष कारण नहीं होसकता।] "यथोएतत्" और भी जो यह कहा है कि- "ओजसो जातमुत मन्यएनम्" अर्थात्- मैं इसे ओजसे = बल से उत्पन्न हुआ मानता हूं। यह निगम भी इन्द्र के 'द्रविणोदस्' होने में विशेष कारण नहीं है। क्यों कि- यह अग्नि भी ओज से = बल से मथा जाता हुआ उत्पन्न होता है, इस कारण से ऋषि इसको (अग्नि को) सहस् का पुत्र = सहस् का सूनु = सह का यहु कहता है॥

(क) "सहस्पुत्रो अद्भुतः" (ऋ० सं० २, ५, २८, ६)। अग्नि सहस् का पुत्र अद्भुत है।

(ख) "सहसः सूनवाहुतः"। (ऋ० सं० ६, ५, २४, ३)। हे सहस् के सूनु ! बुलाया हुआ है।

(ग) "अग्ने वाजस्य गोमतःईशानःसहसो यहो"

(ऋ०सं०१,५,२७,४) । हे अग्नि देव ! हे सहस् (बल) के यहु (पुत्र) ! 'गोमतः' 'वाजस्य' 'ईशानः' गो आदि पशुओं से युक्त अन्न का स्वामी है ।

"यथो एतत्" और जो फिर यह कहा गया है, कि—"अग्निं द्राविणोदसमाह" ऋषि अग्नि को द्रविणोदस् का पुत्र कहता है । [इसका यह अभिप्राय नहीं कि- द्रविणोदस् = इन्द्र से यह अग्नि उत्पन्न होता है किन्तु—) यहां ऋत्विज् 'द्रविणोदस' = अग्नि के हविर्दाता कहे जाते हैं— ऋत्विज् अग्नि के द्रविणोदस् हैं- ऋत्विज् हवियों के दाता हैं, और वे ऋत्विज् इस अग्नि को उत्पन्न करते हैं, यह ऋषि के द्वारा कहा जाता है ।

"ऋषीणां पुत्रो अधिराज एषः" यह अग्नि देव अधिक चमकने वाला ऋषियों का पुत्र है । यह भी निगम है ।

"यथो एतत्" और जो फिर यह कहा है कि- 'उन ऋतुयाजों के पात्र का नाम 'इन्द्रपान' है, यह भी इन्द्र के द्रविणोदस् होने में कारण नहीं । क्योंकि—यह भक्तिमात्र है— गुण के वश 'इन्द्रपान' यह पात्र का नाम है । जैसे—सोम के पात्र भिन्न २ देवताओं के होते हैं, तो भी उन सब का 'वायव्य' नाम है, किन्तु वे इस कारण वायु देवता के ही नहीं होजाते, यह किसी गुण के कारण उनका नाम है = समाख्या है । इस कारण 'द्रविणोदस्' नाम-युक्त मन्त्र में 'इन्द्रपान' यह पात्र का नाम होने से इन्द्र द्रविणोदस् नहीं हो सकता ।

"यथो एतत्" और भी फिर यह कहा गया है, कि- इस इन्द्र को सोम पान से स्तुति करता है, इससे द्रविणोदस् इन्द्र

यह भी कारण नहीं हो सकता। क्योंकि–इस अग्नि में भी यह उपपन्न होता है—घटता है।

"सोमं पिब मन्दसानो गणश्रिभिः" अर्थात्– हे भगवन्! अग्निदेव! इकट्ठे इकट्ठे तुम्हें आश्रयण करने वाले मरुतों के साथ (त्वम्) तू मोद करता हुआ सोम को पी। यह भी निगम है। इस प्रकार इस मन्त्र में सोमपान से इस अग्नि की भी स्तुति है, इस कारण सोमपान इन्द्र का ही लिङ्ग नहीं है।

"अथो एतत्" और भी यह कहा है कि–

"द्रविणोदाः पिबतु द्राविणोदसः" जिस द्रविणोदस् का पुत्र अग्नि है वह द्रविणोदस् सोम को पान करे।

यहभी इन्द्रके द्रविणोदस् होने में कारण नहीं। क्योंकि-इस अग्नि का ही यह निगम है। ऋतुयाजों में अग्नि भी सोम का भागी है। क्योंकि- उन में "वनस्पते० ०द्रविणोदः" पिब ऋतुभिः" (ऋ०सं०२,८,१,३) हे 'वनस्पते!' अग्नि देव! हे 'द्रविणोदः!' (त्वम्) तू 'ऋतुभि' ऋतुओं के साथ सोम को पान कर। यहां 'वनस्पते' संबोधन पद के साथ समानाधिकरण 'द्रविणोदस्' विशेषण सम्बोधन है, इस कारण वनस्पति के अतिरिक्त और कोई द्रविणोदा नहीं हो सकता, और वनस्पति फिर निःसन्देह अग्नि है, "वह देवत्रा दिधिषो हवींषि" हे 'दिधिषो!' धारण करने वाले! (त्वम्) तू 'देवत्रा' देवताओं के लिये 'हवींषि' हवियों को 'वह' लेजा। इस मन्त्र में हविः के लेजाने के संयोग से और

स्विष्टकृत् के विकार के श्रवण से अग्नि द्रविणोदस् है, किन्तु इन्द्र नहीं ॥ ३ (२) ॥

(खं० ४)

(निरु०) "मेद्यन्तु ते वन्हयो येभिरीयसेऽरिषण्यन्वीलयस्वा वनस्पते । आयूया धृष्णा अभिगूर्या त्वं नेष्ट्रात्सोमं द्रविणोदः पिब ऋतुभिः ॥" (ऋ०सं० २,८,१,३) ॥

मेद्यन्तु ते वन्हयो वोढारः, यैः यासि अरिष्यन् दृढीभव, आयूय धृष्णो अभिगूर्य त्वं नेष्ट्रीयात् धिष्ण्यात् ।

'धिष्ण्यो' धिषण्यः । धिषणाभावः ।

'धिषणा' वाक् । धिषेर्दधात्यर्थे । धीसादिनी इति वा । धीसानिनी इति वा ।

'वनस्पते' इति एनम्-आह । एष हि वनानां पाता वा । पालयिता वा ।

'वनं' वनोते ।

"पिब ऋतुभिः" कालैः ॥४(३)॥

इति अष्टमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥८,१॥

अर्थः-जैसे यहां ऋतुयागों में-"मेद्यन्तु ते वन्हयः" [ऋ०सं ०२,८,१,३] यह ऋचा है । यह गृत्समद ऋषि की है । इसका जगती छन्द और ऋतु देवता है ।

'वनस्पते' हे भगवन् ! वनस्पति देव ! हे 'द्रविणोदः!' 'ते' तेरे 'वन्हयः' (वोढारः) वाहनं = घोड़े 'मेद्यन्तु' (स्निह्यन्तु) स्नेह करें, 'येभिः' (यैः) जिनसे (त्वम्) तू 'ईयसे' (यासि) गमन करता है। 'अरिष्यन्' किसी से भी न मारा जाता हुआ। 'वीलयस्व' अपने आपे को दृढ करले, [-सोम पान के अर्थ] । 'धृष्णो' हे शत्रुओं को धमकाने वाले ! 'आयूय' अंगुली से मिला कर 'अभिगूर्य' उठा कर 'नेष्ट्रात्' (नेष्ट्रीयात् धिष्ण्यात्) नेष्टा के आसन से या नेष्टा के 'वषट्' मन्त्रके उच्चारण से दिये हुए सोम से 'त्वम्' तू 'ऋतुभिः' काल देवताओं के साथ 'सोमम्' अपने अंश (भाग) सोम को 'पिब' पान कर। [यह हम कहते हैं।]

'धिष्ण्य' क्या ? धिषण्य। धिषण्य ही क्या ? धिषणा वाक् (वाणी) होती है, उसके अर्थ यह रखा जाता है, उस के पीछे बैठा हुआ होता शस्त्र = बिना गाए हुए मन्त्रों से स्तुति करता है।

'धिषणा' क्या ? वाक् वाणी। कैसे ? धारणार्थक 'धिष्' धातु से है। क्योंकि- वह अर्थ को धारण करती है। अथवा यह 'धीसादिनी' होने से धिषणा है। 'धीसादिनी' 'धी' बुद्धि अथवा कर्म उस में बैठने वाली। अथवा 'धीसानिनी' होने से यह धिषणा है। क्योंकि- वह बुद्धि को सानती है- भजती है।

"वनस्पते !" यह सम्बोधन पद इस 'द्रविणोदस्' को कहता है, इससे 'द्रविणोदस्' अग्नि है।

अग्नि 'वनस्पति' कैसे है ?

"एषहि०" क्योंकि- यह वनों का पाता है, अथवा पालन

करने वाला है। [क्योंकि-यह वनों के = वृक्षादिकों के भीतर रहता हुआ भी जलाने को समर्थ होता हुआ भी उन्हें जलाता नहीं, इसी से उनका पालक है। 'पाता' और 'पालयिता' दोनों पदों में धातुओं का भेद है; और अर्थ एक ही है।]

'वन' कैसे संभजनार्थक 'वन' (त०उ०) धातु से है। क्योंकि- उसे काठ, फल, फूल आदि के लिये सेवन किया जाता है।

"पिब" ऋतुओं के सहित = कालों के सहित पी। [यह देवता पद के विचार का न्याय, जैसा कि 'द्रविणोदस्' पद पर दिखाया है, सर्वत्र देवता पद के विचारार्थ ग्राह्य है, ऐसे विचारों से शिष्य की बुद्धि बढ़ती है।] ॥ ४ (३) ॥

इति हिन्दीनिरुक्ते अष्टमोऽध्यायस्य प्रथमः पादः ॥८,१॥

द्वितीयः पादः।

(खं० १)

निघ०-इध्मः ॥२॥ तनूनपात् ॥ ३ ॥ नराशंसः ॥४॥ ईलः ॥५॥ बर्हिः ॥ ६ ॥ द्वारः ॥७॥ उषासानक्ता ॥८॥ दैव्याहोतारा ॥९॥ तिस्रोदेवीः ॥ १० ॥ त्वष्टा ॥११॥ वनस्पतिः ॥१२॥ स्वाहाकृतयः ॥ १३ ॥ इति त्रयोदश (१३) पदानि।

(निरु०-) अथात आप्रियः।

आप्रियः कस्मात्? आप्नोतेः। प्रीणातेर्वा।

"आप्रीभिराप्रीणाति" इति च ब्राह्मणम् ।
तासाम्-'इध्मः' प्रथमागामी भवति ।
'इध्मः' समिन्धनात् ।
तस्य-एषा भवति ॥१(४)॥

अर्थः-"अथातः" यहां से 'आप्री' देवताओं का अधिकार है- 'इध्म' (२) पद से 'स्वाहाकृतयः' (१३) पद तक कुल बारह (१२) आप्री कहे जाते हैं।

'आप्री' कैसे ? व्याप्ति अर्थ में 'आप्' (स्वा०उ०) धातु से है। क्योंकि- वे लोक को व्यापन करते हैं। अथवा तर्पण या तृप्ति अर्थ में 'प्री' (क्र्या०उ० धातु से है। क्योंकि- वे हविओं से या स्तुतिओं से तृप्त किये जाते हैं।

और "आप्रीभिः-आप्रीणाति" अर्थात्- 'आप्री' नाम वाली ऋचाओं से (होता ऋत्विज् उन्हें) आप्रीणाति = भले प्रकार तृप्त करता है। यह ब्राह्मण है।

"तासाम्०" उन आप्री देवताओं में पहिले आने वाला 'इध्म' (इन्धन देवता) है।

'इध्म' (इन्धन) क्यों ? समिन्धन से । क्योंकि-उस से अग्नि समिन्धन किया जाता है-जलाया जाता है।

"तस्य०" उसकी यह ऋचा है ॥१(४)॥

व्याख्या ।

यहां अब देवताओं के नामों की व्याख्या चल रही है। उनमें अग्नि (निघ० अ० ५ खं० १पद १) जातवेदाः (निघ०

अ०५ ख० १ पद०२) वैश्वानर (निघ० अ०५ खं०१ पद०३) द्रविणोदाः (निघ० अ० ५ खं०२ पद० १) ये चार शब्द व्याख्यान किये जाचुके हैं। दूसरे खण्ड के कुल १३ शब्दों में से 'इध्म' आदि बारह (१२) शब्द अवशिष्ट हैं, इनका 'आप्री' नाम प्रसिद्ध है, इसीसे आचार्य ने निघण्टु अ०५ खण्ड२ में इध्म शब्द पर ही "अथात आप्रियः" यह अधिकार की सूचना दी है, ये बारह शब्द यहां निघण्टु ग्रन्थ में जिस क्रम से पढे हैं, उसी क्रमसे *प्रैष ग्रन्थ = मन्त्रभाग के स्थल विशेष में भी पढे हुए हैं, अथवा वहां जिस क्रमसे ये शब्द पढे हैं, उसी क्रम से वहां से इस समाम्नाय में उठा लिये हैं, इस कारण इनके क्रम (सिल सिले) का प्रयोजन यहां वही है, जो वहां है, किन्तु इन 'इध्म' आदि शब्दों के क्रम पूर्वक उठाए हुओं का क्रम देखकर यह प्रश्न उठ आता है कि- क्या 'अग्नि' आदि जो और २ शब्द इस काण्ड में पढे हुए हैं, उनका वह क्रम निघण्टु में किसी प्रयोजन के साथ में होसकता है, या उनकी गणना ही जैसे तैसे अपेक्षित है ?

यद्यपि 'इध्म' आदि आप्री देवताओं के नामों का

---

* यह प्रैषाध्याय के नाम से ऋग्वेद मन्त्रसंहिताके परिशिष्ट भाग के अन्त में एक प्रकरण ग्रन्थ है। उसमें १३ प्रयाजप्रैष ८ पाशुक प्रैष ११ अनुयाज प्रैष एक सूक्तवाक प्रैष और ३६ सुत्या में सवनीय प्रैष हैं। इस प्रकारकुल वहां पर ६९ प्रैष मन्त्र हैं। इसी का नाम प्रैषग्रन्थ या प्रैषाध्याय है।

क्रम वेदाध्ययन तथा कर्म में जैसा यथास्थित उपयुक्त होता है वैसा इनका नहीं। क्यों कि— इनका पाठ या यजन इसी क्रम से मन्त्रों में या कर्म में नहीं है (तथापि प्राकृतिक नियम के अनुसार इनके पाठ का क्रम प्रयोजन सहित है । जैसे कि - सब संसार तीन भागों में बटा हुआ है— पृथिवी लोक अन्तरिक्ष लोक और द्युलोक। देवता भी तीनों लोकों में रहते हैं और उन सभी के नामों की व्याख्या भी कर्त्तव्य है। ऐसी अवस्था में हमारे निकट पहिले पृथिवी लोक के ही देवता हैं और उन्हीं के नामों की व्याख्या हमें करनी चाहिए जब हम ऊपर के लोकों में चले गे, तो पृथिवी लोक से आगे अन्तरिक्ष लोक आयेगा, इससे पृथिवी के देवताओं के नामों की व्याख्या के पश्चात् अन्तरिक्ष के देवताओं के नामों की ही व्याख्या प्राप्त होती है, और अन्तरिक्ष के ऊपर फिर द्युलोक में जायगे, इससे उनके अनन्तर द्युलोक के देवताओं के नामों की व्याख्या प्राप्त होती है। यही देवता नामों के पाठ का क्रम निघण्टु शास्त्र में रखागया है। पृथिवी का देवता अग्नि, अन्तरिक्ष का वायु या इन्द्र और द्युलोक का सूर्य देवता है। इस कारण पहिले अग्नि देवता के नामों का पाठ है, और इसी प्रकार अग्नि के अनेक नामों में तथा अग्नि के संबन्धी अन्य देवता आदि के नामों में जो पूर्वापरभाव है, वह भी प्राकृतिक स्वभाव के अनुसार है,। ऐसे ही अन्तरिक्ष और द्युलोक के देवताओं तथा उनके सम्बन्धी अन्य नामों की भी व्यवस्था ध्यान में लाने योग्य है। इसी से आचार्य ने स्थान २ में इस अभिप्राय की अपनी प्रतिज्ञा से सूचना भी दी है। जैसे—

"अग्निः पृथिवीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः" (अ० ७ पा० ४ खं० १) अर्थात्- अग्नि पृथिवी स्थान का देवता है, इससे हम उसकी व्याख्या पहिले करेंगे।

"तासामिध्मः प्रथमागामी भवति" [अ० ८ पा० २ खं० १] अर्थात् इनमें 'इध्म' स्वभाव से पहिले आनेवाला है।

"तेषामश्वःप्रथमागामी भवति" [अ० ९ पा० १ खं० १] अर्थात् उन में 'अश्व' स्वभाव से पहिले आने वाला है।

"तेषां रथः प्रथमागामी भवति"। [अ० ९ पा० २ खं० १] अर्थात्- उनमें 'रथ' स्वभाव से पहिले आने वाला है। इत्यादि।

पृथिवी स्थान के देवता- नामों के क्रम का विशेष रूप से प्रयोजन इस प्रकार है कि- पार्थिव ज्योति = पृथिवी लोक के तेज का संबन्ध जैसा 'अग्नि' शब्द के साथ अधिक प्रसिद्ध है, वैसा 'जातवेदस्' शब्द के साथ नहीं, जैसा 'जातवेदस्' शब्द के साथ है, वैसा 'वैश्वानर' शब्द के साथ नहीं जैसा 'वैश्वानर' शब्द के साथ है वैसा द्रविणोदस् के साथ नहीं। इस प्रकार इन सब शब्दों के क्रम का कारण गुण के न्यूनाधिक्य से या प्रसिद्धि के न्यूनाधिक्य से लेना चाहिये।

यद्यपि 'अग्नि' आदि शब्दों के समान 'इध्म' आदि शब्द भी अग्नि के या पार्थिव ज्योति के नाम हैं इससे ये उन के समान पूर्व स्थान के भागी होते हैं, तथापि 'अग्नि' आदि शब्द प्रत्यक्ष अग्निके नाम हैं, और इध्म = इन्धन = काष्ठ आदि अप्रत्यक्ष अग्नि के नाम हैं। क्योंकि- काष्ठ को रगड़ने से उसमें अग्नि प्रत्यक्ष होता है, स्वतः नहीं। इससे

अग्नि आदि नामों की अपेक्षा इन 'इध्म' आदि नामों की गौणता है।

ऐसे ही 'इध्म' आदि परोक्ष अग्नि के ही नाम हैं और 'अश्व' आदि अग्नि के स्थान मात्र में रहने वाली वस्तुओं के किन्तु किसी प्रकार की अग्नि के नहीं, इससे ये 'इध्म' आदि की अपेक्षा भी गौण हैं, इस कारण उनके अनन्तर पढ़े जाते हैं।

इसी प्रकार 'अश्व' आदि प्राणी हैं, और 'अक्ष' (पासे) आदि अप्राणी (जड़) हैं, इस कारण अश्व आदि के पश्चात् 'अक्ष' आदि नामों की स्थापना (संग्रह) है। ऐसे ही सब स्थानों में क्रम का प्रयोजन द्रष्टव्य है।

शाकपूणि आचार्य ने स्वयम् निघण्टु शास्त्र के आरम्भ से ही सब 'गौ' आदि शब्दों का प्रयोजन कहा है। जैसा कि-वार्त्तिककार ने कहा है-

"क्रमप्रयोजनं नाम्नां शाकपूण्युपलक्षितम्।
प्रकल्पयेदन्यदपि न प्रज्ञामवसादयेत्॥"

नामों के क्रम का प्रयोजन शाकपूणि आचार्य ने दिखाया है, उससे अन्य प्रयोजन की भी कल्पना करे किन्तु अपनी बुद्धि को खिन्न न करे [यदि वह ध्यान में न आवे]।

प्रयोजन यह है कि-व्युत्पत्तिओं की कोई सीमा नहीं है, जैसे २ न्यायसंगत अर्थ प्रतीत हो, वैसे २ ही व्युत्पत्ति करे, किसी व्युत्पत्ति के ठहराने के लिये ही खिन्न न होना चाहिए।

(खं० २)

(निरु०-) "शगिन्धो अद्य मनुषो दुरोणे देवो

देवान्यजसि जातवेदः । आ च वह मित्र मह-
श्चिकित्वान्त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः ॥" [ऋ०सं०
८,६,८,१] ॥

"समिद्धो अद्य" मनुष्यस्य मनुष्यस्य गृहे "देवो
देवान्-यजसि जातवेदः, आ च वह मित्र मह-
श्चिकित्वान्"-चेतनावान्, "त्वं दूतः कविरसि
प्रचेताः"-प्रवृद्धचेताः ॥

यज्ञेध्मः-इति कात्थक्यः ।

अग्निः-इति शाकपूणिः ॥

'तनूनपात्' आज्यम्-इति कात्थक्यः ।

'नपात्' इति अनन्तरायाः प्रजाया नामधेयम् ।
निर्णततमा भवति । गौः अत्र 'तनूः' उच्यते ।
तताअस्यां भोगाः । तस्याः पयो जायते । पयसः
आज्यं जायते ।

अग्निः- इति शाकपूणिः ।

आपः अत्र 'तन्वः' उच्यन्ते । तता अन्तरिक्षे।
ताभ्यः ओषधि-वनस्पतयो जायन्ते । ओषधि
वनस्पतिभ्यः एष जायते ॥

तस्य एषा भवति ॥ २ (५) ॥

अर्थः-"समिद्धो अद्य" इस ऋचा का भार्गव जम-

दृग्नि ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द, और यास्क के मत में इस सूक्त का ही अग्नि देवता है।

हे इध्म ! देव ! 'समिद्धः' भले प्रकार प्रज्वलित हुआ = जलता हुआ 'अद्य' आज इस यजन के विशेष दिन में 'मनुषः' (मनुष्यस्य मनुष्यस्य) जन जन के 'दुरोणे' (गृहे) घर में 'देवः' दाता (त्वं) तू हे 'जातवेदः' जातवेदस् = अग्नि के आधार ! 'देवान्' देवताओं को 'यजसि' यजन करता है। हे 'मित्रमहः' मित्रों के महनीय ! = पूजनीय ! 'आ च वह' (आह्वय च) और तू देवताओं को बुला और बुलाकर यजन कर। क्योंकि 'त्वम्' तू 'चिकित्वान्' (चेतनावान्) जानकार 'असि' है। 'दूतः' सब यजमानों का दूत है। 'कविः' (क्रान्तदर्शनः) फैले हुए प्रकाश वाला या सुन्दर प्रकाश वाला है। 'प्रचेताः' (प्रवृद्धचेताः) बड़े विज्ञान वाला है।

व्याख्या

इस मन्त्र में कौन देवता है ?

"यज्ञध्मः" कात्थक्य आचार्य मानते हैं कि–यहां यज्ञ का 'इध्म' समिध् = काष्ठ देवता है।

प्रश्न–इस मन्त्र में उसके देवता होने का कोई लिङ्ग या सूचक नहीं है ?

उत्तर–यद्यपि नहीं है, तथापि यह ऋचा "समिद्भ्यः प्रेष्या" इस श्रुति से समिधों के लिये प्रेष्य कही गई है, और जो ऋचा जिस वस्तु के लिये प्रेष्य होती है, उसमें वही वस्तु देवता होती है, उसी का यजन होता है। इस कारण जिस समय समिध् इन्धन होकर अग्नि से ज्वलित हो जाती

हैं, उनके समूह को ध्यान करके यह वचन है। यह व्यवहित अभिधान कहलाता है- साक्षात् = असली नाम न होकर परदे से नाम लिया हुआ होता है। जैसे हिन्दू स्त्रियें अपने पति का साक्षात् नाम न लेकर उस के नाम को किसी उपाय के द्वारा बताती हैं, वैसे ही ऋचाओं में कहीं २ देवताओं के लिये भी परदे से कहा जाता है। "परोक्षप्रिया इव हि देवाः" देवता परोक्षता से-परदे से कही हुई स्तुति से प्यार करने वाले होते हैं। ऐसा ही यह श्रुति भी कहती है। इसी न्याय के अनुसार यहां "समिद्धो अद्य" इस ऋचा में 'इध्म' यह आमीगत गुप्त नाम है। यह बात दर्श पौर्णमास के होता के कर्म में प्रसिद्ध है-"समिधो यज" 'समिधों का यजन कर' इस मन्त्र से अध्वर्यु के द्वारा प्रेषित = प्रेरित हुआ होता "ये३यजामहे समिधः समिधो अग्नआज्यस्य व्यन्तु३वौ३षट्" इस मन्त्र से "वषट्" करता है, उस "वषट्"कार के साथ या अनन्तर ही अध्वर्यु आज्य का होम करता है। इस कारण यहां 'इध्म' देवता है, यह कात्थक्य आचार्य का मानना ठीक है।

"अग्निः-इति शाकपूणिः" शाकपूणि आचार्य मानते हैं कि-इस मन्त्र में अग्नि देवता है॥

व्याख्या।

शाकपूणि आचार्य यहां किस युक्ति से अग्नि देवता को मानते हैं?

(क) इध्म की अपेक्षा अग्नि होम कर्म में समीप होकर

उपकार करता है- पहिले इन्धन रखाजाता है, फिर अग्नि जलता है, फिर उसमें होम होता है, जो देवताओं का यजन या पूजा है, उसमें अग्नि निकट और इध्म दूसरा होता है।

(ख) इध्म प्रैष कर्म में मिलकर उपकार करता है किन्तु स्वतन्त्रता से नहीं पहिले होता प्रैषमन्त्र "समिधःस-मिधो०" इत्यादि पढता है, फिर अध्वर्यु आज्य का होम करता है, अतः उसका क्रिया से स्वतन्त्र सम्बन्ध नहीं होता अर्थात्- जिस देवता के यजन का प्रैष होता है उसी का फिर यजन होता है। और यहां कात्थक्यके मत में प्रैष इध्म(समिध्) के यजन का हुआ, और यजन या होम अग्निमें। इसी से इध्मका क्रिया से साक्षात् सम्बन्ध न होकर अग्नि के द्वारा सम्बन्ध होता है, स्वतन्त्रता से नहीं। तथा स्वतन्त्रता के विना उसकी ज्ञापकता ग्राह्य नहीं। अतः इध्म नाम अग्नि का ही होता है।

(ग) यजति या इष्टि = दर्श पौर्णमास आदि में आप्री ऋचाओं का जो आप्री रूप है-- वे ऋचाएं जिस रूप में स्थित है- अपने स्वभाव से जिस प्रकार अर्थ को प्रकाश कर रही हैं- उनपर ध्यान देनेसे जो बुद्धि पर आपसे आप ज्ञान फैलता है, वह उनका रूप बलवत् है और वह अग्नि पक्ष को ही पुष्ट करता है, उसका उल्लङ्घन करके दूसरा अर्थ किया नहीं जासकता।

आप्री का क्या रूप है! और कैसे वह अग्नि के अर्थ हो जाती है- उसका देवता इध्म न होकर अग्नि कैसे होजाता है?

सुनो--

"समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे देवो देवान्यजासि जातवेदः। आच वह मित्रमहश्चिकित्वान्त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः॥"

यह आप्री का रूप है। इसमें समिद्ध प्रज्वलित होना देवताओं का यजन करना द्योतन (प्रकाश करना) जातवेदस् नाम, देवताओं का आवाहन, और दूतता, ये सब अभिधान =शब्द अग्नि पक्षमें मुख्य रहते हैं, और इध्म पक्षमें गौण होजाते हैं। जैसे- सिंह के लिये सिंह, शब्द मुख्य रहता है, और पुरुष के लिये कहा गया गौण होता है।

"गौणमुख्ययोश्च मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः" 'जहां गौण और मुख्य दोनों उपस्थित हों वहां मुख्य में कार्य होता है यह न्याय है। इससे अपने रूप में स्थित रहती हुई आप्री का यज्ञ में बहुत उपकार होता है, इससे और सब प्रयाज अग्नि देवता के ही होते हैं, इस कारण से इस आप्री ऋचा के द्वारा अग्नि का ही यजन है, यह शाकपूणि आचार्य मानते हैं॥

'तनूनपात्' (२) आज्य (घी) का नाम है, यह कात्थक्य (कत्थक के पुत्र) आचार्य मानते हैं।

'नपात्' यह अनन्तरा =दूसरी प्रजा= सन्तान का नाम है- पहिली सन्तान का नाम पुत्र और उसके पुत्र का नाम नपात् = नाती (पोता) है।

यहां 'तनू' नाम 'गो' (गाय) का कहा जाता है। क्यों? इसमें भोग तत = विस्तृत हैं। उस (गो) से दूध उपजता है दूधऔर ध से आज्य (घृत) होता है। इस प्रकार कात्थक्य आ-

चार्य 'तनूनपात्' नाम घृत का बताते हैं। क्यों कि वह गौ का पोता (नाती) है।

'तनूनपात्' (२) अग्नि है, यह शाकपूणि आचार्य कहते हैं। उनका अभिप्राय यह है—

यहां 'तनू' जल कहे जाते हैं। क्यों कि - वे अन्तरिक्ष में तत = फैले हुए होते है। उनसे ओषधि, वनस्पतिएं होती हैं, ओषधि वनस्पतिओं से यह (अग्नि) उत्पन्न होता है। इस प्रकार शाकपूणि के मत में 'तनूनपात्' अग्नि है। क्यों कि-वह जल का पोता है।

उस 'तनूनपात्' = आज्य अथवा अग्नि की यह ऋचा है ॥२(५)॥

(खं० ३)

(निरु०) "तनूनपात्पथ ऋतस्य यानान्मध्वासमञ्जन्स्वदया सुजिह्व। मन्मानिधीभिरुत यज्ञमृन्धन्देवत्राच कृणुह्यध्वरं नः ॥" [८, ६, ८, २]॥

तनूनपात, 'पथः ऋतस्य' यानान् यज्ञस्य यानन् मधुना समञ्जन् स्वदय कल्याणजिह्वः। मननानि च नो धीभिर्यज्ञंत्र समर्द्धय, देवान् नो यज्ञं गमय ॥

'नराशंसः' यज्ञः' इति कात्थक्यः नराः अस्मिन् आसीनाः शंसन्ति ॥

अग्नि'-इति शाकपूणिः। नरैः प्रशस्यो भवति। तस्य एषा भवति—॥३(६)॥

अर्थः-- "तनूनपात्पथ" हे 'तनूनपात्:' आज्य (त्वम्) तू 'ऋतस्य' (यज्ञस्य) यज्ञ के 'पथः'(मार्गान) मार्गों को और 'यानान्' (हवींषि) हविओं को 'मध्वा' (मधुना) मधुर स्वादसे 'समञ्जन्' सींचता हुआ 'स्वदय' स्वादु करदे। और हे सुजिह्वः' सुन्दर जीभ वाले! [अपनी जीभ से ऐसा करता हुआ -] 'मन्मानि' (मननानि च) हमारी मानी हुई या मांगी हुई वस्तुओं को 'कृणुहि' कर। 'धीभिः' (कर्मभिः) कर्मों से 'यज्ञम्' यज्ञको 'ऋन्धन्' (संसाधयन्) सम्पादन करता हुआ = साधता हुआ (समर्धय) बढा। 'नः' हमारे 'अध्वरम् (यज्ञम्) यज्ञ के प्रति देवत्रा (देवान्) देवताओं को (गमय) चला या ला। (यह हम तुझसे चाहते हैं।) ॥

शाकपूणि के मत में- हे भगवन्! अग्ने! तनूनपात्! जल के पोते! तू यज्ञ के मार्गों को हविओं को पाक के किये हुए मीठे रस से संयुक्त करता हुआ स्वादु बना। हे सुजिह्व! अच्छी ज्वालाओं वाले! ऐसा करता हुआ हमारी वाञ्छित वस्तुओं को सिद्ध करता हुआ यज्ञ को बढा और हमारे यज्ञ के प्रति देवताओं को ला॥

'नराशंस' (४) यज्ञ है, यह कात्थक्य मानते हैं। क्योंकि- इस में नर (मनुष्य) आसीन (बैठे हुए) शंसन करते हैं- देवताओं की स्तुति करते हैं।

अग्नि 'नराशंस' है,-यह शाकपूणि आचार्य मानते हैं। क्योंकि-नरों से (मनुष्यों से) प्रशंसा किया जाता है।

"तस्य०" उस 'नराशंस' की यह ऋचा है ॥३(६)॥

(खं० ४)

(निरु०-) "नराशंसस्य महिमानमेषामुपस्तोषाम

यजतस्य यज्ञैः । ये सुक्रतवः शुचयोधियंधाः स्वदन्ति देवा उभयानि हव्या ॥" [ऋ०सं० ५,२, १, २] ॥

नराशंसस्य महिमानम्-एषाम् उपस्तुमः, यज्ञि-यस्य यज्ञै ये सुकर्माणः शुचयो धियं धारयितारः स्वदयन्तु देवाः-उभयानि हवींषि सोमं च इतराणि च इतिवा । तान्त्राणि च आवापिकानि च इति वा ॥

'ईळः' ईट्टेः स्तुतिकर्मणः । इन्धते र्वा ॥

तस्य एषा भवति-॥४(७)॥

'एषाम्' इन मनुष्यों के 'नराशंसस्य' वाञ्छित फल के देने वाले यज्ञ की 'महिमानम्' महिमा को 'उपस्तुमः' स्तुति करते हैं । 'यजतस्य' (यज्ञियस्य) यज्ञ करने वाले के 'यज्ञैः' (कर्मभिः) कर्मों से 'ये' जो 'सुक्रतवः' (सुकर्माणः) सुन्दर कर्म वाले 'शुचयः' बिलकुल पाप रहित 'धियंधाः' (धियंधार-यितारः) बुद्धि के धारण करने वाले 'देवाः' देवता हैं, वे 'उभयानि' दोनों प्रकार के 'हव्या' (हवींषि) हविओं को 'स्वदन्ति' (स्वदयन्तु) खावें । दोनों प्रकार के हवि-सौमिक पशु ऐं-एक सोम और दूसरे पशु पुरोडाश धाना आदि हैं । और सोम से अन्यत्र तान्त्र (प्रयाज आज्यभाग स्विष्टकृत् आदि) और आवोपिक (प्रधान हविएं) ये दो प्रकार के हवि हैं ।

शाकपूणि के मत में-हम नरों के इच्छित उपकारों के

करने वाले नराशंस अग्नि देव की महिमा को स्तुति करते हैं। उस नराशंस अग्नि को स्तुत होजाने पर यज्ञ के करने वाले के गुणों से युक्त और सुन्दर कर्मों वाले पवित्र बुद्धि के धारण करने वाले देवता हैं, वे दोनों प्रकार के हविओं को चाखें॥

'ईल' ५) (अग्नि) स्तुति अर्थ में 'ईड' (अदा०आ०) धातु का है। अथवा दीप्ति अर्थ में 'इन्ध' (रु० आ०) धातु का है।

"तस्य०" उस 'ईल' की यह ऋचा है ॥४(७)॥

(खं० ५)

(निरु०-) आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्चायाह्यग्ने वसुभिः सजोषाः। त्वं देवानामसि यह्व होता स एनान्यक्षीषितो यजीयान्॥" (ऋ०सं०८,६,८,३)

आहूयमानः ईलितव्यो वन्दितव्यश्च आयाहि अग्ने वसुभिः सह जोषणः त्वं देवानाम् असि यह्व होता।

'यह्व' इति महतो नामधेयम्। यातश्च हूतश्च भवति।

"स एनान् यक्षीषितो यजीयान्"। 'इषितः' प्रेषितः इति वा। अधीष्टः इति वा।

'यजीयान्' यष्टृतरः॥

'बर्हिः' परिबर्हणात्।

वरीयो देवेभ्यो अदितये स्योनम् ॥" (ऋ० सं० ८, ६, ८, ४) ॥

प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वसनाय अस्याः प्रवृज्यते, अग्र अन्हो बर्हिः, पूर्वाह्णे तद् विप्रथते 'वितरं',-विकीर्णतरम्-इति वा, विस्तीर्णतरम्-इति वा ।

'वरीयः' वरतरम् । उरुतरं वा ।

देवेभ्यश्च अदितये च स्योनम् ।

'स्योनम्'- इति सुखनाम । स्यतेः । अवस्यन्ति-एतत । सेवितव्यम्भवति-इति वा ।

'द्वारः' जवतेर्वा । द्रवतेर्वा । वारयतेर्वा ॥

तासाम्-एषा भवति- ॥६(९)॥

अर्थ :-"प्राचीनं०" [यज्ञ में कुशों का उपयोग-]
'अस्याः पृथिव्याः वस्तोः (वसनाय) प्रदिशा (विधिना) (मन्त्रेण वा) अन्हाम् अग्रे (पूर्वाह्णे) प्राचीनं बर्हिः वृज्यते' इस पृथिवी के ढांपने के लिये पूर्वाह्णकाल में = दिन के [illegible] पहर में प्राचीन = पूर्व दिशा में गया हुआ अथवा पूर्वाग्र कुश (डाभ) विधिवाक्य के अनुसार काटा जाता है अथवा प्रस्तरण मन्त्र से बिछाया जाता है । 'वरीयः' औरर यज्ञ के अङ्गों से बहुत श्रेष्ठ है । 'वितरं (विकीर्णतरं वा विस्तीर्णतरं वा) काटा हुआ अथवा बिछाया हुआ 'व्युप्र-थते' (तद् विप्रथते) वह कुश फैल जाता है । और 'देवेभ्यः'

देवताओं के लिये तथा 'अदितये' पृथिवी के लिये सुखरूप होता है।

'वितर' क्या? विकीर्णतर = बहुत काट डाला हुआ। अथवा विस्तीर्णतर = बहुत फैलाया हुआ या बिछाया हुआ।

'वरीयः' क्या? वरतर = बहुत श्रेष्ठ। अथवा उरुतर = बहुत घना।

'स्योन' यह सुख का नाम है। कैसे? स्यतेः। 'अव' (उप०) और 'सो' (दि०प०) धातु से है। क्योंकि- 'एतद्ध अवस्यन्ति' सब प्राणि इसी पर निर्भर करते हैं—इसी को निश्चय करते हैं—कैसे मिले? कैसे हो? अथवा सेवन करने योग्य होता है इससे यह 'स्योन' है।

व्याख्या।

"प्राचीनं बर्हिः" मन्त्र में कुशा या डाभ के सम्बन्ध में बहुतसी विधिओं का अलगार्थ से स्पष्टीकरण होता है। यज्ञ में इसका बहुत उपयोग होता है। कर्म के आरम्भ से पहिले इसे वन में से काट कर लाना पड़ता है अतः उसके काटने या बिछाने का समय "अग्रेअन्हाम्" यह वाक्य पूर्वाह्ण (दिनका पहिला प्रहर) बताता है, और वहां कैसे काटे इसके लिये प्राचीनं बर्हिः वृज्यते" वाक्य बताता है कि- पूर्व की ओर मुख करके काटने वाला उसे पूर्व की ओर ही ऐसे २ काटता हुआ बढे जैसे २ वह पूर्वाग्र कट २ कर गिरे या उसे काट २ कर वैसे ही डाले जैसे पूर्वाग्र गिरे। जहां तक संभव हो उस कर्म में सब प्रकारपूर्व दिशाको उपयोग करें।

इसका दूसरा मूल "प्रागुदग्रा बर्हि छिनात्ति"

ब्राह्मण श्रुति (विधिवाक्य) है। इसी विधि का अनुवाद इस मन्त्र वाक्य में किया गया है।

ऐसे ही वेदी में कुशा बिछाई जाती है, उस पर सब हविः रखेजाते हैं, इस लिये जब वहां कुशा बिछावें तो कुशाओं के अग्र को पूर्व की ओर रखें और वेदी के पश्चिम भाग से बिछाना आरम्भ करके उसे पूर्व के भाग में पूराकरे। यह अर्थ भी "प्राचीनं बर्हिः वृज्यते" इस वाक्य से ही आता है। इसका दूसरा मूल वाक्य "प्राचीनं बर्हिः स्तृणाति" यह ब्राह्मण श्रुति (विधिवाक्य) है। प्रस्तरण यो फैलाने का मन्त्र "देवस्यत्वा" इत्यादि है।

कुशा क्यों फैलाई जाती हैं, इसका उत्तर भी अंशमात्र इस मन्त्र में ही "पृथिव्या वस्तोरस्याः" "पृथिवी के ढांपने के अर्थ' इस वाक्य से मिलजाता है। क्यों कि- देवता पृथिवी पर खड़े नहीं होते और न पृथिवी पर धरे हुए हवि ओं को वे ग्रहणकरते हैं, इसलिये वेदी पर कुशा बिछाई जाती हैं, और उन पर हविः रखे जाते हैं ॥ अथवा कुशाओं के फैलाने से पृथ्वी की नग्नता निवृत्त होजाती है। क्यों कि- पृथ्वी की नग्नता की अवस्था में देवता यज्ञ में न आवेंगे अतः पृथ्वी की नग्नता की निवृत्ति के लिये कुशा बिछाना बहुत आवश्यक है।

'द्वारः' (७) यह देवता का नाम वेग अर्थ में 'जु' (भ्वा० प०) धातु से है। अथवा गति अर्थ में 'द्रु' (भ्वा० प०) धातु से है। अथवा 'वारयति' (वृञ् धा० णिच०प्र०) वारण अर्थ में णिजन्त धातु से है। क्यों कि- द्वारों (दरवाजों) से ही

दौड़ना, गमने, तथा आरम्भ करने योग्यों का आरम्भ किया जाता है।

"तासामेषा०" उन द्वारों की यह ऋचा है-॥६(६)॥

(खं०७)

(निरु०) व्यचस्वतीरुर्विया विश्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः। देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः॥"[ऋ० सं० ८,६,८,५]

व्यञ्चनवत्यः उरुत्वेन विश्रयन्तां पतिभ्यो इव जायाः ऊरू मैथुनधर्मे शुशोभिषमाणाः वरतमम्-अङ्गम्॰ ऊरू, देव्यो द्वारो बृहत्यो महत्यो 'विश्वमिन्वाः' विश्वम् आभिः एति यज्ञे।

गृहद्वारः- इति कात्थक्यः।

अग्निः- इति शाकपूणिः।

'उषासानक्ता' उषाश्च नक्ता च।

'उषा' व्याख्याता।

'नक्ता' इति रात्रिनाम। अनक्ति भूतानि। अपि वा अव्यक्तवर्णा।

तयोः एषा भवति-॥७(१०)॥

अर्थः- "व्यचस्वतीः०" (याः) जो ये 'व्यचस्वती' (व्यञ्चनवत्यः) अनेक प्रकार आने जाने से युक्त हैं, वे (द्वारः) द्वार (दरवाजे) 'उर्विया' (महत्त्वेन) विस्तार से 'विश्रयन्ताम्' खुलजावें।

'जनयः–न॰ (जायाः-इव) जैसे स्त्रिएं 'पतिभ्यः' पतिओं के लिये शुम्भमानाः' (शुशोभिषमाणाः) अपनी शोभा बढाने की इच्छा करती हुई' (मैथुनधर्मे) मैथुन कर्म में (ऊरू, जांघों को फैला देती हैं। 'द्वारः!' 'देवीः!' (देव्य) हे द्वार् देविओ? (यूयम्) तुम 'देवेभ्यः' देवताओं के लिये 'बृहतीः' (बृहत्यः) बड़ी बड़ी 'विश्वमिन्वाः' सब संसार के आने जाने योग्य 'सुप्रायणाः' (सुप्रगमना) भले प्रकार आने जाने योग्य 'भवत' होजाओ।

'ऊरू' क्या ? 'वरतरम् अङ्गम्' बहुत उत्तम अङ्ग।

'विश्वमिन्वा' क्या ! 'विश्वम् आभिः एति यज्ञे' यज्ञ में इनके द्वारा सब संसार आता है॥

व्याख्या।

इस मन्त्र के द्वारा यजमान अपने यज्ञ के द्वारों को ऐसे खुले हुए चाहता है, जिनके द्वारा संसार के सब याचक आ कर उससे अपनी सब प्रार्थनाओं को पूरी करें। यज्ञ के अधिकारी की उदारता का स्वरूप इस मन्त्रसे भले प्रकार जाना जासकता है।

यहां 'द्वार्' क्या देवता है !

गृहद्वार् (घरके दरवाजे) हैं– यह कात्थक्य आचार्य मानते हैं।

अग्नि है– यह शाकपूणि आचार्य मानते हैं।

'उषासानक्ता' क्या ! उषा (प्रभात काल) और नक्ता [रात्रि]।

'नक्ता' यहरात्रि का नाम है। क्योंकि- अवश्याय (ओस) से सब पदार्थों को 'अनक्ति' गीले कर देती है। अथवा वह अव्यक्तवर्णा होने से 'नक्ता' है अर्थात् अंधेरे के कारण उस में

कोई वर्ण (रंग) प्रतीत नहीं होता । 'अव्यक्तवर्णा' शब्द में 'अ' के बदले में 'न' और 'क्त' ये दो अक्षर लेकर 'नक्ता' शब्द बना है । यहां ऐसे ही संक्षेप होते है ।

उन दोनों की यह ऋचा है—॥ ७(१०)॥

(खं० ८)

(निरु०) "आसुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्ता सदतां नियोनौ । दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मे अधिश्रियं शुक्रपिशं दधाने ॥" [ऋ० सं० ८, ६, ९, १]

सेष्मीयमाणे इति वा । सुष्वापयन्त्यौ इति वा ।

सीदताम्--इति वा । न्यासीदताम् इति वा ।

यज्ञिये उपक्रान्ते, दिव्ये योषणे बृहत्यौ महत्यौ सुरुक्मे सुरोचने । अधिदधाने शुक्रपेशसं श्रियम् ।

'शुक्रम्' शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः ।

'पेश' इति रूपनाम । पिंशतेः । विपिशितं भवति ।

'दैव्या होतारा' दैव्यौ होतारौ । अयं च अग्निः, असौ च मध्यमः ।

तयोः- एषा भवति ॥ ८ (११) ॥

अर्थ :—"आसुष्वयन्ती" 'सुष्वयन्ती' (सेष्मीयमाणे इति वा, सुष्वापयन्त्यौ इति वा) आपस में दोनों मुसकिराती

हुईं, अथवा जनों को बुलाती हुईं, 'यजते' (यजिजये) यज्ञ कराने वालीं, 'उपाके' (उपक्रान्ते) आपस में मिलकर प्रशंसा करने योग्य, या एक पर एक चढी हुईं 'दिव्ये' द्युलोक में उपजी हुईं, या चमकने वालीं, 'योषणे' स्त्री रूपिणी या आपस में मिली हुईं, 'बृहती' (बृहत्यौ) (महत्यौ) बड़ीं, 'सुरुक्मे' (सुरोचने) सुन्दर रुचने वाली 'शुक्रपेशसम्' शुक्ल कान्ति (गौरवर्ण) 'श्रि॰ यं' श्री (शोभा) को 'अधि-दधाने' अपने ऊपर धारण करती हुईं, 'योनौ' यज्ञ के स्थान में 'नि-आसदतां' (सीदताम् इति वा न्यासीदताम् इति वा) बैठें।

'शुक्र' ज्वलन अर्थ में 'शुच्' (भ्वा०प०) धातु से है।

'पेश' यह रूप का नाम है। कैसे ? 'पिश' (भ्वा०प०) धातु से है। क्योंकि–वह विपिशित होता है– जिस द्रव्य में वह रहता है, उसे व्याप कर भासता है। कोई कहते हैं, वह पराश्रित होने से दूसरे में रखा हुआ जैसा होता है।

'दैव्या होतारा' (६) (दैव्यौ होतारौ) देवताओं के होता हैं। कौन ? यह पृथिवी का अग्नि और वोह मध्यम लोक का अग्नि (विद्युत्)।

"तयो:०" उनकी यह ऋचा है—॥८(११)॥

(खं० ६)

[निरु०-] "दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा मि॰माना यज्ञं मनुषो यजध्यै। प्रचोदयन्ता विद॰थेषु कारू प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता ॥"
[ऋ०पं० ८,६,९,२] ॥

दैव्यौ होतारौ प्रथमौ सुवाचौ निर्मिमानौ यज्ञं मनुष्यस्य मनुष्यस्य यजनाय प्रचोदयमानौ यज्ञेषु कर्त्तारौ पूर्वस्यां दिशि यष्टव्यम्-इति प्रदिशन्तौ ॥

'तिस्रो देवीः' तिस्रो देव्यः ।

तासाम्-एषा भवति—॥९(१२)॥

अर्थः— 'दैव्या होतारा' (दैव्यौ होतारौ) देवताओं में होने वाले होता-देवतारूप होता वायु और अग्नि 'प्रथमा' (प्रथमौ) मनुष्य होता की अपेक्षा प्रथम हैं- पहिले हैं। 'सुवाचा' (सुवाचौ) सुन्दर वाणी वाले हैं। 'यज्ञम्' यज्ञ को 'मिमाना' (निर्मिमानौ) निर्माण करने वाले 'मनुष.' (मनुष्यस्य मनुष्यस्य) जने जने को 'यजध्यै' (यजनाय) यज्ञ के लिये 'प्रचोदयन्ता' (प्रचोदयमानौ) प्रेरणा करने वाले हैं। 'विदथेषु' (यज्ञेषु) यज्ञों में 'कारू' (कर्त्तारौ) करने वाले हैं। 'प्राचीनं (पूर्वस्यां दिशि) ज्योतिः' पूर्व दिशा में होने वाले आहवनीय अग्नि को 'प्रदिशा दिशन्ता' (यष्टव्यम्-इति प्रदिशन्तौ) मन्त्र से या विधिवाक्य के अनुसार यजन करना चाहिए-ऐसे आज्ञा करने वाले हैं । [जो ये दोनों अग्नि और वायु देवता इस प्रकार नित्य ही यज्ञ के उपकार में रहते हैं, वे मेरे लिये भी ऐसा ही वर्त्ताव करें ।]

'तिस्रोदेवीः' (१०) क्या ? (तिस्रो देव्यः) तीन देवियें।

"तासाम्०" इनकी यह ऋचा है ॥९(१२)॥

(खं १०)

(निरु०-) "आनो यज्ञं भारती तूयमेत्विला मनुष्वदिह चेतयन्ती । तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं स्योनं सरस्वती स्वपसः सदन्तु ॥" (ऋ०सं०८,६,९,३)

एतु नो यज्ञं भारती क्षिप्रम् ।

'भरतः' आदित्यः तस्य भा ।

इला च मनुष्यवत् इह चेतयमाना । तिस्रोदेव्यः बर्हिरिदं सुखं सरस्वती च सुकर्माणः आसीदन्तु ।

'त्वष्टा' तूर्णम्-अश्नुते इति नैरुक्ताः । त्विषेर्वा स्यात् दीप्तिकर्मणः । त्वक्षते र्वा स्यात् करोति-कर्मणः ॥

तस्य-एषा भवति—॥१०(१३)॥

अर्थः-"आनो यज्ञं०" 'भारती' (भरतः आदित्यः तस्य भा) भरत नाम जो सूर्य उसकी 'भा' दीप्ति (द्युलोक की देवी) 'नः' हमारे 'यज्ञम्' यज्ञ को 'तूयम्' (क्षिप्रम्) शीघ्र 'आ-एतु' (एतु) आवे । 'इला' (च) और इला (पृथिवी लोक की देवी) 'मनुष्वत्' (मनुष्यवत्) मनुष्य के समान 'चेतयन्ती' चेतती हुई [जैसे मनुष्य न्योता हुआ भोजन करने को शीघ्र आता है] 'इह' हमारे इस यज्ञ में आवे । 'सरस्वती' (च) और सरस्वती (मध्यम लोक की देवी) आवे । (ताः एताः) वे ये स्वपसः' (सुकर्माणः) उत्तम कर्म वाली 'तिस्रोदेवीः' (तिस्रो देव्यः) तीनों देवियें 'इदम्' इस 'बर्हिः'

कुश पर 'स्योनम्' (सुखम्) सुखपूर्वक 'आ-सदन्तु' (आसीदन्तु) बैठें ॥

'त्वष्टा' (११) क्यों ? वह तूर्ण (शीघ्र) अशन (व्यापन) करता है- ऐसा निरुक्त के आचार्य मानते हैं। अथवा दीप्ति अर्थ में 'त्विष्' [भ्वा०प०] धातु से है। अथवा 'करोति' के अर्थ में 'त्वक्ष' [भ्वा०प०] धातु से है।

"तस्य०" उसकी यह ऋचा है-॥१०[१३]॥

[खं० ११]

निरु०-] "य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिंशद्भुवनानि विश्वा। तमद्य होतरिषितो यजीयान्देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान् ॥" (ऋ० सं० ८, ६, ९, ४)

यः इमे द्यावापृथिव्यौ जनयित्र्यौ रूपैः अकरोत् भूतानि च सर्वाणि तम् अद्य होतः! इषितः यजीयान् देवं त्वष्टारम् इह यज विद्वान् ।

माध्यमिकः त्वष्टा-इत्याहुः । मध्यमे च स्थाने समाम्नातः ।

'अग्निः'—इति शाकपूणिः ।

तस्य एषा अपरा भवति ॥११[१४]॥

अर्थः- यः (त्वष्टा) जिस त्वष्टा देवने 'इमे' इन 'जनित्री' (जनयित्र्यौ) सब जगत् की जनने वाली 'द्यावापृथिवी' (द्यावापृथिव्यौ) द्युलोक पृथिवी लोकों को 'रूपैः' नाना प्रकारों से

'अपिंशत्'(अकरोत्)किया था,और'विश्वा' (सर्वाणि)सब 'भूतानि च' भूतों को किया था, हेहोतः'(त्वम्) तू 'इषितः' इच्छावान् 'यजीयान्' बड़ा यज्ञ करने वाला 'विद्वान्' जानने वाला 'इह' इस यज्ञ कर्म में 'तम्' उस 'त्वष्टार देवम्' त्वष्टा देवको 'यक्षि' (यज) यजन कर।

यह त्वष्टा देव मध्यम लोक का है, ऐसा कोई नैरुक्त आचार्य मानते हैं। क्यों कि- मध्यम स्थान में उसका समाम्नान हुआ है;

यही 'अग्नि' त्वष्टा देवहै, यह शाकपूणि आचार्य मानते हैं।

"तस्य०" उसकी यह और ऋचा है-॥११ (१४)॥

व्याख्या।

"य इमे०" यह मन्त्र 'त्वष्टा' देवता केलिये निगम दिया है, किन्तु इसमें अभी यह निर्णय नहीं हुआ कि- यह देवता कौन से लोक का है ? पृथिवी लोक का है ? या मध्यम लोक का है ?

सन्देह क्यों हुआ, यह 'त्वष्टा' पद पृथिवी स्थान के देवताओं के नामों मे [निघ० अ० ५ खं० २ प० ११) और मध्यम स्थान के देवताओं के नामों में[निघ०अ०५खं०४प०२१] भी पढा है, इसीसे उक्त सन्देह हुआ।

कई नैरुक्त आचार्य मानते हैं कि- यह मध्यम लोक का देवता है और उस में तीन हेतु देते हैं--

१- मध्यम स्थान देवताओं में त्वष्टा नाम का पाठ।

२- मन्त्र- व्यपदेश या मन्त्र का अर्थ— मनुष्य होता कहता है कि- 'हे होत' तू द्यावापृथिवी और भूतों के

रखने वाले त्वष्टा का यजन कर। यहां मनुष्य होता जिस दिव्य होता से त्वष्टा के यजन की प्रार्थना करता है, उसमें मनुष्य होता से पृथक् देव होता और उनसे पृथक् त्वष्टा यजनीय देव सिद्ध होता है। प्रयोजन यह कि देव होता पार्थिव अग्नि ही है, और उसका यजनीय उससे भिन्न त्वष्टा देवता मध्यम लोक का ज्योति ही होसकता है।

३– ऐतिहासिकों का मत - वे कहते हैं कि–त्वष्टा– सब शिल्पिओं का आचार्य देववर्धकि = देवताओं का खाती (बढ़ई) दाक्षायणी का पुत्र, बारह (१२) आदित्यों में से एक आदित्य है।

शाकपूणि आचार्य कहते हैं कि यही पार्थिव अग्नि त्वष्टा है। वे इन बातों का उत्तर इस प्रकार देते हैं–

१– मध्यम स्थान में त्वष्टा का नाम है, यह उसके मध्यम होने में हेतु नहीं होसकता, क्यों कि अग्नि का भी नाम मध्यम लोक के देवताओं में [अ०५खं०४प०२३] है।

२– मन्त्र का अर्थ भी हेतु नहीं। क्यों कि– दूसरा मन्त्र "त्वष्टा दधादिन्द्राय शुष्मम्" 'इन्द्र के लिये शुष्म को धारण करता हुआ त्वष्टा' यहां इन्द्र (मध्यम लोक के देव) से पृथक् त्वष्टा कहागया है। इसके अतिरिक्त एक ही देवता में अनेक देवता के कार्य भी मन्त्रों में देखे जाते हैं जैसे कि— "अग्निं मग्न आवह" 'हे अग्ने ! तू अग्नि को ला' यहां वही बुलाने वाला औरउसी के द्वारा वह बुलाया जाने वाला भी है। क्यों कि– पार्थिव अग्नि से अन्य अग्नि कोई सूक्त का भजन करने वाला या हविः का भजन करने वाला नहीं

है, जिससे वह बुलोया जाता तथा यजन किया जाता । और स्विष्टकृत् मन्त्र में "स्वं महिमानमावह" 'तू अपनी महिमा को धारण कर' यहा स्पष्ट प्रतीत होता है, वह विधि के अधीन आह्वान से अपने आत्मा का संस्कार करके दो, तीन या अनेक होजाता है, उसी प्रकार यहाँ भी अग्नि होता ही अपने दूसरे रूप से त्वष्टा कहा गया है ।

३ ऐतिहासिकों के मतका समाधान भी यही है कि–अग्नि के ही वैसे गुण वर्णन करने के अर्थ उसे ऐसा कहागया है । ये शाकपूणि के मत के साधन और समाधान हैं यही सिद्धान्त भी है, इसी से आगे ऋचा भी देते हैं, जिस में त्वष्टा के अग्नि होने का विस्पष्ट लिङ्ग है [जो दूसरे में नहीं घटताहै] । ॥ ११ (१४) ॥

(खं० १२)

निरु०-) "आविष्ट्यो वर्द्धते चारुरासु जिह्मानामूर्ध्वः स्वयशा उपस्थे । उभे त्वष्टुर्बिभ्यतुर्जायमानात्प्रतीची सिंहं प्रति जोषयेते ॥" (ऋ० सं० १,७,१,५) ॥

'आविः' आवेदनात् । तस्यः(आविष्ट्यः) वर्द्धते चारुः आसु ।

'चारु' चरतेः ।

'जिह्मं' जिहीतेः ।

'ऊर्ध्वः' उच्छ्रितो भवति ।

'स्वयशाः' आत्मयशाः ।
'उपस्थे' उपस्थाने ।
"उभे त्वष्टु र्बिभ्यतुर्जायमानात्प्रतीची सिंहं प्रति जोषयेते"
द्यावापृथिव्यौ- इति वा । अहोरात्रे इति वा । अरणी इति वा । प्रत्यक्ते 'सिंहं' सहनं प्रत्यासेवेते ॥१२(१५) ॥

इति अष्टमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥८,२ ॥

अर्थः- "आविष्ट्यो०" 'आविष्ट्यः' प्रकाश का विस्तार करने वाला 'चारुः' चलने वाला [कभी स्थिर नहीं होता] 'जिह्मानाम्' टेढ़े काष्ठों या मनुष्योंके लिये भी 'ऊर्ध्वः' सदा ऊपर की ओर जलने वाला 'उपस्थे' (उपस्थाने) उपस्थान में = स्तुति में 'स्वयशाः' (आत्मयशाः) अपने यश को धारण करने वाला किन्तु दूसरे में आश्रित होकर यश वाला नहीं [ऐसा त्वष्टा = अग्नि] 'आसु' [क्रियासु] इन क्रियाओं में 'वर्द्धते' बढता है । 'उभे' दोनों ही 'जायमानात्' (एव) उत्पन्न होते ही हुए 'त्वष्टुः' त्वष्टा अग्नि देव से 'बिभ्यतुः' डरीं । 'प्रतीची' (प्रत्यक्ते) इस के प्रति अभिमुख गई हुईं 'सिंहं-प्रति' सहन के प्रति (सहने को) 'जोषयेते' (प्रत्यासेवेते) सेवा करती हैं ॥

'आविष्ट्यः' क्या ? 'आविः' नाम प्रकाश, क्यों ? आवेदन (ज्ञान देने) से, और 'त्य' उसका फैलाने वाला [प्रकाश का फैलाने वाला] 'आविष्ट्य' है ।

'चारु' कैसे ? गति अर्थ में 'चर' (भ्वा०प०) धातु से। क्योंकि- वह चलता ही रहता है, कभी स्थिर (अचल) नहीं होता।

'जिह्म' कैसे ? गति अर्थ में 'हा' (जु० आ०) धातु से। क्योंकि-वह कुटिल (टेढा) होने से किसी से मिलता नहीं, अलग ही चला जाता है।

'ऊर्ध्व' क्या ? उच्छ्रित = ऊंचा होना है।

'स्वयशा' क्या ? आत्मयशाः = अपने यश वाला।

'उपस्थ' उपस्थान होता है।

'उभे' (दो) कौन? (क) द्यावा-पृथिवी। (ख) अहोरात्र = दिन और रात्रि। (ग) अथवा अरणि। क्यों ? उक्त तीनों ही थोक उससे डरते हैं कि-यह (अग्नि) बढ़ता हुआ हमें जला देगा। इसी से ये सब यथापक्ष उसकी सेवा करते हैं॥१२(१५)॥

इति हिन्दीनिरुक्ते अष्टमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥८,२॥

तृतीयः पादः ॥

(खं० १)

निरु०-'वनस्पतिः' व्याख्यातः। तस्य-एषा भवति- ॥ १ (१६) ॥

अर्थः-वनस्पति (१२) देवतानाम (अ०८पा०१खं०१ में) व्याख्यान किया जाचुका है। "एष हि वनानां पाता वा पालयिता वा" अर्थात्- यह वनों का पालन करने वाला है।

उसकी यह ऋचा है—॥ १ (१६) ॥

(खं० २)

(निरु०-) "उपावसृजत्मन्या समञ्जन्देवानां पाथ ऋतुथा हवींषि । वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन॥" (ऋ०सं०८,६,९,५)

उपावसृज, आत्मना आत्मानं समञ्जन्, देवानामअन्नम्, ऋतौ ऋतौ हवींषि काले काले। वनस्पतिः, शमिता, देवः-अग्निः-इत्येते त्रयः स्वदयन्तु हव्यं मधुना च घृतेन च।

तत को वनस्पतिः? यूपः-इति कात्थक्यः। अग्निः-इति शाकपूणिः।

तस्य एषा अपरा भवति ॥२(१७)॥

अर्थ-"उपावसृज०" हे देव! (त्वम्) तू (एतत्) इस 'देवानाम्' देवताओं के 'पाथः' अन्न को 'हवींषि' और घृत आदि हविओं को 'ऋतुथा' (ऋतौ-ऋतौ = काले काले) ऋतु ऋतु पर या समय समय में 'त्मन्या' (आत्मना आत्मानम्) आत्मा से आत्मा को 'समञ्जन्' संस्कार विशेष से प्रकट करता हुआ अथवा सचिक्कण = चिकना करता हुआ 'उप' (आश्लिष्य) उसके साथ लग कर 'अवसृज' रच या बना। 'वनस्पतिः' वनस्पति, 'शमिता' शमिता और 'अग्निः देवः' अग्नि देव (इति एते त्रयः) ये तीनों देवता 'मधुना' मधु से 'घृतेन'-(च) और घृत से 'हव्यम्' हविः को स्वदन्तु (स्वदयन्तु) स्वादु बनावें।

"तत्०" सो कौन वनस्पति है ?

यूप = यज्ञ का खम्भा, यह कात्थक्य कहते हैं।

अग्नि है, यह शाकपूणि मानते हैं।

उसकी यह दूसरी ऋचा है ॥ २ (१७) ॥

(खं० ३)

(निरु०-) "अञ्जन्ति त्वा मध्वरे देवयन्तो वनस्पते मधुना दैव्येन । यदूर्ध्वस्तिष्ठा द्रविणेह धत्ताद्यद्वाक्षयो मातुरस्या उपस्थे ॥" [ऋ० सं० ३, ३, १, १]

अञ्जन्ति त्वाम् अध्वरे देवान् कामयमाना वनस्पते मधुना दैव्येन च घृतेन च। यद् ऊर्ध्वः स्थास्यसि द्रविणानि च नो दास्यसि। यद्वा ते कृतः क्षयः, मातुःअस्या उपस्थे उपस्थाने।

अग्निः- इति शाकपूणिः।

तस्य एषा अपरा भवति-॥३(१८)

अर्थः-"अञ्जन्ति०" इसका विश्वामित्र ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और यूप देवता तथा यूप के घृत से अञ्जन या चुपड़ने में विनियोग है, यह ऋचा पुरोरुक् तथा अनुवाक्य संज्ञक है। यूप पक्ष में निगम है॥

हे यूप! हे 'वनस्पते!' 'त्वाम्' तुझे 'अध्वरे' यज्ञ में 'देवयन्तः' (देवान् यष्टुं कामयमानाः) देवताओं को यजन करने की इच्छा करते हुए ऋत्विज् और यजमान 'दैव्येन' संस्कार

किये हुये 'मधुना' (घृतेन) घृत से अथवा मधु से और घृत से 'अञ्जन्ति' चुपड़ते हैं। क्यों ? 'यत्' जिस से कि—'ऊर्ध्वः' ऊपर को उठा हुआ (ऊभा) 'तिष्ठाः' (स्थास्यसि) खड़ा होगा—अञ्जन (चुपड़ने) के पश्चात् तुझे सीधा खड़ा करेंगे। और 'यद्वा' अथवा 'अस्याः' इस 'मातुः' माता = पृथिवी के 'उपस्थे' (उपस्थाने) ऊपर 'ते' तेरा 'क्षयः' स्थान (गड्ढा) (कृतः) किया गया है। [इस कारण तू अवश्य ऊभो खड़ा होगा। और खड़ा होकर प्रधान कर्म के अपूर्व (अदृष्ट) के अङ्ग को साधन करके उसके द्वारा (नः) हमें 'इह' इस लोक में 'द्रविणा' (द्रविणानि) धनों को 'धत्तात्' (दास्यसि) देगा] ॥

'वनस्पति' अग्नि है, यह शाकपूणि कहते हैं।

"तस्य०" उसकी यह और तीसरी ऋचा है ॥३(१८)॥

(खं०४)

(निघ०-) "देवेभ्यो वनस्पते हवींषि हिरण्यपर्ण प्रदिवस्ते अर्थम्। प्रदक्षिणिद्रशनया नियूय ऋतस्य वक्षि पथिभीरजिष्ठैः ॥" ( ) ॥

देवेभ्यो वनस्पते! हवींषि हिरण्यपर्ण! ऋतपर्ण! अपिवा उपमार्थे स्यात् हिरण्यवर्णपर्ण! इति। "प्रदिवस्ते अर्थम्" पुराणः तेसः अर्थः, यं ते प्रब्रूमः। यज्ञस्य वह पथिभिः 'रजिष्ठैः' ऋजुतमैः, रजस्वलतमैः, प्रपिष्टतमैः इतिवा ॥

तस्य एषा अपरा भवति- ॥४(१९)॥

अर्थः- "देवेभ्यो वनस्पते०" इस ऋचा का वसिष्ठ ऋषि और पुरोरुक् संज्ञा है।

हे 'वनस्पते!' अग्नि देव! 'हिरण्यपर्णा!' (ऋतपर्णा!) यज्ञरूप वृक्ष के पत्र (पान) रूप! [अपिवा उपमार्थेस्यात्] अथवा उपमा अर्थ में होसकता है- (हिरण्यवर्णपर्णा! इति) हिरण्य = सुवर्ण रंग के पत्ते वाले! जलते हुए! देव! 'देवेभ्यः' देवताओं के लिये 'हवींषि' हविओं को 'वक्षि' (वह) लेजा। कैसे? 'प्रदक्षिणित्' प्रदक्षिण मार्ग से- देवताओं के हविः ले-जाने के पथ से- पितरों के मार्ग से भिन्न मार्ग के द्वारा। कैसे लेजाना? 'रशनया' रस्सी से 'नियूय' भले प्रकार बांधकर जिस प्रकार कि- धूम धुंवासे में न सम्हाला गया हविः कुछ भी नगिरे कैसे मार्गों से! 'ऋतस्य (यज्ञस्य) यज्ञ के 'रजिष्ठैः' (ऋजुतमैः) बहुत सीधे 'पथिभिः' मार्गों से-यज्ञ के उनमार्गों से जो देवताओं के प्रति सीधे से भी सीधे मार्ग हैं, जिन के द्वारा कोल बहुत न लगे उन मार्गों से, अथवा (रजस्वलतमैः) जल युक्त मार्गों से [क्यों कि- वे पथिकों के लिये सुखकारी होते हैं] अथवा (प्रपिष्टतमैः) बड़े सुरूप अन्धकार से रहित = जिनमें किसी प्रकार का मोह नहो, ऐसेमार्गों से। "प्रदिवःते-अर्थम्" (पुराणः ते सः अर्थः) वह पुराना तुम्हारा अर्थ है, (यं ते प्रब्रूमः) जिसको तुम्हारे लिये हम कहरहे हैं(किन्तु तुम्हारे अदिदित कर्म में तुम्हें नहीं लगाते हैं] ॥ इस प्रकार यहां हविर्वहन = हविके लेजाने के संयोग से 'वनस्पति' शब्द का अग्नि अभिधेय = अर्थ है।

इस वनस्पति = अग्नि की यह और चौथी ऋचा है-
॥ ४ (१६) ॥

(खं० ५)

(निघ०) "वनस्पते रशनया नियूय पिष्टतमया वयुनानि विद्वान् । वहा देवत्रा दिधिषो हवींषि प्र च दातारममृतेषु वोचः ॥" ( )॥

"वनस्पते रशनया नियूय" सुरूपतमया, "वयुनानि विद्वान्" प्रज्ञानानि प्रजानन्, वह देवान् यज्ञे दातुः- हवींषि, प्रब्रूहि च दातारम्-'अमृतेषु' देवेषु ॥

'स्वाहाकृतयः' 'स्वाहा'- इत्येतत् 'सु' 'आह'- इति वा । 'स्वा' वाग् 'आह'- इतिवा । 'स्वंप्राह'- इति वा । 'स्वाहुतं हविर्जुहोति- इतिवा ।

तासाम् एषा भवति—॥ ५[२०]॥

अर्थः— "वनस्पते" यह ऋचा वनस्पति देवता की ही व्याख्या है ।

हे 'वनस्पते', 'पिष्टतमया' (सुरूपतमया) बहुत सुरूप 'रशनया' रस्सी से 'हवींषि' हवियों को 'नियूय' बांधकर 'वयुनानि' (प्रज्ञानानि) अपने अधिकार-युक्त प्रज्ञानों (विद्याओं) का 'विद्वान्' (प्रजानन्) जानता हुआ 'दिधिषो' (दिधिषोः = दातुः) देने वाले यजमान के (हवियों को) 'देवत्रा' (देवान्) देवताओं के प्रति 'वह' लेजा । 'दातारं' च' (यज्ञे) और

यज्ञ में दाता को 'अमृतेषु' (देवेषु) देवताओं में 'प्रवोचः' (हवींषि प्रब्रूहि) कहो कि– उस यजमान ने ये हवि दिये हैं॥ इस प्रकार यहां अग्नि वनस्पति है।

'स्वाहाकृतयः' (१३) यह देवता पद है। इसमें 'स्वाहा' क्या है? 'स्वाहा' यह 'सु- आह' (सुन्दर कहता है) इन दों पदों के योग से है। अथवा 'स्वा वाग् आह' (अपनी वाणी कहती है) इनतीनपदों का संक्षेप है। अथवा 'स्वंप्राह' [अपने को कहता है] इन तीन पदों का संक्षेप है। अथवा 'स्वाहुतं हविर्जुहोति (सुन्दर होम करने योग्य हविः को होम करता है) इस वाक्य का संक्षेप [कम किया हुआ] शब्द है।

"तासा०" उनकी यह ऋचा है-॥ ५ [२०]॥

(खं०६)

(निरु०) "सद्यो जातो व्यमिमीत यज्ञमग्नि-र्देवानामभवत्पुरोगाः। अस्य होतुः प्रदिश्यृतस्य वाचि स्वाहा कृतं हविरदन्तु देवाः॥" (ऋ०सं० ८,६,१,६)

सद्यो जायमानो निरमिमीत यज्ञम्, अग्निः देवानाम् अभवत् पुरोगामी, "अस्य होतुः प्रदिशि ऋतस्य" 'वाचि' आस्ये "स्वाहाकृतं हविः– अदन्तु देवाः॥"

इति–इमा आप्रीदेवता अनुक्रान्ताः॥

अथ किं देवताः प्रयाजानुयाजाः ?

(क) आग्नेयाः-इत्येके ॥६(२१)॥

अर्थः- "सद्योजातः०" (यः अयम्) जो यह 'अग्निः' अग्नि 'सद्यः' तत्काल 'जातः' (जायमानः) उत्पन्न होता हुआ ही 'यज्ञम्' यज्ञ को 'व्यमिमीत' (निरमिमीत) निर्वर्तन करता है-सिद्ध करता है। और जो उत्पन्न होता ही 'देवानाम्' देवताओं का 'पुरोगाः' (पुरोगामी) आगे चलने वाला (प्रधानता के कारण) 'अभवत्' हुआ या होता है। 'अस्य' इस 'होतुः' देवताओं के बुलाने वाले 'प्रदिशि' (प्राच्यां दिशि पूर्व दिशा में (-उत्तर वेदि आदि में) 'ऋतस्य' (गतस्य) गए हुए अग्नि के 'वाचि' (आस्ये) मुख में 'स्वाहाकृतम्' स्वाहाकार मन्त्र से डाले हुए 'हविः' हविः को 'देवाः' देवता 'अदन्तु' खावें ॥

"इति इमाः" ये आप्रीदेवता अनुक्रमण किये गए— 'इध्म' से आरम्भ करके 'स्वाहाकृति' तक क्रम पूर्वक आप्री देवता कहे गए ॥

"अथ किं०" अब यह विचार चलता है-कि-प्रयाज और अनुयाज होमों का कौन देवता है ?

"आग्नेयाः" कोई आचार्य मानते हैं कि इनका अग्नि देवता है- ॥६(२१)॥

[खं० ७]

(निघ०-) "प्रयाजान्मे अनुयाजांश्च केवलानूर्जस्वन्तं हविषो दत्तभागम्। घृतं चापां पुरुषं चौषधीनामग्नेश्च दीर्घमायुरस्तु देवाः॥" (८,१,११,३)

"तव प्रयाजा अनुयाजाश्च केवल ऊर्जस्वन्तो हविषः सन्तु भागाः। तवाग्ने यज्ञोऽयमस्तु सर्वस्तुभ्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रः॥" (ऋ० सं० ८, १, ११, ३)

"आग्नेया वै प्रयाजा आग्नेया अनुयाजाः" इति च ब्राह्मणम्।

(ख) छन्दोदेवताः—इत्यपरम्। "छन्दांसि वै प्रयाजाश्छन्दांस्यनुयाजाः" इति च ब्राह्मणम्।

(ग) ऋतुदेवताः- इत्यपरम्। "ऋतवो वै प्रयाजा ऋतवोऽनुयाजाः–" इति च ब्राह्मणम्॥

(घ) पशुदेवताः—इत्यपरम्। "पशवो वै प्रयाजाः पशवोऽनुयाजाः"- इति च ब्राह्मणम्।

(ङ) प्राणदेवताः—इत्यपरम्। "प्राणा वै प्रयाजाः प्राणा वा अनुयाजाः" इति च ब्राह्मणम्।

(च) आत्मदेवताः- इत्यपरम्। "आत्मा वै प्रयाजाः आत्मा वा अनुयाजाः" इति च ब्राह्मणम्।

आग्नेयाः- इति तु स्थितिः।

भक्तिमात्रमितरत्॥

किमर्थं पुनरिदमुच्यते?

"यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात् तां मनसा

ध्यायेत् वषट् करिष्यन्”-इति ह विज्ञायते ।

इति इमानि एकादश आप्रीसूक्तानि । तेषां-वासिष्ठम्, आत्रेयं, वाध्र्यश्वं, गार्त्समदम्, इति नाराशंसवन्ति । मैधातिथं, दैर्घतमसं, प्रैषिकम्, इति उभयवन्ति । अतोऽन्यानि तनूनपात्वन्ति तनूनपात्वन्ति ॥७(२२)॥

इति अष्टमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥८,३

अर्थः- प्रयाज और अनुयाजों के मत भेद से भिन्न २ प्रकार के देवता हैं, उन्हीं को क्रमपूर्वक दिखाते हैं, तहाँ पहिले कोई आचार्यों का मत है कि-प्रयाज और अनुयाज अग्नि देव के हैं-उनका अग्नि देवता है । क्योंकि-

“आग्नेया वै प्रयाजा आग्नेया अनुयाजाः”

अर्थात्- प्रयाजों का अग्नि देवता अनुयाजों का अग्नि देवता है । यह ब्राह्मण प्रमाण है ।

इसके अतिरिक्त दो ऋचाएं और नीचे दी जाती हैं, जिनमें सौचीक अग्नि और विश्वेदेवों के संवाद से यही बात सिद्ध होती है ।

सौचीक अग्नि से विश्वे देवों ने कहा कि- ‘आ हमारे हविः ला’ उसने उनसे कहा कि-‘मेरा यज्ञ में भाग हो’ फिर उन्हों ने उससे कहा कि-वर मांग, इस के अनन्तर वह सौचीक अग्नि विश्वेदेवों से इस ऋचा से वर लेता है-

“प्रयाजान्मे०” ‘देवा !’ हे विश्वे देवो ! ‘मे’ मुझे ‘केवलान्’ निराले (दूसरे देवता के सम्बन्ध से रहित) प्रयाज

होमों को 'दत्त' तुम दो । 'अनुयाजान्-च' और अनुयाज होमों को दो । 'ऊर्जस्वन्तम्' सारभूत 'हविषः' हवि के 'भागम्' भाग को दो । 'अपां (सारं) घृतं च' और जलों के सारभूत घृत को दो । 'ओषधीनां पुरुषं-च' और ओषधियों के सार पुरोडाश को दो । 'अग्नेः-च' (मम) और मुझ अग्नि का 'दीर्घम्' बड़ा 'आयुः' आयु 'अस्तु' हो [किन्तु जिस प्रकार मेरे पहिले भाई हविः को वहन करते हुए-देवताओं के अर्थ हविः को ढोते हुए वषट्कार मन्त्र से छिन्न होकर मर गए, वैसे मैं न मरूं] ॥ इसके उत्तर में विश्वे देवताओं ने उसे इस दूसरी ऋचा से वर दिये हैं -

"तव प्रयाजाः०" हे 'अग्ने !' अग्निदेव ! 'तव प्रयाजाः सन्तु' तेरे प्रयाज हों, 'अनुयाजाश्च केवलाः' और निराले अनुयाज हों, 'ऊर्जस्वन्तः हविषः भागाः सन्तु' और सारभूत हविः के भाग हों, हे अग्ने ! और क्या ? 'अयम् सर्वः यज्ञः तव अस्तु' यह सारा यज्ञ तेरा हो, 'चतस्रः प्रदिशः तुभ्यं नमन्ताम्' चारों दिशाएं तेरे लिये झुकें, [जो कुछ तू चाहता है, सब तुझे प्राप्त हो] इस प्रकार उपर्युक्त ब्राह्मण और ऋचाओं के अक्षरार्थ से यह स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि-प्रयाज और अनुयाज अग्नि देवता के हैं ॥

(ख) छन्द देवताओं के हैं, ऐसा और मत है ।क्यों कि-"छन्दांसि०" अर्थात्- छन्द प्रयाज हैं और छन्द अनुयाज हैं, यह ब्राह्मण वाक्य है ।

(ग) ऋतु देवताओं के हैं, यह और मत है । क्यों कि-"ऋतवो वै०" अर्थात्- ऋतु प्रयाज हैं और ऋतु अनुयाज हैं, यह ब्राह्मण वाक्य है ।

(घ) पशु देवताओं के हैं, यह और मत है। क्यों कि–"पशवोवै०" अर्थात्– पशु प्रयाज हैं और पशु अनुयाज हैं, यह ब्राह्मण वाक्य है।

(ङ) प्राण देवताओं के हैं, यह और मत है। क्यों कि–"प्राणावै०" अर्थात्– प्राण प्रयाज हैं और प्राण अनुयाज हैं, यह ब्राह्मण वाक्य है।

(च) आत्मा देवता के हैं, यह और मत है। क्यों कि–"आत्मावै" आत्मा प्रयाज हैं और आत्मा अनुयाज हैं, यह ब्राह्मण वाक्य है।

प्रयाज और अनुयाजों का अग्नि ही देवता है, यह स्थिति = सिद्धान्त है।

और सब भागमात्र– अंशमात्र–गौण है। क्यों फिर यह कहाजाता है!

"यस्यै०" 'जिस देवता के अर्थ हविः ग्रहण किया हुआ हो, वषट् कार करने वाला होता ऋत्विज् उसको देवतामनसे ध्यान करे यह ब्राह्मण ग्रन्थ में जाना जाता है।

ये ग्यारह आप्री सूक्त हैं। इन में 'वासिष्ठ = वसिष्ठ का आत्रेय = अत्रिका, वाध्र्यश्व = वध्र्यश्व का, गार्त्समद = गृत्समद का, ये चार सूक्त नाराशंस वाले होते हैं। मैधातिथ = मेधातिथि का दैर्घतमस = दीर्घतमा का और प्रैषिक = प्रैष ग्रन्थ का सूक्त ये तीन उभयवान् = नराशंस और तनूनपात् दोनो देवताओंवाले होते हैं। इनसे अन्य तनूनपात् देवता वाले हैं = ७(२२)॥

इति हिन्दीनिरुक्ते अष्टमाध्यायस्य तृतीयः पादः॥ ८,३॥

व्याख्या।

द्वितीय और तृतीयपाद।

आप्री देवताः।

इस अध्याय के इन अवशिष्ट दो पादों में आप्री देवताओं की ही भाष्यकारने व्याख्या पूरी की है। इध्मः (१) तनूनपात् (३) नराशंसः (४) ईलः (५) बर्हिः (६) द्वारः (७) उषासानक्ता (८) दैव्याहोतारा (९) तिस्रो देवीः (१०) त्वष्टा [११] वनस्पतिः (१२) स्वाहाकृतयः (१३) इन बारह देवताओं की आप्रीसंज्ञा है। इसके अतिरिक्त इन देवताओं की जो ऋचाएं हैं, उनको भी 'आप्री' नाम से बोधित करते हैं। जैसे कि- "आप्रीभिराप्रीणाति" (ऐ० ब्रा० अ० ६ खं०४) इस ऐतरेय श्रुति में 'आप्री' शब्द इन देवताओं की ऋचाओं के लिये ही आया है। इन आप्री देवताओं को प्रयाज देवता भी कहते हैं। क्यों कि- ये ही देवता प्रायः यज्ञों में प्रयाज होमों के देवता होते हैं। ऋग्वेद की मन्त्र संहिता में जहां इनके मन्त्र आते हैं तो वे प्रायः एक साथ तथा यथोक्त क्रम से ही आते हैं। इनकी स्तुतिओं के मन्त्र समूह आप्रीसूक्त कहलाते हैं तथा मन्त्र संहिता में वे दश स्थानों में आते हैं, अथवा यों समझिये कि इन देवताओं के ऋग्वेद की मन्त्र संहिता में दश (१०) सूक्त (आप्रीसूक्त) हैं, जिस क्रम से निघण्टु में इनके इध्म आदि नाम पढे हैं, उसी क्रम से इनके मन्त्र भी दशों स्थानों में आते हैं, यह नहीं कि- वे ही मन्त्र फिर २ आते हैं, बलकि— यों कहिये कि- वे सब भिन्न २ प्रकार के हैं और भिन्न २

ही ऋषि उनके द्रष्टा या साक्षात्कर्ता हैं। हां इन सूक्तों में तनूनपात् और नराशंस देवताओं को लेकर तीन भेद होगये हैं। जैसे किसी ऋषिको तनूनपात् देवता का ही मन्त्र दिखाई दिया, किन्तु नराशंस देवता का नहीं, सुतराम् उसको ग्यारह (११) ही ऋचाओं का सूक्त दिखाई दिया और वह नराशंस रहित है। एवम् किसी ऋषि को आप्री देवताओं के अन्य मन्त्रों के साथ नराशंस देवता का ही मन्त्र दृष्टिगोचर हुआ, किन्तु तनूनपात् का नहीं। वह सूक्त तनूनपात् रहित ग्यारह (११) ऋचाओं का है। और इसी प्रकार किसी ऋषि को दोनों ही तनूनपात् तथा नराशंस देवताओं के मन्त्र दिखाई दिये, अतः वह सूक्त बारह ऋचाओं का है। इस प्रकार इन सूक्तों में तीन भेद होगये। अर्थात्- (१) कोई तनूनपात् वाले हैं [२] कोई नराशंस वाले हैं और (३) कोई तनूनपात् तथा नराशंस दोनों देवताओं वाले हैं।

यह पहिले कहा जाचुका है कि- ऋग्वेद मन्त्र संहिता में दश स्थानों में दश आप्रीसूक्त आये हैं, इनके अतिरिक्त इनका एक ग्यारहवां प्रैषसूक्त और है, जो उक्त मन्त्र संहिता के परिशिष्ट के प्रैषाध्याय में पठित है। यह सूक्त १३ मन्त्रों का है और वह प्रयाज प्रैष नामसे प्रसिद्ध है। इस सूक्त में १२वां मन्त्र इन्द्र देवता का है, जो आप्री देवताओं से पृथक् है। इसी प्रकार मन्त्र संहिता में भी दूसरा आप्रीसूक्त १३ ऋचाओं का है और उसमें भी १३ वीं ऋचा इन्द्र देवता की ही है, तथा वह आप्री देवता भी नहीं है। इस रीति से सब मिला कर ग्यारह (११) आप्री सूक्त हैं। अतएव भगवान् यास्क इस पूर्वोक्त अर्थसमूह को संक्षेप से यों कहते हैं—

"इति- इमानि- एकादश- आप्रीसूक्तानि। तेषां वासिष्ठम्, आत्रेयं, वाध्र्यश्वं, गार्त्समदम्- इति नाराशंसवन्ति। मैधातिथं, दैर्घतमसं, प्रैषिकम्- इति- उभयवन्ति। अतोऽन्यानि तनूनपात्वन्ति तनूनपात्वन्ति" (नि० अ० ८ पा० ३ खं० ७)

अर्थात्–ये ग्यारह आप्री सूक्त हैं। उन में–

(१) वसिष्ठ ऋषि का सूक्त,

(२) अत्रि ऋषि का सूक्त,

(३) वध्र्यश्व ऋषि का सूक्त

(४) गृत्समद ऋषि का सूक्त,–ये चार सूक्त नाराशंस वाले हैं।

(१) मेधातिथि का सूक्त,

(२) दीर्घतमस् का सूक्त,

(३) प्रैष सम्बन्धि (परिशिष्ट वाला) सूक्त ये तीन दोनों (तनूनपात् तथा नराशंस) देवताओं वाले हैं।

[१–४] इन से अन्य चार सूक्त तनूनपात् देवताओं वाले हैं। इन सब के परिज्ञान के अर्थ हम एक संक्षिप्त चित्र देते हैं, उससे पाठकों के मत्यक्ष में पूर्वोक्त सब अर्थ भले प्रकार से आजायगा।

होतृ पठनीय १० सूक्त और उनके ऋषि आदि।

(१) सुसमिद्धोन इत्यादि (१–१–२४) सूक्त १२ ऋचाओं का है। इसका काण्व मेधातिथि ऋषि और गायत्री छन्द है। इन सब ऋचाओं के क्रम से इध्मः, वा समिद्धोऽग्निः आदि १२ देवता हैं। और पशु कर्म में काण्व गोत्रों का

आप्री सूक्त हैं। अर्थात् -उनके पशु कर्म में प्रयाज होमों में होता इन मन्त्रों को याज्या करता है (पढ़ता है) ॥

(२) समिद्धोऽग्न इत्यादि (२-२-१०) सूक्त १३ ऋचाओं का है। इसका औचथ्य दीर्घतमा ऋषि और अनुष्टुप् छन्द है। यहां प्रथम ऋचा का समिध् (१) नामक अग्नि अथवा समिद्ध अग्नि देवता है। और द्वितीयादि ऋचाओं के तनूनपात् (२), नराशंसः (३), इलः (४), बर्हिः (५), देवीर्द्वारः (६), उषासानक्ता (७), दैव्यौ होतारौ प्रचेतसौ (८), तिस्रो देव्यः (९)-सरस्वतीळाभारत्यः, त्वष्टा (१०) वनस्पतिः (११) स्वाहाकृतिः (१२),- ये क्रम से देवता हैं। अन्तिम (१३वीं) ऋचा का इन्द्र देवता है । 'देवीर्द्वारः' ये बहुल देवता हैं। उषासानक्ता और दैव्यौ होतारौ प्रचेतसौ, दो देवता हैं, तथा तिस्रो देव्यः (तीन देवियें) इसी की व्याख्या सरस्वती, इला और भारती, यह है । यहां एक स्थान में अनेक देवता भी एक देवता के रूप में समझे जाते हैं।

यहां 'इध्म' (इन्धन) और 'तनूनपात्' (आज्य = घृत) आदि यज्ञ के अवयव या साधनरूप वस्तुओं से यज्ञ ही उक्त होता है, इस कारण उनके मन्त्रों का यज्ञ ही देवता है,—यह कात्थक्य आचार्य का मत है। समिध् आदि शब्दों से अग्नि ही उक्त होता है, अतः वही देवता है,- यह शाकपूणि का मत है। (सा० भा०)

पशु कर्म में अङ्गिरो गोत्रोत्पन्नों का यह आप्रीसूक्त है ॥

(३) समिद्धोऽद्य-इत्यादि (अ २ अ०५ व८) सूक्त ११ ऋचाओं का है। इसका अगस्त्य ऋषि और गायत्री छन्द है। इसकी ११ ऋचाओं के क्रम से समिद्ध अग्नि और तनू-

नपात् आदि नराशंस वर्जित ग्यारह (११) देवता हैं, पशु-कर्म में अगस्त्य के गोत्रों का एकादश प्रयाज रूप यह आप्री सूक्त है ॥

(४) समिद्धोऽग्निः—इत्यादि (अ० २ अ० ५ व २२) सूक्त ११ ऋचाओं का है । इसका गृत्समद (शुनक) ऋषि और त्रिष्टुप् छन्द है । ७वीं ऋक् जगती छन्द है । समिद्ध अग्नि और तनूनपात्-वर्जित नराशंस आदि ११ देवता हैं । पशु कर्म में शुनकों का यह आप्री सूक्त है ॥

(५) समित्समित्—इत्यादि (अ०२अ०८व२२) सूक्त ११ ऋचाओं का है । इसका विश्वामित्र ऋषि और त्रिष्टुप् छन्द है । इध्म आदि स्वाहाकृतिपर्यन्त नराशंसवर्जित क्रम से ११ देवता हैं । पशु कर्म में विश्वामित्र गोत्रों का यह आप्रीसूक्त है । इस सूक्त की 'तन्नः'-यह ऋचा दर्श पौर्णमास यागों में पत्नीसंयाज होमों में त्वष्टा देवता की याज्या है । तथा यही ऋचा त्वष्टा देवता के पशु में पुरोडाश की अनुवाक्या है ॥

(६) सुसमिद्धाय—इत्यादि (अ०३अ०८व२०) सूक्त ११ ऋचाओं का है । इसका आत्रेय वसुश्रुत ऋषि और गायत्री छन्द है । इध्म आदि तनूनपात्—वर्जित ११ देवता हैं । पशु में अत्रिगोत्रों का यह आप्री सूक्त है ।

(७) जुषस्व नः—इत्यादि (अ०६अ०७व२४) सूक्त ११ ऋचाओं का है । इसका वसिष्ठ ऋषि और त्रिष्टुप् छन्द है । समिद्ध आदि तनूनपात्—वर्जित क्रम से प्रत्येक ऋचाओं के ११ देवता हैं । पशु में वसिष्ठ गोत्रों का यह आप्री सूक्त है ।

तथा प्रथम ऋचा पत्नीसंयाज में त्वष्टा के याग की याज्या और त्वष्टा के पशु में पुरोडाश की अनुवाक्या भी है ॥

(८) समिद्ध--इत्यादि (अ०६अ०७व२४) सूक्त ११ ऋचाओं का है। इसका काश्यप असित अथवा देवल ऋषि ८वी ९वीं १०वीं ११वीं इन चार ऋचाओं को अनुष्टुप् तथा शेष ७ ऋचाओं का गायत्री छन्द है। समिद्ध आदि नराशंस वर्जित प्रत्येक ऋचा के क्रम से ११ देवता हैं काश्यपों का पशु में यह आप्री सूक्त है ॥

(९) इमाम्–इत्यादि (अ०८अ०२व२१) सूक्त ११ ऋचाओं का है। वाध्र्यश्व सुमित्र ऋषि और त्रिष्टुप् छन्द है। समिध् आदि तनूनपात्-वर्जित क्रम से ऋचाओं के देवता हैं, वध्र्यश्व गोत्रों का पशु में यह आप्री सूक्त है ॥

(१०) समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे-इत्यादि (अ०८अ०६ व८) सूक्त ११ ऋचाओं का है। इसका भार्गव जमदग्नि अथवा उसका पुत्र राम जो परशुराम नाम से प्रसिद्ध है ऋषि और त्रिष्टुप् छन्द है। समिध् आदि नराशंस वर्जित ११ देवता हैं। पशु में जामदग्न्यों का यह आप्रीसूक्त है ॥

(११) मैत्रावरुण पठनीय ११वां आप्री प्रैष सूक्त

देवता मन्त्र

(१) इध्मः। होतायक्षदग्निं **समिधा** सुषमिधा० वेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥१॥

(२) तनूनपात्। होतायक्ष**त्तनूनपात**मदितेर्गर्भं० वेत्वा० ॥२॥

(३) नराशंसः। होतायक्ष**न्नराशंसं** नृशस्तं नॄः प्रणेत्रं० वेत्वा० ॥ ३ ॥

(४) इलः । होतायक्षदग्निमीळइलितो०वेत्वा० ॥४॥

(५) बर्हिः । होतायक्षद्बर्हिः सुष्टरीमोर्णम्रदा० वेत्वा० ॥५॥

(६) द्वारः । होतायक्षद्दुरऋष्वाः० व्यंत्वा० ॥६॥

(७) उषासानक्ता । होतायक्षदुषासानक्ता० वीतामाज्यस्य० ॥ ७ ॥

(८) दैव्याहोतारा। होतायक्षद्दैव्याहोतारा०वीतामाज्यस्य०॥८

(९) तिस्रोदेवीः । होतायक्षत्तिस्रोदेवीःरपसा० व्यन्त्वाज्यस्य० ॥ ९ ॥

(१०) त्वष्टा । होतायक्षत्त्वष्टारमचिष्टमपाकं० वेत्वाज्यस्य०॥१०

(११) वनस्पतिः । होतायक्षद्वनस्पतिमुपावस्रक्ष० वेत्वाज्यस्य० ॥११॥

(१२) स्वाहाकृतयः । होतायक्षदग्निंस्वाहाज्यस्यस्वाहामेदसः स्वाहा स्तोकानां स्वाहा स्वाहाकृतीनां स्वाहा० व्यंतु होतर्यज ॥१२॥

आप्री सूक्तों के विनियोग की व्यवस्था ॥

१ मकल्प ।

„समिद्धो अग्नि रिति शुनकानां जुषस्वनः समिधामिति वसिष्ठानां समिद्धो अद्येति सर्वेषाम्" (आश्व० ३, २)

(१) "समिद्धो अग्निः" (अ० २- अ०५- व २२)

यह सूक्त गृत्समद या शुनकों के पशु कर्म में आप्री सूक्त होगा

अर्थात् शुनक गोत्र यजमानों के पशु कर्म में एकादश प्रयाज देवताओं के यजन में होता- ऋत्विज् इस सूक्त की ग्यारह (११) ऋचाओं को याज्या करेगा। एक २ देवता के लिये एक २ ऋचा को क्रम से पढेगा। यह सूक्त पूर्वोक्त आप्री सूक्तों में ४ था है॥

(२) "जुषस्वनः समिधम्" (अ० ३ अ० ८ व २०) यह सूक्त वसिष्ठगोत्रों का पशु कर्म में आप्री सूक्त होगा। यह दश आप्री सूक्तों में ७ वां है॥

(३) "समिधो अद्य मनुषोदुरोणे" (अ०८ अ०६ व ८) यह सूक्त शुनकों और वसिष्ठों के अतिरिक्त सभी गोत्रों के लिये पशु कर्म में आप्री सूक्त होगा। दश आप्री सूक्तों में यह १० म है॥

इस कल्प (विधान) में प्रयाज देवताओं के यजन में पूर्वोक्त ऋग्वेद मन्त्र संहिता के दश (१०) आप्री सूक्तों में से तीन (३) आप्री सूक्तों का ही उपयोग होता है और सात (७) आप्री सूक्त रह जाते हैं, तथा इन तीन ही सूक्तों से सकल गोत्रों के अनुष्ठान का निर्वाह होजाता है। क्यों कि- शुनकों के लिये चौथा सूक्त है; वसिष्ठों के लिये (७) सातवां सूक्त है। और सभी गोत्रों के लिये दशम सूक्त विहित हुआ है। अतः कोई गोत्र भी आप्री सूक्त से रहित नहीं रहता है।

किन्तु- जो यह दशम सूक्त अन्य सब गोत्रों के लिये विहित हुआ है उसमें तनूनपात् देवता की ऋचा है। नराशंस देवता की नहीं।

इससे जो गोत्र नराशंस याजी हैं, अथवा उभययाजी हैं

उनके लिये नाराशंस देवत की ऋचा ;अपेक्षित' होती है। वह कहां से लीजाय ! इस प्रश्न के उत्तर में आश्वलायन सूत्र के वृत्तिकार नारायण वासिष्ठी नाराशंसी ऋचा के ग्रहण को बताते हैं। वसिष्ठ का "जुषस्वनः" (अ०५ अ० २- व१) यह पूर्वोक्त सातवां सूक्त है, उसी से वह ऋचा लेनी चाहिये।

२ यकल्प ।

"यथ ऋषि वा" (आश्व०३-२)

जो जिस यजमान का ऋषि हो उसी ऋषि का उसको आप्री सूक्त लेना चाहिये। इसी पक्षमें भगवान् शौनक आप्री विवेक के लिए ही यह श्लोक देते हैं।

कण्वाऽङ्गिरोगस्त्यशुनका विश्वामित्रोऽत्रिरेवच।
वासिष्ठः कश्यपोवाध्र्यश्वो जमदग्नि रथोत्तमः"

अर्थात् दश सूक्तों में—

(१) कण्व गोत्रों का "सुसमिद्धो न आवह" [अ०१ अ०१- व २४) यह प्रथम आप्री सूक्त है॥

[२] कण्ववर्जित अङ्गिरस् गोत्रों का "समिद्धो-अग्न आवह" (अ०२ अ०२ व १०) यह दूसरा आप्री सूक्त है॥

(३) अगस्त्य गोत्रों का "समिद्धो अद्य राजसि" (अ०२ अ०५ व ८) यह तीसरा आप्री सूक्त है॥

(४) गृत्समद या शुनकों का "समिद्धो अग्निर्नि

हितः पृथिव्याम्" (अ०२ अ०५ व २२-) यह चतुर्थ आप्री सूक्त है ॥

(५) विश्वामित्र गोत्रों का "समित्समित्सुमनाः" (अ०२ अ०८ व२२) यह ५वां आप्री सूक्त है ॥

(६) आत्रेय वसुश्रुत गोत्रों का सुसमिद्धाय शोचिषे" (अ०३ अ०८ व१०) यह ६ठा आप्री सूक्त है ॥

[७] वसिष्ठ गोत्रों का "जुषस्व नः समिधमग्ने अद्य" (अ०५ अ०१ व१) यह सातवां आप्री सूक्त है ॥

[८] काश्यप सित गोत्रों का "समिद्धो विश्वतस्पतिः" (अ०६ अ०७ व२४) यह आठवां आप्री सूक्त है ॥

(९) वाध्यश्व सुमित्र गोत्रों का "इमां मे अग्ने जुषस्वेल" (अ०२ अ०२ व२१) यह ९वां आप्री सूक्त है ॥

(१०) शुनकों और वाध्यश्वों को छोड़ कर अन्य सब भृगु गोत्रों का "समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे" [अ०८ अ०६ व८) यह १० वां आप्रीसूक्त है ॥

३ यकल्प विषय विशेष में ।

"प्राजापत्ये तु जामदग्न्यः सर्वेषाम्" (आ०श्रौ०-३-२),

१- प्रजापति देवता के पशु में सभी गोत्रों के लिये "समिद्धो अद्यमनुषो दुरोणे" (अ०८ अ०६- व.) यही एक आप्री सूक्त होता है । इस पक्षमें प्रथम और द्वितीय कल्प की विधियें बाधक नहीं होती हैं । इससे वसिष्ठ और शुनक आदि के लिये भी पूर्वोक्त आप्री सूक्तों की कोई आपत्ति न उठानी चाहिये ॥

यास्कने दशम सूक्त ही निरुक्त में क्यों लिया ?

यास्क मुनि स्वयम् "इति इमानि एकादश आप्रीसूक्तानि" ऐसा उल्लेख करके यहां पर ग्यारह (११) आप्री सूक्तों को स्मरण कर रहे हैं, तथा उनमें से संहितास्थ दशम आप्री सूक्त को ही यहां पर इध्म आदि नामों के लिये निगम देते हैं। इस कारण यहां ऐसा प्रश्न स्वतः ही उत्पन्न होताहै कि-जब सभी सूक्तोंमें इध्म आदि देवताओं के निगम विद्यमान हैं, तो अन्तिमसूक्त को ही वे क्यों लेते हैं इसका उत्तर हमें यही प्रतीत होता है, कि संहितास्थ अन्य सब सूक्त सब गोत्रों के लिये उपयुक्त नहीं होते किन्तु वे एक-एक गोत्र के लिए ही प्रयोजनीय होते हैं अतः सर्व प्रसिद्ध होने से यही सूक्त आचार्य ने उल्लिखित किया है।

प्रैष सूक्त यद्यपि साधारण है तथापि जैसे (संहितास्थ) निगम प्रायः यहां दिये जाते हैं, उनसे वह विजातीय है, उसका देना भी उन्होंने उचित नहीं समझा। अथवा प्रैषसूक्त में जितने मन्त्र हैं उन सब में प्रधान देवता के नाम के अतिरिक्त प्रायः सब शब्द समान ही आते हैं इस लिए उन सब को उदाहृत करने से प्रति मन्त्र में छात्रों को विलक्षण २ अर्थों का लाभ न होगा, निर्वचन की सामग्री में अल्पता होगी और यहां पर व्यर्थ शब्दों का गौरव होगा। यही सब सोच विचार कर आचार्य ने संहितास्थ दशम सूक्त ही यहां पर दिया है॥

"प्रैष सूक्त और दश सूक्तों का सम्बन्ध"

पशु कर्म में जहां ग्यारह प्रयाज होम होते हैं, वहां प्रथम

के अर्थ "प्रेष्य" एतावन्मात्र ही मन्त्र पढ़ेगा किन्तु प्रथम मन्त्र के समान देवता का चतुर्थ्यन्त नाम उसके पूर्व में उच्चारण नहीं करेगा, यह विशेष विधि "आपस्तम्ब" महर्षि कहते हैं—

"समिद्भ्यः प्रेष्येति प्रथमं संप्रेष्यति प्रेष्य प्रेष्येतीतरान् इति"

जामदग्न्य सूक्त में अन्य ऋचाएं और उनका प्रयोजन

यास्काचार्य ने यहां आप्री देवताओं के निर्वचन प्रकरण में दश आप्रीसूक्तों में से जामदग्न्य ही आप्रीसूक्त दिया है। यह सूक्त ऋग्वेद संहिता में अन्य सब आप्रीसूक्तों में अन्तिम है। इसके चुनाव का प्रयोजन पहिले दिया जा चुका है, अब उसके बीच २ में कुछ और ऋचाएं भी दी गई हैं उनका प्रयोजन भी ज्ञातव्य है, इसी से नीचे उनका प्रयोजन कहा जाता है —

(१) जिस प्रकार आचार्य ने सर्व प्रधान देवताओं के व्याख्यान के अनुरोध से सम्पूर्ण इध्म आदि आप्री देवताओं के नामों का अपने निघण्टु ग्रन्थ में संग्रह किया है, तथा जिस प्रकार सर्वगोत्री याजकों के अनुष्ठानोपयोग के अनुरोध से उन्हों ने जामदग्न्य आप्रीसूक्त ही निगम स्थान में रखा है, उसी प्रकार क्रमागत नराशंस देवता के निर्वचन के अनुरोध से उन्हें नराशंस देवता का भी निगम देना योग्य है। क्योंकि-प्रकृत जामदग्न्य सूक्त में नराशंस देवता की ऋचा

का अभाव है, इससे उन्हों ने वसिष्ठगोत्रों के "जुषस्वनः" (अ०५ अ०२ व१) आप्री सूक्त से उक्त देवता की ऋचा का यहां पर समावेश किया। यहां पर आचार्य के इस नाराशंसी ऋचा के चुनाव का यह और भी महत्व है कि अन्य पांच सूक्तों में अन्य २ पांच नाराशंसी ऋचाओं के होने पर भी आप वासिष्ठी नाराशंसी ऋचा का ही आहरण करते हैं इस में विधि का अनुग्रह भी होता है। अर्थात्—जब नाराशंस-याजी कोई गोत्र जामदग्न्य सूक्त को आप्री सूक्त करते हैं, तब उन्हें विधि के अनुसार वासिष्ठी नाराशंसी ही लेनी पड़ती है, किन्तु अन्य नाराशंसी नहीं। यद्यपि यहां निर्वचन के प्रयोजन से वासिष्ठी तथा अन्य नाराशंसी में कोई फल भेद नहीं, तथापि एक कार्य के साथ एक ही यत्न से आवश्यक कार्यान्तर की सिद्धि भी की गई है, यह आचार्य के विचार कौशल का महत्व ही है। इस वासिष्ठी नाराशंसी ऋचा को यहां समावेश करने के सम्बन्ध में नारायण वृत्तिकार खण्डसूत्र (३, २) पर यों कहते हैं, कि—

"तत्राऽग्न्यादीनां नाराशंसस्यैव वासिष्ठ्या हर्त्तव्या, प्रैष सलिङ्गाभिरित्युक्तत्वात्"

अर्थात्— अग्नि आदिकों को जब प्रथम कल्प या तृतीय कल्प के अनुसार जामदग्न्य आप्री सूक्त लेना होगा, तब वे नाराशंस याजी होने के कारण नाराशंसी ऋचाकी अपेक्षा करेंगे, तथा प्रकृत सूक्त में वह ऋचा है नहीं, अतः उन्हें और कहीं से नाराशंसी ऋक् लानी होगी, उस अवस्था में नारायण कहते हैं कि उन्हें वासिष्ठी (वसिष्ठ सूक्त अ० ५-अ०२ व१ से) नाराशंसी ही लानी चाहिये, क्यों कि-सूत्र-

कार "होता यजत्याप्रीभिः प्रैषसलिङ्गाभिः" (आश्व० ३, २) इस सूत्र में कहते हैं कि– होता को यजन में ऐसी आप्री ऋचाएं लेनी चाहियें, जो मैत्रावरुण के प्रैष मन्त्रों के समानलिङ्ग हों– "होता यक्षद्०" इत्यादि मन्त्र जिस क्रमसे जिस २ देवता के मैत्रा वरुण के द्वारा पठित हों, उसी क्रम से उस२ देवता की आप्री संज्ञकयाज्याकोवह पढे। नारायण समझतेहैं कि- व्याकरण में जिस प्रकार "स्थानेऽन्तरतमः" (पा० सू०) सूत्र में जितना ही स्थानी और आदेशका सादृश्य मिले, उतना ही लेना चाहिये, उसी प्रकार जहां तक हो, आप्री मन्त्र प्रैष मन्त्र के सदृश हों। अभिप्राय केअनुसार अन्य नाराशंसी ऋचाओं की अपेक्षा वासिष्ठी नाराशंसी ऋचा में नराशंस के प्रैष मन्त्र का अधिक सादृश्य है, इससे वासिष्ठीनाराशंसी काही आवाप (समावेश) करना चाहिये। इस अर्थ में नारायण वृत्तिकार के अभिमत के सहायक यास्क मुनि भीबनते हैं, क्यों कि– उन्हों ने भी जामदग्न्य आप्री सूक्त में वासिष्ठी नाराशंसी ऋचा का आहरण किया है। यद्यपि "प्रैष सलिङ्गाभिः" (आ० ३, २) इसमें देवता और पाठ क्रम दोका सादृश्य तो स्थूलतर है ही, जिसके अनुसार प्रैष मन्त्रों और आप्री मन्त्रों का क्रम अनुष्ठान में समान रहता है। किन्तु ये दो सादृश्य वासिष्ठी नाराशंसी के समान अन्य २ आप्री नाराशंसियों में भी हैं। वासिष्ठी में जो अन्य ऋचाओं की अपेक्षा अधिक सादृश्य है, उसके लक्षित करने के लिये हम नीचे प्रैष मन्त्र तथा सब नाराशंसी आप्री ऋचाओं को स्वरूपतः उद्धृत करदेते हैं, ज्ञाता पुरुष उन्हें प्रत्यक्ष करके सादृश्या कानिरूपणभी करसकेंगे—

(१) नराशंस का प्रैषमन्त्र

"होता यक्षन्नराशंसं नृशस्तं नॄँः प्रणेत्रं । गोभिर्वपावान्त्स्याद्वीरैः शक्तीवान्त्रथैः प्रथमयावा हिरण्यैश्चन्द्री वेत्वाज्यस्य होतर्यज" ।३।

(२) काण्व मेधातिथि उभययाजी की नाराशंसी आर्षी

"नराशंसमिह प्रियमस्मिन्यज्ञऽ उपह्वये । मधुजिह्वं हविष्कृतम्" । (अ०१अ०१व२४)

(३) औचथ्य दीर्घतमा उभययाजी की नाराशंसी आर्षी

"शुचिः पावकोऽअद्भुतो मध्वायज्ञं मिमिक्षति । नराशंस स्त्रिरादिवो देवो देवेषु यज्ञियः ।(अ०२अ०२व१०)

(४) गृत्समद शुनक नराशंस याजी की आर्षी

नराशंसः प्रतिधा मान्यंजन्तिस्रो दिवः प्रतिमन्हा स्वर्चिः । घृतप्रुषा मनसा हव्यमुंदन्मूर्धन्यज्ञस्य समनक्तु देवान् । (अ०२अ०५व२२)

(५) आत्रेय वसुश्रुत नराशंसयाजी की आर्षी

नराशंसः सुषूदतीमं यज्ञमदाभ्यः कविर्हि मधुहस्त्यः ॥ (अ० ३ अ० ८ व २०)

(६) मैत्रावरुणि वसिष्ठ नराशंसयाजी की आर्षी

नराशंसस्य महिमानमेषामुपस्तोषाम यजतस्ययज्ञैः । ये सुक्रतवः शुचयो धियंधाः स्वदन्ति देवाऽ उभयानिहव्या । (अ०५अ०२व१)

(७) वाध्यूश्व सुमित्र नराशंसयाजी की आप्री

आ दे॒वाना॑मग्र॒याव॒ह तु नरा॒शंसो॑ वि॒श्वरू॑पेभि॒रश्वैः॑। ऋ॒तस्य॑ प॒था नम॑सा मि॒येधो॑ दे॒वेभ्यो॑ दे॒वत॑मः सुषूदत ॥ (अ०८अ०२व२१)

(२) 'त्वष्टा' १० वां आप्री देवता है। उसके निर्वचन में जामदग्न्य सूक्त की "यइमे०" (अ० ८ अ० ६ व० ६) जो यह ऋचा दी है। उसमें त्वष्टा का नामोल्लेख यद्यपि है तथापि उसके स्वरूप का निरूपण कुछ भी नहीं, है अतः उसके स्वरूप बोधन के लिये दूसरी ऋचा (अ० १ अ० ७ व० १) का उल्लेख आचार्य को आवश्यक हुआ। इस ऋचामें प्रकाशन और ऊर्ध्वज्वलन पार्थिव अग्नि के स्पष्ट बोधक हैं।

(३) वनस्पति आप्री देवता का दूसरा, तीसरा और चौथा निगम। क्यों कि– वनस्पति कात्थक्य के मतसे यूप और शाकपूणि के मत में अग्नि है, तथा जामदग्न्य आप्री सूक्त की ऋचा जो प्रथम निगम के स्थान में दी है, वह किसी एक मत को भी पुष्ट नहीं करती अतः दूसरा निगम यूप रूप को और तीसरा तथा चौथा निगम अग्नि रूप का बोधन करने के लिये दिया गया है॥

भाष्यकार की एक पङ्क्ति।

भाष्यकार यास्क मुनि इस अध्याय के अन्त में "इति इमानि एकादश आप्रीसूक्तानि" ऐसा लिखते हैं जिससे यह प्रतीत होता है जैसे वे ग्यारहों आप्रीसूक्तों का यहां उपप्रदर्शन करा चुके हैं और उनकी कोई विशेष उप-

यस्था दिखाने के अर्थ उनका उपादान करते हैं। किन्तु यहां एक ही आमदन्ने सूक्त है। क्यों कि- "इमानि" यह 'इदम्' शब्द है। इस शब्द का प्रयोग संमुख प्रत्यक्ष वर्त्तमान वस्तु के अङ्गुलि निर्देश पूर्वक दिखाने के लिये होता है। अतः यहां पर यह मानना चाहिये कि- क्या तो यहां से वह ग्रन्थ त्रुटित होगया; या किसी ने भ्रान्तिवश 'इत्यादीनि' पदके स्थान में "इतीमानि" कर दिया। दोनों ही संभव हैं तथापि द्वितीय पक्ष का अधिक संभव है। कारण प्रथम पक्ष में एक प्रकरण का लोप प्राप्त होता है, जिसका द्वितीय पक्षकी अपेक्षा होना बहुत कठिन है॥

निरुक्त के अष्टम अध्याय का खण्ड सूत्र—

(१ मपा०—) द्रविणोदाः कस्मात् (१) द्रविणोदा द्रविणोदसः (अयमेवाग्निः) (२) मेद्यन्तु ते (३) (२य पा०—) अथात आप्रियः (४) समिद्धो अद्य (५) तनूनपात् (६) नराशंसस्य (७) आजुह्वानः (८) प्राचीनं बर्हिः (९) व्यचस्वती (१०) आसुष्वयन्ती (११) दैव्याहोतारा (१२) आनोयज्ञम् (१३) यइमे (१४) आविष्टध्यः (१५) [३य पा०—] वनस्पतिः (१६) उपावसृज (१७) अञ्जन्ति-त्वा (१८) देवेभ्यः (१९) वनस्पते रशनया (२०) सद्योजातः (२१) प्रयाजान्मे (२२)

इति निरुक्ते (उत्तर षट्के) अष्टमोऽध्यायः॥८, ३॥

इति हिन्दी निरुक्ते (उत्तरषट्के) अष्टमोऽध्यायः समाप्तः॥८, ३॥

अथ नवमोध्यायः ॥९॥

प्रथमः पादः

(खं० १)

(अथ षट् त्रिंशत् (३६) पदानि)

निघ०-अश्वः ॥१॥ शकुनिः ॥२॥ मराडूकाः ॥३॥ अक्षाः ॥४॥ ग्रावाणः ॥५॥ नाराशंसः ॥६॥

निरु०-अथ यानि पृथिव्यायतनानि सत्वानि स्तुतिं लभन्ते तानि अतोऽनुक्रमिष्यामः।

तेषाम्-'अश्वः' प्रथमागामी भवति।

'अश्वो' व्याख्यातः। तस्य एषा भवति ॥१॥

अर्थः-"अथ०" यहासे जो पृथिवी स्थान = पृथिवी में रहने वाले सत्व = द्रव्य स्तुति को प्राप्त होते हैं, उनको यहां से आगे अनुक्रमण करेंगे = क्रम २ से कहेंगे।

उनमें 'अश्व' स्वभाव से पहिले आने वाला है।

'अश्व' यह पद व्याख्यान किया जाचुका [अ० २ पा० ७ खं० ५] ॥ उसकी यह ऋचा है- ॥१॥

व्याख्या

"अथ" यह अधिकार वचन हैं। पूर्व आप्री देवताओं से यह 'अश्व आदि (३६) द्रव्य विलक्षण हैं- भिन्न प्रकार हैं इससे इनका अलग अधिकार कियागया।

इनकी भी मन्त्रों में स्तुति आती है, इस लिये इनकी समाम्नाय में गणना की गई है।

पृथिवी में रहने वाले हैं, इस लिये पृथिव्यायतन देवताओं के गणमें इनका पाठ है।

पृथिवी स्थान के सादृश्य से इन्हीं के भीतर सर्प लाङ्गल और कुशुम्भक आदि भी समझने चाहिएं। क्योंकि— इनकी भी मन्त्रों में स्तुति आती है।

यहां पर शब्दों के पाठ का क्रम अर्थस्वभाव = वस्तुस्वभाव से अङ्गीकार किया हुआ है।

क्रम की व्यवस्था होने पर मुख्य का परित्याग न्याय-सङ्गत नहीं है। इसी से आचार्य कहता है— "तेषामश्वः प्रथमागामी०"।

'अश्व' क्यों प्रथम है? पुरुष के बाद इसका जन्म है— "तस्या आहुत्याः पुरुषोऽजायत, द्वितीयामजुहोत् ततोऽश्वोऽजायत" अर्थात्— 'उस आहुति से पुरुष हुआ, दूसरी का होम किया उससे अश्व हुआ' यह ब्रा० वाक्य है। और विशेष प्रकार के "अश्वमेध" कर्म में इसका विशेष अङ्गभाव = उपयोग है। इस कारण भी औरों की अपेक्षा यह मुख्य है।

"अश्वो व्याख्यातः" यहां पर अश्नुते अध्वानम्" मार्ग को व्यापन करता है, "महाशनो भवति इतिवा" अथवा बड़ा भोजन करने वाला है, इससे यह 'अश्व' है। ऐसी व्याख्या की गई है ॥१॥

(खं० २)

निरु०- "अश्वो वोल्हा सुखं रथं हसनामुपमन्त्रिणः। शेपो रोमण्वन्तौ भेदौ वारिन्मण्डूक इच्छतीन्द्रायेन्दो परिस्रव॥" [अ०७ अ०५ व२५]॥

अश्वो वोल्हा सुखं वोल्हा रथं वोढा।

'सुखम्' इति कल्याणनाम। कल्याणं पुण्यं सुहितं भवति। सुहितं गम्य (मय) ति इतिवा

हसे (मि ता वा। [पातावा। पालयितावा।]

शेपम्- ऋच्छति- इति।

'वारि' वारयति।

"मानो" व्याख्यातः॥

तस्य- एषा (अपरा) भवति॥२॥

(खं० ३)

"मानो मित्रो वरुणो अर्य्यमायुरिन्द्र ऋभुक्षा मरुतः परिख्यन्। यद्वाजिनो देवजातस्य सप्तेः प्रवक्ष्यामो विदथे वीर्याणि॥" [ऋ० सं०२,३,७,१]॥

यद् वाजिनो दैवे जातस्य 'सप्तेः' सरणस्य प्रवक्ष्यामो यज्ञे 'विदथे' वीर्याणि, मानः त्वं मित्रश्च वरुणश्च अर्यमाच 'आयु'श्च वायुः अयनःइन्द्रश्च उरुक्षयणः। ऋभूणां राजा- इतिवा। मरुतश्च परिख्यन्॥

'शकुनिः' शक्नोति उन्नेतुम्- आत्मानम् । शक्नोति नदितुम् इतिवा। शक्नोति तकितुम्- इतिवा। सर्वतः शङ्करः अस्तु- इतिवा शक्नोतेर्वा ॥

तस्य एषा भवति- ॥३॥

अर्थः- "अश्वो वोल्हा" हे 'इन्दो' सोमः 'मन्त्रिणः' (मन्त्रप्रतिपाद्यस्य इन्द्रस्य) मन्त्र से प्रतिपादन करने योग्य इन्द्र देव का 'अश्वः' घोड़ा 'सुखम्' सुखसे, 'रथम्' रथ को वोल्हा (वोढा) खेंचने वाला 'हसनाम्' (हसिताम् = हसनशीलाम्) हिनसने वाली (घोड़ी) को 'उप' (श्लिष्य) आलिङ्गन करके = उसके साथ चिपटकर 'शेपः' (शेपम्- ऋच्छति) पुरुष चिन्हको प्राप्त होता है प्रचलित करता है। 'भेदौ' उस अश्वके दो भेद हैं [क्यों कि- "हरी इन्द्रस्य" 'इन्द्र के 'हरि' नाम वाले या हरे दो घोड़े हैं' यह निघ० अ० १ खं० १५ में कहा है।] या वे दो शत्रुओं के भेदन करने वाले हैं, और 'रोमण्वन्तौ' सांड हैं। (क्यों कि- "लोमशः पुरुषः स्मृतः" लोम = रोम = लिङ्ग इन्द्रिय वाला पुरुष होता है, यह पुरुष का लक्षण है।) 'मण्डूकः' मेंडक 'वारिन' (वारि) जल को 'इच्छति' चाहता है। अर्थात्- अश्व का रथ के लेचलने का सामर्थ्य और मेंढक की प्यास का मिटना वर्षा के द्वारा तेरे अधीन है। इस कारण हे सोम (त्वम्) तू 'इन्द्राय' इन्द्र के लिये 'परिस्रव' झर। प्रयोजन यह कि -हे सोम तेरे झरने से यज्ञ होगा, यज्ञ से वृष्टि, और वृष्टि से घास अन्न आदि। इस प्रकार

केवल जल से जीने वाले तथा तृण आदि से जीने वाले सभी प्रकार के प्राणियों का उपकार तेरे अधीन है। अतः तू छम। [यह सोम से प्रार्थना है।] ॥

दूसरी व्याख्या- 'मन्त्रिणः' (मन्त्रवतः यजमानस्य) दीक्षा प्राप्त यजमान का 'अश्वः' घोड़ा 'हसनाम्' (हसनवतीं यजमान-पत्नीम्) हंसती हुई यजमान की पत्नी को 'उप' (श्लिष्य) समीप में लग कर 'शेपम्' चिन्ह को 'ऋच्छति' प्राप्त होता है या प्रचलित करता है। और सब उक्त प्रकार से है। इस अर्थ में "अश्वमेध" यज्ञ में यजमान पत्नी और अश्व के संबन्ध को लेकर जो क्रिया होती है उसका स्मरण होता है जैसा कि- [का०२०, ६, १६-] "अश्व शिश्नमुपस्थे कुरुते वृषावाजीति" ॥

'सुख' यह कल्याण का नाम है। 'कल्याण' पुण्य होता है। 'सुख' क्यों? वह सुहित = सुन्दर हित होता है। अथवा सुहित को प्राप्त कराता है। (पहिले पक्षमें 'सुख' नाम सुख का ही है और दूसरे पक्षमें सुख के साधन का नाम सुख है।)

'हसना' क्या? हसिता = हँसने वाली। (अथवा पाता = पालयिता या रक्षा करने वाला।)

'वारि' क्यों? वह 'वारयति' तृषा = प्यास को बुझाता है।

"मानो व्याख्यातः" [यह अपपाठ है।]

"तस्य०" उस (अश्व) की (और) यह ऋचा है ॥२॥

व्याख्या।

इस खण्ड की जो व्याख्या ऊपर की गई है, वह यथा

संभव उसके अक्षरों के सहारे पर है। इस की व्याख्या भगवद्दुर्गाचार्य की टीका में भी नहीं मिलती है, किन्तु इस से यह प्रक्षिप्त नहीं समझा जासकता, कारण इस का प्रतीक इसी अध्याय के खण्ड सूत्र में वर्त्तमान है। सर्वथा खण्ड का होना प्रमाणित होता है। भगवद्दुर्गाचार्य की व्याख्या के न होने का कारण यह भी हो सकता है कि वर्त्तमान के समान उनके समय में भी इस खण्ड का पाठ अस्तव्यस्त रहा हो और उन्होंने इस की व्याख्या की उपेक्षा करदी हो।

मं० "हसनामुपमन्त्रिणः शेपः" भा०—"शेपमृच्छति" पहिले मन्त्र खण्ड के 'मन्त्रिणः' पदको 'रथम्' के साथ जोड़ा जासकता है, जिससे मन्त्रिणः रथं वोढा' मन्त्री = मन्त्र का आराध्य देव = इन्द्र के अथवा मन्त्रवान् यजमान के रथको खेंचने वाला (अश्व) ऐसी योजना होजाती है। और 'शेपः' इस प्रथमान्त को 'शेपम्' द्वितीयान्त करके 'ऋच्छति' पद का भाष्यकार ही अध्याहार करते हैं, तदनुसार 'हसनाम्-उप (श्लिष्य) शेप. = शेपम्-ऋच्छति'—— हसना = हसनशीला-हिनसने वाली (घोड़ी) को आलिङ्गन करके शेप (पुरुष चिन्ह) को प्राप्त होता है। क्योंकि उसके संगसे ही उसका चिन्ह बढ़ता है, और वही उस की प्राप्ति भी है। नीचे भाष्य में इसी 'हसना' पद का 'हसिता' पद से निर्वचन भी किया है, जो 'हसित' शब्द का स्त्रीलिङ्ग में संभव है। मूलपाठ में 'हसैता' पद है, वह 'हसिता' से ही बिगड़ा हुआ हो सकता है। उसके आगे जो 'पाता' और 'पालयिता' ये दो पद निर्वचन मूल में हैं, वे अन्य पदों की

व्याख्या टूट कर के लेखक के अज्ञान से यहां आए हुये हो सकते हैं। क्योंकि-स्त्रीलिङ्ग का निर्वचन पुंलिङ्ग पदसे नहीं हो सकता और न उनके अर्थ की संगति ही होती है।

पूर्व खण्ड के अन्तमें-"अश्वो व्याख्यातस्तस्यएषा भवति"।

इस द्वितीय खण्ड के अन्त में-" मानो व्याख्यातः तस्य एषा भवति"।

तीसरे खण्ड के आदि में-"मानो मित्रो०" (मन्त्र) पाठ है।

इन तीनों पाठों में पहिले को यथास्थित, और दूसरे के स्थान में 'तस्य एषा अपरा भवति' ऐसा पढ़ने से तीसरा पाठ स्वयम् समन्वित होता हुआ दिखाई देता है। क्योंकि-दूसरी ऋचा (मानो मित्रो०) भी अश्वकी ही स्तुति में है।

प्रयोजन यह कि-जब नवमाध्याय के खण्डसूत्र में "अश्वो वोढा" इस खण्ड प्रतीक को प्रमाण मानते हैं, तब "अश्वो वोढा" इस द्वितीय खण्ड से "पाता वा पालयिता वा तथा "मानो व्याख्यातः" इन दोनों पाठों को अलग करके और "तस्यैषा भवति" इसके स्थान में 'तस्यैषाऽपरा भवति' ऐसा सुधार करके उक्त खण्ड (निरु० ६ अ० १ पा० २ खं०) को पढ़ना चाहिये। एवम् जब भगवद्दुर्गाचार्य की टीका का अनुरोध करते हैं, तब इस द्वितीय खण्ड को ही अलग करके प्रथम खण्ड के अनन्तर तृतीय खण्ड को ही पढ़ेंगे।

"पातावा पालयितावा" यह प्रथम अपपाठ लेखक की भ्रान्ति से प्रक्षिप्त हुआ प्रतीत होता है। और "मानोऽव्याख्यात स्तस्यैषा भवति" यह किसी दुर्बुद्ध पुरुष के द्वारा सुधारा हुआ प्रतीत होता है। क्यों कि नतो उसने निघण्टु के मूल पाठ ही पर ध्यान दिया और न इस शब्द का जो उसने निगम समझा है "मानो मित्रो वरुणः" इत्यादि मन्त्र, उसके अर्थ को ही समझा, किन्तु उसने अपनी अदीर्घ बुद्धि से "अश्वो व्याख्यातस्तस्यैषा भवति"— "अश्वो वोढा" इसकी तुकबन्धी को देख कर तथा "मानो मित्रो वरुणः" इस ऋचा को अनुपयुक्त देख कर सोचा कि—पूर्व निर्दिष्ट ऋचा के आद्य शब्द के लिये जैसा लिखा हुआ है, वैसाही इस दूसरे मन्त्रके आद्य शब्द (मानः) के लिये भी क्यों न हो ? यदि वह निघण्टु की ओर दृष्टि ले जाता, तो निघण्टु में 'अश्वः' शब्द के अनन्तर 'शकुनिः' यह दूसरा शब्द है, उसकी व्याख्या—'शकुनिः शक्नोत्युन्नेतुम्'— इत्यादि ग्रन्थ से आगे करही रखी है। यदि मन्त्रार्थ पर ध्यान देता, तो "मानः" यह कोई देवता का नाम नहीं और न प्रकृत ग्रन्थ में प्रसक्त तथा प्रसक्तानुप्रसक्त ही है, जिस से कि—इसकी व्याख्या अपेक्षित होती। बलकि—'मानः' ये दो शब्द हैं पहिला 'मा' (मत) और दूसरा 'नः' (हमको)। इस प्रकार यहां पर 'मानः' यह कोई एक शब्द नहीं होता। तथा यदि मन्त्र के अर्थ परही ध्यान देता तो मन्त्र में अश्व की ही स्तुति है और वह अश्व का ही निगम बनता है।

एवम् दूसरे खण्ड के अन्तिम वाक्य "तस्यैषा भवति" में, प्रथम खण्ड के अन्तिम वाक्य "तस्यैषा भवति" में "अश्वावोल्हा" की भांति "मानो मित्र" की संगति नहीं होती क्योंकि इस मन्त्र का उसकी बुद्धि के अनुसार अर्थ ही नहीं है यह तो अश्व स्तुतिका मन्त्र है इससे यही प्रतीत होता है कि यह उसने अपनी ही बुद्धि से परिकल्पन कर निष्फल मनघडन्त वाक्य जोड़ दिया है।

यद्यपि "मानो मित्रः" इस मन्त्र में 'अश्व' शब्द स्वयम् नहीं है, जिस से उसके साथ इस मन्त्र के सम्बन्ध विच्छेद की आपत्ति हो सकती है, तथापि 'वाजिनः' और 'सप्तेः' ये दो पद मन्त्र में अश्व के ही प्रत्यक्ष बोधक हैं, अतः पर्वोक्त आपत्ति को अवसर नहीं मिल सकता।

हां यह निश्चय करना यहां बहुत कठिन न होगा, कि 'मानो व्याख्यातः' इस पाठ को प्रक्षिप्त करने वाले के सामने "अश्वो वोढा" यह दूसरा खण्ड अवश्य था। अर्थात्-इस द्वितीय खण्ड की सृष्टि के अनन्तर ही उसकी बुद्धि को यह प्रवेश मिला। अन्यथा एक 'तस्यैषा' पाठके होते हुए वह दूसरा वैसा ही पाठ अव्यवहित देश में धर नहीं सकता था ॥२॥

"मानो मित्रः" इसका दीर्घतमा ऋषि है। अश्व का ही आवाहन इस सूक्त में किया गया है॥

'यद्' (यदा) जब (वयम्) हम 'देवजातस्य' (देवैर्जातस्य) देवताओं से उत्पन्न 'सप्तेः' (सरणस्य) चलने वाले 'वाजिनः' घोड़े के 'वीर्याणि' गुणों को 'विदथे' (यज्ञे) यज्ञ में 'प्रव-

क्षयानः' कहें, जो 'नः' हमें (त्वम्) तू 'मित्रः' मित्र 'वरुणः' वरुण 'अर्यमा' 'आयुः' (वायुः) वायु 'ऋभुक्षाः' अन्तरिक्ष में रहने वाला अथवा देवताओं का राजा 'इन्द्रः' इन्द्र और 'मरुतः' मरुत् ये सब 'मा-परिख्यन् (प्रत्याचक्षीरन्) न रोकें ।

'आयुः' क्या! वायु । कैसे वह अयन होता है-चलने वाला होता है । यहां 'व' कार के लोप से 'वायु' का 'आयु' है ।

'ऋभुक्षाः' क्या ? 'उरुक्षयण' या उरु = अन्तरिक्ष में क्षयण = रहने वाला होता है। निवास अर्थ में 'क्षि' (तु प०) धातु से है । अथवा ऋभुओं का = देवताओं का राजा 'ऋभुक्षाः' होता है। यहां 'ऋभु' पूर्व पद है, और ऐश्वर्य अर्थ में 'क्षि' धातु उत्तर पद ।

'शकुनि' (२) (पक्षी) क्यों ? 'शक्नोति' सकता है-अपने को ऊपर की ओर ले जाने को । अथवा 'शक्नोति' सकता है-शब्द करने को । अथवा 'शक्नोति' सकता है-कष्ट से जीने को । अथवा "सर्वतः शंकरोऽस्तु" 'सब ओर कल्याण का करने वाला हो' इस वाक्य का संक्षेप 'शकुनि' शब्द है। अथवा फिर सकने अर्थ में 'शक' (स्वा०उ०) धातु से है । क्यों कि-क्या वह सकता है, जो उसके सकने योग्य हो । यह 'शकुनि' शब्द इन पांचों व्याख्यानों में-(१)'शक' (धा०)'नी' (धा०) (२) 'शक' (धा०) 'नद' (धा०) (३) 'शक' (धा०) 'लक' (धा०) (४) 'शम्' (अव्यय) 'कृ' (धा०) (५) 'शक्नोति' से बनता है।

"तस्य०" उसकी यह ऋचा है ॥३॥

(खं० ४)

निघ०-"कनिक्रदज्जनुषं प्रब्रुवाण इयर्त्ति वाच-

मरितेव नावम् । सुमङ्गलश्च शकुने भवासि मा त्वा काचिदभिभा विश्व्या विदत् " ॥ (ऋ० सं० २, ८, ११, १) ॥

न्यक्रन्दीत् जन्म प्रब्रुवाणः, यथा अस्य शब्दः तथा नाम ईरयति वाचम्, ईरयिता-इव नावम्, सुमङ्गलश्च शकुने ! भव कल्याणमङ्गलः ।

'मंगलं' गिरते गृणात्यर्थे । गिरति-अनर्थान्-इतिवा ।

' अंगलम् ' अंगवत् ।

'मज्जयति पापकम्' इति नैरुक्ताः ।

मां गच्छतु-इति वा ।

मा च त्वा काचिद्-अभिभूतिः सर्वतो विदत् ॥

गृत्समदम्- अर्थम्-अभ्युत्थितं कपिञ्जलःअभिववाशे ।

तदभिवादिनी एषा ऋग् भवति-॥४॥

अर्थः-"कनिक्रदज्जनुषम्" इस ऋचा का गृत्समद ऋषि है। शकुनि = सौन चिड़ा के शब्द को सुनकर इसका जप किया जाता है ॥

हे 'शकुने ! ' 'जनुषम्' (अभिजातिम्) अपने कुल (खानदान) को 'ब्रुवाणः' बताता हुआ जैसा (तू) ' कनिक्रदत् ' बार २ कूकता है 'अरिता (ईरयिता = नाविकः) मल्लाह

'नावम्-इव' नाव को जैसे 'वाचम्' वाणी को 'इयर्त्ति' प्रेरणा करता है- (यथा अस्य शब्दः तथा नाम ईरयति वाचम्) जैसा इसका शब्द है, वैसे ही वाणी को चलाता है-जैसी सुन्दर सुरीली बोली = आवाज है, वैसा ही शुभ अर्थ उसमें कहता है। हे सोन चिड़ी ? (त्वम्) तू 'सुमङ्गलः' (कल्याणमङ्गलः) कल्याण मङ्गल के देने वाली 'भवासि' (भव) हो। और हम भी तेरे लिये ऐसा चाहते हैं-'त्वा' तुझे 'काचित्' कोई 'अभिभा' (अभिभूतिः) तिरस्कार 'विश्व्या' (सर्वतः) कहीं से भी 'मा' मत 'विदत्' (विदतु) आवे ॥

'मङ्गल' कैसे ? 'गृणाति' (उगीरता है) (आलाप करता है) के अर्थ में '' (तु० प०) गृ धातु से है। जब कभी कोई आनन्दमग्न (मस्त) होकर बिना किसी अर्थ के स्वर का आलाप करता है-रागता है, वह शब्द कार्य के आरम्भ में मङ्गलदायक समझाजाता है।

अथवा वह अनर्थों को निगल जाता है,इससे 'मङ्गल'है।

अथवा 'अङ्गल' शब्द 'म' जुड़ने से मङ्गल होता है। 'अङ्गल' क्या ? अङ्गवाला। 'अङ्ग' शब्द से मत्वर्थ (वाला अर्थ) में 'र' प्रत्यय होता है, और उस 'र' का 'ल' बदल जाता है (जैसा कि व्याकरण में माना हुआ है)। दही, मधु,और अक्षत आदि मगल के अंग हैं। उन्हीं से वह अंग वाला होकर 'मगल' कहा जाता है।

'मज्जयति' (डुबा देता है, अनर्थ को) इससे मंगल' है, यह नैरुक्त आचार्य मानते है। इस मतमें 'मज्जन' क्रिया से 'मंगल' शब्द बनता है।

अथवा 'मां गच्छतु' (मुझे यह मिले) वाक्य से 'मंगल' शब्द निकला ॥

"गृत्समदम्०" गृत्समद ऋषि किसी समय किसी कार्य को सिद्ध करने के लिए उठे और उठते हुए उनको कपिञ्जल = सौन चिड़ी ने उनकी सिद्धि को कहते हुए संमुख शब्द किया। उसी अर्थ को कहने वाली यह ऋचा है उसी की प्रशंसा में ऋषि को यह ऋचा दिखाई दी ॥ ४ ॥

(खं० ५)

निघ० "भद्रं वद दक्षिणतो भद्र मुत्तरतो वद ।
भद्रं पुरस्तान्नो वद भद्रं पश्चात्कपिञ्जलः ॥"

( ) ॥ इति सा निगदव्याख्याता ॥

'गृत्समदः' गृत्समदनः ।

'गृत्स' इति मेधाविनाम । गृणातेः स्तुतिकर्मणः ॥

'मण्डूकाः' मज्जूकाः । मज्जनात् । मदतेर्वा मोदतिकर्मणः । मन्दतेर्वा तृप्तिकर्मणः ।

'मण्डयतेः' इति वैयाकरणाः ।

'मण्डः एषाम्-ओकः' इति वा ।

'मण्डः' मदेर्वा । मुदेर्वा ।

तेषाम्-एषा भवति- ॥ ५ ॥

अर्थः- "भद्रं वद" । शकुनि [पक्षी] किसी दिशा में

शुभ होता है, और किसी में अशुभ सो ही ऋषि कहता है–

हे शकुने ! (त्वम्) (जो) तू 'कपिञ्जल' 'कपिञ्जल' जातीय पक्षी है, सो 'दक्षिणतः' दाहिनी ओर 'भद्रम्' शुभ 'वद' बोल। 'उत्तरतः' बाईं ओर 'भद्रम्' शुभ 'वद' बोल। 'नः' हमारे लिये 'पुरस्तात्' सामने 'भद्रम्, शुभ 'वद' बोल। 'पश्चात्' पीठ पीछे 'भद्रम्' कुशल बोल ॥

यह ऋचा अपने शब्दों से ही अपने अर्थ को कह रही है।

'गृत्समद' क्या ? गृत्समदन। 'गृत्स' यह मेधावी = धारणा वाली बुद्धि वाले का नाम है। स्तुति अर्थ में 'गृ' (क्र्या० प०) धातु से है। अर्थात्– जो मेधावी हो। और मद या मदन = हर्ष वाला हो वह 'गृत्समद' होता है ॥

'मण्डूकाः' (३) यह निर्वचन करना है––

'मण्डूक' क्या ? मज्जूक। 'मज्जूक' क्यों ? मज्जन से– डूबने से : क्यों कि– वे जल में डूबते रहते हैं। अथवा–– मोद अर्थ में 'मद' (भ्वा० प०) धातु से हैं। क्यों कि वे सदा ही मोद युक्त रहते हैं। अथवा– तृप्ति अर्थ में 'मन्द' (भ्वा० आ०) धातु से हैं। क्यों कि– वे सदा ही तृप्त रहते हैं। अथवा– 'मण्ड' (चु० उ०) धातु से हैं– ऐसा वैयाकरण मानते हैं। अथवा– 'मण्ड' (जल) में उनका 'ओकः' (स्थान) होता है, इससे वे 'मण्डूक' हैं।

'मण्ड' कैसे ! अथवा– 'मद' धातु से है। अथवा 'मुद' धातु से है।

उन (मण्डूकों) की यह ऋचा है–– ॥५॥

(खं०६)

निरु०–"संवत्सरंशशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः।

वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्रमण्डूका अवादिषुः ॥
[ऋ० सं० ५, ७, ३, १] ॥

संवत्सरं शिश्याना ब्राह्मणा व्रतचारिणः- अब्रुवाणाः । अपि वा उपमार्थे स्यात्— ब्राह्मणा इव व्रतचारिणः- इति । वाचं पर्जन्यप्रीतां प्रावादिषुः मण्डूकाः ॥

अर्थः- "संवत्सरम्०" इस ऋचा का वसिष्ठ ऋषि है।

'संवत्सरम्' वर्ष भर शशयानाः' (शिश्यानाः) न बोलने से सोये हुये जैसे 'ब्राह्मणाः' (ब्रुवाणाः सर्वथा सन्तो वक्तुम्) सब प्रकार से बोलने वाले होकर भी 'व्रतचारिणः' (अब्रुवाणाः) मौनी रहते हुये— अथवा (ब्राह्मण शब्द) उपमा अर्थ में हो- ब्राह्मणों के समान व्रतधारी रहते हुये [जिस प्रकार ब्राह्मण वर्षा में उपाकर्म करके हाथ में पवित्र धारण करके मेखला = मूंज आदि विहित द्रव्य की तागड़ी पहिन कर नियत समय तक वेद की वाणी को बोलते रहते हैं, वैसे ही] 'मण्डूकाः' मेंढक 'पर्जन्यजिन्वितम्' मेघ से तृप्त हुई 'वाचम्' वाणी को 'प्र-अवादिषुः' (वदन्ति) बोलते हैं ॥

व्याख्या- उक्त निगम में भाष्यकारने 'ब्राह्मण' शब्द से यौगिक वृत्ति ब्रुवाण (बोलने वाला) अर्थ तथा रूढिवृत्ति से ब्राह्मण जातीय अर्थ लेकर व्याख्या धर्म का परिदर्शन किया है। अर्थात्- मन्त्रों में प्रमाण के अविरुद्ध एक शब्द के नाना अर्थ परिकल्पित करने में भी कोई हानि नहीं होती।

निरु०- वसिष्ठो वर्षकामः पर्जन्यं तुष्टाव । तं

मण्डूकाः अन्वमोदन्त । स मण्डूकान् अनुमोदमानान् दृष्ट्वा तुष्टाव ।

तदभिवादिनी एषा ऋग् भवति- ॥६॥

अर्थः- वसिष्ठ ऋषिने वर्षा की कामना से पर्जन्य (मेघ) की स्तुति की। मण्डूकों ने (मेंढकों ने) उसका अनुमोदन किया = सराहा। उस ऋषि ने अनुमोदन करते हुये मण्डूकों को देखकर स्तुति की ॥

उसको कहने वाली यह ऋचा है-॥६॥

(खं०७)

निरु०- "उप प्रवद मण्डूकि वर्षं मावद तादुरि। मध्ये ह्रदस्य प्लवस्व विगृह्य चतुरः पदः ॥"
[ ] इतिसा निगदव्याख्याता ।

'अक्षाः' अश्नुवते एनान्- इतिवा। अभ्यश्नुवते एभिः- इतिवा ।

तेषाम्- एषा भवति- ॥७॥

अर्थ-"उप प्रवद" हे 'मण्डूकि !' हे मेंढकी ! (त्वम्) तू (मा) मेरे (उप) (गम्य) पास होकर 'प्रवद' खूब बोल 'वर्षम्' वर्ष भर 'आ' सामने होकर 'वद' बोल 'तादुरि' हे तैरने के स्वभाव वाली। 'ह्रदस्य' तलाव के 'मध्ये' बीच में 'चतुरः' चारों 'पदः' पैरों को 'विगृह्य' फैलाकर 'प्लवस्व' तैर।

यह ऋचा अपने उच्चारण से ही व्याख्यान की हुई है।

'अक्षाः (४) (पासे) यह निर्वचन करने योग्य है।

'अक्ष' क्यों ? 'अश्नुवते एनान्' जुवारिये इन्हें हाथों से

अशन (व्यापन) करते हैं। अथवा इनसे जुवारिये दूसरे जुवारिये से धन को अशन करते हैं- लेते हैं। '

उन (पाशों) की स्तुति करने वाली यह ऋचा है- ॥७॥

(खं०८)

निरु०- "प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे वर्वृतानाः। सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान्॥"[अ०७अ०८व३]

प्रवेपिणो मा महतो विभीदकस्य फलानि मादयन्ति। प्रवातेजाः प्रवणेजाः। इरिणे वर्त्तमानाः।

'इरिणं' निर्ऋणम्। ऋणातेः। अपार्णं भवति अपरता ओषधयः अस्मात्- इतिवा।

सोमस्येव मौजवतस्य भक्षः।

'मौजवतः' मूजवति जातः।

'मूजवान्' पर्वतः। मुञ्जवान्।

'मुञ्जः' विमुच्यते इषीकया।

'इषीका' इषतेर्गतिकर्मणः। इयमपि 'इषीका' एतस्मादेव।

'विभीदकः' विभेदनात्।

'जागृविः' जागरणात्।

मह्यम्- अचच्छत्। प्रशंसति एनान् प्रथमया निन्दति उत्तराभिः, ऋषेः अक्षपरिद्यूनस्य एतद्-

आर्षं वेदयन्ते ॥

'ग्रावाणः' हन्ते र्वा । गृणाते र्वा । गृह्णाते र्वा ॥ तेषाम्-एषा भवति- ॥ ८ ॥

अर्थः- "प्रावेपाः०" यह ऋचा अक्षपुत्र मौजवत ऋषि की है ।

[एते अक्षाः-] ये अक्ष या पासे 'प्रावेपाः' (प्रवेपिणः) बहुत कांपने वाले 'बृहतः' (महतःवृक्षस्य) बड़े वृक्षके हैं- किसी बहुत कांपने वाले वृक्षसे उपजे हैं = बने हुए हैं । 'प्रवातेजाः' (प्रवणेजाः) बहुत वायुके या जलके स्थान में या काल में उत्पन्न हुये हैं । 'इरिणे' (अपगतर्णे) जहां पुत्र पौत्र आदि तक ऋण नहीं जाता, किन्तु अपने तक ही रहता है, ऐसे स्थान में उत्पन्न हुए हुए, 'मौजवतस्य' मूजवान् पर्वत में उत्पन्न हुए हैं, 'सोमस्य' सोमके 'भक्षः-इव' भक्षण के समान 'मा' मुझे 'मादयन्ति' (हर्षयन्ति) हर्षित करते हैं अथवा (तर्पयन्ति) तृप्त करते हैं । और जो 'विभीदकः' कोष्ठ का भेदन करने वाला 'जागृविः' जागरण का करने वाला तथा 'मह्यम्' मेरे लिये 'अच्छान्' (अचच्छदत्) (प्रशंसति-एनान्) इनकी प्रशंसा करता है, (तस्य विभीदकस्य फलानि) उस विभीदक वृक्ष के ये फल हैं ॥

'इरिण' क्या ? निर्ऋण होता है । (क्योंकि-जूवा के स्थान में हारने से जो ऋण होता है, वह हारने वाले के पुत्र पौत्र पर नहीं जाता, किन्तु उस पुरुष तथा उस स्थान में ही रहता है ।) 'ऋ' (क्र्या०प०) धातु से है । अथवा 'इरिण' ऊषर भूमि होती है । क्योंकि-'अपरता ओषधयः अस्मात्' इससे ओषधि गई हुई होती हैं—इसमें कुछ उपजता नहीं ।

'मौजवत' क्या ? मूजवान् में उत्पन्न।

'मूजवान् ही क्या ? पर्वत वह क्यों ? मूंजवाला होने से

'मुञ्ज' क्यों ? इषीका से (तुली से) निर्मोचन की जाती है।

'इषीका' कैसे ? गति अर्थ में 'इष' (तु०प०) धातु से।, यह इषीका भी इसी से है।

'विभीदक' क्यों ? भेदन करने से।

'जागृवि' क्यों ? जागरण से। क्योंकि—जो जुवामें हारता है वह दुःख से जागता है; और जीतता है, वह सुख से = हर्ष से जागता है।

पहिली ऋचा से इनकी प्रशंसा करता है, और अगली ऋचाओं से इसकी निन्दा करता है। इस ऋचा को अक्ष-परिद्यून (अक्षपुत्र) ऋषि का आर्ष बताते हैं,-अक्षपुत्र ऋषि इसका ऋषि है, ऐसा कहते हैं।

'ग्रावाण' (५) (पत्थर) कैसे ? हिंसार्थक 'हन्' (अदा० प०) धातु से हैं। क्योंकि—इनसे हनन किया जाता है। शब्द अर्थ में 'गॄ' (क्र्या०प०) धातु से हैं। क्योंकि—इनसे शब्द होता है अथवा 'ग्रह' (क्र्या०प०) धातु से हैं। क्योंकि ये कूटने आदि क्रिया के लिये ग्रहण किये जाते हैं।

उन ग्रावों (पत्थरों) की स्तुति की यह ऋचा है—॥८॥

व्याख्या

"प्रावेपा०" मन्त्र में—जिस वस्तुमें जो गुण या दोष होते हैं, वे सब प्रायः उसके कारण से ही आए हुए होते हैं, इसी न्याय से अक्षों के सब गुण दोषों को उनके कारण भूत वृक्ष में ऋषि देखता है। इन में जो कम्पन मादन जागरण और

भेदन आदि धर्म, हैं वे सब उनके उत्पत्ति स्थान वृक्षसे आएं हुये हैं, इसी प्रकार संसार की अन्य २ वस्तुओं में या प्राणियों में देखना चाहिये यह मन्त्र का उपदेश है ॥८॥

(खं० ६)

निरु०-प्रैते वदन्तु प्रवयं वदाम ग्रावभ्यो वाचं वदता वदद्भ्यः। यदद्रयः पर्वताः साकमाशवः श्लोकं घोषं भरथेन्द्राय सोमिनः॥" (ऋ०सं० ८, ४, २९, १)॥

प्रवदन्तु एते, प्रवदाम वयं, ग्रावभ्यो वाचं वदत वदद्भ्यः यद्-अद्रयः पर्वताः आदरणीयाः सह सोमम्-आशवः क्षिप्रकारिणः।

'श्लोकः' शृणोतेः।

'घोषः' घुष्यतेः।

सोमिनो यूयं स्थ-इतिवा। सोमिनो गृहेषु इतिवा।

येन नराः प्रशस्यन्ते स 'नाराशंसो' मन्त्रः।

तस्य-एषा भवति—॥९॥

अर्थः-"प्रैते वदन्तु०" इस ऋचा का अर्बुद ऋषि है।

हे ग्रावो! (पत्थरों) 'यद्' (यस्मात्) जिस से कि (यूयम्) तुम 'अद्रयः' (आदरणीयाः) आदर के योग्य हो, 'पर्वताः' (पर्ववन्तः) पर्वों वाले हो-ग्रन्थियों वाले हो, 'साकम्' (सह) साथ मिले हुए 'आशवः' 'सोमम् अश्नीथ' सोम को अशन करते हो-कूटते हो, और उस सोमको कूटते

हुए तुम 'इन्द्राय' इन्द्र के अर्थ 'श्लोकम्' श्रवणीय = मनको लुभाने वाले 'घोषम्' (शब्दम्) शब्द को 'भरथ' धारण करते हो, और जो (यूयम्) तुम 'सोमिनः' सोम वाले (स्थ) होते हो अथवा सोम वाले यजमान के (गृहेषु) घरोंमें (एवं कुरुध्वे) ऐसा करते हो [इस कारण तुम से कहता हूं–] 'एते' (उद्गातारः) ये उद्गाता = गाने वाले ऋत्विज् तुम्हारे अर्थ स्तुतिएं 'प्रवदन्तु' कहें या गावें। और 'वयम्' हम होता लोग 'प्र-वदाम' स्तुतिएं कहें। और [अध्वर्युओं से भी हम कहते हैं कि–] (यूयमपि) तुम भी 'वदद्भ्यः' बोलते हुओ 'ग्रावभ्यः' पत्थरों के लिये 'वाचम्' वाणी को 'वदत' बोलो।

'नाराशंस' (६) शब्द का निर्वचन कर्त्तव्य है।

'नाराशंस' कौन है ? येन नराः प्रशस्यन्ते सः नाराशंसो मन्त्रः' जिस से नर (मनुष्य) स्तुति किये जाते हैं, वह 'नाराशंस' मन्त्र होता है–'नाराशंस' एक प्रकार का मन्त्र होता है। क्योंकि–उससे नरोंकी = मनुष्यों की प्रशंसा कीजातीहै।

"तस्य०" उस नाराशंस मन्त्र की यह ऋचा उदाहरण है, अथवा उस नर विशेष भावयव्य की प्राधान्य स्तुति की यह ऋचा है ॥६॥

व्याख्या।

इस देवता काण्ड में यह 'नाराशंस नाम पढ़ा गया है, और आचार्य ने स्वयम् यह व्याख्यान किया है कि–यह नाम मन्त्र विशेष का है, इससे प्रकरण के अनुसार ऐसी प्रतीति होती है कि– और पदार्थों के समान मन्त्र की स्तुति भी मन्त्रों में आती होगी ? किन्तु ऐसा नहीं है। 'नाराशंस'

मन्त्र वही है, जिस में नरों की स्तुति हो इस से नरों की प्राधान्यस्तुति वाली ऋचा ही इसका उदाहरण होसकती है।

यद्यपि जिसकी मन्त्र में स्तुति होती है, उसीका नाम समाम्नाय में पढा जाता है, इससे मनुष्यों के ही नामों का समाम्नाय में समाम्नान होना चाहिये था, तथापि नरों की कोई सामान्य स्तुति = नरमात्र की स्तुति = नर जातीय की अनुगत या व्यापक स्तुति मन्त्रों में नहीं आती, बलकि–राजाओं की स्तुति आती है, और उनकी भी राजामात्र की स्तुति नहीं, बलकि किसी किसी विशेष व्यक्ति की एक २ करके स्तुति आती है, इसी से नरों के नामों का समाम्नान (पाठ) न करके 'नाराशंस' मन्त्र का नाम ही पढ़ागया है, और उसके उदाहरण के लिये भावयव्य राजा की स्तुति की ऋचा दी जाती है ॥ ६ ॥

(खं० १०)

निघ०-"अमन्दान्स्तोमान्प्रभरे मनीषा सिन्धावधि क्षियतो भाव्यस्य । यो मे सहस्रममिमीत सवानतूर्तो राजा श्रव इच्छमानः ॥" [ऋ० सं० २, १, ११, १] ॥

अमन्दान् स्तोमान् अबालिशान्, अनल्पान् वा। 'बालः' बलवर्त्ती । भर्त्तव्यो भवति । अम्बा अस्मै अलं भवति इति वा । अम्बा अस्मै बलं भवति इतिवा । बलो वा प्रतिषेधव्यवहितः ।

प्रभरे मनीषया । मनसः ईषया, स्तुत्या, प्रज्ञया

वा । सिन्धौ अधिनिवसतः भावयव्यस्य राज्ञः यः मे सहस्रं निरमिमीत सवान् अतूर्तो राजा । अतूर्णः इति वा । अत्वरमाणः इति वा । प्रशंसाम् इच्छमानः ॥१०॥

इति नवमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥९,१॥

अर्थः— "अमन्दान्स्तोमान्" दान से संतुष्ट होकर कक्षीवान् ऋषि कहता है —

(अहम्) मैं (तस्य) उस 'सिन्धौ-अधि' सिन्धु नदी के ऊपर (समीप) 'क्षियतः' (निवसतः) बसने वाले 'भाव्यस्य' (भावयव्यस्यराज्ञः)भावयव्य राजा के 'मनीषा' (मनीषया = मनसः ईषया = स्तुत्या = प्रज्ञया वा) मनकी प्रेरित या प्रेरणा की हुई स्तुति से अथवा बुद्धि से 'अमन्दान्' (अबालिशान्) अनल्पान् वा) जो मूर्खों के योग्य नहीं , ऐसे अथवा बहुत घने 'स्तोमान्' स्तोमों को = स्तुतियों को 'प्रभरे' (प्रहरे = उच्चारये) उच्चारण करता हूं । 'यः' (राजा) जिस राजा ने 'अतूर्तः' (अतूर्णः इतिवा अत्वरमाणः इति वा)विना वेग के या विना घबराहट के 'श्रवः (प्रशंसाम्) इच्छमानः' अपनी प्रशंसा = अटल कीर्त्तिको इच्छा करते हुये ने 'मे' मेरे 'सहस्त्रं' हजार 'सवान्' यज्ञों को 'अमिमीत' (निरमिमीत) सिद्ध किया है—· बहुत यज्ञो के उपकरण = सामान दिये हैं ॥

'बाल' क्यों ? वह बलवर्ती = बल में रहने वाला होता है । अथवा भर्त्तव्य (पालने योग्य) होता है । अथवा अम्बा (माता) इस के लिये अलम् या पर्याप्त(बस) होती है, इससे

'बाल' है। अथवा अम्बा (माता) इसके लिये बल होती है। इससे यह 'बाल' है। अथवा बल इसमें नहीं होता इससे यह 'बाल' है॥ १०॥

इति हिन्दी निरुक्ते नवमाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ९।१

द्वितीयः पादः॥

(खं०१)

निघ०— रथः॥७॥ दुन्दुभिः॥८॥ इषुधिः॥९॥हस्तघ्नः ॥१०॥ अभीशवः॥ ११॥ धनुः ॥१२॥ ज्या ॥१३॥इषुः॥१४॥अश्वाजनी ॥१५॥ उलूखलम् ॥१६॥

निरु०— यज्ञसंयोगाद् राजा स्तुतिं लभेत। राजसंयोगाद् युद्धोपकरणानि। तेषां रथः प्रथमागामी भवति॥

'रथः' रंहतेर्गतिकर्मणः। स्थिरते र्वा स्याद् विपरीतस्य। रममाणःअस्मिन् तिष्ठति इतिवा। रपतेर्वा। रसतेर्वा।

तस्य- एषा भवति-॥१(११)॥

अर्थः- यज्ञके संयोग से राजा स्तुति को प्राप्त हो या होता है। राजा के संयोग से युद्धके उपकरण = साधन [स्तुति को प्राप्त हों या होते हैं]।

उन युद्ध के उपकरणों में 'रथ' प्रथम (मुख्य) है। क्योंकि और युद्ध के उपकरण उसी में रखे जाते हैं।

'रथ' कैसे ? गति अर्थ में 'रंह' (भ्वा०प०) धातु से है। क्यों कि-चलने के अर्थ ही उसकी उत्पत्ति है। अथवा उलटे हुए 'स्थिर' (नामधा०) से हो।

अर्थात् 'स्थिर' होता हुआ 'रथ' कहा गया होसकता है। क्यों कि उसमें बैठा हुआ योद्धा जैसा सुप्रतिष्ठित होता है, वैसा अन्य अश्व आदि में नहीं। अथवा 'रप' (भ्वा०प०) धातु से है। क्यों कि—उससे शत्रु को रपण या मोह होता है। अथवा 'रस' (भ्वा० प०) धातु से है। क्यों कि- उसमें बैठे हुये को रस का आस्वादन जैसा होता है।
"तस्य" उस रथ की यह स्तुति है ॥१(११)॥

व्याख्या

देवता से अन्य वस्तुओं की स्तुति का हेतु

मन्त्रों में देवताओं की ही स्तुति होती है और होना चाहिये, क्यों कि वेही स्तुति करने वाले की कामनाओं को अपने माहाभाग्य से पूर्ण कर सकते हैं, किन्तु अन्य असमर्थ राजा और रथ आदि नहीं, अतः उन की स्तुति मन्त्रों में क्यों आती है।

इसी प्रश्न का उत्तर भाष्यकार "यज्ञसंयोगात्" इस न्याय से देते हैं। क्या भाष्यकार यह उत्तर अपनी ओर से देते हैं ? नहीं, यह "अमन्दान्०" इस मन्त्रोक्त भावयव्य राजा की स्तुति के हेतु का ही अनुवादमात्र करते हैं, अर्थात्- जिससे कि— उसने कक्षीवान् के सहस्र (हजार) यज्ञों का साधन किया था, इसी से उसकी उक्त ऋषि के द्वारा मन्त्र में स्तुति है। यही यज्ञ के संयोग से स्तुति कह-

जाती है। भाव यह कि— यह मुख्यतया राजा की स्तुति नहीं, यज्ञ की ही है, उसी के संबन्ध से वह स्तुत होता है। तथा इसके सम्बन्ध से युद्ध के साधन स्तुत होते हैं। ऐसा कोई आचार्य मानते हैं।

दूसरे आचार्य इसे "स्तुतिसंक्रमन्याय" कहते हैं। उनका यह अभिप्राय है कि—उक्त मन्त्र में भावयव्य की स्तुति का कारण वही है, जो युद्ध के उपकरणों की स्तुति का है, किन्तु कोई पृथक् कारण नहीं है। इसी प्रयोजन को लक्ष्य करके भाष्यकार—"यज्ञसंयोगात् राजा स्तुतिंलभते। राजसंयोगात् युद्धोपकरणानि" ऐसा कहते हैं।

अर्थात्—यहां मन्त्र में राजस्तुति के प्रश्नका जो उत्तर भाष्यकार ने दिया है, उसका अभिप्राय भगवद् र्गाचार्य कहते हैं कि—पुराने टीकाकारों ने दो प्रकार से समझा है, उसमें पहिले मतका अभिप्राय है कि— राजा की स्तुति का हेतु वही है, जो मन्त्र में कहा हुआ है। अर्थात्—भावयव्य राजा ने कक्षीवान् ऋषिके सहस्र यज्ञों में सहायता पहुंचाई, उसी (यज्ञसंयोग) से उसकी स्तुति मन्त्र में हुई और राजा के संयोग से युद्धोपकरण रथ आदिकों की स्तुति मन्त्रों में आती है। यहां इस प्रथम मत में, क्योंकि— यज्ञ कर्म प्रशंसायुक्त है, इस से उस प्रशंसायुक्त कर्म के करने से राजा भी प्रशंसा-युक्त होता है, इस लिये राजा भी मन्त्रों में स्तुति के योग्य हो जाता है। अर्थात्—राजा की प्रशंसा यज्ञ की प्रशंसा के अधीन है। एवम् युद्धोपकरण रथ आदिकों की जो मन्त्रों में प्रशंसा आती है, उसका उत्तर भी इसी प्रकार से दिया जाता

है, कि-राजा लोकमें प्रशंसा-युक्त होता है, उसके सम्बन्ध से युद्ध के उपकरण रथ आदि भी प्रशंसा युक्त होते हैं। यहां राजा की प्रशंसा के अधीन युद्धोपकरण रथ आदिकों की प्रशंसा है, किन्तु स्वतः उनमें प्रशंसा की योग्यता नहीं है।

दूसरे आचार्योंने इन पूर्वाचार्यों के हेतु को यों उचित नहीं समझाकि वे मन्त्रों में राजा की स्तुतिका हेतु यज्ञसयोग बताते हैं, और रथ आदिकों की स्तुति का हेत उनमें राज-सयोग को बताते हैं, सुतराम् दोनों स्थानोंमें अलग २ प्रशंसा का हेतु आता है,किन्तु एक नही। तथा एक वस्तु रथ आदि की प्रशंसा के कारण को पूछते हैं,तो उन में राजसंयोग को हेतु बताते हैं, किन्तु राजा में भी क्या प्रशंसा का हेतु है? यह प्रश्न अवशिष्ट रहजाता है। जब उसका उत्तर उसमें यज्ञ संयोग से देते हैं, तब वही प्रश्न उस यज्ञ में उपस्थित हो जाता है, अतः उनके मतमें यह प्रश्न पूरा ही नहीं होता तथा सब स्थानों में पृथक् २ ही हेतु रहता है। इस दोपकी निवृत्तिके लिये दूसरे पण्डितों ने उस हेतु को खोज निकाला जो सब स्थानों में समान रूप से मिलता है तथा वह सर्वा-नुगत सर्वत्र व्यापक आत्मवस्तु ही है। जहां वह नहीं ऐसी कोई वस्तु नहीं। अतः उस आत्मवस्तु के लक्ष्य से हम जिस किसी वस्तु की भी स्तुति कर सकते हैं, और वह स्तुति आत्म वस्तु से स्तुति संक्रमन्याय से सब वस्तुओं में धारा प्रवाह रूपसे अनुवर्त्तमान होती है। यही वैदिक सनातन सिद्धान्त है। यहां पर स्तुति संक्रमन्याय से राजा तथा रथ आदिमें आत्मवस्तु से स्तुति किस प्रकार आती है, इस की व्याख्या आगे पढ़िये।

इस न्यायके अनुसार वे इस प्रकरण को इस प्रकार वर्णन करते हैं कि—अश्वमेध यज्ञ में सब युद्ध के साधनों के सहित रथ में बैठे हुए कवचको धारण किये हुये राजा की "जीमूतस्येव भवति प्रतीकम्" इस मन्त्र से स्तुति की जाती है। वह क्यों ? इस भूमिका को लेकर भाष्यकार कहते हैं

"यज्ञसंयोगाद् राजा स्तुतिं लभेत" अर्थात्—पहिले राजा यज्ञ के संयोग से स्तुति को प्राप्त होता है, और उसके संबन्ध से युद्धोपकरण। 'युद्धोपकरण' क्यों हैं ? वे युद्ध के लिये उपकृत = उपयुक्त होते हैं, या युद्ध में उपकार करते हैं।

सो यह आचार्यने व्यापी = व्यापक "स्तुतिसंक्रमन्याय" दिखाया है। अर्थात्— युद्ध के उपकरण राजा के संयोग से स्तुति को प्राप्त होते हैं—उसके वे अङ्ग हैं, इस लिये उस के संबन्ध से उनकी स्तुति होती है, राजा भी यज्ञ के संबन्ध से, यज्ञ भी देवता के संबन्ध से और देवता भी आत्मा के संबन्ध से स्तुति को प्राप्त होता है। सो यह आत्मा ही अङ्ग और प्रत्यङ्ग (अङ्ग के अङ्ग) के रूप में स्थित हुआ सब अवस्थाओं में स्थित हुआ स्तुति किया जाता है। इसप्रकार यह सब स्तुति आत्मा की ही है। सो कहा भी है·—

"स्थाने स्थाने स्तुतिः सर्वा स्थानाधिपतिभागिनी।
आत्मप्रतिष्ठा बोद्धव्या तथोपकरणस्तुतिः ॥"

अर्थात्—स्थान स्थान में जो सब स्तुति है, वह स्थान के अधिपति = स्वामी की है। वैसे ही उपकरणों (रथआदिकों) की स्तुति को आत्मा में समझना चाहिये प्रयोजन यह कि

ऊपर दिखाई हुई प्रणाली के अनुसार यथासंभव मार्ग से सब स्तुति क्रम २ से आत्मा में पहुंच जाती है। वह कहीं बीच में नहीं रुकतीं। यही स्तुति संक्रमन्याय का अभिप्राय है, इस का उपयोग सब जगह करना चाहिये ॥ १ (११) ॥

(खं० २)

निरु०-"वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः। गोभिः सन्नद्धो असि वीलयस्वा स्थाता ते जयतु जेत्वानि ॥" (ऋ० सं० ६,७,३५,१) ॥

वनस्पते दृढाङ्गो हि भव अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः कल्याणवीरः गोभिः सन्नद्धो असि वीलयस्व इति संस्तम्भस्व आस्थाता ते जयतु जेतव्यानि 'दुन्दुभिः' इति शब्दानुकरणत्। द्रुमो भिन्नः इति वा। दुन्दुभ्यतेर्वा स्यात् शब्दकर्मणः। तस्य- एषा भवति- ॥२ (१२) ॥

अर्थः- "वनस्पते" यह ऋचा गर्ग ऋषिकी है। 'वनस्पते' हे वानस्पत्य ! वनस्पति के पुत्र रथ ! 'वीड्वङ्गः' (दृढाङ्गः) दृढ अङ्गोंवाला 'भूयाः' (भव) हो। और फिर 'अस्मत्सखा' हमारा सखा 'प्रतरणः' संग्रामों के पार लेजाने वाला 'सुवीरः' (कल्याणवीरः) नहीं डरने वाला तथा नहीं खण्डित होने वाला आरोही (चढने वाले) वाला हो। [और तेरा बचाव हमने करदिया है, क्योंकि-] तू 'गोभिः' गोओं के चर्म से अथवा चर्बी से 'सन्नद्धः' सब ओर से मढाहुआ है,

इस कारण 'वीलयरव' (संस्तभस्व) अपने को थाम। 'ते' तेरा 'आस्थाता' चढने वाला 'जेत्वानि' (जेतव्यानि) जेय = जीतने योग्य शत्रुओं 'जयतु' जीते ॥

'दुन्दुभिः' (८) यह शब्द के अनुकरण पर है जैसा ही वह ताडित हुआ 'दुम् दुम् भि– दुम् दुम् भि' शब्द करता है, वही उसका नाम है। अथवा 'द्रुमो भिन्नः' (वृक्ष कटा) इन दो पदों से है– 'द्रुम' से पहिला भाग 'दुन्दु' और 'भिन्न' से दूसरा भाग 'भि', इस प्रकार 'दुन्दुभि' पद है। अर्थात् द्रुम (वृक्ष) के एक भाग से छांटा हुआ और चर्म से मंढाहुआ (बाजा) है। अथवा शब्द अर्थ में 'दुन्दुभ' (दि० प०) धातु से है।

उसकी यह ऋचा है—॥ २ [१२] ॥

(ख० ३)

निरु०– "उपश्वासय पृथिवी मुतद्यां पुरुत्रा ते मनुतां विष्ठितं जगत्।
सदुन्दुभे सजूरिन्द्रेण देवै र्दूराद्दवीयो अपसेध शत्रून् ॥" [ऋ०सं०४.७,३५, ४] ॥

उपश्वासय पृथिवीं च दिवं च बहुधाते घोषं मन्यतां विष्ठितं स्थावरं जङ्गमं च यत् स दुन्दुभे सहजोषणः इन्द्रेण च देवैश्च दूराद् दूरतरम् अपसेध शत्रून् ॥

"इषुधिः" इषूणांनिधानम्।

तस्य-एषा भवति-॥३ [१३] ॥

अर्थः- "उपश्वासय" यहां से सब ये युद्धोपकरण की ऋचायें हैं। भारद्वाज ऋषि है।

'दुन्दुभे,' हे दुन्दुभे! (त्वम् तू 'पृथिवीम्' सारी पृथ्वी को 'उत' और 'द्याम्' द्युलोक को उपश्वासय अपने शब्द से पूर्ण करदे। जिससे कि- 'विष्ठितम्' स्थावर और 'जगत्' जङ्गम 'ते' तेरे 'पुरुत्रा' बहुधा (घोषम्) शब्दको 'मनुताम्' [मन्यताम्] माने। 'सः' सो तू 'इन्द्रेण' इन्द्र के साथ 'देवैः' (च) और देवताओं के साथ 'सजूः' (सहजोषणः)प्रीति युक्त होता हुआ 'दूरात् दवीयः' (दूराद्ध दूरतरम्) दूर से भी बहुत दूर 'शत्रून्' शत्रुओं को 'अपसेध' हटादे, जिससे कि वे फिर न आवें। (यह हम तुम से चाहते हैं) ॥

'इषुधि' (९) क्या? इषुओं का निधि- बाणों का कोश = रखने का घर।

"तस्य" उस बाणोंके घरकी स्तुतिकी यहऋचाहै ॥३(१३)

(खं०४)

निरु० - "बह्वीनां पिता बहुरस्य पुत्र श्चिश्चा कृणोति समनावगत्य। इषुधिः सङ्काः पृतनाश्च सर्वाः पृष्ठे निनद्धो जयति प्रसूतः॥" (ऋ० सं० ५, १, १९, ५)।

बह्वीनां पिता, बहुः अस्य पुत्रः इति इषूनभिप्रेत्य प्रस्मयतेइव अपाव्रियमाणः। शब्दानुकरणं वा।

'सङ्काः' सचतेः। सम्पूर्वाद्वा किरतेः।

"पृष्ठे निनद्धो जयति प्रसूतः"- इति व्याख्यातम् ॥

'हस्तघ्नः' हस्ते हन्यते: ।
तस्य एषा भवति- ॥४ [१४]॥

अर्थ- "बह्वीनाम्०" जो यह तूण 'बह्वीनां(बहूनाम्)' पिता बहुत बाणों का पिता = पालन करने वाला है, और 'अस्य' इसको (जिसका) 'बहुः' बहुत बाण समूह 'पुत्रः' पुत्र = बहुत का त्राण करने वाला रक्षा करने वाला [पुत्र] है (सः)सो यह'चिश्चा कृणोति' (प्रस्मयते इव) (अपाव्रियमाणः) खोला जाता हुआ मुसकिराता जैसा है। क्यों कि-चित्र विचित्र रंग के बाणों के मुठिये होते हैं, जो कि-तूण के मुख की ओर होते हैं और खोलते ही चमकते हैं, उन्हीं से तूण की ऐसी शोभा वर्णन की गई है। इस पक्ष में 'चिश्चाति' धातु नया कल्पित करना पड़ता है। क्यों कि-" विकारपक्षेषुतदर्थान्यधातूपादानम्" अर्थात्- 'शब्दों के अनित्यत्व पक्ष में शब्द के अर्थ में और २ धातुओं का ग्रहण भी होता है' यह आचार्यों की परिभाषा है। अथवा यह शब्द का अनुकरण लेकर क्रिया पद है। 'चिश्चाकृणोति' 'चिश्चित्' शब्द करता है'। कब ? 'समना' संग्राम में 'अवगत्य' जाकर (सः) सो ऐसा 'इषुधिः' तूण 'पृष्ठे' पीठ में 'निनद्धः' बंधा हुआ 'प्रसूतः' धनुष् के धारण करने वाले से फेंका गया 'सर्वाः'सब 'सङ्काः' संग्रामों को 'पृतनाश्च' और सब शत्रुओं की सेनाओं को 'जयति' जीत लेता है ॥

'हस्तघ्न' (१०) = कलापीपट्टक = हाथ की रक्षा के अर्थ कलाई में बांधने का पट्टा = गोधा होता है। क्यों ? 'हस्ते

हन्यते हाथ में बंधा हुआ धनुष की ज्या = तांत से हत होता है या ताड़ित होता है ।

'तस्य" उसकी यह ऋचा है-॥४ (१४) ॥

(खं० ५)

निरु०-"अहिरिव भोगैः पर्येति बाहुं ज्याया हेतिं परिबाधमानः । हस्तघ्नो विश्वा वयुनानि विद्वान् पुमान्पुमांसं परिपातु विश्वतः ॥" (ऋ०सं०५,१,२१,४)

अहिः इव परिवेष्टयति बाहुं ज्याया वधात् परित्रायमाणः हस्तघ्नः सर्वाणि प्रज्ञानानि प्रजानन् ।

'पुमान्' पुरुमना भवति । पुंसतेर्वा ।

'अभीशवः' व्याख्याताः ।

तेषाम्—एषा भवति- ॥५(१५)॥

अर्थः-"अहिरिव०" (योऽयम्) जो यह 'हस्तघ्नः' कलापीपट्ट 'ज्यायाः' प्रत्यञ्चा = धनुष् की तांत के 'हेतिम्' (वधात्) वध से 'परिबाधमानः' (बाहुं सर्वतः परित्रायमाणः) भुजा को सब ओर से बचाता हुआ 'अहिः' (सर्पः) 'इव' सर्प के समान 'भोगैः' कुटिल भावों से 'बाहुम्' भुजा को 'पर्येति' (परिवेष्टयति) लपेट लेता है, सर्प के पकड़ने वाले पुरुष के बाहु को जैसे वह लपेट लेता है, उसी प्रकार धनुष्मान् पुरुष के हाथ में लिपटा हुआ = बंधा हुआ जो हस्तघ्न उस के बाहु को धनुष् की प्रत्यञ्चा के आघात से रक्षा करता है, वह

हस्तघ्न 'विश्वा' (सर्वाणि) सब 'वयुनानि' (प्रज्ञानानि) विज्ञानों को 'विद्वान्' (जानानः) जानते हुए 'पुमान्' पुरुष के समान 'पुमांसम्' (एतं धनुर्धरम्) इस धनुष् के धारण करने वाले पुरुष को 'विश्वतः' सब ओर से 'परिपातु' रक्षा करे [यह हम चाहते हैं]।

'पुमान्' क्या ? 'पुरुमनाः' वह स्त्री की अपेक्षा बड़े मन वाला होता है। अथवा पुरुषार्थ अर्थ में 'पुंस' (भ्वा०प०) धातु से है। क्योंकि-वह महाकार्यों के लिये उद्यम करता है।

'अभीशवः' (११) (अङ्गुलयः) अङ्गुलियों का वाचक 'अभीशु' शब्द व्याख्यान किया जाचुका [अ०३पा०२खं०३में]

"तेषाम्०" इन अभीशुवों की = अङ्गुलियों की यह ऋचा है-॥५(१५)॥

(खं० ६)

निरु० "रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो यत्र यत्र कामयते सुषारथिः। अभीशूनां महिमानं पनायत मनः पश्चादनुयच्छन्ति रश्मयः ॥" [ऋ० सं० ५, १, २०, १) ॥

रथे तिष्ठन् नयति वाजिनः पुरस्तात् सतो यत्र यत्र कामयते सुषारथिः = कल्याणसारथिः। अभीशूनां महिमानं पूजयामि । मनः पश्चात् सन्तः अनुयच्छन्ति रश्मयः ॥

'धनुः' धन्वतेर्गतिकर्मणः । वधकर्मणो वा । धन्वन्ति अस्माद् इषवः ।

तस्य- एषा भवति- ॥६ (१६)॥

अर्थः-"रथे तिष्ठन्०" जो कि- यह 'सुषारथिः' (कल्याणसारथिः) चतुर सारथि 'रथे' रथ में = रथ के जूयें पर 'तिष्ठन्' बैठा हुआ 'यत्र यत्र' जहां जहां 'कामयते' योद्धा इच्छा करता है, उसकी इच्छा के अनुसार 'पुरः' (पुरस्तात् सतः) आगे बढ़ते हुए 'वाजिनः' घोड़ों को 'नयति' लेजाता है, उस सब 'अभीशूनाम्' अङ्गुलिओं की महिमानम् महिमा को 'पनायत' (पूजयामि) मानता हूं = पूजता हूं - जो कि-रश्मिएं (रासें) 'मनः पश्चात्' मन के अनुसार 'अनुयच्छन्ति' घोड़ों को ले जाती हैं। अर्थात्-जिस प्रकार कि-कोई चतुर सारथि अपने स्वामी योद्धा के इच्छानुसार युद्धस्थल में अति वेग वाले भी घोड़ों को इधर उधर लेजाता है, वह सब अङ्गुलियों की महिमा है, अङ्गुलिओं के इशारे रासों पर ऐसे पड़ते हैं, जिन से घोड़े ठीक मन के अनुसार काम करते हैं, यदि अंगुलिएं न हों, तो चतुर सारथि भी क्या कर सकता है, यह ऋषि अंगुलियों की महिमा को बड़े निरूपण के साथ देखता है।

'धनुः' (१२) पद गति अर्थ में 'धन्व' (भ्वा०प०) धातुसे है। क्योंकि- उसी से बाण चलते हैं। अथवा वध अर्थ में उसी धातु से है। क्योंकि- वह शत्रु के वधके अर्थ ही उत्पन्न होता है॥

तस्य०" उस धनुष् की स्तुति की यह ऋचा है॥६(१६)

(खं०७)

निरु०-"धन्वना गा धन्वनाजिं जयेम धन्वना

तीव्राः समदो जयेम । धनुः शत्रोरकामं कृणोति धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम ॥" (ऋ सं ५, १, १९, १) इति सा निगदव्याख्याता ॥

'समदः' समदो वा अत्तेः । सम्मदो वा मदतेः ।

'ज्या' जयतेर्वा । जिनातेर्वा । प्रजावयति इषून् इतिवा ।

तस्य एषा भवति ॥७(१७)॥

अर्थः— "धन्वना०" "धन्वना गाः जयेम" धनुष् से हम शत्रुओं से गौओं को जीतें। "धन्वना आजिं जयेम" धनुष् से हम चांद मारी को जीतें- जहां परस्पर की स्पर्द्धा से योद्धा लोग अपनी लक्ष्य वेध की चतुराई को प्रकाश करने के ही अर्थ अथवा वितर्क भाव से अपने प्रताप को दिखाने के अर्थ बाण चलाते हैं, उस आजि (बाजी) को हम धनुष से जीतें। "धन्वना तीव्राः समदो जयेम" धनुष से हम दारुण संग्रामों को जीतें,-जहां अनेक शस्त्रों के सम्पात संकट हैं अनेक वीर पुरुष व्याप्त हैं, उन्हें भी हम जीतें। "धनुः शत्रोः अकामं कृणोति" धनुष् शत्रु को कामना रहित कर देता है-उसकी सब कामनाओं को जो हम से हैं नष्ट कर देता है। "धन्वना सर्वा प्रदिशो जयेम" धनुष् से हम सब दिशाओं को जीतें।

यह ऋचा अपने उच्चारण से ही व्याख्यान की हुई है।

'समदः' (संग्राम) कैसे ? समदः = सम्+अद्। 'सम्' उप-

सर्ग सहित भक्षण अर्थ में 'अद्' (अदा०प०) धातु से है। क्योंकि उस में परस्पर योद्धाओं में एक दूसरे का भक्षित जैसा होता है। अथवा 'सम्मद्' होने से वह 'समद्' है। क्यों कि उस में योद्धा बहु मदयुक्त होते हैं। यह 'मद्' (भ्वा०आ०) धातु से है।

'ज्या' (१३) (प्रत्यञ्चा धनुष् की तांत) कैसे ? जय अर्थ में 'जि' (भ्वा०प०) धातु से है। क्यों कि- उसके बल से जय प्राप्त होता है। अथवा वयस् की हानि अर्थ में 'ज्या (क्र्या०प०) धातु से है। क्योंकि-उस के द्वारा प्रतियोद्धाओं के वय की हानि होती है। अथवा 'प्रजावयति इषून्' बाणों का प्रजवन करती है-फेंकती है इस से 'ज्या' है।

उस 'ज्या' की यह ऋचा है- ॥ ७ (१७) ॥

(खं० ८)

निरु०- " वक्ष्यन्ती वेदा गनीगन्ति कर्णं प्रियं सखायं परिषस्वजाना। योषेव शिङ्क्ते वितताधि धन्वञ्ज्या इयं समने पारयन्ती ॥ " [ऋ० सं० ५, १, १९, ३] ॥

वक्ष्यन्ती-इव आगच्छति कर्णं प्रियमिव सखायम् इषुं परिष्वजमाना योषाइव शिङ्क्ते शब्दं करोति। वितता अधि धनुषि ज्याइयं समने संग्रामे पारयन्ती पारं नयन्ती ॥

'इषुः' ईषतेर्गतिकर्मणः। वधकर्मणो वा।

तस्य एषा भवति- ॥ ८ (१८) ॥

अर्थः- " वक्ष्यन्ती-इव-इद्-आगनी गन्ति (आगच्छति) कर्णम् " ' इयं ज्या ' यह ज्या कुछ कहेगी जैसी कान के पास आती है-जैसे कोई स्त्री किसी इष्ट पुरुष के लिये कुछ रहस्य = गुप्त बात कहने को उसके कान के पास आती है, वैसे ही यह प्रत्यञ्चा (तांत) बाण चलाने की इच्छा वाले पुरुष से बाएं हाथ से खेंची हुई बाएं कान के पास और दाहिने हाथ से खेंची हुई दाहिने कान के पास अपने मध्य में बाण को लिये हुए आती है। कैसे ! " प्रियं सखायं परिषस्वजाना " (प्रियमिव सखायं परिष्वजमाना) प्यारे सखा को जैसे बाण को आलिङ्गन करती हुई " योषा-इव शिङ्क्ते (शब्दं करोति) वितता अधि धन्वन् (धनुषि) " धनुष् के ऊपर तनी हुई स्त्री के समान 'शी' कार शब्द करती है। "इयं ज्या समने पारयन्ती (अस्तु) " यह प्रत्यञ्चा हमें संग्राम में शत्रुओं के पारको = अन्तको पहुंचाने वाली हो ॥

'इषु' (बाण) (१४) पद गति अर्थ में 'ईष' (भ्वा० आ० प०) धातु से है। क्योंकि-वह चलने के अर्थ ही किया जाता है। अथवा वध अर्थ में उसी धातुसे है। क्योंकि—वह वधके अर्थ ही जाता है।

"तस्य०" उस इष (बाण) की यह ऋचा है-॥८ (१८) ॥

(खं० ६)

निरु० "सुपर्णं वस्ते मृगो अस्या दन्तो गोभिः

सन्नद्धा पतति प्रसूता । यत्रा नरः सञ्च विचद्र-वन्ति तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यंसन् ॥" [ऋ० सं० ५, १, २१, १ य० सं० २९, ४७] ॥

सुपर्णं वस्ते-इति वाजान्-अभिप्रेत्य । मृगमयः अस्याः दन्तः । मृगयते वा । गोभिः संनद्धा पतति प्रसूता-इति व्याख्यातम् । यत्र नराःसन्द्र-वन्ति च विद्रवन्ति च, तत्र इषवः शर्म यच्छन्तु शरणं संग्रामेषु ॥

'अश्वाजनी' कशा-इत्याहुः ।

'कशा' प्रकाशयति भयम् अश्वाय । कृष्यते वा अणूभावात् ।

वाक् पुनः । प्रकाशयति अर्थान् । खशया । क्रोशते वा ।

अश्वकशाया एषा भवति ॥९[१९] ॥

अर्थः- "सुपर्णं वस्ते०" (ये एसे 'इषवः' जो ये 'इषु' बाण 'सुपर्णम्' सुन्दर पांख को 'वस्ते' (वसते) धारण करते हैं [बाजों के अभिप्राय से अर्थात्- वे चलते हुये देखने वालों को बाज पक्षियों जैसे प्रतीत होंगे], 'अस्याः' (एषाम्) इनका 'मृगः' (मृगमयः) मृग का बना हुआ(मृगयतेर्वा)अथवा शत्रुओं को या लक्ष्यों को ढूढने वाला दन्तः' दांत = अग्रभाग है । [पहिले अर्थ में मृग के समान दौड़ने से या मृग के चर्म से

बधा हुआ होने से मृग या मृगमय कहा गया और दूसरे पक्ष में ढूंढना अर्थ में 'मृग' (चु० आ०) धातु से है] " गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता" गो की चर्बी या बाधी से बंधे हुये धनुर्धारी से फेंके हुये चलते हैं [यह वाक्य (निरु० २अ० २ पा० १ खं०)में व्याख्यान किया जा चुका है]।"यत्रानरः संच विचद्रवन्ति" (यत्रनराः संद्रवन्ति च विद्रवन्ति च) जहां मनुष्य संघटित होते हैं = इकट्ठे होते हैं और बिद्रुत हो जाते हैं = निकल जाते हैं- "तत्र संग्रामेषु) अस्मभ्यम् इषवः शर्म (शरणं) यंसन् [यच्छन्तु]" उन संग्रामों में इषु (बाण) हमारे लिये कल्याण या शरण देवें ।

'अश्वाजनी' [१५] को कशा = चाबुक ऐसा कहते हैं ।

'कशा' क्यों ? अश्व के लिये भय प्रकाश करती है । अथवा चर्म से भी कृश या अणु = सूक्ष्म होती है, इससे 'कशा' है ।

और वाक् (वाणी) भी 'कशा' होती है । क्यों कि- वह अर्थों को प्रकाश करती है । अथवा खशया = आकाश मेंसोने वाली होती है, इससे 'खशया' होती हुई 'कशा' होजाती है अथवा शब्द अर्थ में 'क्रुश' (भ्वा० प०)धातु से है * क्यों कि वह क्रोशन की जाती है ।[अथवा तीव्र वाक्य कोड़े के समान मर्म में लगता है, इससे वाणी भी कशा कही जाती है ।]

अश्वकशा = घोड़े की चाबुक की यह ऋचा है॥९(१६)॥

(खं०१०)

निरु०-"आजङ्घन्तिसान्वेषाञ्जघनाँउपाजिघ्नते।

अश्वाजनि प्रचेतसोऽश्वान् समत्सु चोदय ॥"
[ऋ० सं० ५, ११, १,३] ॥ ।

आजघ्नन्ति सानूनि एषां सरणानि सक्थीनि ।
'सक्थिः' सचतेः । आसक्तः अस्मिन्कायः ।
जघनानि च उपघ्नन्ति ।

'जघनं' जङ्घन्यते । अश्वाजनि 'प्रचेतसः' प्रवृद्धचेतसः अश्वान् 'समत्सु' समरणेषु संग्रामेषु चोदय ॥

'उलूखलम्' उरुकरं वा । ऊर्ध्वखं वा । ऊर्करं वा । उरुमे कुरु इति अब्रवीत् तद् उलूखलम् अभवत् । "उरुकरं वैतत्तदुलूखलम्-इत्याचक्षते परोक्षेण" इति च ब्राह्मणम् ।

तस्य एषा भवति ॥ १० (२०) ॥

अर्थः- "आजङ्घन्ति०" हे 'अश्वाजनि !' चाबुक! 'एषाम्' (अश्वानां) 'सानू' (सानूनि = सरणानि सक्थीनि) 'आजङ्घन्ति !' इन घोड़ों के सानु = ऊंचे ऊंचे सक्थि ॥ पुट्ठों को आघात करनेवाली ! 'जघना' (जघनानि) (च) 'उपजिघ्नते !' (उपघ्नन्ति !) कमरके जोड़ों को ताड़न करने वाली ! (त्वम्) तू 'प्रचेतसः' जोषीले 'अश्वान्' घोड़ों को 'समत्सु' (समरणेषु = संग्रामेषु)संग्रामों में 'चोदय' प्रेरणाकर, जैसे कि- हम जीतें ॥

'सानु' तथा सक्थि (साथल = ऊंचे कटि प्रदेश)

क्यों ? वे सरण होते हैं- उनके बल से चलने वाले चलते हैं।

'सक्थि' कैसे? 'सच' (भ्वा०प०) धातु से। क्यों कि-इसमें सब शरीर आसक्त = लदाहुआ होता है।

'जघन' क्यों ? वह बहुत करके कोड़े से हनन = ताड़न किया जाता है।

'उलूखल' (१६) क्यों ? वह 'उरुकर' बहुत अन्न को करने वाला होता है। 'उरु' शब्द से पहिला पद और 'करोति' धातु से दूसरा पद है। अथवा 'ऊर्कर' = 'ऊर्क्' शब्द करने वाला होने से 'उलूखल' है। 'ऊर्क्' शब्द से पूर्व पद और 'करोति' धातु से ही दूसरा पद है। अथवा 'ऊर्ध्वख' = ऊपर को छेद वाला = गड्ढे वाला होने से उलखल है। यहां 'ऊर्ध्व' शब्द से पहिला पद और 'ख' शब्द से दूसरा पद है। अथवा उसने किये जाते हुये ने कहा कि- 'मेराउरु (बहुत) ख (आकाश = छिद्र) कर' इससे वह 'उलूखल' हुआ क्यों कि- उसमें वैसा ही गुण देखा जाता है।

"उरुकरं वैतत तद्- उलूखलम्- इत्याचक्षते परोक्षेण" अर्थात्- बहुत करने वाले को 'उरुकर' कहते हैं, सो यह 'उरुकर' प्रत्यक्ष अर्थ का वाचक (शब्द) ही परोक्ष रूप में 'उलूखल' है ऐसा कहते हैं यह ब्राह्मण भी है। यहां 'उरुकर' प्रत्यक्ष शब्द में 'र' के स्थान में 'ल' और 'क' के स्थान में 'ख' बदलने से 'उल खल' परोक्ष शब्द बनजाता है। क्यों कि-इस रूप में वह अर्थ 'ल' और 'ख' से ढक(ढंप) जाता है।

"तस्य०" उस 'उलूखल' की स्तुति की यह ऋचा है॥ १० (२०)॥

(खं० ११)

निरु०-"यच्चिद्धि त्वं गृहेगृहे उलूखलक युज्यसे।
इह द्युमत्तमं वद जयतामिव दुन्दुभिः॥"[ऋ० सं० १, २, २५, ५]

इति सा निगद व्याख्याता ॥११[२१]॥

इति नवमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥९।२॥

अर्थः-"यच्चिद्धि०" इस ऋचा का शुनःशेप ऋषि है। और आयजी वाजसातमा" इसका भी। सोम के अभिषव (कूटने) में विनियोग है। और अग्निचयन में इस मन्त्र से उलूखल को अभिमन्त्रण करके रख दिया जाता है।

हे 'उलूखलक' ऊखल! 'यच्चित्‌हि' यद्यपि तू 'गृहे गृहे' घर घर में 'युज्यसे' अन्न के संस्कार के अर्थ रहता है, तथापि (त्वम्) तू 'इह' इस हमारे घर में ही 'जयतां दुन्दुभिःइव' जय प्राप्त करने वालों के नगारे के समान 'द्युमत्तमम्' गम्भीर शब्द 'वद' बोल = कर। क्यों कि- जो जीतते हैं उन्हीं का दुन्दुभिः गम्भीर स्वर लगता है, और जो हारते हैं उनके दुन्दुभि का शब्द फीका होता है॥

यहऋचा अपने उच्चारण सेही व्याख्यान कीहुई है॥११(२१)॥

इतिहिन्दीनिरुक्ते नवमाध्यायस्य द्वितीयः पादः॥

तृतीयः पादः

(खं० १)

निघ०- वृषभः॥१७॥ द्रुघणः॥१८॥

पितुः ॥१६॥ नद्यः ॥२०॥ आपः ॥२१॥ ओषधयः॥२२॥रात्रिः॥२३॥ अरण्यानी ॥२४॥ श्रद्धा ॥२५॥ पृथिवी॥२६॥अप्वा ॥२७॥ अग्नार्या ॥२८॥

निरु०-'वृषभः' प्रजां वर्षति इति वा । अतिबृहति रेतः इतिवा । तद् वृषकर्मा वर्षणाद् वृषभः॥ तस्य एषा भवति ॥१ [२२]॥

अर्थः- 'वृषभ' [१७] [सांड] क्यों ? वह प्रजा = सन्तान को बरसता है। अथवा रेत या वीर्य को सेचनकरनेको अपनेको अतिशय से उद्यत करता है। सोही यह वृष (बैल) के कर्म वाला वर्षण कर्म से 'वृषभ' है। यहां 'वृष' शब्द में 'भ' (प्रत्यय) जुड़ने से 'वृषभ' होता है ॥१[२२]॥

(खं० २)

निरु०- "न्यक्रन्दयन्नुपयन्त एनममेहयन् वृषभं मध्य आजेः। तेन सूभर्वं शतवत् सहस्र गवां मुद्गलः प्रधने जिगाय ॥"(ऋ० मं० ८,५,२०,५)॥

"न्यक्रन्दयन्नुपयन्त एनम्"-इति व्याख्यातम्। अमेहयन् वृषभं मध्य आजेः = आजयनस्य = आजवनस्य-इति वा । तेन तं सूभर्वं राजानम्। 'भर्वतिः' अत्तिकर्मा । तद् वा सूभर्वं सहस्रं गवां मुद्गलः प्रधने जिगाय ।

'प्रधन' इति संग्रामनाम । प्रकीर्णानि अस्मिन् धनानि भवन्ति ॥

'द्रुघणः' द्रुममयो घनः। तत्र इतिहासम्-आचक्षते मुद्गलो भार्म्यश्व ऋषि वृषभं च द्रुघणं च युक्त्वा संग्रामे व्यवहृत्य आर्जिं जिगाय ॥

तदभिवादिनी एषा ऋग् भवति ॥२(२३) ॥

अर्थ- "न्यक्रन्दयन्नुपयन्तएनम्" इसकी पृथक् २ पदों के रूप में व्याख्या होचुकी किन्तु एक वाक्य के रूप में यह व्याख्या है—

मन्त्र को देखने वाला ऋषि कहता है—मुद्गल ऋषि से किसी ने पूछा कि— तुमने बैल से इस राजा को कैसे जीता ऋषि ने उत्तर दिया कि— सुनो । — शत्रुओं ने 'उपयन्तः पास जा जा कर 'आजेः' (संग्रामस्य) संग्राम के 'मध्ये' मध्य में वर्त्तमान 'एनम्' इस 'वृषभम्' बैल को 'न्यक्रन्दयन्' थका-ना चाहा = इसे उखाड़ना चाहा = ऐसा यत्न किया कि यह निक्रन्दन करे = हार कर बां बां करे और [अपनी थकावट मिटाने के लिये—] 'अमेहयन्' इसे गोबर कराने का यत्न किया बीच में युद्ध बन्ध करके उसे अवकाश दिया कि- यह गोबर करमके (क्योंकि बैलों का ऐसा स्वभाव होता है कि— वे निचले खड़े होकर गोबर करते हैं) [किन्तु उनके दोनों यत्न निष्फल हुये, और अन्त में] (अहम्) मैंने 'तेन' उन पूर्वोक्त गुणों वाले 'मुद्गलः' मुद्गल इस बैल से 'सूभर्वं' (राजानम्) सूभर्व राजा से ' गवां' 'शतवत्-सहस्रम्' गौओं का एक लक्ष 'जिगाय' जीता ॥

'आजि' क्या ? संग्राम । क्यों ? वह आजयन होता है- उसमें दुर्बल को सबल जीत लेता है । अथवा आजवन है— एक पर एक वेग से जाता है ।

'सुभर्व' क्या ? राजा । अथवा 'भर्व' (भ्वा० प०) धातु भक्षण अर्थ में है,उसी से यह'सुभर्व' है । क्या?सुन्दर भक्ष्य = धान्य वाला देश इसका है, इससे यह 'सुभर्व है । 'प्रधन' यह संग्राम का नाम है' क्यों कि- इसमें प्रकीर्ण (बिखरे हुये) धन होते हैं ।

'द्रुघण' (१८) क्या ? द्रुममय घन- काठ का बना हुआ यन्त्र 'द्रु' शब्द से पूर्व भाग और'घन' शब्द से दूसरा भागहै

उस 'द्रुघण' के सम्बन्ध में इतिहास कहते हैं— मुद्गल भृम्यश्व के पुत्र ऋषि ने वृषभ = बैलको और द्रुघण को जोड़ कर संग्राम में युद्ध करके आजि (संग्राम की बाजी को जीता॥

उसी इतिहास को कहने वाली यह ऋचा है ॥ २ (२३)॥

व्याख्या

"न्यक्रन्दयन्०" मन्त्र में जो मुद्गल ऋषिका सुभर्व राजा के ऊपर बैल के द्वारा विजय कहा गया है, उसी के सदृश वाल्मीकीय रामायण में वसिष्ठ की कामधेनु का विश्वामित्र के साथ युद्ध का वर्णन भीमिलता है। ऐसे अर्थोंमें पुराणोंऔर वेदोंका कैसा अच्छा संवादहै,यह ध्यानमें देनेयोग्यहै॥२(२३)॥

(खं ३)

निरु०- "इमं तं पश्य वृषभस्य युञ्जङ्काष्ठाया मध्ये द्रुघण शयानम् । येन जिगाय शतवत्सहस्र गवां मुद्गलः पृतनाज्येषु ॥" [ऋ०सं०८,५,२१,४]॥

इमं तं पश्य वृषभस्य सहयुजं काष्ठाया मध्ये द्रुघणं शयानं, येन जिगाय शतवत् सहस्रं गवां मुद्गलः पृतनाज्येषु। 'पृतनाज्यम्' इति संग्रामनाम पृतनानाम्- अजनाद् वा । जयनाद् वा ।

'मुद्गलः' मुद्गवान् । मुद्गगिलोवा। मदनं गिलति इतिवा। मदंगिलो वा । मुदं गिलोवा ।

'भार्म्यश्वः' भृम्यश्वस्य पुत्रः ।

'भृम्यश्वः' भृमयोऽस्य अश्वाः। अश्वभरणाद्वा॥

'पितु' इति अन्ननाम । पातेर्वा । पिबतेर्वा । प्यायतेर्वा ।

तस्य एषा भवति ॥२ [२४] ॥

अर्थः- "इमं तम्०" युद्ध के समाप्त होते ही, जब कि- वृषभ के साथ गाड़ी में जुता हुआ ही द्रुघण था, किसी ने मुद्गल ऋषि से पूछा कि- तुमने किस की सहायता से राजा को जीता ? मुद्गल ने द्रुघण की ओर हाथ करके कहा कि-

"इमं तं पश्य०" तू देख- उस इस बैल के साथ संयुक्त 'काष्ठा' गाड़ी के मध्यमें जुतेहुये या युद्धकेमध्यमेंभिड़े हुयेद्रुघण को, जिससे मैं मुद्गल ने एक लाख गौएं युद्धों में जीती हैं ।

'पृतनाज्य' यह संग्राम का नाम है । क्यों ? पृतनाओं के अजन (गमन) करने से । क्यों कि- उसमें पृतनायें या सेनायें गमन करती हैं । अथवा पृतनाओं के जय करने से वह पृत-

नाज्य है। क्यों कि- उसमें एक पक्षी की सेनायें दूसरे पक्ष की सेनाओं को जय (परास्त) करती हैं।

'मुद्गल' क्या ? मुद्गवाला = मूंग (अन्न) वाला। या मुद्गिल = मूंगों के गिलने वाला। [खाने वाला] अथवा मदन (काम) को गिलने वाला(जितेन्द्रिय)। अथवा मदंगिल = मद को निगलने वाला। अथवा मुदंगिल = हर्ष को निगलने वाला (विरक्त)।

'भार्म्यश्व'क्या ? भृम्यश्व का पुत्र।

'भृम्यश्व' क्या ? भृमि [घूमने वाले] इसके अश्व[घोड़े] हैं। अथवा अश्वों के भरण[पोषण] करने से वह 'भृम्यश्व' है।

'पितुः' (१९) यह अन्न का नाम है। कैसे ? रक्षा अर्थ में 'पा' [अदा० प०] धातु से है। क्यों कि- वह प्राणियों की रक्षा करता है। अथवा पान अर्थ में 'पा' (भ्वा० प०) धातु से है। क्यों कि- उसे प्राणी क्षुधाके निवारणार्थ पान करते हैं। अथवा वृद्धि अर्थ में 'प्याय' (भ्वा आ०) धातु से है। क्यों कि- उससे प्राणी पुष्ट होते हैं। उस 'पितु' (अन्न) की यह ऋचा है ॥३ (२४)॥

(खं० ४)

निरु०- "पितुं नु स्तोषं महो धर्माणन्तविषीम्। यस्य त्रितो व्योजसा वृत्रं विपर्व मर्दयत् ॥" (ऋ० सं० २, ५, ६, १) ॥

तं पितुं स्तौमि, महतो धारयितारं बलस्य, 'तविषी' इति बलनाम। तवतेर्वा वृद्धिकर्मणः। यस्य त्रितः 'ओजसा' बलेन

'त्रितः' त्रिस्थानः = इन्द्रः ।
'वृत्रं' विपर्वाणं मर्दयति ॥
'नद्यः' व्याख्याताः ।
तासाम्- एषा भवति ॥४(२५)

अर्थः- "पितुं नु०" इस ऋचा का अगस्त्य ऋषि है।

(अहं) मैं (तम्) उस 'महः' (महत्) महान् 'तविषीम्' (बलस्य) बलके 'धर्माणम्' [धारयितारम्] धारण करने वाले 'पितुम्' (अन्नम्) अन्न को 'स्तोषम्' (स्तौमि) स्तुति करताहूं 'यस्य' जिसके 'ओजसा' [बलेन] बलसे 'त्रितः' (त्रिस्थानः) त्रिलोकी के स्वामी [इन्द्रः] इन्द्र ने 'वृत्रम्' वृत्रको 'विपर्वम्' (विगलसन्धिपर्वाणम्) उसके सन्धियों के बन्धनों को तोड़ कर 'विअर्दयत्' खूब मारा- जिससे कि- यह फिर न आवे ॥

' तविषी ' यह बल का नाम है । अथवा वृद्धि अर्थ में ' तु ' (अदा० प०) धातु से है । क्यों कि- वह सब वस्तुओं से बड़ा है ।

'नद्यः' (२०) [नदियें]ये यहां अवसर में आई हैं,किन्तु इनकी व्याख्या "नदना भवन्ति शब्दवत्यः" (अ० २ पा० ७ खं० ३) यहां पर होचुकी ।

उन नदियों की यह ऋचा है ॥ ४ (२५) ॥

(खं० ५)

निरु० " इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि

स्तोमं सचता परुष्ण्या । असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया ॥" (ऋ०सं० ८, ३, ६, ५) ॥

इमंमे गङ्गे!यमुने!सरस्वति!शुतुद्रि!परुष्णि!स्तोमम्, आसेवध्वम्,असिक्न्या चसह,मरुद्वृधे!वितस्तयाच, आर्जीकीये! आशृणुहि सुषोमया च,इतिसमस्तार्थः॥

अथ- एकपदनिरुक्तम्-

'गंगा' गमनात् ।

'यमुना' प्रयुवती गच्छाति- इति वा । प्रवियुतं गच्छति- इति वा ।

'सरस्वती''सरः'इति उदकनाम। सर्त्तेः। तद्वती ।

'शुतुद्री'शुद्राविणी = क्षिप्रद्राविणी। आशुतुन्ना- इव द्रवति इति वा ।

'इरावती ' = 'परुष्णी'- इत्याहुः । पर्ववती । भास्वती । कुटिलगामिनी ।

'असिक्नी' अशुक्ला = असिता । 'सितम्'-इति वर्णनाम । तत्प्रतिषेधः असितम् ।

'मरुद्वृधाः'सर्वा नद्यः । मरुतःएनाः वर्द्धयन्ति ।

'वितस्ता' अविदग्धा । विवृद्धा । महाकूला ।

'आर्जीकीयां' = 'विपाट्'- इत्याहुः । ऋजीक-

प्रभवा वा। ऋजुगामिनी वा। 'विपाट्' विपाटनाद् वा। विप्राशनाद् वा। विप्रापणाद् वा। पाशाः अस्यां न्यपाश्यन्त वासिष्ठस्य मुमूर्षतः तस्माद् 'विपाट्' उच्यते। पूर्वम्- आसीद् 'उरुञ्जिरा'।

'सुषोमा' = सिन्धुः। यद्- एनाम्- अभिप्रस्रवन्ति नद्यः॥

'सिन्धुः' स्यन्दनात्॥

'आपः' आप्नोतेः।

तासाम्- एषा भवति॥ ५ (२६)॥

अर्थः—"इमं मे०" हे मरुद्वृधे! = मरुतों से बढ़ाई जाने वाली! गङ्गे! (१) हे 'यमुने!' (२) हे 'सरस्वति!' [३] हे 'शुतुद्रि!' (४) हे 'परुष्णि!' (५) (यूयम्) तुम सब 'मे' मेरे 'इमं' 'स्तोमम्' इस स्तोम को 'आ-सचत' (आसेवध्वम्) सेवन करो = उस पर ध्यान दो। हे 'मरुद्वृधे!' 'आर्जीकीये!' (६) [त्वमपि] तू भी 'असिक्न्या-' (७) (सह) असिक्नी के साथ 'वितस्तया' (८) (चसह) और वितस्ता के सहित 'सुषोमया' (च) और सुषोमा नदी के सहित 'आ-शृणुहि' इधर ध्यान देकर मेरे स्तोम को सुन॥ यह समस्त (मिलित) अर्थ है।

अब एक पद निरुक्त है-

'गङ्गा' क्यों? गमन से- गति अर्थ में 'गम' (भ्वा०प०) धातु से है। क्यों कि- वह गमन करती है- चलती है। अथवा प्राणियों को उत्तम लोक को लेजाती है (१)।

'यमुना' क्यों? प्रयवन करती हुई जाती है- अपने जलों

को और नदियों से मिलाती हुई चलती है। अथवा 'प्रवियुत' होकर चलती है-अपने तरङ्गों से स्थिर हुई जैसी चलती है [यह भाव त्रिवेणी संगमपर प्रयाग में देखा जासकता है](२)।

'सरस्वती क्या ?'सरस्' यह जल का नाम है।'सृ'(जु०प०) धातु से है। तद्वती = सरस्वती = सरस्वाली होने से 'सरस्वती है वह विशेष प्रकार के जल वाली होने से ' सरस्वती ' है । क्यों कि- राजसूय यज्ञ में सारस्वती जलों का अभिषेक के अर्थवाद (कथन) में देखा जाता है-"वरुणस्य वा अभिषिच्यमानस्येन्द्रियं वीर्य्यं मपाक्रमत्, तत् त्रेधाभवत, भृगुस्तृतीयमभवत्, श्रायन्तीयं सरस्वती तृतीयं प्राविशत्" अर्थात्— अभिषेक किये जाते हुयेवरुण का इन्द्रिय वीर्य निकला,वह तीन भागों में हुआ, एकतृतीयांश भृगु हुआ , एक श्रायन्तीय और एक तृतीय भाग सरस्वती होकर प्रविष्ट हुआ । प्रयोजन यह कि- इसमें जो वरुण देव के वीर्य का तेज है, वही इसमें विशेष धर्म है,उसी के कारण यह'सरस्वती' है (३)।

'शुतुद्री' क्यों ? 'शुद्राविणी'सो क्या ? शीघ्र बहने वाली 'शु' यह शीघ्र का नाम है । अथवा 'आशुतुन्ना इव द्रवति ' शीघ्र तुन्न = किसी से वेधी हुई जैसी बहती है । ' आशु ' से ' शु ' 'तुन्ना' से 'तु' और 'द्रवति' से 'द्रु' लेकर 'शुतुद्री' शब्द बना (४)।

इरावती को ' परुष्णी' इस नाम से कहते हैं । वह 'परुष्णी'क्यों? पर्ववती = ग्रन्थि वाली होने से । क्याहुआ? वह कुटिलगामिनी है— टेढी मेढी चलती है ; उसमें उसके

कुटिल भाव ही ग्रन्थि रूप हैं । अथवा ' भास्वती ' होने से पर्ववती होकर 'परुष्णी' है । इस अर्थ में भासें = कान्तियें ही पर्व हैं (५) ।

'असिक्नी'क्यों ? वह अशुक्ला है । सो क्या ? असिता = काली । सो कैसे ? 'सित' यह श्वेत वर्ण(रंग) का नाम है । उसका निषेध ' असित ' होता है । इस से काले जल वाली 'असिक्नी' है (६) ।

'मरुद्वृधा' क्या ? सब नदियें— यह सब नदियों का साधारण विशेषण है । क्यों कि—मरुत् उन्हें वृष्टि के द्वारा बढाते हैं । इस लिये इस पद को मन्त्र में प्रत्येक नदी के नाम के साथ विशेषण देना चाहिये— हे मरुद्वृधे ! गङ्गे ! हे मरुद्वृध यमुने ! इत्यादि ।

'वितस्ता' क्यों ? वह ' अविदग्ध ' है और नदियों के समान यह दग्ध नहीं हुई- जली नहीं । क्यों कि— वैदेहक नाम एक अग्नि है, सुना जाता है कि—उसने और सबनदिओं को जला दिया था औरउसे नहींजलाया'यह बात सामिधेनी ब्राह्मण में जानी जाती है । अथवा विवृद्धा बहुत बड़ी होने से या महाकूला होने से वह वितस्ता है (७) ।

'आर्जीकीया' को 'विपाट्' या 'विपाश्' इस नाम से कहते हैं । 'आर्जीकीया' क्यों ? वह ऋजीक पर्वत से निकली है । अथवाऋजु(सीधा)गमन करती है ।'विपाट्'क्यों?विपाटन से । क्यों कि— वह बहुत वेग वाली है, इससे चलती हुई पृथ्वी को पाटन करती है- फाड़ती है । अथवा विपाशन से = तोड़ने से इसमें क्या तोड़ा गया है ? सुना गया है कि—पुत्रमरण के शोकसे अपने को पाशों से बांध कर वसिष्ठ इस नदी में मरने के अर्थ डूबे थे, उनकी वे सब फांसियां

जलसे टूट गई, उस काल से इसका 'विपाट्' नाम कहा जाता है। उससे पहिले यह नदी 'उरुञ्जिरा' नाम से थी। 'उरु-ञ्जिरा' नाम बहुजला का है। (८)

'सुषोमा' नाम सिन्धु नदी का है। क्योंकि—और नदियां इसे अभिप्रसव = संगम करती हैं।

'सिन्धु' क्यों ? स्यन्दन से = बहने से। क्योंकि—यह वेग से बहता है (९)।

'आपः' (२१) (जल) यह पद व्याप्ति अर्थ में 'आप' (स्वा०प०) धातु से है। क्योंकि—इनसे सब व्याप्त होता है।

उन जलों की यह ऋचा है—॥ ५ (२६)॥

व्याख्या।

हमारे वेदानभिज्ञ वैदिक सहयोगी जो गङ्गा आदि तीर्थों में पावन शक्ति को नहीं मानते और उसका वेदमन्त्रों में अभाव समझ कर पुराणों पर खुनसाया करते हैं, उन्हें "इमं मे गङ्गे०" यह मन्त्र पढ़कर कुत्साकलुषित अपनी वाणी को "हे गङ्गे" एक बार कहकर धोडालना चाहिये।

इस मन्त्र में एक ही साथ सब पवित्र नदियों के नाम हैं किन्तु सब में पहिले "गंगे" पद है, इससे "नदीनां च यथा गंगा" वाक्य का मूल भी यही मन्त्र है। क्योंकि—"अभ्यर्हितं पूर्वम्" 'पूज्य का नाम पहिले होता है' यह स्मृति है।

इस मन्त्र के भाष्य में भाष्यकार मन्त्र के व्याख्यान करने की एक रीति प्रदर्शित करते हैं, जैसे—"इति समस्तार्थः"

"अथ एकपदानिरुक्तम्" पहिले मन्त्र का समस्त या मिलित अर्थ करना चाहिए और फिर एक २ पदका निर्वचन क्योंकि-बीचमें एक २ पद की स्वतन्त्र २ व्याख्या करने से वाक्यार्थ का ग्रहण खिलभिल हो जाता है ॥ ५ (२६) ॥

(खं०६)

[निरु०-आपोहिष्ठामयो भुवस्तान ऊर्जेदधातन । महेरणाय चक्षसे ॥ " [ऋ० सं०७,६,५,१] ॥

आपो हि स्थ सुखभुवः, तानो अन्नाय धत्त, महते च नो रणाय रमणीयाय च दर्शनाय ॥

'ओषधयः' ओषद् धयन्ति-इति वा । ओषति एना धयन्ति इति वा । दोषं धयन्ति-इति वा । तासाम्-एषा भवति- ॥ ६ (२७) ॥

अर्थः-"आपोहिष्ठा०" इस मन्त्रका सिन्धुद्वीप ऋषि है।

हे 'आपः !' जल ! (यूयम्) तुम 'आपः' व्यापन करने वाले 'स्थ' हो । 'मयोभुवः' (सुखभुवः) सुखको उत्पन्न करने वाले हो । 'ताः' सो आप 'नः' हमें 'ऊर्जे' (अन्नाय) अन्न के लिये 'दधातन' (धत्त = धारयत) धारण करो-जिसप्रकार हम अन्नको प्राप्त हों ऐसा करो । 'महे-रणाय' (महते रमणी-याय) और महान् रमणीय = सुन्दर धनके अर्थ, और 'चक्षसे' (दर्शनाय) श्रुति, स्मृति में कहेहुए अर्थ के यथार्थ ज्ञान के लिये हमें धारण करो-जिसप्रकार यह सब हमें मिले ऐसाकरो॰

'ओषधयः' (२२) (ओषधिएं) क्यों ? 'ओषद् धयन्ति' जो कुछ शरीर में क्षय आदि रोग होता है, उसे सेवन की

हुई नाश करदेती हैं या पाजकर आती हैं। अथवा 'ओषति एना धयन्ति' किसी अङ्ग को रोगी होने पर प्राणी इन्हें पान करते हैं। इन दोनों व्याख्याओं में 'ओषति' (भ्वा०प०) धातु से पूर्वभाग और 'धयति' (भ्वा० प०) धातु से दूसरा भाग है। मिलकर 'ओषधि' शब्द बनजाता है। पहिली व्याख्या में कर्तृ कारक और दूसरी में कर्म कारक वाच्य है अथवा 'दोषं धयन्ति' वात,पित्त आदि दोष को पान करती हैं, इस से ये 'ओषधि' हैं।

उन (ओषधियों) की यह ऋचा है- ॥ ६ (२७) ॥

(खं० ७)

निरु०- "या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा। मनैनु बभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त च॥" (ऋ०सं० ८, ५, ८, १) ॥

या ओषधयःपूर्वा जाता देवेभ्यः त्रीणि युगानि पुरा, मन्ये नु तद् बभ्रूणाम्- अहं बभ्रुवर्णानां हरणानां भरणानाम्- इति वा। 'शतं धामानि सप्त च'। धामानि त्रयाणि भवन्ति— स्थानानि नामानि, जन्मानि—इति। जन्मानि अत्रअभिप्रेतानि। सप्त शतं पुरुषस्य मर्मणां, तेषु एना दधाति- इति वा॥

'रात्रिः' व्याख्याता।

तस्य एषा भवति॥ ७[२८]॥

अर्थः-" या ओषधीः" यह ऋचा ओषधि— सूक्त में पहिली ही है। अग्नि चयन कर्म में इस मन्त्र से क्षेत्र में ग्राम्य और वन्य (वनकी) ओषधियें बोई जाती हैं ।

'याः' जो 'ओषधीः' (ओषधयः) ओषधियें 'देवेभ्यः' देवताओं से 'त्रियुगम्' (त्रीणि युगानि) तीन युग'पूर्वाः'पहिले 'जाताः' उत्पन्न हुई हैं—आद्य कल्प में कलि, द्वापर, और त्रेता युग से पूर्व कृतयुग में देवताओं से पहिले जन्मी हैं, क्यों कि— अन्न के विना देवताओं का जीवन या उनकी स्थिति नहीं हो सकती इससे ये देवताओं से पहिले ही हुई, 'तद्' (तासाम्) उन 'बभ्रूणाम्'(बभ्रुवर्णानाम्) कपिल वर्णवालिओं के [हरणानाम्] अथवा भूख आदि को हरने वालिओ के (भरणानाम्—इति वा) अथवा प्राणियों के भरण = पोषण करने वालिओं के 'अहम्' मैं 'शतम्' सौ (१००) (सप्त-च)और सात (७) कुल (१०७) धामों को 'मनै' [मन्ये] मानता हूं ।

धाम क्या? 'धाम शब्द के तीन अर्थ होते हैं—स्थान(१) नाम (२) और जन्म (३) उनमें यहां पर जन्मों से अभिप्राय है- अर्थात्— ओषधियों की एक सौ सात (१०७) जातिओं को मानता हूं = जानता हूं । अथवा पुरुष के एक सौ सात (१०७) मर्म- स्थान हैं, उन्हीं में ये ओषधियें प्राणियों की धारणा करती हैं । इस पक्ष में 'धाम' नाम स्थान का हो जाता है॥

'रात्रि'[२२]पद व्याख्यान किया जाचुका— "रातेर्दानकर्मणः" [निरु० २ अ०६ पा० १ खं०]॥

"तस्याः" उस 'रात्रि' की यह ऋचा है ॥७(२८)॥

(खं० ८)

निरु०- "आ रात्रि ! पार्थिवं रजः पितुरप्रायि धामभिः। दिवःसदांसि बृहती वितिष्ठसे आत्वेषं वर्त्तते तमः ॥" (अथ०सं०का०१९अ०६सू०४७)।

आपूपुरः त्वं रात्रि। पार्थिवं रजःस्थानैर्मध्यमस्य, दिवः सदांसि बृहती महती वितिष्ठसे आवर्त्तते त्वेषं तमो रजः ॥

'अरण्यानी' अरण्यस्य पत्नी।

'अरण्यम्' अपार्णम्। ग्रामाद् अरमणं भवति इति वा।

तस्य एषा भवति ॥८॥[२९] ॥

अर्थ.-"आ रात्रि !" इस ऋचा का कुशिक ऋषि है अथवा रात्रि।

हे 'रात्रि !' (त्वम्) तैने 'पार्थिवं- रजः' पृथिवी लोकको 'आ- अप्रायि' [आपूपुरः] पूर्ण किया है- अन्धकार से व्याप्त किया है। क्या इतना ही ? नहीं- 'पितुः' [मध्यमस्य] मध्यम लोक के धामभिः [स्थानैः] स्थानों के सहित- अन्तरिक्ष लोक को भी अन्धकार से छादेती है। क्या यही ? नहीं- 'दिवः' [द्युलोकस्य] द्यु लोक के 'सदांसि' स्थानों को भी-जिन में द्युलोक वासी जन निवास करते हैं अंधेरे से ढांपलेती है। 'बृहती' (महती) बड़ी (त्वम्) तू 'वितिष्ठसे' दबाकर स्थित होती है- क्यों कि- तू महती है, इस से दूर देशमें रहती हुई

भी जम करके स्थित होती है। इतनाही नहीं किन्तु-'त्वेषम्' (महत्) अपार 'तमः' (रजः) अंधेरा 'आवर्त्तते' लौटता है-इतना अधिक तेरा अन्धकार है कि-वह सारी त्रिलोकी को पूरण करके भी बचता है और वह इधर ही (पृथिवी लोक में) लौट आता है। ऐसे प्रभाव वाली तू हमारे लिये कल्याण रूप हो ॥

'अरण्यानी' (२४) क्या ? अरण्य (वन) की पत्नी (स्त्री)।

'अरण्य' क्यों ? वह 'अपार्ण' = अपगतजल = निर्जल होता है। अथवा ग्राम की अपेक्षा अरमण = असुन्दर होता है।

"तस्या०" उस (अरण्यानी) की यह ऋचा है-॥८(२६) ॥

(खं०९)

निरु०-"अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रेव नश्यसि कथा ग्रामं न पृच्छसि न त्वा भीरिव विन्दती ३॥ (ऋ० सं० ८, ८, ४, १) ॥

'अरण्यानि !' इति एनाम् आमन्त्रयते। या असौ अरण्यानि वनानि पराची इव नश्यसि, कथं ग्रामं न पृच्छसि, 'न त्वा भीर्विन्दति-इव' इति 'इवः' परिभयार्थेवा।

'श्रद्धा' श्रद्धानात्।

तस्या एषा भवति-॥ ९ [३०] ॥

अर्थः- "अरण्यान्यरण्यानि०" इस ऋचाका ऐरम्मद

देवमुनि ऋषि है। पहिला 'अरण्यानि!' पद संबोधन एक-वचनान्त (स्त्री०) है और दूसरा 'अरण्यानि' द्वितीया बहु-वचनान्त(नं०) है। दिङ्मोह (दिशाओं की भ्रान्ति) से युक्त हुआ मन्त्र का द्रष्टा ऋषि वन में डरता हुआ अरण्य = वन की अधिष्ठात्री देवता से कहता है:-

'अरण्यानि!' इस पद से इस वन देवता को सम्बोधन करता है-हे'अरण्यानि'! वनदेवते! 'या' जो'असौ'(दृश्यमाना) देखी जाती हुई(त्वम्) तू 'अरण्यानि' (वनानि) वनों के प्रति केवल 'प्रेव' (पराची इव) नहीं लौटती हुई जैसी ' नश्यसि ' अदृष्ट होजाती है— मैं इस भयावने वनमें डरता हूं, तू तो डरती नहीं, बलकि- उसके अभिमुख जाती हुई उसी में लय होजाती है, इससे मैं कहता हूं-"कथा ग्रामं न पृच्छसि न त्वा भीरिव विन्दती ३" अर्थात्—'कथा(कथम्) क्यों 'ग्रामम्' जन- समूह को 'न' नहीं 'पृच्छसि' तू पूछती है। 'भीः' भय 'इव' जैसे 'त्वा' तुझे'न' नहीं'विन्दति' प्राप्त होता है। अथवा 'इव' शब्द परिभय = थोड़े भय अर्थ में है— जरा भी तुझे भय नहीं लगता। जब किसी को भय होता है, तो वह और लोगों को पुकारता है, उनका शरण लेता है, किन्तु तू किसी को नहीं पूछती' इसी से जानता हूं कि- तुझे भय जैसा या जरा भी भय नहीं लगता। मुझे भी तू अपने समान निर्भय बना, यह मैं आशीः मांगता हूं ।

'श्रद्धा' (२५) क्यों ? 'श्रत्' = सत्य के धान = धारण से 'श्रत्' नाम और धारण अर्थ में 'धा'(जु० उ०)धातु से 'श्रद्धा' पद बनता है। क्यो कि—इसमें सत्य का धारण होता है,इसी से यह 'श्रद्धा' है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में यह इसी

प्रकार है' ऐसी जो बुद्धि उसका अधि देवता का नाम 'श्रद्धा है, और वह अग्नि देवता ही है, क्यों कि— सब प्रकाश अग्नि का ही है।

उस 'श्रद्धा' की यह ऋचा है ॥९ (३०) ॥

(खं० १०)

निरु०-"श्रद्धयाग्निःसमिध्यतेश्रद्धया हूयतेहविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्द्धनि वचसा वेदयामसि ॥"
[ऋ० सं० ८, ८, ९, १]

श्रद्धया अग्निः साधु समिध्यते, श्रद्धयाहविः साधु हूयते, श्रद्धां भगस्य भागधेयस्यमूर्द्धनि प्रधानाङ्गे वचनेन आवेदयामः।

'पृथिवी' व्याख्याता।

तस्य एषा भवति ॥१०(३१) ॥

अर्थः- श्रद्धयाग्निः०" इस ऋचा का श्रद्धा कामायनी ऋषि है।

(यः एव) जो ही 'अग्निः' अग्नि 'श्रद्धया' आस्तिक्यबुद्धि को अवलम्बन करके [कर्मणि] कर्म में 'समिध्यते' दीपन किया जाता है, वही (साधु) 'समिध्यते' भले प्रकार दीपन किया जाता है। किन्तु जो अश्रद्धा से अग्नि जलाया जाता है, वह फल शून्य होने से नहीं जलाया हुआ = व्यर्थ जलाया हुआ होता है। इसी प्रकार जो 'हविः' 'श्रद्धया' श्रद्धा से 'हूयते' होम किया जाता है, वही 'साधु' ठीक होम होता है। [वयम्] हम 'श्रद्धाम्' श्रद्धा को 'भगस्य' (भागधेयस्य) धर्म के 'मूर्द्धनि

[प्रधानाङ्गे] मूर्द्धा में = प्रधान अङ्ग में 'वचसा' (मन्त्रगतेन) मन्त्र रूप वचन से 'आवेदयामसि' (आवेदयामः) आवेदन करते हैं श्रद्धा ही धर्म का शिर है- प्रधान अङ्ग है, श्रद्धा के विना धर्म का लाभ नहीं होता, यह हम मन्त्र वाक्य से ही पुकार कर कहते हैं- श्रद्धा रहित को धर्म नहीं मिलता। "नाश्रद्दधानाय हविर्जुषन्ति देवाः" जो सत्य को धारण नहीं करता उसके हविः को देवता सेवन नहीं करते। "अश्रद्धामनृते दधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः" प्रजापति (ब्रह्मा) ने अश्रद्धा को अनृत [मिथ्या] में और श्रद्धा को सत्य में धारण किया है।

'पृथिवी' (२६) व्याख्यान की जाचुकी "अथ वै दर्शनेन पृथुः" [नि०, १ अ० ४ पा० ३ खं०]।

"तस्या०" उस पृथिवी की यह ऋचा है-॥१०(३१)॥

(खं० ११)

निरु०-"स्योना पृथिवि भवानृक्षरा निवेशनी यच्छा नः शर्म सप्रथः॥" [ऋ०सं०१,२,६,५य० वा०सं० ३५, २१]॥

सुखा नः पृथिवि! भव। अनृक्षरा निवेशनी।

'ऋक्षरः' कण्टकः। ऋच्छतेः।

'कण्टकः' कन्तपो वा। कृन्ततेर्वा। कण्टतेर्वास्याद् गतिकर्मणः।

उद्गततमो भवति।
यच्छ नः शर्म यच्छन्तु शरणं सर्वतः पृथु।
'अप्वा' व्याख्याता।
तस्या एषा भवति—॥ ११ (३२) ॥

अर्थः-"स्योना पृथिवि०" इस का मेधातिथि ऋषि है। हिरण्यनाश की प्रायश्चित्तेष्टि में भूमिदेवताक एक कपाल पुरडाश की पुरोऽनुवाक्या है।

हे 'पृथिवि! (त्वम्) तू 'नः' (अस्माकम्) हमारी 'स्योना' (सुखा) सुखरूप 'भव' हो कैसी? 'अनृक्षरा' (निष्कण्टका) निष्कण्टक और 'निवेशनी' निवास के योग्य हो। 'नः' हमारे लिये 'सप्रथः' (सर्वतः-पृथु) सब से मोटा 'शर्म' सुख 'यच्छ' दे॥

'ऋक्षर' क्या? कण्टक (कांटा)। कैसे? 'ऋच्छ' (तु०प०) धातु से।

'कण्टक' क्यों? कन्तप = 'किसको मैं तपाऊं' ? इस लिये निकला हुआ है। अथवा छेदन अर्थ में 'कृत' (तु० प०) धातु से है। क्योंकि-कृन्तन = छेदन करता है। अथवा गति अर्थ में 'कण्ट' [भ्वा०प०] धातु से है। क्योंकि-वह वृक्ष से ऊपर को गया हुआ = निकला हुआ होता है।

'अप्वा' (२७) [भय या व्याधि] व्याख्यान की जाचुकी "यदेनया विद्धोऽपवीयते व्याधि र्वा भयंवा" [निरु० ६ अ० ३ पा० ३ खं०]॥

"तस्याः०" उस अप्वा की यह ऋचा है-॥ ११ [३२] ॥

(खं० १२)

निरु०-"अमीषां चित्तं प्रति लोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि । अभिप्रेहि निर्दह हृत्सु शोकै रन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम् ॥ [ऋ०सं० ८,५, २३, ६ । सा०सं० उ० आ० ९, ३, ५, १] (अथ० सं० ३, २, ५) ॥

अमीषां चित्तानि प्रज्ञानानि प्रतिलोभयमाना गृहाण अङ्गानि अप्वे ! परेहि अभिप्रेहि निर्दह एषां हृदयानि शोकैः अन्धेन अमित्राः तमसा संसेव्यन्ताम् ॥

'अग्नायी' अग्नेः पत्नी ।

तस्या एषा भवति- ॥ १२ (३३) ॥

अर्थः-"अमीषाम्०" इसका अप्रतिरथ ऋषि है ।

हे 'अप्वे ! ' व्याधे ! (त्वम्) तू 'अमीषाम्' उन हमारे शत्रुओं के 'चित्तम्' (चित्तानि = प्रज्ञानानि) चित्तों को या इन्द्रियों को 'प्रतिलोभयन्ती' (प्रतिलोभयमाना) लोभित करती हुई 'अङ्गानि' उनके अङ्गों को 'गृहाण' पकड़ 'परेहि' इन्हें दूर लेजा, ' अभिप्रेहि ' इनके अभिमुखजा, और फिर (एषाम्) इनके 'हृत्सु' (हृदयानि) हृदयों को 'शोकैः' शोकों से 'निर्दह' जला 'अन्धेन' गाढे 'तमसा' अंधेरे से 'अमित्राः' शत्रुओं को 'सचन्ताम् ' (संसेव्यन्ताम्) सेवन कर = उन्हें व्याप्त कर ॥

'अग्नायी' (२८) अग्नि की पत्नी (स्त्री)

"तस्याः०" इस अग्नायी की यह ऋचा है-॥१२(३३)॥

(खं०१३)

निरु०-"इहेन्द्राणीमुपह्वये वरुणानीं स्वस्तये। अग्नायीं सोमपीतये॥" (ऋ०सं०१,२,६,२)॥

इति सा निगदव्याख्याता ॥ १३ [३४] ॥

इति नवमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ९, ३ ॥

अर्थः-"इहेन्द्राणीम्०" 'इह' इस कर्म में 'इन्द्राणीम्' इन्द्र की पत्नी को 'वरुणानीम्' वरुणकी पत्नी को और 'अग्नायीम्' अग्निकी पत्नी को 'सोमपीतये' सोम के पीने के अर्थ और 'स्वस्तये' अपने कल्याण के अर्थ 'उपह्वये' बुलाता हूं॥

यह ऋचा अपने उच्चारणसे व्याख्यात है॥ १३ (३४)॥

यद्यपि इस मन्त्र में इन्द्राणी, वरुणानी और अग्नायी तीनों देवताओं का आवाहन है, इस से इसे केवल अग्नायी की ही कहना उचित नहीं बल कि-सोम पान के संबन्ध से इसे मध्यम देवता की कहना चाहिए, तथापि "सोमं पिब मन्दसानो गणश्रिभिः" [ऋ०सं०४,३,२९,८] इस ऋचा में अग्निको भी सोमपान का संबन्ध कहागया है, इस लिये 'अग्नायी'के लिये कहनो भी उत्पन्न होता है। किंच भाष्यकार अग्नायी शब्द उदाहरणार्थ उपयुक्त होनेकेकारण इस ऋचा को यहां उद्धृत करते हैं, इससे देवता विशेषका सम्बन्धकोई उत्पन्न नहीं होता। केवल यहां अग्नायी शब्द के संयोग से उसके सम्बन्ध का अनुवादमात्र है, किन्तु विद्यमान देवतान्तर

के सम्बन्ध का इससे निराकरण नहीं होता। अतः औरों की होने परभी इसका नाम होने से इसकी भीहै, यह होसकता है॥ १३ (३४)॥

इति हिन्दीनिरुक्ते नवमाध्यायस्य तृतीयः पाद ॥९,३॥

—— o ——

चतुर्थः पादः ॥

(खं० १)

निघ०-उलूखलमुसले॥२९॥हविर्धाने॥ ३० ॥ द्यावापृथिवी ॥ ३१ ॥ विपाट् छुतुद्री ॥३२॥ आर्त्नी ॥३३॥ शुनासीरौ ॥३४॥देवीजोष्ट्री॥३५॥देवीऊर्जाहुती॥३६॥

इति षट्त्रिंशत (३६) पदानि ॥३॥

निरु०- अथातोऽष्टौ द्वन्द्वानि-

'उलूखलमुसले' [१]। 'उलूखलं' व्याख्यातम्। 'मुसलं' मुहुःसरम्।

तयोः-एषा भवति ॥१(३५)॥

अर्थः-"अथातो०" यहां से आठ (८) द्वन्द्व पद हैं-दो दो पद द्वन्द्व समास से एक २ पद के रूप में हैं। इनमें 'उलूखलमुसले' (२९) यह पद है। इसका पहिला 'उलूखल' पद व्याख्यान किया जाचुका— "उरुकरम्" इत्यादि रूप से [अ० ९ पा० २ खं० १०]

'मुसल' क्या ? मुहुःसर = बार२ चलने वाला।

"तयोः" उन दोनों (उलूखल-मुसलों) की यह ऋचा है॥१(३५)॥

व्याख्या।

"अथातः" यह अधिकार वचन है। यद्यपि अश्वादि वर्ग का अधिकार अभी चलाही आता,है तो भी इनकी द्वन्द्व-रूपता औरों से विलक्षण है,यह दिखाने के लिये फिर अधिकार वचन दिया है।

"अष्टौ" इस पद के न होने से भी शब्दों के पाट से अष्टत्व (८) संख्या का ज्ञान हो सकता है, किन्तु आठ ही द्वन्द्व हैं. न्यून या अधिक नहीं यह जनाने के अर्थ इस की आवश्यकता है। आठ ही द्वन्द्वों के पाठ की यहां आवश्यकता है, औरों की नहीं यह तात्पर्य है॥

और द्वन्द्वों का पाठ क्यों नहीं ?

"उषासानक्ता" "दैव्याहोतारा" इनका आप्री देवताओं में पाठ हो चुका, अतः फिर समाम्नाम होने से पुनरुक्ति होगी।

"मित्रावरुणौ" "अग्नीषोमौ" आदि और जो द्वन्द्व हैं, उनमें मित्र,वरुण आदि एक२ देवताओं की अलग२ भी स्तुति मिलती है, इस कारण उनके पाठ में अपूर्वता न होने से वे छोड़ दिये गए हैं, या इनकी गणना में नहीं आसकते।

यद्यपि पृथक् स्तुति के सादृश्य से "उलूखल-मुसल" और "द्यावा-पृथिवी" इन का भी यहां पाठ न होना

चाहिए, क्योंकि इनमें भी एक२ की स्तुति मिलती है, तथापि "मुसल" और "दिव" (द्यावा) की अलग स्तुति नहीं मिलती किन्तु ऐसे ही विशिष्ट रूपोंसे स्तुति मिलती है, इस कारण इनका पाठ आवश्यक हुआ।

"अश्विनौ" का पाठ द्युलोक के देवताओं में होगा। यहां भी पाठ होने से संकर होजायगा, और आर्थिक अनुकूलता भी यहां कोई नहीं है। इस कारण यहां छोड़ दिया गया।

यद्यपि "शुनासीरौ" (वायु–आदित्य) का पाठ यहां नहीं चाहिए था क्योंकि—यहां पृथिवीस्थान देवताओं का प्रकरण है, और मध्यम और उत्तम लोक के हैं, तथापि द्वन्द्व की समानता से या वे पृथिवी लोक के उपकारार्थ हैं अथवा इनका सयोग पृथिवी में होता है, जैसा कि– "तेनेमामुपसिञ्चतम्" 'उससे तुम दोनों इस पृथिवी को सेचन करो' इस कारण इनका यहां पर पाठ है।

"द्यावापृथिवी" देवता होने से सब द्वन्द्वों में प्रथम चाहिये था, किन्तु 'द्यावा' या 'दिव्' पृथिवीस्थान नहीं है, द्वन्द्व की समानतामात्र से यहां परिगणित हुआ है।

"द्यावापृथिव्यौ" और "शुनासीरौ" इन दोनों में पृथिवी के सम्बन्ध से पहिला पद गणमें पहिले पढ़ागया है।

"उलूखलमुसले" इस का सब से पहिले पाठ इस लिये है कि—विना आपत्ति के ये पृथिवीस्थान ही सिद्ध है, और इनका द्वन्द्व यो जोड़ा ही काम में आता है॥

(खं० २)

निरु०-" आयजी वाजसातमा ताह्यु१ च्चा विजर्भृतः । हरी इवान्धांसि बप्सता ॥" [ऋ०सं० १, २, ६६, २] ॥

आयष्टव्ये अन्नानां संभक्ततमे तेह्युच्चै र्विह्रियेते हरी इवान्नानि भुञ्जाने ॥

'हविर्धाने' हविषां निधाने ।

तयोः-एषा भवति— ॥ २ [३६] ॥

अर्थः- " आयजी वाज०" 'ता' (ते उलूखल-मुसले) वे उलूखल = ऊखल और मूसल 'आयजी' (आयष्टव्ये) संमुख भाव से पूजनीय 'वाजसातमे' (अन्नानां संभक्ततमे) अन्नों के भले प्रकार सेवन करने वाले 'उच्चा' (उच्चैः) ऊंचे 'विजर्भृतः' (विह्रियेते) विहार करते हैं, या विहरण किये जाते है। अवघात = मूसल की चोट से ऊखल ऊपर को आता है, और मूसल मारने के लिये उठाया जाता है, यही दोनों का उच्च विहार है। वे दोनों हमारे घरमें 'हरी- इव' घोड़ों के समान 'अन्धांसि' (अन्नानि) अन्नों को 'बप्सता' (भुञ्जाने) संस्कारक या सुधारने वालों के रूप में खाने वाले हों-(यह हम चाहते हैं)।

'हविर्धाने' (३०) (दो शकट या गाड़े) क्यों ? हवि-ओं के धारण करने वाले।

" तयोः " उन दोनों हविर्धानों की यह ऋचा है- ॥ २ (३६) ॥

(खं० ३)

निरु०- " आवा मुपस्थमद्रुहा देवाः सीदन्तु यज्ञियाः। इहाद्य सोमपीतये ॥" (ऋ०सं० २, ८, १०, ६) ॥

आसीदन्तु वाम् 'उपस्थम्' उपस्थानम्, अद्रोग्धव्ये इति वा। यज्ञियाः देवा यज्ञसम्पादिनः इह अद्य सोमपानाय ॥

'द्यावापृथिव्यौ' व्याख्याते।

तयोः एषा भवति- ॥ ३ (३७) ॥

अर्थः-"आवाम्० " और "द्यावा नः पृथिवी० " इस ऋचा का गृत्समद ऋषि है। हविर्धान (शकट) के प्रवर्त्तन (चलाने) में विनियोग है।

हे हविर्धाने ! 'अद्रुहा' (अद्रोग्धव्ये) नहीं द्रोह करने योग्य तुम दोनों से कहा जाता है-'इह' यहां'अद्य'आज'सोमपानाय' सोमके पीनेके अर्थ 'यज्ञियाः' [यज्ञसपादिनः) यज्ञके सम्पादन करने वाले ' देवाः ' देवता ' वाम् ' तुम दोनों की उपस्थम्' (उपस्थानम्) पीठपर 'आ-सीदन्तु' बैठें (यह हम चाहते हैं ॥

'द्यावा पृथिव्यौ' (३१) (द्यौश्च पृथिवी च) 'द्यु' और 'पृथिवी' व्याख्यान किये जाचुके [ ] ॥

"तयोः" उन दोनों (द्यावा पृथिवीओं) की यह ऋचा है- ॥ ३ (३७) ॥

(खं०४)

निरु०-"द्यावा नः पृथिवी इमं सिध्रमद्य दिविस्पृशम्। यज्ञं देवेषु यच्छताम्॥[ऋ०सं०२,८,१०,५]

द्यावापृथिव्यौ नः इमं साधनम् अद्य दिविस्पृशं यज्ञं देवेषु नियच्छताम् ॥

'विपाट् शुतुद्र्यौ' व्याख्याते ।

तयोः एषा भवति ॥४ (३८)॥

अर्थः-"द्यावानः०" (ये एते) जो ये 'द्यावापृथिवी' द्युलोक पृथिवी लोक देवते हैं, सो 'नः' हमारे 'इमम्' इस 'दिविस्पृशम्' द्यु (आकाश = द्युलोक) को स्पर्श करने वाले 'सिध्रम्' (साधन) साधने वाले 'यज्ञम्' यज्ञ को 'अद्य' आज 'देवेषु' देवताओं में 'यच्छताम्' (नियच्छताम्(देवें' ॥

'विपाट् शुतुद्र्यौ' (३२) (विपाशा और शुतुद्री नदियें) व्याख्यान की जा चुकी हैं [ ] ॥

"तयोः०" उन दोनों (विपाशा और शुतुद्री) की यह ऋचा है ॥ ४ (३८)॥

व्याख्या ।

विपाशा (व्यासा) और शतद्रू (सतलुज) ।

पंजाब शिक्षा विभाग के "पंजाबभूगोल" नामपुस्तक में जो इस देशकी चतुर्थ कक्षा की पाठ्य पुस्तक है, इन दोनों नदियों का वर्णन इस प्रकार है ।

"व्यासा- इसको पंजाबी लोग बियाह कहते हैं, यह नदी एक झील में से निकलती है , जिसको व्यास कुंड कहते हैं,

पहिले कुल्लू के नीचे होकर मंडी में आती है । फिर जिला कांगड़ा और हुशियार पुर से होती हुई हरि के पत्तन परजो जिला फीरोज पुर और अमृत सर की सीमा पर है सतलुज नदी से मिलजाती है । यहां से इस नदी का नाम धारा हो जाता है । फिर बहावलपुर की सीमा पर प्रह्लाद पुर के नीचे रावी चेनाब जेहलम नदियां भी जो ऊपर से मिली हुई आती हैं इसमें मिल जाती हैं ॥" (पृ० ४)

"सतलुज — जिसका पुराना नाम शतद्रु है । यह नदी सिक्खम के पहाड़ों में से जो झील मान सरोवर के निकट है निकलती है। और का हलूर पहाड़ के बीच में से होकर कुल्लू में जाती है । बिलासपुर के नीचे जहां पहाड़ में से निकलती है । वहा उसकी दो धारा होगई है । रोपड़ नगर के नीचे आकर दोनों धारा मिल गई हैं। यहां सरकार ने इस नदी में से एक बहुत बड़ी नहर निकाली है फिर छोटा माछियां मामी नगर से होकर फिल्लौ के नीचे आती है । यहां इस नदीपर एक बड़ापुल बांधा हुआ है । बड़ी सड़क और रेलकी सड़क इसी पुलपर से होकर जाती है । फिर यहनदी जालन्धर के जिल को फिरोजपुर से अलग करती हुई हरिके पत्तन पर व्यासा से मिल जाती है ॥" (पृ०३)

व्यासा । नाम से विपाशा और सतलुज नाम से शतद्रु मिलता हुआ है । मन्त्रोक्त वर्णन इस पूर्वोक्त भूगोलसे मिलता हुआ है । पर्वतो से आना और फिर मिलजाना यह दोनों ही बातें मन्त्र में "पर्वतानाम्-उपस्थात्" और "उशती" इन पदों से स्पष्ट उक्त होती हैं। दोनों नदियों को जोघोड़ियों और व्याई हुई गोओं की उपमा मन्त्र में आई है,उससेमन्त्र-

द्रष्टा ऋषि के पर्वतों से उतरती हुई नदियों पर कई प्रकार के भाव प्रकट होते हैं। घोड़ियों की उपमा से ऋषि देखता है मानों दो घुड़सालों से दो घोड़ियां छूट कर दौड़ रही हैं, और शीघ्रता पूर्वक एक दूसरी से मिलना चाहती है। एवम् ब्याई हुई गौओं के दृष्टान्त से एक की एकपर वत्सलता प्रतीत हो रही है। इत्यादि। इस वर्णन को देख कर मन्त्र में यह वर्णन इन्हीं नदियों का प्रतीत होता है पहिली नदी का नाम 'व्यासा' व्यास कुण्ड से उत्पन्न होने के कारण और दूसरा 'विपाशा' नाम इसमें व्यास जी के पाश कट जाने के कारण है। पुत्र वियोग के कारण कभी व्यास जी शोकातुर होकर पाशबन्ध से प्राण त्याग करना चाहते थे, उन का पाश इस नदी में टूट गया था। यह कथा पुराण की है॥

(खं० ५)

निरु०- "प्रपर्वताना मुशती उपस्था दश्वे इव विषिते हासमाने। गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे विपाट् शुतुद्री पयसा जवेते॥"[ऋ०सं०३,२,१२,१]॥

पर्वतानाम् 'उपस्थात्' उपस्थानात उशत्यौकाम यमाने अश्वे इव। विमुक्ते इति वा। विषणे इति वा। हासमाने। 'हासतिः' स्पर्द्धायाम्'। हर्षमाणे वा। गावौ-इव 'शुभ्रे' शोभने मातरौ संरिहाणे 'विपाट् शुतुद्र्यौ' पयसा प्रजवेते॥

'आर्तौ' अर्त्तन्यौवा। अरण्यौ वा। आरिषण्यौ वा। तयोः-एषा भवति॥५[२९]॥

अर्थः– "प्रपर्वताना०" विश्वामित्र कहता है– (येचएते) और ये 'विपाट् शुतुद्र्यौ' विपाशा और शुतुद्री नदियें 'उशती' (उशत्यौ = कामयमाने) परस्पर के समागम = संगम की इच्छा करती हुई 'विषिते' (मन्दुरातःविमुक्ते) घुड़साल से छोड़ी हुई (विषण्णे इति वा) एक साथ जूये में जोती हुई 'अश्वे– इव' घोड़ियों के समान ' हासमाने ' परस्पर स्पर्द्धा करती हुई– होड़ करती हुई [क्योंकि– 'हास' (भ्वा० प०) धातु स्पर्द्धा अर्थ में है ।] अथवा (हर्षमाणे) हर्ष करती हुई 'अश्वे इव ' दो घोड़ियों के समान, तथा (सं) ' रिहाणे' अपने वत्स को चाटने की इच्छा करती हुई ' मातरा ' (मातरौ) माताओं 'गावा– इव' (गावौ–इव) गौओं के समान, ' पर्वतानाम् ' पर्वतों के 'उपस्थात्' (उपस्थानात्) कमर से = मध्य से 'पयसा, जल से 'प्र–जवेते' वेग से दौड़ती है ॥

आर्त्नी (३२) (धनुष् के सिरे) क्यों ? वे अर्त्तनी = बाणों के चलाने वाली होती हैं । अथवा अरणी = अरण या गमन के योग्य होने से वे आर्त्नी है । अथवा अरिषणी = शत्रुओं को मारने वाली होने से आर्त्नी हैं ।

"तयोः०" उन दोनों (आर्त्नियों) की यह ऋचा है-॥५(२६)

(खं० ६)

निरु०– " ते आचरन्ती समनेव योषा मातेव पुत्रं बिभृता मुपस्थे। अप शत्रून् विध्यतां संविदाने आर्त्नी इमे विस्फुरन्तीअमित्रान् ॥" [ऋ०सं०५,१, १९,४] (य०वा० सं० २९, ४) ॥

ते आरचन्त्यौ समनसौ इव योषे, माता– इव

पुत्रं बिभृता मुपस्थे उपस्थाने अपविध्यतां शत्रून् संविदाने आर्त्न्यौ इमे विघ्नत्यौ अमित्रान् ॥
'शुनासीरौ' 'शुनो'-वायुः। शु एति अन्तरिक्षे। 'सीरः' आदित्यः। सरणात्।
तयोः एषा भवति ॥६(४०)॥

अर्थः-"ते आचरन्ती०" इस मन्त्र से अश्वमेध में आर्त्नियों का ही अनुमन्त्रण किया जाता है।

(ये एते) जो ये 'आर्त्नी' धनुष् की कोटियें 'समना' (समनसौ) एक पति वालीं 'योषा' [योषे] इव' दो स्त्रियों के समान 'आचरन्ती' (आचरन्त्यौ) आचरण करने वाली हैं-जिस प्रकार एक पति वालीं दो स्त्रियें एक पति के प्रतिआ-लिङ्गन करने के अर्थ आचरण करती हैं, वैसे ही ये दोनों धनुष् की कोटियें आक्रष्टा = खेंचने वाले के प्रति आचरण करती हैं। 'ये' 'आर्त्नी' जो आर्त्नियें 'माता' 'पुत्रम्—इव' माता पुत्र को जैसे (आक्रष्टारम्) खेंचने वाले धनुष्मान् को 'उपस्थे' (उपस्थाने) गोद में 'बिभृताम्' रक्षा के लियेधारण करती हैं। (ये) जो 'इमे' ये आर्त्नियें 'अमित्रान्' शत्रुओं के 'विस्फुरन्ती' (विस्फुरन्त्यौ) [विघ्नत्यौ] विनाश करती हुई होती हैं, 'ते' वे आर्त्नियें 'संविदाने' आपस में संवाद जैसा करती हुई 'शत्रून्' शत्रुओं को 'अपविध्यताम्' वेधन करें = मारें ॥

'शुनासीरौ' (३५)(वायु और आदित्य) कैसे? 'शुनः' वायु होता है। क्यों? 'शु एति अन्तरिक्षे'—शीघ्र अन्तरिक्ष में गमन करता है। 'सीर' आदित्य होता है। क्यों सरण = गमन से।

उन दोनों की यह ऋचा है ॥६(४०)॥

(खं० ७)

निरु०-"शुनासीराविमां वाचं जुषेथां यद्दिवि चक्रथुः पयः। तेनेमामुपसिञ्चतम् ॥" [ऋ० सं० ३, ८, ९, ५। य० वा० सं० १२, ६९]। (अथ० सं० ३, १७, ७)॥

इति सा निगदव्याख्याता ॥

'देवीजोष्ट्री' देव्यौ जोषयित्र्यौ। द्यावापृथिव्यौ इति वा। अहोरात्रे इति वा।

'शस्यं च समा च'- इति कात्थक्यः ॥

तयोः- एष सम्प्रैषो भवति ॥७(४१)॥

अर्थः-"शुनासीरा०" इस ऋचा का वामदेव ऋषि है। शुनासीर्य में विनियोग है।

हे 'शुनासीरौ!' वायु- और आदित्य! (युवाम्) तुम दोनों 'इमाम्' इस 'वाचम्' वाणी को = स्तुति को 'जुषेथाम्' सेवन करो। 'यत्' जो 'दिवि' द्युलोकमें 'पयः' जल चक्रथुः तुमने किया है, 'तेन' उस जल से 'इमाम्' इस पृथ्वी को 'उपसिञ्चतम्' सींचो। यह ऋचा अपने उच्चारण से ही व्याख्यान की हुई है।

'देवी जोष्ट्री' (३५) क्यों? 'जोषयित्र्यौ' सबको तृप्त करने वाली हैं। वे कौन? अथवा द्यावापृथिवी = द्युलोक और पृथिवी लोक। अथवा अहोरात्र = दिन और रात्रि।

शस्य (व्रीहि = धान आदि) और समा (संवत्सर) 'देवीजोष्ट्री' हैं, यह कात्थक्य आचार्य मानते हैं।

"तयोः०" इन दोनों का यह सम्प्रैष (यजुः) है- ॥ ७ (४१) ॥

(खं० ८)

निरु०- " देवीजोष्ट्री वसुधीती ययोरन्याघा द्वेषांसि यूयव दन्यावक्षद्वसु वार्य्याणि यजमानाय वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज ॥ " [य० वा० सं० २८, १५] ॥

' देवीजोष्ट्री ' देव्यौ जोषयित्र्यौ ' वसुधीती ' वसुधान्यौ । ययोःअन्या अघानि द्वेषांसि अवयावयति । आवहति अन्या वसूनि वननीयानि यजमानाय वसुधानाय च ' वीतां ' पिवेताम्, कामयेतां वा । 'यज' इति सम्प्रैषः ॥

'देवी ऊर्जाहुती' देव्यौ ऊर्जाह्वान्यौ। द्यावा-पृथिव्यौ-इति वा । अहोरात्रे-इति वा ।

'शस्यं च समा च'-इति कात्थक्यः ॥

तयोः-एष संप्रैषो भवति- ॥८ (४२) ॥

अर्थः- " देवीजोष्ट्री०" 'देवीजोष्ट्री' (देव्यौ जोषयित्र्यौ) सब जगत् को तृप्त करने वाली देविए' 'वसुधीती' (वसुधान्यौ) धन और धान्य अथवा वसुओं को धारण करने वालीं, ' ययोः ' जिन दोनों में 'अन्या' एक ' अघानि ' (अघानि)

पाप रूप 'द्वेषांसि' शत्रुओं को 'यूयवत्' (अथयावयति) इनसे अलग करती है- नाश करती है । 'अन्या' (पुनः) और दूसरी देवी 'यजमानाय' यजमान के अर्थ ' वसुवने ' धनके संभोग के लिये और ' वसुधेयस्य ' (वसुधानायच) धनके संग्रह के लिये (वसुवार्याणि' वाञ्छनीय धनों को 'आवक्षत्' (आवहति) लाती है । (ते) वे दोनों देविएं 'वीताम्' (पिबेताम्) इस पृषदाज्य (घृत विशेष) को पीवें अथवा [कामयेताम्] कामना करें । 'यज' यजनकर—यह सम्प्रैष = प्रेरणा है ।

'देवीऊर्जाहुती' (३६) (अन्नको उत्पन्न करने वाली देवियें) अथवा द्यावापृथिवी (द्युलोक और पृथिवी लोक) है । अथवा अहोरात्र (दिन और रात्रि) है ।

शस्य और समा = संवत्सर (देवी ऊर्जाहुती) हैं,-यह कात्थक्य आचार्य मानते हैं ।

" तयो० " उन दोनों का यह सम्प्रैष [मन्त्र] है- ॥ ८ [४२] ॥

(खं० ६)

निरु०- " देवी ऊर्जाहुती इषमूर्जमन्या वक्षत् सग्धिं सपीतिमन्या नवेन पूर्वंदयमानाः स्याम पुराणेन नवंतामूर्ज मूर्जाहुतीऊर्जयमाने अधातां वसुवने वसुधेयस्य वीतांयज ॥ " (य० वा० सं० २८, १६) ॥

देवी ऊर्जाहुती देव्यौ ऊर्जाह्वान्यौ अन्नं च

रसं च आवहति-आवहति अन्या सहजग्धिं च सहपीतिं च अन्या, नवेन पूर्वं दयमानाः स्याम पुराणेन नवम्, ताम् ऊर्जम् ऊर्जाहुती ऊर्जयमाने अधाताम् वसुवननाय च वसुधानाय च। वीतां पिबेताम्। कामयेतां वा।

"यज"-इति सम्प्रैषः "यज"-इति संप्रैषः ॥ ९ [४३] ॥

इति नवमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ९ (४) ॥

अर्थः-'देवी' ऊर्जाहुती' [देव्यौ ऊर्जाहान्यौ] ऊर्जाहानी इस नाम से अन्न के लाने वाली दो 'देविए' [अन्नपूर्णाएं] कही जाती हैं। 'अन्या' उन दोनों में से एक 'इषम्' [अन्नम्] [च] व्रीहि = धान आदि अन्नको 'ऊर्जम्'[रसंच] और धान आदि अन्न को सेंचने वाले रस = दुग्ध आदिको आवक्षत्, [आवहति] संमुखभाव से लाती है, और 'अन्या'-दूसरी देवी "सग्धिं")सहजग्धिं) बन्धुओं के साथ सहभोजन को और 'सपीतिं' (सहपीतिंच) सहपान को (आवहति) लाती है अर्थात्-इनदोनों देवियों में से एक देवी अन्न और रस के पहुंचाने का कार्य करती है,औरदूसरी उसकेसहभोजनऔरसहपानसे उपयोग करनेका अर्थात्-देविये ऐसाकरें, जैसेहम पूर्वोक्त सहभोजन और सहपान करें। तथा वहअहुत अन्नहो, जिससे हम नवेन नए धान्य से पूर्वम् पुराने धान्यको 'दयमानाः' रक्षा करते हुए 'स्याम' होवें और -'पुराणेन' पुराने धान्य से 'नवम्' नए धान्य को रक्षा करते हुए होवें।

'ताम्' 'ऊर्जम्' उस ऊर्ज अन्न आदि को 'ऊर्जाहुती' ऊर्जो-हानी देविए' 'ऊर्जयमाने' बल करती हुई' 'अधाताम्' हमें देवें। किस अर्थ ? 'वसुवने' [वसुवननाय च) धन के संभोग के लिये 'वसुधेयस्य' (वसुधानाय) [च] और धन के संग्रह के लिये। 'वीताम्' (पिवेताम्) वे दोनों देविए' पृषदाज्य (घृत) के अपने अंशको पीवें (कामयेतां वा) अथवा कामना करें। 'यज' हे होतः ! तू यजन कर। यह संप्रैष = प्रेरणा है 'तू यजन कर'- यह सम्प्रैष है ॥ (४३) ॥

व्याख्या।

मूल में " अन्नं च रसं च आवहति-आवहति अन्या सह जग्धिं च सहपीतिं च अन्या " ऐसा लेखक प्रमादजन्य अपपाठ है, इसके स्थान में ' अन्नं च रसं च आवहति अन्या, आवहति सहजग्धिं च सह पीतिं च अन्या ऐसा पाठ पढ़ने से अन्वय सुगम हो जाता है। इस पाठ में केवल ' अन्या ' पदको स्थानान्तरितमात्र किया जाता है ॥ ९ (४३) ॥

इति हिन्दीनिरुक्ते नवमाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ॥९.४॥

निरुक्त के नवम अध्याय का खण्ड सूत्र-

[१ म पा०-] अथयानि (१) अश्वो वोह्ला (२) मानो मित्रः (३) कनिक्रदत् (४) भद्रं वद (५) संवत्सरम्(६)उपप्रवद (७) प्रावेपामा (८) प्रैते वदन्तु (९) अमन्दान् (१०)[२यपा०] यज्ञसंयोगात् (११) वनस्पते (१२) उपश्वासय (१३) अहीनाम् (१४) अहिरिव (१५) रथे तिष्ठन् (१६) धन्वनागा(१७) वक्ष्यन्ती वेदा (१८) सुपर्णम् (१९) आजङ्घन्ती(२०) यच्छिद्ि

(२१) [३य पा०–] वृषभः (२२) क्यक्षदयन् (२३) इममन्तम् (२४) पितुं नु (२५) इमंमे (२६) आपोहिष्ठा (२७)याओषधीः (२८) आरात्री (२९) अरण्यानि (३०) श्रद्धयाग्निः (३१)स्यो-ना (३२) अमीषाम् (३३ इहेन्द्राणी (३४)[४र्थ पा०–] अयातः (३५) आजयी (३६) आवाम् (३७) ग्रावानः (३८) प्रपर्वतानाम् (३९) ते आचरन्ती (४०) शुनासीरौ (४१) द्वेवीजोष्ट्री [४२] देवी ऊर्जाहुती (४३)

इति निरुक्ते (उत्तर षट्के) नवमोऽध्यायः ॥९, ४॥

इति हिन्दी निरुक्ते (उत्तर षट्के) नवमोऽध्यायः ॥९,४॥

अथ दशमाध्यायस्य
प्रथमः पादः ।
(अथ मध्यस्थानदेवताः)
(अथ द्वात्रिंशत् [३२] पदानि)

निघं०—वायुः ॥१॥ वरुणः ॥२॥ रुद्रः ॥३॥ इन्द्रः ॥४॥ पर्जन्यः ॥५॥ बृहस्पतिः ॥६॥ ब्रह्मणस्पतिः ॥७॥

निरु०- अथातो मध्यस्थाना देवताः, तासां वायुः प्रथमागामी भवति ।
'वायुः' वातेर्वा । वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः । एतेः,- इति स्थौलाष्ठीविः । अनर्थको वकारः ।
तस्य एषा भवति ॥ १ ॥

अर्थः- "अथातो०" यहां से पृथिवी स्थान देवताओं के अनन्तर मध्यस्थान- जिनका मध्य = अन्तरिक्ष स्थान है, वे वायु आदि देवता कहे जावेंगे । उनमें 'वायु' सब से प्रथम आने वाला (मुख्य) है ।

'वायु' [१] कैसे ? 'वा' गति गन्धनयोः [अदा० प०] धातु से है । क्यों कि- वह निरन्तर गमन करता है । अथवा गति अर्थ में 'वी' (अदा० प०) धातु से है । अथवा गति अर्थ में 'इ' (ण) (अदा० प०) धातु से है, यह स्थौलाष्ठीवि आचार्य मानते हैं । इस पक्ष में 'वायु' शब्द में 'व' कार अनर्थक है ।

इस 'वायु' की यह ऋचा है –॥१॥

व्याख्या।

"देवताः" यह बहुवचन भेद पक्ष में है– याज्ञिकों के मत में बहु देवता हैं, उन्हीं के मत से यह बहुवचन है। नैरुक्तों के मत में मध्य स्थान का एक ही देवता है। क्यों कि– वे तीन लोकों के कुल एक २ करके तीन ही देवता मानते हैं, इस कारण मध्य लोक का एक ही देवता होसकता है। इन के मत में मध्य लोक के एक देवता के ही ये सब ३२ + ३६ कुल ६८ वायु आदि नाम हैं। एक ही देवता के गुणों के भेद से न्यारे २ नाम होते हैं। जैसे– 'वाति' चलता है, इससे मध्य देव 'वायु' है, फिर मेघजाल से आकाश को आवरण कर लेता है, इससे 'वरुण' है, फिर रोदन करने से 'रुद्र' है, फिर इरा (जल) को देने से 'इन्द्र' है, और फिर वह रसों को प्रार्जन इकट्ठा करता है इससे 'पर्जन्य' है। यही गुणों के भेद से नाम भेद की कल्पना है। इसी रीति के अनुसार वायुः (१) वरुणः (२) रुद्रः (३] पर्जन्यः (४) इत्यादि समाम्नाय में देवता नामों की आनुपूर्वी है।

यद्यपि 'इन्द्र' यह मध्य स्थान का मुख्य नाम है, इससे समाम्नाय में इसी का प्रथम पाठ होना चाहिये था, किन्तु मध्य स्थान की प्रतीति = कार्यज्ञान वर्षा के द्वारा ही होती है, और उस कर्म में वायु का ही प्रथम अधिकार है; इससे 'वायु' नामका ही पहिले समाम्नान हुआ है। अर्थात्–कार्त्तिक मास से पीछे सब दिशाओं के जलको ओषधि वनस्पति और जलाशयों से लेता हुआ अन्तरिक्ष में गर्भ को धारण करता है

वह गर्भ आठ मास में पकजाता है और वर्षा काल को प्राप्त होकर प्रसव = बरसने के अर्थ समर्थ होता है। जैसाकि कहा है-

"वान्ति पर्णशुषो वाताः ततः पर्णमुचोऽपरे।
ततः पर्णरुहो वान्ति ततो देवः प्रवर्षति॥"

अर्थात् पहिले पत्तों के सुखाने वाले वायु चलते हैं, फिर पत्तों के गिराने वाले, फिर पत्तों को उगाने वाले और फिर देव वर्षा करता है।

इस क्रम में पहिले वायु का ही प्रयोजन होता है, इसी से 'वायु' नाम पहिले समाम्नाय में पढ़ा गया है। और इसीसे यह ठीक कहा गया है कि-"तासां वायुः प्रथमागामी भवति" उनमें 'वायु' पहिले आता है॥१॥

(खं० २)

निरु०-वायवायाहि दर्शतेमे सोमा अरङ्कृताः।
तेषां पाहि श्रुधि हवम्॥" (ऋ०सं०१,१,३,१)॥
वायो! आयाहि दर्शनीय! इमे सोमा 'अरङ्कृताः' अलङ्कृताः तेषां पिब, शृणु नो ह्वानम्-इतिकम्-अन्यं मध्यमाद् एवम्- अवक्ष्यत।
तस्य एषा अपरा भवति॥२॥

अर्थः-"वायवायाहि०" इस ऋचा का मधुच्छन्दस् ऋषि है। आध्वर्यव ('अध्वर्यु' के) कर्म में वायव्य के उपस्थान में विनियोग है। तथा बाह्वृच्य (होता) के प्रउग शस्त्र में इसका शंसन है।

हे 'वायो !' वायु देव ! 'दर्शत !' (दर्शनीय !) दर्शन करने योग्य ! 'आयाहि' आ । 'इमे' ये 'सोमाः' सोम 'अरङ्कृताः' [अलङ्कृताः] तेरे अर्थ सजाए हुए हैं । 'तेषाम्' उन सोमों के अपने भाग को 'पाहि' (पिब) पी । 'श्रुधि' (शृणु) सुन-'हवम्' [नः ह्वानम्] हमारे आवाहन को । इस प्रकार मध्यम से किस अन्य देवको ऋषि कहता ? अतः 'वायु' मध्यम लोक का इन्द्र देव ही है—'वायु' शब्द से इन्द्र का ही ग्रहण होसकता है । क्योंकि सोमके साथ विशेष सम्बन्ध इन्द्रका ही है । इससे 'वायु' शब्द से अन्य लोक के देवता की आपत्ति यहां नहीं होसकती ।

" तस्य० " इस इन्द्र वायु की यह दूसरी ऋचा है, जिसमें 'वायु' शब्द 'इन्द्र' पद के साथ विशेषण रूप में पढ़ा हुआ है— ॥ २ ॥

(खं० ३)

निरु०– " आसस्राणासः शवसान मच्छेन्द्रं सुचक्रे रथ्यासो अश्वाः । अभिश्रव ऋज्यन्तो वहेयु र्नूचिन्नु वायोरमृतं विदस्येत ॥ " [ऋ० सं० ४, ७, ९, १] ॥

आससृवांसः अभिबलायमानम्-इन्द्रं कल्याणचक्रेरथे योगाय रथ्याः अश्वाः रथस्य वोढारः ऋज्यन्तः ऋजुगामिनः अन्नम्-अभिवहेयुः नवं च पुराणं च ॥

'श्रवः' इति अन्ननाम श्रूयते इति सतः ।

वायोश्च अस्य भक्षो यथा न विदस्येत्-इति ॥
इन्द्रप्रधाना-इत्येके । नैघण्टुकं वायुकर्म ।
उभयप्रधाना-इत्यपरम् ॥
'वरुणः' वृणोति -इति सतः ।
तस्य-एषा भवति- ॥ ३ ॥

अर्थः— "आसस्राणासः०" इस ऋचा का भरद्वाज ऋषि है। महाव्रत महदुक्थ में शस्त्र है, उत्तर पक्ष में।

'रथ्यासः' (रथ्याः) रथ में जुड़ने वाले, 'सुचक्रे' सुन्दर पहियों वाले रथमें 'आसस्राणासः' (आसस्रांसः) नित्य ही हमारे यज्ञ में आने के अर्थ आसर्पण करने वाले तेज चलने वाले 'ऋज्यन्तः (ऋजुगामिनः) सीधे चलने वाले 'अश्वा (रथस्य वोढारः) रथके खेंचने वाले घोड़े 'शवसानम्' [अभि-बलायमानम्] अपने को अधिक बलवाला मानते हुये 'इन्द्रम्' इन्द्र को 'अभि—वहेयुः' हमारे यज्ञके प्रति लावें जिस प्रकार कि—'नूचित्'(नवं च पुराणं च) नया और पुराना 'वायोः' वायु = इन्द्र का 'अमृतम्' सोमरूप 'भक्षः' अन्न 'नु' 'विदस्येत्' न सूखे—न बिगड़े—ऐसे गुणवाले घोड़े रथमें बैठे हुये इन्द्र को बहुत शीघ्र लावें जिससे कि— नया पुराना सोम बिगड़े नहीं (यह हम आशा करते हैं)। इस प्रकार इस मन्त्र में इन्द्र के विशेषण के रूप में आया हुआ 'वायु' शब्द इन्द्र का ही वाचक हो सकता है।

'भक्षः' यह अन्न का नाम है। क्योंकि—वह सब स्थान में भक्षण किया जाता है।

कोई आचार्य मानते हैं कि — 'यह ऋचा इन्द्रप्रधाना

है-इन्द्र ही इस ऋचा में प्रधान है और 'वायु' शब्द इसी का विशेषण है।

दूसरा मत यह है-, कि-दोनों (इन्द्र और वायु) ही इस ऋचा में प्रधान देवता हैं। इन्द्र स्वतन्त्र है और वायु स्वतन्त्र है। 'वायु' शब्द इन्द्र का विशेषण नहीं। यह मत देवता भेदवादियों का है जो लोग (याज्ञिक) एक २ लोक में भी अनेक देवता मानते हैं वे ऐसा कहते हैं। किन्तु नैरुक्त इसको ठीक नहीं समझते, कारण इस ऋचा का निष्केवल्य में विनियोग है, वहां वायु का सम्बन्ध नहीं (भग० दु०)॥

'वरुण' (२) यह किस धातु का है? वृणोति' (ढांप-लेता है) इस कर्तृवाच्य (स्वा० उ०) धातु का है। क्योंकि वह मेघजाल से सब आकाश को ढांपलेता है।

"तस्य०" उसकी यह ऋचा है ॥३॥

(खं० ४)

निरु०— " नीचीनवारं वरुणः कवन्धं प्रससर्ज रोदसी अन्तरिक्षम्। तेन विश्वस्य भुवनस्य राजा यवन्न वृष्टिर्व्युनत्ति भूम ॥" [ऋ० सं० ४,४,२,३]॥

नीचीनद्वारं वरुणः कवन्धं मेघम्। 'कवनम्' उदकं भवति, तद् अस्मिन् धीयते।

उदकमपि 'कवन्धम्' उच्यते। 'वन्धिः' अनिभृतत्वे। 'कम्- अनिभृतं च'। प्रसृजति द्यावापृथिव्यौ च अन्तरिक्षं च महत्त्वेन। तेन सर्वस्य भुवनस्य राजा। यवमिव वृष्टिर्व्युनत्ति भूमिम्।

तस्य एषा अपरा भवति ॥४॥

अर्थः—"नीचीनवारम्०" इसका अत्रि ऋषि है ।

'वरुणः' वरुण(मेघम्)मेघको'नीचीनवारम्'(नीचीनद्वारम्) (न्यक्अञ्चते द्वारं यस्य सः नीचीनद्वारः) अधोमुख (करके)— मेघका मुँख नीचे को करके 'कवन्धम्' (उदकम्) जल को 'प्रससर्ज' (प्रसृजति) रचता है = बरसाता है । 'रोदसी' (द्यावापृथिव्यौ) 'अन्तरिक्षं' (च) द्युलोक— पृथिवी लोकों का और अन्तरिक्ष को (महत्वेन) अपने बड़े पने से (प्रसृजति) विशेष रूप से रचता है । 'तेन' तिस कारण से 'विश्वस्य' (सर्वस्य) सारे (भुवनस्य) भुवन(लोक) का 'राजा' है । उसीके अनुग्रह के अर्थ 'वृष्टिः' वर्षा 'भूम' (भूमिम्) सारी पृथिवी को 'यवम् न' किंचित् वस्तु के समान 'व्युनत्ति' (क्लेदयति) गीला करती है भिगोदेती है । ('वह वरुण देव हमारे लिये ऐसा वाञ्छित करें') यह आशीः जोड़ लेना चाहिये ।) ॥

'कवन्ध' क्या ? मेघ । क्यों 'कवन' उदक = जल होताहै; वह उसमें धारण कियाजाता है ।

जल भी 'कवन्ध' कहा जाता है । क्यों ? 'वन्ध' धातु (भ्वा०प०) अनिभृतत्व = चञ्चल = पने में है । 'क' सुखरूप और 'वन्ध' चञ्चल = चपल होने से वह 'कवन्ध' है

"तस्य०" उस वरुण की यह दूसरी ऋचा है । यद्यपि उक्त ऋचामें जो वरुण का वर्ष कर्म दिखाया है, वह सूर्य में भी संभव है, इस से यह लक्षण मध्यम वरुण का असंदिग्ध नहीं होता, अतः अगली ऋचा दी जाती है, जिसमें 'मध्यम' शब्द से ही उसे मध्यम कहा गया है- ॥ ४ ॥

(खं० ५)

निरु०-"तमूषुसमना गिरा पितॄणाञ्च मन्मभिः। नाभा कस्य प्रशस्तिभिर्यः सिन्धूनामुपोदये सप्तस्वसास मध्यमो नभन्तामन्यके समे ॥" (ऋ०सं० ६, ३, २६, १) ॥

तं स्वभिष्टौमि समानया गिरा = गीत्या = स्तुत्या, पितॄणां च मननीयैः स्तोमैः, नाभाकस्य प्रशस्तिभिः।

ऋषि 'र्नाभाको' बभूव, यः स्यन्दमानानाम्-आसाम्-अपाम्-उपोदये सप्तस्वसारम्-एनम्-आह वाग्भिः- 'सः मध्यमः'- इति निरुच्यते। अथ एष एव भवति।

"नभन्तामन्यके समे" मा भूवन्नन्यके सर्वे-येनो द्विषन्ति दुर्धियः = पापधियः = पापसंकल्पाः॥

'रुद्रः' रौति- इति सतः। रोरूयमाणो द्रवति- इति वा। रोदयते वा। "यदरुदत्तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम्" इति काठकम्। "यदरोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम्"-इति हारिद्रविकम्॥

तस्य एषा भवति ॥५॥

अर्थः- (अहम्) मैं 'तम्' उस वरुण को 'समना'(समानया) उसके योग्य 'गिरा' (गीत्या = स्तुत्या)स्तुति से 'पितॄणां' च' और पितरों के 'मन्मभिः' (मननीयैः स्तोमैः) मनन करने

योग्य स्तोत्रों से 'नाभाकस्य' और नाभाक ऋषि की 'प्रशस्तिभिः' प्रशंसाओं से = स्तोत्रों से 'स्तु' (अभिष्टौमि) सुन्दर अभिमुख भाव से स्तुति करता हूं, 'यः' जो नाभाक 'सिन्धूनाम्' (स्यन्दमानानाम् आसाम् अपाम्) बहने वाले इन जलों के 'उपोदये' उदय काल में = वर्षाकाल में 'सप्तस्वसा' (सप्तस्वसारम्-एनम्-आह) इसे सात बहिनों वाला कहता है-अथवा आदि सात मध्यमा वाणियें इसकी बहिनें हैं ऐसा कहता है। 'सः' वह वरुण 'मध्यमः' मध्यम है। [इति निरुच्यते] इस प्रकार इस मन्त्र में शब्द के द्वारा ही वरुण मध्यम कहा गया है।

"नभन्ताम् अन्यके समे" (माभूवन्नन्यके सर्वे,-ये नो द्विषन्ति दुर्धियः = पापधियः = पापसंकल्पाः)

अर्थात्- उस वरुण के अनुग्रह से वे सब न होवें जो दुष्ट बुद्धि वाले = पाप बुद्धि वाले = पाप संकल्प वाले हमें द्वेष करते हैं।

'रुद्र' (३) किस धातु का है ? 'रौति' (रोता है) (शब्द करता है) इस (अदा०प०) कर्तृवाच्य धातु का है। अथवा 'रोरूयमाण' (बार २ या अतिशय रो२ कर 'द्रवति' चलता है, इससे 'रुद्र' है। अथवा 'रोदयति' पापियों को रुलाता है, इस से वह 'रुद्र' है।

"यदरुदत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम्" जो रोया सो रुद्र का रुद्रपना है, काठक श्रुति है।

"यदरोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम्" जो रोया सो रुद्र का रुद्रपना है, यह हारिद्रविक श्रुति है।

इन श्रुतिओं के निर्वचन के अनुसार इतिहास भी है कि-वह रुद्र अपने पिता प्रजापति को बाणों से बेधते हुये को देख कर शोक से रोया था, इसी से उसका नाम 'रुद्र' हुआ।

हारिद्रव नाम मैत्रायणीयों की एक शाखा है; इसी का यह दूसरा वचन है, अर्थ एक ही है, किन्तु दूसरी श्रुति दिखा कर आचार्य ने यह सूचित किया कि निर्वचन कर्म में और और शाखाओं से भी सहायता लेनी चाहिये।

"तस्य०" उस रुद्र की यह ऋचा है—॥५॥

(खं० ६)

निरु०-"इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरः क्षिप्रेषवे देवाय स्वधाव्ने। अषाळ्हाय सहमानाय वेधसे तिग्मायुधाय भरता शृणोतु नः॥" (ऋ० सं० ५, ४, १३, १)॥

इमा रुद्राय धृढधन्वने गिरः क्षिप्रेषवे देवाय अन्नवते अषाढाय अन्नैः सहमानाय विधात्रे तिग्मायुधाय भरत शृणोतु नः।

'तिग्मम्' तेजतेः उत्साहकर्मणः।

'आयुधम्' आयोधनात्।

तस्य एषा अपरा भवति-॥६॥

अर्थ:-"इमा रुद्राय०" इस ऋचा का और अगली "याते दिद्यु०" इस ऋचा का वसिष्ठ ऋषि है। मूलगत में विनियोग है।

हे (स्तोतारः !) स्तुति करने वालो ! तुमसे कहा जाता है-'इमाः' इन 'गिरः' (स्तुतीः) स्तुतियों को 'स्थिरधन्वने' (दृढधन्वने) दृढ धनुष् वाले 'क्षिप्रेषवे' शीघ्र बाण वाले 'देवाय' दान आदि गुणों से युक्त 'स्वधाव्ने' (स्वधावते = अन्नैः अन्नवते) स्वधा वाले या अन्नों से अन्न वाले 'अषाळ्हाय' (अषाढाय = अनभिभूताय केनचित्) किसी से भी न तिरस्कार किये गये 'सहमानाय' (शत्रून् नित्यम् अभिभवते) नित्य ही शत्रुओं को तिरस्कार करने वाले 'वेधसे' (विधात्रे) जगत् के रचने वाले 'तिग्मायुधाय' (तीक्ष्णायुधाय) पैने आयुध वाले 'रुद्राय' रुद्र के लिये 'भरत' धारण करो या उच्चारण करो । (सः) वह रुद्र देव 'नः' (गिरः) हमारी स्तुतियों को 'शृणोतु' सुने (यह हम आशा करते हैं) ॥ यहाँ "सहमानाय" इस बल वाचक शब्द से यह रुद्र मध्यम है ॥

'तिग्म' (तीक्ष्ण) कैसे ? उत्साह अर्थ में 'तिज' (भ्वा०प०) धातु से है ।

'आयुध' क्यों ? आयोधन होने से या उससे युद्ध किया जाता है, इससे ।

" तस्य० " उस रुद्र की यह और ऋचा है, जिस में पूर्व ऋचा के "विधात्रे" पद की विधान क्रिया दिखाई गई है कि- वह क्या विधान करता है ?

(खं० ७)

निरु०- " या ते दिद्युदवसृष्टा दिवस्परि क्ष्मया चरति परि सा वृणक्तु नः । सहस्रं ते स्वपिवात

भेषजा मा नस्तोकेषु तनयेषु रीरिषः॥(" ऋ० सं० ५, ४, १३, ३) ॥

या ते दिद्युद्- अवसृष्टा 'दिवस्परि' दिवः- अधि। 'दिद्युत्' द्यते र्वा। द्युते र्वा। [द्योततेर्वा।]

"क्ष्मया चरति" 'क्ष्मा' पृथिवी, तस्यां चरति। तया चरति। विक्ष्मापयन्ती चरति- इति वा।

परिवृणक्तु नः सा।

सहस्रं ते स्वापिवचन! भेषज्यानि।

मा नः त्वं पुत्रेषु च पौत्रेषु च रीरिषः।

'तोकं' तुद्यतेः।

'तनयं' तनोतेः।

अग्निः अपि 'रुद्रः' उच्यते।

तस्य एषा भवति ॥७॥

अर्थः- हे भगवन्! रुद्र! 'या' जो 'ते' तेरी 'अवसृष्टा' रचीहुई 'दिद्युत्' ज्वर अतीसार आदि रोग रूपा दिद्युत् या आयुध (शस्त्र) जिससे तू प्राणियों को हनन करता है 'दिवस्परि' (दिवः अधि) द्युलोक के ऊपर 'चरति' विचरती है। और जो दिद्युत् 'क्ष्मया' ('क्ष्मा' पृथिवी, तस्याम्) 'क्ष्मा' पृथिवी उसमें विचरती है, अन्न के रूप को प्राप्त हुई जो पृथिवी उस में प्रवेश करके विचरती है, अन्न पान से उत्पन्न होने वाले रोगों के रूप में जो तेरी दिद्युत् फिरती है, क्यों कि-अन्न-

पानसे ही सब रोग उत्पन्न होते हैं। अथवा जो तेरी दिद्युत् (रोग रूपा शक्ति) (विक्ष्मापयन्ती) प्राणियों को नाश करती हुई विचरती है, 'सा' वह 'नः' हमको 'परिवृणक्तु' बचावे। और हे 'स्वपिवात' (स्वाप्त वचन) जिसकी आज्ञा का कोई उल्लङ्घन नहीं कर सकता! (यानि) जो 'ते' तेरे 'सहस्रम्' अनन्त 'भेषज्यानि' औषध हैं-जिन से अपने भक्तों को रोगों से बचाते हो, वे औषध हमारे लिये हों। और (त्वम्) तू 'नः' हमारे 'स्तोकेषु' पुत्रों में 'तनयेषु' और पौत्रों में 'मा' मत 'रीरिषः' रिषा- मत क्रोध कर। यह हम चाहते हैं।

'दिद्युत्' (रोग) कैसे? द्यति = 'दो' अवखण्डने (दि० प०) धातु से है। क्यों कि- वह नित्य ही आयु का अवदान (खण्डन) करती है। अथवा दीप्ति अर्थ में 'द्युत्' (भ्वा० आ०) धातु से है। क्यों कि—वह शरीर में होतेही (द्योतनप्रकाशन) करती है, प्रतीत होती है।

'तोक' क्या? पुत्र। क्यों व्यथा अर्थ में 'तुद' (तु० उ०) कर्मवाच्य धातु से है, क्यों कि—शासन करते हुये पिता से नित्य ही व्यथित किया जाता है,-'ऐसा कर' 'ऐसा मत कर'।

'तनय' क्या? पौत्र (पोता)। क्यों? वह विस्तार अर्थ में 'तन्'(त० उ०)धातु से है। क्यों कि—वह पिताशे बहुतही तत या विस्तृत = फैला हुआ होता है।

यद्यपि 'तोक' और 'तनय' शब्द दोनों ही अपत्य = सन्तान के वाचक पर्याय शब्द हैं, तथापि एक वाक्य में दोनों के आजाने से इनका भिन्न अर्थ कल्पित किया गया है। भाष्यकार की इस रीति (न्याय) का अन्यत्र भी पर्याय शब्दों में ध्यान रखना चाहिये।

अग्निभी 'रुद्र' कहा जाता है।

"तस्य०" उस अग्नि रुद्र की यह ऋचा है ॥ ७ ॥

व्याख्या।

जिस 'रुद्र' की यहां व्याख्या है, वह रुद्र मध्यलोक के वायु आदि देवताओं में तीसरा देवता है, उसी की स्तुति "याते दिद्युत्० "मन्त्र से है। किन्तु 'रुद्र' देव के मध्यम होने पर भी इस मन्त्र में 'उसकी रची हुई 'दिद्युत्' (रोग-देवता) द्युलोक में और पृथिवी लोक में भी विचरती है, कहा गया है। इस से इसका मध्यम होना संशय-युक्त होता है ? तथापि "सभी देवता द्युलोक स्थान के ही हैं" "किन्तु उनके कर्माधिकार के स्थान अलग २ नियत हैं" जैसे एक स्थान [देश] के मनुष्य भिन्न २ देशों में राज्य करें। यह बात इस मन्त्र के "दिवस्परि" वाक्य से जानी जाती है। इसी से पृथिवीस्थान अग्नि के अधिकार में (अ० ७ पा० ४ खं० २) " अग्निमीळे० " इस निगम में " देव "शब्द की व्याख्या भाष्यकार इस प्रकार करते हैं-

"देवो दानाद् वा। दीपनाद् वा। द्योतनाद् वा। द्युस्थानो भवति-इति वा।"

अर्थात्-यहां "देव" क्यों है ! अथवा द्युस्थान होताहै इस का प्रयोजन यह है कि – जिस का द्युलोक स्थान है वह 'देव' है। इसी व्याख्या के आधार पर ' देव ' पदके

सम्बन्ध से सभी देवता द्यु स्थान हैं सभी देवताओं का द्युलोक स्थान समान है। कर्माधिकार स्थान तो अग्नि का पृथिवी, इन्द्र का अन्तरिक्ष और आदित्य का द्युलोक है।

ऐसे ही रुद्रदेवता का कर्माधिकार तीनों लोकों में भी बताया हुआ है-

"नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि येषां वर्षमिषवः।"

(य०वा०सं० १६, ६४) अर्थात्- जो रुद्र द्युलोक में रहते हैं, और जिनका वृष्टि ही वाण हैं,-जो वृष्टि अतिवृष्टि आदि क्लेशों के द्वारा प्राणिओं को मारते हैं, उन रुद्रों के लिये नमस्कार है। वृष्टिकर्म द्युलोक से होता है, और द्युलोक में ही रुद्रोंकी स्थिति तथा वृष्टि ही उनके आयुध हैं,इस प्रकार इस मन्त्र में रुद्रों का कर्माधिकार स्थान द्युलोक कहागया।

"नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो येऽन्तरिक्षे येषां वातइषवः।"

[य० वा० सं० १६, ६५] अर्थात्-जो रुद्र अन्तरिक्ष में रहते हैं, जिन के वायु ही आयुध हैं, कुवायु से अन्न को नाश करके अथवा वायु रोग को उत्पन्न करके प्राणिओं को मारते हैं, उन रुद्रों के अर्थ नमस्कार हो। वायु का अन्तरिक्ष स्थान प्रसिद्ध है।

"नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये पृथिव्यां येषामन्नामिषवः।"

[य० वा० सं० १६,६६]। अर्थात्—जो रुद्र पृथिवी में रहते हैं, जिनके अन्न ही आयुध = शस्त्र हैं, जो कदन्न [सड़े अन्न] के भक्षण में जनों को प्रवृत्त करके अथवा चोरी में प्रवृत्त करके उन्हें रोगी करके मारते हैं उन रुद्रोंके अर्थ नमस्कार हो

इस सब कथन का सार यह है कि-सब देवताओं का

लोक या मुख्य स्थान द्यु लोक है, भिन्न२ लोक उनके कर्माधि-
कार को लेकर ही बताए हैं ॥ ७ ॥

(खं० ८)

निरु०-"जराबोध तद्विविड्ढि विशे विशेयाज्ञि-
याय। स्तोमं रुद्राय दृशीकम्॥" [ऋ० सं० १, २, २३, ५]
(सा० सं० छ० आ० १, १, २, ५) ॥

'जरा' स्तुतिः । जरतेः स्तुतिकर्मणः । तां बोध
तया बोधयितः ! इति वा । तद् विविड्ढि तत्
कुरु मनुष्यस्य मनुष्यस्य यजनाय स्तोमं रुद्राय
दर्शनीयम् ॥

'इन्द्रः' इरां दृणाति-इति वा ।
इरां ददाति- इति वा ।
इरां दधाति-इति वा ।
इरां दारयते-इति वा ।
इन्दवे द्रवति- इति वा ।
इन्दौ रमते-इति वा ।
इन्धे भूतानि-इति वा ।
" तद्यदेनं प्राणैः समैन्धं स्तदिन्द्रस्येन्द्रत्वम्
इति विज्ञायते "
इदं करणाद्-इति-आग्रायणः ।
इदं दर्शनाद्-इति औपमन्यवः ।

इन्दते वा ऐश्वर्यकर्मणः ।
इन्दन्-शत्रूणां दारयिता वा, द्रावयिता वा ।
आदरयिता वा यज्वनाम् ।
तस्य-एषा भवति- ॥ ८ ॥

अर्थः—" जरा बोध० " इस ऋचा का शुनः शेप ऋषि है । " अश्वं न त्वा वारवन्तम्० " (ऋ० सं० १ मं० ६ अ० ४ सू०) इस सूक्त में मासरनुवाक में विनियोग है ।

हे भगवन् ! अग्ने ! रुद्र ! 'जरा' (स्तुतिः) जो यह तेरी स्तुति मुझसे उच्चारण की जा रही है, (ताम्) उसको (बोध) जान । अथवा हे 'जराबोध ! ' (तया बोधयितः !) उस स्तुति के द्वारा होतृ कर्म में वर्त्तमान हुआ यजमानों के अभिमत अर्थ को सम्पादन करने वाले ! = सिद्ध करने वाले ! 'यज्ञियाय' यज्ञ के करने वाले 'विशे-विशे' (मनुष्याय मनुष्याय) मनुष्य मनुष्य के लिये अथवा (मनुष्यस्य मनुष्यस्य यजनाय) मनुष्य मनुष्य के यजन के अर्थ 'तत्' वह 'विविड्ढि' (कुरु) कर—जो तेरा यज्ञ में कर्त्तव्य है । उससे वह मनुष्य देवताओं के स्तोता तुझ रुद्र के लिये 'दृशीकम्' (दर्शनीयम्) दर्शनीय या श्रवणीय 'स्तोमम्' स्तोत्र को (करिष्यति) करेगा ।

" यो अग्नौ रुद्रो यो अप्स्वऽन्तर्य ओषधीर्वीरुध आविवेश । य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये ॥ " (अथ० सं० ७, ८७, १] ॥

अर्थात्-जो रुद्र अग्नि में जो जलों में जो ओषधियों के मध्यमें, वीरुध् (तृणों) के मध्यमें प्रवेश किये हुए है, जिसने इनमें प्रवेश किया था, जिसने इन सब भुवनों को बनाया है उस रुद्र अग्नि को नमस्कार हो। इस मन्त्र में स्पष्ट ही अग्नि और रुद्र का अभेद है॥

'इन्द्र' (४) क्यों ? इरा (अन्न) को विदारण करता है- वर्षा से बीज को भिगोकर अङ्कुर उत्पन्न करता हुआ उसे फाड़देता है। इस प्रकार यह 'इरादार' का 'इन्द्र' नाम है। यही देवताओं के नामों की परोक्षता है, कि वे प्रत्यक्ष वृत्ति शब्दों के संक्षेप या विकृत शब्द रूप हैं। 'इन्द्र' शब्द का पूर्व भाग 'इरा' शब्द से है और दूसरा भाग 'दृणाति' से या 'दार' से है। जैसे "अग्रणी" से "अग्नि"। ऐसे परोक्ष नाम देवताओं को बहुत प्रिय हैं, वे प्रत्यक्ष प्रशंसा के नामों से अप्रसन्न होते हैं। जैसा कि-

"परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः"

(ब्राह्मण)।

यही प्रकार अन्य देवताओं के नामों के अर्थों में ध्यान में रखना चाहिए।

देवता अपने तत्व को अपने नाम में छिपाकर अविद्वानों से सदा परोक्ष = अप्रत्यक्ष रहते हैं, किन्तु विद्वान् पुरुष उनके नामों की व्युत्पत्ति के द्वारा दिव्य दृष्टिसे उनके आत्मतत्व को जानकर उनके स्वरूपको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार देवता-ओं के नामों की व्युत्पत्ति में सकल पुरुषार्थ = मनुष्य का सम्पूर्ण वाञ्छित स्थापित है, इसी सिद्धि के लिये देवता नामों के निर्वचन में महान् यत्न किया जाता है।

और देवताओं में भी इन्द्र देवता अध्यात्म और अधिदैवत दोनों अर्थों में सब से अधिक स्तुति का भाग लेने वाला है, और देवताओं से इनमें अधिक महिमा है, इस कारण इस के नाम की व्याख्या को आचार्य बहुत हो विस्तार से करते हैं।

अथवा इरा को देता है, इससे इन्द्र है। इराद् = इरा-दाता = इन्द्र।

अथवा 'इरां दधाति' इरा (अन्न) को धारण करता है। 'इराध' = इराधारयिता = इन्द्र।

अथवा 'इरां दारयते' इरा (अन्न) को दारण करता है।

अथवा 'इरां धारयते' 'इरा' (अन्न) को धारण करता है।

अथवा 'इन्दवे द्रवति' इन्दु (सोम) के लिये द्रुत होता है-चलता है।

अथवा 'इन्दौ रमते' इन्दु (सोम) में रमता है।

अथवा 'इन्धे भूतानि' भूतों को = प्राणिओं को अन्न की उत्पत्ति के अधिदेव में स्थित हुआ अथवा अध्यात्म में स्थित हुआ भोजन कराने के द्वारा द्युतिमान् = कान्तिमान् करता है, सो यह "इन्ध = इन्द्र" है।

और यह दूसरा इन्द्र का इन्द्रपना ब्राह्मण में कहा है—

"तद् यदेनं प्राणैः०" जो कि-इसे प्राणों के अधि-देवताओं ने समिन्धन = सन्दीपन किया है, यही इन्द्र का इन्द्रत्व है, यह जाना जाता है।

इदंकरण से इन्द्र है—इस जगत् को इसने बनाया है इस से यह इन्द्र है,—यह आग्रायण आचार्य मानते हैं।

इदं दर्शन से इन्द्र है—इस जगत् को इसने देखा है, इस से यह 'इन्द्र' है, यह औपमन्यव आचार्य मानते हैं।

अथवा ऐश्वर्य अर्थ में 'इन्द्' (भ्वा० प०) धातु से है।

क्योंकि-वह ऐश्वर्यवान् है, इससे वह 'इन्द्र' है।

अथवा 'इन्दत्' ऐश्वर्ययुक्त होता हुआ शत्रुओं का दारण करने वाला है, अथवा द्रावण करने वाला = भगाने वाला है, इससे 'इन्द्र' है।

अथवा यज्वनों का = यज्ञ करने वालों का आदर करने वाला है, इस से इन्द्र है।

"तस्यै०" उस इन्द्र की यह ऋचा है-॥८॥

(खं० ९)

निरु०-"अदर्दरुत्समसृजो विखानि त्वमर्णवान् बद्बधानां अरम्णाः। महान्तमिन्द्र पर्वतं वि यद्वः सृजो विधारा अव दानवं हन् ॥" (ऋ०सं० ४,१,३२,१ सा०सं०छं०आ० ४,१,३,३)

अदृणाः उत्सम्।

'उत्सः' उत्सरणाद् वा। उत्सदनाद् वा। उत्स्यन्दनाद् वा। उनत्तेर्वा।

व्यसृजः अस्य खानि। त्वम् अर्णवान् = अर्णस्वतः एतान् माध्यमिकान् संस्त्यायान् बाबध्यमानान् अरम्णाः। 'रम्णातिः' संयमनकर्मा, विसर्जनकर्मा वा।

"महान्तमिन्द्र ! पर्वतम्" मेघं यद् व्यवृणोः। व्यसृजः अस्य धारा अवहन् एनं 'दानवं' दानकर्माणम्।

तस्य एषा अपरा भवति ॥९॥

अर्थ :-"अदर्द:०" इस ऋचा का गातु आत्रेय ऋषि है। हे भगवन्। 'इन्द्र !' 'त्वम्' तैने 'उत्सम्' (मेघम्) मेघ को 'अदर्दः' (अदृणाः) फाड़ा, 'अस्य' इस (मेघ) के 'खानि' (बिलानि) छिद्रों को 'वि-असृजः' खोला, (त्वम्) तैने 'अर्णवान्' (अर्णस्वतः एतान् माध्यमिकान् बाबध्यमानान् संस्त्यायान्) इन जल से भरे हुए मध्यलोक के मेघ समूहों को 'अरम्णाः' इकट्ठा किया है—वश में किया है, या रचा है, या छोड़ा है। 'यत्' जोकि-'महान्तम्' बड़े 'पर्वतम्' (मेघम्) मेघको जो अन्य का खुले द्वार करनो अशक्य था, 'वि-वः' (व्यवृणोः) खोल दिया है,—उसके जल के बहाने वाले द्वार खोल दिये हैं, उससे 'दानवम्' (एनं उदकदातारं मेघम्) इस जलके देने वाले मेघको 'अव-हन्' हनन करते हुए ने 'तैने 'धारा' धाराओं को 'विसृजः' छोड़ा है।

'उत्स' (मेघ) कैसे ? उत्सरण (ऊपर को गमन) करने से। अथवा उत्सदन से—ऊपर को सन्न (बैठा हुआ) जैसा होने से। अथवा उत्स्यन्दन से ऊपर अवस्थित होकर स्यन्दन करता है = बहता है, इससे 'उत्स' है। अथवा भिगोने अर्थ में 'उन्द्' (रु०) धातुसे है। क्योंकि—वह सब जगत् को गीला बना देता है इससे उन्दन करने से यह 'उत्स' है।

"अरम्णाः" पद में 'रम' (क्र्या० प०) धातु संयमन अर्थ में है। अथवा विसर्जन अर्थ में है।

'दानव' क्या ? दानकर्मा = देने वाला॥

"तस्य०" उस इन्द्र की यह और ऋचा है—पहिले कहा

है कि इसके रसानुप्रदान (१) वृत्रवध (२) और जो कोई बलकृति (३) कर्म हैं, उनमें रसानुप्रदान और वृत्रवध पूर्व उदाहरण से दिखाया गया अब बलकृति के अर्थ यह और ऋचा है ॥ ९ ॥

(खं० १०)

निरु०-"यो जात एव प्रथमो मनस्वान्देवोदेवान्क्रतुना पर्यभूषत । यस्य शुष्माद् रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना सजनास इन्द्रः ॥" [ऋ० सं० २, ६, ७, १] ॥

यो जायमान एव प्रथमो मनस्वी देवो देवान् 'क्रतुना' कर्मणा पर्यभवत्, पर्यगृह्णात्, पर्यरक्षत्, अत्यक्रामत्-इति वा। यस्य बलात् द्यावापृथिव्यौ अपि अबिभीताम्, नृम्णस्य मह्ना बलस्य महत्त्वेन स जनास इन्द्र इति ॥

ऋषिर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवति आख्यानसंयुक्ता ।

'पर्जन्यः' तृपेः आद्यन्तविपरीतस्य। तर्पयिता जन्यः।

परो जेता वा । परो जनयिता वा । प्रार्जयिता वा रसानाम् ।

तस्य एषा भवति ॥१०॥

अर्थः-"यो जात एव०" इस ऋचा का गृत्समद ऋषि

है। इन्द्र मनस्वान् के लिये पुरोडाश होता है, उसकी यह व्याख्या है।

गृत्समद् इन्द्र देव के वरदान से इन्द्र के सदृश रूप को प्राप्त होगया था, जब वह इन्द्र जैसा आकृति वाला होगया, तो उसे देखकर असुरों ने उसे इन्द्र समझा, और उसे मारने की ठानी, कि- अब यह मरुद् गणों (देवताओं) के बिना अकेला है, इसे हम मार सकेंगे, इस विचार से उन्हों ने गृत्समद् को घेर लिया। तब उसने डर कर इस सूक्त से इन्द्र की स्तुति की, और असुरों को अपने को ब्राह्मण बताया—

'यः' जो 'जातः' (जायमानः) 'एव' उत्पन्न होते ही 'प्रथमः' (मुख्यः सर्वभूतानाम्) सब प्राणियों के प्रति मुख्य हुआ और 'मनस्वान्' (मनस्वी) मेधावी हुआ। क्यों कि- और मनुष्य समय पाकर क्रम से प्रधान और मेधावी होते हैं, और इन्द्र देव अपने जन्म के साथ ही इन गुणों से युक्त होता है, यह उसका अन्यों की अपेक्षा अतिशय है। 'देवः' देव इन्द्र ने 'देवान्' और देवताओं को 'क्रतुना' (कर्मणा) कर्म से 'पर्यभूषत्' (पर्यभवत्) दबाया है- देवतापने में समान होने पर भी और देवों पर कर्म से अपना आधिपत्य स्थापन किया है। अथवा (पर्यगृह्णत्) अपने स्वामित्व से उन्हें सब प्रकार अधीन किया है। अथवा (पर्यरक्षत) मुख्यतासे रक्षित किया है अथवा [अत्यक्रामत्] प्रभाव से उल्लङ्घन किया है। 'यस्य' जिसके 'शुष्मात्' (बलात्) बल से 'रोदसी' (द्यावा-पृथिव्यौ—अपि, द्यावा—पृथिवी भी 'अभ्यसेताम्' (अबिभीताम्) डरे हैं 'नृम्णस्य' (बलस्य = सैन्यस्य) सैन्य के 'मह्ना' [महत्वेन] अधिक होने से, 'यह हम दोनों को अवश्य दबावेगा' इस

कारण द्यावापृथिवी भी दोनों जिसके बलसे डरे । 'जनासः!'
हे असुरजनों ! "सः—इन्द्रः०" वह इन्द्र है, मैं इन्द्र नहीं,
मैं ब्राह्मण हूं, मैं उसी के वर से उसके समान रूप को प्राप्त
हुआ हूं ॥

अनधिकार में किसी उत्तम सम्पत्तिका मिलना भी अनर्थ-
कारी हो सकता है, यह उपदेश इस मन्त्र के आख्यान से
मिल सकता है।

"ऋषेर्दृष्टार्थस्य०" जिसने इन्द्र देव की मैत्रीका अनुभव
किया है,उस इन्द्रके सखा गृत्समद् ऋषिकी यहप्रीति=स्तुति
आख्यान=इतिहास—संयुक्त है—गृत्समद् ने इन्द्र की प्रीति
को इतने परिमाण तक प्राप्त कियो था कि—वह इतिहासमें
गाई जाती है, इतिहास में स्थिर होगई है।

इससे आचार्य ने दिखाया कि- मन्त्रों का ऐतिहासिक
अर्थ भी ढूंढना—मन्त्रों में इतिहास सम्बन्धी भी अर्थ हैं।

'पर्जन्य' (५) शब्द तृप्ति अर्थ में 'तृप' (दि० प०)
धातु का उसके आदि और अन्त के अक्षरों को बदलने से है-
'तर्पयिता जन्यः' (सब देश का तृप्त करने वाला)। पूर्व भाग
'तृप्' धातु से और उत्तर भाग 'जन्यः' शब्द से है।

अथवा 'परो जेता' (बड़ा जीतने वाला) होने से 'पर्जन्य'
है। 'पर' शब्द से पूर्व पद और 'जि' (भ्वा०प०) धातु से
उत्तरपद है ।

अथवा 'परो जनयिता' (बड़ा उत्पन्न करने वाला)
वही पूर्वपद और 'जन' (णिजन्त) धातु से उत्तर पद है।

अथवा 'प्रार्जयिता रसानाम्' (रसों का संग्रह करने

(अनपराधः) निरपराध 'उत [अपि] भी 'वृष्ण्यावतः' (वर्षकर्मवतः) बरसते हुए (इस मेघ से) (भीतः) डरा हुआ 'ईषते' (पलायते) भागता है, 'यत्' जब कि—'पर्जन्यः' पर्जन्य देव 'स्तनयन्' गर्जता हुआ = वज्र को छोड़ता हुआ 'दुष्कृतः' (पापकृतः) पापकारिओं को 'हन्ति' मारता है ॥ अर्थात्–जब पर्जन्य देव वज्रपात से पापकारिओं को मारता है, तो सभी मनुष्य हमें यह मारता है, इस बुद्धि से भागते हैं। वह ऐसा। महानुभाव पर्जन्य हमारे लिये बरसे ॥

'महावध' क्यों ? इसका वध महान् है। क्योंकि–जिसे मारता है, वह फिर बचता नहीं ॥

'बृहस्पति' (६) क्यों ? वह 'बृहतः पाता वा' इस बृहत् (विस्तृत) जगत् को पालन करने वाला है। अथवा 'बृहतः' पालयिता ' (वही अर्थ है इससे 'बृहस्पति' है।

"तस्य०" उस बृहस्पति की यह ऋचा है– ॥ ११ ॥

(खं० १२)

निरु०–" अश्नापिनद्धं मधु पर्यपश्यन्मत्स्यं न दीन उदनि क्षियन्तम् । निष्टज्जभार चमसं न वृक्षाद् बृहस्पति र्विरवेणा विकृत्य ॥ " [ऋ०सं० ८, २, १९, २] ॥

अशनवता मेघेन अपिनद्धं मधु पर्यपश्यत् । मत्स्यम्–इव दीने उदके निवसन्तं निर्जहार तत्, चमसम्–इव वृक्षात् ॥

'चमसः' कस्मात् ? चमन्ति अस्मिन्–इति ।
बृहस्पतिः 'विरवेण' शब्देन विकृत्य ॥
'ब्रह्मणस्पतिः' ब्रह्मणः पाता वा । पालयिता वा ।
तस्यै एषा भवति— ॥ १२ ॥

अर्थः- " अश्नापिनद्धम्० " इस ऋचा का अयास्य आङ्गिरस ऋषि है ।

' अश्ना ' (अशनवता) व्यापन वाले या व्यापने वाले (मेघेन) मेघ से 'अपिनद्धम्' अपने भीतर लेकर बांधे हुए = ढांपे हुये = औरोंके अदृश्य 'मधु' (उदकम्) जलको 'पर्यपश्यत्' (बृहस्पति ने) देखा । 'तत्' उस (जल) को 'दीने' घटते हुए 'उदनि' (उदके) जलमें क्षियन्तम्' [निवसन्तं] बसते हुए 'मत्स्य'- न [इव] मछली को जैसे 'निः- जभार' (निर्जहार) निकाला । 'वृक्षात्' वृक्षसे 'चमसम्' 'न' (इव) चमस पात्र के समान — जैसे कोई बढई वृक्षसे काट कर चमस (कठड़िया) पात्रको निकाल लेवे, उसी प्रकार बृहस्पति देवने मेघसे जलको निकाला । किस प्रकार ? 'विरवेण' [शब्देन] शब्द के साथ 'विकृत्य' काटकरके ।

'चमस [पात्र] क्यों ? 'चमन्ति अस्मिन्' इसमें चमन (भक्षण) करते हैं ।

' ब्रह्मणस्पति ' (७) क्यों ? 'ब्रह्मणः पाता वा' वह ब्रह्म का (वेदका) पालन करने वाला है । अथवा पालयिता है [वही अर्थ] ।

"तस्य०" उस 'ब्रह्मणस्पति ' की यह ऋचा है—॥ १२ ॥

[खं० १३]

निरु०- " अश्मास्य मवतं ब्रह्मणस्पति र्मधु-धारमभि यमोजसा तृणत् । तमेवविश्वे पपिरे स्व-र्दृशो बहु साकं सिसिचुरुत्समुद्रिणम् ॥ "[ऋ० सं० २, ७, १, ६] ॥

अशनवन्तम् आस्यन्दनवन्तम् । अवातितं ब्रह्मणस्पतिर्मधुधारम् अभि यम् 'ओजसा' बलेन अभ्यतृणत् तम्-एव सर्वे पिबन्ति रश्मयः सूर्यदृशो बहु एनं सिञ्चन्ति उत्सम् 'उद्रिणम्' उदकवन्तम् ॥१३॥

इति दशमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥१०, १॥

अर्थः- "अश्मास्यमवतम्०" इस ऋचा का गृत्समद ऋषि है।

'ब्रह्मणस्पतिः' ब्रह्मणस्पति देवने 'अश्मास्यम्' (अशन-वन्तम् आस्यन्दनवन्तम्) उदक (जल) की व्यापन क्रिया से अशन = व्यापन वाले और जलकी स्यन्दन = झरनाक्रिया से आस्यन्दन वाले 'मधुधारम्' (उदकं धारयितारम्) जलको धारण करने वाले 'यम्' जिस मेघम्) मेघको 'ओजसा' (बलेन) बल से 'अभि—अतृणत्' सम्मुख मारा (फाड़ा) । 'तम्-एव' उसही 'अवतम्' (अवाङ्मतितम्) नीचे की ओर पृथ्वी पर गिरे हुये को 'विश्वे' (सर्वे) सब स्वर्दृशः' सूर्य की रश्मिओं ने 'पपिरे' (पिबन्ति) पान किया अथवा वे इसको पानकरती हैं। फिर वर्षा काल में (रश्मयः = सूर्यदृशः) सूर्य की किरणें 'बहु' बहुत 'साकम्' (सह) एक साथ 'एनम्' इस 'उत्सम्'

(मेघम्) मेघको 'उद्रिणम्' (उदकवन्तम्) जल युक्त (करते हुये) 'सिसिचुः' (सिञ्चन्ति) सींचती हैं ॥ जो ब्रह्मणस्पति देव प्रति वर्ष इस प्रकार मेघ को खोलता है,वह हमारे लियेऐसा करे, यह आशीः जोड़ लेना चाहिये ॥

इति हिन्दी निरुक्ते दशमाध्यायस्य प्रथमः पादः॥१०,१॥

द्वितीयः पादः ।

(खं० १)

निघ०— क्षेत्रस्यपतिः ॥८॥ वास्तोष्पतिः॥९॥वाचस्पतिः॥१०॥अपान्नपात् ॥११॥यमः॥१२॥मित्रः॥१३॥कः ॥१४॥ सरस्वान् ॥१५॥

निरु०- क्षेत्रस्य पतिः । 'क्षेत्रं' क्षियतेर्निवासकर्मणः, तस्य पाता वा । पालयिता वा । तस्य एषा भवति ॥१(१४) ॥

अर्थः- 'क्षेत्रस्य पतिः' [८] क्या ? 'क्षेत्र' निवासार्थक 'क्षि'(तु० प०) धातु से है । क्यों कि-उसके आश्रय से कुटुम्बी घर में निवास करते हैं । उसका पति (स्वामी) 'क्षेत्रस्य पतिः है । ये दो पद अलग २ हैं, किन्तु मन्त्र में वैसे ही हैं, इस लिये समाम्नाय में भी वैसे ही पढ़ दिये हैं ।

"तस्य०" उस क्षेत्रस्यपतिः (क्षेत्रपति) की यह ऋचा है ॥ १, (१४) ॥

(खं० २)

निरु०-"क्षेत्रस्य पतिना वय हितेनेव जयामसि। गामश्वं पोषयित्न्वा (न्नया) सनो मृलातीदृशे॥"
(ऋ०मं०३ ८, ९, १)

क्षेत्रस्य पतिना वयं सुहितेन- इव जयामः,गाम्, अश्वं, पुष्टं पोषयितृ च आहर-इति। "सनोमृलाति ईदृशे" बलेन वा धनेन वा।

'मृलतिः' दानकर्मा वा पूजाकर्मा वा॥

तस्य एषा अपरा भवति ॥२ (१५)॥

अर्थः-"क्षेत्रस्य पतिना वयम्०" इस ऋचाका वामदेव ऋषि है। क्षेत्र पति के अर्थ चरु की पुरोनुवाक्या है।

'क्षेत्रस्य पतिना' क्षेत्र के पति से 'वयम्' हम 'सुहितेन इव' किसी उत्तम आप्त = प्रामाणिक = प्रतिष्ठित मित्र से जैसे संयुक्त होकर 'जयामसि' (जयामः) जीतें या समर्थ हों। [कैसे 'गाम्' गौको 'अश्वम्' घोड़ेको 'पोषयित्नु' [पुष्टं पोषयितृ च] और जो वस्तु स्वयम् पुष्ट हो और पोषण करने वाली हो, उसे 'आ' (हर) ला, ऐसे। अर्थात्- क्षेत्रपति देव के प्रसाद से गौ घोड़े और अच्छे पदार्थ जो सुखदायक हों हमें मिलें,और दास दासी भी मिलें, जिनसे हम कहें 'यह ला' 'वह ला' इत्यादि। 'सः' वह 'क्षेत्रपति देव 'नः' हमारे लिये 'ईदृशे' ऐसे भोग के लिये अभीष्ट धनों को 'मृलाति' (ददातु) देवे या [पूजयतु] पूजे।

'मृलति' धातु दान अर्थ में या पूजा अर्थ में है॥

"तस्य०" उस क्षेत्रपति की यह और दूसरी ऋचा है। [१५

(खं० ३)

निरु०- " क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मिं धेनुरिव पयो अस्मासु धुक्ष्व । मधुश्चुतं घृत मिव सुपूत-मृतस्य नः पतयो मृलयन्तु ॥" (ऋ० सं० ३,८,९,२)।

क्षेत्रस्य पते मधुमन्तम् ऊर्मिं धेनुः- इव पयः अस्मासु धुक्ष्व- इति मधुश्चुतं घृतमु- इव उदकं सुपूतम् ऋतस्य नः पातारो वा पालयितारो वा मृलयन्तु ।

'मृलयतिः' उपदयाकर्मा पूजाकर्मा वा ॥

तद् यत्समान्याम्- ऋचि समानाभिव्याहारं भवाति, तद् 'जामि' भवति,-इति-एकम् । "मधु-मन्तं" "मधुश्चुतम्"- इति यथा ॥

यदेव समाने पादे समानाभिव्याहारं भवाति तद् 'जामि' भवाति- इति- अपरम् । "हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृक्" इति यथा ॥

यथा कथा च विशेषः 'अजामि' भवाति- इति अपरम् । "मण्डूका इवोदकान्मण्डूका उदका-दिव" इति यथा ।

'वास्तोष्पतिः' 'वास्तुः' वसतेर्निवासकर्मणः । तस्य पाता वा पालयिता वा ।

तस्य एषा भवति ॥३ (१६)॥

अर्थः-"क्षेत्रस्यपते०" इसऋचा का भी वामदेव ऋषि है। विनियोग महाव्रत में है। अदिति के लियेचरुरूप बारबार स्तनग्रह होता है, उसका तृतीय स्तनग्रह इस ऋचा-से ग्रहण किया जाता है।

'क्षेत्रस्य पते !' हे क्षेत्रपति देव ! 'धेनुः'गौ 'पयः'-इव दूध को जैसे [त्वम्] तू 'अस्मासु' हमारे लिये 'मधुमन्तम्' मिठास वाले 'मधुश्चुतम्' मिठास के झरने वाले, घृतम्-इव सुपूतम्' घृतके समान सुन्दर निर्मल = निर्दोष 'ऊर्मिम्' जल समूहको 'धुक्ष्व' दुह या दे = बरस। 'ऋतस्य' जलके 'पतयः' (पातारो वा पालयितारो वा) स्वामी या अधिष्ठाता क्षेत्र पति आदि देवता 'नः' हमें 'मृलयन्तु' (रक्षन्तु) रक्षाकरें (पूजयन्तुवा) अथवा सत्कार करें॥ 'मृलयति' (मृल-णिच्) धातु अथवा उपदया अर्थ में अथवा पूजा अर्थ में है॥

"तद्यत्समान्यामृचि०" सो-जो पद समानी = समान या एक ऋचा में समान अर्थ को कहता है-दूसरे पद से ऋचा के पूर्वार्द्ध में जो कुछ अर्थ कहा गया है,उसी अर्थ को ऋचा उत्तरार्द्ध में जो पद कहतो है, वह पद्जामि होता है। यहएक मत है। जैसे उक्त मन्त्र में "मधुमन्तम्" "मधुश्चुतम्" [ये दो पद हैं।] [क्यों कि— जो 'मधुश्चुत्' मधु का चुवाने [मधुको बरस ने वाला] होता है, वह अवश्य ही 'मधुमान्' मधुवाला होता है। इससे यहां "मधुश्चुतम्" यह पद 'जामि' होता है।

"यदेव समाने पादे०" जो ही पद एक पाद में दूसरे पदसे व्यवहित = अन्तरित होकर समान या वैसे ही अर्थ में फिर कहा जाता है, वही पद 'जामि' होता है । यह दूसरा मत है । जैसे- " हिरण्यरूपः सहिरण्यसंदृक् " । क्योंकि-जो हिरण्य रूप होता है, वह अवश्य ही हिरण्य जैसा होता है । अतः 'हिरण्यसंदृक्' यह पद जामि (पुनरुक्त) होता है ॥

" यथा कथा च विशेषः,अजामि भवति-इति अपरम् " । जिस किसी प्रकारसे भी जो कुछ भी = थोड़ा भी विशेष = भिन्न अर्थ होने से अजामि होता है । (क्योंकि वेदमें जैसा देखा जाता है, उसी का अनुविधान = अनुसरण या निर्वाह किया जाता है । वह अपौरुषेय या ईश्वरीय वाक्य है, उसमें भ्रान्ति आदि दोषों की आशङ्का का भी संभव नहीं है, अतः ऐसा यत्न करना चाहिये, जिस प्रकार जामि पद का फल निकल आवे । यत्किंचित् विशेष से भी वह अजामि हो जाता है ।) यह अन्य मत-तीसरा मत है । जैसे- " मण्डूका इवोदकान्मण्डूका उदकादिव "इति । अर्थात्- मैंढक जैसे जलसे, मैंढक जलसे जैसे ॥

'वास्तोष्पति' (६) क्या ? 'वास्तु' (घर) निवास अर्थ में 'वस' (भ्वा० प०) धातु से है । क्योंकि-उसमें मनुष्य निवास करते हैं । उसके पति (पाता या पालयिता) को 'वास्तोष्पति' कहते हैं । (सो यह ' वास्तोष्पति ' रुद्ररूप मध्यम लोक का देवता है । क्योंकि-"अमीवहा०" इस मन्त्र में बलकृति (बलकर्म) लिङ्ग पाया जाता है ।

"तस्य०" उस वास्तोष्पति की यह ऋचा है-॥३(१६)॥

व्याख्या।

'जामि' पदका मतभेद से लक्षण।

'जामि' यह एक वैदिक संज्ञा है। अतएव यह अन्य श्रौत तथा मान्त्रिक आवश्यक शब्दों के समान निर्वचनीय है यद्यपि दैवत काण्ड में आनुपूर्वी से निघण्टुस्थ देवतानामों का ही यहां निर्वचन होना उचित है, तथापि निरुक्त शास्त्र के सकल शब्दों के अर्थ परिज्ञान में सुगम होने के कारण मुख्य शब्दों में वे शब्द, जिनका निर्वचन या विचार किसी विशेष व्युत्पत्ति को उत्पन्न करने वाला हो तथा जिनके विचार का प्रभाव शास्त्र में व्यापक रूप से पड़ता हो। प्रसंगवश प्रकरण में आये हुये छोड़े नहीं जाते, यह आचार्य की इस ग्रन्थनिर्माण में सार्वत्रिक ही विशेष शैली है। इसी से यहां "क्षेत्रस्यपते" इस निगम में जामि पद भी आचार्य का उपेक्षणीय नहीं है। क्योंकि – मन्त्रों में जामि अजामि का प्रसंग प्रायः आता रहता है। 'जामि' यह वैदिक संज्ञा है यह पहिले कहा गया है, तदनुसार भगवद्दुर्गाचार्य ने एक श्रुति भी उद्धृत की है, जिसमें 'जामि' पद व्यवहृत हुआ है-

"जामि वा एतत्क्रियते यन्मरुत्वतीयो ग्रहो गृह्यते मरुत्वतीयं शस्यते" अर्थात्— जामि ही वह (यज्ञ) में किया जाता है, जो मरुत्वतीय (मरुतों का) ग्रह ग्रहण किया जाता है, और मरुत्वतीय [मरुतों का] शस्त्र किया जाता है।

'जामि' नाम पुनरुक्त का है। इसको लोक में दोष कहा जाता है। यह नहीं माना जासकता कि जो एक स्थान में दोष रूप हो वहदूसरे स्थान में भी दोष ही होगा। अतः वेदके लिये यह कोई आक्षेप नहीं,कि उसमें जामि या पुनरुक्त शब्द आते हैं। सुतराम् मन्त्रों में ऐसे शब्दों को जामि कहने में कोई हानि नहीं।

यह जामि या पुनरुक्त दो प्रकारका होताहै एक समानशब्दार्थ और दूसरा असमान शब्दार्थ। जो एक ही पद एकही वाक्य में फिर कहा जावे, वह समान शब्दार्थ है। जैसे- "मन्मरे जाति रक्षो हा मन्मरेजाति" [ऋ० स०२, १,१७, १) (निरु० १० अ० ४ पा० ५ खं०)। ऐसे ही जो पद पूर्व पद से भिन्न आकार का-भिन्न अक्षरों वाला और उसी के समान अर्थ वाला हो, वह दूसरा असमान शब्दार्थ जामिपद है। जैसे पूर्वोक्त मन्त्र में "मधुमन्तम्" "मधुश्चुतम्"।

इस उभयविध या दोनों ही प्रकार के जामि के मत भेद से दो लक्षण हैं। उनमें प्रथम लक्षण "तद्यत्समान्याम्" इस पङ्क्ति से बताया गया है। और दूसरा लक्षण "यदेव समाने पादे" इस पङ्क्ति से। इन दोनों लक्षणों के साथ जो उदाहरण मूलमें दिये हैं,वे दोनों ही-(१)"मधुमन्तम्" "मधुश्चुततम्" (२) "हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृक्" असमान शब्दार्थहैं यद्यपि यहां असमानशब्दार्थ जामिके समान समानशब्दार्थ जामिका भी दोनों मतोंमें उदाहरण संभव था। तथापि उसके लिये इसी अध्यायके चतुर्थ पादके ५ वें खंडमें

जामि पदके अर्थान्तरकी कल्पनाके असंभव स्थलमें समाधाना-न्तर भी वक्तव्य है,अतः यहां वह नहीं दिया। वह समाधान उक्त स्थलमें "अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते" इस पङ्क्ति पर देखना चाहिये। इन दोनों मतों के अनुसार इन का भेद यही है कि-पहिले उदाहरण का पहिला पद ऋचाके पूर्वार्द्धमें है, और दूसरा उसका पद ऋचा के उत्तरार्द्ध में है। एवम् दूसरे उदाहरण के दोनों पदएक ऋचाके एकही पादमें हैं। पहिले मतमें एक ऋचामें एक पर्याय के पीछे दूसरापर्याय समान पादमें या भिन्न पादमें,तथाअन्य पद के व्यवधान से या अव्यवधान से आवे वह जामि है। इसी प्रकार दूसरे मतमें-'एक ऋचाके एकही पादमें जोसमानार्थक पद आताहै वह जामि है।

जामिता दोषका परिहार।

हमारे आचार्यका अभिमान है कि- मन्त्रोंमें जामितादोष आही नहीं सकता, तथापि जिन पूर्वाचार्यों ने अपने २ मतों के अनुसार जामिता दोष मन्त्रों में स्वीकार किया है. उनके मतों का खण्डन भी छात्रों की व्युत्पत्ति के लिये अपेक्षित है इसी से आचार्य उन मतों का उपन्यास करके उनका खण्डन करना चाहते हैं। इससे आपने उन मतों की स्थापना अप-ने ग्रन्थ में जिस प्रकार से की है, उससे भी पूर्व मत का उत्तर मत से खण्डन होजाता है, यह सूचित करते हैं। तथा इससे यह भी सौलभ्य होता है कि— हमारा एक विपक्षी दूसरे विपक्षी से ही परास्त होजाता है, इससे हमको दोनों विपक्षों के निवारण का उपाय न करके एक ही का निवारण करना अवशिष्ट रह जाता है। प्रथम मत के ऊपर दूसरे मत की प्रवृत्ति इस अभिप्राय से हुई कि—

'भिन्न २ ऋचा के अर्द्धों में समान अर्थ में विलक्षण २ पदों के व्यवधान से जो पद दुवारा आते हैं, उनका प्रकृत अर्थ के अनुस्मरण के लिये कीर्त्तन आवश्यक होता है, इससे वे जामि नहीं, किन्तु अजामि हैं। जैसा कि पूर्व मन्त्र में "मधुमन्तम्" "मधुश्चुतम्" उदाहरण दिया है। इस लिये एक ही पाद में किसी दूसरे पद के व्यवधान से समान अर्थ में आया हुआ पद ही 'जामि' या पुनरुक्त होता है। क्यों कि- तब तक पूर्व पद के अर्थ की स्मृति नष्ट नहीं होती है, और इसी से उस के उस समय तक दोहराने की आवश्यकता नहीं है, जैसा कि— "हिरण्यरूपः स हिरण्य संदृक्" । क्यों कि— जो हिरण्यरूप होता है, वह अवश्य ही हिरण्य जैसा होता है, अतः हिरण्यसंदृक् यह जामि (पुनरुक्त) होता है। इस दूसरे मत से पूर्व मतका खण्डन होगया और उसी का परिष्कार रूप दूसरा मत खड़ा होगया अवश्य ही पूर्व मत के रहने पर मन्त्रों में बहुत अधिक जामि दोष आता था, किन्तु अब इस दूसरे मत के उदय होते ही वह दोष ऋचा के एकही पादमें दो पर्यायों के आनेसे होगा, किन्तु विलम्ब से जो पर्याय एक मन्त्र में दुवारा आते हैं, वे जामि नहीं होंगे।

अथापि भाष्यकार के विचार में मन्त्रों में अल्प दोष भी सहनीय नहीं है, इस लिये आपने—"यथा कथा च विशेषः अजामि भवति —इति अपरम्" यह तीसरा मत भी रख दिया है। इसी मत पर आचार्य के मत का भी पर्यवसान है।

भगवद् दुर्गाचार्य ने एक चौथे नवीन पण्डितों के मतका भी उपप्रदर्शन कराया है। वे कहते हैं कि—अभीष्ट वाक्यार्थ की पूर्ति होने के पश्चात् जो अधिक पद (जामि) मन्त्र में आता है, वह निपात के समान पाद पूरण है- छन्द की पूर्ति के लिये है, यही उसका प्रयोजन है, इससे वह सर्वथा अनर्थक नहीं, और न वह वाक्य को ही दुष्ट करता है। किन्तु हमारी समझमें पदको निस्सार समझने की अपेक्षा उससेकिसी रसका दोहन करना ही उत्तम है। अतःआचार्य पक्ष (तीसरा मत) ही माननीय है ।

तीसरे मत का उपदर्शित उदाहरण और उसकी व्याख्या—

"मण्डूका इवो०" इत्यादि।

" योगक्षेमं व आदायाहं भूयासमुत्तम आवो मूर्द्धानमक्रमीम्। अधस्पदान्म उद्वदत मण्डूका इवोदकान्मण्डूका उदकादिव॥" [ऋ० सं० ८,८,२४,५]

इस ऋचा का ऋषभ ऋषि है। देवता इच्छा से कल्पित किया जासकता है। शत्रुओं से कहा जाता है—

(हे विद्विषः !) हे शत्रुओं ! 'अहम्' मैं 'वः' तुम्हारे' योगक्षेमम्' होने वाले लाभों को और प्राप्त किये हुये अर्थों को 'आदाय' लेकर या अपने अधीन करके 'उत्तमः' तुम्हारा मुख्य 'भूयासम्' हो जाऊं। "आवोमूर्द्धानम् अक्रमीम्" तुम्हारे मस्तक को आक्रमण करके- दबा करके मैं स्थित हो जाऊं। तुम सब मुझ से सदा ही दबे हुये मस्तक रहो। 'मे' (मम) मेरे 'अधस्पदात्' पैरों के नीचे रहते हुये तुम सब 'उद्वदत' बोलते रहो· मेरे मुख की ओर ताकते हुये अपने सब स्वार्थों

को पराधीन कियेहुये नित्यही बोलते रहो। कैसे—"मण्डूका इवोदकात्" जैसे जल के विना मेंढक नित्य अस्वाधीन वृत्ति होते हुये निर्वचन (मूक) होजाते हैं, ऐसे ही मेरे विना तुम्हारी स्थिति न हो। इस प्रकार यहां पहिले स्थान में 'मण्डूकाः' यह शत्रुओं के वाक् हीन होने में उपमान है। "मण्डूका उदकात् इव" और इस दूसरे स्थान में जिस प्रकार जल के विना मण्डूक (मेंढक) सर्वथा ही नहीं होते इसी प्रकार तुम मेरे विना मत हो, इस प्रकार यहां अपना (वक्ता का) उदक उपमान है।

इसी प्रकार पूर्व मन्त्रों में भी विशेष का अनुसन्धान करना। जैसे— कोई मधुमान् (मधुवाला) होता है, किन्तु वह निरन्तर पुनः पुनः मधु (शहद) को चुवाता नहीं, इससे वह 'मधुश्चुत्' (मधुका चुवाने वाला) नहीं कहा जाता। सुतराम् 'मधुमान्' और 'मधुश्चुत' शब्द दोनों भिन्न २ अर्थ वाले हो हैं। यहां जामिता दोष नहीं आता। और ऐसे ही "हिरण्यरूपः स हिरण्य संदृक्" यहां कोई हिरण्य (सुवर्ण) रूप होता है, किन्तु वह हिरण्य जैसा दिखाई नहीं देता और न प्रिय होता है। इससे 'हिरण्यरूप' वह है, जो हिरण्य (सुवर्ण) ही हो, और 'हिरण्य संदृक्' वह है, जो हिरण्य जैसा दिखाई देवे और हिरण्य न हो। ऐसे ही अन्यत्र २ भी मन्त्रों में शब्दों के भिन्न २ अर्थ अनुसन्धान करके जामिता दोष के अभाव को देखना। जहां मन्त्रों में ऐसा स्थल आता है, वह पुरुष की बुद्धि के दोष से ही दोष युक्त प्रतीत होता है; मन्त्र में सर्वथा ही दोष नहीं होता। यह भाष्यकार का अभिप्रायहै॥

'वास्तोष्पति' (९) क्या ? 'वास्तुः' (घर) निवास अर्थ में 'वस' (भ्वा० प०)धातु का है । क्यों कि—उसमें मनुष्यनिवास करते हैं उसके पति (पाता या पालयिता) को 'वास्तोष्पति' कहते हैं । सो यह 'वास्तोष्पति' रुद्ररूप मध्यम देवता है । क्यों कि- "अमीवहा०" इस मन्त्र में बलकृति (बलकर्म) लिङ्ग पाया जाता है ।

"तस्य०" उस (वास्तोष्पति) की यह ऋचा है ॥३(१६)॥

(खं० ४)

निरु०-"अमीवहा वास्तोष्पते विश्वारूपाण्या-विशन् । सखा सुशेव एधि नः ॥" (ऋ०सं० ५, ४, २२, १) ॥

अभ्यमनहा वास्तोष्पते ! सर्वाणि रूपाणि आ-विशन् सखा नः सुसुखो भव ॥

'शेव' इति सुखनाम । शिष्यतेर्वकारो नामकरणः अन्तस्थान्तरोपलिङ्गी ॥

विभाषितगुणः, 'शिवम्' इत्यपि अस्य भवति । यद्-यद्-रूपं कामयते तत् तद् देवता भवति । "रूपं रूपं मघवा बोभवीति" इत्यपि निगमो भवति ।

'वाचस्पतिः' वाचः पाता वा, पालयिता वा । तस्य एषा भवति ॥४(१७)॥

अर्थः—"अमीवहा०" इस ऋचा का वसिष्ठ ऋषि है। गृह कारिका स्थालीपाक में और यावावर्य की प्रतिपत्ति में वास्तोष्पतीय होम में विनियोग है।

हे भगवन्! 'वास्तोष्पते! देव! [त्वम्] तू (अस्माकम्) हमारे 'अमीवहा' (अभ्यमनहा) रोगों का नाश करने वाला 'एधि' (भव) हो। कैसे? 'विश्वा' (विश्वानि = सर्वाणि) सब 'रूपाणि' रूपों को 'आविशन्' आवेश करता हुआ-धारण करता हुआ हमारे दुःखों के उत्पन्न करने वाले जो सर्पादि उनका प्रतिद्वन्द्व = विरोधी जो नकुल (न्योला) आदि उन २ के रूपों को धारण करता हुआ उस२ हमारे रोग को तू नाश कर-हमारे उपद्रवों को हटा। 'नः'(अस्माकम्) हमारा 'सखा' (मित्रम्) मित्र 'सुशेवः' (सुसुखः) सुन्दर सुखरूप हो।

'शेव' यह सुख का नाम है। 'शिष्' (दि० प०) धातु से वकार नाम करण (प्रत्यय) होता है, जोकि-अन्तस्थान्तरोपलिङ्गी-धातुके अन्त 'ष' के अन्तर या अवकाश स्थान को उपलिङ्गन = उपगमन करने वाला होता है—'शिष्' का 'शिव' और 'इ' को 'ए' गुण होकर 'शेव' बन जाता है। [यहां 'अन्तस्थ' शब्द से यरलव वर्णों की संज्ञा नहीं है।]

इस धातु को यह गुण ('इ' का ए) बिभाषित विकल्प से होता है। इस से गुण के न होने पर इसी धातु का 'शिव' यह शब्द भी हो जाता है।

जिस २ रूप की कामना करता है, वह २ देवता हो जाता है। (क्योंकि-देवता का ऐसा ऐश्वर्य है, जो जो वह चाहता है। उस २ रूप को करलेता है।)

"रूपं रूपं मघवा बोभवीति" 'मघवा इन्द्रदेव

रूप रूप [हर प्रकार का रूप] ' बोभवीति ' बार २ या अतिशय से होता है। यह भी निगम है।

'वाचस्पति' (१०) क्या ? वाच् (वाणी) का पाता या पालयिता (रक्षा करने वाला होता है।

" तस्य० " इस वाचस्पति देव की यह ऋचा है- ॥४॥

व्याख्या।

" अमीवहा० " निगम में " विश्वा रूपाण्या० विशन् " 'सब रूपों को धारण करने वाला वास्तोष्पति अध्यम देव है,-यह कहा गया है। इसी की विशेष व्याख्या करने की इच्छासे क्यों सब रूपों को धारण करता है? कैसे २ रूपों को धारण करता है ? इन प्रश्नों के उत्तर देते हुए भाष्यकार यास्कमुनि कहते हैं-

"यद्यद् रूपं कामयते तत् तद् देवता भवति"

अर्थात्-भक्त जिस २ रूप की कामना करता है उस २ रूप से देवता होता है। प्रयोजन यह कि- भक्त की कामना को पूर्ण करना ही देवता को नाना रूप धारण करने का कारण है, और जैसे २ रूप को भक्त चाहता है, वैसे ही वैसे रूप को वह धारण करता है। स्वयम् भगवान् की प्रतिज्ञा भी ऐसी ही है"यो यो यांयां तनुं भक्तः श्रद्धयाऽर्चितु-मिच्छति। तस्यतस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् "(भ० गी० ७, २१)

भाष्यकार कहते हैं कि-यही निगम इस प्रयोजन का नहीं है, किन्तु और भी निगम है, जो इसी को स्पष्ट अक्षरों में ही कह रहा है।

"रूपं रूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वा नस्तन्वं१ परि स्वाम्। त्रिर्यद्दिवः परि मुहूर्तमागात् स्वैर्मन्त्रैरनृतुपा ऋतावा ॥" [ऋ०सं०३,३,२०,३]॥

इस ऋचा का विश्वामित्र ऋषि है।

जिन-जिन रूपोंसे इन्द्र देव होना चाहता है, उन सबसे वह विना किसी रुकावटके होजाता है-बार२ होता है। कैसे? 'ऐसा होऊं' 'ऐसाहोऊं' इत्यादि इच्छाओं के अनुसार अपने तनु (शरीर) को करता हुआ = बदलता हुआ। क्या वह मनुष्य आदि के समान उस २ शरीर को धारण करके मोह को प्राप्त होता है- उस २शरीर में होने वाले सुख दुःखों को भोगता है? नहीं "मायाः" वे सब उसकी मायाहैं-ऐच्छिक शरीर हैं, उसके मोहक नहीं हैं। जैसे बाजीगर या बहुरूपिया अपनी इच्छा से नाना रूपों को धारण करता है और उनसे मोहित होकर उन्हें अपने सच्चे रूप नहीं मानता, किन्तु अपनी इच्छा के अधीन ही मानता हुआ उनका कार्य करता है, उसी प्रकार इन्द्र देवके नाना रूपहैं।

जो इन्द्र देव अपने स्तुति के मन्त्रों से- मनन वाक्यों या भावना वाक्यों से यजमानोंके यज्ञमें बुलाया हुआ एक मुहूर्त में द्युलोकसेतीनवार आता है-भिन्न२स्थानोंमें भिन्न२ रूपोंसे एक हीवार आजाता है। प्रयोजन यहकि—देवताका ऐश्वर्य अमित होता है, उसको नाना रूप धारण करने में कोई कष्ट नहीं होता, वह सब कामों को अनायास करलेता है, उसके कामों में अशक्ति से होने वाले प्रश्नों को नहीं उठाना चाहिये।

वह "अनृतुपा" और "ऋतावा" है, उसके सोम

पान को कोई समय नियत नहीं है, सदा ही उसके लिये यज्ञ होते रहते हैं और सदा ही सोमपान करता रहता है। इससे यह ठीक ही कहा है- कि— तू सब रूपों को धारण करता हुआ हमारे रोगों का नाशक हो।

"बिभर्षि रूपाण्यवबोध आत्मा क्षेमाय लोक-स्य चराचरस्य सत्वोपपन्नानि सुखावहानि सतामभद्राणि मुहुः खलानाम् ॥" (श्री० भा० स्कं० १० अ० २ श्लो० २९)

हे भगवन्! तू ज्ञानस्वरूप अन्तर्यामी चर अचर लोक के क्षेम के लिये सात्विक रूपों को धारण करता है, जो सत् पुरुषों के लिये सुख दायक और खलों के लिये सदा ही दुःख दायक = दण्ड देने वाले हैं यह श्रीमद् भागवत वाक्य भी रूपान्तर से वही वेद वाक्य प्रतीत होता है ॥४(१७)॥

(खं० ५)

निरु०-"पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह। वसोष्पते निरामय मय्येव तन्वं१मम ॥" [ऋ०सं० १०,६,१३,७] (अथ०सं० १,१,२) इति सा निगद-व्याख्याता।

'अपान्नपात्' तनूनप्त्रा व्याख्यातः।

तस्य एषा भवति ॥५[१८]॥

अर्थ :-कोई पापी मनुष्य, जिसने अपने किये हुए पाप की किसी प्रायश्चित्त आदि से शुद्धि नहीं की हो, अपने

प्राणों को अपने से अलग हुये समझ कर उनसे सम्बोधन कर के कहता है-

हे 'वाचस्पते !' वाणीके स्वामी! तू 'देवेन' सब इन्द्रियों की वृत्तिओं को प्रकाशित करने वाले 'मनसा-सह' मनके साथ 'पुनः-एहि' फिर आ। हे 'वसोष्पते !' धन अथवा अन्न के स्वामी! 'मम' मेरी 'तन्वम्' तनू को = देह को 'मयि-एव' मुझ में ही 'निरामय' निरन्तर रमा — ऐसा कर जिससे कि मेरी तनू मुझ में ही रमण करे। यह ऋचा अपने उच्चारण से ही व्याख्यात है॥

'अपांनपात्' (१७) 'तनूनपात्' शब्द (८, २, २) से व्याख्यान किया जा चुका। यह शब्द निर्वचन है- एक शब्द का दूसरे शब्द के द्वारा निर्वचन किया जाता है, अर्थात्-यह भी प्रकृत शब्द के निर्वचन के बताने की आचार्य की शैली है। अप् या जलों से आदित्य होता है। और उससे मध्यम देव, इससे वह 'अपांनपात्' जलका पोता है। यह शब्द की व्याख्या है। अर्थ से यह मध्यम देव है।

"तस्य०" उस 'अपांनपात्' की यह ऋचा है॥५(१८)॥

(खं०६)

निरु०-"यो अनिध्मो दीदयदप्स्वऽन्तर्यं विप्रास ईळते अध्वरेषु। अपान्नपान्मधुमतीरपो दाया-भिरिन्द्रो वावृधे वीर्याय॥" (ऋ०सं०७,७,२४,२)॥

यः अनिध्मः 'दीदयद्' दीप्यते अभ्यन्तरम्-अप्सु, यं मेधाविनः स्तुवन्ति यज्ञेषु, सः अपान्न-

पात् मधुमतीः अपो देहि अभिषवाय,याभिः इन्द्रो वर्द्धते 'वीर्याय' वीरकर्मणे ॥

'यमः' यच्छति- इति सतः ।

तस्य एषा भवति ॥६(१९)॥

अर्थः- "यो अनिध्मो०" इस ऋचा का कवष ऋषि है । यह सारा ही मन्त्र प्रत्यक्ष है ।

हे अपांनपात्!'यः'(त्वम्)जोतू'अनिध्मः'इन्धन केबिना 'अप्सु'— 'अन्तः' जलों के मध्यमें 'दीदयत्' (दीप्यसे)'जलता है, 'यम्' जिसे (जिस तुझको) 'अध्वरेषु' (यज्ञेषु) यज्ञों में 'विप्रासः' (मेधाविनः) मेधावी ब्राह्मण 'ईलते' (स्तुवन्ति) स्तुति करते हैं (सः) सो तू 'मधुमतीः' मीठे (अपः) जलों को 'अभिषवाय'सोम के निचोड़ने के अर्थ'दाः'(देहि) दे 'याभिः' जिनसे 'इन्द्रः' तू इन्द्र देव 'वीर्याय' (वीरकर्मणे) वीर कर्म के लिये 'वावृधे' (वर्द्धयाः) बढता है । अथवा (वर्द्धते) इन्द्र देव जिससे बढता है । [इस व्याख्या में इतना अंश प्रथम पुरुष के योग से परोक्ष होजाता है] ।

'यम'(१२) क्यों? 'यच्छति' वह सब प्राणियों को जीवन से निवृत्त करता है । इसी बल कर्म से वह मध्यम है ।

"तस्य०" उस (यम) की यह ऋचा है ॥६(१९)॥

(खं० ७)

निरु०-"परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्था-मनुपस्पशानम् । वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य ॥"[ऋ०सं०८,६,१४,१]॥

परेयिवांसं पर्यागतवन्तं प्रवतः उद्वतो निवतः-इति। अवति-गतिकर्मा। बहुभ्यः पन्थानमनु पस्पाशयमानं "वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य"- इति। 'दुवस्यतिः' राध्नोतिकर्मा॥

अग्निरपि 'यमः' उच्यते।

तम् एता ऋचः अनुप्रवदन्ति ॥७(२०)॥

अर्थः-"परेयिवांसम्०" इस ऋचा का हविर्धान ऋषि है। यम के पशुमें वपा में विनियोग है।

हे यजमान! 'प्रवतः' (मनुष्यान्, उद्वतः = देवान्, निवतः = तिरश्चः) मनुष्यों को, देवताओं को, और पशु पक्षी आदि तिर्यक् योनिके प्राणिओं को 'परेयिवांसम् (पर्यागतवन्तम् = सर्वतः प्राप्तवन्तम्) सब ओर से व्यापन करने वाले 'महीः' (महती भूतजातीः) इन बड़ी २ प्राणिओं की जातिओं को व्यापन करने वाले "बहुभ्यः (पुण्यकृद्भ्यः पापकृद्भ्यश्च) पन्थाम् [पन्थानम्] अनुपस्पशानम् (अनुपस्पाशयमानम्) बहुत पुण्यात्माओं और पापिओं के लिये कर्मों के अनुसार मार्ग देने वाले-इस मार्ग से यह प्राणी जीवनसे छुड़ाना है, यह जानकर उसको चोर के समान बांधकर सर्प ज्वर आदि का रूप धारण करके जीवित से छुड़ाने वाले 'वैवस्वतम्' (विवस्वतः पुत्रम्) सूर्यके पुत्र 'जनानां संगमनम्' अपनी सम दृष्टि करके सब प्राणिओं को

कर्मों के अनुसार इस लोक से पर लोक को लेजाने वाले " यमंराजानम् " यम राजा को 'हविषा' पशुरूप हविसे ' दुवस्य ' (राध्नुहि) आराधन कर ।

'दुवस्यति' धातु 'राध' (स्वा० प०) धातु के अर्थ में है आराधन या सेवा अर्थ में है ।

अग्नि भी ' यम ' कहा जाता है । (यह प्रसंग से या शब्द की समानता से निर्वचन है । इस से भी विचार का क्रम-विशेष दिखाया गया है) ।

उस यम अग्नि को ये ऋचाएँ अनुप्रवचन करती हैं, उसके गुणों को बखानती हैं— ॥ ७ (२०) ॥

व्याख्या ।

उपर्युक्त " परेयिवांसम्० " इस मन्त्र में " गरुड़ पुराण" के प्रेतकल्प का संक्षेप है । जैसी वहां जीवों की कर्म गतिएं यमराज के अधिकार में वर्णन की हैं, वेही यहां सामान्य रूपसे कही गई हैं । शब्दों की समानता भी पूर्ण रूप से है ॥ ७ (२०) ॥

(खं० ८)

निरु० "सेनेव सृष्टामं दधात्यस्तुर्न दिद्युत् त्वेष प्रतीका ॥"(ऋ० सं० १, ५, १०, ७) ॥

यमोहजातो यमो जनित्वं जारः कनीनां पतिर्जनीनाम् । तं वश्चराथा वयं वसत्या स्तन्न गावो नक्षन्त इद्धम् ॥ " [ऋ० सं० १, ५, १०, ८]

इति द्विपदाः ॥

सेना-इव सृष्टा भयं वा बलं वा दधाति, अस्तुः-इव दिद्युत् 'त्वेष प्रतीका' भयप्रतीका, बलप्रतीका, यशः प्रतीका, महाप्रतीका, दीप्तप्रतीका वा ॥

"यमोह जात इन्द्रेण सह सङ्गतः। यमा विहेह मातरा ॥" (ऋ०सं० ४,८, २५, १) ॥

इत्यपि निगमो भवति ॥

यम इव जातो यमो जनिष्यमाणो जारःकनीनां जरयिता कन्यानां पतिर्जनीनां पालयिता जायानाम् ।

तत्प्रधाना हि यज्ञसंयोगेन भवन्ति- ॥

" तृतीयोऽग्निष्ट पतिः " (ऋ० सं० ८, ३, २७, ५) । इत्यपि निगमो भवति ॥

" तं वश्चराथा० " (ऋ० सं० १, ५, १०, ८]

चरन्त्या पश्वाहुत्या वसत्या च निवसन्त्या औषधाहुत्याऽस्तं यथा गावः आप्नुवन्ति तथा आप्नुयाम इद्धं समिद्धं भोगैः ।

'मित्रः' प्रमीतेः त्रायते। सम्मिन्वानो द्रवति-इति वा। मेदयते र्वा।

तस्य एषा भवति- ॥ ८ [२१] ॥

अर्थः-"सेनेव सृष्टा० "इत्यादि ऋचाओं का परावर

ऋषि है। ये द्विपदा विराट् छन्द हैं। प्रातरनुवाक और आश्विन में विनियोग है।

अग्नि देव की अर्चिष् या किरण 'सेना-इव' सेना के समान 'सृष्टा' निश्चित की हुई या सेनापति से प्रेरित हुई सेनाके समान 'अमम्' (भयं वा) शत्रुओं के लिये भयको 'दधाति' धारण करती है (बलंवा) अथवा भक्तों के लिये बलको धारण करती है। 'अस्तुः-न' (क्षेप्तुः) फेंकने वाले के जिस 'दिद्युत्-इव' आयुध के समान 'त्वेष-प्रतीका' शत्रुओं के लिये भयप्रतीका या भयरूप है- दर्शन से ही भयानक है। अथवा अपने भक्तोंके लिये (बलप्रतीका) बलरूप है अथवा (यशः प्रतीका) यश रूप हैअथवा (महाप्रतीका)महती बड़ी या पूजनीया दिखाई देती है अथवा (दीप्तदर्शना) देदीप्यमान = बहुत प्रकाश रूप दिखाई देती है।

"यमोह जातो यमो जनित्वम्०" । जिसका अर्चिष् या किरण ऐसे चमत्कार वाला है, वह 'यम.' (यमइव) यम या जोड़ला जैसा अग्नि 'जातः' भूत है 'यमः' यम 'जनित्वं' (च) और भविष्यत् जगत् रूप है-जो कुछ अब तक संसार में हुआ और जो कुछ होने वाला है सब वही यम अग्नि है उससे अन्य कुछ नहीं है, किन्तु सब उसी का स्वरूप है। 'कनीनाम् ' (कन्यानाम्) कन्याओं का 'जारः' (जरयिता) जरणकरने वाला है वही यम अग्नि कन्याओंकेःकन्योभाव को मिटाने वाला है। क्योंकि-जब अग्नि के समीप कन्याओं का विवाह हो जाता है,तभी उनका कन्यापन मिटजाता है और वे भार्या हो जाती हैं। 'जनीनां' (जायानाम्) जायाओं या भार्याओं को 'पतिः' पति है-पालन करने वाला है। क्योंकि-विवाह के अनन्तर उनका पति के संगसे यज्ञमें अधिकार हो

जाती है, और गृह में वे तत्प्रधान (अग्निप्रधान) होती हैं, विशेष रूप से अग्नि की रक्षा के लिये उसी की सेवा में रहती हैं। और अग्नि के समीप ही वे व्रत का ग्रहण करती हैं और व्रत के त्यागसे पूर्व अग्नि के ही परतन्त्र (पराधीन) रहतीहैं।

"तृतीयो अग्निष्टे पतिः" अर्थात्-हे कन्ये! तीसरा तेरा पति अग्नि है, यह भी निगम है।

'तम्' उस 'वः' (अनर्थक) 'इद्धम्' (समिद्धं भोगैः) भोगों से सम्पन्न या भोगों के ईश्वर यम अग्नि को 'चराथा' (चरन्त्या पश्वाहुत्या) चलती हुई (जङ्गम) पशुरूप आहुति से 'वसत्या' (निवसन्त्या औषधाहुत्या) स्थावर या न चलने वाली औषधरूप आहुति से 'गावः' गोएं 'अस्तम्' (गृहम्) घरको 'न' (इव) जैसे 'नक्षन्ते' प्राप्त होती हैं, वैसे ही 'वयम्' हम (प्राप्त होवें] ये ऋचाएं द्विपदा (विराट्-छन्द) हैं।

यहां 'यम' शब्द से पार्थिव अग्नि लिया गया है, उसका निगम-

"यमोह जात इन्द्रेणसह संगतः"

अर्थात्- यम उत्पन्न होकर इन्द्र के साथ मिला।

क्योंकि- पार्थिव अग्नि उत्पन्न होकर ऊपर को चलता है, और अन्तरिक्ष के ज्योति के साथ मिल जाता है, इस से यहां 'यम' शब्द से पार्थिव अग्नि को ग्रहण किया जा सकता है।

दूसरा स्पष्ट निगम—

("बलित्था महिमा नामिन्द्राग्नी पनिष्ठ आ।

समानो वां जनिता भ्रातरा युवं) यमा विहेह मातरा ॥ " (ऋ०सं ४, ८, २५,२)॥

इस ऋचाका भारद्वाज ऋषि है। वृहती छन्द है। 'बट्' (बट्) यह सत्य का नाम है। हे 'इन्द्राग्नी!' इन्द्र अग्नि देवो! 'बट्' सत्यही 'इत्था' इस प्रकार की 'महिमा' तुम्हारी बड़ाई है, [जैसी कि इस सूक्त में वर्णन कीगई है।] 'आपनिष्ठः' सबसे अधिक स्तुति करने योग्य है। 'वाम्' (युवयोः) तुम दोनों का 'समानः' समान ही (एक सूर्य देव) 'जनिता' पिता है। इससे 'युवम्' तुम दोनों 'यमौ' जोड़ले 'भ्रातरौ' भाई हो 'इह-इह' यहां (पृथिवी लोक में) यहां (अन्तरिक्ष लोक में) 'मातरा' (मातरौ = निर्मातारौ) सब लोक के निर्माण करने वाले तुम्हीं दोनों हो। यहां पर सूर्य के दो पुत्र यम (जौड़ले) अग्नि और इन्द्र ही होसकते हैं, क्योंकि-तीसरी द्युलोक की ज्योति से अतिरिक्त ये ही दो ज्योतिएं हैं, इस कारण इस लोक का यम पार्थिव अग्नि ही हुआ, तथा "यमोह जातः" इस मन्त्र में 'यम' शब्द से पार्थिव अग्नि का ग्रहण ठीक ही है।

'मित्र' (१३) क्यों? 'प्रमीतेः त्रायते' वर्षा करके सबका प्रमीति (मृत्यु) से त्राण करता है, इससे मित्र है। 'प्रमीति' शब्द से 'मि' और 'त्रायते' शब्द से 'त्र' लेकर 'मित्र' शब्द बनता है। अथवा 'संमिन्वानो द्रवति' जलसे गीला करता हुआ चलता है, इससे 'मित्र' है। यहां पहिले पद से 'मि' लेकर 'मित्र' शब्द बना है। अथवा स्नेहन अर्थ में 'मिद्' (भ्वा० आ०) धातु से है। क्योंकि-वह सबको जलसे स्नि-

ग्ध या चिकना कर देता है । यहां भी 'मिद्' धातु से 'मि' लेकर 'मित्र' शब्द की सृष्टि होती है ।

"तस्य०" उस (मित्र) की यह ऋचा होती है-॥८(२१)॥

व्याख्या

दशमाध्याय के आरम्भ से वायु आदि मध्यम लोक के देवताओं के नामों की व्याख्या होरही है । उन्हीमें यह 'यम' (१२) शब्द है । इसके मध्यमवाचकत्व में "परेयिवांसम्" यह निगम देकर प्रसंग से इसमें पार्थिव अग्नि की वाचकता भी दिखाने के लिये "अग्निरपि यम उच्यते" "तम्-एता ऋचोऽनुप्रवदन्ति" अर्थात्–'अग्निभी यम कहाता है, उसको ये ऋचाएं अनुवाद करती हैं ।' यह आरम्भ किया है । फिर जो उदाहरण दिये हैं उनमें पार्थिव अग्निमें यमत्व के साधक इस प्रकार हैं—(१) "जारः कनीनाम्" कन्याओं के कन्यापने को मिटाने वाला । यह "यमोह जातः" मन्त्रमें यम का विशेषण है । क्योंकि—कन्याओं का विवाह संस्कार मध्यम या उत्तम ज्योति से नहीं होता इसीसे पार्थिव अग्नि ही 'यम' होता है । (२) "पतिर्जनीनाम्" 'भार्याओं का पति' । यह भी उक्त प्रकार से अन्य ज्योतिओं में सम्भव नहीं किन्तु पार्थिव ही में है । (३) " तं वश्चराथा " "वसत्या" स्थावर और जङ्गम आहुति का सम्बन्ध । (४) "यमोह जातः इन्द्रेण सह संगतः" उत्पन्न होकर मध्यम ज्योतिसे मिलना । (५) "यमाविहेह" सूर्य के

हो पुत्र यम। इन में भी एक यम पार्थिव अग्नि ही होता है और इसी मन्त्रमें "इह" यह इस लोक का वाचक पद भी और पुष्ट करदेता है। और (६) "तृतीयोऽग्निष्टे पतिः" अर्थात्—हे कन्ये! तीसरा तेरा पति अग्नि है। यह निगम "पतिर्जनीनां" के साथ संवाद करके अत्यन्त ही यम शब्द की अग्निवाचकता को सिद्ध कर देता है। इसी प्रकार शब्द के अर्थ का निश्चय करने में अनेक निगमों की सहायता लेना चाहिये। यह भाष्यकार ने प्रदर्शन किया है।

"जारः कनीनाम्" निगम पर ध्यान देने से निश्चय होता है कि-एक बार अग्नि के संनिधान में कन्याओं का विवाहसंस्कार होने के पश्चात् फिर विवाह संस्कार नहीं हो सकता। क्योंकि- जो कन्याभाव जीर्ण होचुका वह फिर नया नहीं होसकता। पुनर्विवाह वेद में ढूंढने वालों को इस निगम पर दृष्टि डालना चाहिये ॥ ८ (२१) ॥

[खं०६]

निरु०- "मित्रोजनान्यातयति ब्रुवाणो मित्रो दाधार पृथिवी मुतद्याम्। मित्रः कृष्टी रनिमिषा-भिचष्ट मित्राय हव्यं घृतवज्जुहोत ॥" (ऋ० सं० ३, ४, ५, १)

मित्रः जनान् आयातयति प्रब्रुवाणः शब्दं कुर्वन् मित्रएव धारयति पृथिवीं च दिवं च, मित्रः कृष्टीः अनिमिषन् अभिविपश्यति-इति।

'कृष्टयः'-इति मनुष्यनाम । कर्मवन्तो भवन्ति । विकृष्टदेहा वा ।

'मित्राय हव्यं घृतवज्जुहोत" इति व्याख्यातम् ।

'जुहोतिः' दानकर्मा ।

'कः' कमनो वा । क्रमणो वा । सुखो वा ।

तस्य—एषा भवति—॥१(२२)॥

अर्थः- "मित्रो जनान्०" इस ऋचा का विश्वामित्र ऋषि है। अवकृष्ट होम में प्रायश्चित्त है। अग्निहोत्र में पहिली आहुति में विनियोग है ।

'मित्रः' मित्र देव 'ब्रुवाणः' (शब्दं कुर्वन्) गरजता हुआ 'जनान्' मनुष्यों को 'आयातयति' (प्रवर्त्तयति कृषि आदि कर्म में प्रवृत्त करता है । 'मित्रः (एव)' मित्र ही 'पृथिवीं (च)' पृथिवी को 'उत—द्याम्' दिवं (च) और द्युलोक को 'दाधार' (धारयति) धारण करता है । 'मित्रः' मित्र ही 'अनिमिषा' (अनिमिषन्) पलक न झिपाता हुआ (सदा जागृत रहता हुआ) 'कृष्टीः' (मनुष्यान्) मनुष्यों को 'अभिचष्टे' (अभिविपश्यति) देखता है । 'मित्राय' ऐसे मित्र देव के लिये (हे मनुष्याः) हे मनुष्यों ! तुम 'घृतवत्' घृतयुक्त 'हव्यम्' हविः को 'जुहोत' होम करो, (यह पहिले व्याख्यान किया जा चुका है) ॥

'कृष्टि' यह मनुष्य का नाम है। क्यों कि- वे नित्य ही कर्म वाले होते हैं। अथवा वे विकृष्टदेह होते हैं उनके अङ्ग इच्छानुसार फैल सकते हैं, किन्तु अन्य गो आदि पशुओं के नहीं, वे संसृष्ट देह = जुड़े हुये देह वाले होते हैं ।

'जुहोति' (जु० प०) धातु दानार्थक है।

'क' (१४)- यह वक्तव्य है। सो यह महान् आत्मा = सर्वात्मा (सबका अन्तर्यामी) ज्ञान स्वरूप देव है। क्यों ? कमन या कामिओं के काम्य [वाञ्छनीय] अर्थों में साधन होता है। अथवा क्रमण या स्वयमेव क्रमण करने वाला होने से 'क' है। अथवा 'क' सुख स्वरूप होने से 'क' है।

"तस्य०" उस 'क' देव की यह ऋचा है ॥९[२२]॥

(खं० १०)

निरु०- हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥" (ऋ० सं०८,७,३, व० १, १०, १०, ९ सू० १)॥

हिरण्यगर्भो हिरण्मयो गर्भः। हिरण्मयो गर्भोऽस्य- इति वा।

'गर्भो' गृभेः गृणात्यर्थे। गिरति अनर्थान्- इति वा।

यदा हि स्त्री गुणान् गृह्णाति गुणाश्च अस्या गृह्यन्ते अथ गर्भो भवति, समभवद्-अग्रे भूतस्य जातः पतिः एको बभूव, सः धारयति पृथिवीं च दिवं च, "कस्मै देवाय हविषा विधेम" इति व्याख्यातम्।

'विदधतिः' दानकर्मा ॥
'सरस्वान्' व्याख्यातः ।
तस्य एषा भवति ॥१० (२३)॥

अर्थः- "हिरण्यगर्भः" इस ऋचा का हिरण्यगर्भ ही ऋषि है । क्यों कि- वह सर्वात्मक या सर्व रूप है, इससे उसके ऋषि होने पर भी प्रथम पुरुष का योग (समवर्त्तत) विरुद्ध नहीं होता । यदि सर्वात्मकता इनकी न होती तो उत्तम पुरुष होता और यह ऋचा परोक्षकृत न होकर आध्यात्मिकी ही होती तथा इसमें उत्तम पुरुष की क्रिया होती । अथवा परब्रह्म की जो हिरण्यगर्भ की अवस्था है, जो प्रतिकल्प में आविर्भूत [प्रकट] और तिरोभूत (अन्तर्धान) होती रहती है,और जो बुद्धिपूर्वक- जिससे ईश्वर अपनी इच्छा से ज्ञान पूर्वक रचता है , तथा जो नित्य है, उस नित्य हिरण्यगर्भावस्था में नित्य मन्त्र आश्रयमात्र से अभिधाता या वक्ता [ऋषि] को लेकर प्रवृत्त होता हुआ अनुवाद करता है, वास्तव में नित्य मन्त्र का कोई वक्ता नहीं है, इससे उस में पुरुष का योग विवक्षित नहीं होता है, अर्थात् उत्तम पुरुष होने पर भी वह ऋचा वैसी ही है, जैसी प्रथम पुरुष के योग में । यदि मन्त्रकृतक= किसी का किया हुआहोता तो नियम से ही यहां उत्तम पुरुष होता ॥

'हिरण्यगर्भः'[एव] हिरण्यगर्भ ही 'भूतस्य'[अस्य उत्पन्नस्य स्थावरजङ्गमस्य जगतः] इस स्थावर जङ्गम सम्पूर्ण जगत् के 'अग्रे' पहिले 'जातः' उत्पन्न हुआ 'समवर्त्तत' भले प्रकार वर्त्तमान था । और वह पहिले हुआ हुआ, उस पीछे से

उत्पन्न हुये जगत् का 'एकः' (असपत्नः) अशत्रु या विरोधी से रहित 'पतिः' पालन करने वाला ईश्वर = स्वतन्त्र स्वामी (बभूव) हुआ था। इसी से 'सः' वह 'पृथिवीं' (च) पृथिवी को 'उत' और 'इमाम्' इस 'द्याम्' [दिवम्-च] द्युलोक को 'दाधार' (धारयति) धारण करता है। जिससे कि—वह देवता ऐसे प्रभाव वाला महानुभाव है, इससे उस 'कस्मै' (काय) क देवता के लिये [वयम्] हम 'हविषा' (हविः) हविः को 'विधेम' (दद्म) देते हैं, या हवि के द्वारा उसकी परिचर्या करते हैं।

'हिरण्यगर्भ' क्यों? वह सब प्राणियों का हिरण्यमय या विज्ञानमय गर्भ है। क्योंकि-वही सब भूतों के अन्तः-करण में ज्ञान रूप प्रकाश को फैलाता है। इस पक्ष में-

"हिरण्यमयश्चासौगर्भश्च" अर्थात्- हिरण्यमय जो गर्भ।

ऐसा समानाधिकरण (कर्मधारय) समास होता है। अथवा इसका हिरण्यमय (विज्ञानमय) गर्भ है। इस पक्ष में बहुव्रीहि समास होता है।

'गर्भ' कैसे? गृणाति के अर्थ में 'गृभ' (ह) (क्र्या० उ०) धातु से है। क्यों कि- वह सबसे स्तुति किया जाता है। अथवा 'गिरति अनर्थान्' वह सब अनर्थों को नाश करता है इससे 'गर्भ' है।

अथ स्त्री का 'गर्भ' कैसे? "यदा हि०" जब स्त्री पुरुष के गुणों को ग्रहण करली है, और इसके गुणों को पुरुष ग्रहण करता है, तब गर्भ होता है- स्त्री का रक्त या रज पुरुष के

शुक्र या वीर्य के गुण- अस्थि, स्नायु और मज्जा इन तीनों को ग्रहण करता है, और पुरुष का वीर्य स्त्री के रज के त्वचा मांस और रुधिर इन तीनों गुणों को ग्रहण करता है, तब दोनों पदार्थ मिल कर गर्भ बनता है। इन स्त्री पुरुषों के छः(६)गुणों के कारण ही इस स्थूल शरीर को 'षाट्कौशिक' (छः कोशों से बना हुआ) कहते हैं। अथवा जब स्त्री प्रेम से पुरुष के गुणों को ग्रहण करती है। और पुरुष प्रेम से इसके गुणों को ग्रहण करता है। तब परस्पर के अनुराग से उनको प्रमोद होता है, और उन प्रमुदित स्त्री पुरुषों के सम्पर्क से 'गर्भ' होता है। इस प्रकार ग्रहण क्रिया के संबन्ध से 'गर्भ' शब्द बनता है।

'सरस्वान्' (सरस्वत्) (१८) 'सरस्वती' शब्द [९,३,८] से व्याख्यान किया जाचुका। केवल लिङ्ग का भेद है।

"तस्य०" उस'सरस्वत्'देवता की यह ऋचाहै॥१०(२३)॥

(खं० ११)

निरु०-"ये ते सरस्वन् ऊर्मयो मधुमन्तो घृतश्चुतः। तेभिर्नोऽविता भव॥" [ऋ० सं० ५, ६, २०, ५] ॥ इतिसा निगद-व्याख्याता ॥११(२४)॥

इति दशमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥१०,२॥

अर्थः -"येते सरस्वन्०" इस ऋचा का वसिष्ठ ऋषि है। सारस्वत हविः में विनियोग है।

हे भगवन्! 'सरस्वन्!' 'ये' जो 'ते' (तव) तेरी 'ऊर्मयः' लहरियें है—जिन से तू आकाश को ढांप लेता है- मेघों से

छादन करलेता है, जो 'मधुमन्तः' मिठास वाली हैं 'घृतश्चुतः' घृत = उदक (जल) को झरने वाली हैं, 'तेभिः' उन से 'नः' हमको 'अविता' रक्षा करने वाला 'भव' हो ॥११(२४)॥

इति हिन्दीनिरुक्ते दशमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥१०,२

तृतीयः पादः ।

(खं० १)

निघ०—विश्वकर्मा (१६) तार्क्ष्यः (१७) मन्युः (१८) दधिक्राः (१९) सविता (२०) त्वष्टा [२१) वातः [२२] अग्निः (२३)।

निरु०—'विश्वकर्मा' सर्वस्य कर्त्ता । तस्य एषा भवति ॥१(२५)॥

अर्थ :—'विश्वकर्मा' (१६) क्यों ? वह 'सर्वस्य कर्त्ता' सब का कर्त्ता है । जो कुछ और जितना भी यह भूत भविष्यत् और वर्त्तमान जगत् है, उस सब का कर्त्ता = करने वालाहै। यदि सब का कर्ता है, तो मध्यम क्यों है ? 'कर्त्ता' क्रिया वाले = चेष्टा वाले को कहते हैं, और क्रियायें सब वायु की ही होती हैं, और पृथिवी आदि सब तत्व (भूत) स्थावर हैं। इससे कर्त्ता मध्यम ही होसकता है।

वह सबको कैसे करता है ? पृथिवी, जल, तेज (अग्नि) और वायु इन चार वस्तुओं (द्रव्यों) से शरीर का निर्माण होता है, और उसी के द्वारा सब क्रियाएं होती हैं, जिसके कारण वह कर्त्ता कहा जाता है । भाव यह है कि- पृथिवी और जल ये दो धातु पहिले मिलते हैं, और इन दोनों मिले

हुये धातुओं को अग्नि (तत्व) पकाता है, जिससे इनकी दृढता होती है, इसके अनन्तर विश्वकर्मा देवता अपने वायु रूप शरीर से उस शरीर में प्रवेश करके इस सब अद्भुत जगत् को कर्त्ता है, जो आत्मविचार से रहित पुरुषों को अचिन्त्य या दुर्ज्ञेय है। अर्थात् मध्यम लोक का देवता वायु है, और उसी के अनुप्रवेश से सब अन्य तत्व चलते हैं या क्रिया करते हैं, अतः उसी के अधीन सब जगत् बनता है, इस लिये मध्यम लोक का देवता वायुही विश्व का करने वाला होने से 'विश्वकर्मा' होता है। जैसा कि—वैश्वकर्मण हवि के अधिकार में साक्षात् मेध में कहा है।

"अथैष वैश्वकर्मणो, विश्वानि मे कर्माणि कृतान्यासन्निति विश्वकर्मा हि सोऽभवत्"

अर्थात्— अब यह विश्वकर्मा का है, 'सारे मेरे किये हुये कर्म हैं, इस से वह 'विश्वकर्मा' हुआ'। उस विश्वकर्मा देवने ऐसा ध्यान किया कि— 'सब कर्म मेरे किये हुये हैं, इसी से उसका 'विश्वकर्मा' नाम होगया।

मन्त्र में भी विश्वकर्मा के मध्यम होने का लिङ्ग मिलता है। जैसे विश्वकर्मा के सूक्त में—

"तमिद्गर्भं प्रथमं दध्न आपः" (ऋ० सं० ८, ३, १७, ६)

अर्थात्— जलों ने उसी का आश्रय करके पहिला गर्भ धारण किया।

जल का गर्भ धारण मध्यम लोक ही में होता है।

और विषुवत् कर्म में विश्वकर्मा के ग्रहके अधिकार में श्रुति में कहा है कि—

" इन्द्रो वै वृत्रमहन् स इमं लोकमभ्यजय

इमं नु लोकं नाभ्यजयत् तं विश्वकर्मा भूत्वा-भ्यजयत् ।"

अर्थात्-इन्द्र ने वृत्रको मारा, और इस लोक को जीत लिया, किन्तु उस लोक को नहीं जीता, फिर उसे विश्वकर्मा होकर जीत लिया। इस श्रुतिमें स्पष्ट रूप से ही कहा गया है कि-इन्द्र ही उस लोक के जय के अर्थ विश्वकर्मा हुआ, अतः विश्वकर्मा मध्यम ही है। और भी उसी ग्रहके पुरोरुच् के अधिकार में कहा गया है कि-

"यद्यैन्द्रीं वैश्वकर्मणीं विद्यात् तयैव गृह्णीयात्"

अर्थात्-यदि इन्द्र की ही ऋचाको विश्वकर्मा की जाने, उस से ग्रह करे। प्रयोजन-जो ऋचा इन्द्र की होकर विश्वकर्मा की हो, उसीसे ग्रह करे। यहां भी इन्द्र और विश्वकर्मा का अभेद कहा गया होता है।

इस प्रकार विश्वकर्मा उपर्युक्त लक्षणों से सब स्थानों का अनुभव करने वाला होने पर भी विशेष रूप से मध्य स्थान ही है, इसी कारण से इसको मध्यस्थान देवताओं में समाम्नात किया है।

"तस्य०" उस विश्वकर्मा की यह ऋचा है-॥१(२५)॥

(खं० २)

निरु०-"विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत सन्दृक्। तेषामिष्टानि स मिषा मदन्ति यत्रा सप्तऋषीन्पर एकमाहुः॥" (ऋ०सं० ८, ३, १७, २) ॥

विश्वकर्मा विभूतमना व्याप्ता धाता च विधाता

तस्य उत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥२[२६]॥

अर्थः—" विश्वकर्मा० " इस ऋचाका भौवन विश्वकर्मा प्रजापति ऋषि है। अग्नि में वैश्वकर्मीय दो सूक्तों से षोडश (१६) गृहीत का होम होता है, उसमें विनियोग है।

'विश्वकर्मा' 'विमनाः' (विभूतमनाः) सर्वज्ञ है-सब का जानने वाला है ' आद्विहायाः ' (आत्मना॰ सर्वप्रकारं महान् = व्याप्ता) आपसे भी सब प्रकार महान् है, इसी से व्यापक है, और जिससे कि-महान् तथा व्यापक है—इसी से 'धाता' सब जगत् का धारण करने वाला या उत्पन्न करने वाला है, और उत्पन्न करके 'विधाता' जीवन का विधाता है—करने वाला है, (भूतानाम्) और जीते हुए, अच्छे तथा बुरे कर्मों में लगे हुए सब प्राणिओं का 'परमोत सन्दृक' (परमश्च सन्द्रष्टा) बहुत बड़ा अवधान (टकटकी) से समीचीन प्रकार से देखने वाला है—प्रत्येक जीवके कर्मों को अलगर देखने वाला है। 'तेषाम्' उन प्राणिओं में इष्टानि' जो विश्वकर्मा देवके इष्ट = प्यारे हैं—उसकी दैवी सम्पत् को प्राप्त हैं, (कान्तानि वा) अथवा बहुत प्यारे हैं- (क्रान्तानि वा) अथवा उससे क्रान्त हैं—उससे दबे हुए हैं— (गतानिवा) अथवा उससे प्राप्त हैं- (मतानि वा) अथवा उसके माने हुए हैं,-(नतानि वा) अथवा उस विश्वकर्मा के प्रति नम्र = झुके हुए हैं—उसके परिज्ञान से, उसमें श्रद्धा से, उसकी उपासना से और उसकी भावना से जिनके पाप दूर होगए हैं, वा जो उस विश्वकर्मा के साथ एकीभूत (एक ही) होगए हैं,— देवता के आत्मभाव को प्राप्त होगए हैं, (तानि) वेभूत 'इषा' [अद्भिः यह] जलकी सूक्ष्ममात्राओं के साथ 'सं-मदन्ति'

(संमोदन्ते) आनन्द भोगते हैं। कहां ? "यत्रासप्त ऋषीन् पर एक माहुः" (यत्र एतानि सप्त ऋषीणानि ज्योतींषि, तेभ्यः परः आदित्यः, तानि एतस्मिन् एकीभवन्ति) जहां ये जलके खेंचने वाली रश्मिएं या ज्योतिएं एक होती हैं, उनसे पर उस आदित्य मण्डल में उसके अधिष्ठाता आदित्य देव में। अर्थात्-जो विश्वकर्मा देव सब जगत् का कर्त्ता हर्त्ता और सब के शुभ अशुभ कर्मों का जानने वाला है, उसके जो भक्त हैं, वे उस मध्यम लोक के जल देवता के प्रसाद को प्राप्त होकर उसकी सूक्ष्म जल मात्राओं के साथ उस देवता के सदृश रूपसे आदित्य मण्डलमें आनन्दका उपभोग करते हैं,जहां अनन्त रश्मिएं एक रूप हो जाती हैं। क्योंकि-जिस देवता की पुरुष उपासना करता है,वह उसी के लोक में उसकी सात्मता तद्रूपता को प्राप्त होकर रहता है। यह इस मन्त्रका अधिदैव अर्थ है। जिस में देवता का अधिकार करके वर्णन किया जावे, वह मन्त्र का व्याख्यान अधिदैवत कहलाता है। उस व्याख्यान में मन्त्र के सब शब्दों का अर्थ उसी प्रकार कहा जाता है, जैसा कि-उस देवता में जिसकी वहां स्तुति हो, घटता हो ॥

"अथाध्यात्मम्" अब इसी मन्त्र का अध्यात्म अर्थ कहते हैं। जिसमें आत्मा के अधिकार से अर्थ कहाजावे, वह मन्त्र का व्याख्यान अध्यात्म कहलाता है। इस व्याख्यान में आत्म पदार्थ के अनुकूल ही सब शब्दों का अर्थ होता है।

'विश्वकर्मा' सब जगत् का कर्त्ता परमात्मा, जो प्रति शरीर में क्षेत्रज्ञ के रूप से वर्त्तमान है, और वायु की चलन

क्रिया को कर रहा है– जिसकी प्रेरणा से वायुमें चलन(हिलना) क्रिया उत्पन्न होती है, और वायु की क्रियासे सबप्राणी या भूत क्रियावान् होजाते हैं, इस प्रकार जो सबका कर्त्ता है– सब की क्रिया शक्ति का आधार है केवल इतनाहीनहीं किन्तु वह 'विमनाः' (विभूतमनाः) सब भूतों की ज्ञानशक्ति का आधार भी है, ' आद्विहायाः ' महान् है, केवल महान् ही नहीं, किन्तु वह 'धाता' अपनी शक्ति विशेष का रचने वाला और उस शक्ति के विषयों का 'विधाता' करने वाला भी है, 'परमः' सबसे ऊंचा है, 'सन्दृक्'(संदर्शयिता) (इन्द्रियाणाम्) इन्द्रियों में ज्ञान के उत्पन्न करने की शक्ति कोदेने वाला है, क्यों कि– वही विषय (रूप आदि) और विषयि (इन्द्रिय) के सम्बन्ध का करने वाला तथा उन इन्द्रियों में उनके भिन्न २ विषयों के प्रति आलोक (प्रकाश) शक्ति को फैलाने वाला है, 'तेषाम्' उस विश्वकर्मा(परमात्मा)केविभूति रूप उन भूतोंमें जो उसके 'इष्टानि' प्यारे हैं,वे 'इषा' (अन्नेनसह) अन्न या शक्ति मात्रके सहित 'संमदन्ति' (सम्मोदन्ते) मोद को प्राप्त होते हैं– तृप्त होते हैं। कहां " यत्रा सप्त ऋषीन् पर एकमाहुः" (यत्र इमानि सप्त ऋषीणानि इन्द्रियाणि एभ्यः पर आत्मा, तानि एतस्मिन् एकं भवन्ति) जहां ये सब सप्तऋषीण इन्द्रियें एक होजाती है, इनसे पर (सूक्ष्म या उत्कृष्ट) आत्मा है, उसी में ये एक होती हैं, और वहीं विश्वकर्मा के इष्ट (प्यारे) मोद करते हैं। इसप्रकार यह मन्त्र आत्मा की गति या स्थिति को वर्णन करता है।

"तत्र०" इस आत्म गति में आत्मा के जानने वाले

इतिहास कहते हैं- विश्वकर्मा भौवन ने सर्वमेध कर्म में सब भूतों को होम किया और अन्त में आपे को भी होम कर दिया ।

जिस अर्थको लेकर "विश्वकर्मा विमना:०" यह ऋचा आत्मगति से निर्वचन की गई है, उसी इतिहास में वर्णित अर्थ को संमुख भाव से यह ऋचा कहने वाली है ।

"य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वत्०" (ऋ० सं० ८, ३, १६, १)

अर्थात्-जिसने इन सब भुवनों (लोकों) को होम किया "तस्य०" उस मन्त्र के बहुत निर्वचन (व्याख्यान) के लिये यह अगली ऋचा है ॥२(२६)॥

व्याख्या

"विश्वकर्मा" (१६) यह मध्यम लोकका देवता है, जो आदित्यान्तर्वर्त्ती पुरुष या आदित्यमण्डल के अधिदेवता या हिरण्यगर्भ की अवस्था में एक होता हुआ भी अविद्या या अज्ञान के व्यवधान (परदे) से प्रतिशरीर अलग२ जैसा होता हुआ अपनी विज्ञान शक्ति के द्वारा एक२ शरीर के (प्रत्येक के) अधिकार को अनुभव करता है, और उसके उपासक (भक्त) उसके सायुज्य या सहवास या उसके स्वरूप-प्राप्ति के सुखको भोगते हैं । यह "विश्वकर्मा" इस मन्त्रके अधि-दैवत अर्थ का संक्षेप है । यही अर्थ प्रकरणानुगत है । दूसरा अध्यात्म अर्थ मन्त्र के स्वभावाधीन आचार्य ने दिखाया है, कि-मन्त्रों के इस प्रकार अर्थ भेद भी होते हैं । अध्यात्म अर्थ में 'विश्वकर्मा' परमात्मा है, जो अज्ञान के व्यवधानसे

से प्रतिशरीर भिन्न २ जीवात्माओं के रूप में प्रतीत होताहै। उसकी उपासना से उसी के स्वरूप को प्राप्त होता है। यही अर्थ भले प्रकार प्रमाणित करने के लिये आचार्य ने यहां विश्वकर्मा भौवन का इतिहास भी दिखाया है, जिस में उस ने सर्वमेध = ज्ञान यज्ञ में सब भूतों को आत्मा में और आत्मा को सब भूतों में होम किया है, अर्थात्-एकात्मभाव जो परमात्मा का रूप है, उसे प्राप्त किया है। इसी इतिहास को प्रमाणित करने के लिये "य इमा विश्वा भुवना। नि०" यह ऋचा भी दी है।

सर्वमेध। इस शब्द के दो अर्थ हैं। एक में यह यज्ञों के समूह की संज्ञा है। जैसे-तीन (३) अश्वमेध, पांच (५) पुरुषमेध, और दो (२) वाजपेय तथा आप्तोर्याम कुल दश यज्ञों के अनुष्ठान करने से सर्वमेध यज्ञ होजाता है। और दूसरे अर्थ में ज्ञान-यज्ञ से प्रयोजन है। उस में-

"यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति" (य०सं० ४०, ६) अर्थात्-जो ज्ञानी पुरुष सब भूतों को अपने में ही देखता है, और सब भूतों में अपने को देखता है, वह फिर सन्देह नहीं करता है, किन्तु परमात्मभाव को प्राप्त होकर नित्यसुख को प्राप्त होजाता है।

इस मन्त्रोक्त भावके अनुसार अपने तत्व-ज्ञान की दृष्टि से अपने और सब जगत् के बीच में जो भेद है उसका होम कर देता है। इसी अर्थ को प्रमाणित करने के लिये आचार्य "विश्वकर्मन्०" यह और ऋचा अगले खण्ड में देते हैं।

इतिहास। इतिहास पहिले के बीते हुये वृत्तान्त को कहते हैं, और उसी के ढंग पर मन्त्रों में भी वह जहां तहां आता ही रहता है, किन्तु नित्य वेद में उसका कदापि संभव नहीं, वह यहां अपने आध्यात्मिक, आधिदैविक या आधिभौतिक किसी अर्थ के प्रतीत होनेके लिये अर्थवाद मात्र होता है। उसका सब प्रकार का अर्थ मन्त्र में अविवक्षित होता है। कल्पित होने से केवल समझने में वह उपयुक्त होता है, फिर उसे छोड़ दिया जाता है, अर्थात्-मन्त्रों में जो इतिहास होता है, वह उसके अर्थको जानने वालोंके लिये उपदेशार्थ होता है, जिसके सहारे पर केवल अर्थ समझ लिया जाता है और फिर वह ग्राह्य नहीं होता॥ २, (२६)॥

(खं० ३)

निरु०—" विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुतद्याम्। मुह्यन्त्वन्ये अभितो जनास इहास्माकं मघवा सूरिरस्तु॥ " [ऋ०सं० ६, ३, १६, ६। य० वा० सं० १७, २२]॥

विश्वकर्मन् हविषा वर्द्धयमानः स्वयं यजस्व पृथिवीं च दिवं च, मुह्यन्तु अन्ये अभितो जनाः सपत्नाः,इह अस्माकं मघवासूरिः-अस्तु प्रज्ञाता "तार्क्ष्यः"त्वष्ट्रा व्याख्यातः तीर्णेअन्तारिक्षे क्षियति तूर्णम्-अर्थं रक्षति। अश्नोतेर्वा।

तस्य एषा भवति- ॥ ३ (२७)॥

अर्थ :—"विश्वकर्मन्०" विश्वकर्मा की प्रयोगावस्था और फलावस्था दोनोंको देखकर ऋषि कहता है—हे 'विश्वकर्मन् !' प्रयोग या यज्ञमें अवस्थित = संयुक्त देव 'हविषा' इस सर्वमेध की दर्शन-(ज्ञान) सम्पत्ति से युक्त, हविः से 'वावृधानः' (वर्द्धयमानः) बढ़ते हुये 'त्वम्' तुम 'स्वयम्' आप उस (यज्ञ) के फलपाक के समय 'पृथिवीम्' पृथ्वी को 'उत-द्याम्' और द्युलोक को 'यजस्व' (व्याप्नुहि) व्यापन करना—हमारे यज्ञके फल देने के समय तुम सब विश्व में फैलजाना, जिससे कि—कहीं भी हमें फल भोगने में त्रुटि न हो, अथवा अपने पूर्णरूप से पूर्णसामर्थ्य से हमें पूर्ण फल देना। 'अन्ये' (सपत्नाः) और तेरी भक्ति से विमुख शत्रु 'जनासः' जन 'अभितः' (सर्वतः) सब ओर से 'मुह्यन्तु' मोहित होवें। 'इह' तेरे इस दर्शनरूप उपासना कर्म में 'अस्माकम्' हमारा 'सूरिः' (प्रज्ञाता) जानने वाला 'मघवा' (इन्द्रः) इन्द्रदेव 'अस्तु' होवे।

'तार्क्ष्य' (७) शब्द 'त्वष्टृ' शब्द (२.७,८) से व्याख्यात है उसके समान ही इसकी व्याख्या है। जैसे-"तूर्णम् अश्नुते" 'शीघ्र व्यापन करता है' इत्यादि। अथवा 'तीर्णे अन्तरिक्षे क्षियति' फैले हुए आकाश में निवास करता है, इस लिये 'तार्क्ष्य' है। अथवा तूर्ण (शीघ्र) अर्थ की रक्षा करता है, इससे 'तार्क्ष्य' है। अथवा व्याप्ति अर्थ में 'अश' (स्वा० आ०) धातु से है। क्योंकि वह व्यापन कर लेता है। यहां 'तूर्ण' शब्द से पूर्वपद (तार्) और 'रक्ष' या 'अश' धातु से उत्तरपद 'क्ष्य' होता है।

"तस्य०" उस 'तार्क्ष्य' देव की यह ऋचा है—॥३(२७)॥

व्याख्या ।

पौराणिक या पुराण वेत्ता मानते हैं कि—'विश्वकर्मा' नाम देवशिल्पी या देवताओं के खाती (बढ़ई) का है । उन के मत में भी 'विश्वकर्म' शब्द का स्वाभाविक अर्थ लेने के लिये कलाकौशल विषयक सर्वज्ञता लीजासकती है । यथासंभव शब्द की शक्ति को घटा लेना या संगत कर लेना चाहिये यही निरुक्त शास्त्र का अभिप्राय है ॥३(२७)॥

(खं० ४)

निरु०-"त्यमूषु वाजिनं देवजूतं सहावानं तरुतारं रथानाम् । अरिष्टनेमिं पृतनाजमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यं मिहा हुवेम ॥"[ऋ०सं०८,८,३६,१ । सा० सं० छ०आ० ४,१,५,१] ॥

तं भृशम् अन्नवन्तम् । 'जूति'गतिः प्रीति र्वा । 'देवजूतं' देवगतं देवप्रीतं वा । सहस्वन्तं तारयितारं रथानाम्, अरिष्टनेमिं पृतनाजितम् आशुं स्वस्तये तार्क्ष्यम्- इह ह्वयेम- इति कम्- अन्त्यं मध्यमाद्- एवम् अवक्ष्यत् ॥

तस्य एषा अपरा भवति ॥४(२८)॥

अर्थः— "त्यमूषु०" इस ऋचा का अरिष्टनेमि ऋषि है, विषुवत् के निष्केवल्य में शस्त्र है ।

'त्यम्' (तम्) उस 'वाजिनम्' (भृशम् अन्नवन्तम्) अतिशय अन्नवाले देवजूतम् (देवगतम्), देवताओं से बड़े माने

हुये (देवप्रीतं वा) अथवा देवताओं के साथ समान भाव से प्याररखनेवाले। 'सहावानम्' (सहस्वन्तम्) बल वाले 'रथानाम्' रंहण करने वाले या चलने वाले सब प्राणियों के 'तरुतारम्' (तारयितारम्) चलाने वाले 'अरिष्टनेमिम्' किसी से भी न रुकने वाले वज्र के धारण करने वाले 'पृतनाजितम्' (पृताजितम्) शत्रुओं की सेनाओं को जीतने वाले 'आशुम्' शीघ्र गमन वाले 'तार्क्ष्यम्' तार्क्ष्य देवको (वयम्) हम 'इह' यहाँ अपने यज्ञ में 'स्वस्तये' कल्याण के अर्थ 'हुवेम' (हुयेम) बुलाते हैं। इस प्रकार मध्यम के अतिरिक्त किस देव को कहता ॥

"तस्य०" इस तार्क्ष्य देवकी यह और ऋचा है॥४(२८)॥

व्याख्या।

'देवजूत' शब्द में 'ज' धातुका गति (चलना) अथवा प्रीति अर्थ है।

'सहावानम्' (सहस्वन्तम्) विशेषण के योग से तार्क्ष्य देव मध्यम ही हो सकता है। क्योंकि—बलकर्म मध्यम का ही लक्षण है।

"तस्य अपरा" 'तार्क्ष्य' के लिये दूसरे निगम की आवश्यकता इस लियेहुई कि-'तार्क्ष्य'यह नाम विष्णु भगवान् के वाहन गरुड़ का भी है, और वह भी बलवान् तथा बल-कर्म का करने वाला है, इस कारण वर्ष कर्म को कहने वाली दूसरी ऋचा दी जाती है। वृष्टि कर्म मध्यम का असाधारण लक्षण है॥ ४ (२८)॥

(खं० ५)

निरु०- सद्यश्चिद्यः शवसा पञ्च कृष्टीः सूर्य इव

ज्योतिषा पस्ततान । सहस्रसाः शतसा अस्य रंहिर्न स्मा वरन्ते युवतिं न शर्य्याम् ॥ (ऋ० सं० ८, ८, ३६, ३)

सद्योऽपि यः शवसा बलेन तनोति अपः, सूर्य्य इव ज्योतिषा पञ्च मनुष्यजातानि सहस्रसानिनी शतसानिनी अस्य सा गतिः, न स्म एनां वारयन्ति प्रयुवतीमिव शरमयीमिषुम् ।

'मन्युः' मन्यतेर्दीप्तिकर्मणः, क्रोधकर्मणो वधकर्मणो वा । मन्यन्ति अस्माद्-इषवः ।

तस्यैषा भवति ॥५(२९)॥

अर्थः—"सद्यश्चिद्०" 'यः' जो 'तार्क्ष्यः' तार्क्ष्य देव 'शवसा' (बलेन) बलसे 'पञ्च-कृष्टीः' (पञ्च मनुष्य जातानि) ब्राह्मण आदि पांच वर्णों के प्रति या सब प्राणिमात्र के लिये (क्योंकि—इन पांचों के द्वारा और सब प्राणियों का उपकार होजाता है, इससे इनके कथन से मन्त्रमें प्राणिमात्रसे तात्पर्य है) "सूर्य्यःइव ज्योतिषा" जिस प्रकार सूर्यभगवान् अपनी ज्योति से सब लोक में प्रकाश फैलाते हैं, उसी प्रकार 'अपः' जलों को 'ततान' (तनोति) फैलाता है या बरसता है । 'अस्य' (तार्क्ष्यस्य) इस तार्क्ष्य की 'रंहिः' (सा गतिः) वह गति (बल) 'सहस्रसाः' मेघों के विदारण के अर्थ बहुत प्रकारों को धारण करती है, 'शतसाः' बहुतों से भी बहुत प्रकारों को धारण करती है, (एनाम्) इसको " न (स्म)

वरन्ते" (न केचिद् वारयन्ति) कोई हटा नहीं सकते या रोक नहीं सकते "युवतिं न शर्य्याम्" .(प्रयुवतीम् इव शरमयीम् इषुम्) वेग से अवकाश से अवकाशान्तर में मिलती हुई = तेजी से जाती हुई शर की बनी हुई इषु (बाण) के समान। अर्थात्-बाण की गति के समान उसकी गति को कोई रोक नहीं सकता। ऐसे प्रभाव वाला तार्क्ष्य हमारा यह कल्याण करे, ऐसे प्रार्थना जोड़ लेना चाहिए।

'मन्यु' [१८] (क्रोध) शब्द दीप्ति अर्थ में क्रोध अर्थ में अथवा वध अर्थ में 'मन' [दि० आ०] धातु से है। क्योंकि- 'मन्यन्ति (मन्यन्ते) अस्माद् इषवः' इससे बाण प्रकाशित होते हैं = जिसे क्रोध होता है, वही बाण फेंकता है।

"तस्य०" उस मन्यु देव की यह ऋचा है—॥५[२९]॥

(खं० ६)

निरु०-"त्वया मन्यो सरथमारुजन्तो हर्षमाणासोऽधृषिता मरुत्वः। तिग्मेषव आयुधा संशिशाना अभिप्रयन्तु नरो अग्निरूपाः॥" (ऋ० सं० ८,३,१९,१) अ०सं०४,३१,१)

त्वया मन्यो सरथम् आरुह्य रुजन्तो हर्षमाणासोऽधृषिता मरुत्वः तिग्मेषवः आयुधानि संशिश्यमानाः अभिप्रयन्तु नरो अग्निरूपाः अग्निकर्माणः सन्नद्धाः कवचिनः इति वा।

दधिक्रा व्याख्यातः, तस्य एषा भवति-॥६(३०)॥

अर्थः-"त्वया मन्यो०" यह ऋचा तपस् के पुत्र मन्यु नाम ऋषि की है। श्येनाजिरादिकों में निष्केवल्य में विनियोग है।

'मन्यो !' हे भगवन् ! मन्युदेव ! 'त्वया' तेरे साथ 'सरथम्' (औरस्य) एक रथ में चढ़ कर 'रुजन्तः' (अभिभवन्तः) शत्रुओं को तिरस्कार करते हुए 'हर्षमाणासः' तेरे आश्रय से हर्षित होते हुए 'अधृषिता' शत्रुओं से न दबे हुए और हे 'मरुत्वः' मरुत्वन् ! वायुदेव ! 'तिग्मेषवः' पैने बाण वाले 'आयुधा' (आयुधानि) आयुधों को 'संशिशानाः' भले प्रकार चलाते हुए 'अग्निरूपाः' [अग्निकर्माणः] अग्नि के समान कर्म वाले [सन्नद्धाः] कसे हुए (कवचिनः इति वा) अथवा कवचों को धारण किये हुए 'नरः' ये हमारे योधा 'अभिप्रयन्तु' शत्रुओं के संमुख जावें।

'दधिक्रा' [१६] की व्याख्या [२,७,८] होचुकी, उसकी यह ऋचा है—॥६[३०]॥

[खं०७]

निरु०-"आदधिक्राः शवसा पञ्च कृष्टीः सूर्यइव ज्योतिषा परस्ततान। सहस्रसाः शतसा वाज्यर्वा पृणक्तु मध्वा समिमा वचांसि ॥" [ऋ०सं०३, ७, १२, ५] ॥

अर्थः-आतनोति दधिक्राः शवसा बलेन अपः सूर्य इव ज्योतिषा पञ्च मनुष्यजातानि सहस्रसाः शतसा 'वाजी' वेजनवान् 'अर्वा' ईरणवान् सं

पृणक्तु, नो मधुना उदकेन वचनानि इमानि इति।
'मधु' धमतेर्विपरीतस्य।
'सविता' सर्वस्य प्रसविता।
तस्य एषा भवति ॥७(२१)॥

अर्थः- "आदधिक्राः०" इस ऋचा का वामदेव ऋषि है।

'दधिक्राः' दधिक्रा देव 'शवसा' (बलेन) बल से 'अपः' जलोंको 'आ—ततान' [आतनोति] फैलाता है। कहां? "पञ्च कृष्टीः" [पञ्च मनुष्यजातानि] पांच ब्राह्मण आदि वर्णों के प्रति किसके समान "सूर्य इव ज्योतिषा" जैसे सूर्य भगवान् अपनी ज्योति से सब लोक को व्याप्त करता है। कैसा दधिक्रा देव है? 'सहस्रसाः' 'शतसाः' बहुत और बहुत से भी बहुत जलों का भजने वाला 'वाजी' [वेजनवान्] शत्रुओं को कंपाने वाला 'अर्वा' [ईरणवान्] जलों को प्रेरणा करने वाला है। सो दधिक्रा देव 'इमा' [इमानि] इन [नः] 'वचांसि' हमारे वचनों को 'मध्वा' (मधुना) मिठास से 'सं—पृणक्तु' संयुक्त करे—जलकी वृष्टिसे सफल करे।

'मधु' शब्द आदि अन्त से उलटाए हुए 'धम' [भ्वा०प०] धातु का है।

'सविता' (२०) क्यों सब का प्रसवन करने वाला या जनने वाला है।

"तस्य०" उस सविता देव की यह ऋचा है-॥ ७ (२१) ॥

(खं० ८)

निरु०—"सविता यन्त्रैः पृथिवी मरम्णा दस्क-म्भने सविता द्यामदृंहत्। अश्वमिवाधुक्षद्धुनिम-न्तरिक्षमतूर्ते बद्धं सविता समुद्रम् ॥" [ऋ०सं० ८, ८, ७, १] ॥

सविता यन्त्रैः पृथिवीम् अरमयत्। अनारम्भ-णे अन्तरिक्षे सविता द्याम् अदृंहत्। अश्वम्-इव अधुक्षत धुनिम्- अन्तरिक्षमेघम्, बद्धम्-अतूर्ते = बद्धम्-अतूर्णे इति वा,अत्वरमाणे इति वा। सविता समुदितारम्-इति कम्-अन्यं मध्यमाद् एवम् अवक्ष्यत् ॥

आदित्योऽपि 'सविता' उच्यते। तथाच हैर-ण्यस्तूपे स्तुतः अर्चन् हिरण्यस्तूप ऋषिः इदं सूक्तं प्रोवाच।

तदभिवादिनी एषा ऋग् भवति—॥८ (३२)

अर्थः—" सविता यन्त्रैः "इस ऋचा का अर्चन्नामा हैरण्यस्तूप ऋषि है।

'सविता' मध्यम देव सब बलों के स्वामी सविताने 'यन्त्रैः' यन्त्रोंके द्वारा 'पृथिवीम्' पृथ्वीको 'अरम्णात्' थांभा या रोका। (अन्यथा यह ऐसी निश्चल न रहती।) सविता' सविता ही ने 'अस्कम्भने' (अनारम्भणे अन्तरिक्षे) अपूर्व

(पतले) आकाश में जहां पत्ता भी नहीं ठहर सकता 'द्याम्' द्यौ (द्युलोक) को स्थिर किया और भी ' सविता ' सविता देव ने ' अतूर्त्ते ' (अतूर्णे इति वा) (अत्वरमाणे वा) अचल 'अन्तरिक्षम् ' (अन्तरिक्ष) आकाश में बद्धम् ' बंधे हुए 'समुदितारम्' समय पर उदय होने वाले 'धुनिम्' मेघ को 'अश्वम्-इव' घोड़े के समान 'अधुक्षत्' झाड़दिया-जिस प्रकार कोई घोड़े को रखने वाला उससे धूली दूर करने के लिये उसको सहज में कम्पित कर देता है उसी प्रकार सविता देव जल के गिराने के अर्थ मेघ को कम्पित करदेते हैं [भाष्यकार कहते हैं कि-] मध्यम के अतिरिक्त इस प्रकार और किस देव को ऐसे कहता [सर्वथा यह सविता मध्यम लोक का देव ही है) ।

आदित्य भी 'सविता' कहलाता है । वैसे ही (जिस प्रकार कि- सविता आदित्य है) हिरण्यस्तूप सूक्त में स्तुति किये गये अर्चन् हिरण्यस्तूप ऋषिने इस सूक्त को बोला था "तदभि वादिनी०" उसी को कहने वाली यह ऋचा है-॥ ८ (३२) ॥

(खं० ६)

निरु०-" हिरण्यस्तूपः सवितर्यथा त्वाङ्गिरसो जुह्वे वाजेअस्मिन् । एवात्वार्चन्नवसे वन्दमानः सोमस्येवांशुं प्रति जागराहम् ॥ " (ऋ० सं० ८, ८, ७, ५) ॥

'हिरण्यस्तूपः' हिरण्मयस्तूपः । हिरण्मयः स्तूपोऽस्य -इति वा ।

'स्तूपः' स्त्यायतेः। सङ्घातः।

सवितः! यथा त्वा आङ्गिरसः जुह्वे, वाजे अन्ने अस्मिन्, एवं त्वा अर्चन्अवनाय वन्दमानः सोमस्य-इव अंशुं प्रति जागर्मि अहम्।

'त्वष्टा' व्याख्यातः, तस्य-एषा भवति ॥९(३३)॥

अर्थः-" हिरण्यस्तूपः० " इस ऋचा का अर्चन् नामा हिरण्यस्तूप ऋषि है।

हे 'सवितः' 'यथा' जिस प्रकार दूसरे कल्प के 'आङ्गिरसः' अङ्गिरस् के पुत्र हिरण्यस्तूप ऋषि ने 'त्वा' तुझे 'जुह्वे' [आजुहाव] आवाहन किया 'एवा' वैसे ही ' अस्मिन् ' इस 'वाजे' [संस्कृते हविषि] बनाये हुये हविः में 'अहम्' मैं इस कल्प का 'अर्चन्' अर्चन् नामा हिरण्यस्तूप ऋषि 'अवसे' (अवनाय) रक्षा के लिये 'त्वा' तुझे ' वन्दमानः ' वन्दना करता हुआ सोमस्य- इव अंशुम् सोम के अंशु [रस] को खरीद कर लेके 'प्रतिजगरा' [जागर्मि] जागता हूं—यज्ञ पर्यन्त तेरी उपासना करता हूं ॥

'हिरण्यस्तूप' क्या ? हिरण्य (सुवर्ण) का स्तूप (समूह) अथवा हिरण्यमय (सुवर्ण का) स्तूप (कीर्ति स्तम्भ) जिसका हो वह हिरण्यस्तूप है।

'स्तूप' किस धातु से है ? संघात अर्थ में 'स्त्यै' [भ्वा०प०] धातु से। क्या ? संघात।

'त्वष्टा (२१) शब्द की व्याख्या [२,७,५] हो चुकी। उस की यह ऋचा है ॥९(३३)॥

खं० १०

निरु०-"देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः पुपोष प्रजाः पुरुधा जजान। इमा च विश्वा भुवनान्यस्य महद्देवाना मसुरत्वमेकम् ॥" (ऋ०सं०३,३,३१,४) ॥

देवः त्वष्टा सविता सर्वरूपः पोषति प्रजाःरसानुप्रदानेन बहुधा च इमा जनयति, इमानि च सर्वाणि भूतानि उदकानि अस्य महत् अस्मै देवानाम् असुरत्वम् एकं प्रज्ञावत्त्वं वा, अनवत्त्वं वा । अपि वा 'असुः' इति प्रज्ञानाम। अस्यति अनर्थान् अस्ताश्च अस्याम् अर्थाः। असुरत्वम् आदिलुप्तम्

'वातः' (२२) वाति इति सतः।

तस्य एषा भवति- ॥ १० (३४) ॥

अर्थः- "देवस्त्वष्टा०" यह विश्वामित्र के पुत्र प्रजापति ऋषि की है। वैश्वदेव में विनियोग है।

'त्वष्टा-देवः' त्वष्टा मध्यम देव 'विश्वरूपः' (सर्वरूपः) सर्वरूप 'सविता' सब भूतों का उत्पन्न करने वाला है। और उत्पन्न करके 'प्रजाः' सब प्रजाओं को (रसानुप्रदानेन) जल के दान से 'पुपोष' (पोषति) पोषण करता है। केवल इतना ही नहीं—'पुरुधा' (बहुधा च) और बहुत प्रकार से (इमाः) इन प्रजाओं को 'जजान' (जनयति = वर्द्धयति) बढ़ाता है। क्यों कि—इमा (इमानि) 'च' और ये 'विश्वा' (सर्वाणि) सब 'भुवनानि' (भूतानि = उदका-

नि) भूत या जल 'अस्य' इसके हैं। (इसी से सब को उत्पन्न करता है, पोषण करता है, और बढ़ाता है।) 'महत्' (च) और इससे भी कि-'महत्' बड़ा या पूजनीय 'देवानाम्' देवताओं का 'एकम्' एक या असाधारण "'असुरत्वम्'असुरत्व = प्रज्ञावत्व है। (उस महती प्रज्ञा और जल रूप साधनसे वह जगत्की उत्पत्ति पालन और वृद्धि करताहै। क्योंकि—साधन होने पर भी निर्बुद्धि पुरुष कुछ नहीं कर सकता) अथवा 'असुरत्वम्' (अनवत्वम्) असुरत्व = प्राणवत्व है। (क्यों कि-प्राणवान् ही सब कुछ कर सकता है निष्प्राण का कुछ शक्य नहीं) कोई 'असुरत्व' का अन्नवत्व अर्थ करते हैं। उनके मत में अन्न का कारण जल है, और देवता जलवाले हैं, इस प्रकार वे अन्न वाले होते हैं॥

'असुरत्व' क्या ? 'असु' यह प्रज्ञा या तीखी बुद्धि का नाम है। क्यों कि— "अस्यति अनर्थान्" वह अनर्थों को असन करती है- दूर हटाती है। अथवा इसमें सब अर्थ अस्त हैं,इसी से संसार के सब कार्य सिद्ध होते हैं। और'असु (प्रज्ञा) जिसमें हो, वह 'असुर' होता है। यहां 'असु' शब्द से'र'प्रत्यय होताहै। इसीअसुर शब्द के आदि अक्षर कालोप होने से 'सुर' शब्द बनजाता है, जो कि— लोक में भी प्रसिद्ध है। और 'असुर शब्द से भाव प्रत्यय 'त्व' होने से 'असुरत्व' होता है। असुरत्व = असुरपना ॥

'वात' (२२) (वायु) कैसे ? 'वाति' (चलता है) इस कर्तृवाच्य गत्यर्थक 'वा'[अदा०प०]धातु से है।

"तस्य०" उस'वात'मध्यम देवकी यह ऋचाहै॥१०(३४)॥

(खं० ११)

निरु०- "वात आवातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे । प्रण आयूंषि तारिषत् ॥" [ऋ० सं० ८,८, ४४, १ । सा० सं० छ० आ० २,२, ४, १०]

वात आवातु भैषज्यानि शम्भु मयोभु च नो हृदयाय प्रवर्द्धयतु च नः आयुः ।

'अग्निः' व्याख्यातः ।

तस्य एषा भवति ॥११(३५) ॥

अर्थः- "वात आवातु०" इस ऋचा का वात्स्य वातायन ऋषि है । 'वातः' पवन देव 'भेषजम्' [भैषज्यानि] जो जो हमारे लिये पथ्य हो, उसे 'आवातु' हमारे सामने लावे 'शम्भु' और वह हमारे लिये सुखकारी हो तथा 'हृदे' हमारे हृदय के लिये 'मयोभु' सुख दायक हो, 'नः' [अस्माकम्] हमारी 'आयूंषि' आयु को 'प्रतारिषत्' [प्रवर्द्धयतु]बढावे ।

'अग्नि' (१३) शब्द की व्याख्या [७, ४, १] की जा चुकी है ।

"तस्य०" उसकी यह ऋचा है ॥११(३५)॥

व्याख्या ।

"वात आवातु०" इस मन्त्र में वायु देवकी प्रार्थना में स्पष्ट कहा गया है कि- शुद्ध वायु से शरीर में निश्चय आयु की वृद्धि और हृदय की पुष्टि अतएव ज्ञान की वृद्धि होती है तथा शुद्ध वायु ही प्रधान पथ्य है ॥११(३५)

(खं० १२)

निरु०-"प्रति त्यं चारु मध्वरं गोपीथाय प्रहूय"

से । मरुद्भिरग्न आगहि ॥" [ऋ०सं०१,१,३६,१ । सा०सं० छ०आ० १,१, २,६] ॥

तं प्रति चारुम् अध्वरं सोमपानाय प्रहूयसे सोऽग्ने मरुद्भिः सह आगच्छ इति कम् अन्यं मध्यमाद्-"एवम् अवक्ष्यत् ।

तस्य एषा भवति ॥ १२ (३६) ॥

अर्थः—"प्रति त्यम्" इस ऋचाका मेधातिथि ऋषि है।

'अग्ने'! हे भगवन्! अग्नि देव! ' त्यम् ' (तम्) उस 'चारुम्' (अङ्गवैकल्यरहितम्) अङ्ग की विकलता (हीनता) से रहित या सुन्दर 'अध्वरम्' 'प्रति' यज्ञ के प्रति (त्वम्) तू 'गोपीथाय' (सोमपानाय) सोमपान के लिये 'प्रहूयसे' बुलाया जाता है, (स त्वम्) सो तू यह जान कर 'मरुद्भिः' मरुतों के साथ 'आगहि' (आगच्छ) आ । इस प्रकार मध्यम के अतिरिक्त किसे कहता (अतः 'अग्नि' शब्द से यहाँ मध्यम ही है किन्तु पार्थिव नहीं ।) "तस्य०" उसकी यह दूसरी ऋचा है — ॥ १२ (३६) ॥

(खं० १३)

निरु०-"अभि त्वा पूर्वपीतये सृजामि सोम्यं मधु । मरुद्भि रग्न आगहि॥"[ऋ०सं०१,१,३७,४। सा० सं० छ० आ० ३, २,२,४]॥

अभिसृजामि त्वा पूर्वपीतये पूर्वपानाय सोम्यं मधु सोममयं सः अग्ने मरुद्भिः सह आगच्छ । इति ॥१३ (३७) ॥

इति दशमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥१०, ३॥

अर्थ :- "अभित्वा०" इस ऋचाका मेधातिथि ऋषि है 'अग्ने!' हे भगवन्! अग्नि देव! 'त्वा'-तुझे 'पूर्वपीतये' (पूर्व-पानाय) प्रथम पान के अर्थ 'अभि-सृजामि (वदामि) कहता हूं कि-'सोम्यम्' यह सोमरूप 'मधु' मिठाई है।' (सः) सो तू 'मरुद्भिः (सह) मरुतों के साथ 'आगहि' (आगच्छ) आ-यह हम चाहते हैं ॥ १३ (३७) ॥

इतिहिन्दीनिरुक्ते दशमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥१०,३॥

चतुर्थः पादः

निघ०-वेनः ॥२४॥ असुनीतिः ॥२५॥ ऋतः ॥२६॥ इन्दुः ॥२७॥ प्रजापतिः ॥२८॥ अहिः ॥२९॥ अहिर्बुध्न्यः ॥३०॥ सुपर्णः ॥३१॥ पुरूरवाः ॥ ३२ ॥ इति द्वात्रिंशत् (३२) पदानि ॥४॥

(खं० १)

निरु०-'वेनः' वेनतेः कान्तिकर्मणः। तस्य एषा भवति ॥१(३८)॥

अर्थः- 'वेन' (२४) कान्ति अर्थ में 'वेन' (भ्वा०प०) धातु का है। क्योंकि-मध्यम देव सब लोक का प्यारा है, जिससे कि वह सबका उपकारी है।

"तस्य०" उस वेन देव की यह ऋचा है-॥१(३८)॥

(खं० २)

निरु०-"अयं वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा ज्योति-

जेरायू रजसो विमाने । इम मपां सङ्गमे सूर्य्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभीरिहन्ति ॥" [ऋ० सं० ८, ७,७,१ । य०वा०सं०७,१६] ॥

अयं वेनः चोदयत् 'पृश्निगर्भाः' प्राष्टवर्णगर्भाः आपः इति वा । 'ज्योतिर्जरायुः' ज्योतिः अस्य जरायुस्थानीयं भवति । 'जरायुः' जरया गर्भस्य, जरया यूयत इति वा । इमम् अपां च सङ्गमने सूर्य्यस्य च शिशुम्-इव विप्रा मतिभिः—रिहन्ति लिहन्ति, स्तुवन्ति, वर्द्धयन्ति, पूजयन्ति इतिवा ।

'शिशुः' शंसनीयो भवति । शिशीतेर्वास्याद् दानकर्मणः । "चिरलब्धो गर्भः"- इति ।

'असुनीतिः' असून् नयति ।

तस्य एषा भवति-॥२(३९)॥

अर्थः-"अयं वेनः०" इस ऋचा का भार्गव वेन ऋषि है । इस ऋचासे शुक्र का ग्रहण होता है । भार्गव वेन अपनी समाधि में देवता का साक्षात्कार करता हुआ प्रत्यक्ष देवता को दिखाता हुआ जैसा किसी से कहता है ।

'अयम्' यह 'वेनः' वेन देव, 'ज्योतिर्जरायुः' जिसका ज्योतिः या बिजली ही जरायु = जेर = गर्भ की कांचली है, अथवा जो अपनी ज्योतिः से गर्भ की जरा (जेर) के समान (.यु) मिलाहुआ या लिपटा हुआ है "रजसः-विमाने"

जलके संग्रह स्थान अन्तरिक्ष में बैठा हुआ 'पृश्निगर्भाः' सूर्य की रश्मिओं में गर्भ रूप से स्थित जलों को अथवा पृश्नि (पाण्डुवर्ण) प्रकृष्ट = बहुत तेज वर्ण वाले सूर्य के गर्भ भाव को प्राप्त हुए जलों को 'चोदयत्' (चोदयति) प्रेरणा करता है। 'इमम्' इस वेन को 'अपाम्' जलों के 'सूर्यस्य' (च) और सूर्य के 'संगमे' संगमन या मिलाप के स्थान (अन्तरिक्ष) में स्थित को 'विप्राः' मेधावी ब्राह्मण "शिशु-न" बालक को जैसे 'मतिभिः' ज्ञान पूर्वक स्तुतिओं से 'रिहन्ति' (लिहन्ति) चाटते हैं (स्तुवन्ति) अथवा स्तुति करते हैं (वर्द्धयन्ति) अथवा बढ़ावा देते हैं (पूजयन्ति) अथवा सराहते हैं।

'शिशु' क्यों ? 'शंसनीयो भवति' वह शंसनीय या प्रशंसनीय होता है। क्योंकि प्रयोजन से या बिना प्रयोजन के उसके प्रलापों में उसी प्रशंसा की जाती है। अथवा दान अर्थ में 'शो' (अदा० आ०) धातु से है। क्यों कि वह पुरुषसे स्त्री के लिये धारणार्थ दिया जाता है। जैसे कि- नया गर्भ ग्रहण करने वाली स्त्रियों में कहा जाता है- "चिरलब्धो गर्भः" इसने देरमें गर्भ पाया है ('अचिरलब्धो गर्भः') या शीघ्र ही गर्भ पाया है।

'असुनीति' (२८) शब्द देवता पद है। और वह मध्यम इन्द्र = प्राण देवता है। 'असुनीति' क्यों? वह असुओं(प्राणों) को नयन करता है लेजाता है-अर्थात्- जब वह इस शरीर से उत्क्रमण करता है या निकलता है, तो अपनेसाथ दूसरे प्राणों को भी लेजाता है। जैसा कि- कहा है-

"प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनुक्रामन्ति"

अर्थात् प्राणके उड़ने पर सब प्राण उसके पीछे उड़जाते हैं।

"तस्य०" उस असुनीति या प्राण देवता की यह ऋचा है ॥२ (३६)॥

(खं० ३)

निरु०-"असुनीते मनो अस्मासु धारय जीवात-वे सुप्रतिरा न आयुः रारन्धि नः सूर्यस्य संदृशि घृतेन त्वं तन्वं वर्द्धयस्व ॥"(ऋ०सं०८,१,२२,५)॥

असुनीते ! मनः अस्मासु धारय चिरं जीवनाय प्रवर्द्धय च नःआयु,रन्धय च नः सूर्यस्यसन्दर्शनाय।

'रध्यतिः' वशगमनेऽपि दृश्यते ।

"मा रधाम द्विषते सोम राजन्"- (ऋ सं० ८, ७, १२, ५ । अथ० सं० ५, ३, ६, ७) । इत्यपि निगमो भवति ।

घृतेन त्वम् आत्मानं तन्वं वर्धयस्व ।

'ऋतो' व्याख्यातः,

तस्य एषा भवति ॥ ३[४०] ॥

अर्थः—" असुनीते ! "इस ऋचा को श्रुत बन्धु ऋषि है। 'असुनीते !' हे प्राण ! (त्वम्) तू 'अस्मासु' हममें 'मनः' मनको 'धारय' धारण कर—मन आदि इन प्राणों को हमारे शरीर में ही धारण कर, किन्तु तू उत्क्रमण मतकर, तेरे ठहरने से ये भी ठहरे रहेंगे। 'जीवातवे' (चिरंजीवनाय) हमारे

बहुत कालतक जीने के अर्थ (मनः धारय) मनको धारणकर। 'नः' (अस्माकम्) हमारी 'आयुः' आयुको 'सुप्रतिर' (प्रकर्षेण वर्द्धय) भले प्रकार बढा। 'नः' (अस्मान्) और हमें 'रारन्धि' (रन्धय— (च)) साधन कर या साधले। और ऐसा अनुग्रह कर जिस प्रकार हम 'सूर्यस्य' सूर्य के 'सन्दृशि' (सन्दर्शनाय) भले प्रकार दर्शन के लिये समर्थ होवें हमें दिव्य दृष्टि दे, जिससे सूर्य के संदर्शन में समर्थ हों। और 'घृतेन' (उदकेन) जलसे 'त्वम्' तू 'तन्वम्' अपने शरीर को 'वर्द्धयस्व' बढा— अर्थात्-यथा समय वृष्टि करने से यह सब होगा, इसी से तू बरस।

'रध' (दि०प०) धातु वशगमन (अधीन चलने) अर्थ में भी देखा जाता है। जैसे-

" मा रधाम द्विषते सोम राजन् "

अर्थात्- हे भगवन् ! सोम ! राजन् ! तुझसे विशेष रूप से कहा जाता है कि—'द्विषते' शत्रुके 'मा' न 'रधाम' वश हों इन उक्त प्रार्थनाओं के लिये हम शत्रुओं के अधीन नहीं, किन्तु वे ही सब प्रकार हमारे अधीन हों। क्योंकि—शत्रुके अधीन होना बहुत अनिष्ट है। यहां मन्त्रार्थ के सामर्थ्य से 'रध' धातु वश गमन अर्थ में स्थिर होता है।

'ऋत' शब्द की व्याख्या (२, ७, ३] की जाचुकी है।

"तस्य०" उसकी यह ऋचा है—॥ ३ (४०) ॥

(खं० ४)

निरु० " ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वी ऋंतस्यधीति वृजिनानि हन्ति। ऋतस्य श्लोको

बधिरा ततर्द कर्णा बुधानः शुचमान आयोः ॥ ”
ऋ० सं० ३, ६, १०, ३) ॥

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति, पूर्वीःऋतस्य प्रज्ञा वर्जनीयानि हन्ति ऋतस्य श्लोको बधिरस्यापि कर्णौ आतृणत्ति ।

'बधिरः' बद्धश्रोत्रः ।

कर्णौ बोधयन् दीप्यमानश्च आयोः = अयनस्य = मनुष्यस्य । ज्योतिषो वा । उदकस्य वा ।

'इन्दुः' इन्धेः । उनत्ते वा ।

तस्य एषा भवति ॥ ४ (४१) ॥

अर्थः- "ऋतस्य हि शुरुधः०" इस ऋचा का वामदेव ऋषि है ।

'हि' क्योंकि—' ऋतस्य ' ऋत मध्यम देव के 'पूर्वीः' पहिली या पूर्व अनेक काल की संचित की हुई 'शुरुधः' (आपः) अप् [जल] हैं, [अतः] इससे 'ऋतस्य' ऋत देव की 'धीतिः' [प्रज्ञा] बुद्धि 'वृजिनानि' सब लोकों के कष्टों को 'हन्ति' नाश करती है, या 'वृजिनानि [वर्जनीयानि = अयशांसि] लोकों के अपयशों को 'हन्ति' नाश करती है । क्योंकि-अकाल में ही भूख प्यास के मारे हुये लोकों की अपयश के करने वाले चोरी आदि कामों में प्रवृत्ति होती है, किन्तु ऋतदेव के यथा समय वृष्टि करने पर नहीं होती । इसी से 'ऋतस्य' [ज्योतिषो वा] ऋतकी ज्योति [बिजली] का [उदकस्य वा] अथवा जलका 'श्लोकः' श्लोक या शब्द

'बुधानः' (बोधयन्) जगाता हुआ 'शुचमानः' (दीप्यमानः) प्रकाशित होता हुआ 'बधिरा' [बधिरस्यापि] बहरे भी 'आयोः' (अयनस्य = मनुष्यस्य) मनुष्य के 'कर्णा' [कर्णौ] कानों को 'ततर्द' [आतृणत्ति] भेदन करदेता है या फोड़ देता है। बहरे भी उस के यश को जानते हैं, ऐसा ऋत्-द्य है।

'इन्दुः' [२७] कैसे ? दीप्ति अर्थ में 'इन्ध' (रु०आ०) धातु से है। अथवा क्लेदन [भिगोना] अर्थ में 'उन्द' (रु० उ०) धातु से है। क्योंकि—इन्दु (चन्द्रमा) में प्रकाश करना और भिगोना दोनों ही क्रियाएं संभव हैं।

"तस्य०" उस की यह ऋचा है-॥ ४ (४१) ॥

(खं०५)

निरु०-"प्रतद्वोचेयं भव्यायेन्दवे हव्यो न य इषवान्मम रेजति रक्षोहा मन्म रेजति। स्वयं सो अस्मदानिदो वधैरजेत दुर्मतिम्। अवस्रवेदघशंसोऽवतरमव क्षुद्रमिवस्रवेत् ॥ ऋ०सं०२,१,१७,१]॥ प्रब्रवीमि तद् भव्याय इन्दवे हवनार्ह इव य इषवान् अन्नवान् कामवान् वा मननानि च नोरजयति रक्षोहा च बलेन रेजयति स्वयं सो अस्मदभिनिन्दितारम्। "वधै रजेत दुर्मतिम्"। "अवस्रवेद्-घशंसः।" ततश्च अवतरं क्षुद्रमिव अवस्रवेद्। "अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते" यथा-अहो दर्शनीया-अहो दर्शनीया, इति ॥

तत् परुच्छेपस्य शीलम् ॥

'परुच्छेप' ऋषिः । पर्ववच्छेपः । परुषि परुषि शेपः अस्य— इति वा ॥

इति इमानि सप्तविंशति (२७) दैवतानामधेयानि अनुक्रान्तानि-सूक्तभाञ्जि हविर्भाञ्जि॥

तेषाम्-एतानि अहविर्भाञ्जि-वेनः, असुनीतिः, ऋतः, इन्दुः ॥

'प्रजापतिः' प्रजानां पाता वा पालयिता वा ॥

तस्य एषा भवति ॥५ (४२) ॥

अर्थः- "प्रतद्वोचेयम्०" यह अतिच्छन्द है। परुच्छेप ऋषि और षष्ठ अहन् (दिन) में मरुत्वतीय में शस्त्र है।

(यद् यद्-इष्टं तस्य इन्दोः) जो जो उस इन्द्र देव को प्रिय है, 'तत्' (तत्) सो सो (अहम्) मैं 'भव्याय' उस भव्य या भवन-योग्य = आत्मवान् = अपने वाञ्छितों के पात्र 'इन्दवे' इन्दु देव के लिये 'प्रवोचेयम्' (प्रब्रवीमि) कहता हूं। 'यः' जो इन्दु 'हव्येन' (हवनार्ह इव) हवन के योग्य जैसा 'इषवान्' (अन्नवान्) अन्न या उदक = जल वाला है— यद्यपि उसके लिये यज्ञ में हविः नहीं दिया जाता, तो भी वह अन्न या हविः वाला है—अर्थात्-अन्न के भी कारण भूत जल को धारण करने वाला है जिससे कि—हविः उसी से उत्पन्न होते हैं, इससे हविर्भाग् देवताओं से भी अधिक महिमा वाला है। अथवा 'इषवान्' (कामवान्) कामनावाले

होताओं को नित्य ही उनके वाञ्छित फलों के देने में प्रस्तुत (तैयार) रहता है। इसीसे 'मन्म' (नः मननानि) हमारे मनों को या ज्ञानों को 'रेजति' (रेजयति) (आकम्पयति) कम्पित करता है- कैसे हम इसकी नित्य ही स्तुति करें ?- अपने अनुग्रहों से हमारे मनों को नई नई स्तुतियों के लिये चञ्चल करता रहता है। "रक्षोहा मन्म रेजति" (रक्षोहा च बलेन रेजयति) और बल से राक्षसों को मारता हुआ हमारे मनों को फुलाता है। और 'स्वयम्' अपने आप आदर युक्त होकर 'सः' वह इन्द्र 'अस्मदानिदः' (अस्मदभिनिन्दितारम्) हमारी निन्दा करने वाले 'दुर्मतिम्' दुष्टमति या पापमति पुरुष को 'वधैः' वज्र के प्रहारों से 'अजेत' प्राप्त होता है या जीत लेता है या दूर फेंक देता है। 'अघशंसः' हमारे पापों को कहने वाला—थोड़े पापों को भी देश में बढ़ाकर फैलानेवाला 'अवस्रवेत्' उस अतिबलवान् इन्द्र से हन्यमान होता हुआ अधोगति को प्राप्त हो। "अवतरम्" —नीचे से भी नीचे 'क्षुद्रम्–इव' अति तुच्छ वस्तु के समान 'अवस्रवेत्' नीचे चला जावे– जैसे कोई क्षुद्र वस्तु जड़ से नष्ट होजाता है, उसी प्रकार वह हमारा शत्रु नष्ट होजावे (यह हम चाहते हैं)।

इस मन्त्रमें 'रेजति' 'रेजति' 'स्रवेत्' 'स्रवेत्' इस प्रकार एक २ पद फिर २ पढ़ा गया है, उसका क्या प्रयोजन है ? ऐसाप्रश्न उठाकर भाष्यकार स्वयम् समाधान करते हैं–

"अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते"

अर्थात्– जहां शब्द के अभ्यास या आवृत्ति में दूसरा कोई विशेष प्रयोजन नहीं है, वहां मन्त्रोंके अर्थ तत्व के

जानने वाले आचार्य अर्थ के बाहुल्य को ही अभ्यास का प्रयोजन मानते हैं क्यों कि- अकस्मात् वही शब्द दोहराया नहीं जाता, अवश्य ही उसके पुनः कथन में कोई प्रयोजन रहता है। और लोक में भी ऐसा देखागया है-

"यथा-अहो दर्शनीया अहो दर्शनीया"

अर्थात्- जैसे 'अहो (आश्चर्य,यह स्त्री दर्शनीय है अहो यह स्त्री दर्शनीय है।

यहां स्त्री के गुणों के अतिशय या आधिक्य के बताने के अर्थ 'दर्शनीय' पद को दोहराया गया है। इससे मन्त्रों में भी वैसा ही शब्द स्वभाव है।

क्या कुछ और भी ? हां,—

"तत् परुच्छेपस्य शीलम्" अर्थात्- वह अभ्यास मन्त्र के द्रष्टा परुच्छेप ऋषि का स्वभाव है- परुच्छेप ऋषि का ऐसा ही स्वभाव है कि— वह अपने देवता की स्तुति में एक २ शब्द को दोहरा २ कर बोलता है।

इससे भाष्यकार ने यह भी दिखाया कि- मन्त्रों के अर्थ दर्शन काल में शब्दों के स्वभाव तक ही ध्यान नहीं रखना चाहिये बल्कि मन्त्र के द्रष्टा ऋषि के स्वभाव का भी अनुरोध करना चाहिये। इसी लिये लोक में भी वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य अर्थ के अतिरिक्त एक तात्पर्यार्थ भी माना जाता है जो वक्ता की इच्छा से ज्ञान से प्रतीत होता है।

'परुच्छेप' कौन? ऋषि। सो क्यों? उसका पर्व या ग्रन्थि वाला महान् शेप (लिङ्ग) है। अथवा 'पर्वणि पर्वणि शेपः अस्य' अङ्गों की सन्धि २ में उसका शेप है—इतना लम्बा है कि- उसका स्पर्श सब अङ्गों पर होजाता है।

"इति इमानि०" इस प्रकार ये सत्ताईस (२७) 'वायु' से आरम्भ कर 'इन्दु' पर्य्यन्त देवताओं के नाम गिनाए गए।

किस प्रयोजन से ? विशेष अर्थ के कहने के लिये।

वह क्या विशेष है ?

"सूक्तभाञ्जि हविर्भाञ्जि"

अर्थात्-ये सब देवता सूक्त के भजन करने वाले और हविः के भजन करने वाले हैं- इनकी सूक्तों में प्राधान्य से स्तुति भी है और यज्ञ में इनकी हविः भी है।

"तेषाम्-एतानि अहविर्भाञ्जि-वेनः, असुनीतिः, ऋतः इन्दुः।"

किन्तु उनमें ये चार देवता हविर्भाक् नहीं हैं,—वेन, असुनीति, ऋत और इन्दु—इनकी सूक्तोंमें स्तुतिमात्र है और यज्ञमें इन्हें हविः नहीं दीजाती। शेष सब तेईस (२३) देवता वायु आदि हविः और सूक्त दोनों के भागी हैं।

यह देवताओं के स्वभाव के दिखाने के अर्थ कहा है। जिस प्रकार मन्त्रार्थ के ज्ञान में शब्द स्वभाव और ऋषि-स्वभाव का ज्ञान आवश्यक है, उसी प्रकार देवता का भी स्वभाव ज्ञातव्य है। जैसे कि— यहां जो वेन आदि देवता हविः के भजने वाले नहीं हैं, उनके मन्त्रों में जो "घृत" 'अन्न' आदि शब्द आते हैं, उनका अर्थ मध्यम देवता के स्वभावानुसार जल आदि ही लिया जावेगा। जो ऐसा अनुसन्धान न रख कर प्रसिद्ध अर्थ के अनुसार घृत आदि ही अर्थ लेगा वह देवता के प्रतिकूल ही अर्थ करेगा, जो यज्ञ में विगुणता को उत्पन्न करने वाला है।

'प्रजापति' (२८) क्या ? प्रजाओं का पाता या पालयिता (पालन करने वाला)।

"तस्य०" उस प्रजापति देवकी यह ऋचा है ॥५(४२)॥

(खं० ६)

निरु०—"प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वाजाता॰नि परिता बभूव। यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥" (ऋ०सं०८,७,४,५ य०वा०सं० १०,२, २३,६५) ॥

प्रजापते! नहि त्वद्—एतानि अन्यः सर्वाणि जातानि तानि परि बभूव। यत्कामाः ते जुहुमः, तद् नः अस्तु, वयं स्याम पतयो रयीणाम्, इत्याशीः।

'अहिः' ह्याख्यातः।

तस्य एषा भवति—॥६(४३)॥

अर्थः— "प्रजापते०" इस ऋचाका प्राजापत्य हिरण्यगर्भ ऋषि है। पितृयज्ञ में उपस्थान में विनियोग है और राजसूय में होम में विनियोग है।

'प्रजापते!' हे प्रजापति देव! 'त्वत्' तेरे से 'अन्यः' अन्य कोई भी एतानि इन 'ता' (तानि) उन 'विश्वा' (विश्वानि = सर्वाणि) सब 'जातानि' (देवतारूपाणि) देवता रूपों को 'न' 'परिबभूव' (परिगृह्य भवति) सब ओर से ग्रहण करके नहीं रहता है, किन्तु तू ही इन सब रूपोंको सब ओर से लिये हुये है। 'यत्कामाः' जिस २ कामना को करते हुये

(हम) 'ते' तेरे लिये 'जुहुमः' होम करते हैं, 'तत्' सो २ 'नः' (अस्माकम्)हमारा 'अस्तु'होवे और(हम)'रयीणां (धनानाम्)'पतयः' स्वामी 'स्याम'होवें। यह आशीः या प्रार्थना है।

'अहि' (२९) शब्द व्याख्यान [२.५.३] किया जाचुका।

"तस्य०" उस (अहि) की यह ऋचा है ॥६(४३)॥

व्याख्या।

आशीः। "प्रजापते" इस मन्त्र में दो आशिषाएं हैं पहिली-"यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु" जिस २ कामना से हम तेरे लिये होम करते हैं वो२ हमें हो,और दूसरी "वयं स्याम पतयो रयीणाम्" हम धनों के स्वामी होवें। अथवा "आशीः" इस निर्देश से भाष्यकार यह दिखाते है कि- यह आशिषा मन्त्र ही में है, किन्तु जहांमन्त्र में आशिषा न भी हो, तो भी वहां अध्याहार कर लेना चाहिए। क्यों कि— स्तुति और आशिषा का नित्य सम्बन्ध है—किसी प्रार्थना के विना कभी कोई स्तुति प्रवृत्त नही होती ॥

अहि। पहिले इस शब्द का निर्वचन मात्र किया गया है-'अहि' क्यों ? 'अयनात्' गमन करने से,किन्तु यहां उसका अभिधेय (अर्थ)बताया गया है कि-वह मध्यमदेव है॥६(४३)॥

(खं० ७)

निरु०-"अब्जा मुक्थैरहिं गृणीषे बुध्ने नदीनां रजः सु सीदन् ॥" [ऋ० सं०५,३,२६,६] ॥

अब्जम् उक्थैः अहिं गृणीषे बुध्ने नदीनां बद्ध्वा

अस्मिन् धृताः आपः इति वा ।

इदमपि इतरद् 'बुध्नम्' एतस्मादेव । बद्धा अस्मिन् धृताः प्राणा इति ।

योऽहिः स बुध्न्यः । 'बुध्नम्' अन्तरिक्षं तन्निवासात् ।

तस्य एषा भवति—॥७(४४)॥

अर्थः—"अब्जामुक्थैः०" इस ऋचा का वाशिष्ठ पाराशर ऋषि है। दशरात्र के चतुर्थ अहन् में वैश्वदेव में विनियोग है।

(हे स्तोतः !) हे स्तुति करने वाले ! ऋत्विक् ! (त्वम्) तू 'रजःसु' (उदकेषु) जलों के निमित्त 'सीदन्' स्थित होता हुआ 'नदीनाम्' (नद्मानाम्) नाद (शब्द) स्वभाव जलों के 'बुध्ने' (बन्धने) बन्धनरूप अन्तरिक्ष में (वर्त्तमानम्) विद्यमान 'अब्जाम्' (अप्सुजम्) जल में जन्मने वाले 'अहिम्' अहि (मेघ) देव को 'उक्थैः' स्तोत्रों से 'गृणीषे' स्तुति करता है।

'बुध्न' क्या ? अन्तरिक्ष। क्यों ? 'बद्धा अस्मिन् धृताः आपः इति वा' इसमें जल बंधे हुए हैं, या धरे हुए हैं।

यह भी दूसरा 'बुध्न' (शरीर का वाचक) इसी व्याख्यान से है। कैसे ? इसमें प्राण बंधे हुए हैं या धारण किये हुए हैं।

'अहिर्बुध्न्यः' (३०) शब्द। क्या अर्थ ? जो अहि सो बुध्न्य। 'अहिः' 'बुध्न्यः' ये दो प्रथमान्त समानाधिकरण (विशेषण विशेष्य) पद हैं। यथास्थित मिल कर ही एक नाम का कार्य करते हैं। 'बुध्न्य' क्या ? 'बुध्न' अन्तरिक्ष का

नाम है, और उस में रहने से अहि 'बुध्न्य' है। 'बुध्न' शब्द में 'य' तद्धित प्रत्यय होने से 'बुध्न्य' होजाता है।

"तस्य०" उस 'अहिर्बुध्न्य'की यह ऋचा है ॥७(४४)॥

(खं० ८)

निरु०—"मानोऽहि र्बुध्न्यो रिषे धान्मा यज्ञो अस्य स्रिधदृतायोः ॥" [ऋ०सं०५,३,२६,७] ॥

मा च नः अहिर्बुध्न्यो रेषणाय धात् । मा अस्य यज्ञा स्रा च स्रिधद् यज्ञकामस्य ।

'सुपर्णो' व्याख्यातः ।

तस्य एषा भवति ॥८(४५)॥

अर्थ-"मानोऽहिर्बुध्न्यो०" इस ऋचाका ऋषि आदि पूर्व ऋचा के समान हैं ॥

'मा' मत 'नः' (अस्मान्) हमें 'अहिर्बुध्न्यः' अहिर्बुध्न्य देव 'रिषे' (हिंसनाय) हिंसा के लिये 'धातु' धारण करे। और 'मा' मत 'अस्य' इस 'ऋतायोः' (यज्ञकामस्य) यज्ञ की कामना वाले यजमान का 'यज्ञः' यज्ञ 'स्रिधत्' नष्ट हो, किन्तु सदा ही अविनाशी बना रहे।

'सुपर्ण' [३१] शब्द का निर्वचन [३,२,६] होचुका,— 'सुपतनः' सुन्दर पतन करने वाला। यहां मध्यम ज्योति अभिधेय या अर्थ तत्व है।

"तस्य०" उस 'सुपर्ण' की यह ऋचा है—॥८(४५)॥

(खं०६)

निरु०"एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं

विश्वं भुवनं विचष्टे। तं पाकेन मनसा पश्यमन्ति-तस्तं माता रेळ्हि [ल्हि] स उ रेळ्हि (ल्हि) मातरम् ॥" [ऋ०सं०८,६,१६,४] ॥

एकः सुपर्णः स समुद्रम्-आविशति, स इमानि सर्वाणि भूतानि अभिविपश्यति, तं पाकेन मनसा अपश्यम् अन्तितः, इति ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवति आख्यानसंयुक्ता, तं माता रेढि वाग्-एषा माध्यमिका, स उ मातरं रेढि।

'पुरूरवाः' बहुधा रोरूयते।

तस्य एषा भवति-॥९(४६)॥

अर्थः—"एकः सुपर्णः" इस ऋचा का सधि यी धर्म ऋषि है।

'एकः' (अद्वितीयः) एकही या अद्वितीय—जिसके पतन (गमन) में दूसरा यान उपमान नहीं है, 'सः' वह 'सुपर्णः' सुन्दर उड़ने वाला वायु 'समुद्रम्' (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को 'आविवेश' प्रवेश करता है—सदा ही उस में प्रवेश किये हुये रहता है। 'सः' वह 'इदम्' [इमानि] इन 'विश्वम्' [विश्वानि] सब 'भुवनम्' (भूतानि) भूतों को 'विचष्टे' (अभिविपश्यति) भले प्रकार देखता है। 'तम्' उस वायुदेव को 'पाकेन' परिपक्क विज्ञान 'मनसा' मनसे 'अन्तितः' पास में 'अपश्यम्' मैंने देखा है। [यह मन्त्र में देवता तत्व को साक्षात्कार करके जो ऋषि को प्रीति हुई, वही आख्यान के

रूप में वर्णन की हुई है।] [ऋषि देवता के दर्शन करके किसी से कहता है।]

'तम्' उस वायुदेव को 'माता' [एषा माध्यमिका वाक्] यह मध्यम लोक की वाणी रूप माता 'रेढि' [लेढि] चाटती है। 'सः उ' और वह भी 'मातरम्' माता को 'रेढि' चाटता है। अर्थात्—दोनों परस्पर के आश्रय होने के कारण अध्यात्म के समान हैं। अध्यात्म मन्त्र में स्तोता और स्तुत्य दोनों भाव एक ही में आजाते हैं,वैसे ही यहाँ एक ही देवता कर्त्ता और कर्म का काम कर रही है।

'पुरूरवाः' [३२] क्या? बहुधा रोने वाला।

"तस्य०" उस पुरूरवस् देवता की यह ऋचा है-॥९(४६)

(खं० १०)

"निरु०- समस्मिञ्जायमान आसत ग्ना उतेमवर्द्धन्नद्यः १ स्वगूर्त्ताः। महे यत्त्वा पुरूरवो रणाया वर्द्धयन्दस्युहत्याय देवाः ॥"(ऋ० सं० ८, ९, २, २)॥

समासत अस्मिन् जायमाने ग्नाः गमनात् आपः देवपत्न्यो वा। अपि च एनम् अवर्द्धयन् नद्यः 'स्वगूर्त्ताः'स्वयंगामिन्यः। महते च यत्त्वा पुरूरवो 'रणाय'रमणीयाय संग्रामाय अवर्द्धयन् दस्यु-हत्याय च देवा देवाः ॥१०(४७)॥

इति दशमाध्यायस्य चतुर्थ पादः ॥ १०, ४॥

निरुक्त के दशम अध्याय का खण्डसूत्र-

[१म पा०-] अथातो मध्यस्थाना: (१) वायो (२) आसः स्रावासः [३] नीचीनवारम् (४) तमूषु (५) इमारुद्राय [६] याते दिद्युत् (७) जराबोध (८ अदर्दरुत् [६] योजातएव [१०] विसृजान् [११] अश्मापिनद्धम् (१२) अश्मास्यम् (१३) (द्वि०पा०) क्षेत्रस्य पतिः (१४) क्षेत्रस्यपतिना [१५] क्षेत्रस्यपते [१६] अमीवहा [१७] पुनरेहि [१८] यो अनिध्म (१९) परेयिवांसम् (२०) सेनेव (२१) मित्रः (२२) हिरण्यगर्भः (२३) येते (२४) (३य पा०-) विश्वकर्मा सर्वस्य (२५) विश्वकर्मा विमना (२६) विश्वकर्मन् (२७) त्यमूषु (२८) सद्यश्चित्यः (२९) त्वयामन्यो (३०) आदधिक्राः [३१] सवितायन्त्रैः [३२] हिरण्यस्तूप [३३] देवस्त्वष्टा (३४) वातमावातु (३५) पतितयम् (३६) अभित्वा (३७) [४र्थ पा-] वेनो वेनतेः (३८) अयंवेनः (३९) असुनीते (४०) ऋतस्यहि (४१) मतद्रोपेयम् (४२) प्रजापते (४३) अजा सुकथे: (४४) मानोहिः (४५) एकः सुपर्णः (४६) सम्वस्मिन् (४७) सप्तचत्वारिंशत् ॥

इतिनिरुक्ते (उत्तरषट्के) दशमोऽध्यायः समाप्तः ॥१०, ४ ॥

इति हिन्दीनिरुक्ते उत्तरषट्के दशमोऽध्यायःसमाप्तः॥१०,४॥

अथ एकादशाध्यायः ।

प्रथमः पादः ।

(खं० १)

(अथ षट्त्रिंशत्पदानि)

निघ०—श्येनः ॥१॥ सोमः ॥२॥ चन्द्रमाः ॥ ३ ॥ मृत्युः ॥४॥ विश्वानरः ॥५॥ धाता ॥ ६ ॥ विधाता ॥ ७ ॥

निरु० 'श्येनो' व्याख्यातः ।

तस्य एषा भवति— ॥१॥

अर्थः— 'श्येन' (१) शब्द की व्याख्या अ० ४ पा० ४ खं० २ शब्द ८१ पर होचुकी है— "शंसनीयं गच्छति" 'बहुत अच्छा जाता है' । किन्तु यहां मध्यम देव उसका अभिधेय (अर्थ) कहा जाता है ॥

"तस्य०" उस 'श्येन' की यह ऋचा है— ॥ १ ॥

(खं० २)

निरु०— "आदाय श्येनो अभरत्सोमं सहस्रं सवां अयुतं च साकम् । अत्रा पुरन्धिर जहादरातीर्मदे सोमस्य मूरा अमूरः ॥ " [ऋ० सं० ३, ६, १५, ७) ॥

आदाय श्येनः अहरत् सोमं, सहस्रं सवान्,

अयुतं च सह । सहस्रं सहस्रसाध्यम्-अभिप्रेत्य, तत्र अयुतं सोमभक्षाः, तत्सम्बन्धेन अयुतं दक्षि-णा इति वा । तत्र पुरन्धिः अजहात् आमित्रान् अदानान्-इति वा । "मदे सोमस्य मूरा अमूरः"

ऐन्द्रे च सूक्ते सोमपानेन च स्तुतः, तस्माद्-इन्द्रं मन्यन्ते ॥

ओषधिः 'सोमः' । सुनोतेः । यद्-एनम् अभि-षुण्वन्ति ।

बहुलम्-अस्य नैघण्टुकं वृत्तम्, आश्चर्यमिव प्राधान्येन । तस्य पावमानीषु निदर्शनाय उदा-हरिष्यामः ॥ २ ॥

अर्थः-" आदाय श्येनो० " इस ऋचा का वामदेव ऋषि है । श्येन अजिरादि में मरुत्वतीय में शस्त्र है ।

'श्येनः' (इन्द्रः) इन्द्रने (ऋत्विग्भिःप्रत्तं) ऋत्विजों के दिये हुए 'सोमम्' सोम को 'आदाय' लेकर 'अभरत्' (अहरत्) लेलिया या पान करलिया । कहां ? " सहस्रं सवान्, अयुतं च साकम् (सह) " जहां हजार (१०००) सवों या सुत्याओं को करते हैं और साथ ही अयुत या दश हजार (१००००) दक्षिणाओं को प्राप्त होते हैं । अथवा जहां सहस्र सवों (सहस्रसाध्य सत्र) में अयुत (दशहजार) सोम भक्षण होते हैं, तथा उनके सम्बन्ध से अयुत दक्षिणा होती हैं । 'अत्र' (तत्र) उस सहस्र साध्य सत्र में—हजार सोमके सवनों

वाले सत्र में 'पुरन्धिः' बहुल धनके देने वाले 'अमूरः' (अमूढः) अमूढ या सावधान श्येन (इन्द्र) ने 'मूराः' मूढ 'अरातीः' (अमित्रान् अदानान्) न दान करने वाले शत्रुओंको 'अजहात्' (अभ्यजायत्) जीता। कब ? "सोमस्य मदे" सोमके मद को प्राप्त होने पर ॥

इस मन्त्र में सोम के पान और शत्रुओं के जय रूप लक्षण से 'श्येन' मध्यम इन्द्र ही है, और इन्द्र के सूक्त में भी सोम के पान से इस की स्तुति हुई है इस से भी इसे इन्द्र मानते हैं।

'सोम' (२) क्या ? ओषधि। किस धातु से ? सुनोति ('सु' स्वा० उ०) धातु से। क्यों ? 'यद् एनम् अभिषुवन्ति' जिससे कि इसे निचोड़ते हैं।

इसका बहुल करके नैघण्टुक वृत्त है-प्रायः दूसरे की प्रधान स्तुति में गौण या विशेष रूप से प्रयोग आता है। कहीं इस की प्राधान्य स्तुति भी आती है, जो कि—आश्चर्य जैसी होती है। उसके दोनों प्रकार दिखाने के लिये "पावमानी" ऋचाओं में उदाहरण देंगे ॥ २ ॥

(खं० ३)

निरु०- "स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया। इन्द्राय पातवे सुतः ॥" (ऋ०सं० ६, ७, १६, १। सा० सं० छ० आ० ५, २, ४, २) ॥

इति सा निगदव्याख्याता ॥

अथ एषा अपरा भवति चन्द्रमसो वा एतस्य वा— ॥ ३ ॥

अर्थः—"स्वादिष्ठया" इस ऋचाका मधुच्छन्दस् ऋषि है। ग्रावस्तोत्र में विनियोग है॥

'सोम !' हे सोम !(त्वम्)तू 'स्वादिष्ठया' बहुत ही स्वादु 'मदिष्ठया' बहुत ही मद के देने वाली 'धारया'धारा से'सुतः' निचोड़ा हुआ 'इन्द्राय' इन्द्र के 'पातवे' पान के अर्थ पवस्व' झर। यह उच्चारण से व्याख्या की हुई है। 'यहां इन्द्र के लिये झर' ऐसा कहने से ही यहां सोम की स्तुति परार्थ या गौण जानी जाती है।

" अथ०" और यह दूसरी ऋचा है, जो अथवा चन्द्रमा की है, अथवा इस (सोम) की है॥३॥

(खं० ४)

निरु०—"सोमं मन्यते पपिवान्यत्संपिषन्त्योषधिम्। सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन" ऋ० सं० ८, ३, २०, ३)॥

सोमं [illegible] पपिवान् यत् सम्पिषन्ति ओषधिम् इति वृथा सुतं असोमम् आह, सोमं यं ब्रह्माणो विदुः- इति, न तस्य अश्नाति कश्चन अयज्वा इति आधियज्ञम्।

अथाधिदैवतम्— सोमं मन्यते पपिवान् यत् सम्पिषन्ति ओषधिम्-इति यजुः सुतम्- असोमम् आह, सोमं यं ब्रह्माणो विदुः चन्द्रमसं, न तस्य अश्नाति कश्चन अदेव इति।

अथ एषा अपरा भवति चन्द्रमसो वा एतस्य वा- ॥ ४ ॥

अर्थः- "सोमं मन्यते०" इस ऋचा का सूर्या (सूर्य की पत्नी) ऋषि है विवाह में विनियोग है।

'यत्' जो कि- रासायनिक लोग 'सोमम्' 'ओषधिम्' सोम ओषधिको 'सम्पिंषन्ति' पीसते हैं, 'पपिवान्' और' पीते हैं, तथा पीकर 'मन्यते' मानते हैं कि- 'सोमंपपिवान्' हमने सोम पान किया है (वे सोम के पीन करने वाले नही हैं और वह सोम भी वृथा हैं) । (इस प्रकार यह आधीऋचा विधिविहीन निचोड़े हुए सोम को असोम कहती है)। कहो ! कौन सोम है ? और कौन सोमपा हैं ? इसके उत्तर में आधी ऋचा कहती है- सोमं यं ब्रह्माणो विदुः" जिसे ब्राह्मण लोग विधि के अनुसार यज्ञ में उपयुक्त हुए को सोम जानते हैं या मानते हैं (वह सोम है और उसके पान करने वाले सोमपा हैं)। "न तस्य अश्नाति कश्चन अयज्वा" किन्तु यजमान के रूप में यज्ञ में अधिकारी न होकर उसे कोई पुरुष अशन नहीं करसकता = पी नहीं सकता यह मन्त्र का अधियज्ञ व्याख्यान है ।

अब अधिदैवत व्याख्यान है-पहिले कहा है कि-अथवा यह चन्द्रमा की है, उसी के दिखाने के लिये कहते है-

"सोमं०-० ओषधिम्०" (यह यजुः है) अर्थात् जो यजन करनेवाले यज्ञमें सोम ओषधि को निचोड़ते हैं और उसे पान करते हैं, तथा मानते है कि हमने सोमपान किया

है, वे सोमपा (सोम पीने वाले) नहीं हैं और वह सोम भी नहीं है। बलकि-वह सोम है, जिसे ब्राह्मण सोम के रूप में चन्द्रमा जानते हैं। उसका कोई देवों से अतिरिक्त पान नहीं कर सकता। क्योंकि 'चन्द्रमा ही देवताओं के भोजन के अर्थ परिणत होकर (बदल कर) सोम हो गया है, यह देवताओं का अन्न है, यह ब्राह्मण में कहा है।

प्रयोजन यह हुआ कि—जिस प्रकार पूर्व अर्थ में यज्ञ के सोम की अपेक्षा रासायनिकों (वैद्यों) का सोम असोम है उसी प्रकार अधिदैव सोम (चन्द्रमा) की अपेक्षा यज्ञ का सोम असोम है। अर्थात् यज्ञ में भी जो इस सोम के निदान के जानने वाले हैं कि-यह सोम रूपान्तर में चन्द्रमा ही है, वे ही उस सोमपान के फलभागी होते हैं। किन्तु वे नहीं जो उसे साधारण भौतिक ओषधि ही जानते हैं।

यह दोनों पक्षों में सोम की स्वप्रधाना स्तुति है, इस में सोमकी स्तुतिके द्वारा किसी दूसरे देवता की स्तुति नहीं है।

"अथ एषा" और यह दूसरी ऋचा है, जो अथवा चन्द्रमा की है, अथवा इस सोम की है।४

(खं० ५)

निरु०-"यत्वा देव प्रपिबन्ति तत आप्यायसे पुनः। वायुः सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः॥" (ऋ०सं०८,३,२०,५)।

"यत् त्वा देव प्रपिबन्ति, तत आप्यायसे पुनः" इति नाराशंसान् अभिप्रेत्य पूर्वपक्षापरपक्षौ-इति

वा "वायुः सोमस्य रक्षिता", वायुम्-अस्य रक्षि-तारम्-आह साहचर्याद् रसहरणाद् वा। 'समानां' संवत्सराणां "मास आकृतिः" सोमो रूपविशेषः ओषधिः, चन्द्रमा वा।

'चन्द्रमाः' चायन् द्रमति। चन्द्रो माता, चान्द्रं मानम्, अस्य-इति वा।

'चन्द्रः' चन्दतेः कान्तिकर्मणः।

'चन्दम्' इत्यपि अस्य भवति। चारु द्रमति। चिरं द्रमति। चमेर्वा पूर्वम्।

'चारु' रुचेर्विपरीतस्य।

तस्य एषा भवति—॥५॥

अर्थ :-"यत्त्वा देव! प्रपिबन्ति तत आप्या-यसे पुनः०" हे देव! सोम! जो तुझे तीनों मुख्य२ सवनों में ऋत्विज् और यजमान पान करते हैं-पीना आरम्भ करते हैं, तब फिर तू बढ़ता है। (यह व्याख्या नाराशंसों के अभिप्राय से है-इस में सोम को मनुष्य पीते हैं और वह बढता है, इस लिये मनुष्यों के संबन्ध से यह व्याख्या है।) अथवा ये पूर्वपक्ष [शुक्लपक्ष] और अपरपक्ष (कृष्णपक्ष) हैं-हे देव! सोम! (चन्द्र!) जब अपरपक्ष या कृष्णपक्ष में तुझे रश्मिएं पान कर जाती हैं, तो फिर तू पूर्वपक्षमें [शुक्लपक्षमें] कलाओं से बढ जाता है। [यह अधिदैवत पक्ष है।]

"वायुः सोमस्य रक्षिता" वायु सोमका रक्षा करनेवाला

है। [इस वाक्य में मन्त्र का दृष्टा ऋषि वायुको सोमका रक्षक कहता है। क्योंकि—वायु के साथ ही वह विचरता है, वायुके विना कभी नहीं रहता। अथवा रस के हरण से वायु सोमका रक्षक है। क्योंकि—वह सब रसों का शोषण करने वाला है, वह सोम को सुखा देनेमें समर्थ होकर भी उसे नहीं सुखाता; इस से उसका रक्षक है॥] [यह पाद दोनों पक्षोंमें समान है]

"समानां मास आकृतिः" सोम ओषधि अथवा चन्द्रमा अपने रूप विशेषों से, अपने रूपों के भेदों से समाओं का (संवत्सरों का) मास रूप होकर करने वाला है। (चन्द्रमा शुक्लपक्ष में एक २ दिन में एक २ कला से बढ़ता हुआ पन्द्रह दिन में पूर्ण कलावान् होजाता है और कृष्णपक्ष में एक२ कला से घटता हुआ पन्द्रह दिन में सब कला शून्य होजाता है इस प्रकार दो पक्षों के द्वारा एक मास और बारह मासों से एक संवत्सर को बना देता है। उसी प्रकार सोम ओषधि के भी पन्द्रह (१५) पत्ते होते हैं, और चन्द्रमा की कलाओं के साथ२ एक २ दिन में एक २ पत्ता उगता है और उसी क्रम से पन्द्रह दिन में पन्द्रह पत्ते होजाते हैं, तथा कृष्णपक्ष में एक२ पत्ता घटकर पन्द्रह दिन में सोम पत्ररहित होजाता है और चन्द्रमा के समान ही दो पक्षों के द्वारा मासको और बारह मासों के द्वारा संवत्सर को बना देता है इस रीति के अनुसार दोनों ही (ओषधि और चन्द्रमा) संवत्सर रूप कालके निर्माता हैं।]

'चन्द्रमाः' क्यों? 'चायन्द्रमति' देखता हुआ चलता है- सब प्राणियों के ऊपर स्थित हुआ हुआ देखता हुआ जाता है। 'चायन्' से पूर्व भाग और 'द्रमति' से उत्तर भाग

है। अथवा 'चन्द्रो माता' चन्द्र जो माता = सबका निर्माता, सो 'चन्द्रमा' है। यहां 'चन्द्र' से पूर्व भाग और 'माता' से दूसरा भाग है। अथवा 'चान्द्रं मानम् अस्य' इसका चान्द्रमान है, इससे चन्द्रमा है। वही पूर्व और वही उत्तर पद है। पहिले में कर्मधारय और दूसरे में बहुव्रीहिसमासका भेद है।

'चन्द्र' किस धातुसे है? कान्ति अर्थ में 'चन्द' (भ्वा० प०) धातु से।

'चन्दन' यह शब्द भी इसी धातु का है। अथवा 'चारु द्रमति' सुन्दर द्रमण (गमन) करता है, इससे चन्दन है। अथवा 'चिरं द्रमति' चिर काल तक द्रमण करता है, अथवा 'चम्यमानोद्रमति' देवताओं से भक्षण किया जाता हुआ द्रमण करता है, इससे 'चन्दन' है। इस पक्ष में 'चम' (भ्वा० प०) धातु से पूर्व पद और उसी 'द्रम' धातु से उत्तर पद है।

'चारु' कैसे? 'रुचि' शब्द को उलटा देने से है।

"तस्य" उस (चन्द्रमा) की यह ऋचा है ॥५॥

(खं० ६)

निरु०- "नवो नवो भवति जायमानोऽन्हां केतुरुषसामेत्यग्रम्। भागं देवेभ्यो विदधात्या-यन् प्रचन्द्रमा स्तिरते दीर्घमायुः ॥" [ऋ० सं० ८, ३, २४, ४] ॥

"नवो नवो भवति जायमानः" इति पूर्वपक्षादिम्-अभिप्रेत्य। "अन्हां केतुरुषसामेत्यग्रम्" इति अपरपक्षान्तम्- अभिप्रेत्य। 'आदित्यदैवतो

द्वितीयः पादः, इत्येके। "भागं देवेभ्यो विदधात्या-यन्"- इति अर्द्धमासेज्याम्-अभिप्रेत्य । प्रवर्द्धयते चन्द्रमा दीर्घमायुः ॥

'मृत्युः' मारयति- इति सतः "मतं च्यावयति इति वा शतबलाक्षो मौद्गल्यः ।

तस्य एषा भवति ॥६॥

अर्थः-"नवोनवो भवति०" इस ऋचा का सूर्या (सूर्य पत्नी) ऋषि है दूवाश चान्द्रमस चरुमें और राजयक्ष्म-गृहीतेष्टि में विनियोग है ।

"नवो नवो भवति जायमानः" (चन्द्रमा उत्पन्न होता हुआ नया नया होता है' यह पाद पूर्वपक्ष (शुक्ल-पक्ष) के आरम्भ के अभिप्राय से है। क्योंकि— शुक्लपक्ष के आदि में सदा ही प्रतिमास सूर्य के अस्त होने के पीछे पश्चिम दिशा में अपनी वृद्धि का आरम्भ करता हुआ उदय होता हुआ नया नया होता है ।

"अन्हां केतुः-उषसाम्-एति अग्रम्." 'दिनोंका केतु = लक्षण या करने वाला चन्द्रमा उषाओं के आगे आता है, यह द्वितीय पाद अपरपक्ष या कृष्णपक्ष के अन्त (समाप्ति) के अभिप्राय से है। क्योंकि- कृष्णपक्ष के अन्त में क्षीण हुआ चन्द्रमा जो अपनी कलाओं के घटाव बढाव से अथवा गतियों के भेद से प्रतिपदा आदि तिथियों को बता देता है, उषा के प्रकाश के समीप में अर्थात् सूर्य के उदय से पहिले पूर्व दिशामें दिखाई देता है। कोई

आचार्य कहते हैं कि—यह दूसरा पाद आदित्य देवता का है "भागं देवेभ्यो विदधाति आयन्" 'आता हुआ चन्द्रमा देवताओं के लिए उनके भागको देता है। यह तीसरा पाद आधे मास के यज्ञके अभिप्राय से है। क्योंकि—पूर्वोक्त रीतिके अनुसार क्रमसे पश्चिम और पूर्व दिशामें आता हुआ शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष को जुदा २ करदेता है तथा दर्शपौर्ण-मास यज्ञों के द्वारा देवताओं को उनका भाग देता है या देने का हेतु होता है। "प्रचन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः" सो ऐसा चन्द्रमा यज्ञकरने वालों को लम्बी आयु (उमर) देता है। [हम भी हविः से उसका यजन करते हैं, इस कारण हमारे लिये भी ऐसा करे, यह हम चाहते हैं।] ॥

'मृत्यु' (४) किस धातुसे है? "मारयति" 'मारता है' कर्त्ता अर्थमें 'मृङ्' प्राणत्यागे [तु०आ० णिच्] धातुसे है। क्योंकि-मध्यम लोक का प्राण वायु ही मृत्यु है, वही निकलता हुआ अन्य प्राणों को भी शरीर से अलग कर देता है। अथवा "मृत (मरेहुए या जिसकी आयु पूरी होचुकी हो) को यह अपने अलग होने से इस लोक से प्रच्युत करदेता या लोकान्तर में चला देता है।" ऐसा शतबलाक्ष मौद्गल्य का पुत्र मानता है।

"तस्य०" उस मृत्यु की यह ऋचा है—॥ ६ ॥

व्याख्या।

शतबलाक्ष के मत का अभिप्राय,— वे समझते हैं कि—

इस ऋचा से पहिले " पूर्वापरं चरतो माययैतो " (ऋ० सं० ८, ३, २३, ३) अर्थात्-'ये दोनो [सूर्य और चन्द्रमा) माया से पूर्व और पश्चिम विचरते हैं' यह ऋचा है जो मित्रावरुण देवताओं के एक हविः में विनियोग की गई है। इसी की अपेक्षा से यह ऋचा भी सूर्य चन्द्रमा दोनों देवताओं की है। क्योंकि—इस में भी ,, अन्हां केतुः " दिनों का करने वाला यह विशेष लिङ्ग है इस पक्ष में केवल दूसरा पाद सूर्य की स्तुति और शेष तीन पाद चन्द्रमा की स्तुति हैं। जैसे— (जो चन्द्रमा उत्पन्न होता हुआ नया २ होता है, जो देवताओं को भाग देता है, और जो दीर्घ आयु को देता है, सो हमारे लिये यह करे। और जो सूर्य अपने उदय अस्त के द्वारा दिनों को करने वाला है, तथा उषाओं के आगे चलता है, वह हमारे लिये ऐसा करे। ' (यह हम चाहते हैं) ॥

चन्द्रमा मध्यमस्थान है। यद्यपि पौराणिक आचार्य चन्द्रमा को सूर्य से भी हजारों लाखों योजन ऊंचा कहते हैं तथापि "सभी देवता द्युस्थान हैं और उनका विशेष२ कर्मों के संयोगसे स्थानका भेद होजाता है" इस नियम के अनुसार मध्यस्थान के वृष्टि, वृत्र का वध और बलकृति ये विशेष कर्म हैं, और वे इन्दु के " वधैरजेन दुर्मतिम् " (नि० अ० १० पा० ४ खं० मन्त्र) में देखे जाते हैं, इन्दु और चन्द्रमा एक ही देवता प्रसिद्ध है, तथा इन्द्रके सूक्तों में बहुतायत से चन्द्रमा आता है, इस कारण से चन्द्रमा मध्य स्थान है द्युस्थान होने पर भी कर्म संयोग से मध्यस्थान हो

आता है। इस के अतिरिक्त यह भी है कि-चन्द्रमा औषधि सोम के रूप में पृथ्वी में आता है, और वह सोम इन्द्र मध्यम देव का अन्न है, अन्न अन्नके खाने वाले का आत्मा ही होता होता है, इस से भक्ष्य भक्षक के अभेद के द्वारा भी चन्द्रमा मध्यम होता है। इस प्रकार चन्द्रमा के मध्यम होने में कोई दोष नहीं ॥

"नवो नवो भवति" इस मन्त्र में प्रतिमास नये उगने वाले चन्द्रमा में दीर्घ आयु देने का गुण वर्णन किया है, इसी मन्त्र के मूलपर लोग अब भी नए चन्द्रमा का दर्शन अपनी मङ्गल कामना से करते हैं ॥ ६ ॥

(खं० ७)

निरु०-"परं मृत्यो अनुपरेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात। चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजां रीरिषो मोत वीरान् ॥" (ऋ०सं०७,६ २६, १। य०वा०सं० ३५, ७। आ०गृ० ४,६)

परं मृत्यो ध्रुवं मृत्यो ध्रुवं परेहि मृत्युः कथितं तेन मृत्यो मृतं च्यावयते भवति मृत्यो मदेर्वा ॥ मुदेर्वा ।

तेषामेषा भवति ॥७॥

(खं० ८)

निरु०-"त्वेषमित्था समरणं शिमीवतोरिन्द्रा-विष्णू सुतपा वा मुरुष्यति या मर्त्याय प्रति

धीयमानामित् कृशानोरस्तु रक्षनामुरुष्यथः ॥"
(ऋ० सं० २, २, २५, २.) इति सा निगद-
व्याख्याता ॥

'विश्वानरो' व्याख्यातः ।

तस्य-एषा भवति ॥८॥

अर्थ :-"परं मृत्यो०" इत्यस्याः संकुसुको नाम ऋषिः आद्य होमे पुत्रकामके कर्मणि स्थालीपाकविधाने षड़ाहुतिः ।

'मृत्यो !' हे मृत्यु देव (त्वम्) तू 'परम्' अन्य 'पन्थाम्' (पन्थानम्) मार्ग को 'अनुपरेहि' दूर जा । कौन से मार्ग को 'यः' जो 'ते' तेरा 'स्वः' निजका है । वह कौन ? 'देवयानात्' देवमार्ग से 'इतरः' । भिन्न । [क्योंकि—हम देवयान में स्थित हैं, इस से तुझ से घबराने योग्य नहीं हैं, तेरा पितृयान है, उसी को तू जा ।] 'ते' तुझ 'चक्षुष्मते' नेत्र वाले के लिये 'शृण्वते' सुनने वाले के लिये 'ब्रवीमि' कहता हूं कि—'मा' मत 'नः' हमारी 'प्रजाम्' प्रजा (पुत्र पौत्र आदि) को 'रीरिषः' मार 'उत' और 'मा' मत 'वीरान्' हमारे आश्रित पुरुषों को (मार) अर्थात् अन्धे को दिखाना और बहरे को सुनाना दोनों व्यर्थ होते हैं, तुझ में दोनों दोष नहीं, इससे जो हमारी देवयान में स्थिति है उसे तू आंखों से देखता है और कानों से सुनता है, अतः हमारी प्रार्थना के निष्फल होने की तुमसे कभी संभावना नहीं है । हमारे पुत्र पौत्र आदि से सदा तू दूर ही रहेगा । अथवा देवयान में चलने वाले क्रम से मुक्त होजाते हैं और अन्य मार्ग वाले संसार ही में घूमते रहते हैं,

इस कारण देवयान में चलने वालों को मृत्यु का भय नहीं होता, वह दूसरों को ही होता है।

'परं मृत्यो'० इत्यादि भाष्य की पंक्ति लेखक भ्रम आदि से असम्बद्ध होगई है। भगवद्दुर्गाचार्य की टीका में इसकी व्याख्या नहीं है। मन्त्र के शब्द जो इस भाष्य में मिले हुये हैं, उनकी टीका की जा चुकी है। अतः इसकी यथाक्रम व्याख्या नहीं की जा सकती।

'तेषामेषा भवति' यह अवतरणिका अपने से आगे आने वाली ऋचा से सम्बन्ध नहीं करती। कारण, यह अवतरणिका बहु देवताओं की ऋचा का आवाहन करती है, और जो इसके सामहने ऋचा आती है, वह इन्द्राविष्णु दो देवताओं की है। अतः यह भी पाठ किसी अनभिज्ञ लेखक के द्वारा यहां असंबद्ध ही प्रक्षिप्त हुआ है। यहां से कुछही आगे चलकर ८वें शब्द से "मरुतः" आदि आठ गण देवता आते हैं, उनमें ५ देवताओं के अवतरण सर्वथा ऐसे ही हैं। उनके सम्पर्क से यह दोष हुआ प्रतीत होता है।

"त्वेष मित्था समरणम्०" इस ऋचा के उपन्यास का यहां पर गम्भीर या दुरधिगम कारण प्रतीत होता है। क्यों कि—प्रथम तो जिन इन्द्राविष्णु देवताओं की यह ऋचा है, उनका देवता पदों में पाठ ही नहीं है। दूसरे कोई अवान्तर प्रसंग भी नहीं और न इसका आगे पीछे कहीं प्रयोजन ही है। इसके अतिरिक्त "त्वेष मित्था०" यह अध्याय के अन्त में खण्डसूत्र में प्रतीक भी दिया है। इस लिये यह ऋचा कब से और क्यों यहां प्रविष्ट हुई इसका निर्णय हम नहीं कर

सकते। हां यह ऋचा ऋक्संहिता में है और सायणाचार्य का इस पर व्याख्यान है। इस लिये इसकी व्याख्या हम भी कर देते हैं।

"त्वेष मित्था०" यह ऋचा सोमातिरेक में तृतीय सवन में वैकल्पिकी याज्या है। जैसा कि—सूत्र में कहा है—
"त्वेष मित्था समरणं शिमीवतोरिति वा याज्येति"।

"त्वेषमित्था०" हे इन्द्राविष्णू! इन्द्र विष्णु देवताओ! 'शिमिवतोः' वाञ्छित फल के देने वालो' 'वाम्' (युवयोः) तुम दोनोंके 'इत्था' (इत्थम्) इस प्रकारके 'त्वेषम्'(प्रदीप्तम्) प्रज्वलित जगमगाते हुये 'समरणम्' यज्ञ देशमें शुभागमनको 'सुमपाः' होम से बचे हुये सोम को पीये हुये यजमान 'उरुष्यति' (रक्षति) रक्षा करता है- याग से पूजता है= सत्कार करता है। तुम में बड़ाई या गुण क्या है? 'या' (यौ) जो [इन्द्राविष्णू] तुम दोनों इन्द्र और विष्णु 'मर्त्याय' हविः के देने वाले यजमान मनुष्य के लिये 'प्रतिधीयमानम्-इत्' (प्रतिधातव्यम्)देने योग्य 'असनाम्' अन्न आदिको 'अस्तुः' शत्रुओं के हटाने वाले 'कृशानोः' [अग्नेः] अग्नि से 'उरुष्यथः' प्रवृत्ति कराते हो। अर्थात्- अग्नि मे होम किये हुये हविः को स्वीकार करके उसी के द्वारा अभिमत फलको देते हो।(सा०भा०)

यह यहां पर बड़े आश्चर्य की बात है कि- एक ही स्थान में मूल में तीन विलक्षण २ विभ्रम होगये हैं॥

'विश्वानर' (५) शब्द की व्याख्या(अ०७ पा०६, खं०६) की जाचुकी है॥

"तस्य०" उस (विश्वानर की यह ऋचा है ॥८॥

(खं० ९)

निरु०- " प्र वो महे मन्दमानायान्धसोऽर्चा विश्वानराय विश्वाभुवे। इन्द्रस्य यस्य सुमखं सहो महिश्रवो नृम्णञ्च रोदसी सपर्य्यतः ॥" [ऋ० सं० ८, १, ९,१] ॥(य० वा० सं० ३३,३५]॥

प्रार्चत यूयं स्तुति महते'अन्धसः' अन्नस्य दात्रे 'मन्दमानाय' मोदमानाय स्तूयमानाय शब्दायमानाय- इति वा विश्वानराय सर्वं विभूताय इन्द्रस्य यस्य प्रीतौ सुमहद् बलं महच्च श्रवणीयं यशो नृम्णं च बलं नृनतं द्यावापृथिव्यौ वः परिचरत- इति कम्- अन्यं मध्यमाद्- एवम् अवक्ष्यत्।

तस्य एषा अपरा भवति ॥९॥

अर्थः-"प्रवोमहे०" इस ऋचा का वैकुण्ठ ऋषि है। जगती छन्द और महाव्रत में विनियोग है॥

(हे स्तोतारः!) हे स्तुति करने वालो! (यूयम्) तुम 'महे' (महते) बड़े 'मन्दमानाय' (मोदमानाय) हर्ष करते हुये (स्तूयमानाय) अथवा स्तुति किये जाते हुये (शब्दायमानाय इति वा) अथवा शब्द (गर्जना) करते हुये'अन्धसः'(अन्नस्य) (दात्रे) अन्न के देने वाले 'विश्वाभुवे' (सर्वं विभूताय) सब

विभूतिओं से युक्त 'विश्वानराय' विश्वानर देव के लिये (स्तुतिम्) स्तुति को 'प्र—अर्च' (प्रार्चत) उच्चारण करो या दूसरों की कीहुई स्तुति को सराहो। 'यस्य' जिस 'इन्द्रस्य' ईश्वर (विश्वानर) का 'सुमखम्' (सुमहत्) सुन्दर बड़ा 'सहः' (बलम्) बलको 'महि—च' (महत्व) और बड़े 'श्रवः' (श्रवणीयं यशः) श्रवण करने योग्य यश को 'नृम्णं—च' और बल को (नृन् नतम्) जो मनुष्यों के प्रति विशेष रूप से झुका हुआ है 'वः' और तुम्हारी इस स्तुति को 'रोदसी' (द्यावापृथिव्यौ) द्यावा पृथिवी 'सपर्य्यतः' (परिचरतः) अनुमोदन करते हैं या सराहते हैं॥ इस प्रकार किस मध्यम से अन्य को (मन्त्र का द्रष्टा ऋषि) कहता।

"तस्य एषा।" (उस विश्वानर)की यह और ऋचाहै॥९॥

(खं० १०)

निरु०—"उदु ज्योतिरमृतं विश्वजन्यं विश्वानरः सविता देवो अश्रेत्॥" (ऋ०सं० ५,५,२३,१]
उदशिश्रिय ज्ज्योतिरमृतं सर्वजन्यं विश्वानरःसविता देवः- इति॥

'धाता' सर्वस्य विधाता॥

तस्य एषा भवति—॥१०॥

अर्थः-"उदुज्योतिः०" इस ऋचा का वसिष्ठ ऋषिहै। प्रातरनुवाक में विनियोग है।

सविता सब लोकों को कर्म में प्रेरणा करनेवाले 'विश्वा-

नरः' 'देवः' विश्वानर देव ने 'विश्वजन्यम्' (सर्वजन्यम्) सब जनों के लिये हित 'अमृतम्' अमर सूर्यनाम 'ज्योतिः' ज्योति को 'उद्-अश्रेत्' (उदशिश्रियत्) ऊपर को उठाया है क्योंकि—सब चलने वाले पदार्थों की गति वायु से ही होती है, इस कारण सूर्य का भी ऊपर को उठाना या चलाना उसी का कार्य्य हो सकता है। इस प्रकार 'विश्वानर' ज्योति को उठाता है। इस कथन से 'विश्वानर' मध्यम होता है। इसी अभिप्राय को लेकर कहा है-"कमन्यं मध्यमादेव-मवक्ष्यत्" मध्यम के अतिरिक्त और किस को ऐसा कहा जाता।

इस ऋचाका आधा पिछला भाग उषा देवता का है, इससे भाष्यकार ने उसे यहाँ छोड़ दिया है।

'धाता' (६) क्यों? 'सर्वस्य विधाता' सब का करने वाला है। क्योंकि—सब की सृष्टि जलसे ही होती है, इससे यह देवता मध्यम है।

"तस्य०" उस धाता की यह ऋचा है ॥१०॥

(खं० ११)

निरु०—"धाता ददातु दाशुषे प्राचीं जीवातुमक्षिताम्। वयं देवस्य धीमहि सुमतिं सत्यधर्मणः" (अ०सं० ७, १७, २)

धाता ददातु दत्तवते प्रवृद्धां जीविकाम्-अनुपक्षीणां, वयं देवस्य धीमहि सुमतिं कल्याणीं मतिं सत्यधर्मणः।

'विधाता' धात्रा व्याख्यातः ।

तस्य एष निपातो भवति बहुदेवतायाम् ऋचि ॥ ११ ॥

अर्थ :–"धाता ददातु०" इस ऋचाका वामदेव ऋषि है। देविकाओं में धाता के हविः में विनियोग है।

'धाता' धाता देव 'दाशुषे' जिसने अपने अर्थ हविः दी है, उसके लिये 'प्राचीम्' (प्रवृद्धाम्) बढी हुई 'अक्षिताम्' (अनुपक्षीणाम्) नहीं घटने वाली 'जीवातुम्' (जीविकाम्) जीविका को 'ददातु' (ददाति) देता है। 'वयम्' हम (तस्य) उस 'सत्यधर्मणः' सत्य धर्म वाले 'देवस्य' देव की 'सुमतिम्' (कल्याणीं मतिम्) शुभ मति (बुद्धि) को 'धीमहि' ध्यान करते हैं।

'विधातृ' (६) शब्द की 'धातृ' शब्द से व्याख्या होगई।

"तस्य" उस 'विधाता' का यह बहुत देवताओं की ऋचा में निपात है-॥११॥

(खं० १२)

निरु०-"सोमस्य राज्ञो वरुणस्य धर्मणि बृहस्पतेरनुमत्या उ शर्मणि । तवाहमद्य मघवन्नुपस्तुतौ धातर्विधातः कलशान् अभक्षयम् ॥"
[ऋ० ८, ८, २५, ३]

इति-एताभि दैवताभिः—अभिप्रसूतः सोमकलशान् अभक्षयम्-इति ।

'कलशः' कस्मात् । कला अस्मिन् शेरते मात्राः ।
'कलि'श्च 'कला'श्च किरतेः विकीर्णमात्राः ।१२।
इति एकादशाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥११,१॥

अर्थ :—"सोमस्य राज्ञः०" इस ऋचा का विश्वामित्र ऋषि है।

"सोमस्य राज्ञः धर्माणि (कर्माणि) सोम राजा के कर्म में प्रवृत्त होता हुआ, "वरुणस्य, बृहस्पतेः, अनुमत्याः उ (च) शरणे (आश्रये)" वरुण, बृहस्पति और अनुमति के आश्रय में वर्त्तमान "हे मघवन् ! तव, हे धातः ! विधातः ! युवयोश्च उपस्तुतौ (वर्त्तमानः) अहम् कलशान् अभक्षयम्" हे मघवन् ! इन्द्र ! तेरी और हे धातृदेव ! और हे विधातृदेव ! तुम दोनों की उपस्तुति में वर्त्तमान रहकर मैंने (तुम्हारी सबकी प्रेरणासे प्रेरित होकर) सोम के कलश पान किये हैं।

'कलश' क्यों ? 'कलाः अस्मिन् शेरते' इस में सोमकी कुछ कला या मात्राएं सोम निकाल लेने पर भी बनी रहती हैं। 'कला' शब्दसे पूर्व भाग और शयन अर्थमें 'शीङ्' (अदा०आ०) धातु से उत्तर भाग है।

'कलि' और 'कला' दोनों शब्द विक्षेप अर्थ में 'कॄ' [तु०प०] धातु से हैं। क्योंकि—'कलि' या कलह में परस्पर में वचनों का विक्षेप होता है, और कला (मात्रा) भी किसी समुदाय से विक्षिप्त (फेंकी हुई) जैसी होती है।

इति हिन्दीनिरुक्ते एकादशाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥११,१॥

द्वितीयः पादः ॥

(खं० १)

निघण्टुः–मरुतः ॥ ८ ॥ रुद्राः ॥ ९ ॥ ऋभवः ॥ १० ॥ अङ्गिरसः ॥ ११ ॥ पितरः ॥ १२ ॥ अथर्वाणः ॥ १३ ॥ भृगवः ॥ १४ ॥ आप्त्याः ॥ १५ ॥

निरुक्तम्– अथातो मध्यस्थाना देवगणाः । तेषां मरुतः प्रथमागामिनो भवन्ति । 'मरुतो' मितराविणो वा मितरोचिनो वा । महद् द्रवन्ति–इति वा । तेषाम्–एषा भवति ॥ १ (१३) ॥

अर्थः– अब यहां से मध्यस्थान के देवगण हैं–दशम अध्याय और ग्यारहवें अध्याय के प्रथम पाद में मध्यस्थान के 'वायुः' आदि ३२ और 'श्येनः' आदि ७ देवता कहेगए वे सब एक २ देवता हैं, उन सब में एक वचन आता है। जिससे कि–एक २ देवता कहे गए, इससे अब मध्यस्थान के देवगण = देवताओं के समूहों के नाम–जिनमें सदा बहुवचन रहता है, कहे जाते हैं। ये सब एक २ नाम से बहुत २ देवता माने जाते हैं– इनमें एक २ नाम से देवताओं की अवान्तर जातिएं बताई जाती हैं। इन्हीं की सूचना के लिये 'अथ' शब्द से यह अवान्तर अधिकार सूचित किया है।

'तेषाम्०" उन देवगणों में मरुत् पहिले आते हैं। [क्यों-कि-वृष्टि कर्म में पहिला कार्य ये ही करते हैं।]

'मरुत्' (८) क्यों हैं? वे मित रवण करते हैं-मन्द २ मिला हुआ शब्द करते हैं। किसी के मत में अमित रवण करते हैं [भाष्यके पाठ में 'अकार की सन्धि भी निकल सकती है, इसी पर यह दूसरा मत अवलम्बित है]। अथवा मित रोचते हैं, थोड़ा२ प्रकाशते हैं। किसी के मतमें अमित (बहुत) रोचते हैं इससे 'मरुत्' हैं। अथवा महत् द्रवण करते हैं-बड़ी दौड़ करते हैं इस से 'मरुत्' हैं।

"तेषाम्०" उन मरुतों की यह ऋचा है ॥१ (१३)॥

व्याख्या।

मरुतः। इस पद में 'मरुत्' शब्द से प्रथमा विभक्ति का बहुवचन संयुक्त है। इससे बहुत मरुत् देवताओं की प्रतीति होती है। जब वायु देवता ही भेद से देखाजाता है, तब वही मरुत् नाम वाला तथा बहुवचन के योग्य हो जाता है। ये कोई दूसरे देवता नहीं हैं। इसी से इन आठ गण देवताओं में इनके प्रथम आने का कारण वही है, जो वायु का है। अर्थात— इनके प्राथम्य के जानने के लिये वायु देवता का व्याख्यान पढना चाहिये। विशेष यही है कि-जब कोई कर्म बहुत रूपों का ही साध्य होता है, तब वह मध्यम देव वायु ही बहुधा (बहुरूप) हो जाता है। बहुवचन युक्त मरुत् नाम वाले जो ४६ वायु के रूप हैं, उन में सात (७) सात (७) के ७ गण (समूह हैं, और उनके शुक्रज्योतिः, चित्रज्योतिः,-इत्यादि पृथक् २ नाम भी हैं। इन सब का कारण भी कर्म और बुद्धि का भेद ही है। ये सप्त गण मारुत गणों के श्रौत

कर्म में जहां सप्त कपाल पुरोडाश होते हैं, तथा पुराणों में इसी प्रकार से प्रसिद्ध हैं। दिति ने अपने पुत्र वृत्रासुरके वध का बदला लेने के लिये पुंसवन व्रत धारण करके मारीच कश्यप से इन्द्र को वध करने वाला एक गर्भ धारण किया था इन्द्र ने समय पाकर उस गर्भ के ७ टुकड़े किये और उन में एक २ के फिर सात २ टुकड़े किये। दिति के तप के प्रभाव से वे मरे नहीं, किन्तु ४९ मरुत् देवता होगये। (श्री० भा० स्कं० ६ अ० १८)

नैरुक्तों के मतमें तो ये सभी मध्यम लोक के आठों गण (८-१५) मरुत् [वायु] ही हैं। जैसा कि-वार्त्तिक में कहा है-

"मध्यमा वाक् स्त्रियः सर्वाः पुमान् सर्वश्चमध्यमः।
गणाश्च सर्वे मरुतो गणभेदाः पृथक्कृतेः॥"

अर्थात्-अदिति (१६) आदि मध्यम लोक की २, स्त्रियें मध्यमा वाक् देवता है। मध्यम लोक के वायु आदि, पुरुष देवता मध्यम वायु या इन्द्र देवता है। और मध्यम लोक के सब मरुतः (८) आदि आठ गण देवता मरुत् ही हैं। इन के गण भेद भी कर्म के भेद से कल्पित हैं।

(खं० २)

निरु०-"आविद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कैरथेभिर्यात ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः। आवर्षिष्ठया न इषा वयो न पप्तता सुमायाः॥" (ऋ० सं० १, ६, १४, १)॥

"विद्युन्मद्भि मरुतः स्वर्कैः" स्वञ्चनैः-इति वा, स्वर्चनैः-इति वा, स्वर्चिभिः-इति वा, रथैः आयात

ऋष्टिमद्भिः अश्वपर्णैः अश्वपतनैः वर्षिष्ठेन च नः अन्नेन वयः इव आपतत 'सुमायाः' कल्याणकर्माणो वा, कल्याणप्रज्ञा वा।

'रुद्रा' व्याख्याताः।

तेषाम्-एषा भवति- ॥ २ [१४] ॥

अर्थ.-"आविद्युन्मद्भिः०" इस ऋचा का गोतमऋषि है। आस्तार पंक्ति छन्द है।

'मरुतः' हे मरुत् देवो! (यूयम्) तुम सब 'विद्युन्मद्भिः' निराली चमक वाले (बिजली वाले) 'स्वर्कैः' (स्वञ्चनैः) सुन्दर गमन वाले (स्वर्चनैः इति वा) अथवा सुन्दर पूजन वाले [पूजे जाने वाले](स्वर्चिभि इतिवा)अथवा सुन्दर किरणोंवाले 'ऋष्टिमद्भिः' आयुधों वाले या अकाल के नाश करने वाले 'अश्वपर्णैः' अश्व (घोड़े) वाहनों वाले या वज्र के गिराने वाले 'रथेभिः' रथों से या मेघों से 'आयात' आओ। 'सुमायाः' (कल्याणकर्माणो वा) हे सुन्दर कर्मों वाले ! (कल्याणप्रज्ञा वा) या सुन्दर प्रज्ञा (बुद्धि)वाले! मरुतो! 'वर्षिष्ठया' (वर्षिष्ठेन) बड़े श्रेष्ठ 'इषा' अन्न) अन्नके सहित 'वयः न' पक्षियों के समान 'आपप्तत' [आपतत] आओ।

'रुद्र' (९) व्याख्यान किये जाचुके [अ०१०पा०१खं०५]।

"तेषाम्०" उन रुद्रों की यह ऋचा है ॥२(१४)॥

(खं० ३)

निरु०-"आरुद्रास इन्द्रवन्तः सजोषसो हिरण्य-

रथाः सुविताय गन्तन । इयं वो अस्मत् प्रति हर्यते मतिस्तृष्णजे न दिव उत्सा उदन्यवे ॥ ”
(ऋ०सं०१,३, २१, १) ॥

आगच्छत रुद्रा इन्द्रेण सहजोषणाः सुविताय कर्मणे इयं वो अस्मदपि प्रति कामयते मति-तृष्णजे इव दिव उत्सा उदन्यवे इति ।

'तृष्णक्' तृष्यतेः ।

'उदन्युः' उदन्यतेः ॥

'ऋभवः' उरु भान्ति-इति वा । ऋतेन भान्ति-इति वा । ऋतेन भवन्ति- इति वा ।

तेषाम्- एषा भवति ॥३ (१५)॥

अर्थः-“आरुद्रासः०” यह ऋचा श्यावाश्व ऋषि की है। जगती छन्द और आग्निमारुत में शस्त्र है।

'रुद्रासः' (रुद्राः !) हे रुद्र देवो! (यूयम्)तुम“ इन्द्रव-न्तः-सजोषसः” (इन्द्रेण सह जोषणाः) इन्द्र के साथ प्रीति युक्तहोते हुये या इन्द्र नाम ऐश्वर्यसे युक्त होते हुए 'हिरण्य-रथाः' सोने के रथ वाले या जल के हरण के अर्थ रंहण (सरकने) वाले 'सुविताय ' (कर्मणे) सुन्दर सगुण कर्म के लिये या शास्त्र के अनुसार किए जाते हुए कर्म की प्राप्ति के लिए 'आगन्तन' (-आगच्छत) आओ। 'इयम्' यह ' अस्मत् ' आप हमारी भी 'मतिः' मति(बुद्धि) 'वः' (युष्मान्)तुम्हारे पास 'प्रति-

इर्यते ' प्रति गमन करती है— जिस प्रकार पहिले से ही तुम हमारे हविः की इच्छा करते हो, उसी प्रकार हमारी बुद्धि भी तुम्हारे प्रति जातीहैकि-'तुम्हारे विना इनअङ्गों से गुण युक्त भी हमारा यह कर्म विगुण (अङ्गहीन) न हो। जिस प्रकार ब्राह्मण पहिले से ही न्यूते की इच्छा करते हैं, उसी प्रकार देवता भी पहिले से हविः की इच्छा करते हैं। इस अर्थ को श्रुति भी कहती है-

"देवता वै सर्वा आशंसन्ति ग्रहे गृह्यमाणे मह्यं गृह्णाति"

अर्थात्-सब देवता ग्रह(हविः)लिए जाने के समय इच्छा करते हैं कि-मेरे लिये ग्रहण करता है। इसीसे कहा है कि-

"हमारी मति तुम्हारे समीप प्रति गमन (गमन के सामने गमन) करती है।"

कैसे जाती है? 'तृष्णजे' ग्रीष्म (गरमी)में 'दिवः' द्युलोकसे 'उदन्यवे' जलके चाहने वाले लोक या बालक के लिए'उस्त्राः न' जैसे मेघ आते हैं। उसीप्रकार तुम हमारे यज्ञ में आओ॥

'तृष्णज' कैसे? पिपासा अर्थ में 'तृष' (दि० प०) धातु से है।

'उदन्यु' कैसे? 'उदन्य' नाम धातु से। 'उदन्यु' उदक [जल] की इच्छा करने वाला।

'ऋभु' [१०] कैसे 'उरु भान्ति' वे बहुत चमकते हैं। 'ऋतेन भान्ति इति वा'अथवा वे सत्य से चमकते हैं। 'ऋतेन भवन्ति इति वा' अथवा वे सत्य से होते हैं।

"तेषाम्०" उन ऋभुओं की यह ऋचा है॥३[१५]॥

[खं० ४]

निरु० "विष्ट्वी शमी तरणित्वेन वाघतो मर्त्तासः सन्तो अमृतत्वमानशुः । सौधन्वना ऋभवसूरचक्षसः संवत्सरे समपृच्यन्त धीतिभिः ॥" (ऋ० सं० १, ७, ३०, ४) ॥

कृत्वा कर्माणि क्षिप्रत्वेन वोढारो मेधाविनो वा मर्त्तासःसन्तःअमृतत्वम् आनाशिरे ;सौधन्वनाः ऋभवः सूरख्याना वा,सूरप्रज्ञा वा,संवत्सरे समपृच्यन्त धीतिभिः कर्मभिः ॥

ऋभुः विभ्वा,वाजः,-इति सुधन्वनः आङ्गिरसस्य त्रयः पुत्रा बभूवुः, तेषां प्रथमोत्तमाभ्यां बहुवत् निगमा भवन्ति,न मध्यमेन। तदेतदृभोश्च बहुवचनेन चमसस्य च संस्तवेन बहूनि दशतयीषु सूक्तानि भवन्ति ।

आदित्यरश्मयः अपि ऋभवः उच्यन्ते ।

"अगोह्यस्य यदसस्तना गृहे तदद्येदमृभवो नानुगच्छथ ।" [ऋ० सं० २, ३, ६, १] ॥

'अगोह्यः'आदित्यः । आगूहनीयः । तस्य यद् अस्वपथ गृहे यावत् तत्र भवथ न तावद् इह भवथ इति ॥

'अङ्गिरसः' व्याख्याताः ।
तेषाम्—एषा भवति ॥४[१६]॥

अर्थ :—"विष्ट्वी शमी०" इस ऋचा का कुत्स ऋषि है आर्भव में विनियोग है।

'सौधन्वनाः' (सुधन्विनः पुत्राः) सुधन्वा के पुत्र 'सूरचक्षसः' [सूरख्याना वा] सूर्य के समान प्रकाश वाले (सूरप्रज्ञा वा) सूर्य के समान ज्ञान वाले 'वाघतः' (वोढारः) यज्ञ के चलाने वाले (मेधाविनो वा) मेधा (धारणा वाली बुद्धि) वाले 'ऋभवः' ऋभुओं ने "विष्ट्वी शमी" (कृत्वा कर्माणि) कर्मों को करके 'तरणित्वेन' [क्षिप्रत्वेन] जलदी से "मर्त्तासः सन्तः" [मनुष्याः सन्तः] मनुष्य होते हुए 'अमृतत्वम्' अमर भाव (देव भाव) को 'आनशुः' प्राप्त कर लिया था-सुधन्वा के पुत्र ऋभु कर्म की महिमा से शीघ्र ही देवता होगए थे। 'संवत्सरे' एक वर्ष में 'धीतिभिः' (कर्मभिः) कर्मों से 'समपृच्यन्त' संयुक्त हो गए थे - यज्ञ कर्म के अनुष्ठान में अपने अपूर्व कौशल से उन्हों ने एक ही वर्ष में या संवत्सर के विहित वसन्त आदि काल में कर्मों को समाप्त किया और उसी कर्मकी यथार्थता के फलसे वे शीघ्र ही देवता होगए-उनको कर्मके विपाक की बहुत काल तक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी।

"ऋभु०"। ऋभु, विभ्वा और वाज ये आङ्गिरस (अङ्गिरस् के पुत्र) सुधन्वा के तीन पुत्र हुये थे, उनमें पहिले (ऋभु) और तीसरे (वाज) के बहुतों के समान निगम हैं—इन दोनों

के नाम मन्त्रोंमें बहुवचनान्त आते हैं, किन्तु मध्यम (विभ्वा) के नहीं। सो यह—ऋभु के बहुवचन के साथ और चमस के संस्तव (एक साथ स्तुति) के साथ दृशतयी [ऋग्वेद के दश मण्डलों] में बहुत सूक्त हैं।

"आदित्यरश्मयः" । आदित्य (सूर्य) की रश्मिएं (किरणें) भी ऋभु कहलाती हैं।

"अगोह्यस्य०" '। ऋभवः ' हे ऋभुओ ! 'यद्' (यावत्) जबतक 'अगोह्यस्य' (आदित्यस्य) सूर्य के 'गृहे' (मण्डले) मण्डल में 'असस्तना:' (अस्वपथ) तुम सोते हो (भवथ) यो होते हो 'तद्' (तावत्) तब तक 'अद्य' (इह) यहां 'इदम्' इस जगत् को "न अनुगच्छथ" अनुसरण नहीं करते हो (न भवथ) अथवा यहां नहीं होते हो— जब तुम रात्रि के समय सूर्य मण्डल में प्रवेश कर जाते हो, तो यह जगत् तुम्हारे विना प्रकाश हीन होजाता है, इस तुम्हारे साहा-भाग्य (महिमा) को मैं अनुकीर्त्तन करता हूं, तुम मेरे इस कार्य्य को करो। इस मन्त्र में इस प्रकार 'ऋभु' नाम सूर्य की रश्मि-ओं का है॥

'अगोह्य' क्या ? आदित्य। क्यों वह अगूहनीय होता है किसी से भी छिपाया नहीं छिपता।

"अङ्गिरसो व्याख्याताः" अङ्गिरसों की व्याख्या [३, ३, ५] की जाचुकी।

"तेषाम्०" उन अङ्गिरसों की यह ऋचा है॥ ४ [१६]

(खं० ५)

निरु०-"विरूपास इदृषयस्तं इदु गम्भीरवेपसः'
ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परिजज्ञिरे ॥"
(ऋ० सं० ८, २, १, ५) ॥

बहुरूपा ऋषयः, ते गम्भीरकर्मणो वा, गम्भीर-प्रज्ञा वा । ते अङ्गिरसः पुत्राः । ते अग्नेः अधि-जज्ञिरे,-इति अग्निजन्म ।

'पितरो' व्याख्याताः ।

तेषाम् एषा भवति ॥५[१७]॥

अर्थ :-"विरूपासः०" इस ऋचाका नाभानेदिष्ट ऋषि है अनुष्टुप् छन्द और पार्ष्ठिक षष्ठ (छठे) अहन् में विनियोग है ।

'विरूपासः' (विरूपाः = नानारूपाः) अनेक रूप वाले (इत्) 'ऋषयः' कभी निष्फल न होने वाले प्रज्ञ (वेद) के देखने वाले (न केवल देखने वाले ही अपितु) 'गम्भीरवेपसः' (गम्भीरकर्मणो वा) अथवा गम्भीर कर्म वाले (गम्भीर-प्रज्ञा वा) अथवा गम्भीर बुद्धि वाले 'ते' वे 'अङ्गिरसः' अङ्गिरा के 'सूनवः' (पुत्राः) पुत्र 'ते' वे 'अग्नेः' अग्नि के रूप को प्राप्त हुए अङ्गिरा से 'परिजज्ञिरे' (अधिजज्ञिरे) उत्पन्न हुए । वे नानारूप वाले और गम्भीर कर्म वाले मेरा यह इष्ट करें । यह इनका अग्नि-जन्म है ।

'पितरः' (१२) (पितृ) व्याख्या किये जा चुके हैं [४,३,५] उनकी यह ऋचा है-॥५(१७)॥

(खं०६)

निरु०-" उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः । असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञा स्तेनोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥ " (ऋ० सं० ७, २, १७, १) (य० वा० सं० १९, ४९) ॥

उदीरताम् अवरे, उदीरतां परे, उदीरतां मध्यमाः पितरः सोम्याः सोमसम्पादिनः ते, असुं ये प्राणम् अन्वीयुः अवृकाः अनमित्राः सत्यज्ञा वा, यज्ञज्ञा वा, ते नः आगच्छन्तु पितरोह्वानेषु ॥

माध्यमिको यमः, तस्माद् माध्यमिकान् पितॄन् मन्यन्ते ।

'अङ्गिरसो व्याख्याताः, पितरो व्याख्याताः, भृगवो व्याख्याताः, ' अथर्वाणः ' अथनवन्तः । ' थर्वतिः ' चरतिकर्मा, तत्प्रतिषेधः ।

तेषाम्- एषा साधारणा भवति- ॥ ६ (१८) ॥

अर्थः-"उदीरतामवरे०" इस ऋचाका शङ्ख ऋषि और पितृमेधमें विनियोग है । (ये) जो 'पितरः' पितर 'अवरे' (पृथिवीम् आश्रिताः) पृथिवी पर रहते हैं, (ते) वे (तावत्) पहिले 'उदीरताम्' (ऊर्ध्वं गच्छन्तु) ऊपरको जावें - ऊपर - के लोक में जावें । 'परासः' (परे) (द्युलोकम् आश्रिताः) और

जो द्युलोकमें रहने वाले हैं (तेऽपि) वे भी 'उत्'(उदीरताम्) ऊपर को जावें—नीचेकी ओर न गिरें या उनके उस अधिकार के पूरे होजाने पर वे मुक्त होजावें। (येऽपि) और जो भी 'मध्यमाः' (पितरः)मध्यम लोक के निवासी पितर हैं,(तेऽपि) वे भी 'उत्'(उदीरताम्) ऊपर को जावें— उत्तम लोक में चले जावें। (येऽपि) और जो भी 'सोम्यास' (सोम्याः = सोमसम्पादिनः सोम के सम्पादन करने वाले या हमारे यज्ञ में अङ्ग भाव को प्राप्त होने वाले 'ये' जो 'असुम्' [प्राणम्] प्राण (वायु) रूप को 'ईयुः' (अन्वीयुः) प्राप्त हों— वायुमात्र— मूर्त्ति हों— सूक्ष्म शरीर वाले हों, 'अवृकाः' और जो शत्रु रहित- केवल समभाव को प्राप्त हों, 'ऋतज्ञाः' [सत्यज्ञा वा यज्ञज्ञा वा] और जो सत्य के या यज्ञ के जानने वाले हों, 'ते' वे सब 'पितरः' पितर 'नः' हमारे हवेषु (ह्वानेषु)आह्वानोंमें बुलाओं में 'अवन्तु' नित्य ही आवें।

'यम देवता मध्यम लोक का है' यह नैरुक्त कहते हैं, इससे 'पितृ' (पितर) देवताओं को माध्यमिक या मध्यमलोक के मानते है। [क्यों कि- वह उनका राजा है।]

'अङ्गिरस्' व्याख्यान किये गए (३,३,५)

'पितृ' (पितर) व्याख्यान किये गए (४,३,५)

'भृगु' (१३) व्याख्यान किये गए (३,३,५)

'अथर्वाणः' (१३) (अथर्वा) क्या? 'अथनवन्तः' नहीं चलने वाले = स्थिर-प्रकृति = स्थिर स्वभाव। सो कैसे? 'थर्व' (भ्वा०प०) धातु गति अर्थ में है, उसका निषेध 'अथर्वा' है— निषेधार्थक 'अ' और 'थर्व' धातु से है।

उन सब (चारो) की यह साधारण (साझे की) ऋचा है— ॥ ६ (१८) ॥

[खं० ७]

निरु०-"आङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः। तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सोमनसे स्याम ॥" [ऋ० सं० ७, ६, १५, १] य० वा० सं० १९, ५०)

अङ्गिरसो नः पितरो नवगतयो नवनीतगतयो वा अथर्वाणो भृगवः सोम्याः सोमसम्पादिनः तेषां वयं सुमतौ कल्याण्यां मतौ यज्ञियानामपि च एषां भद्रे भन्दनीये भाजनवति वा कल्याणे मनसि स्याम।

"इति माध्यमिको देवगणः" इति नैरुक्ताः।

"पितरः" इति अन्वाख्यानम्।

अथापि ऋषयः स्तूयन्ते ॥७(१९)॥

अर्थः-"आङ्गिरसो नः०" इस ऋचा का यम ऋषि और त्रिष्टुप् छन्द है।

'अङ्गिरसः' अङ्गिरस् नाम वाले, जो 'सोम्यासः' (सोम्याः सोमसम्पादिनः) सोम के सम्पादन करने वाले, (नित्यम्) नित्य 'नः' हमारी 'सुमतौ' (कल्याण्यां मतौ) शुभ मति में रहते हैं, और 'पितरः' पितर, जो 'नवग्वाः' (नवगतयः नवनीतगतयो वा) नवीन (नई) गतिवाले हैं-जिनका प्रतिमास पितृयज्ञ के अर्थ यजमानों के घरों में नया २ गमन होता रहता है, अथवा नवनीत (मक्खन = घृत) के प्रति जिनके

मन की गति होती है कि-'यह हमारा है' (क्योंकि-ऐसी श्रुति है-" स्वयं विलीनं पितृणाम् " अर्थात्- अपने आप पिघलने वाला या शरीर में रमजाने वाला (घृत) पितरों का होता है।) और 'अथर्वाणः' अथर्वा, और 'भृगव' भृगु, जो ये-सोम के साधन करने वाले हैं-हमारी कल्याण मति में रहते हैं, 'वयम्' हम भी 'तेषाम्' उन 'यज्ञियानाम्' यज्ञके सम्पादन करने वालों की 'सुमतौ' (कल्याणमां मतौ) कल्याण मति में 'स्याम' हों। 'अपि' और भी उनके 'भद्रे' (भन्दनीये भाजनवति वा कल्याणे) स्तुति करने योग्य या भक्तों को वाञ्छित अर्थों से संतुष्ट कराने वाले 'सौमनसे' (कल्याणे मनसि) शुभ मन में 'स्याम' हो।

" ये-ऋभु, अङ्गिरस्, भृगु और अथर्वा मध्यम लोक के देव समूह हैं। " ऐसा निरुक्त के आचार्य मानते हैं- देवता पदों के मध्य में इनका पाठ होने से इनका एक २ (स्वतन्त्र २) देवगण है, ऐसा नैरुक्त मानते हैं।

" ये सब पितर हैं " ऐसा आख्यान है-मन्त्रों में देवताधर्म से—देवताओं के प्रकार से पितरों की भी स्तुति आती है,-अग्नि आदि देवताओं से विलक्षण ऐसे भी देवता मन्त्रों में देखने चाहिए-ऋभु, सनत्कुमार आदि पितरों के रूप में ये देवता ही हैं, ऐसा आख्यान (इतिहास) के विद्वान् मानते हैं। [ऐसा विचार इस लिये है कि—इन में ऋभु, अङ्गिरस् और भृगु आदि नाम ऋषियों में भी प्रसिद्ध हैं और मन्त्रों में देवता के स्थान में भी आते हैं।)

और भी ऋषियों की स्तुतिएं हैं- यह दूसरा कारण है

कि- ये ऋषि ही हैं। क्यों कि- मन्त्रों में और भी ऋषियों की स्तुतिएं हैं ॥७(१६)॥

(खं० ८)

"निरु०-सूर्य्यस्येव वक्षथो ज्योतिरेषां समुद्रस्येव महिमा गभीरः। वातस्येव प्रजवो नान्येन स्तोमो वसिष्ठा अन्वेतवे वः ॥" (ऋ० सं०५,३,२३, ३)॥

इति यथा ॥

'आप्त्याः' आप्नोतेः ।

तेषाम्-एष निपातो भवति ऐन्द्रयाम् ऋचि ॥ ८ (२०) ॥

अर्थः- "सूर्य्यस्येववक्षथः०" इसऋचाका इन्द्र ऋषिहै।

'सूर्यस्य—इव' जिस प्रकार सूर्य की 'ज्योति' ज्योति वस्तुओं का प्रकाश करती है, ऐसे ही 'एषाम् (वसिष्ठानाम्) इन वसिष्ठों की 'वक्षथः' (वचनस्य दीप्तिः) वचन की दीप्ति है- मन्त्रो में अध्यात्म, अधिदैव और अधियज्ञ अर्थों को असन्देहसे प्रकाश करने वाली वचनशक्ति है। और 'समुद्रस्य इव' समुद्र के समान इनके वचनों की 'महिमा' महिमा 'गभीरः' गम्भीर है— जिस प्रकार समुद्र में जल अगाध है, उसी प्रकार इनके वचनों में अर्थ अगाध है। और 'वातस्य इव प्रजवः' वायु के समान इनके वचनों का वेग है- गम्भीर अर्थ वाले वचन होने परभी स्तुति करने के समय इनकी स्तुतिएं विलम्बयुक्त नहीं होतीं, किन्तु वर्ण पद और वाक्योंमें शब्द और अर्थके संबन्ध सहित इनके मन और वाणी की वृत्तिएं शीघ्र प्रस्तुत होजाती हैं। क्योंकि

से है। "तेषाम्०" उनका इन्द्र देवता की ऋचा में यह नि-पात है॥ ८ (२०)॥

(खं० ६)

निरु०-"स्तुषेय्यं पुरुवर्पसमृभ्वमिनतममाप्त्यमाप्त्यानाम्। आ दर्षते शवसा सप्त दानूनृ प्रसाक्षते प्रतिमानानि भूरि॥" [ऋ०सं०८,७,२,१]

स्तोतव्यं बहुरूपम् उरुभूतम् ईश्वरतमम् आप्त्यम् आप्तव्यानाम्। आदृणाति यः शवसा बलेन सप्त-दातॄन्-इति वा, सप्तदानवान्-इति वा। प्रसाक्षते प्रतिमानानि बहूनि।

'साक्षतिः' आप्नोतिकर्मा॥९(२१)॥

इति एकादशाध्यायस्य द्वितीयः पादः॥११,२॥

अर्थः-"स्तुषेय्यं पुरु" इस ऋचा का वृहद्दिव ऋषि और महाव्रत में विनियोग है।

(अहम्) मैं (इन्द्रम्) इन्द्र को (स्तौमि) स्तुति करता हूं। 'स्तुषेय्यम्' (स्तोतव्यम्) जो स्तुति करने योग्य, 'पुरुवर्पसम्' (बहुरूपम्) बहुत रूप वाला 'ऋभ्वम्' [उरुभूतम्] बहुत 'इनतमम्' (ईश्वरतमम्] ईश्वरों में बड़ा ईश्वर, 'आप्त्यानाम्-आप्त्यम्' [ऋषीणाम् आप्तव्यम्] आप्त्य ऋषियों को स्तुतियों द्वारा प्राप्तकरने योग्य है। (यः) जो 'शवसा' (बलेन) बल से 'सप्त दानून्' (सप्त दातॄन्) सात मेघों को [सप्त दानवान्-इतिवा] अथवा सात असुरों को 'आदर्षते' [आदृणाति] विदारण करता है। और 'भूरि' (बहूनि) बहुत

'अतिमानानि' उपमाओं को 'प्रसश्नुते' (प्राप्नोति) प्राप्त होता है।

'साक्ष' धातु आप्नोति के अर्थ (प्राप्ति) में है ॥६(२१)॥

इति हिन्दीनिरुक्ते एकादशाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥११,२॥

तृतीयः पादः ।

(खं० १)

निघ०—अदितिः ॥१६॥ सरमा ॥१७॥ सरस्वती ॥१८॥ वाक् ॥१९॥ अनुमतिः ॥२०॥ राका ॥२१॥ सिनीवाली ॥२२॥ कुहूः ॥२३॥ यमी ॥२४॥

निरु०—अथातो मध्यस्थानाः स्त्रियः ।
तासाम्-अदितिः प्रथमागामिनी भवति ।
'अदितिः' व्याख्याता ।
तस्या एषा भवति ॥१(२२)॥

अर्थ :- अब यहां से मध्यस्थान स्त्रियों की व्याख्या है।
उन में 'अदिति' (१६) पहिले आती है।
'अदिति' [१६] की व्याख्या होचुकी (४,४,१)
उस 'अदिति' की यह ऋचा है ॥१(२२)॥

व्याख्या

"अथातः" द्वितीय पाद में देवगण या बहुवचन वाले "मरुतः" आदि ८ देवताओंके नामोंकी व्याख्या कीगई, अब स्त्रीलिङ्ग "अदितिः" आदि २१ नामों की व्याख्या समा-

स्नाय के पाठ के अनुसार ही की जावेगी, जिसकी समाप्ति इस अध्यायके अन्तमें होगी। इसी विशेष अधिकारकी सूचना के लिये "अथातः" ये पद दिये हैं।

"मध्यस्थानाः" 'मध्यस्थान' क्यों? 'मध्यम् आसां स्थानम्' इनका मध्य [अन्तरिक्ष] स्थान है। वे कौन हैं? अदिति आदि देवस्त्रियें हैं ॥ १ [२२] ॥

[खं० २]

निरु०— "दक्षस्य वाऽदिते जन्मनि व्रते राजाना मित्रावरुणाविवासासि । अतूर्त्त पन्थाःपुरुरथो अर्यमा सप्तहोता विषुरूपेषु जन्मसु॥" (ऋ०सं० ८, २, ५, ६] ॥

दक्षस्य वा अदिते ! जन्मनि व्रते कर्मणि राजानौ मित्रावरुणौ परिचरसि। 'विवासतिः'परिचर्यायाम्। "हविष्मान् आविवासाति"—(ऋ०मं० १, २३, ३) इति—आशास्ते वा। 'अतूर्तपन्थाः' अत्वरमाणपन्थाः बहुरथः अर्यमा' आदित्यः। अरीन् नियच्छति।

'सप्तहोता' सप्त अस्मै रश्मयः रसान् अभिसन्नामयन्ति। सप्तएनम्-ऋषयः स्तुवन्ति-इति वा। विषमरूपेषु जन्मसु कर्मसु उदयेषु।

'आदित्यो' दक्षः-इति-आहुः। आदित्यमध्ये च स्तुतः।

'अदितिः' दाक्षायणी ।

अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि" (ऋ० सं० ८, ३, १, ४) ॥ इति च ।

तत् कथम् उपपद्येत ?

समानजन्मानौ स्यातामिति ।

अपि वा देवधर्मेण इतरेतरजन्मानौ स्याताम् इतरेतरप्रकृती ॥

अग्निरपि 'अदितिः' उच्यते ।

तस्य एषा भवति— ॥ २ (२३) ॥

अर्थ—"दक्षस्य वादिते०" इस ऋचा का गय ऋषि है। वैश्वदेव में शस्त्र है। यहां दिन और रात्रि मित्र वरुण हैं, उनकी सन्धि की वेला अदिति है। यही अवश्याय रस [ओस] को देती है, इसी सम्बन्ध से इसे मध्यमा अदिति समझ कर इस मन्त्र में कहा जाता है।

'अदिते' हे अदिति देवि! (त्वम्) तू 'दक्षस्य (आदित्यस्य) [वा] आदित्य के 'जन्मनि' उदयरूप 'व्रते' व्रतमें 'राजाना' [राजानौ] राजा 'मित्रावरुणा' [मित्रावरुणौ] मित्र वरुण देवों को [रात्रि और दिन को] 'विवाससि' (परिचरसि) सेवन करती है। अर्थात्— जब सूर्य देव आधे उदय होते हैं। उस समय वह सन्धिवेला अदिति अपने आधे रूपसे दिनरूप मित्र को व्यापन करती है, और आधे रूप से रात्रि रूप वरुण को व्यापन करती है, जो इस आदित्य 'अर्यमा' शत्रुओं को दमन करने वाला 'विषुरूपेषु' (विषमरूपेषु) भिन्न २ आकाश देशों

में होने वाले 'जन्मसु' (कर्मसु = उदयेषु) उदय रूप कर्मोंमें अतूर्त्तपन्था' (अत्वरमाणपन्थाः) वेग रहित या विषम गतिसे रहित या नियत गति है—प्रतिमुहूर्त्त और प्रति दिन एक नियम से चलने वाला है, पुरुरथः (बहुरथ = बहुरंहण) बहुत गमन करने वाला है, और 'सप्तहोता' सप्तहोता है—(सप्तअस्मैरश्मयः रसान् अभिसन्नामयन्ति 'सात रश्मियें इसके लिये रसों को लाती हैं, (सप्त एनम् ऋषयः स्तुवन्ति इति वा) अथवा सात ऋषि इसको स्तुति करते हैं।

'विवासति' धातु परिचर्या सेवा अर्थ में है। जिसकायह निगम है।

"हविष्मान् आविवासति" अर्थात्- हे अग्नि देव! 'हविष् के प्रदान से युक्त जो यजमान तेरी सेवा करता है। उसकी तू रक्षा कर'—यहहम आशा करतेहैं या चाहतेहैं—इस आशिषा (आशास्ति) से 'विवास' धातु परिचर्या अर्थ में है।

'अर्यमा' क्या ? आदित्य क्यों ? 'अरीन् नियच्छति' वह शत्रुओं को वश करता है।

यहां'दक्ष'आदित्यहैऐसादेवतापदार्थ के जानने वालेकहते हैं। क्यों कि— वह आदित्य के मध्य में स्तुति किया गया है अर्थात्—उनके मत में देवता रूप वस्तु के निर्णय के लियेस्तुति ही प्रमाण है-जिसकी स्तुति जिस देवता के मध्य में है, वह वही देवता है। दक्ष भी आदित्य के मध्य में स्तुत है, इससे यह आदित्य ही है। कहां ? "इमागिरः" यहां से आरम्भ कर तुविजातो वरुणो दक्षो अंशः[ऋ०सं०२,७,६,१]

यहां पर आदित्य के मध्य में 'दक्ष' की स्तुति है।

'अदिति' दाक्षायणी (दक्षकी पुत्री) है।

क्यों कि—

"अदिते र्दक्षो अजायतः दक्षाद्वदितिः परि"
[ऋ०सं० ८, ३, १, ४] अर्थात्—अदिति से दक्ष प्रकट हुआ और दक्ष से अदिति।

सो कैसे उपपन्न होगा (घटेगा) ?।

"समान जन्मानौ स्याताम्" समान जन्मा या समनन्तर जन्मा हो सकते हैं। अर्थात् एक के पीछे एक का जन्म होता है, इससे ऐसा कहा गया है।

"अपिवा देवधर्मेण०" अथवा देव धर्म से वे दोनों परस्पर से उत्पन्न होते हैं। (क्योंकि— देवता अपने माहाभाग्य से ऐसा कर सकता है—उसी का उत्पन्न करने वाला होकर भी उसी से उत्पन्न होता है।)

अग्नि भी अदिति कहा जाता है।

"तस्य०" उस अग्नि अदिति की यह ऋचा है॥२(२३)॥

(खं० ३)

निरु०—"यस्मै त्वं सुद्रविणो ददाशोऽनागास्त्वमदिते सर्वताता। यम्भद्रेण शवसा चोदयासि प्रजावता राधसा ते स्याम॥" [ऋ० सं० १, ६, ३२, ५]॥

यस्मै त्वं सुद्रविणो ! ददासि। अनागाः त्वम्। अनपराध ! त्वम् अदिते ! सर्वासु कर्मततिषु।

'आगः' आङ्पूर्वाद् गमेः।

'एनः' एतेः ।

'किल्बिषम्' किल्भिदम् । सुकृतकर्मणो भयम् । कीर्तिम् अस्य भिनत्ति इति वा ।

यं भद्रेण शवसा बलेन चोदयसि प्रजावता च राधसा धनेन ते वयम्-इह स्याम इति ।

'सरमा' सरणात् ।

तस्या एषा भवति-॥ ३ (२९) ॥

अर्थ :-"यस्मै त्वं सुद्रविणो०" इस ऋचा का कुत्स ऋषि और प्रातरनुवाक में विनियोग है ।

'सुद्रविणः !' हे सुन्दर धन वाले ! 'अदिते !' अग्निदेव ! 'त्वम्' तू 'यस्मै' जिसके लिये 'ददाशः' (ददासि) देता है, 'यं' (च) और जिसको 'भद्रेण' शुभ 'शवसा' (बलेन) बल से 'प्रजावता' (च) और प्रजासंयुक्त 'राधसा' (धनेन) धन से 'चोदयासि' (अनुगृह्णासि) अनुग्रह करता है, "अनागाः त्वं सर्वताता" (अनपराध (:) त्वं सर्वासु कर्मततिषु) तू उसके सब कर्मों में अनपराध = निरपराध होता है- उससे तेरा कोई अपराध नहीं बनता इसी से उसके सब कर्मों को तू निर्दोष कर देता है । "ते स्याम" ऐसे प्रभाव वाले जो तेरे हम ' इह ' यहां यज्ञकर्म में अनुग्रह-पात्र हों (यह हम चाहते हैं) ।

'आगः' (पाप) कैसे ? 'आङ्' (उप०) पूर्वक 'गम्' (भ्वा० प०) धातु से है ।

'एनः' (पाप) कैसे ? 'इ' (अदा०प०) धातुसे है।

'किल्बिष' (पाप) क्यों ? 'सुकृतकर्मणो भयम्' उस में सुकृत कर्म वाले से भय होता है। 'कीर्तिम् अस्य भिनत्ति इति वा' अथवा इस पापकारी की कीर्ति को वह भेदन करता है।

'सरमा' (१७) (ऐतिहासिक पक्षसे देवशुनी और नैरुक्त पक्ष से (माध्यमिका वाक्) क्यों ? सरण (गमन) से।

"तस्या०" उस (सरमा) की यह ऋचा है—॥२(२४)॥

(खं० ४)

निरु०—"किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमानड् दूरे ह्यध्वा जगुरिः पराचैः। कास्मे हितिः का परितक्म्यासीत् कथं रसाया अतरः पयांसि॥" (ऋ० सं० ८, ६, ५, १)।

किम् इच्छन्ती सरमा इदं प्रानड् दूरेहि अध्वा॥

'जगुरिः' जङ्गमतेः।

पराञ्चनैः अञ्चितः।

का तव अस्मासु अर्थहितिः आसीत् ! किं परितकनम् ?

'परितक्म्या रात्रिः' परितः एनां तकम।

'तकम'—इति उष्णनाम। 'तकते'—इति सतः॥

"कथं रसाया अतरः पयांसि" इति।

'रसा' नदी। रसतेः शब्दकर्मणः।

कथं रसानि तानि उदकानि-इति वा ।
देवशुनी इन्द्रेण प्रहिता पणिभिः असुरैः समूदे-इत्याख्यानम् ।
'सरस्वती' व्याख्याता ।
तस्या एषा भवति- ॥ ४ (२५) ॥

अर्थः-"किमिच्छन्ती०" । ऐसा सुना गया है कि-देवपणि असुरोंने देवताओं की गोओं को हर लिया था, फिर इन्द्रने उनके ढूढनेके अर्थ उनके स्थान में सरमा (देव-कुत्ती) को भेजा । और उन देव पणिओं ने उसे देख कर इस ऋचा से पूछा-किमिच्छन्ती०" इम से किस वस्तु की इच्छा करती हुई 'इदम्' यहा 'प्रानट्' आई है,"दूरे हि अध्वा" क्यों कि-- दूर मार्ग है- इतने दूर मार्ग से विना प्रयोजन कोई सहज में आ नहीं सकता, 'जगुरिः' जो ही शीघ्र चलने वाला हो, वही आसकता है । 'पराचैः' (पराङ्चनैः अचितः) पराङ्मुख गमनों से गया हुआ है- यह मार्ग अरुचि यह शिथिल संकल्प से पार करना दुष्कर है- देवताओं के स्थान से बहुत दूर है । इससे हम कहते हैं- हे सरमे ! "का अस्मै हितिः" (का तव अस्मासु अर्थहितिः आसीत्) क्या तेरी हम में अर्थ हिति = अर्थ की प्रार्थना है-क्या अर्थ तैनें हम से प्राप्त करने योग्य विचारा है, जिसके कारण यह बड़ा लम्बा मार्ग आना विचारा । और "का परितक्म्या आसीत्" (कि परितकनम्) कौन या कैसी रात्रि हुई- क्या

तुझे पिछली रात्रि सुख से बीती ? और कथं रसायाः पयांसि अतरः", कैसे तैने नदी के जलों को तैरा ? — आधे योजनसे अधिक विस्तार वाली रसा नाम नदी है, उस के दुस्तर जलों को तैने कैसे पार किया । (कथं रसानि तानि उदकानि- इति वा) वे कैसे मीठे जल हैं? क्या तुझे थका-वट के समय कुछ विश्राम स्थानों में वे स्वादु जल मिले ?

इन्द्र की भेजी हुई देवशुनी (सरमा) ने पणि असुरों के साथ संवाद किया-यह आख्यान (इतिहास) है ॥

'जगुरिः (शीघ्रगामी) कैसे ? ' जङ्गम्यतेः' यङन्त 'गम्' धातु से है । क्योंकि-वह अतिशय गमन करने वाला है ।

'परितक्म्या क्या ? रात्रि क्यों ?'परितः एना तक्म'दोनों ओर इसके तक्म (दिन) है। 'तक्म' यह उष्ण (गरम) का नाम है । कैसे ? 'तकते' इस धातु से है । क्यों कि- प्राणिओं को वह कष्ट से बीतता है ।

'रसा' क्या ? नदी किस धातु से ? ' रसतेः शब्द कर्मणः' शब्द अर्थ में 'रस' (भ्वा० प०)धातु से है ।

'सरस्वती (१८) की व्याख्या हो चुकी [२,७,१)

"तस्या०"उस (सरस्वती)की यह ऋचा है ॥४(२५)॥

(खं० ५)

निरु० पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनी-वती । यज्ञं वष्टु धियावसुः ॥" [ऋ० सं० १, १, ६, ४ । य० वा० सं० २०, ८४) ॥

पावका नः सरस्वती अन्नैः अन्नवती यज्ञं वष्टु धियावसुः कर्मवसुः

तस्य एषा अपरा भवति ॥५ (२६) ॥

अर्थः— "पावका नः सरस्वती०" इस ऋचा का मधुच्छन्दस् ऋषि है, प्रउग शस्त्र में और सारस्वत हविः में विनियोग है।

'पावका' जलको झारने वाली "वाजेभिः वाजिनीवती (अन्नैः अन्नवती) अन्नोंसे अन्नवाली 'धियावसुः'(कर्मवसुः कर्मधना)कर्म रूपधनवाली 'सरस्वती मध्यम लोककी वाणी 'नः' हमारे 'यज्ञम्' यज्ञ को 'वष्टु' (कामयताम्) चाहे = इच्छा करे। अथवा अन्न वाली मध्यमवाक् हमारे यज्ञ के अन्नों से युक्त करे या करने की कामना करे ॥

"तस्याः०" उस सरस्वती की यह और ऋचा है ॥५(२६)॥

[खं० ६]

निरु०—" महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयति केतुना । धियो विश्वा विराजति ॥ " [ऋ० सं० १, १, ६, ६] ॥

महत् अर्णः सरस्वती 'प्रचेतयति' प्रज्ञापयति 'केतुना' कर्मणा प्रज्ञया वा, इमानि च सर्वाणि प्रज्ञानानि अभि विराजति ।

'वाक्' अर्थेषु विधीयते तस्माद् माध्यमिकां वाचं मन्यन्ते ॥

'वाग्' व्याख्याता ।

तस्या एषा भवति— ६ (२७) ॥

अर्थः- " महो अर्णः सरस्वती० " इस ऋचा का मधुच्छन्दस् ऋषि, प्रउग शस्त्र में और सारस्वत हविः में विनियोग है।

'सरस्वती' मध्यमा वाक् देवी 'केतुना' (कर्मणा) कर्म से (प्रज्ञया वा) अथवा प्रज्ञान से 'महः' [महत्] बड़े या बहुल 'अर्णः' (जलम्) जलको 'प्रचेतयति' (प्रज्ञापयति = आविष्करोति) प्रकट करती है। (इमानिच) और इन 'विश्वा' [विश्वानि = सर्वाणि] सब 'धियः' (प्रज्ञानानि) प्रज्ञानोंको 'विराजति' (अभिविराजति) आभिमुख्य = सम्मुखतासे विराजती है। क्योंकि—जलमे अन्न और अन्नसे सब ज्ञान होते हैं, इस प्रकार वह सब प्रज्ञानों की ईश्वरी है ॥

" वाग्-अर्थेषु० " क्योंकि-वाक् देवी मन्त्रों में उदक कर्मों में विधान की गई है-उसके उदक वर्षण आदिकर्म कहे गए हैं, इससे नैरुक्त आचार्य वाक् को मध्यम लोक की मानते हैं ॥

'वाक्' (१६) का व्याख्यान किया गया [२,७,१]।

" तस्याः० " उस वाक् की यह ऋचा है-॥ ६ (२७) ॥

(खं० ७)

निरु०- " यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा। चतस्र ऊर्जन्दुदुहे पयांसि क्व स्विदस्याः परमञ्जगाम ॥ " [ऋ०सं० ६, ७, ५, ४] ॥

यद् वाग् वदन्ती 'अविचेतनानि' अविज्ञा-

तानि राष्ट्री देवनां निषसाद 'मन्द्रा'मदना 'चतस्रः' अनुदिशः ऊर्जं दुदुहे पयांसि, क्व स्विद् अस्याः परमं जगाम-इति यत् पृथिवीं गच्छाति इति वा, यद् आदित्य रश्मयो हरन्ति इति वा॰॥

तस्या एषा अपरा भवति—॥ ७ (२८) ॥

अर्थः-" यद्वाग्वदन्ती॰ " इस ऋचा का नेम ऋषि और सारस्वत पशु में विनियोग है।

'यत्' (यदा) जब 'अविचेतनानि' [अविज्ञातार्थानि] अर्थ—शून्य गर्जना शब्दों को 'वदन्ती' बोलती हुई ' देवानां राष्ट्री' माध्यमिक देवताओं की ईश्वरी 'मन्द्रा' [मदना] लोक को हर्ष देने वाली 'वाक्' मध्यम लोक की वाणी 'निषसाद' [निषीदति = व्याप्नोति] व्यापार युक्त होती है—वृष्टि कर्म में लगती है, [तदा] तब 'चतस्रः' (दिशः अनु) चारों दिशाओं के प्रति 'ऊर्जम्' (अन्नम्) अन्नको 'पयांसि' और जलोंको ' दुदुहे ' दुहती है = भरती है। 'क्व—स्वित्' कहां 'अस्याः' (वाचः) इस वाक् देवी के 'परमम्' उत्कृष्ट (बड़े) स्थान को 'जगाम' (गच्छन्ति) जाते हैं-यह नहीं जाना जाता कि—इस वाक् देवी के बरसाए हुये जल ओषधिओं को उत्पन्न करके कहां जाते हैं और प्रतिवर्ष फिर कहां से आते हैं। [यत् पृथिवीं गच्छति (नित्)] जो पृथिवी में रहते हैं (यद् आदित्य रश्मयो हरन्ति इति वा) और जिनको आदित्यकी रश्मिएं हर लेजाती हैं। [सुतराम् वाग् देवी के अपरिमित जल हैं, वे कभी क्षीण नहीं होते।

"तस्या०" उस वाक् की यह और ऋचा है- जिसका प्रयोजन 'यही वाक् सब प्राणिओं के भीतर प्रविष्ट है और यही सब अर्थों का कथन करती है'- इस प्रकार की विभूति दिखाना है ॥७(२८)॥

(खं० ८)

निरु०-"देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति । सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु ॥" (ऋ० सं० ६,७,५,५)

देवीं वाचम् अजनयन्त देवाः, तां सर्वरूपाः पशवो वदन्ति व्यक्तवाचश्च अव्यक्तवाचश्च सा नो मदना अन्नं च रसं च दुहाना धेनुः वाग् अस्मान् उपैतु सुष्टुता ।

'अनुमतिः' 'राका' इति देवपत्न्यौ-इति नैरुक्ताः ।

पौर्णमास्यौ-इति याज्ञिकाः । पूर्वा पौर्णमासी सा अनुमतिः, या उत्तरा सा राका इति विज्ञायते ।

'अनुमतिः' अनुमननात् ।

तस्या एषा भवति-॥८(२९)॥

अर्थः- "देवींवाच०" इस ऋचा का नेम ऋषि और सारस्वत पशु में विनियोग है।

'देवाः' मध्यम लोक के देवताओं ने 'देवीम्' (उदकात्मा

दार्त्री म्) जलों को देने वाली [याम्] जिस 'वाचम्' वाक् को 'अजनयन्त' जना (उत्पन्न किया) था, 'ताम्' उसी को 'विश्व-रूपाः' (सर्वरूपाः व्यक्तवाचश्च अव्यक्तवाचश्च) सब प्रकार के = व्यक्तवाणी वाले मनुष्य आदि और अव्यक्त वाणी वाले गौ आदि 'पशवः' पशु 'वदन्ति' बोलते हैं, 'सा' जो इस प्रकार सब पशुओं से बोली जाती है, वह 'नः' [अस्माकम्] हमें 'मन्द्रा (मदना) हर्ष देने वाली 'इषम्' (अन्नं च) अन्न को 'ऊर्जम्' (रसं च) और रस को 'दुहाना' (प्रक्षरन्ती) झरतीहुई 'धेनुः' [तर्पयित्री] तृप्त करने वाली 'वाक्' 'सुष्टुता' सुन्दर स्तुति की गई 'उप ऐतु' हमारे यहां आवे- यह हम प्रार्थना करते हैं ॥

'अनुमति (२०) और 'राका [२१] ये देवपत्निये' (देव स्त्रिये') हैं- ऐसा निरुक्त के आचार्य मानते हैं ।

पौर्णमासी हैं, यह याज्ञिक (मीमांसक) मानते हैं । क्यों कि- "जो पाहिली पौर्णमासी है, वह 'अनुमति' है और जो पिछली पौर्णमासी है, वह 'राका' है" यह ब्राह्मण में जाना जाता है ।

'अनुमति' (२०) क्यों अनुमनन से- ऋषिओं ने और देवताओं ने चौदह (१४) दिन के पक्ष में 'यह पौर्णमासी हो' ऐसा माना है ।

"तस्या०" उस अनुमति की यह ऋचा है ॥८ (२९) ॥

(खं० ९)

निरु०- "अन्विदनुमते त्वं मन्यासै शं च नस्कृधि । क्रत्वे दक्षाय नो हिनु प्रण आयूंषि तारिषः ॥" (य० वा० सं० ३४, ८) ॥

अनुमन्यस्व अनुमते त्वं सुखं च नः कुर्वन्, अन्नं च नः अपत्याय धेहि, प्रवर्द्धय च नः आयुः ।
'राका' रातेर्दानकर्मणः ।
तस्या एषा भवति ॥९ (३०) ॥

अर्थ:-"अन्विदनुमते०" इस ऋचाका वामदेवऋषि और देविकाओं में विनियोग है ।

'अनुमते!' हे अनुमति देवि 'त्वम्' तू 'अनु मन्यासै' (अनुमन्यस्व) अनुमति कर- जैसा कि- तुझे चाहिये । "शं च नः कृधि" और हमारे लिये सुख कर । [सुखं च नः कुर्वन्] और हमारे लिये सुखकरते हुये "क्रत्वे दक्षाय नो हिनु" (अन्नं च नः अपत्याय धेहि) हमारे अपत्य (सन्तान) के लिये अन्न धारण कर । 'नः' हमारी 'आयूंषि' (आयुः) आयु को 'प्र तारिषः' (प्रवर्द्धय) बढा ।

'राका' (२१) दान अर्थ मे 'रा' (अदा० प०) धातु से है ।
"तस्या०" उस 'राका' की यह ऋचा है ॥६ [३०]॥

[खं० १०]

निरु०- " राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना । सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम् ॥ " (ऋ० सं० २, ३, १०, ४)

राकाम् अहं सुह्वानां सुष्टुत्या आह्वये, शृणोतु

नः सुभगा बोधतु आत्मना, सीव्यतु अपः प्रजनन-कर्म सूच्या अच्छिद्यमानया ।

'सूची' सीव्यतेः ।

ददातु वीरं शतप्रदम् उक्थ्यवक्तव्यप्रशंसम् ॥

' सिनीवाली ' ' कुहूः '– इति देवपत्न्यौ इति नैरुक्ताः॥

अमावास्ये इति याज्ञिकाः ।

या पूर्वा अमावास्या सा सिनीवाली, या उत्तरा सा कुहूः– इति विज्ञायते ।

'सिनीवाली' 'सिनम्' अन्नं भवति, सिनाति भूतानि । 'वालं' पर्व । वृणोतेः । तस्मिन् अन्न-वती । वालिनी—इति वा । वालेनेव अस्याम् अणुत्वाच्चन्द्रमाः सेवितव्यो भवति-इति वा ।

तस्या एषा भवति ॥ १० (३१) ॥

अर्थः– " राकामहम्० " इस ऋचा का गृत्समद ऋषि और देविकाओं में विनियोग है ।

'अहम्' मैं 'सुहवाम्' (सुह्वानाम् [शुभ आवाहन वाली राकाको 'सुष्टुती' (सुष्टुत्या] सुन्दर स्तुतिसे 'हुवे' (आह्वये) बुलाता हूं । 'नः' हमें 'शृणोतु' सुने–हमारी पुकार सुने । 'सुभगा' सुन्दर धनवाली 'त्मना' (आत्मना) अपने आपसे 'बोधतु' जाने 'अपः' (प्रजननकर्म) सन्तान के उत्पत्ति के

कर्मको 'सीव्यतु [सन्तनोतु] बढावे । इतनाही नही—'अच्छिद्यमानया अविच्छिन्न (न टूटने वाली) 'सूच्या' (प्रजासंतत्या) प्रजा सन्तति से 'शतदायम्' (शतप्रदम्) बहुत दान करने वाले 'उक्थ्यम्' (वक्तव्यप्रशंसम्) प्रशंसा करने योग्य 'वीरम्' (पुत्रम्) और पुत्र को 'ददातु' दे ।

'सूची' कैसे ? सीव्यति [सिव् दि०प०] धातु से है ।

'सिनीवाली' [२२] और 'कुहू' (२३) ये दो देवपत्निए' हैं—ऐसा नैरुक्त आचार्य मानते हैं ।

अमावास्याएं हैं—ऐसा याज्ञिक (कर्मठ) लोग मानते हैं । क्योंकि—"जो पूर्वा अमावास्या है वह 'सिनीवाली' और जो पिछली अमावास्या है, वह 'कुहू' है" ऐसा ब्राह्मण श्रुति में जाना जाता है ।

'सिनीवाली' क्यों ? 'सिन' अन्न होता है । सो क्यों 'सिनाति भूतानि' वह रस आदि धातुओं से प्राणिओं को बांधता है ।

'वाल' क्या ? पर्व । कैसे ? 'वृणोति' ('वृ' स्वा० उ०) धातु से है । क्यों ? 'वृण्वन्ति देवाः तत्र हवींषि' उसमें देवता हविओं को वरण (स्वीकार) करते हैं । 'तस्मिन् पर्वणि असौ सिनिनी (अन्नवती) इति सिनीवाली' उस पर्व में वह सिनिनी (अन्न वाली) है, इससे 'सिनीवाली' है । अथवा वह सिनिनी (अन्नवाली) और वालिनी (वालों वाली) है, इससे 'सिनीवाली' है । अथवा वाल के समान अणु (छोटा) होने से चन्द्रमा इस में सेवितव्य या जानने योग्य होता है ।

"तस्याः०" उस 'सिनीवाली' की यह ऋचा है—॥१०(३१)॥

व्याख्या ।

'सिनीवाली'। "सा दृष्टेन्दुः सिनीवाली सा नष्टेन्दुकला कुहूः ।" [कां०१व०४श्लो०९] इत्यमरः

अर्थात्-जिस में चन्द्रमा दृष्टिगोचर हो, वह अमावास्या सिनीवाली है, और जिस में चन्द्रमा की कला सर्वथा नष्ट हो जावे वह अमावास्या 'कुहू' है ।

"चतुर्दशी का अन्तिम प्रहर और अमावस्या के आठ प्रहर, इस प्रकार चन्द्रमा का क्षयकाल नव प्रहर का शास्त्र में प्रसिद्ध है । उन में पहिले दो प्रहरों में चन्द्रमा की सूक्ष्मता रहती है और अन्त के दो प्रहरों में सम्पूर्ण चन्द्रमा का क्षय होजाता है । अतः प्रथम दो प्रहरों की सिनीवाली संज्ञा, अन्त के दो प्रहरों की कुहू संज्ञा और बीच के पांच प्रहरों की दर्श संज्ञा है ।" (अमर विवेक टीका) ॥ १० (३१) ॥

(खं० ११)

निरु०- "सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा । जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिड्ढि नः ॥" [ऋ० सं० २, ७, १५, ६ । य०ब्रा० सं० ३४, १० । आ०गृ० १, १०.]

सिनीवालि ! पृथुजघने ! ।

'स्तुकः' स्त्यायतेः । संघातः ।

पृथुकेशस्तुके ! पृथुष्टुते ! वा, या त्वं देवानाम् असि स्वसा ।

'स्वसा' सुअसा । स्वेषु सीदति इति वा ।

जुषस्व 'हव्यम् अदनं, प्रजां च देवि दिशनः ।

'कुहूः' गूहतेः । क अभूत्-इति वा, क सती हूयते इति वा, क आहुतं हविः जुहोति इति वा ।

तस्या एषा भवति— ११ (३२) ॥

अर्थः—" सिनीवालि पृथुष्टुके०" इस ऋचा का गृत्समद ऋषि और देविकाओं में विनियोग है ।

'सिनीवालि ! हेसिनीवालि ! 'पृथुष्टुके !' (पृथु जघने !) हे मोटी साथलों वाली ! अथवा 'स्तुक' 'स्त्यै' [भ्वा० प०] धातु से संघात [समूह] का नाम है । इससे हे पृथुकेशस्तुके ! पृथुकेशकलापे ! = मोटे चोटेवाली! अथवा 'पृथुष्टुके! बहुत स्तुति कीगई ! 'या' जो [त्वम्] तू 'देवानाम्' देवताओंकी 'स्वसा' बहिन 'असि' है (सा) सो तू 'आहुतम्' विधिसे होम किये हुये 'हव्यम्' (अदनम्) अन्न यो हविः को ' जुषस्व ' सेवन कर । 'देवि !' हे देवि ! [च] और 'नः' हमें 'प्रजाम्' सन्तान 'दिदिड्ढि' [दिश] दे ॥

'स्वसा' क्यों ? 'सु असा' वह सुन्दर धनको असन (क्षेपण) करती है— पिता के घरसे धन को फेंकती है = ले जाती है । अथवा 'स्वेषु सीदति' वह पर कुल में चली जानेपर भी अपने भ्राता आदि में ही बैठती है-उन्हीं का पक्ष रखती है ।

'कुहू' (२३) कैसे ?'गुह'(भ्वा०उ०)धातु से है। क्योंकि- वह चन्द्रमा को गूहन करती है- लुकोलेती है। अथवा- 'क्व अभूत्' कहां था इससे 'कुहू' है—क्यों कि उसमें चन्द्रमाअप्रत्यक्ष (गुप्त) रहता है, इससे उसके पश्चात् उसे देखकर लोग कहते हैं, यह कहां था। अथवा 'क्वसती हूयते', कहीं होती हुई आवाहन की जाती है-वह अपने देवता रूपसे अप्रत्यक्ष होने के कारण नहीं जानी जाती—वह कहां है, किन्तु कहीं भी रहती हुई यज्ञ में आवाहन की जाती है, इससे 'कुहू' है। अथवा 'क्व आहुतं हविः जुहोति' कहां होम किये हुवे हवि को लेती है, इससे 'कुहू' है।

"तस्या०" उस (कुहू) की यह ऋचा है ॥११ (३२)॥

(खं० १२)

"निरु०- कुहूमहं सुवृतं विद्मनापसमस्मिन्यज्ञे सुहवां जोहवीमि। सा नो ददातु श्रवणं पितॄणां तस्यै ते देवि हविषा विधेम ॥"(तै० ब्रा०३अष्ट३ प्र० ११ अनु०, अथ०सं०७, १०, ५, आ०गृ०१, १०]

कुहूम् अहं सुकृतं विदितकर्माणम् अस्मिन् यज्ञे सुह्वानाम् आह्वये, सा नो ददातु श्रवणं पितॄणां पित्र्यं धनम्,- इति वा। पित्र्यं यशः इति वा। तस्य ते देवि हविषा विधेम- इति। व्याख्यातम् ॥

'यमी' व्याख्याता।

तस्य एषा भवति ॥१२ [३३) ॥

अर्थः- "कुहूमहं सुवृतम्०" इस ऋचाका देविकाओंमें विनियोग है।

'अहम्' मैं 'सुवृतम्' (सुकृतम् विदितकर्माणम्) सुन्दर कर्मवाली अथवा विदितकर्मवाली 'सुहवाम्' (सुह्वानाम्) सुन्दर आवाहनवाली 'कुहूम्' कुहू को "अस्मिन् यज्ञे" इस यज्ञ में "जोहवीमि' (आह्वये) बुलाता हूं। "सा नो ददातु श्रवणं पितॄणाम्" [पित्र्यं धनम् इति वा, पित्र्यं यशः इति वा) वह हमें पितरों का धन या यश दे। "तस्यैते देवि! हविषा विधेम" ऐसे प्रभाववाली तुझ को हे देवि! हम हविः से सेवन करते हैं—हविः देते हैं यह पहिले व्याख्यान किया जाचुका है।

'यमी' (२४) शब्द की 'यम' शब्द से व्याख्या की जाचुकी (१०, २, ६)।

"तस्या०" उस यमी की यह ऋचा है- १२ (३३)॥

(खं० १३)

निरु०-"अन्यमूषुत्वं यम्यन्य उ त्वां परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम्। तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाधा कृणुष्व संविदं सुभद्राम्॥" [ऋ० सं० ७, ६, ७८, ४]॥

अन्यमेव हि त्वं यमि!, अन्यः त्वां परिष्वङ्क्ष्यते लिबुजा-इव वृक्षम्, तस्य वा त्वं मनःइच्छ, स वा तव, अधा अनेन कुरुष्व संविदं सुभद्राम्।

"यमी यमं चकमे तां प्रत्याचचक्ष"- इति आ-ख्यानम् ॥ १३ (३४) ॥

इति एकादशे तृतीयः पादः ॥ ११, ३ ॥

"अन्यमूषुत्वम्०" यमी ने अपने भाई यमपर कामना की थी, और यम ने उसका इस ऋचा के द्वारा प्रत्याख्यान या उसकी प्रार्थना को अस्वीकार किया था।

'यमि !' हे यमि ! 'अन्यम् ऊ षु' (अन्यम् एव) दूसरे को ही 'त्वम्' तू (परिष्वजस्व) मैथुन के अभिप्राय से आ-लिङ्गन कर या लिपट। कैसे ? " लिबुजा इव वृक्षम् " जैसे वेल किसी पास वाले वृक्ष से लिपटती है। "अन्यः उ" (अन्यः एव) दूसरा ही 'त्वाम्' तुझे 'परिष्वजाते' (परि-ष्वङ्क्ष्यते) आलिङ्गन करेगा- जिस के तू इस अभिप्राय से लिपटाने योग्य हो। "तस्य वा त्वं मनः इच्छा (इच्छ)" अथवा उसके तू मनको प्रवेश करने की इच्छा कर, "स वा तव" अथवा वह तेरे मनको प्रवेश करने की इच्छा करे।

"अधा कृणुष्व संविदम् सुभद्राम्" [अधा अनेन कुरुष्व संविदं सुभद्राम्] अनन्तर इस प्रकार से एकचित्तता को प्राप्त हुए उस पति के साथ तू सुभद्र = दोनों लोकों को न बिगाड़ने वाली संविद् = मैथुन आदि की चर्चा (सन्धि) को कर ॥

यमी ने यम को पतिभाव से चाहा और यमने उसको

प्रत्याख्यान किया- अस्वीकार या निषेध किया- यह आख्यान (इतिहास) है ॥,१३ (३४) ॥

इति हिन्दीनिरुक्ते एकादशाध्याये तृतीयः पादः ॥ ११,(३)॥

चतुर्थः पादः ।

[खं० १]

निघ०-उर्वशी ॥२५॥ पृथिवी ॥२६॥ इन्द्राणी॥ २७॥ गौरी ॥२८॥ गौः ॥२९॥ धेनुः ॥३०॥ अघ्न्या॥३१॥ पथ्या ॥३२॥ स्वस्तिः ॥३३॥ उषाः ॥३४॥ इला॥३५॥ रोदसी ॥३६॥

इति षट्त्रिंशत् (३६) पदानि ॥५॥

निरु०—'उर्वशी' व्याख्याता ।

तस्या एषा भवति- ॥ १ (३५) ॥

अर्थ :—'उर्वशी' [२५] शब्द का व्याख्यान होचुका (५,३, १)

"तस्याः" उस (उर्वशी) की यह ऋचा है—॥१[३५]॥

(खं० २)

निरु० "विद्युन्न या पतन्ती दविद्योद्भरन्ती मे अप्या काम्यानि । जनिष्ठो अपो नर्य्यः सुजातः प्रोर्वशी तिरत दीर्घमायुः ॥" (ऋ०सं०८,५,२,५) ।

विद्युद् इव या पतन्ती अद्योतत हरन्ती मे

अप्याकाम्यानि उदकानि अन्तरिक्षलोकस्य यदा नूनम् अयं जायेत अद्भ्योऽध्यप इति ।

'नर्य्यः' मनुष्यः । नृभ्यो हितः । नरापत्यम् इति वा ।

'सुजातः' सुजाततरः ।

अथ उर्वशी प्रर्धयते दीर्घम् आयुः ॥

'पृथिवी' व्याख्याता ।

तस्या एषा भवति– ॥ २ (२६) ॥

अर्थः– "विद्युन्नया०" इस ऋचा में मध्यम लोकका देवता पुरूरवाः त्रित्व पक्ष में (जब कि तीन वस्तुएं अलग२ कल्पित हैं) अपना ज्योति का और शब्द का विभाग जैसा कल्पित करके कहता है–

'या' जो 'विद्युत्' ('न' अनर्थक) बिजली 'पतन्ती' मेघों के भीतर चलती हुई 'मे' मेरे लिये 'काम्यानि' वाञ्छित या वाञ्छनीय 'अप्या' (अप्यानि = उदकानि) जलों को 'भरन्ती' (हरन्ती) लाती हुई (यदा) जब 'दविद्योत' (अद्योतत) चमकी या चमकती है (तदा) तभी (नूनम्) निश्चय से (अयम्) यह 'नर्यः' मनुष्यों के लिये हितरूप 'सुजातः' (सुजाततर.) सुन्दर से भी सुन्दर 'अपः' (अद्भ्यः अधि) जलों की ऊर्मि (लहर या वृष्टि] 'जनिष्टः' (जायेत) उत्पन्न हुई या हो सकती है । (सा) वह 'उर्वशी' उर्वशी 'दीर्घम्' लम्बी 'आयुको 'प्रतिरते' देती है— जलसे अन्न को उत्पन्न करके उसके द्वारा आयुको बढ़ाती है ॥

ऐतिहासिक पक्षमें ऐल पुरूरवा उर्वशी अप्सरासे वियुक्त होकर कहता है-जो उर्वशी बिजली के समान चमकती हुई, स्त्रियोंके अनेक हावभावों को धारण करती हुई, मुझे नित्य प्यारी (प्राप्त करने योग्य) अपने सुन्दर शरीर से चमकी थी और जिसने मुझसे गर्भ धारण किया था, उससे मेरे और उसके गुणों से युक्त बलवान् और मनुष्योंके लिये हित मेरा आयु नाम पुत्र अवश्य उत्पन्न होगा (जिसको पुराण के मा- नने वाले कहते हैं) और वह उर्वशी मेरे समीप में न होने पर भी उस पुत्र को लम्बी आयु देगी-उसको पालन पोषण से दीर्घ आयु देगी—उस पुत्र में मेरे सम्बन्ध से वैसी ही प्रीति करेगी, जैसी कि-मेरे समीप में रहकर कर सकती थी ॥

'नर्य' क्या ? नरों के लिये हित मनुष्य। अथवा नरका अपत्य [पुत्र] ॥

'पृथिवी' (२६) शब्द की व्याख्या होचुकी (१, ४, ३)

"तस्याः०" उस (पृथिवी) की यह ऋचा है ॥ २(२६ ॥

(खं० ३)

निरु० " बलित्था पर्वतानां खिद्रम्बिभर्षिपृथि- वि । प्रया भूमिं प्रवत्वति मन्हा जिनोषि महिनि॥' (ऋ० सं० ४, ४, २९, १) ॥

सत्यं त्वं ' पर्वतानां ' मेघानां खेदनं छेदनं भेदनं बलम् अमुत्र धारयसि पृथिवि । प्रजिन्वसि या भूमिं प्रवणवति महत्त्वेन महति ! इति वा ।

इन्द्राणी इन्द्रस्य पत्नी ।

तस्या एषा भवति- ॥ ३ (३७) ॥

अर्थः- "बळित्था।०" इस ऋचा का अत्रि ऋषि है।

'बल्' (बल्) (सत्यम्) सचमुच 'पृथिवी' हे मध्यम लोक की पृथिवी देवि! 'त्वम्' तू 'इत्था' (अमुत्र) उस मध्यम लोक में रहती हुई 'पर्वतानाम्' (मेघानाम्) मेघों के 'खिद्रम्' (खेदनं = छेदनं = भेदनं बलम्) छेदन करने वाले बल को बिभर्षि (धारयसि) धारण करती है। क्यों कि? 'प्रवत्वति!' (प्रवणवति!) हे गमन करने वाली! 'मन्हा' (महत्त्वेन) बड़प्पन के कारण 'महिनि' (महति) हे महति! (बड़ी!) (उदकवति! इति वा) या हे जलवाली! 'या' जो(त्वम्) तू 'भूमिम्' पृथ्वी को 'प्रजिनोषि' (प्रजिन्वसि)[इस प्रकार] जिलाती है— जब कि— तू ऐसा पृथ्वी के जिलाने का महाकार्य करती है, तो क्यों न मेघों को भेदन करने वाले बल को धारण करेगी? अवश्य करती है।

'इन्द्राणी' (२७) क्या? इन्द्र की पत्नी।

"तस्याः०" उस इन्द्राणी की यह ऋचा है ॥३[३७] ॥

[खं० ४]

निरु०-इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम्। न ह्यस्या अपरञ्चन जरसा मरते पतिर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥" (ऋ० सं० ८, ४, ३, १] ॥

इन्द्राणीम् आसु नारिषु सुभगाम् अहम् अशृणवम्, नहि अस्या अपरामपि समा जरया म्रियते पतिः, सर्वस्माद् यः इन्द्रः उत्तरः तम् एतद् ब्रूमः तस्या एषा अपरा भवति ॥४ (३८) ॥

अर्थः—"इन्द्राणीमासु०" इस ऋचा का वृषाकपि ऋषि, पङ्क्तिछन्द और पृष्ठ्य के छठे अहन्(दिन)में ब्राह्मणाच्छंसीके शस्त्र में विनियोग है।"आसु[सर्वासु]नारिषु इन्द्राणीम् अहम् सुभगाम् अश्रवम्" (अशृणवम्) इन संसार की सब नारिओं में इन्द्राणी को ही मैंने सुभगा = सौभाग्यवती लक्षणवती सुना है। "नहि अस्याः अपरंचन[अपराम् अपि [illegible]म्] जरसा [जरया] पतिः म्रियते" क्यों कि— इसका पति और संवत्सर के भी पति या कभी भी जरा या बुढापे से नहीं मरता अन्य प्राकृत स्त्रियों के पतिके समान न बूढा ही होता है और न मरता ही है- वह सदा सुहागिनी है। ऐसा कौन पति है ? "विश्वस्माद् [सर्वस्माद् (यः) इन्द्रः उत्तरः॥ वह इन्द्र देव है, जो सब से ऊंचा है। (तम् एतद् ब्रूमः)उस इन्द्र को हम यह कहते हैं॥

"तस्याः०"उस इन्द्राणी की यह और ऋचा है॥ ४(३८)

व्याख्या।

इस मन्त्र में इन्द्राणी का अक्षय सौभाग्य वर्णन किया है, और वह पति के चिरंजीवी होने या पत्नीके मरने से पहिले पति के न मरने से साध्य है यह भी परिदर्शित किया है। इस से यह दुर्ज्ञेय नहीं है कि— वेद भगवान् को स्त्रियों का एक पतित्व ही अभिमत है। अन्यथा स्त्री जब पत्यन्तर करके भी सुभगा हो सकती है तो पतिके दीर्घ जीवन न होने पर भी सौभाग्य की क्या हानि है। तथा क्यों वह सौभाग्य

को प्रशंसा करता, जो पति के जीवन पर निर्भर नहीं है। सुतराम् इस विषय में ठीक प्राचीन हिन्दुओं के आदर्श को मन्त्र ने परिदर्शन कराया है॥

[खं० ५)

निरु- "नाहमिन्द्राणि रारण सख्युर्वृषाकपेर्ऋते। यस्येदमप्यं हविः प्रियं देवेषु गच्छति, विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥" (ऋ० सं० ८, ४, ३, १) ॥

न अहम् इन्द्राणि! रमे सख्यु वृषाकपेर्ऋते यस्य इदम् अप्यं हविः अप्सु शृतम्, अद्भिः संस्कृतम् इति वा । प्रियं देवेषु निगच्छति, सर्वस्माद् यइन्द्रः उत्तरः, तम् एतद् ब्रूमः ॥

'गौरी रोचते ज्वलतिकर्मणः ।

अयमपि इतरो 'गौरो' वर्णः एतस्मादेव ।

तस्य एषा भवति ॥५ (२९) ॥

अर्थः-"नाहमिन्द्राणि०" इस ऋचा का ऋषि और विनियोग पूर्व ऋचा के समान है।

इन्द्र कहता है-हे "इन्द्राणि ! न अहं सख्युःवृषा कपेः ऋते रारण" हे इन्द्राणि ! मैं मित्र वृषाकपि से अन्यत्र नहीं रमता। क्या वह वृषाकपि, जो यह मनुष्यों में ऋषि प्रसिद्ध है ? नहीं। "यस्य इदम् अप्यम् हविः" (अप्सु शृतम्; अद्भिः संस्कृतम् इति वा) जिसका यह जल में पकाया हुआ चरु पुरोडाश आदि या जल से संस्कार किया

हुआ हविः है। "प्रियं देवेषु गच्छति" (निगच्छति) जो सब देवताओं में मेरा प्रिय होता है— (वह देवता मेरा सखा है)। "सर्वस्माद् यः इन्द्रः उत्तरः तम् एतद् ब्रूमः" जो इन्द्र सबसे उन्नत है, उस इन्द्रको हम यह कहते हैं।

गौरी (२८)—किस धातु का ? ज्वलन (जलने) अर्थ में 'रुच' (भ्वा० आ०) धातु का है। क्या ? माध्यमिका (मध्यम लोक की) वाक् (वाणी)। क्यों ? वह दीप्ति (प्रकाश) वाली है।

यह भी दूसरा 'गौर' वर्ण इसी धातु से है। क्योंकि–वह प्रशंसनीय होता है।

"तस्या०" उस (गौरी) की यह ऋचा है—॥५(३९)॥

(खं० ६)

निरु०—"गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी। अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन् ॥" (ऋ०सं०२,३,२२,१) गौरी निर्मिमाय सलिलानि तक्षती कुर्वती, एकपदी मध्यमेन, द्विपदी मध्यमेन च आदित्येन च, चतुष्पदी दिग्भिः अष्टापदी दिग्भिश्च अवान्तर-दिग्भिश्च, नवपदी दिग्भिश्च अवान्तरदिग्भिश्च आदित्येन, 'सहस्राक्षरा' बहूदका परमे व्यवने।

तस्या एषा अपरा भवति—॥६(४०)॥

अर्थः—"गौरी मिमाय०" अस्यवामीय सूक्त में इस ऋचा का दीर्घतमा ऋषि है।

'गौरीः' (माध्यमिका वाक्) मध्यम लोक की वाक् 'मिमाय' (निर्मिमाय) इस सब लोक को रचती है। कैसे ? "सलिलानि तक्षती" (कुर्वती) जलों को उत्पन्न करती हुई– पहिले जलों को उत्पन्न करती है, और फिर उसी के द्वारा सब जगत् को रचती है। क्योंकि- जगत् की सृष्टि जल पूर्वक ही होती है। जलों को कैसे करती है ? 'एकपदी' (मध्यमेन) मध्यम देवके साथ एकत्व को प्राप्त होती हुई = एकपदी होकर। 'द्विपदी' (मध्यमेन च आदित्येन च) और मध्यम देव और आदित्य देव से द्विपदी होकर, 'चतुष्पदी' (दिग्भिः) तथा चारों दिशाओं से चतुष्पदी (चार पैरवाली होकर, 'अष्टापदी' (दिग्भिश्च अवान्तरदिग्भिश्च) चारों दिशाओं और चारो विदिशाओं से अष्टापदी[आठ पैरवाली] होकर, 'नवपदी'(दिग्भिश्च अवान्तरदिग्भिश्च आदित्येन) और दिशाओं बीच की दिशाओं और आदित्य से नवपदी (नौ(९)पैरोंवाली)होकर,एवम् "परमे व्योमन्"[व्यवने]जो सब से ऊंचा जुदे२ सब प्राणियों का एक आधारभूत है,उस आकाश या परमात्मा में, 'सहस्राक्षरा' (बहूदका) बहुत जल वाली या अनन्त जल वाली 'बभूवुषी' होने की इच्छा वाली हो कर [जलोंके निर्माण के द्वारा इस सब जगत्को बनाती है]। उस (गौरी) की यह और ऋचा है ॥ ६ (४०) ॥

(खं० ७)

निरु०–"तस्याः समुद्रा अधि विक्षरन्ती तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः। ततः क्षरत्यक्षरं तद्विश्वमुपजीवति ॥" (ऋ०सं० २,३,२२,२)

तस्याः समुद्रा अधिविक्षरन्ति वर्षन्ति मेघाः, तेन जीवन्ति दिगाश्रयाणि भूतानि, ततः क्षरति अक्षरम् उदकम् तत सर्वाणि भूतानि उपजीवन्ति ।

'गौः'-व्याख्याता ।

तस्या एषा भवति-॥७(४१)॥

अर्थः-"तस्याः समुद्रा०" । यदि ऋचा में यह आपत्ति की जावे कि-इसमें 'गौरी' देवता का कोई लिङ्ग नहीं है, इस लिये उसका यह निगम नहीं हो सकता । तो उसका उत्तर यह है कि-ये पहिली और दूसरी दोनों ऋचाएं एक सम्बन्ध में है इस लिये इसे लिङ्ग शून्य नही समझना चाहिए अर्थात् पहिली ऋचा में 'गौरी' पद प्रत्यक्ष है, उसी पदसे यह 'गौरी' देवता की ऋचा है ।

यह 'गौरी' पद मन्त्रों में देवता के लिये अप्रसिद्ध है, प्रायः विशेषण के ही रूप में आता है, इसी लिये यह दूसरी ऋचा दी है कि -इसका देवतावाचकत्व स्पष्टरूप से प्रतीत होता है ।

"तस्याः अधि समुद्राः (मेघाः) विक्षरन्ति (वर्षन्ति)" उसी गौरी देवता के सकाश से मेघ बरसते हैं। "तेन जीवन्ति प्रदिशः चतस्रः" (दिगाश्रयाणि भूतानि) उसी से दिशाओं और विदिशाओं के रहने वाले सब भूत (प्राणी) जीते हैं। "ततः क्षरति अक्षरम्" (उदकम्) उसी से वार २ प्रति संवत्सर जल झरता है "तद् विश्वम् उपजीवति" (तत् सर्वाणि भूतानि उप-

जीवन्ति) उसी जल को सब प्राणी उपजीवन करते हैं।

'गौः' (२९) शब्द की व्याख्या होचुकी है (२,२,१)

"तस्याः०" उस 'गो' की यह ऋचा है— ॥७[४१] ॥

(खं० ८)

निरु०— " गौरमीमेदनु वत्सं मिषन्तं मूर्द्धानं हिङ्ङकृणोन्मातवाउ। सृक्काणं घर्ममभिवावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः ॥" [ऋ० सं० २, ३, २९, ३] ॥

गौः अन्वमीमेद् वत्सं निमिषन्तम् अनिमिषन्तम् आदित्यम्-इति वा मूर्द्धानम् अस्य अभि हिङ्ङकरोद् मननाय सृक्काणं सरणं घर्मं हरणम् अभिवावशाना मिमाति मायुं प्रप्यायते पयोभिर्मायुमिव आदित्यमिति वा।

वाग्-एषा माध्यमिका । 'घर्मधुग्'-इति याज्ञिकाः।

'धेनुः' धयतेर्वा, धिनोते र्वा।

तस्या एषा भवति- ॥ ८ (४२) ॥

अर्थः- " गौरमीमेदनु० " इस ऋचा का दीर्घतमाः ऋषि और महाव्रत में विनियोग है।

" गौः अनु-अमीमेद् मिषन्तं वत्सम्" गौ देखते हुए अपने बच्छे को अनुशब्द करती है-उसके शब्द के साथ

शब्द करती है-(अनिमिषन्तम् आदित्यम् इति वा) या मध्यम लोक की वाक् अपने बछड़े आदित्य को जो उसे देख रहा है या उसकी दृष्टि में वर्त्तमान है, गर्जना के शब्दों से पुकारती है। (क्योंकि-आदित्य उसके रसों को हरलेता है, इस से उसका वत्स है।) " मूर्द्धानम् (अस्य) हिङ् अकृणोत् (अभि हिङ् अकरोत् ") इस के मस्तक को छूकर हिङ्कार शब्द करती है। क्यों ? " मातवै उ " (मननाय) मनन या निरन्तर स्मरण करने के लिये-मध्यम लोक की वाक् सूर्य के रश्मिरूप मस्तक को प्राप्त होकर सब लोकों के परिज्ञान के लिये हिङ्कार-से उपशब्द [गर्जना] करती है। "सृक्वाणं घर्मम् अभिवावशाना मिमाति" ('सृक्वाणं' सरणं 'घर्मं' हरणम्) रसोंके हरने वाले सरण (गमन) स्वभाव आदित्य को पुकारती हुई प्रति संवत्सर शब्द करती है—मिमाति है। " पयते (प्रप्यायते) पयोभिः " (मायुमिव आदित्यम्-इति वा) दुग्धों से या जलों से बछड़े को और इसको बढ़ाती है।

इस मन्त्रमें देवता और घर्मधुक् गौ दोनों अर्थ ग्राह्य हैं। देवता पक्षमें गौण रूपसे 'गौः' 'वत्सम्'आदि शब्द मध्यम वाक् और आदित्य आदि को बोधन करते हैं। और गौ पक्षमें अपनी मुख्य वृत्ति से प्रसिद्ध गौ और बछड़े आदिको बोधन करते हैं-जैसा कि गौ और वत्स आदिका प्रसिद्ध स्वभाव है॥

" वाग् एषा माध्यमिका" यह गौ मध्यम लोक की वाक् देवी है।

" घर्मधुग्- इति याज्ञिकाः " घर्म (दूध) को दोहनेवाली = देने वाली गौ है-यह याज्ञिक (कर्मकाण्डी) लोग मानते हैं ॥

'धेनु' (३०) शब्द किस धातु से है ? पान अर्थ में या दान अर्थ में 'धे' [भ्वा० प०] धातु से है, क्योंकि-वह वत्सके सम्बन्ध से दूध पिलाती है या देती हैं । अथवा तृप्ति अर्थ में 'धिव् ' (भ्वा०प०) धातुसे हैं । क्योंकि-वह दुग्ध से तृप्त करती है ॥

" तस्याः० " उस (धेनु) की यह ऋचा हैं-॥८ (४२)

(खं०९)

निरु०-"उप ह्वये सुदुघां धेनुमेतां सुहस्तो गोधुगुत दोहदेनाम् । श्रेष्ठं सवं सविता साविषन्नोऽभीद्धो घर्मस्तदुषु प्रवोचम् ॥ " [ऋ० सं० २, ३, १९, १) ॥

उपह्वये सुदोहनां धेनुम् एतां, कल्याणहस्तो गोधुग् अपि च दोग्धि एनां, श्रेष्ठं सवं सविता सुनोतु नः इति "एष हि श्रेष्ठः सर्वेषां सवानां यद् उदकं यद्वा पयः यजुष्मद् अभीद्धो घर्मः, तं सुप्रब्रवीमि ॥

वाग् एषा माध्यमिका । घर्मधुग्- इति याज्ञिकाः ।

'अघ्न्या' अहन्तव्या भवति । अघघ्नी इति वा। तस्या एषा भवति ॥ ९ (४३) ॥

अथः- "उपह्वये सुदुघाम्०" इस ऋचाका दीर्घतमाः ऋषि और महाव्रत में विनियोग है।

(अहम्) मैं 'एताम्' इस 'सुदुघाम्' (सुदोहनाम्) सुन्दर दुहने वाली 'धेनुम्' धेनु को 'उपह्वये' बुलाता हूं-मैं इस सुन्दर जल को बरसने वाली मध्यम लोक की वाक् (धेनु) को मनसे आवाहन करता हूं। 'उत' (अपिच) और 'सुहस्तः' (कल्य.णहस्तः) सुन्दर या हलके हाथ वाला 'गोधुक्' गोको दोहने वाला (ग्वाला) या इन्द्र 'एनाम्' इस (धेनु) को 'दोहत्' [दोग्धि] दोहता है। "श्रेष्ठं सवं सविता" इसप्रकार अति उत्तम जल को जनने वाला 'अभीद्धः' प्रज्वलित 'घर्मः' मध्यम देव (ज्योतिः) 'तत्' (उ-) उस जल को 'साविषत्' सनोतु) देवे घर्मधुक् धेनु के पक्ष में 'सव' नाम दूध का है। जैसा कि कहा है—"एष हि श्रेष्ठः सर्वेषां सवानां यद् उदकं यद्वा पयः" यही सब सवों में श्रेष्ठ सव है, जो यह उदक (जल) है अथवा दुग्ध— यजुर्मन्त्रो से संस्कार किया हुआ। 'प्रवोचम्' (तं सुप्रब्रवीमि) मैं उसे भले प्रकार कहता हूं॥

"वाग्०" "यह (मन्त्रोक्त धेनु) मध्यम लोक की वाक् है" यह नैरुक्त मत है। "घर्मधुक् धेनु है" यह याज्ञिक कहते हैं।

'अघ्न्या' (३१) क्या? 'अहन्तव्या' नहीं मारने योग्य होती है। अथवा 'अघघ्नी' पाप को नाश करने वाली होने से वह 'अघ्न्या' है।

"तस्याः०" उस (अघ्न्या) की यह ऋचा है ॥९[४३]॥

(खं० १०)

"निरु०- सूयवसाद्भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम। अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती ॥" (ऋ० सं० २, ३, २१, ५) ॥

सुयवसादिनी भगवती हि भव अथ इदानीं वयं भगवन्तः स्याम, अद्धि तृणम् अघ्न्ये! सर्वदा पिब च शुद्धम् उदकम् आचरन्ती ॥

तस्य एषा अपरा भवति ॥१०[४४]॥

अर्थः-"सूयवसाद्भ०" इस ऋचा का ऋषि पूर्व के समान है। माध्यमिक वाक् से कहाजाता है—

'अघ्न्ये!' हे अघ्न्ये! नहीं मारने योग्य! या अघ [पाप] को नाश करने वाली! मध्यम लोक की वाक्! 'सूयवसात्' [सुयवसादिनी] सूयव [जल] को अपना आत्मा बनाकर या अपने अधीन करके [त्वम्] तू 'भगवती' [धनवती उदकेन] [जल से धन वाली 'भूयाः' [भव] हो 'अथो' [अथ] [इदानीम्] अब तुझे भगवती या धनवती होते ही 'वयम्' हम 'भगवन्तः' [धनवन्तः] धन वाले 'स्याम' होवें। हे अघ्न्ये!'तृणम्'(मेघम्) मेघको'अद्धि'[संचूर्णय]भले प्रकार विदारण कर।'विश्वदानी'म् (सर्वदा) (च) और सब काल में 'शुद्धम्' शुद्ध 'उदकम्' जल को 'आचरन्ती' सब अन्तरिक्ष में विचरती हुई 'पिब' पी (पानकर) ॥

"तस्याः"० उस अघ्न्याकी यह और ऋचाहै॥१०[४४]॥

(खं० ११)

निरु०— "हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागात्। दुहा मश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्द्धतां महते सौभगाय॥" [ऋ०सं० २, ३, १९, २] ॥

इति सा निगदव्याख्याता ॥

'पथ्या' 'स्वस्तिः'पन्था अन्तारिक्षं तन्निगासात। तस्या एषा भवति ॥११ [४५] ॥

अर्थः— "हिङ्कृण्वती०" इसका पूर्व के समान ऋषि आदि है।

'हिङ्कृणवती 'हिक्' ऐसा शब्द करती हुई ' वसुपत्नी' वसुओं [उदकों] की पत्नी (ईश्वरी)'वसूनाम्' अथवा आदित्य रश्मिओं की अथवा मरुतों की ईश्वरी 'मनसा'मन से'वत्सम् इच्छन्ती' आदित्य रूप या मध्यम (वायु) रूप वत्स को इच्छा करती हुई मध्यम लोक की वाक् 'अभ्यागात्' अभिमुख = सम्मुख (सामने) आई। 'इयम्' यह 'अघ्न्या' मध्यमा वाक् 'अश्विभ्याम्' द्यावा पृथिवी लोकों के लिये या सूर्य चन्द्रमा दोनों के लिये'पयः' जल 'दुहाम्'(दुग्धाम् = प्रक्षरताम् झरे। 'सा' सो मध्यमा वाक् (अघ्न्या)'महते—सौभगाय'हमारे बड़े सौभाग्य के अर्थ'वर्द्धताम्' बढे—इसी प्रकार प्रतिवर्ष जैसे हमारा सौभाग्य बढे वैसे ही जलसे बढे—जलकी वृष्टि करे॥

"इति सा" सो यह ऋचा अपने पाठ से ही व्याख्या

की गई जैसी है—सुगमता के कारण व्याख्या की अपेक्षा नहीं रखती (भाष्यकार कहते हैं) ॥

'पथ्या' (३२) 'स्वस्ति' [३३] ये दो शब्द हैं। 'पथ्या' क्या? 'पन्थाः' अन्तरिक्ष होता है, उसमें निवास होने से वह 'पथ्या' है।

तस्याः०" उस (पथ्या) की यह ऋचा है ॥ ११(४५) ॥

[खं० १२]

निरु०-"स्वस्तिरिद्धि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णस्वत्यभि या वाममेति। सा नो अमा सो अरणे निपातु स्वावेशा भवतु देवगोपा ॥" (ऋ०सं० ८.२,५.६)

स्वस्तिः एव हि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णस्वती धनवती अभ्येति, या वसूनि वननीयानि सा नः अमा गृहे सा निरमणे सा निर्गमने पातु स्वावेशा भवतु देवी गोप्त्री देवान् गोपायतु-इति, देवा एनां गोपायन्तु इति वा।

'उषाः' व्याख्याता।

तस्या एषा भवति-॥१२(४६)॥

अर्थः—"स्वस्तिरिद्धि०" इस ऋचा का अत्रिपुत्र ऋषि है।

'या' जो 'स्वस्तिः' 'इत्' (एव) स्वस्ति देवी ही 'प्रपथे' (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में 'श्रेष्ठा' सब देवताओं से श्रेष्ठ है, 'रेक्णस्वती' (धनवती) धनवाली है, 'वामम्' (वसूनि =

वननीयानि) जलों के 'अभिएति' सामने जाती है, 'सा' वह 'नः' हमें 'अमा' (गृहे) घर में 'पातु' रक्षा करे 'सा' वह 'नि-अरणे (अरण्ये निरमणे) अरण्य या भयानक स्थान में (रक्षा करे) (सा) वह (निर्गमने) घर से बाहर (पातु) रक्षा करे। वह देवी स्वस्ति 'स्वावेशा' (सूपचरणा) हमको शुभागमन वाली 'भवतु' हो। 'देवगोपा' (देवी गोप्त्री = देवान् गोपायतु इति) देवताओं को रक्षा करने वाली (देवाः एनां गोपायन्तु इतिवा) अथवा देवता इसको रक्षा करें ऐसी होवे-या यह देवताओं की रक्षणीय हो ॥

'उषाः' (३४) शब्दकी व्याख्या होचुकी [२,६,१]

"तस्याः०" इस (उषाः) की यह ऋचा है ॥१२ (४६)॥

[खं० १३]

निरु०- " अपोषा अनसः सरत् सम्पिष्टादह बिभ्युषी । नियत्सीं शिश्नथद्वृषा ॥ " (ऋ० सं० ३, ६, २०, ५) ॥

अपासरद् उषा अनसः सम्पिष्टाद् मेघाद् विभ्युषी ।

'अनो' वायुः । अनितेः । अपि वा उपमार्थे स्याद् अनस इव = शकटादिव ।

'अनः' शकटम् । आनद्धम् अस्मिन् चीवरम् । अनितेर्वा स्याद् जीवनकर्मणः । उपजीवन्ति एनम् । मेघोऽपि 'अनः' एतस्मादेव ॥

यद् निरशिश्नथद् वृषा वर्षिता मध्यमः- ॥

तस्या एषा अपरा भवति- ॥ १३ (४७) ॥

अर्थः-"अपोषा अनसः०" इस ऋचाका और अगली ऋचा का वामदेव ऋषि है।

'उषाः' उषा 'सिम्पिष्टात्' विदारण किये हुए 'अनसः' (मेघात्) मेघसे 'अप-सरत्' (अपासरत्) हटगई। क्यों? 'बिभ्युषी' (बिभ्यती) डरती हुई। अर्थात जब वायु मेघों को हनन करता है, उस समय, उसमें रहने वाली उषा 'यह मुझे भी मारेगा' इस ख्याल से डर कर उस से हटजाती है। कब "नियत् सीं शिश्नथद् वृषा"

'यत्' (यदा) जब ['सीम्'अनर्थक] 'वृषा' (वर्षिता मध्यमः)वृष्टि करनेवाला वायु मध्यम देव 'निश्नियत्' (निरश्निश्नयत्) हनन करता है॥

"अपिवा०" अथवा 'अनसः' यह उपमा अर्थ में हो सकता है 'अनसः इव' (शकटाद् इव)। जिस प्रकार कोई शाकटिक (गडवाला) किसी लुटेरे आदि से गाड़ी तोड़ी जाने पर उससे निकल भागे,वैसे ही उषा वायुके द्वारा मेघके चूर्णित किये जाने पर उससे भय करती हुई निकल पड़ती है।

'अनः' क्या? शकट (गाड़ा) क्यों? इसमें चीवर (पिञ्जर) आनद्ध (बंधा हुआ) होता है। अथवा जीवन अर्थ में 'अन' (अदा०प०) धातु से है। क्योंकि इसको जीविकार्थी उपजीवन करते हैं। मेघ भी 'अनस्' है, इसी धातु से।

"तस्याः०" उस (उषाः)की यह और ऋचा है-॥१३(४७)॥

(खं० १४)

निरु०-"एतदस्या अनः शये सुसम्पिष्टं विपाश्या

ससार सीं परावतः ॥" (ऋ० सं० २, ६, ३१,१) ॥

एतद् अस्या अन आशते सुसम्पिष्टम् इतरादिव विपाशि विमुक्तपाशि ससार उषाः परावतःप्रेरित-वतः परागताद् वा ।

'इला' व्याख्याता ।

तस्या एषा भवति ॥१४ (४८) ॥

अर्थः-"एतदस्याः०" इस ऋचा में वृष्टि के पश्चात् पृथ्वी पर पड़े हुये जलको देख कर ऋषि उसमें विदीर्ण पड़े हुये मेघ की बुद्धि करके उसी की ओर निर्देश करता हुआ कहता है-

'एतद्' यह 'अस्याः' (उषसः) इस उषा का 'अनः' (मेघा-ख्यम्) मेघ रूप शकट 'सुसम्पिष्टम्' वायु से भली प्रकार चूर्ण किया हुआ 'आशये' (आशेते) पृथ्वी पर फैलकर पड़ा है, (इतरद् इव विपाशि = विमुक्तपाशि) जैसे दूसरा मनुष्य का गाड़ा जिसके सब बन्धन टूटगये हों, पड़ा हो' 'परावतः' (प्रेरितवतः) जिस प्रेरित किये गए या प्रेरित हुए हुएसे [परा-गताद् वा] अथवा दूर से भी दूर गए हुये से 'उषाः' उषा 'ससार' निकल भगी ॥

'इला' [३५] शब्द की व्याख्या होचुकी ।

"तस्याः०" उस (इला) की यह ऋचा है ॥१४(४८)॥

(खं० १५)

निरु०-"अभि न इळा यूथस्य माता स्मन्नदी-

भिरुर्वशी वा गृणातु । उर्वशी वा बृहद्दिवा गृणाना भ्यूर्ण्वाना प्रभृथस्यायोः । सिषक्तु न ऊर्जव्यस्य पुष्टेः ॥" [ऋ०सं० ४, २, १६, ६७ अथ०वा० ५, ३, ९, १९-२०]

आभिगृणातु नः इला यूथस्य माता सर्वस्य माता स्मदभि नदीभिः उर्वशी वा गृणातु उर्वशी वा बृहद्दिवा महद्दिवा गृणाना अभ्यूर्ण्वाना प्रभृथस्य प्रभृतस्य आयोः अयनस्य मनुष्यस्य मनुष्यस्य ज्योतिषो वा उदकस्य वा सेवतां नः अन्नस्य पुष्टेः ।

'रोदसी' रुद्रस्य पत्नी ।

तस्या एषा भवति- ॥ १५ (४९) ॥

अर्थः-" अभिन इला०" इस ऋचा का अत्रि ऋषि और शक्वरी छन्द है । " यूथस्य माता " मेघसमूह की माता = निर्माण करने वाली "उर्वशी वा " और उर्वशी नाम से कही जाती है, या इडा नामसे कही जाती है, सो 'इला' मध्यमा देवी 'नः' (अस्मान्)हमें 'अभिगृणातु' [अभिशब्दयतु] बोले । कैसे ? 'नदीभिः' (नदनाभिः अद्भिः) नदिओं से = शब्दवाले जलों के द्वारा ।'उर्वशी वा' उर्वशी के समान 'दिवा' बिजली सहित जल समूह से 'बृहत्' (महत) बहुत 'गृणाना' बोलती हुई 'अभ्यूर्ण्वाना' इस जगत् को आच्छादन करती

हुई इला 'प्रभृथस्य' [प्रभृतस्य] इकट्ठे किये हुये 'आयोः' गमन स्वभाव जल के [समूह से] 'नः' हमें "सिषक्तु" सींचे। किस प्रयोजन के लिये? "ऊर्जव्यस्य पुष्टेः" अन्न की पुष्टि के लिये॥

"अभ्यूर्ण्वाना प्रभृथस्य आयोः" [आयोः अयनस्य मनुष्यस्य मनुष्यस्य ज्योतिषो वा उदकस्य वा [अथवा मनुष्य मनुष्य को ढांपने वाली या ज्योति को ढांपनेवाली या जल को ढांपने वाली इला हमें सींचे [अन्नस्य पुष्टेः अन्न की पुष्टि के हेतु॥

रोदसी [२६] क्या? रुद्र की पत्नी (भार्य्या)।

"तस्याः०" उस [रोदसी] कीयह ऋचा है॥१५[४६]॥

व्याख्या।

मन्त्र में "उर्वशी वा" ऐसा पाठ दो बार आया है। इनमेंएक बारइला और उर्वशी में अभेद बुद्धि से इलाका ही उर्वशी नामान्तर कहा गया है, और दूसरी बार उन दोनों में भेद बुद्धि करके उर्वशी को इला की उपमा बनादी है, यह वक्ता वेद भगवान् की इच्छा या कल्पना है॥१५(४६)॥

(खं० १६)

निरु०" रथन्नु मारुतं वयं श्रवस्युमा हुवामहे आ यस्मिन् तस्थौ सुरणानि बिभ्रती सचा मरुत्सु रोदसी॥" (ऋ० सं० ४३, २०, ३)॥

रथं क्षिप्रं मारुतं मेघं वयं श्रवणीयम् आह्वयामहे, आ यस्मिन् तस्थौ सुरमणीयानि उदकानि

बिभ्रती सचा मरुद्भिः सह रोदसी रोदसी ॥ १६ (५०) ॥

इति-एकादशाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥११,४ ॥

अर्थः-" रथन्नु मारुतं०" इस ऋचा का श्यावाश्व ऋषि और अग्निमारुत में विनियोग है ।

" वयं (तं) रथं (क्षिप्रं) मारुतं (मरुत्सहितं) श्रवस्युं (श्रवणीयम्) मेघम् आहुवामहे (आह्वयामहे) " हम उस शीघ्रगामी मरुतों सहित श्रवण करने योग्य मेघ को बुलाते हैं । "यस्मिन् सुरणानि [सुरमणीयानि उदकानि] बिभ्रती मरुत्सु [मरुद्भिः] सचा (सह) रोदसी आतस्थौ " जिसमेंघरूप रथ में सुन्दर रमणीय जलों को धारण करती हुई मरुतों के सहित रोदसी या रुद्रकी पत्नी बैठती थी या बैठती है । 'रोदसी' शब्द का पुनः पाठ अध्याय की समाप्ति की सूचना के अर्थ है ॥ १६ (५०) ॥

इति हिन्दीनिरुक्ते एकादशाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥११,४॥

निरुक्त के एकादश अध्याय का खण्ड सूत्र-

(१ म पा०-) श्येनः (१) आदाय (२) स्वादिष्ठया (३) सोमम् (४) यत्वा (५) नवोनवः (६) परंमृत्यो (७) त्वेषमित्था (८) प्रवोमहे (९) उदुज्योतिः (१०) धाता (११) सोमस्य (१२) [२ य पा०—] अथातो मध्यस्थाना देवगणाः [१३) आविद्युन्मद्भिः [१४] आरुद्रासः (१५)

विष्ठी शमी [१६) विरूपासः [१७] उदीरताम् (१८) अङ्गिरसः (१९) सूर्यस्येव (२०) स्तुषेय्य [२१] (३ य पा०—] अथातो मध्यस्थानाः स्त्रियः (२२) दक्षस्य वा (२३) यस्मै त्वम् [२४] किमिच्छन्ती [२५] पावकानः (२६) भुवोहरणः (२७) यद्वाग् वदन्ती(२८) देवीं वाचम् (२९) अन्विदं वते (३०) राकामहम् (३१) सिनीवाली (३२) कुहूमहम् (३३) अन्यमूषु (३४) [४ र्थ पा०—] उर्वशी (३५) विद्युम्न (३६) बलित्था (३७) इन्द्राणीम् (३८)नाह-मिद्राणि (३९) गौरीर्मिमाय(४०)तस्याह(४१)गौरमीमेद्द [४२] उपह्वये (४३) सूयवसात् (४४) हिङ्कृण्वती (४५) स्वस्तिरिद्धि (४६) अपोषा (४७) एतदस्याः (४८) अभिनः (४९)रथं नु मारुतम् (५०) ॥

इति निरुक्ते [उत्तर षट्के) एकादशोऽध्यायः ॥११,(४) ॥

इति हिन्दी निरुक्ते (उत्तर षट्के) एकदशोऽध्यायः समाप्तः ॥११ (४) ॥

अथद्वादशोऽध्यायः ॥

प्रथमः पादः ।

[खं० १]

निघ०— अश्विनौ ॥१॥ उषाः ॥ २ ॥ सूर्या ॥ ३ ॥ वृषाकपायी ॥ ४ ॥ संरण्यूः ॥५॥

निरु०— ॐ॥ अथातो द्युस्थाना देवताः ।

तासाम् आश्विनौ प्रथमागामिनौ भवतः

'अश्विनौ' यद् व्यश्नुवाते सर्वम्, रसेन अन्यः ज्योतिषा अन्यः ।

"अश्वैः आश्विनौ"- इति और्णवाभः ।

तत् कौ अश्विनौ ?

" द्यावापृथिव्यौ"- इत्येके ।

" अहोरात्रौ"- इत्येके ।

"सूर्याचन्द्रमसौ "- इत्येके

"राजानौ पुण्यकृतौ"- इति ऐतिहासिकाः ।

तयोःकालः ऊर्द्ध्वम् अर्द्धरात्रात् प्रकाशीभावस्य अनुविष्टम्भम् अनु तमोभागो हि मध्यमः,ज्योतिर्भागः आदित्यः ।

तयो एषा भवति ॥१॥

अर्थः-मध्यस्थान के देवताओं का विशेष वचनों और लिङ्गों के द्वारा व्याख्यान हो चुका, अब इसी समाम्नाय के अनुक्रम के अनुसार द्युस्थान [उत्तम स्थान] के देवताओं का व्याख्यान करना चाहिये, इस लिये विशेष रूप से पुन: अधिकार वचन कहते हैं-

"अथातो द्युस्थाना देवताः"

अब यहां से द्युस्थान के देवताओं का व्याख्यान किया जावेगा। उनमें 'अश्विन्' प्रथमागामी (पहिले आने योग्य) हैं।

'अश्विनौ' [१] [अश्विन्] क्यों हैं? 'यद् व्यश्नुवातेसर्वम्' जिससे कि— वे सब को व्यापन करते हैं, उनमें एक रस (जल) से, और दूसरा (एक) ज्योति या प्रकाश से।

अश्वों (घोड़ों) से वे 'अश्विन्' हैं- वे घोड़े वाले होने से 'अश्विन्' हैं। यह और्णवाभ आचार्य मानता है। (यह व्याख्यान ऐतिहासिक पक्ष में घटता है।)

"तत्०" सो कौन अश्विन् हैं?

'द्यावापृथिवी हैं— द्युलोक और पृथिवी लोक हैं' ऐसा कोई मानते हैं।

'अहोरात्र हैं- दिन और रात्रि हैं' ऐसा कोई आचार्य मानते हैं।'

'सूर्य चन्द्रमा हैं —ऐसा कोई आचार्य मानते हैं।'

'पुण्य कर्म के करने वाले राजा हैं — ऐसा ऐतिहासिक मानते हैं।'

"तयोः०" उन (अश्विनों) का काल अर्द्धरात्र (आधीरात) से पीछे है, ज्योति से फाड़ा जाता हुआ अंधेरा- जिस समय

अंधेरे को फाड़ता हुआ प्रकाश उसमें मिलने लगता है, या जब तक मिलता रहता है, वह काल सूर्योदय से पहिले २ अश्विनों का है।

"तमोभागोहि मध्यमः" उस प्रकाश और अन्धकार के मेल) में अंधेरे का भाग मध्यम देव है।

"ज्योतिर्भागः आदित्यः" और प्रकाश भाग आदित्य (उत्तम देव) है। (यह नैरुक्त मत है)॥

"तयोः०" उन दोनों (अश्विनों) की यह ऋचा है ॥१॥

व्याख्या।

"द्युस्थाना देवताः" यद्यपि नैरुक्तोंके मतमें द्युस्थान का एक ही आदित्य देवता है, इससे 'देवता' पदमें एक वचन ही चाहिए, तथापि याज्ञिकों के मत में बहुत देवता हैं, उनके मत में यह बहुवचन चरितार्थ हो जाता है।

द्युस्थान के देवताओं का भेद। यद्यपि स्वरूप से सभी द्युस्थानके देवता एकजैसे है, तथापि भिन्न२ कालके सम्बन्ध से वे न्यारे२ समझे जाते हैं। तदनुसार अश्विनों का अन्य द्युस्थान के देवताओं से भेद बताने के लिये प्रथम व्याख्येय अश्विनों का "तयोः कालः०" इस पङ्क्तिसे काल बताया है। इसी प्रकार अन्य २ देवताओं के व्याख्यानों में भी उनके काल का अनुसन्धान रखना चाहिए।

दोनों अश्विन भिन्न २ लोक के 'अश्विन्' नाम के दो जोड़ले जैसे देवता हैं, जहां कहीं भी इनका नाम आता है, द्विवचन से ही आता है, इसी से इनका अर्चन एक साथ

एक मन्त्र से ही होता है, किन्तु ये दोनों भिन्न२ लोकके देवता हैं। इनमें एक अन्धकार रूप है और एक प्रकाशरूप। जो अन्धकार रूप है, वह मध्यम लोक का और जो प्रकाशरूप है, वह उत्तम लोक का है।

उत्तम लोक के देवताओं में व्याख्यान क्यों ?

यद्यपि इन में एक देवता मध्यम लोक का है, इससे इस [अश्विन्] की व्याख्या मध्यम देवताओं में चाहिए, और एक उत्तम लोक का है, इससे उत्तम लोक के देवताओं में (जैसे कि-यहां है) चाहिए अथवा मध्यम (तमोरूप) का मध्यमों में और उत्तम (प्रकाशरूप] का उत्तमों में व्याख्यान होना चाहिये ? तथापि इनकी स्तुति सर्वत्र एक साथ ही आती है, किन्तु एक २ की नहीं इससे इनका ऐसा नियम नहीं दिया जा सकता जो एक देवता को वर्णन करे, इस से इन की व्याख्या एक ही लोक के देवताओं में होसकती है, और तथापि उत्तम लोक के देवताओं ही में उचित है। क्योंकि-उत्तम लोक का जो देवता प्रकाशरूप है, वही अपने प्रकाश रूप से वर्द्धमान है, और दूसरा जो तमोरूप है, वह सूर्योदय की ओर जितना चलता है अपने तमोरूपसे क्षीण होता जाता है, प्रयोजन ? उत्तम देवता की बलवत्ताके कारण उसके अधिकार में व्याख्या प्राप्त होती है, इस से यहीं व्याख्या की गई है ॥

आचार्य का मत। यास्कका मत यह है कि-ये 'अश्विन्' नाम से मध्यम उत्तम देवता हैं। जिसके समर्थन के लिये यह उदाहरण देते हैं- ॥१॥

[खं०२]

निरु०- "वसातिषु स्म चरथोऽसितौ पेत्वा-विव । कदेदमश्विना युवमभि देवाँ अगच्छतम् ॥"

इति सा निगदव्याख्याता ॥

तयोः समानकालयोः समानकर्मणोः संस्तुत-प्राययोः असंस्तवेन एषोऽर्द्धर्चो भवति- "वासात्यो अन्य उच्यत उषः पुत्रस्तवान्यः" इति ।

तयोः एषा अपरा भवति- ॥ २ ॥

अर्थः-"वसातिषुस्म-" ऋषि को देवता के दर्शन की दृष्टि प्राप्त हुई, रात्रि भाग के बीते, दिनकी उजाली (सन्धि) हुई, ऋषि सहसा ही (एकदम ही) अश्विन् देवताओं को देखकर कहता है ।

हे 'अश्विनौ !' हे अश्विन् देवो ! 'युवाम्' तुम दोनों 'असितौ' काले 'पेत्वौ-इव' मेघों के समान 'वसातिष' (रात्रिषु) रात्रिओं में चरथ'(स्म) विचरते हो—आप के काले२ होने से रात्रि में मैं आपको न देख सका, अब इस उषाकाल में किसी प्रकार देख सकाहूं, इसी से कहता हूं— 'अश्विना' (अश्विनौ !) हे अश्विन् देवो ! 'कदा' कब 'इदम्' (अस्मत्कर्म प्रति) इस हमारे कर्म के प्रति (ये देवा आगता) जो देवता आए हैं, उनके प्रति 'युवम्' (युवाम्) तुम दोनों 'अभिगच्छतम्' आए ? ॥

यह, सो ऋचा पाठ से ही व्याख्या की गई है ।

"तयोः०" उन दोनों समान काल वालों समान कर्म वालों प्रायः एक साथ स्तुति वाले अश्विनों की पृथक् स्तुति की यह आधी ऋचा है।-

"वासात्यो अन्य०" अर्थात्- 'अन्यः' (एकः) एक 'वासात्यः' रात्रि का पुत्र है 'अन्यः' एक "तव उषः पुत्रः" तुम उषा का पुत्र है। यह ॥

"तयो रेषा०" उन (अश्विनों) की यह और ऋचा है ॥ २ ॥

(खं० ३)

निरु०- इहेह जाता समवावशीतामरेपसा तन्वा३ नामभिः स्वैः। जिष्णुर्वामन्यः सुमखस्य सूरि र्दिवो अन्यः सुभगः पुत्र ऊहे ॥" (ऋ०सं० २, ४, २५, ४)।

इह च इह च जातौ संस्तूयेते पापेन अलिप्यमानया तन्वा नामभिश्च स्वैः जिष्णुर्वामन्यः सुमहतो बलस्य ईरयिता मध्यमः, दिवः अन्यः सुभगः पुत्रः ऊह्यते आदित्यः।

तयोः एषा अपरा भवति ॥३॥

अर्थ- "इहेह जाता०" इस ऋचा का अगस्त्य ऋषि और मासरनुवाक और आश्विन में विनियोग है।

(हे अश्विनौ ! युवाम् उभयेथे) हे अश्विनो ! तुम दोनों

से कहा जाता है- "इह-इह जाता" (इह च (मध्यस्थाने) इह च (द्युस्थाने) जातौ) यहां मध्य स्थान में और यहां द्युस्थान में 'जाता' (जातौ) उत्पन्न हुए हुए तुम दोनों 'अरेपसा' (पापेन अलिप्यमानया) पाप से न लिपती हुई (पापरहित) 'तन्वा' शरीर से—अपने/संकल्प के अनुसार ग्रहण किये हुए देह से 'स्वैः' अपने 'नामभिः' नामों से—जो दूसरे के आश्रय के विना अपनी स्तुति के निमित्त से हैं 'समवावशीताम्' (संस्तूयेते = संस्तूयेथे) स्तुति किये जाते हो और वाम्' तुम दोनों में 'अन्यः' एक 'जिष्णुः' नित्य ही जय लाभ करने वाला 'सुमखस्य' (सुमहतो बलस्य) सुन्दर महान् बलका 'सूरिः' (ईरयिता) प्रेरणा करने वाला है (मध्यमः) इससे मध्यम (वायु या इन्द्र) है । क्योंकि—ऐसे गुण वाला मध्यम से अन्य नहीं है। 'अन्यः' और एक 'सुभगः' सुन्दर धन वाला 'दिवः' द्युलोक का 'पुत्रः' पुत्र 'ऊहे' (ऊह्यते वायुना) वायुके द्वारा वहन किया जाता है—चलाया जाता है या लेजाया जाता है, वह (आदित्यः) आदित्य है। क्योंकि—वह सूर्य से अन्य नहीं हो सकता। इस प्रकार यहां परभी ये दोनों अश्विन् मध्यम उत्तम देवरूप हैं।

"तयोः०" उन दोनों (अश्विनों) की यह और ऋचा है। [वह क्यों ? ये दोनों देवते साथ स्तुति वाले समान काल वाले और समान कर्म वाले हैं, यह कहा है, उसके दिखाने के अर्थ यह ऋचा है।] ॥३॥

(खं० ४)

निरु०—"प्रातर्युजा विबोधयाश्विना वेह गच्छ.

ताम् । अस्य सोमस्य पीतये ॥" (ऋ०सं० १, २, ४, १)

प्रातर्योगिनौ विबोधय अश्विनौ-आगच्छताम् अस्य सोमस्य पानाय ॥

तयोः एषा अपरा भवति ॥४॥

अर्थः- "प्रातर्युजा०" इस ऋचाका मेधातिथि ऋषि और प्रातरनुवाक में विनियोग है।

हे (स्तोतः) स्तुति करने वाले ! ऋत्विज् ! 'प्रातर्युजा' (प्रातर्योगिनौ) प्रातःकाल मिलने वाले—प्रातःकाल में हविः से और स्तुति से संयुक्त होने वाले 'अश्विनौ' अश्विन् देवों को 'विबोधय' जगा-सुन्दर स्पष्ट स्तुतियों से (अस्मदर्थम्) हमारे लिये जगा। और तुमसे जगाये हुए वे दोनों 'इह' इस हमारे कर्म में 'आ-गच्छताम्' आवें। किस लिये 'अस्य' इस 'सोमस्य' सोम के 'पीतये' (पानाय) पीने के लिये ॥

"तयोः०" उन (अश्विनों) की यह और ऋचा है। (यह किस लिये है? इन अश्विनों की अन्य कालमें इज्या (पूजा) है ही नहीं, यदि कोई करे भी, तो वह अनिज्या (अपूजा) या व्यर्थ पूजा ही है, और इनका संस्तव या सहस्तुति ही है, किन्तु पृथक् नहीं, यह अगली ऋचासे भली प्रकार दिखाया जाता है) ॥४॥

(खं० ५)

निरु०-"प्रातर्यजध्वमश्विना हिनोत न सायमस्ति देवया अजुष्टम् । उतान्यो अस्मद्यजते विचावः

पूर्वः पूर्वो यजमानो वनीयान् ॥" (ऋ० सं० ४, ४, १८, २) ॥

प्रातः यजध्वम् अश्विनौ प्रहिणुत न सायम् अस्ति देवेज्या अजुष्टम् एतद् अपि अन्यो अस्मद् यजते विचावः पूर्वः पूर्वो यजमानो वनीयान् वनयितृतमः । तयोः कालः सूर्योदयपर्यन्तः, तस्मिन् अन्या देवता ओप्यन्ते ॥

'उषाः' वष्टेः कान्तिकर्मणः । उच्छतेः-इतरा माध्यमिका ।

तस्या एषा भवति- ॥५॥

अर्थ :-"प्रातर्यजध्वम्०" इस ऋचा का अग्नि ऋषि और प्रातरनुवाक में विनियोग है ।

हे (स्तोतारः !) स्तुति करने वालो तुम से कहा जाता है-(यूयम्) तुम सब 'अश्विना' (अश्विनौ) अश्विनों को 'प्रातर्यजध्वम्' प्रातःकाल ही यजन करो, [इसीसे कहता हूं] 'हिनोत' (प्रहिणुत) बहुतायत से उनके प्रति स्तुतिओं और हविओं को पहुंचाओ । [मैं क्यों कहता हूं प्रातःकाल यजन करो ?] "न सायम् अस्ति देवया" (देवेज्या) इन दो देवताओं की सायंकाल में इज्या (पूजा) नहीं है । 'अजुष्टम्' (अनासेवितम्) यदि किसी प्रकार हो भी जावे, तो वह उनका अजुष्ट = अस्वीकृत है-सायंकाल में किये हुये यजनको वे देवता स्वीकार नहीं करते । 'उत' (एतद् अपि) और यह

भी है कि—'अस्मद्' हम से 'अन्य:' दूसरा कोई पुरुष 'यजते' इन अश्विनों को यजन करता है या करे, 'विचाव:' (वि च अव:) (व्यावयति च) और हवियों से तर्पण करता है, या करे, तो "पूर्वः पूर्वः यजमानः वनीयान्" (वनयितृतमः) पहिला पहिला यजमान सेवन करने योग्य होता है या मान्य होता है—क्योंकि—हम पहिले यजन करते हैं, इस से देवता के निकट उनके प्रसाद के पात्र हमीं बनेंगे ॥

"तयो:०" उन अश्विन् देवों का सूर्योदय पर्यन्त काल है। [उस से क्या है ?] उस स्तुति कालमें अश्विनोंके शस्त्र में और देवता आवाप किये जाते हैं—अन्य देवताओं को उस काल की स्तुति प्राप्त हो, इस लिये वे वहां भरे जाते (चाले जाते) हैं = उनके मन्त्र पढ़े जाते हैं।

'उषाः' [२] कैसे ? कान्ति अर्थ में 'वश' [अदा० प०] धातु से है। जोकि- कहा है—(१, ६, १) 'उच्छति' (उच्छ भ्वा० प०) कर्तृवाच्य धातु का है, वह विकल्प से द्युस्थान उषा का नाम है। और जो दूसरी 'उषाः' मध्यम लोक की है, उसके लिये विकल्प नहीं है, किन्तु वह 'उच्छ' (भ्वा०प०) धातु से ही है।

"तस्या:०" उस (मध्यम लोक की उषा) की यह ऋचा है— ॥ ५ ॥

[खं० ६]

निरु०—"उषस्तच्चित्रमाभरास्मभ्यं वाजिनीवती। येन तोकं च तनयं च धामहे ॥" (ऋ० सं० १, ६, २६, ३) ॥

उषः ! तत् चित्रं चायनीयं मंहनीयं धनम् आहर अस्मभ्यम् अन्नवति !, येन पुत्रांश्च पौत्रांश्च दधीमहि ॥

तस्या एषा अपरा भवति ॥ ६ ॥

अर्थ :-"उषस्तच्चित्रमाभरा" इस ऋचा का गोतम ऋषि, और प्रातरनुवाक तथा आश्विन [शस्त्र] में विनियोग है।

'उषः!' हे उषः ! 'अस्मभ्यम्' हमारे लिये 'तत्' सो 'चित्रम्' (चायनीयम्) चाहने योग्य (मंहनीयम्) मंहना या पूजनीय (धनम्) धन 'आहर' ला, 'वाजिनीवति ! ' (अन्नवति !) हे अन्नवाली ! अन्नपूर्णे ! 'येन' जिस धनसे 'तोकम्' 'च' (पुत्रांश्च) पुत्रों को 'तनयं-च' (पौत्रांश्च) और पोतों को 'धामहे' (दधीमहि) पालें ॥

"तस्याः०' उस उषा की यह और ऋचा है। सो क्यों ? पूर्व ऋचा में "चित्रं धनमाहर" 'सुन्दर धन को ला' यह कहा है, वह उत्तम और मध्यम दोनों उषाओंके लिये समान है, किन्तु अगली ऋचामें उत्तम उषाका विशेष लिङ्ग है- "पूर्वे अर्द्धे रजसो भानुमञ्जते ।" इससे यह अगली ऋचा उदाहरण में दीजाती है ॥६॥

(खं० ७)

निरु०- " एताउ त्या उषसः केतुमक्रत पूर्वे अर्द्धे रजसो भानु मञ्जते ॥ निष्कृण्वाना आयु-

धानीव धृष्णवः प्रति गावोऽरुषीर्यन्ति मातरः ॥"
[ऋ० सं० १, ६, २४, १ । सा० सं० उ० आ० ८, ३, १६, १] ॥

एतास्ता उषसः केतुमकृषत प्रज्ञानम्, एकस्या एव पूजनार्थे बहुवचनं स्यात् ।

पूर्वे अर्द्धे अन्तरिक्षलोकस्य समञ्जते भानुना निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णवः ।

'निर्' इत्येष 'सम्' इत्येतस्य स्थाने ।

"एमीदेषां निष्कृतं जारिणी वा ॥" [ऋ० सं० ७, ८, ३, ५] इत्यपि निगमो भवति ।

प्रति यन्ति 'गावः' गमनात् । 'अरुषीः' आरोचनात् । 'मातरः' भासो निर्मात्र्यः ॥

'सूर्या' सूर्यस्य पत्नी । एषैव अभिसृष्टकालतमा । तस्या एषा भवति ॥७॥

अर्थः—"एताउत्या०" इस ऋचा का पूर्व ऋचा के समान ऋषि और विनियोग है ।

'याः' जो (उषाएं) 'रजसः' (अन्तरिक्षलोकस्य) अन्तरिक्ष लोक के 'पूर्वेअर्द्धे' पूर्व आधे भाग में 'भानुम्' (भानुना) प्रकाश से 'अञ्जते' (समञ्जते) अपने आप को प्रकट करती हैं, 'एताः त्याः' (ताः) ये वे 'उषसः' उषाएं 'केतुम्' (प्रज्ञानम्) उज्वल ज्ञान को 'अक्रत' (अकृषत) करतीं हैं, या देती हैं । एक ही

उषा में पूजा (प्रशंसा) अर्थ में बहुवचन है। किस प्रकार उषाएं लोक के अज्ञान को करती हैं? निष्कृण्वाना आयुधानि इव धृष्णवः" धृष्णु आयुधारी जिस प्रकार अपने आयुधों को मांजते हुये उन्हें चमकाते हैं, इसी प्रकार उषाएं भी अपने प्रकाश से लोक के अज्ञान को मांजदेती हैं या प्रकट कर देती हैं। फिर 'गावः' गमन स्वभाव वाली 'अरुषीः' चारों ओर रोचन (प्रकाश) करने वाली 'मातरः' [भासो निर्मात्र्यः] प्रकाश की माताएं (निर्माण करने वाली) उषाएं प्रति यन्ति लौट जाती हैं- जिससे उदय हुई हैं, उसी सूर्य के प्रति चली जाती हैं या उसमें लय होजाती हैं।

"निष्कृण्वाना" इस पद में 'निर्' यह पद 'सम्' इस के स्थान में है। जिससे उस पद का 'संस्कुर्वाणाः (मांजने वाले) अर्थ होजाता है। इसमें-

एगादेषाम्०" अर्थात्— (अहम्) मैं 'एषाम्' इन (व्यारियों के निष्कृतम् (संस्कृतं) [स्थानम्] सुधारे हुए स्थान को 'एमि इत्' आता ही हूं 'जारिणी इव' जैसे कोई जारिणी स्त्री अपने चरित्र को न गिनती हुई पुनः उपपतियों के पास जाती हैं यह भी निगम है।

'गावः' (गो) क्यों? गमन (चलने) से।

'अरुषीः' क्यों? आरोचन [चारों ओर प्रकाश) से।

'मातरः' (मातृ) क्यों? भास् (प्रकाश) की निर्मात्रीएं होने से॥

* 'सूर्या' (२) क्या? सूर्य की पत्नी। जैसे१ सूर्य के उदय के प्रति अधिक गई हुई होती है यही उषा 'सूर्या' होजाती है।

"तस्याः०" उस (सूर्या) की यह ऋचा है॥७॥

व्याख्या।

'उषसः'(उषाएं)। क्यों कि—सूर्य कीही किरणों से अंधेरा हट या जाने पर प्रकाश होता है, वे ही उषाएं कही जाती हैं वह परमार्थतः (वास्तवमें) स्त्रीलिङ्ग विशिष्ट सूर्य ही है। प्रकाश रूप कार्य सूर्य का ही है ॥७॥

(खं० ८)

निरु० "सुकिंशुकं शल्मलिं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम्। आरोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पत्ये वहतुं कृणुष्व ॥" (ऋ० सं० ८, ३, १३, ५) ॥

सुकाशनं शल्मलं सर्वरूपम्।

अपिवा उपमार्थे स्यात्। सुकिंशुकमिव शल्मलिम्– इति।

'किंशुकं' क्रंशतेः प्रकाशयतिकर्मणः।

'शल्मलिः' सुशरो भवति। शरवान् वा।

आरोह सूर्ये! अमृतस्य लोकम्– उदकस्य।

सुखं पत्ये वहतुं कृणुष्व।

"सविता सूर्यां प्रायच्छत् सोमाय राज्ञे प्रजापतये वा" इति च ब्राह्मणम्।

'वृषाकपायी' वृषाकपेः पत्नी। एषा एव अभिसृष्टकालतमा।

तस्या एषा भवति ॥९॥

अर्थः-"सुकिंशुकम्०" इस ऋचा की सूर्या ऋषि है। विवाह में विनियोग है।

'सूर्ये !' हे सूर्ये !] सूर्य की पत्नि ! 'सुकिंशुकम्' [सुकाशनम्) लोकों को सुन्दर प्रकाश देने वाले 'शल्मलिम्' [शल्नमलम्] निर्मल अथवा उपमा अर्थमें हो सकता है- "सुकिंशुकमिव शल्मलिम्" सुन्दर लाल फूलों वाले शल्मलि वृक्ष के समान लाल वर्ण ['किंशुक' नाम ढाक के पुष्प का है, यहां लाल पुष्पों के सादृश्य से 'किंशुक' शब्द पुष्पयुक्त शल्मलि वृक्ष में गौणरूप से आगया है।] 'विश्वरूपम्' [(सर्वरूपम्) सर्वरूप 'हिरण्यवर्णाम्' सुवर्ण के समान वर्णवाले अथवा सुवर्ण के समान वरणीय (ग्रहण करने योग्य) 'सुवृतम्' सुन्दर बर्तने वाले या सुन्दरता से रहने वाले या रश्मिओं से भले प्रकार ढंपेहुये 'सुचक्रम्' सुन्दर प्रकाश करने वाले या सुन्दर चक्र [मण्डल] वाले 'अमृतस्य' [उदकस्य] जलके 'लोकम्' (स्थानम्] स्थान [सूर्यमण्डल] को 'आरोह' आरोहण कर-उस पर चढ़जा। क्यों ? "पत्ये स्योनं (सुखं) वहतुं कृणुष्व" इस मण्डल के अधिष्ठाता सूर्य देव के लिये सुख प्राप्त कर॥

'किंशुक' कैसे ? प्रकाश करने अर्थ में 'क्रंश' (भ्वा०प०] धातु से है।

'शल्मलि' क्यों ? वह सुशर [सुन्दर बाण वाला) होता है। अथवा शरवान् होनेसे 'शल्मलि' है। अर्थात् 'शृ' हिंसायाम् [क्र्या०प०] धातु से है। वह कोमल होने के कारण सहज में हिंसाकिया जाता है या काटा जाता है। अथवा

'शरवान्' क्या ? कांटों वाला होता है, जो उससे लगतो है, उसी की वह हिंसा करता है।

" सविता सूर्यां० " सविता ने सूर्या को सोम राजा के लिये दिया अथवा प्रजापति के लिये दिया। और यह ब्राह्मण है।

निरुक्त पक्षमें सूर्य चन्द्रमा के लिये प्रकाश देता है, वही सूर्या है। अथवा मध्यस्थान प्रजापति देवता के लिये उषाको देता है, वही सूर्या है। कोई इसे ऐतिहासिक पक्षमें भी लगाते हैं-उसमें 'सूर्य अपनी सूर्या नाम बेटी को सोम राजा के लिये या प्रजापति के लिये देता है।' ऐसा प्रयोजन है।

'वृषाकपायी' [४] क्या ? वृषाकपि की पत्नी। वृषाकपि नाम आदित्य का है, उसकी पत्नी (विभूति) वृषाकपायी है। वह उष.काल में ओस बरसाती है अथवा उन्हें [ओसोंको] कपाती है, इससे 'वृषाकपायी' कहलाती है। और फिर वह यही सूर्या है, जब आदित्य के उदयकाल के अधिक निकट में आजाती है, 'वृषाकपायी' कही जाती है।

" तस्याः० " उस (वृषाकपायी)की यह ऋचा है॥८॥

(खं० ६)

निरु०- " वृषाकपायि रेवति सुपुत्र आदु सुस्नुषे। घसत्त इन्द्र उक्षणः प्रियं काचित्करं हविर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ " (ऋ० सं०८,४,३,३) ॥ वृषाकपायि ! रेवति ! सुपुत्रे ! मध्यमेन, सुस्नुषे ! माध्यमिकया वाचा ।

'स्नुषा' साधुसादिनी-इति वा । साधुसानिनी-इति वा । स्वपत्यं, तत् सनोति इति वा ।

प्राश्नातु ते इन्द्रः उक्षणः एतान् माध्यमिकान् संस्त्यायान् ।

'उक्षणः' उक्षतेर्वृद्धिकर्मणः । उक्षन्ति उदकेन इति वा ।

प्रियं कुरुष्व सुखाचयकरं हविः, सुखकरं हविः ।

सर्वस्माद् यः इन्द्रः उत्तरः तम् एतद् ब्रूमः आदित्यम् ॥

'सरण्यूः' सरणात् ।

तस्या एषा भवति—॥९॥

अर्थः—"वृषाकपायिरेवति०" इस ऋचा का इन्द्र ऋषि षष्ठ (छठे) पृष्ठ्य अहन् में वृषाकपि में विनियोग है।

'वृषाकपायि !' हे वृषाकपि (आदित्य) की पत्नी ! 'रेवति !' हे धनवाली ! 'सुपुत्रे !' (मध्यमेन) हे मध्यदेव से सुन्दर पुत्र वाली ! (मध्य देव तेरा सुन्दर पुत्र है) 'सुस्नुषे' (माध्यमिकया वाचा) हे मध्यम लोक की वाक् से सुन्दर पुत्रवधू वाली (बहू वाली != पुतहू वाली !) (मध्यम लोक की वाणी तेरी सुन्दर पुतहू है) 'इन्द्रः' इन्द्रदेव आदित्य 'ते तेरे 'उक्षणः' (एतान् माध्यमिकान् संस्त्यायान्) (अवश्यायसंस्त्यायान्) इन ओसों के समूहोंको 'घसत्' (प्राश्नातु) खावे [क्योंकि-वह उदय होता हुआ उन्हें पीता है।

'प्रियम्' (इष्टम्) वाञ्छित 'कान्तिकरम्' (सुखाचयकरम्) सुखकी वृद्धि को करने वाले 'हविः' (उदकम्) जल को (कुरुष्व) कर। किस लिये ? (विश्वस्मात्) सबसे 'उत्तरः' ऊंचा 'इन्द्रः' (आदित्यः) जो आदित्य देव है। (उसके अर्थ) उस आदित्य को हम यह कहते हैं॥

'स्नुषा' (पुत्रवधू) क्यों ? 'साधुसादिनी' सुन्दर कर्म में में बैठती है— श्वशुर के सन्तान रूप सुन्दर अर्थ में उसके अङ्गभाव को प्राप्त होती है—उसकी सम्पत्ति के एक भाग में स्थित होती है। अथवा साधुसानिनी होती है—शुभ सन्तान को भले प्रकार भजती है। अथवा सुन्दर अपत्य ' सन्तान ' को सनती है = प्राप्त होती है, इससे स्नुषा है।

'वसने' कैसे ? वृद्धि अर्थ में 'उक्ष' (भ्वा०प०) धातु से है

'सरण्यूः' (५) क्यों ? सरण गमन करने से। वही उषा जब सूर्य के प्रति अविभाग से 'अभेद से' गई हुई होती है, तब वह सरण (गमन) से 'सरण्यू ' कहाती है।

"तस्याः०" उस (सरण्यू) की यह ऋचा होती है॥९॥

(खं० १०)

निरु०- " अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णामदद्विवस्वते। उताश्विनावभरद्यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः॥ " (ऋ० सं० ७, ६, २३, २)॥

अपि अगूहन् अमृतां मर्त्येभ्य:, कृत्वी सवर्णा-म् अददुः विवस्वते' अपि अश्विनौ अभरद्, यत्

तद् आसीद् अजहाद् द्वौ मिथुनौ सरण्यू, 'मध्यमं च माध्यमिकां च वाचम्' इति नैरुक्ताः । 'यमं च यमीं च' इति ऐतिहासिकाः ॥

तत्र इतिहासम् आचक्षते—

त्वाष्ट्री सरण्यूः विवस्वतःआदित्याद् यमौ मिथुनौ जनयाञ्चकार, सा सवर्णाम् अन्यां प्रतिनिधाय आश्वंरूपं कृत्वा प्रदुद्राव, स विवस्वान् आदित्य आश्वमेव रूपं कृत्वा ताम् अनुसृत्य संबभूव, ततः अश्विनौ जज्ञाते सवर्णायां मनुः ।

तदभिवादिनी एषा ऋग् भवति ॥१०॥

अर्थः— "अपागूहन्०" इस ऋचा का देवश्रवस् ऋषि है ।

"अपागूहन् अमृतां मर्त्येभ्यः" आदित्य की रश्मिओं ने वृषाकपायी के रूप में अमर उषाको मनुष्यों के लिये उत्पन्न किया। "कृत्वी सवर्णाम् अदद्धुः विवस्वते" उसे सवर्णा बनाकर— सूर्य के समान रूप वाली या सरण्यू बना कर विवस्वान् [सूर्य] के लिये देदी (देदिया) "उत अश्विनौ अभरत्" और उषाने अश्विनोंको स्तुतिओं से पोषण किया, क्यों कि— वह अश्विनों की स्तुतिका समय है अथवा सरण्यूने अश्विनों को हविः से भरण (पालन) किया, क्यों कि— वह उनके याग (यज्ञ) का समय है ।

"यत् तत् आसीत् अजहात्" उषा या सरण्यू का जो रूप था, उसे छोड़ा। "द्वौ मिथुनौ सरण्यूः" सरण्यू ने दोनों मिथुनों को (मध्यम ज्योति और मध्यम लोककी वाक् को) छोड़ा । क्योंकि– जब सरण्यू आदित्य के मण्डल में प्रवेश कर जाती है, तब आदित्य के उदय होते ही मध्यम का और माध्यमिक वाक् का काल विच्छिन्न हो जाता है– कट जाता है, यही उनका त्याग है । यह नैरुक्त आचार्य मानते हैं ।

"यमं च यमीं च इति ऐतिहासिकाः" 'यम और यमी रूप मिथुन को छोड़ा' ऐसा ऐतिहासिक लोग मानते हैं।

"तत्र०" उस में ऐसा इतिहास कहते हैं ।–

त्वष्टा की बेटी सरण्यू ने विवस्वान् आदित्य से यम (जौड़ले) मिथुन उत्पन्न किये, वह अपने सरीखी दूसरी स्त्री को अपने स्थान में छोड़ कर घोड़ी का रूप बना कर भगी, और वह विवस्वान् आदित्य भी घोड़े का ही रूप बना कर उस के पीछे चल कर उससे मिला। उस से दो अश्विन् देवता उत्पन्न हुए और जो सवर्णा स्त्री, जिसे सरण्यू अपना दूसरा रूप बना कर छोड़ गई थी, उस में मनु उत्पन्न हुआ [इसी को वैवस्वत (विवस्वान् का पुत्र) मनु कहते हैं] ॥

व्याख्या ।

ऐतिहासिक पक्ष में "अपागूहन्० " मन्त्र का अर्थ–

उनके मतमें रश्मिओं के दो रूप हैं, एक भौतिक जिसे हम देखते हैं और दूसरा प्राणाधि देवता रूप । प्राणों के

अधि देवता रूप रश्मिओं ने त्वष्टा की पुत्री सरण्यू कोघं ड़ी बनाकर, कि- इससे अश्विनों का जन्म होगा , समझ कर लोक हित के लिये अमर देवी को (सरण्यू को) छिपा दिया, और उसे उत्तर (कुरु) देश में पहुंचा दिया । और फिर उस (सरण्यू) की छाया से वैसी ही दूसरी स्त्री बनाकर, उसे विवस्वान् को देदिया । जो उसको अश्वा (घोड़ी) रूप था, उससे सरण्यूने विवस्वान् के वीर्यसे दो अश्विन् पुत्र जने और उन्हें उत्तर देश में पोषण किया । और जो उसको सरण्यू रूप था, उससे दो मिथुन (यम और यमी) उत्पन्न किये, [इसीसे यम वैवस्वत और यमी वैवस्वती कही जाती है] तथा उन्हें छोड़ कर स्वयम् नष्ट होगई ॥

"तदभिवादिनी०" इस अर्थको कहने वाली यह ऋचा है- जिस प्रकार त्वष्टाकी पुत्री सरण्यू विवस्वान्से व्याही गई और नष्ट होगई, इस अर्थको यह अगली ऋचा कहती है १०॥

(खं० ११)

निरु०- "त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीदं विश्वभुवनं समेति । यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश ॥" [ऋ०सं०८,६,१३,१]॥

त्वष्टा दुहितुः वहनं करोति, इदं विश्वं भुवनं समेति, इमानि च सर्वाणि भूतानि अभिसमागच्छन्ति यमस्य माता पर्युह्यमाना महतो जाया विवस्वतो ननाश, रात्रिः आदित्यस्य आदित्योदये अन्तर्धीयते ॥११॥

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य प्रथमः पादः ।१२,[१]।

अर्थः- "त्वष्टा दुहित्रे०" इस ऋचा का पूर्व ऋचा के समान ही ऋषि और विनियोग है।

'त्वष्टा' (देवो विश्वकर्मा) त्वष्टा देव जिसे पुराणों के जानने वाले 'विश्वकर्मा' कहते हैं 'दुहित्रे' (दुहितुः) अपनी कन्या का 'वहतुम्' (वहनम्) विवाह 'कृणोति' (करोति) करता है "इदं विश्वं भुवनं समेति" यह सब संसार(जिसे देखने के लिये) आता है। (यह विवाहों का स्वभाव है।)

"यमस्य माता" यमकी माता- जो यमकी माता होने वाली है, सो 'पर्युह्यमाना' (पर्यूढा) (विवस्वान से ब्याही गई 'महः'(महतः) महान् 'विवस्वतः' विवस्वान(आदित्य) की 'जाया' भार्या 'ननाश' नष्ट होगई— यम और यमी रूप दो मिथुनों को छोड़कर अन्तर्धान होगई॥

नैरुक्त पक्ष में-त्वष्टा मध्यम देव तमोभाग उषाकी प्रकाश रूपा दुहिता (बेटी) का वहन (विवाह) विवस्वान् के साथ करता है,या उसे देदेता है "इदं विश्वं भुवनं समेति" सब भूत (प्राणी) प्रभात हुआ जानकर अपने २ कार्यों में लग जाते हैं, "यमस्य माता" मध्य की माता (देव धर्म से) अथवा द्युस्थान देवकी जो ही भार्या है वही माता (क्योंकि— जिसमें पुत्र रूप से पति जनमता है, इसी से वह 'जाया' है।)

"महो विवस्वतो ननाश" महान् विवस्वान् देव के प्रकाश से हटती हुई नष्ट होती है।

क्योंकि-"रात्रिः आदित्यस्य आदित्योदये अन्तर्धीयते" 'रात्रि या उषा आदित्य की जाया (पत्नी) है, सो

आदित्यके उदय में अन्तर्धान हो जाती है।' [यह भाष्यकार ने संक्षिप्त व्याख्यान किया है। ॥११॥

इति हिन्दीनिरुक्ते द्वादशाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥१२,१॥

द्वितीयः पादः।

(खं० १)

निघ०—सविता ॥७॥ भगः ॥८॥ सूर्यः ॥९॥ पूषा ॥१०॥ विष्णुः ॥११॥

निरु०—'सविता' व्याख्यातः, तस्य कालो—यदा द्यौः अपहततमस्का कीर्णरश्मिर्भवति।

तस्य एषा भवति—॥ १ (१२) ॥

अर्थः— 'सविता' (७) व्याख्यान किया गया (अभिधान या निर्वचन से) [१० ,३, ७] उसका काल—जब द्यौ अन्धकार रहित फैली हुई किरणों वाली होती है—जिस काल में आकाश देश में ही प्रकाश होता है, किन्तु पृथिवी में नहीं अर्थात्— उदय होते हुए सूर्य की किरणें पहिले आकाश में जाती हैं, इससे वहीं प्रकाश रहता है और पृथिवी में अंधेरा ही रहता है, वह सविता का काल है, उस काल में आदित्य सविता कहा जाता है।

"तस्य०" उस सविता की यह ऋचा है—॥१(१२)॥

(खं० २)

निरु०—"विश्वारूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः प्रासावीद्भद्रं द्विपदे चतुष्पदे। विनाकमख्यत् सविता

वरेण्योऽनुप्रयाणामुषसो विराजति ॥" [ऋ० सं० ४, ४, २४, २ । य०वा०सं० १२, ३]

सर्वाणि प्रज्ञानानि प्रतिमुञ्चते मेधावी 'कविः' क्रान्तदर्शनो भवति । कवतेर्वा ।

प्रसुवति भद्रं द्विपादृभ्यश्च चतुष्पादृभ्यश्च ।
व्यचिख्यपत् नाकं सविता वरणीयः ।
प्रयाणमनु उषसो विराजति ।

"अधो रामः सावित्रः"- इति पशुसमाम्नाये विज्ञायते । कस्मात् सामान्यात् ? इति, अधस्तात तद्वेलायां तमो भवति. एतस्मात् सामान्यात् ।

'अधस्ताद्रामः' अधस्तात् कृष्णः । कस्मात् सामान्यात् ? इति । "अग्निं चित्वा न रामामुपेयात्" ॥

रामा रमणाय उपेयते न धर्माय कृष्णजातीया । एतस्मात् सामान्यात् ।

"कृकवाकुः सावित्रः" इति पशुसमाम्नाये विज्ञायते कस्मात् सामान्यात् ? इति । कालानुवादं परीत्य कृकवाकोः पूर्वं शब्दानुकरणं वचेः उत्तरम् ।

'भगः' व्याख्यातः । तस्य कालः प्राग्-उत्सर्पणात् ।

तस्य एषा भवति-॥ २ (१३) ॥

अर्थः-"विश्वा रूपाणि०" इस ऋचा का श्यावाश्व ऋषि और आभिप्लविक प्रथम अहन् में विनियोग है, और यजमान के द्वारा अग्नि में शिक्यपाश (छींका) के छोड़ने में विनियोग है ।

'कविः' (क्रान्तदर्शनः) व्याप्त हुई या फैली हुई दृष्टि वाला (सविता) देव 'विश्वा' (सर्वाणि) सब 'रूपाणि' (प्रज्ञानानि) प्रज्ञानों को 'प्रतिमुञ्चते' छोड़ता है-तम को नाश करता हुआ अपने प्रकाश से रूप वाली वस्तुओं के रूपों को दिखाता है । 'द्विपदे' (द्विपाद्भ्यश्च) दो पैर वालों के लिये 'चतुष्पदे' (चतुष्पाद्भ्यश्च) और चौपायों के लिये 'भद्रम्' भद्र (कल्याण) को 'प्रासावीत्' (प्रसुवति) जनता है। 'वरेण्यः' (वरणीयः) चाहने योग्य 'सविता' सविता देव 'नाकम्' (द्याम्) द्यौ को 'वि-अख्यत्' (व्यचिख्यपत्) (विख्यापयति) दिखाता है-क्योंकि- द्यौ (आकाश) में उस समय किरणें फैली हुई होती हैं । 'उषसः' उषा के 'प्रयाणम्-अनु' प्रयाण (चले जाने) के पश्चात् 'विराजति' प्रकाशता है ।

इस ऋचा में जैसा वर्णन किया गया है, उससे सविता का उक्त काल स्पष्टरूप से प्रतीत हो जाता है । मन्त्र में कहता है-सब रूप वाली वस्तुएं अच्छे प्रकार से भासने लगती हैं. दोपायों और चौपायों को अपने कर्म करने की योग्यता होती है, द्यौ में प्रकाश होजाता है, उषा बीत लेती है और उसके पीछे सविता प्रकाश करता है ॥

दूसरे प्रमाण से सविता के काल का निर्णय-

"अधोरामः सावित्रः" 'नीचे से काला सविता का

पशु होता है' यह पशु के समाम्नाय (विधायक श्रुति) में जाना गया है। किस समानतासे ? उस (सविता) की वेला में नीचे (पृथ्वी लोक) में तम होता है, इस समानता से सविता का पशु नीचे से काला और ऊपर सफेद होता है।

'अधस्ताद्रामः' क्या ? 'अधस्तात् कृष्णः' नीचे से काला।

किस सामान्य से ?– 'राम' शब्द का 'काला' अर्थ कैसे हुआ ?

"अग्निं चित्वा न रामाम् उपेयात्" 'अग्नि का आधान करके शूद्रा को गमन न करे' इस निषेध वाक्य में 'रामा' शब्द से शूद्रा का ग्रहण है।

'रामा' क्यों ? वह रमण के लिये प्राप्त कीजाती है धर्म के लिये नहीं, और वह काली जाति की होती है, इस सामान्य से—'रामा' और 'कृष्णजातीया' ये दोनों शब्द एक अर्थ में हैं। इसीसे 'राम' शब्द 'प्रवीण' आदि शब्दों के समान 'कृष्ण' गुण के सामान्य से पशु में आगया है।

और प्रमाण से सविता के काल का निर्णय—

"कृकवाकुः सावित्रः" 'कृकवाकु' (मुरगा) सविता देव का पशु है यह पशु समाम्नाय में जाना जाता है।

"कस्मात् सामान्यात्" किस समानता से ?

कालानुवादं परीत्य" 'काल के अनुवाद को जान कर' वह सविता के समय को कहता है-सविता के काल में शब्द करता है, यह जान कर समाम्नाय में कृकवाकु सविता का पशु कहा गया है। क्योंकि मुरगा सवेरे ही बोलता है, जो उषा के बाद सूर्योदय के समीप काल होता है, जिस में नीचे

से पृथ्वी काली और ऊपर से आकाश धौला होता है। इस प्रकार यह पशुसमाम्नाय भी सविता के काल का बोधक होता है।

'कृकवाकु' कैसे ? 'कृकवाकु' का पूर्व भाग (कृक) शब्द का अनुकरण है-जैसा कि वह शब्द करता है, उस के सदृश शब्द को बनाने वाला है, और दूसरा भाग (वाकु) बोलना अर्थ में 'वच' (अदा० प०) धातु से है। "कृक" ऐसा शब्द बकता है, इससे 'कृकवाकु' है।

"भगः" 'भग' (८) शब्द व्याख्यान किया जाचुका (३, २, ४)

"तस्य०" उसका काल उत्सर्पण (ऊपर आकाश देश में चढ़ने) से पहिले है— उस सविता के काल के पश्चात् यह 'भग' नाम उत्तम ज्योतिः होता है।

"तस्य०" उस (भग) की यह ऋचा है- ॥२[१३]॥

(सं० ३)

निरु०-"प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्त्ता। आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह॥" [ऋ०सं० ५,४,८,२]

प्रातर्जितम् भगम् उग्रं ह्वयेम वयं पुत्रम् अदितेः। यो विधारयिता सर्वस्य। आध्रश्चिद् यं मन्यमानः आढ्यालुः दरिद्रः। तुरश्चिद् 'तुरः'-इति यमनाम तरतेर्वा। त्वरतेर्वा। त्वरया तूर्णगतिः। यमः। राजा चिद् यं भगं भक्षि-इति आह॥

"अन्धः भगः" इत्याहुः। अनुत्सृप्तो न दृश्यते। "प्राशित्रमस्याक्षिणी निर्जघान" इति च ब्राह्मणम् जनं भगो गच्छति इति विज्ञायते। जनं गच्छति आदित्यः उदयेन।

'सूर्यः' सर्त्तेर्वा सुवतेर्वा। स्वीर्य्यतेर्वा।

तस्य एषा भवति ॥३(१४)॥

अर्थः—"प्रातर्जितं भगम्०" इस ऋचा का वसिष्ठ ऋषि है।

'वयम्' हम 'प्रातर्जितम्' प्रातः प्रातः [सवेरे सवेरे] अंधेरों को जीतने वाले 'उग्रम्' (उद्गूर्णम्) उदय के लिये उद्यत, 'अदितेः पुत्रम्' अदिति के पुत्र 'भगम्' भग देव को 'हुवेम' (हुवेम बुलाते हैं। 'यः' जो 'विधर्ता(सर्वस्य विधारयिता) अपने अनुग्रह से सब जगत् का धारण करने वाला है कैसे ? 'आध्रः (चित्)'(आढ्यालुः दरिद्रः)धन वालों की इच्छा करने वाला दरिद्र पुरुष'यं'जिसभग को'मन्यमानः'मान करता हुआ रहता है- दिन दिन आकाङ्क्षासे पूजा करता हुआ रहता है- कब भग (सूर्य) देव उदय हो और कब मैं अन्न के अर्थ पर्यटन करूं। 'तुरः' (चित) [तूर्णगतिः यमः] शीघ्र गति यमराज [यं मन्यमानः] जिस [भग] को मान करता है—सूर्य के उदय अस्त से ही काल चक्र फिरता है और उसी से प्राणियों की आयु क्षीण होती है तथा उसी से फिर प्रेतराज प्राणियों का संहार करने के लिये उद्यत होता है, अतः वह भी भग देव की आकाङ्क्षा करता है। 'राजा—

प्रति जाता है, यह प्रसिद्ध ही है— आदित्य उदय हो २ कर जनों के प्रति जाता है ॥

'सूर्य '(६) कैसे ? 'सरति' गति अर्थ में 'सृ' (भ्वा० प०) धातु से है। अथव 'सुवति' जनने अर्थ में 'सू' (तु०प०)धातुसे है। अथवा'सु' [उप०]'ईर'[अदा०आ०]धातु से है, क्यों कि— वायु से सुन्दरप्रेरण किया जाता है।

"तस्य०" उस सूर्य] की यह ऋचा है ॥ ३(१४)॥

(खं० ४)

निरु० "उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्य्यम् ॥" [ऋ० सं० १, ४, ७, १ । य० वा० सं० ७,४१।सा०सं० छ०आ०१,१,३,१०] ॥

उद्वहन्ति तं जातवेदसं रश्मयः केतवः सर्वेषां भूतानां दर्शनाय सूर्य्यम् इति कम् अन्यम् आदित्याद् एवम् अवक्ष्यत् ।

तस्य एषा अपरा भवाति ॥४ (१५) ॥

अर्थः-"उदुत्यं जातवेदसम्०" इस ऋचा का प्रस्कण्व ऋषि और आश्विन् में विनियोग है।

'केतवः' [रश्मयः] रश्मिए' 'विश्वाय'[सर्वेषाम् भूतानाम्] सब प्राणिओं के 'दृशे'[दर्शनाय] दर्शन [दृष्टि फैलने के]लिये [उ] 'त्यम्' [तम्] उस'जातवेदसम्' हुये २ को जानने वाले 'देवम्' देव 'सूर्यम्' सूर्य को 'उद्-वहन्ति' [उदयं नयन्ति] उदय को प्राप्त करते हैं [उद्वहन्ति] उठाते हैं। (उस सूर्य को अपने वाञ्छित की सिद्धि के अर्थ हम स्तुति करते हैं

"कम् अन्यम्०" आदित्य से अन्य किसको ऐसा कहता इससे यहां 'सूर्य' आदित्य ही है ।

"तस्य एषा०" उस (सूर्य) की यह और ऋचा है । सो क्यों ? पूर्व मन्त्र में "जातवेदसम्" और "सूर्यम्" इन दोनों पदों का श्रवण है, इससे उस में यह सन्देह होसकता है कि-यह ऋचा जातवेदस् देवता की है, या सूर्य की ? किन्तु यह अगली ऋचा असन्देह सूर्य देवता की ही है, इससे यह और ऋचा पढ़ी है ॥४(१५)॥

(खं० ५)

निरु०- "चित्रं देवाना मुद्गादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः । आप्रा द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥" (ऋ० सं० १, ८, ७, १ । य० वा० सं० ७, ४२) ॥

चायनीयं देवानाम् उदगमद् अनीकं ख्यानं मित्रस्य वरुणस्य अग्नेश्च अपूपुरद् द्यावापृथिव्यौ च अन्तरिक्षं च महत्वेन तेन सूर्य आत्मा जङ्गमस्य च स्थावरस्य च ।

अथ यद् रश्मिपोषं पुष्यति तत्-
'पूषा' भवति ।
तस्य एषा भवति ॥५ (१६) ॥ ॥

अर्थ:- "चित्रं देवानाम्०" इस ऋचाका कुत्स ऋषि और आश्विन में विनियोग है ।

'चित्रम्' (चायनीयं = पूजनीयं) पूजनीय 'देवानाम्' रश्मिओं का 'अनीकम्' समूह रूप 'मित्रस्य' मित्र का 'वरुणस्य' वरुण का 'अग्नेः' अग्नि का 'चक्षुः' नेत्र, (ख्यानम्) जिस में मित्र आदि देवता अन्तर्गत दिखाई देते हैं, भेदपक्ष (याज्ञिक मत) में मित्र आदि देवताओं का जो चक्षु है, या वे उसके द्वारा देखते हैं, वह सूर्य 'उदगात्' उदय हुआ। 'द्यावापृथिवी' (द्यावापृथिव्यौ) द्युलोक, पृथिवीलोक और अन्तरिक्ष लोकको (तीनों लोकोंको) 'आप्राः' (आपूपुरत् = आपूरयति) (महत्वेन) महान् होने के कारण पूरता है, या व्यापन करता है। (तेन) तिससे 'सूर्यः' सूर्य देव 'जगतः' जङ्गम का 'तस्थुषश्च' और स्थावर का (सब जगत् का) 'आत्मा' अन्तर्यामी या स्वरूपभूत है।

"अथ यद्०" अनन्तर जब सूर्य तेजसे पूर्ण होकर रश्मिओं को धारण करता है, उस समय 'पूषा' (१०) होजाता है।

"तस्य०" उस (पूषा) की यह ऋचा है–॥५(१६)॥

(खं० ६)

निरु०–"शुक्रन्ते अन्यद्यजतन्ते अन्यद्विषुरूपे अहनी द्यौरिवासी। विश्वाहि माया अवासि स्वघा वो भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु॥" [ऋ०सं० ४, ८, २४, १। सा०सं०छ०आ० १, २, ३, ३]॥

शुक्लं ते अन्यद्, लोहितं ते अन्यद्, यजतं ते अन्यद्, यज्ञियं ते अन्यद्, विषमरूपे ते अहनी कर्म। द्यौरिव च असि। सर्वाणि प्रज्ञानानि

अवसि। अन्नवन्! भाजनवती ते पूषन्! इह दत्तिः अस्तु।

तस्य एषा अपरा भवति ॥६(१७)॥

अर्थः—"शुक्रन्ते०" इस ऋचा का भरद्वाज ऋषि और चातुर्मास्य में पूषा के हविः में विनियोग है।

'पूषन्!' हे पूषन्! देव! "शुक्रं (शुक्लं) ते अन्यत्" तेरा सुपेद रूप न्यारा है (लोहितं ते अन्यत्) और लाल रूप तेरा न्यारा है। "यजतं ते अन्यत्" (यज्ञियं ते अन्यत्) यज्ञ में पूजने का रूप तेरा अलग है, जो यज्ञ के अयोग्य है, वह तेरा रूप अलग है। "विषुरूपे अहनी" (विषमरूपे ते अहनी कर्म) परस्पर में भिन्न रूप वाले सुपेद और काले रात्रि और दिन दोनों तेरे कर्मरूप हैं— उदय रूप कर्म से तू सुपेद दिन को करता है, और अस्तमय कर्म से काली रात्रि को करता है। "द्यौः इव (च) असि" और तू द्यौ के समान है— जिस प्रकार द्यौ (आकाश) सब जगत् को आवरण (ढांप) कर के वर्त्तमान है, उसी प्रकार तू भी है। "विश्वा हि माया अवसि" (सर्वाणि प्रज्ञानानि अवसि) और बुद्धि वाले सब प्राणिओं की बुद्धिओं को तू पालन करता है। 'स्वधावः!' (अन्नवन्!) हे अन्न वाले! 'पूषन्!' पूषन् देव! 'ते' तेरी 'भद्रा' (भाजनवती = भन्दनीया) स्तुति करने योग्य 'रातिः' दातृता (दान) 'इह' इस हमारे कर्म में 'अस्तु' हो— यह हम चाहते हैं॥

"तस्य०" उस (पूषा) की यह और ऋचा है—॥६[१७]॥

(ख० ७)

निरु० "पथस्पथः परिपतिं वचस्या कामेन कृतो अभ्यानडर्कम् । सनो रासच्छुरुधश्चन्द्राग्रा धियन्धियं सीषधाति प्रपूषा ॥" [ऋ०सं० ७,१,८,८ य०वा०सं० ३४,४२]

पथस्पथः अधिपतिं वचनेन कामेन कृतः अभ्यानड् अर्कम्, अभ्यापन्नः अर्कम्-इतिवा । स नो ददातु चायनीयाग्राणि धनानि । कर्म कर्म च नः प्रसाधयतु पूषा-इति ॥

अथ यद् विषितो भवति तद्-

'विष्णुः' । विशतेर्वा । व्यश्नोतेर्वा ।

तस्य एषा भवति ॥ ७ (१८) ॥

अर्थः-"पथस्पथः" इस ऋचा का ऋजिश्वन् ऋषि और पूषा के हविः में पञ्च अहन् में व्यूढ में विनियोग है ।

'वचस्या' (वचनेन) स्तुतिरूप वचन से 'कामेन' और कामना से 'कृतः' किया हुआ या प्रेरित हुआ (अहम्) मैं 'पथस्पथः' [सर्वेषां मार्गाणाम्] पथ पथ के या सब मार्गों के 'परिपतिम्' (अधिपतिम्) अधिपति 'अर्कम्' सूर्य (पूषा) को 'अभ्यानट्' [अभ्यापन्नः] प्राप्त हुआ हूं या शरणागत हुआ हूं । 'सः' वह ' पूषा ' पूषा देव 'नः' हमें 'चन्द्राग्राः' (चायनीयाग्राणि) धर्म से प्राप्त हुये हुये 'शुरुधः' (धनानि) धनों को 'रासत्' (ददातु) देवे । 'धियं' धियम् (कर्म कर्म

च, और कर्म कर्म को या सब कर्मों को 'प्रसीपधाति' (प्रसाधयतु) सिद्ध करे, —यह हम चाहते हैं ॥

"अथ यद्०" अब जो 'विषित' व्याप्त होता है, वह विष्णु' [११] होता है— व्याप्ति अर्थ में ' विष् ' (जु०उ०) धातु से है। अथवा प्रवेश अर्थ में 'विश' (तु०प०) धातु से है क्योंकि—वह विभु होने से सर्वत्र प्रवेश किया हुआ होता है अथवा व्याप्ति अर्थ में 'वि-अश' (स्वा०आ०) धातुसे है।

" तस्य० " उस ' विष्णु ' [११] की यह ऋचा है ॥ ७ (१८) ॥

(खं० ८)

निरु०- " इदं विष्णु र्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । समूळ्हमस्य पांसुरे ॥" ऋ० सं० १, २, ७, २ । य० वा० सं० ५, १५ ।सा० सं० छ०आ० ८, २, ५, २ । अथ० सं० ७, २६, ४ ॥

यद् इदं किञ्च तद् विक्रमते विष्णुः त्रिधा निधत्ते पदं त्रेधा भावाय,—पृथिव्याम्, अन्तरिक्षे दिवि,— इति शाकपूणिः ।

समारोहणे, विष्णुपदे, गयशिरसि- इति और्णवाभः ।

समूळ्ह मस्य ' पांसुरे ' प्यायने अन्तरिक्षे । पदं न दृश्यते ।

अपिवा उपमार्थे स्यात्- समूळ्हमस्य पांसुले इव पदं न दृश्यते- इति।

'पांसवः' पादैः सूयन्ते- इति वा। पन्नाः शेरते इति वा। पिंशनीया भवन्ति— इति वा ॥८ (१९)॥

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥१२, २,॥

अर्थः- "इदं विष्णुः०" इस ऋचा का मेधातिथि ऋषि और प्रायश्चित्त तथा आज्यासादन (घृत के स्थापन) में विनियोग है।

'इदम्' इस नानाविभाग से अवस्थित जगत् को 'विष्णुः' विष्णु (आदित्य देव) 'विक्रमते' (अधितिष्ठति) अधिष्ठित होता है— दबा कर स्थित होता है। कैसे? "त्रेधा पदं निदधे" (त्रिधा निधत्ते पदं त्रेधाभावाय) तीन प्रकार से पद (पैर) को रखता है- पार्थिव अग्नि होकर पृथिवी में जो कुछ है, उस पर अधिकार करके रहता है, अन्तरिक्ष में विद्युत् (बिजली) के रूप से और द्युलोक में सूर्य के रूप से अधिकृत होता है- ऐसा त्रेधाभाव (तीन रूप) शाकपूणि आचार्य मानते हैं।

समारोहण = उदय गिरि में उदय होता हुआ विष्णु देव एक पद धरता है, मध्यान्ह काल में विष्णु पद (आकाश) में दूसरा और सायंकाल में गयशिर (अस्तंगिरि = अस्ताचल) पर तीसरा पद रखते हैं, यह और्णवाभ आचार्य मानते हैं।

"समूह्लम् अस्य पांसुरे प्यायने = अन्तरिक्षे पदं न दृश्यते" पांसुर = प्यायन = सर्व भूतों की वृद्धि के कारण = अन्तरिक्ष में इसका पद 'समूह' गुप्त है- अन्तरिक्ष लोक में जो विष्णु देव का विद्युत् रूप पद है, वह स्थायिरूप से नहीं दिखाई देता, किन्तु शीघ्र ही अन्तर्धान होजाता है।

"अपिवा" अथवा उपमा अर्थ में होसकता है- "समूह्लम् अस्य पांसुले इव पदं न दृश्यते" मध्यम लोक में रखा हुआ इसका पद रेतीले स्थान में रखे हुये पैर के समान नहीं दिखाई देता-रेतीले स्थान से पैर उठाते हैं, उस स्थान में झट पट रेत भरजाने से पैर का चिन्ह शीघ्र मिट जाता है, ऐसे ही विष्णु देव का विद्युत् रूप पद भी शीघ्र अन्तर्धान होजाने से फिर नहीं दिखाई देता।

'पांसु' (धूलियें) क्यों ? 'पादैः सूयन्ते' पैरों से पैदा होती हैं- पैरों के पृथिवी में आघात या रगड़ से पैदा होजाती हैं इससे 'पांसु' हैं। अथवा वे सोम्न होकर सोती हैं- उत्पन्न होकर पड़ी रहती हैं। अथवा वे पिशनीय या ध्वंसनीय होने से 'पांसु' हैं। क्यों कि- वे जिस पर गिर जाती हैं, वह अच्छी तरह दिखाई नहीं देता, अतः वे हिंसनीय या हटा देने योग्य होती हैं ॥८(१६)॥

इति हिन्दी निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥१२,२॥

तृतीयः पादः ॥

निघ०- विश्वानरः ॥१२॥ वरुणः १३ केशी ॥१४॥ केशिनः ॥१५॥ वृषाकपिः

॥१६॥ यमः ॥१७॥ अजएकपात् ॥१८॥ पृथिवी ॥१९॥ समुद्रः ॥२०॥ दध्यङ् ॥२१॥ अथर्वा ॥२२॥ मनुः ॥२३॥

(खं० १)

निरु०- 'विश्वानरो' व्याख्यातः।

तस्य एष निपातो भवति ऐन्द्रयाम्-ऋचि१(२०)

अर्थः- 'विश्वानर' (१२) शब्द व्याख्यान किया जो-चुका है (७, ६, १)।

"तस्य०" उस (विश्वानर) का यह इन्द्र देवता की ऋचा में निपात है ॥१ (२०)॥

(खं० २)

निरु-० " विश्वानरस्य वस्पति मनानतस्य शवसः। एवैश्च चर्षणीनामूती हुवे रथानाम् ॥" (ऋ० सं० ६, ५, १, ४। सा० सं० छ० आ० ४, २ ३, ५) ॥

विश्वानरस्य आदित्यस्य अनानतस्य शवसो महतो बलस्य एवैश्च कामैः अयनैः अवनैः वा चर्षणीनां मनुष्याणाम्, ऊत्या च पथा रथानाम् इन्द्रम् अस्मिन् यज्ञे ह्वयामि ॥

'वरुणः' व्याख्यातः।

तस्य एषा भवति ॥२ (२१) ॥

अर्थः— " विश्वानरस्य ० " यह ऋचा इन्द्र देवता के " आत्वा रथं यथोतय " इस सूक्त में है, इस का प्रियमेध ऋषि और निष्केवल्य (शस्त्र) में विनियोग है। प्रयोजन— उक्त सूक्त तथा इस प्रस्तुत ऋचा में स्तुति इन्द्र देवता की है, उसी इन्द्र की प्रशंसा में किसी सम्बन्ध से विश्वानर आया हुआ है, यही इसका यहां निपात है। क्यों कि- अन्य देवता की स्तुति में अन्य देवता किसी सम्बन्ध से आवे तो उसका वहां वह निपात होता है, यह इस उदाहरण के अनुसार अन्यत्र भी देखना चाहिये।

'विश्वानरस्य' (आदित्यस्य) आदित्य के 'अनानतस्य' अन्य ज्योतिओं से अतिरस्कृत = न दबे हुए 'शवसः' (महतो बलस्य) महान् ज्योतिर्बल के 'पतिम्' पति (इन्द्रम्) इन्द्र को 'चर्षणीनाम्' (मनुष्याणाम्) मनुष्यों के 'एवैः' (च कामैः) कामों (अर्थों) के निमित्त (अयनैः) गमन (चलने फिरने) के निमित्त (अवनै र्वा) अथवा रक्षा के निमित्त 'रथानाम्' रथों के 'ऊती' (ऊत्या च पथा) मार्ग से 'हुवे' (अस्मिन् यज्ञे ह्वयामि) इस यज्ञ में आवाहन करता हूं = बुलाता हूं ॥

'वरुणः' (१३) 'वरुण' शब्द व्याख्यान किया जा चुका है (१०, १, ३)

"तस्य० उस (वरुण) की यह ऋचा है॥२ (२१)॥

[खं० ३]

निरु०- "येनापावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु त्वं वरुण पश्यसि ॥" (ऋ०सं० १,४,७,५ । सा० सं०आर०आ० ५ द० ११) ।

'भुरण्युः' इति क्षिप्रनाम । भुरण्युः शकुनिः । भूरिम् अध्वानं नयति स्वर्गस्य लोकस्यापि वोढा तत्सम्पाती भुरण्युः अनेन पावक ! ख्यानेन । भुरण्यन्तं जनाँ अनु । त्वं वरुण पश्यसि । तत्ते वयं स्तुमः इति वाक्यशेषः ।

अपिवा उत्तरस्याम् ॥ ३ (२२) ॥

अर्थः—"येना पावक चक्षसा०" ये सब ऋचाएं प्रस्कण्व ऋषि की हैं और अश्विनों के शस्त्र में इनका विनियोग है ।

हे 'पावक !' 'वरुण !' 'येन' जिस 'चक्षसा' (ख्यानेन) दृष्टि (दर्शन) से 'जनान्-अनु' (पूर्वान् पुण्यकृतः जनान् अनु) पूर्व पुण्यवानों के पीछे 'भुरण्यन्तम्' जल्दी २ देवमार्ग से स्वर्ग को जाते हुए अग्नि को आधान करने वाले जन को 'त्वं' तू 'पश्यसि' देखता है (तत् ते वयं स्तुम) उस तेरे दर्शन (देखने) को हम स्तुति करते हैं । यह वाक्यशेष है— भाष्यकार ने "येन" पद के जोड़ के लिये या उसकी अपेक्षा को पूर्ण करने के लिये "तत् ते वयं स्तुमः" यह "तत्" पद वाला वाक्य अध्याहार किया है । इस प्रकार जहां मन्त्रों में अधूरा वाक्य रह जावे, वहां उस २ मन्त्रार्थ के अनुकूल अध्याहार कर लेना चाहिये, यह भाष्यकार ने दिखाया है ।

"भुरण्युः०" 'भुरण्यु' यह शीघ्र का नाम है । 'भुरण्यु' शकुनि = पक्षी होता है । क्यों ? "भूरिम् अध्वानं नयति"

वहुत मार्ग को लेजाता है चला जाता है । 'स्वर्गस्य लोक-स्यापि वोढा' तथा स्वर्ग लोक को लेजाने वाला अग्नि भी 'भुरण्यु' है। "स्वर्गाय लोकाय अग्निश्चीयते" 'स्वर्ग लोक के लिये अग्नि चयन (स्थापन) किया जाता है'- यह श्रुति है। 'तत्सं'पाती' उसके साथ जाने वाला— अग्नि को चयन करने वाला अग्नि से युक्त जन कर्म के अनुष्ठान से उत्पन्न हुए अदृष्ट को लेकर स्वर्ग लोक के प्रति जाता है, वह "भुरण्यति" (शीघ्र जाता है) कहा जाता है, उसी "भुरण्यति" पद से 'भुरण्यत्' शब्द बनता है, जिस का रूप मन्त्र में "भुरण्यन्तम्" है। सुतराम् यह 'भुरण्यत्' शब्द 'भुरण्यु' शब्द से नामधातु के संस्कार द्वारा बना है॥

"अपित्वा०" ऐसा भी है, जैसा कि—यह कहा गया, और ऐसा भी दूसरे प्रकार से [व्याख्यान] है, जैसा कि— उत्तरा = अगली ऋचामें इसपूर्व ऋचा को मिला देने से होता है-॥ ३ [२२]॥

(खं० ४)

निरु०-"येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु त्वं वरुण पश्यसि ॥
विद्यामेषि रजस्पृथ्वहा मिमानो अक्तुभिः।
पश्यञ्जन्मानि सूर्य ॥"

व्येषि द्यां रजश्च पृथु महान्तं लोकम् अहानि च मिमानः अक्तुभिः रात्रिभिः सह पश्यन् जन्मानि जातानि सूर्य ! ।

अपिवा पूर्वस्याम् ॥४(२३)॥

अर्थः—"येना पावक" । हे पावक ! वरुण ! जिस दृष्टि से पूर्व सुकृति जनों के पीछे जाते हुए अग्नि-पूजक जन को तू देखता है, उसी दृष्टि से युक्त होकर तू द्याम्' द्युलोक को 'वि-एषि' विविध प्रकार से या अतिशय से जाता है, "पृथु रजः" [महान्तं लोकम् अन्तरिक्षम्) और बड़े लोक = अन्तरिक्ष को 'अक्तुभिः' [रात्रिभिः सह] रात्रिओं के सहित 'अहा' [अहानि च] दिनों को 'मिमान' (कुर्वन्) करता हुआ 'जन्मानि' [जातानि] तथा उत्पन्न हुई वस्तुओं को 'पश्यन्' देखता हुआ 'सूर्य !' हे सूर्य ! तू जाता है।

"अपिवा०" अथवा उत्तरा (अगली) ऋचा में एक वाक्यता हो सकती है, अथवा तो पूर्व ऋचा में भी एक वाक्यता होसकती है— जिस प्रकार पूर्वोक्त रीति से अध्याहार के द्वारा प्रस्तुत ऋचा का अर्थ पूरा होसकता है, और उत्तर ऋचा के साथ उसे मिला देने से उसका पूर्ण अर्थ होजाता है, उसी प्रकार इस ऋचा को पूर्व ऋचा में भी मिला देने से वह कार्य हो सकता है, जैसा कि— आचार्य आगे पढ़ता है— ॥४ (२३)॥

(खं० ५)

निरु०-"येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ। अनु त्वं वरुण पश्यसि ॥

प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषान्
प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे ॥"

प्रत्यङ् इदं सर्वम् उदेषि, प्रत्यङ् इदं सर्वम् इदम् अभिविपश्यसि-इति ।

अपिवा एतस्यामेव ॥ ५ (२४) ॥

अर्थः- हे वरुण ! पावक! जिस ख्याति या प्रज्ञा से या किसी अनुग्रह बुद्धि से सुकृती जनों के पीछे जाते हुये अग्निमान् जन को देखता है, उसी ख्याति या बुद्धि से "प्रत्यङ् देवानां विशः" देवताओं के निवासों को प्रत्यङ् = अभिमुख या संमुख करके 'उदेषि' तू उदय होता है "प्रत्यङ् उदेषि मानुषान्" मनुष्यों के सामने करके उदय होता है "प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे" हे स्वः ! आदित्य ! (प्रत्यङ् इदंसर्वम् उदेषि) इस सब जगत् को सामने करके तू उदय होता है [प्रत्यङ् इदं सर्वम् अभिविपश्यसि] इस सब जगत् को तू अभिमुख देखता है ॥

"अपिवा०" अथवा यदि पूर्व ऋचा में भी एक वाक्यता न हो, और उत्तर ऋचा में भी एक वाक्यता न हो, तो भी इसी प्रस्तुत ऋचा में व्याख्यान होसकता है ॥५ (२४)॥

(खं० ६)

निरु०- "येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु त्वं वरुण पश्यसि ॥"

तेन नो जनान् अभिविपश्यसि ॥

'केशी' केशाः रश्मयः, तैः तद्वान् भवति । काशनाद् वा । प्रकाशनाद् वा ।

तस्य एषा भवति ॥६ (२५) ॥

अर्थः— "येना पावक०" हे पावक ! वरुण जिसबुद्धि से सुकृती या पुण्यात्मा जनों के पीछे चलने वाले सुकृती को देखता है, उसी बुद्धि से हम लोगों को भी देखता है ॥

प्रथम व्याख्यान में भी अध्याहार किया था "तत् ते वयं स्तुमः" उस तेरे ख्यान = दर्शन को हम स्तुति करते हैं) और इस चौथे व्याख्यानमें भी अध्याहार ही किया है— "तेन नो जनान् अभिविपश्यसि" [उस ख्यान से तू हम लोगों को देखता है], इनमें पहिले की अपेक्षा इस दूसरे अध्याहार में क्या विशेष है ?

प्रथम अध्याहार में "तत् ते वयं स्तुमः" इस प्रकार स्तुति से मन्त्रार्थ पूर्ण किया है और इसमें "तेननोजनान् अभिविपश्यसि" [उससे तू हम लोगों को देखता है या देख] इस प्रकार आशिषा (प्रार्थना) से पूरा किया है। यह दोनों अध्याहारों में भेद है क्यों कि—मन्त्रों में स्तुति और प्रार्थना का नित्य सम्बन्ध है, यह सप्तमाध्याय में विस्तार से निरूपण किया है। इस लिये दोनों अध्याहारों से ही मन्त्रार्थ की पूर्त्ति हो सकती है, तथा पूर्व उत्तर मन्त्रों में भी जोड़ने से पूर्त्ति हो सकती है । यह साकाङ्क्ष्य या अधूरे मन्त्रों में सर्वत्र ही एक वाक्यता या व्याख्यान के पूर्ण करने का प्रकार दिखाया है ।

'केशी' [१४] (आदित्य) क्यों ? 'केश' नाम रश्मिओं (किरणों) का है, उनसे वह केशवान् होने से 'केशी' है ।

अथवा काशन से 'केशी' है। अथवा प्रकाशन से 'केशी' है। दोनों में अर्थ और धातु समान हैं॥

"तस्य०" उस (केशी) की यह ऋचा है॥६[२५]॥

[ख० ७]

निरु०-"केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी। केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते॥" [ऋ०सं० ८,७,२४,१]॥

केशी अग्निं च विषं च।

'विषम्'-इति उदकनाम। विष्णातेः = विपूर्वस्य स्नातेः शुद्धार्थस्य। विपूर्वस्य वा सचतेः। द्यावापृथिव्यौ च धारयति। केशी इदं सर्वम् इदम् अभिविपश्यति केशी इदं ज्योतिः उच्यते। इत्यादित्यम् आह।

अथापि एते इतरे ज्योतिषी केशिनी उच्येते। धूमेन अग्निः, रजसा च मध्यमः।

तयोः एषा भवति॥७[२६]॥

अर्थः- "केश्यग्निं०" इस ऋचाका जूतिनाम ऋषि है।

'केशी' देव "अग्निं बिभर्ति" अग्नि को धारण करता है- वर्षा से जल के द्वारा ओषधियों को उत्पन्न करके आहुति के द्वारा अग्निका पोषण करता है। "केशी विषम्" केशी विषको धारण करता है— 'विष' यह जल का नाम है

'विष्णाति' = शुद्धि अर्थ में 'वि' (उप०) और 'स्ना' (अदा० प०) धातु का है। क्यों कि— वह विशेष करके वस्त्र आदि को शुद्ध कर देता है। अथवा 'वि' (उप०)'सच' (भ्वा० आ०) धातु का है। क्यों कि— वह सब जगह लगा हुआ रहता है। "केशी रोदसी विभर्ति" केशी द्यावा पृथिवी दोनों लोकों को धारण करता है— उनमें रहने वाले प्राणिओं पर अनुग्रह करता है। "केशी विश्वं स्वर्दृशे" केशी (स्वः) आदित्य[इदम् अभिविपश्यति]इस सब को भले प्रकार देखता है। "केशी इदं ज्योतिः उच्यते" 'केशी' यह आदित्य रूप ज्योति कहाता है। इस यह प्रकार मन्त्र 'केशी' नामसे आदित्य को कह रहा है॥

ओर भी ये दूसरे ज्योति प्रथम और मध्यम केशी कहे जाते हैं। उनमें धूम [धूएं] से अग्नि केशी (केश वाला) है। क्यों कि-वह जब प्रज्वलित होता है, तबभी उसमें धूआं केश जैसा रहता है। और मध्यम(वायु) रूप रहित होनेके कारण अप्रत्यक्ष होता हुआ भी धूली से प्रतीत होता है- वह वायु आता है, इससे मध्यम वायु धूलि से केशी है और विद्युत् [बिजली] के रूपमें वह जलसे केशी है—जलसे वह केश वाला जैसा प्रतीत होता है।

"तयो०" उन दोनों [प्रथम और मध्यम = अग्नि और वायु] की यह ऋचा है॥७ (२६)॥

[खं० ८]

निरु०- " त्रयः केशिन ऋतुथा विचक्षते संवत्सरे पवत एक एषाम्। विश्वमेको अभिचष्टे

शचीभि र्ध्राजिरेकस्य दहशे न रूपम् ॥" (ऋ० सं० २, ३, २२, ४ । अथ० सं० ९, १९, ६) ॥

त्रयः केशिनः ऋतुथा विचक्षते काले काले अभि विपश्यन्ति । संवत्सरे वपते एकः एषाम्-इति- अग्निः पृथिवी दहति । सर्वम् एकः अभि विपश्यति कर्मभिः आदित्यः ।। गतिः एकस्य दृश्यते न रूपं मध्यमस्य ।

अथ रश्मिभिः अभिप्रकम्पयन् एति तद् - 'वृषाकपिः' भवति । वृषाकम्पनः

तस्य एषा भवति ॥ ८ (२७) ॥

अर्थः- "त्रयः केशिनः०" इस ऋचा का दीर्घतमा ऋषि है। महाव्रत में वैश्वदेव शस्त्र में शस्त्र होती है।

"त्रयः केशिनः ऋतुथा (काले काले) विचक्षते (अभिविपश्यन्ति)" तीनों केशी (अग्नि वायु और सूर्य) समय समय पर संमुख देखते हैं— काल के अनुसार अपने कर्माधिकार के सहित अनुग्रह से लोक को अनुगृहीत करते हैं। "एषाम् एकः [अग्निः] संवत्सरे वपते (पृथिवीं दहति)" इनमें एक पार्थिव अग्नि संवत्सर में पृथिवी को दग्ध करता है [ऐसा होने से वह कर्मयोग्य बन जाती है]। "एकः (आदित्यः) शचीभिः (कर्मभिः) विश्वम् अभिचष्टे (अभिविपश्यति)" एक

आदित्य अपने अधिकार युक्त कर्मों से विश्व को देखता है या लोक को अपने २ कर्मों से युक्त देखता है। क्योंकि—रात्रिमें सब लोक सोया हुआ रहता है, और जब दिन होता है, तो सब प्राणी अपने २ कर्म में लग जाते हैं। "एकस्य (मध्यमस्य) भ्राजिः (गतिः) ददृशे [दृश्यते] न रूपम्" और एक मध्यम (वायु) की गति उठी हुई धूलिसे या जलसे देखी जाती है, किन्तु रूप (आकृति) नहीं।

"अथ रश्मिभिः" और जब आदित्य अपनी रश्मियों से भूतों को कंपाता हुआ आता है, तब 'वृषाकपि' (१६) होता है। क्योंकि—अवश्यायों (ओसों) का वर्षिता (बरसाने वाला) है और भूतों का कम्पन (कंपाने वाला) है [क्यों कि—जब भगवान् सूर्य देव दिखाई नहीं देते, तब सब लोक भय से डरने लगता है] इससे 'वृषाकपि' है।

"तस्य०" उस (वृषाकपि) की यह ऋचा है—॥८(२७)॥

(खं० ६)

निरु०—"पुनरेहि वृषाकपे सुविता कल्पयावहै। य एष स्वप्ननंशनोऽस्तमेषि पथा पुनर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥" [ऋ० सं० ८, ४, ४, ६] ॥

पुनः एहि वृषाकपे! सुप्रसूतानि वः कर्माणि कल्पयावहै, यः एष स्वप्ननंशनः स्वप्नान् नाशयति आदित्यः उदयेन, सः अस्तम् एषि पथा, पुनः, सर्वस्माद् यः इन्द्रः उत्तरः तम् एतद् ब्रूमः आदित्यम्।

'यमः' व्याख्यातः ।

तस्य एषा भवति—॥ ९ (२८) ॥

अर्थः-"पुनरेहि वृषाकपे०" इस ऋचा का वृषाकपि ऋषि है, और पृष्ठ्य के षष्ठ (छठे) अहन् में ब्राह्मणाच्छंसी के शस्त्र में विनियुक्त है ।

'वृषाकपे !' हे वृषाकपि देव ! "यः एषः त्वं स्वप्न-नंशनः (स्वप्नान् नाशयति उदयेन आदित्यः) अस्तम् एषि पथा" जो यह तू अपने उदय से लोकों के स्वप्नों को नाश करने वाला (निद्रा का भङ्ग करने वाला) आदित्य अपने मार्ग से अस्त को प्राप्त होता है । " (यश्च त्वं) विश्वस्मात (सर्वस्मात्) इन्द्रः उत्तरः " और जो तू सब से ऊंचा या बड़ा है, (सः त्वम्) सो तू "पुनः एहि" फिर आ-उदय को प्राप्त हो । "सुविता, (सुप्र-सूतानि वः कर्माणि) कल्पयावहै" फिर हम दोनों तुम्हारे प्रवृत्त हुये शुभ कर्मों को साधें (करें) (तम् एतद् ब्रूमः आदित्यम्) उस आदित्य को हम यह कहते हैं ॥

'यम' (१७) शब्द व्याख्यान किया जा चुका है [१०, २, ६]।

"तस्य०" उस (यम) की यह ऋचा है-॥ ९(२८) ॥

[खं० १०]

निरु०-"यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः सम्पिबते

यमः । अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणाँ अनु वेनति ॥" (ऋ०सं० ८,७,२३,१)

यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे स्थाने वृतक्षये । अपि वा उपमार्थे स्याद्-वृक्ष इव सुपलाशे-इति ।

'वृक्षः' व्रश्चनात् ।

'पलाशं' पलाशनात् ।

देवैः संगच्छते यमः, रश्मिभिः आदित्यः । तत्र नः सर्वस्य पाता वा, पालयिता वा, पुराणान् अनुकामयेत ।

'अज एकपाद्' अजनः एकः पादः । एकेन पादेन पाति-इतिवा । एकेन पादेन पिबति इति वा । एकः अस्य पादः इतिवा ।

"एकं पादं नोत्खिदति" इत्यपि निगमो-भवति ।

तस्य एष निपातो भवति वैश्वदेव्याम् ऋचि ॥ १० (२९) ॥

अर्थः—"यस्मिन् वृक्षे" इस ऋचा का यामायन (यम का पुत्र) कुमार ऋषि है ।

'यस्मिन्' जिस 'सुपलाशे (सुष्ठु पराशीर्णमले = दीप्तिमति) सुन्दरमल रहित या प्रकाशमान 'वृक्षे' (आदित्यमण्डले)

वृक्ष = आदित्य मण्डल में अथवा– 'वृक्षे' (वृतक्षये)पुण्यवान् पुरुषों से युक्त निवास में 'यमः' (आदित्य) यम = आदित्य 'देवैः' (रश्मिभिः) रश्मियों से 'संपिबते' (संगच्छते) (अस्तं गच्छन्, अस्त को प्राप्त होता हुआ मिलता है– अस्त काल में उनके साथ एक रूप होजाता है, ' अत्र ' यहां 'नः ' हमको 'विश्पतिः पिता' (सर्वस्य पाता वा पालयिता वा) प्रजाओं का पति, पिता सब का रक्षक आदित्य (तत्र)वहां के(आदित्य लोक के) निवासियों = 'पुराणान् ' पुराने = पहिले के गये हुए पुरुषों के समान'अनुवेनति' (अनुकामयेत = सम्प्रीणयतु) पुण्य कर्म या उनको (अपनेको)प्राप्त कराने वाली विद्या से पालन करे- वह आदित्य देव अपने लोकमें रहने वाले अपने भक्तों की जिस प्रकार वहां रक्षा करता है, उसी प्रकार यहां पृथिवी लोक में रहने वाले हम लोगों की भी रक्षा करे (यह नैरुक्त पक्ष में व्याख्या है) ॥

ऐतिहासिक पक्ष में–(अपिवा उपमार्थे स्याद्वृक्ष इव सुपलाशे)'यम पितृराज सुन्दर पत्तों वाले वृक्ष के समान अपने सुख निवास या लोकमें अपने अनुचरों के साथ मिलता है। वह यमदेव यहां अपने घरों में रहते हुए हम लोगों की उन के लोकमें रहने वाले पितरों के समान रक्षा करे, ऐसी व्याख्या होती है ॥

वृक्ष (आदित्य) क्यों ? व्रश्चन (छेदन) से। क्यों कि– वह अपनी गति से काल को अतिक्रमण या उल्लङ्घन करता हुआ सब प्राणियों की आयुओं को क्षीण करता है ।

पलाश (पत्ते) क्यों ? पलाशन (खाने) से। क्यों कि— उसे पशु आदि अशन करते हैं— खाते हैं ॥

'अज एकपात्' (१८) (आदित्य) क्यों? अजन, गमन = चर) एकपाद् (पैर) है- आदित्य अन्न का चलने वाला एक पैर है, क्यो कि- " अग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पादः" अग्नि एकपाद है, वायु एकपाद है, आदित्य एकपाद है, और दिशाएं एक पाद हैं, इस प्रकार ये ब्रह्म के पाद स्तुति में बताए हैं, इसी के अनुसार आदित्य का 'अज एकपात्' यह नाम है।

अथवा 'एकेन पादेन पाति- इति वा।' एकपाद (अंश) से जगत् की रक्षा करता है— सोने के समय प्राण रूप से अन्न का पाक करके रक्षा करता है, और अजन (चलनेवाला) है, इससे 'अज एकपात्' है।

'एकेन पादेन पिबति इति वा' अथवा एक पाद [अंश] से सब जगत् से जल को पीता है और अजन है, इससे 'अज एकपात्' है

'एकः अस्य पादः इति वा' अथवा इसके एक पाद है— सारे संसार में इसका जीव रूप एक पाद प्रविष्ट है और अजन है, इससे 'अज एकपात्' है।

"एकं पादं नो त्खिदति" अर्थात्— अपने एक अंश को नहीं उखाड़ता या नहीं उठाता है, यह भी निगम है॥

" तस्य०" उस (अज एकपाद्) का विश्वदेवों की ऋचा में यह निपात है॥ १० (२६)॥

(खं० ११)

निघ०—"पावीरवी तन्यतुरेकपादजो दिवो

धर्त्ता सिन्धुरापः समुद्रियः । विश्वे देवासः शृणवन् वचांसि मे सरस्वती सह धीभिः पुरन्ध्या ॥ ”
[ऋ० सं० ८, २, ११, ३] ॥

'पविः' शल्यो भवति । यद् विपुनाति कायम् तद्वत्- 'पवीरम्' आयुधम् । तद्वान् इन्द्रः - 'पवीरवान्' ।

“ अति तस्थौ पवीरवान् ” [ऋ० सं० ८, १, २४, ३) । इत्यपि निगमो भवति ।

तद्देवता वाक् 'पावीरवी' पावीरवी च दिव्या वाक्, 'तन्यतुः' तनित्री वाचः अन्यस्याः अजश्च एकपाद् दिवो धारयिता च सिन्धुश्च आपश्च समुद्रियाः च सर्वे च देवाःसरस्वती च सह पुरन्ध्या स्तुत्या प्रयुक्तानि धीभिः कर्मभिः युक्तानि शृण्वन्तु वचनानि इमानि- इति ॥

'पृथिवी' व्याख्याता ।

तस्या एष निपातो भवति ऐन्द्र्याम् ऋचि।११ ,३०।

अर्थः-“ पावीरवी तन्यतुः” इस ऋचा का वामदेव्य ऋषि और वैश्वदेव शस्त्र में विनियोग है ।

'पावीरवी' मध्यम लोक की वाक्- 'तन्यतु' अन्यस्याः वाचः तनित्री और अन्यमनुष्य आदिकों की वाणीको विस्तार

करनेवाली या उत्पन्न करनेवाली है, वह और 'दिवः' 'द्युलोक का 'धर्त्ता' धारण करनेवाला 'अजः च' एकपाद्' अज एक-पाद् 'सिन्धुः' (च नद:) और सिन्धु नद 'आपः' [च] और जल 'समुद्रियः' [समुद्रियाश्च] और समुद्र के जल " विश्वे देवासः" (सर्वे च देवाः) और सब देवता 'सरस्वती च) और सरस्वती (ये सब देवता] "धीभिःसह" (कर्मभिःयुक्तानि) कर्मों से युक्त 'पुरन्ध्या' (स्तुत्या प्रयुक्तानि) स्तुति से प्रेरित 'वचांसि' (इमानि वचनानि) इन वचनों को 'शृणवन्' (शृण्वन्तु) सुने [इति] यह हम चाहते हैं

'पवि' क्या ? शल्य (लोहे का धार वाला फल जो बाण आदि अस्त्र शस्त्रों के अग्र में रोपा जाता है) होता है। क्यों ? 'विपुनाति कायम्' शरीर को विदारण कर देता है। ' तद्वत् पवीरम्' वह (पवि) जिसमें लगा हुआ होता है, वह 'आयुध' 'पवीर' होता है। 'तद्वान् इन्द्रः पवीरवान्' उस [पवीर] का रखने वाला इन्द्र 'पवीरवान्' होता है क्यों कि—

"आतिस्थौ पवीरवान्" [ऋ० सं० ८,१,२४,३]

अर्थात् पवीरवान् इन्द्र शत्रुओं को दबा कर खड़ा हुआ था या है। यह भी निगम है।

'तद्देवता वाक् पावीरवी' वह इन्द्र जिसका देवता है, सो पावीरवी है। क्या ? 'दिव्या वाक् द्युलोक की वाणी ॥

"दिवो धर्त्ता" द्युलोक का धारण करने वाला। 'अज एक पाद्' देवता का यह (दिवोधर्त्ता) विशेषण होने से यह द्युलोक स्थान का देवता है, यह मन्त्राक्षरों से ही निश्चित होता है॥

'पृथिवी' (१६) का व्याख्यान होचुका [१,४,३]

"तस्याः०" उस पृथिवी) का इन्द्र की ऋचा में यह निपात है-॥११(३०)॥

(खं० १२)

निरु०-"यदिन्द्राग्नी परमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यामवमस्यामुतस्थः। अतः परि वृषणावा हि यातमथा सोमस्य पिबतं सुतस्य ॥" [ऋ० सं० १, ७, २७, ३] ॥

इति सा निगदव्याख्याता ॥

'समुद्रः' व्याख्यातः।

तस्य एष निपातो भवति पावमान्याम् ऋचि ॥ १२ (३१) ॥

अर्थ:-"यदिन्द्राग्नी०" यह ऋचा कुत्स ऋषिकी है। हे 'इन्द्राग्नी!' इन्द्र अग्नि देवो! हे 'वृषाणौ!' कामनाओं को बरसाने वाले! 'यत्' (यदि) जो (युवाम्) तुम दोनों "परमस्यां पृथिव्याम्" द्युलोक रूप पृथिवी में 'उत' अथवा 'मध्यमस्याम्' [मध्यमायाम् अन्तरिक्षे] मध्यम लोक की पृथिवी = अन्तरिक्ष में अथवा 'अवमस्याम्' (अस्यामेव भूम्याम्) इसी भूमि में 'स्थः' हो, (अतः) तथापि 'आयातम्' हमारे प्रति आओ 'अथ' और 'सुतस्य' निचोड़े हुए 'सोमस्य' सोम को 'पिबतम्' पान करो ॥

"इति०" यह ऋचा अपने उच्चारण से ही व्याख्यान की हुई है ॥

'समुद्रः' (२०) व्याख्यान किया जाचुका है [२,३,१]

"तस्य०" उस (समुद्र) का यह पावमानी ऋचा में निपात है-॥ १२ (३१) ॥

[खं० १३]

निरु०- "पवित्रवन्तः परिवाचमासते पितैषां प्रत्नो अभिरक्षासि व्रतम् । महः समुद्रं वरुणस्तिरोदधे धीरा इच्छेकु धरुणेष्वारभम् ॥" [ऋ०सं० ७, २, २९, ३]

पवित्रवन्तः रश्मिवन्तः माध्यमिका देवगणाः पर्यासते माध्यमिकां वाचम् । मध्यमः पिता एषां प्रत्नः पुराणः अभिरक्षति व्रतं कर्म । महः समुद्रं वरुणस्तिरोदधे अन्तर्दधाति । अतः धीराः शक्नुवन्ति, धरुणेषु उदकेषु कर्मणः 'आरभम्' आरब्धुम् ।

'अज एकपाद्' व्याख्यातः ।

'पृथिवी' व्याख्याता ।

'समुद्रो' व्याख्यातः ।

तेषाम् एष निपातो भवति अपरस्यां बहुदेवतायाम् ऋचि-॥ १३ (३२) ॥

अर्थः—"पवित्रवन्तः०" इस ऋचा का पवित्र ऋषि और प्रवर्ग में विनियोग है।

'पवित्रवन्तः' (रश्मिवन्तः माध्यमिका देवगणाः) 'वाचम्' (माध्यमिकाम्) 'परि-आसते' रश्मिओं वाले मध्यम लोक के देव समूह मध्यम लोक की वाणी को चारों ओर से घेरकर स्थित हैं। द्युलोक से रश्मिएं आदित्य-मण्डल से निकल कर मध्यम स्थान में मरुद् आदि देवों से मिलती हैं, उनके उस संयोग से वे मध्यम देवगण पवित्र वाले या रश्मिवाले होजाते हैं।] "एषां प्रत्नः (पुराणः) पिता (मध्यमः) व्रतं (कर्म) अभिरक्षति" इनका पुराना पिता मध्यम (वरुण) देव इनके अधिकार युक्त कर्म की रक्षा करता है। कैसे? "वरुणः महः समुद्रं तिरोदधे (अन्तर्दधाति)" महान् वरुणदेव महान् समुद्र (आदित्य) को मेघ जाल से ढंक लेता है— चौमासा करके ओषधिओं पर बरसता है "(अथ) धीराः (धीमन्तः) धरुणेषु [उदकेषु] (कर्मणः) आरभम् (आरब्धुम्) (इत्) शेकुः (शक्नुवन्ति)" तब बुद्धिमान् लोग जलों में कृषिकर्म या वैदिककर्म को आरम्भ कर सकते हैं॥

'अजएकपाद्' व्याख्यान किया गया [१२,३,१०]।

'पृथिवी' व्याख्यान कीगई [१,४,३,-१२,३,११-१२]।

'समुद्र' व्याख्यान किया गया [२,३,१-१२,३,१२-१३]

"तेषाम्" उन (अजएकपाद्, पृथिवी और समुद्र) का बहुदेवताओं की ऋचा में निपात है-॥१३(३२)॥

(खं० १४)

निरु०—"उत नोऽहिर्बुध्न्यः शृणोत्वज एकपात्पृथिवी समुद्रः । विश्वे देवा ऋतावृधो हुवानाः स्तुता मन्त्राः कविशस्ता अवन्तु ॥" (ऋ० सं० ४,८,१०,४ । य०वा०सं० ३४,५३) ॥

अपि च नः अहिर्बुध्न्यः शृणोतु अजश्च एकपात् पृथिवी च समुद्रश्च सर्वे च देवाः, सत्यवृधो वा, यज्ञवृधो वा, हूयमाना मन्त्रैः स्तुता मन्त्राः 'कविशस्ताः' अवन्तु मेधाविशस्ताः ॥

'दध्यङ्' प्रत्यक्तो ध्यानम्—इति वा । प्रत्यक्तम् अस्मिन् ध्यानम्—इति वा ।

'अथर्वा' व्याख्यातः ।

'मनुः' मननात् ।

तेषाम्—एष निपातो भवति ऐन्द्र्याम् ऋचि—॥ १४ (३३) ॥

अर्थः— "उत नोऽहिर्बुध्न्यः०" इस ऋचा का आगिश्वन् ऋषि और अग्नि मारुत (शस्त्र) में विनियोग है।

'उत' (अपि च) और भी 'अहिर्बुध्न्यः' अहिर्बुध्न्य देव (नः) हमें सुने— हमारी पुकार को सुने, 'अजः' (च) एकपात् और अज एकपाद्, 'पृथिवी (च) और पृथ्वी 'समुद्रः' (च) और समुद्र 'विश्वे' [सर्वे च] देवाः और सब

देवता जो 'ऋतावृधः' (सत्यवृधो वा) सत्य के बढाने वाले हैं (यज्ञवृधो वा) अथवा यज्ञ के बढाने वाले हैं, 'मन्त्राः' 'हुवानाः' [मन्त्रैः ह्रूयमानाः] यजुर्मन्त्रों से आवाहन किए जाते हुए, 'स्तुताः' सामके स्तोत्रों से स्तुति किये गए, 'कविशस्ताः' और मेधावी पुरुषों से शस्त्र मन्त्रों के द्वारा स्तुति किये गये हैं, 'अवन्तु' हमारी रक्षा करें ॥

'दध्यङ्' (२१) 'अथर्वा' (२२) 'मनुः' (२३) ये तीनों त्रित्वपक्ष (नैरुक्त पक्ष– जिसमें अग्नि, वायु, आदित्य - कुल तीन देवता ही माने गये हैं) में भिन्न २ गुणों के सम्बन्ध से आदित्य ही हैं— अन्य २ गुणों के योग से आदित्य के ही नाम होते हैं । क्यों कि- इनका द्युस्थान में समाम्नाय या पाठ है, अतः आदित्य के अतिरिक्त वहां और कुछ नहीं है । और पृथक्त्व पक्ष (ऐतिहासिक पक्ष) में ये द्युस्थान में आदित्य के सहचारी ऋषि हैं ।

'दध्यङ्' क्यां ? 'प्रत्यक्तो ध्यानम्' ध्यान के प्रति गया हुआ । 'प्रत्यक्तम् अस्मिन् ध्यानम् इति वा' अथवा ध्यान इस में गया हुआ है· इससे 'दध्यङ्' है ॥

'अथर्वा' व्याख्यान किया गया [११,२,६] ।

'मनु' क्यों ? मनन से क्यों कि— ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे यह मनन न करता हो ।

"तेषाम्०" उन (दध्यङ्, अथर्वा, और मनु) का यह इन्द्र की ऋचा में निपात है ॥१४(२३) ॥

(खं० १५)

निरु०- "या मथर्वा मनुष्पिता दध्यङ् धियमत्नत । तस्मिन् ब्रह्माणि पूर्वथेन्द्र उक्थासमग्मता-

चैन्ननुस्वराज्यम् ॥” (ऋ० सं० १, ५, ३१, ६)
याम् अथर्वा च मनुश्च पिता मानवानां दध्यङ् च धियम् अतेनिषत तस्मिन् ब्रह्माणि पूर्वेन्द्र उक्थानि च सङ्गच्छन्ताम् अर्चन्यः अनूपास्ते स्वराज्यम् ॥१५ [३४]॥

इति निरुक्ते द्वादशाध्यायस्य तृतीयः पादः॥१२,३॥

अर्थः- "यामथर्वा०" इस ऋचा का गोतम ऋषि है और पार्ष्ठिक पञ्चम अहन् में विनियोग है, इन्द्र के सूक्त में।

'अथर्वा' [च और अथर्वा 'मनुः' (च) 'पिता' (मानवानाम्) और मनु जो मानवों (मनुष्यों) का पिता है, 'दध्यङ्' [च] और दध्यङ् 'धियम्' (अहोनिर्वृत्यादिलक्षणं कर्म] दिन रात्रि आदि कर्म को 'अतनत' (अतनिषत) फैलाते हैं- करते हैं। 'तस्मिन्' उसके होने पर 'ब्रह्माणि '(अन्नानि) अन्न 'उक्था' (उक्थानि = शस्त्राणि) [च | और उक्थ नाम शस्त्र मन्त्र 'पूर्वथा' पहिले के समान 'इन्द्रे' इन्द्र देवमें 'समगमत' (संगच्छन्ताम्) प्राप्त हों या उसे मिलें। 'यः' जो इन्द्र 'अर्चन्' पूजता हुआ 'स्वराज्यम्' अपने राज्य को 'अनु- [उपास्ते] शास्त्र की मर्यादा के अनुसार अनुष्ठान करता है—करता है॥

पृथक् पक्ष में— आदित्य के सहचारी ये ऋषि यज्ञकर्म को फैलाते हैं। उसमें अन्न और उक्थ मन्त्र इन्द्र को प्राप्त होते हैं,जो इन्द्र अपने राज्यको शास्त्र के अनुसार अनुष्ठान करता है, यह अर्थ है ॥१५ (३४) ॥

इति हिन्दीनिरुक्ते द्वादशाध्यायस्य तृतीयःपादः ॥१२, ३॥

चतुर्थः पादः ।
(खं० १)

निघ० आदित्याः ॥२४॥ सप्तऋषयः ॥२५॥ देवाः ॥२६॥ विश्वे देवाः ॥२७॥ साध्याः ॥२८॥ वसवः ॥२९॥ वाजिनः ॥३०॥ देवपत्न्यः ॥३१॥ देवपत्न्यः ३१ इति— एकत्रिंशत् (३१) पदानि ॥६॥

इति निघण्टौ पञ्चमाध्यायः समाप्तः ॥५॥

निरु०— अथातो द्युस्थाना देवगणाः ।
तेषाम्- आदित्याः प्रथमागामिनो भवन्ति ।
तेषाम्- एषा भवति ॥१ (३५)॥

अर्थः- "अथातो०" इससे आगे द्युस्थान— जिनका द्युलोक स्थान है, वे देवगण = देवसमूह = ज्योतिः समूह कहे जावेंगे। नैरुक्त पक्ष में एकही आदित्य अनेक विभूतियों से युक्त होकर नाना देवरूप होजाता है और वही देवताओं के अनेक समूहों के रूप में होजाता है, उन्हीं को मन्त्रों के द्रष्टा ऋषि "आदित्याः" "सप्तऋषयः" इत्यादि नामों के द्वारा समूहों के रूप में देखते हैं। और पृथक्त्व पक्ष जो याज्ञिक पक्ष है, उसमें जितने नाम हैं, उतने ही देवता हैं, इसमें "आदित्याः" आदि पदोंमें जो बहुवचन है, वह वास्तव

में बहुत देवताओं केही लिये है;नैरुक्त पक्ष के समान कल्पित संख्या को लेकर नहीं ॥

"तेषाम्" उन (उत्तम स्थानों) में आदित्य प्रथमागामी प्रथम आने योग्य हैं। क्यों कि— 'आदित्य' नाम प्रत्यक्ष अर्थ को बोधक है।

"आदित्यः०" (२४) आदित्य व्याख्यान किये जा चुके (२, ४, १)।

"तेषाम्०" उन (आदित्यों) की यह ऋचा है ॥१(३५)॥

(खं० २)

निरु०-"इमा गिर आदित्येभ्यो घृतस्नूः सना-द्राजभ्यो जुह्वा जुहोमि । शृणोतु मित्रो अर्यमा भगो नस्तुविजातो वरुणो दक्षो अंशः ॥" (ऋ० सं० २,७,६,१ । य०वा०सं० ३४,५४)

'घृतस्नूः' घृतप्रस्नाविन्यः, घृतप्रस्राविण्यः, घृत-सारिण्यः, घृतसानिन्यः-इतिवा ।

आहुतीः.आदित्येभ्यः चिरं जुह्वा जुहोमि चिरं जीवनाय, चिरं राजेभ्यः इति वा । शृणोतु न इमा गिरः मित्रश्च अर्यमा च भगश्च बहुजातश्च धाता दक्षो वरुणोंऽशश्च ।

'अंशः' अंशुना व्याख्यातः ।

'सप्तऋषयः' व्याख्याताः।
तेषाम्-एषा भवति २ (३६) ॥

अर्थः-"इमा गिरः०" इस ऋचा का कूर्म गार्त्समद या गृत्समद ऋषि है।

(अहम्) मैं 'इमाः' ये जो 'घृतस्नूः' (घृतप्रस्नाविण्यः) घृत को झरने वालीं (घृतप्रस्राविण्यः) घृत को बहाने वालीं (घृतसारिण्यः) घृत को चलाने वालीं (घृतसानिन्यः—इतिवा) अथवा घृत को बांटने वालीं 'गिरः' मन्त्ररूपा वाणिएं हैं, उनसे 'सनाद्-राजभ्यः' (चिरं राजभ्यः) पुराने राजा 'आदित्येभ्यः' आदित्य देवों के लिये 'सनात्' (चिरम्) बहुत काल तक 'जुहा' (जुहूपात्रेण) जुहू नाम पात्र से (आहुतीः) आहुतिओं को 'जुहोमि' होम करता हूं। 'नः' हमारी (गिरः) इन वाणिओं को 'मित्रः'(च) मित्र 'अर्यमा' (च) और अर्यमा 'भगः' (च) और भग 'विजातः' (बहुजातश्च धाता) बहुरूप से उत्पन्न हुआ धाता 'वरुणः' वरुण 'दक्षः' दक्ष 'अंशः' (च) और अंशदेव 'शृणोतु' सुने।

'अंश' शब्द 'अंशु' शब्द से व्याख्यान किया जाचुका—उसी के समान इसकी व्याख्या समझनी चाहिए॥

'सप्त-ऋषयः' (२५) सप्तऋषि व्याख्यान किये जा चुके [१०, ३, २]।

"तेषाम्०" उन (सप्त ऋषिओं) की यह ऋचा है ॥२(३६)॥

(खं० ३)

निरु०-"सप्तऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्तरक्षन्ति

सदमप्रमादम् । सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ ॥" [य० वा०सं० ३४, ५५] ॥

सप्तऋषयः प्रतिहिताः शरीरे रश्मयः आदित्ये सप्तरक्षन्ति सदमप्रमादं संवत्सरम्-अप्रमाद्यन्तः सप्तापनाः ते स्वपतो लोकम् अस्तमितम् आदित्यं यन्ति अत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ वाय्वादित्यौ-इति अधिदैवतम् ।

अथ अध्यात्मं-सप्तऋषयः प्रतिहिताः शरीरे षड्-इन्द्रियाणि विद्या सप्तमी आत्मनि सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्, शरीरम् अप्रमाद्यन्ति सप्तापनानि इमानि एव स्वपतो लोकम् अस्तमितम् आत्मानं यन्ति । अत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ प्राज्ञश्च आत्मा तैजसश्च-इति आत्मगतिम् आचष्टे ॥

तेषाम् एषा अपरा भवति ॥ ३ (३७) ॥

अर्थ :-"सप्तऋषयः प्रतिहिताः" इस ऋचा का हिरण्यगर्भ ऋषि है, और अथर्वण में आत्मस्तुति में विनियोग है, और अगली ऋचा भी इसी के समान है ।

'सप्तऋषयः' (रश्मयः) सात रश्मिएं (किरणें) 'शरीरे' (आदित्ये) आदित्य में 'प्रतिहिताः' एक २ करके रखे हुए

हैं। 'सप्त' (सप्तएव) और फिर वेही सात (न अधिक न कम) 'सदम्' (संवत्सरम्) संवत्सर को 'अप्रमादम्' (अप्रमाद्यन्तः) न प्रमाद करते हुए अपने कर्म को न छोड़ते हुए रक्षा करते हैं—अपने उदय अस्त तथा उत्तरायण दक्षिणायन गति से उसे (संवत्सर को) बनाते हैं। 'सप्त और सात ही 'आपनाः' व्यापन स्वभाव रश्मिएं 'स्वपतः लोकम्' सोते हुए के लोक को—(अस्तमितम् आदित्यमण्डलम्) अस्त हुये आदित्य के बाह्य मण्डल को 'ईयुः' [यन्ति] चले जाते या प्रवेश करते हैं। 'तत्र' (अत्र) उस आदित्यमण्डल में अन्तर्गत 'अस्वप्नजौ' नहीं सोने वाले 'सत्रसदौ च' और भक्तों के सत्र [यज्ञ] में बैठने वाले 'देवौ' [वाय्वादित्यौ] दो वायु और आदित्य देव 'जागृतः' जागते हैं। "इति अधिदैवतम्" यह अधिदैवत अर्थ है,—इस में देवता के अभिप्राय से सब अर्थ है॥

"अथाध्यात्मम्" अब अध्यात्म अर्थ है—इसमें आत्मा का निरूपण है। 'सप्त ऋषयः'[षड्–इन्द्रियाणि विद्यासप्तमी] सात ऋषि– छः इन्द्रियें और सातवीं विद्या(ज्ञान) 'शरीरे' शरीर में 'प्रतिहिताः' रखे हुए हैं।'सप्त'येही सात'सदम्'(शरीरम्) शरीर को 'अप्रमादम्' (अप्रमाद्यन्ति) न प्रमाद करते हुये 'रक्षन्ति' रक्षा करते हैं। 'सप्त आपः'(सप्त आपनानि)व्यापनेवाले व्यापने वाले (इमानिएव)येही [इन्द्रिय और ज्ञान) 'स्वपतः' सोते हुए जीव के 'लोकम्' (अस्तमितम् आत्मानम्) अस्त हुये आत्मा को 'ईयुः' (यन्ति) प्रवेश करते हैं। 'तत्र' (अत्र) यहां इस शरीर में 'अस्वप्नजौ नहीं सोने वाले 'सत्रसदौ' ज्ञान

छउज में बैठने वाले 'देवी' [प्राज्ञश्च आत्मा तैजसश्च। प्राज्ञ और तैजस आत्मा— प्राज्ञ आत्मा परमात्मा जो चिन्मात्रसे शरीरको व्यापन करके रहता है और तैजस प्राण जो अन्न पान को पाक करता हुआ शरीर में रहता है 'जागतः' जागते हैं॥

इति आत्मगतिमाचष्टे" इसप्रकार मन्त्र आत्मगति = आत्मा की स्थिति को कहता है॥

"तेषाम्" उन सप्त ऋषिओंकी यह और ऋचा है ॥३(२७)

(खं० ४)

निरु० "तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नो यस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्। अत्रासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः॥" [अथ० सं० १९, २६, ९]॥

तिर्यग्बिलः चमसःऊर्ध्वबन्धनः ऊर्ध्वबोधनो वा, यस्मिन् यशो निहितं सर्वरूपम् अत्र आसते ऋषयः सप्त सह आदित्यरश्मयः ये अस्य गोपा महतो बभूवुः इति अधिदैवतम्।

अथ-अध्यात्मम्-तिर्यग्बिलःचमसःऊर्ध्वबन्धनः ऊर्ध्वबोधनो वा,यस्मिन् यशो निहितं सर्वरूपम् अत्र आसते ऋषयः सप्त सह इन्द्रियाणि यानि अस्य गोप्तॄणि महतो बभूवुः-इति- आत्मगतिम् आचष्टे॥

जाता है, "यस्मिन् यशोनिहितं विश्वरूपम्" जिस में सब प्रकार का ज्ञान रखा हुआ "अत्र आसते ऋषयः सप्त साकम् (सह इन्द्रियाणि)" इस [शरीर] में सात इन्द्रिय रूप ऋषि एक साथ रहते हैं, "अस्य गोपा महतो बभूवुः" (यानि अस्य गोप्तॄणि महतो बभूवुः) जो इस महान् शरीर के रक्षा करने वाले हैं। "इति आत्मगतिमाचष्टे" इस प्रकार मन्त्र आत्मा की स्थिति को कहता है।

'देवाः' (२६) देव व्याख्यान किये जाचुके (७,४,२)। "तेषाम् ०" न (देवों) की यह ऋचा है—॥४(३८)॥

(खं० ५)

निरु०—"देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभि नो निवर्त्तताम्। देवानां सख्यमुपसेदिमा वयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे॥" [ऋ०सं० १, ६, ५, २]

देवानां वयं सुमतौ कल्याण्यां मतौ ऋजुगामिनाम्, ऋतुगामिनाम्- इति वा, देवानां दानम् अभि नो निवर्त्तताम् देवानां सख्यम् उपसीदेम वयं देवा, नः आयुः प्रवर्द्धयन्तु चिरंजीवनाय॥

'विश्वे देवाः सर्वे देवाः॥

तेषाम्-एषा भवति ॥५।३९ ॥

अर्थः-"देवानां भद्रा०" इस ऋचा का गोतम ऋषि है, और "देवेभ्यो वशामालभेत" यह विनियोग है।

'ऋजूयताम्' (ऋजुगामिनाम्) सीधे चलने वाले (ऋतुगामिनाम् इति वा) अथवा ऋतु २ में आने वाले 'देवानाम्' देवों की 'भद्रा' (कल्याणी) कल्याण करने वाली 'सुमतिः' सुन्दर मति (हमारे लिये) 'निवर्त्तताम्' नियम से हो (वयं देवानां कल्याण्यां मतौ) या हम देवों की शुभ मति में रहें। तथा "देवानां रातिः (दानम्) नः अभिनिवर्त्तताम्" और शुभ मति के साथ उन देवताओं का दान हमारे प्रति नियम से (सदा) हो। "देवानां सख्यम् उपसेदिमा (उपसीदेम) वयम्" हम उनके दानको पाकर उन देवों के सख्य या मैत्री को प्राप्त करें- यज्ञादि कर्म के द्वारा उनकी सेवा करें तथा उनके प्रसाद को प्राप्त करें "देवाः नः आयुः प्रतिरन्तु (प्रवर्द्धयन्तु) जीवसे (चिरंजीवनाय)" देवता हमारी आयु को बहुत काल तक जीने के लिये बढावें ॥

'विश्वेदेवाः' (२७) सब देव ॥

"तेषाम्०" उन (सब देवों) की यह ऋचा है-॥५(३९)॥

(खं० ६)

निरु०-"ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वेदेवास आगत। दाश्वांसो दाशुषः सुतम् ॥" (ऋ० सं० १,१,६,१। य०वा०सं० ७, ३३) ॥

अवितारो वा अवनीया वा, मनुष्यधृतः सर्वे च देवाः इह आगच्छत दत्तवन्तो दत्तवतः सुतम्-इति ।

तदेतद् एकमेव वैश्वदेवं गायत्रं तृचं दशतयीषु विद्यते । यत्तु किञ्चिद् बहुदैवतं तद् वैश्वदेवानां स्थाने युज्यते ।

"यदेव विश्वलिङ्गम्"-इति शाकपूणिः ।

अनत्यन्तगतस्तु एष उद्देशो भवति ।

बभ्रुरेक इति दश द्विपदा अलिङ्गाः ।

भूतांशः काश्यपः आश्विनम् एकलिङ्गम् ।

अभितष्टीयं सूक्तम् एकलिङ्गम् ।

'साध्याः' देवाः । साधनात् ।

तेषाम् एषा भवति ॥ ६ [४०] ॥

अर्थः- "ओमासश्चर्षणीधृतो०" इस ऋचा का मधुच्छन्दस् ऋषि और प्रउग ग्रह में विनियोग है । और विश्वदेवों का इस मन्त्र से प्रातः सवन ग्रह लिया जाता है ।

'विश्वेदेवासः !' (सर्वे देवाः !) हे सब देवो ! [ये यूयम्] जो तुम 'ओमासः' (अवितारो वा) रक्षा करने वाले(अवनीया वा) अथवा तर्पण (तृप्त) करने योग्य हो, 'चर्षणीधृतः'[मनुष्य-धृतः) और मनुष्यों को धारण करने वाले या पालन करने वाले हो [ते यूयम्] वे तुम सब 'दाश्वांसः' (दत्तवन्तः = मनसा कृतसंकल्पा भूत्वा) मन से संकल्प किये हुए कि-यह

हमें इसके लिए देना चाहिए, 'दाशुषः' [दत्तवतः] हविओं को देचुकने वाले यजमान के 'सुतम्' [अभिषुतं सोमं पातुम्] निचोड़े हुए सोम रस को पीने के लिए 'आगत' आवो, (इति) यह हम चाहते हैं ॥

अब विश्वदेवो के सम्बन्ध में ही कुछ विचार करने को आचार्य आरम्भ करते हैं—

"तदेतद्०" सो यह एक ही विश्वदेवों का गायत्र छन्द में तृच (तीन ऋचाओं का एक समूह) दशतयी = दश मण्डल रूप ऋग्वेद में है-संम्पूर्ण ऋक् संहिता में भी गायत्र छन्दमें इस तृच के बिना विश्वदेवों का तृच या सूक्त नहीं है

नहो, किन्तु यज्ञ में विश्वेदेवों के गायत्र छन्द के बहुत मन्त्रों का प्रयोजन है, वहां क्या किया जावे ?

"यत्तुकिञ्चित्०" जो कुछ मन्त्र मात्र बहु देवताओं का गायत्र छन्द से युक्त हो, वह सब वैश्वदेव मन्त्रों के स्थान में लगाया जाता है या लगाना चाहिए।

शाकपूणि आचार्य मानतेहैं कि—"यदेव विश्वलिङ्ग०" जो कोई भी मन्त्र मात्र या सूक्त 'विश्व' शब्द से युक्त हो, वह सब वैश्वदेव मन्त्रों के स्थान में विनियोग करना चाहिए किन्तु बहु देवता मात्र से नहीं।

क्या यास्क आचार्य भी ऐसाही मानते हैं? नहीं-जिससे कि— कहा है—

"अनत्यन्तगतस्तु०"

यह शाकपूणि आचार्य का उद्देश या प्रतिज्ञा पर्याप्त या यथेष्ट नहीं है । क्यों कि— विश्वदेवताओं के मन्त्र उसमे

ही उस छन्द में होने चाहिए थे, जितनों की कि—आवश्यकता है, किन्तु सब दश मण्डलों में भी वैसे मन्त्र नहीं हैं, और प्रयोजन वैसे मन्त्रों का बहुत है, इस लिये बहुदेवताओं के गायत्र छन्द में मन्त्र पर्याप्त हैं, उन्हीं का वैश्वदेव मन्त्रों के स्थान में विनियोग उचित है। क्योंकि- कर्म की हानि की अपेक्षा बहुदेवताओं के मन्त्रों से कार्य लेना कार्यसाधक है। यही सब विचार कर यास्क आचार्य ने कहा है— "यत्तु किञ्चिद् बहुदैवतं०"

वैश्वदेव मन्त्रों की कर्म की संख्या के अनुसार उनकी ऋचाओंकी उत्पत्तिका न होना इस बातको सूचित करता है कि-अवश्य अन्य मन्त्रों से इनके मन्त्रोंका कार्य लेना चाहिए और वे बहुदेवता वाले ही होसकते हैं, क्योंकि-'बहु' शब्द और 'विश्व' शब्द दोनों परस्पर के अर्थ को कहते हैं या पर्याय हैं, इससे उनका उनके स्थान में होना औचित्य संयुक्त है। इससे शाकपूणि आचार्य का मत अनत्यन्तगत या अपर्याप्त है। और इससे भी कि— काश्यप या कश्यप के पुत्र भूतांश नाम ऋषिने एक लिङ्ग आश्विन सूक्तको दर्शन किया (देखा) है—अर्थात्-उक्त ऋषि ने जिस सूक्त को देखा है, वह अनेक ऋचाओं वाला है, और उसमें केवल एकही ऋचा में 'अश्विन्' शब्द रूप लिङ्ग है, तथा उसी लिङ्गसे वह सम्पूर्ण सूक्त या उसकी सब ऋचाएं अश्विनों की ही होजाती हैं, उसी प्रकार बहुदेवता वाली सब ऋचाएं 'विश्वदेव' के लिङ्ग के न होने पर भी उनके प्रयोजन को देती हैं। दूसरा इस में इन्द्रदेव का अभितष्टीय सूक्त भी एक लिङ्ग दृष्टान्त है। उसमें भी अनेक ऋचाएं हैं और एक ही ऋचा में इन्द्रका लिङ्ग है,

तो भी वह सारा सूक्त इन्द्र देवता का ही होजाता है। इस लिये बहुदेवतावत्व के सादृश्य से अन्य मन्त्रों का ऐन्द्रदेव होना सर्वथा वेद सम्प्रदायसिद्ध है।

इसी लिये अश्विन् देवों के पर्फरी सूक्त में स्तुति मन्त्रों के बढाने की प्रार्थना भी एक मन्त्र में कीगई है। जैसे—

"ऋध्यामस्तोमं सनुयाम वाजमानो मन्त्रं सरथे होपयातम्। यशो न पक्वं मधु गोष्वन्तरा भूतांशो अश्विनोः काममप्राः॥" (ऋ० सं० ८, ६, २, ६। १०, ९, १, ११)।

अर्थात्—हे अश्विनो! हम तुम्हारे त्रिवृत् पञ्चदश आदि स्तोम (स्तोत्रमन्त्रों) को बढावें। और तुम दोनों के लिये हविः रूप अन्न को देवें। तुम दोनों एक रथ में बैठे हुए हमारे मन्त्र स्तोत्र को और गोओं की ऊँढिओं में पके हुये दूध घी आदि रूप हविः को लक्ष्य करके इस हमारे कर्म में आओ। इस प्रकार भूतांश नाम ऋषि ने अश्विनों से अपने मनोरथ को पूरा किया॥

इस मन्त्र में "स्तोमम् ऋध्याम" इस वाक्य से स्तोम के बढाने की प्रार्थना की गई है। क्योंकि-अश्विन् देवताओं का लिङ्ग अल्प पाया जाता है, और स्तुतिमन्त्रों की अधिकता से अपेक्षा है, इस लिये वे देवताधर्म के किसी सादृश्य के सहारे पर अन्य किसी बिना प्रत्यक्ष लिङ्ग के मन्त्रों से भी उनकी स्तुति करके देवता के अपराधी न बनें इस अर्थ उन से इस बातकी स्वीकृति मांग रहे हैं। इससे स्पष्ट हुआ कि-मन्त्र बढ सकते हैं॥

'साध्याः' (२८)। 'साध्य' क्या ? देवता। क्यों साधन से। क्योंकि—जो कर्म औरों से सिद्ध नहीं किया जाता, उसे ये सिद्ध करते हैं।

"तेषाम्०" उन साध्य देवों की यह ऋचा है-॥६(४०)॥

(खं० ७)

निरु०—"यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। तेहनाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥" [ऋ०सं० २, ३, २३, ४ । ८, ४, १९, ६, । य० वा० सं० ३१, १६] ॥

'यज्ञेनयज्ञम्-अयजन्त देवाः' = अग्निना अग्निम्-अयजन्त देवाः।

"अग्निः पशुरासीत्तमालभन्त तेनायजन्त" इति च ब्राह्मणम्।

'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्'। तेह नाकं महिमानः समसेवन्त यत्र पूर्वे साध्याःसन्ति देवाः साधनाः।

"द्युस्थानो देवगणः" इति नैरुक्ताः।

"पूर्वं देवयुगम्" इति आख्यानम्।

'वसवः'—यद् विवसते सर्वम्।

"अग्निर्वसुभिर्वासवः"-इति समाख्या। तस्मात् पृथिवीस्थानाः।

"इन्द्रो वसुभिर्वासवः"- इति समाख्या। तस्माद् मध्यस्थानाः।

'वसवः आदित्यरश्मयः। विवासनात्। तस्मात् द्युस्थानाः॥

तेषाम् एषा भवति-॥७(४१)॥

अर्थः- "यज्ञेन यज्ञ०" इस ऋचा का दीर्घतमा ऋषि है।

(यज्ञेन अग्निना) अग्नि से 'यज्ञम्' (अग्निम्) अग्नि को 'देवाः' देवताओंने 'अयजन्त' यजन किया था। जैसाकि- "अग्निः पशुरासीत्०" 'अग्नि पशु हुआ, उसको देवताओं ने आलम्भ [बली] किया, और उससे यजन किया, यह ब्राह्मण है। 'तानि' वे 'धर्माणि' (कर्माणि) कर्म 'प्रथमानि' मुख्य या पहिले 'आसन्' हुए थे। 'ते' उन देवों ने 'महिमानः' महिमा से युक्त होकर 'नाकम्' स्वर्ग को 'सचन्त' (समसेवन्त) प्राप्त या सेवन किया। 'यत्र' जहां 'पूर्वे' पूर्वकालिक या उन से भी पूर्व कालिक 'साध्याः' साधन वाले 'देवाः' देव 'सन्ति' हैं या थे॥

"द्युस्थानो०" नैरुक्त आचार्य मानते हैं कि-'साध्य' नाम से द्युस्थान देवगण है।

"पूर्वं देवयुगम्" पहिला देवयुग है- पहिले देवयुग के देवताओं का नाम 'साध्य' है आख्यान या ऐतिहासिक आचार्यों का मत है॥

'वसवः' (२९) 'वसु' क्यों? ये त्रिस्थान हैं। क्यों कि-ये

पृथिवी अन्तरिक्ष और उत्तम, तीनों लोकों में रहने वाले हैं, और नाना विभाग में अवस्थित सब जगत् को ढंक लेते हैं, या व्यापन करलेते हैं, इससे यह 'वसु' हैं। ये त्रिस्थान कैसे हैं?

अग्नि का नाम 'वासवः' है, अर्थात्—याज्ञकों में प्रसिद्धि है कि- 'वसुओं के साथ रहने से अग्नि 'वासव' है, इससे पृथिवी- स्थान हैं।

इन्द्र वसुओं के साथ रहने से 'वासव' है, इस प्रसिद्धि से इनका मध्यस्थान सिद्ध होता है।

आदित्य के रश्मि 'वसु' हैं, इससे ये द्युस्थान हैं। आदित्यरश्मि 'वसु' क्यों हैं? विवासन से। क्योंकि- वे सब को बसाते हैं। "तेषाम्" इन (वसुओं) की यह ऋचा है॥७(४१)॥

[खं० ८]

निरु०-"सुगावो देवा सुपथा अकर्म य आजग्मुः सवन मिदं जुषाणाः। जक्षिवांसः पपिवांसश्च विश्वेऽस्मे धत्त वसवो वसूनि॥" (य० वा सं० ८, १६)॥

स्वागमनानि वो देवाः सुपथानि अकर्म ये आगच्छत सवनानि इमानि जुषाणाः खादितवन्तः पीतवन्तश्च सर्वे अस्मासु धत्त वसवो वसूनि॥

तेषाम् एषा अपरा भवति॥८(४२)॥

अर्थः- "सुगावो देवाः०" इसऋचा का परमेष्ठीऋषि है, समिष्ट यजुःओं में विनियोग है।

'देवाः' हे देवो! 'वः' (युष्मभ्यम्) तुम्हारे लिये [वयम्) हम जो 'सुगा (स्वागमनानि) सुन्दर आने योग्य 'सुपथा (सुपथानि) सुन्दर मार्ग 'अकर्म' [अकुर्म] किए हैं। 'ये' जो तुम 'जुषाणाः' (अस्माभिः) सह प्रीयमाणाः हमारे साथ प्रीतिकरते हो सो तुम' इदम्'इस'सवनम्' (यज्ञम्)यज्ञको (में) 'सवनानि इमानि या इन यज्ञोंको'आजग्मुः'(आगच्छत)आओ।'जक्षिवांसः खादितवन्तः हवींषि' और हविःओं को खाए हुए 'पपिवांसश्च'(पीतवन्तश्च सोमम्) और सोम को पीए हुए 'विश्वे' सर्वे तुम सब 'वसवः' वसु 'अस्मासु' हम में 'वसूनि' धनों को 'धत्त' धारण करो, यह हम चाहते हैं ॥ समिष्ट' यजुओं में तृतीय सवन में इस मन्त्र का विनियोग होने से इस मन्त्र का वसु द्युस्थान है॥

"तेषाम्० " उन (वसुओं की यह और ऋचा है— जिस में उनकी पृथिवीस्थानता और मध्यमस्थानता दिखाई गई है। प्रयोजन यह है कि— पहिले इन्हें त्रिस्थान कहा गयाहै इसी से इन दो उदाहरणों से उसकी पुष्टि की गई है ८(४२)

[ख० ६]

निरु०—"उभया अत्र वसवो रन्त देवा उराव-न्तरिक्षे मर्जयन्त शुभ्राः। अर्वाक् पथ उरुज्रयः कृणुध्वं श्रोता दूतस्य जग्मुषो नो अस्य ॥"
[ऋ० सं० ५, ४, ६, ३]

तस्यां भवाः,उरौ च अन्तरिक्षे मर्जयन्त गमयन्त शुभ्राः शोभमानाः, अर्वाञ्चः एनान् पथःबहुजवाः कुरुध्वम्, शृणुत दूतस्य जग्मुषो नः अस्य अग्नेः॥

'वाजिनः' व्याख्याताः।

तेषाम् एषा भवति ॥९ (४३) ॥

अर्थः— "उमया अत्र०" इस ऋचाका वसिष्ठऋषि है।

(ये) जो 'उमयाः' (उमा' पृथिवी, तस्यां भवाः) पृथिवी में ही नित्य रहने वाले 'वसवः देवाः' वसु देवता 'अत्र'(पृथिव्याम्) इस पृथिवीमें 'रन्त' (अरमन्त) रमण करते थे याकरते हैं, 'उरौ' (च) 'अन्तरिक्षे' और विस्तृत अन्तरिक्ष लोक में 'शुभ्राः'जो सुन्दर वर्ण वसु देवता 'मर्जयन्त' गमन करते हैं अथवा रहते हैं, [इस प्रकार दो स्थानों में वसुओं का विभाग करके उन्हें द्युस्थान भी समझ कर कहता है—] जो तुम इस प्रकार तीन स्थानों के रहने वाले हो, उन सब से कहता हूं 'अस्य' इस (अग्नेः) अग्नि 'नः दूतस्य' हमारे दूत को 'जग्मुषः तुम्हारे प्रति गए हुएको'श्रोता'(शृणुत) सुनो—हमारा दूतअग्नि' जो आप के पास आता है, उसका 'सन्देशा सुनो' और जो कुछ यह कहता है, उसे सुनकर'अर्वाक्'(अर्वाचः) 'पथः' हमारे संमुख मार्गों को 'उरुज्रयः' बहुत वेग युक्त होकर तुम 'कृणुध्वम्' ग्रहण करो अपने सैकड़ों हजारों प्रकार के गमनों से व्याप्त करो, यह हम चाहते हैं ॥

'वाजिनः'(३०)'वाजिन व्याख्यान किए जाचुके (२,७,६) ।

"तेषाम्"उन (वाजिनों) की यह ऋचा है ॥६ (४३) ॥

(खं० १०)

निरु०-"शन्नो भवन्तु वाजिनो हवेषु देवताता मितद्रवः स्वर्काः। जम्भयन्तोऽहिं वृकं रक्षांसि सनेम्यस्मद्युयवन्नमीवाः ॥" (ऋ०सं०४,२,२८,७। य०वा०सं० ९, १६) ॥

सुखा नो भवन्तु वाजिनो ह्वानेषु देवतातौ यज्ञे 'मितद्रवः' सुमितद्रवः 'स्वर्काः' स्वञ्चना इति वा, स्वर्चना इति वा, स्वर्चिष इति वा, जम्भयन्तः अहिं च वृकं च रक्षांसि च क्षिप्रम् अस्मद् यावयन्तु 'अमीवाः' देवाश्वाः इति वा ।

'देवपत्न्यः' देवानां पत्न्यः ।

तासाम् एषा भवति-॥ १० (४४) ॥

अर्थ :-'शन्नो भवन्तु०" इस ऋचा का वसिष्ठ ऋषि और वाजिन याग में विनियोग है।

'देवताता' (देवतातौ = यज्ञे) यज्ञ में 'हवेषु' (ह्वानेषु) आह्वानों में 'वाजिनः' (अभेदपक्ष में) रश्मिएं (भेदपक्ष में) (देवाश्वा इति वा) या देवताओं के घोड़े 'नः' हमें 'शम्' (सुखाः) सुखकारी 'भवतु' हों। जो रश्मिएं या देवताओं के घोड़े 'मितद्रवः' सुन्दर मिले हुए चलने वाले' 'स्वर्काः' (स्वञ्चना इति वा) सुन्दर अञ्चन (गमन) करने वाले (स्वर्चना इति वा) या सुन्दर पूजा वाले (स्वर्चिषः इति वा) सुन्दर

उमया अत्र वसवः अरमन्त देवाः ।'उमा'पृथिवी

कान्ति वाले 'अमीवाः' और नीरोग हैं वे 'अहिं' (च) जो हमें आघात करता है,—उसे, 'वृकं' (च) और जो तस्कर (चोर) है, उसे 'रक्षांसि' (च) और राक्षसों को, जो हमें एकान्त में मारने वाले हैं, उनको 'जम्भयन्तः' (हिंसन्तः) मारते हुए 'अस्मद्' हमसे 'सनेमि' (क्षिप्रम्) शीघ्र 'युयवन्तु' (यावयन्तु) अलग करें,-यह हम चाहते हैं।

'देवपत्न्यः' (३१) देवपत्नियां क्यों ? 'देवानां पत्न्यः' वे देवताओं की पत्निएं हैं।

"तासाम्०" उन देवपत्निओंकी यह ऋचा है ॥१०(४४)

(खं० ११)

निरु०—"देवानां पत्नीरुशतीरवन्तु नः प्रावन्तु नस्तुजये वाजसातये। याः पार्थिवासो या अपामपि व्रते ता नो देवीः सुहवाः शर्म यच्छत ॥" [ऋ०सं० ४,२,२८,७]

देवानां पत्न्यः उशत्यः अवन्तु नः प्रावन्तु नः अपत्यजननाय च अन्नसंसननाय च याः पार्थिवासः याः अपाम् अपि कर्मणि व्रते ताः नः देव्यः सुहवाः शर्म यच्छन्तु शरणम्।

तासाम् एषा अपरा भवति ॥११(४५)॥

अर्थ :—"देवानां पत्नीः० इस ऋचा का प्रतिक्षत्र ऋषि है। आग्निमारुत (शस्त्र) में और पत्नीसंयाजोंमें विनियोग है ॥

(याःएताः) 'देवानां पत्नीः' (पत्न्यः) 'उशतीः' (नित्यम् अस्मत्तः हविः उशन्ति इति उशत्यः) जो ये देवताओं की

पत्निएं हम से सदा ही हविः की कामना करती रहती हैं 'ताः' 'नः' 'अवन्तु' वे हमारी रक्षा करें-धनसे हमारी अदले की तृप्ति करें। "प्रावन्तु नस्तुजये" और सन्तान की उत्पत्ति के लिये विशेष रूप से रक्षा करें। 'वाजसातये' (अन्नसंसननाय) और अन्न के सेवन के लिये रक्षा करें। "याः पार्थिवासः" जो पृथिवी लोक निवासिनी हैं [याः "अपाम् अपि व्रते" (व्यापृताः) जो जलों के बरसाने में लगी हुई हैं "ताः सुहवाः देवीः (देव्यः) नः शर्म यच्छत (यच्छन्तु शरणम्) वे मध्यम लोककी सुन्दर आवाहन योग्य देवियें हमें शरण देवें॥

"तासाम्०" उन देव पत्निओंकी यह और ऋचा है ११(४५

व्याख्या।

"एषा अपरा०" पहिली ऋचा में देवपत्निये सामान्य रूप से कही गई हैं, किन्तु इस दूसरी ऋचा में विशेषरूप से उनका कथन है- किस २ देवता की कौन २ पत्नी है इत्यादि॥ ११ (४५)॥

(खं० १२)

निरु०- "उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नी रिन्द्राण्यग्नाय्यश्विनी राट्। आरोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतु र्जनीनाम्॥" (ऋ० सं० ४, २, २८, ८। अथ० सं० ७, ४, ११, २)॥

अपि च ग्ना व्यन्तु देवपत्न्यः 'इन्द्राणी' इन्द्रस्य पत्नी 'अग्नायी' अग्नेः पत्नी 'अश्विनी'

अश्विनोः पत्नी, 'राट्' राजते, 'रोदसी' रुद्रस्य पत्नी, 'वरुणानी' च वरुणस्य पत्नी व्यन्तु देव्यः कामयन्तां यः ऋतुः कालःजायानां यःऋतु कालः जायानाम् ॥१२, [४६) ॥

इति द्वादशाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥१२,४॥

अर्थः—"उत ग्ना व्यन्तु०" इस ऋचा का पूर्व के समान ऋषि आदि है।

'उत' (अपि च) और भी देवपत्न्यः ग्नाः (स्त्रियः, देव-पत्नी स्त्रियें 'व्यन्तु'(पिबन्तु—पुरुषैः अग्न्यादिभिःपीतम्एतद्द आज्यं पिबन्तु) अग्नि आदि पुरुष देवोंके पीए हुए आज्यको पीवें। वे कौन देवपत्नियें हैं'इन्द्राणी' (इन्द्रस्यपत्नी) इन्द्र की पत्नी'अग्नायी'(अग्नेःपत्नी) अग्नि की पत्नी 'अश्विनी' (अश्विनोः पत्नी) अश्विनों की पत्नी 'राट् रानी' 'रोदसी' [रुद्रस्य पत्नी] रुद्र की पत्नी 'वरुणानी' (च वरुणस्य पत्नी) और वरुण की पत्नी (सर्वाः अपि एताः) ये सब देवपत्नियें (एतत् आज्यं) 'व्यन्तु' (कामयन्ताम्) इस आज्य की कामना करें या इसे पान करें। "यः ऋतुं जनीनाम्' (यः ऋतु-कालो जायानाम् = यः ऋतु कालो जायानाम्) जो जायाओं= पत्नियों का भोजन काल है, उसमें पानकरें ॥१२(४६)॥

व्याख्या।

"रोदसी०" यह शब्द बहुत करके मन्त्रोंमें द्यावापृथिवी इन दोनों लोकों का नाम होकर द्विवचन में आता है और यहां पर भाष्यकार ने इसे एक वचन में 'रुद्र की पत्नीरूप अर्थ में व्याख्यान किया है। क्यो कि— आथर्वणमें यह अप्र-युक्त भी एक वचनान्त मिलता है।

"यः क्रतुं जनीनाम्" यह वाक्य पत्नी के भोजन काल को निर्देश करता हुआ हिन्दुओं के घरों में पति के पश्चात् स्त्रियों के भोजन करनेकी पद्धतिकी और उसके बोधक स्मृति वाक्यों की पुष्टि करता है ॥१२ [४६]॥

इति हिन्दीनिरुक्ते द्वादशाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः॥१२,४॥

निरुक्त के द्वादश अध्याय का खण्ड सूत्र—

[१म पा०—] अथातो द्युस्थानाः(१)वसातिषु स्म(२) इहेह जाता (३)प्रातर्युजा(४)प्रातर्युजद्ध्वम्[५]उषस्तच्चित्रम्(६)एता उत्या [७] शुक्रिशुक्रम् [८] वृषाकपायि [९] अपागूहन् [१०] त्वष्टा दुहित्रे (११) [२ पा०—] सविता]१२]विश्वारूपाणि (१३) प्रातर्जितम् (१४) उदुत्यम् [१५] चित्रम् [१६] शुक्रन्ते (१७) पथस्पथः (१८)इदं विष्णुः(१९)(३य पा०—)विश्वानरः (२०) विश्वानरस्य (२१) येनापावकेति चतुष्कम् (२२)–२३–२४–२५— केश्यग्निम् (२६) त्रयः केशिनः (२७)पुनरेहि (२८) अग्निन्वृत्वे(२९) पार्थीरवी (३०) यदिन्द्राग्नी(३१)पवित्रवन्तः (३२) उतनोऽहिः (३३) यामथर्वा (३४) [४र्थ पा० -]अथातो द्युस्थाना देवगणाः [३५] इमागिरः(३६) सप्तऋषयः (३७) तिर्यग्बिलः (३८) देवानांभद्रा[३९]ओमास(४०)यज्ञेन (४१) सुगाव (४२) उमया अत्र (४३) शन्नो भवन्तु (४४) देवानां पत्नीः(४५)उतग्ना व्यन्तु (४६) ॥

इति निरुक्ते (उत्तर षट्के)द्वादशोऽध्यायः १२, ४॥

समाप्तं दैवतं काण्डम् ॥

इति हिन्दी निरुक्ते(उत्तर षट्के)द्वादशोध्यायःसमाप्तः१२,४॥

नैरुक्तोत्तरार्द्धः समाप्तः ॥